श्री यतीन्द्रसूरि अभिनंदन ग्रंथ
विद्वानों के सारगर्भित
लेखों का संग्रह

— प्रकाशक —

श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय श्वेताम्बर श्री संघ

प्रेरक
पं लालचन्द्र भगवान गांधी
घड़ी याड़ी पो वाड़ा
बड़ोदा

प्रथम संस्करण
१०००

वीर सं २४८४
राजेन्द्रसूरि सं ५३
विक्रम सं २०१५
सन् १९५८ ईस्वी

स्व उपाध्याय श्री गुलाबविजयजी म

स्व तपस्वी मुनिश्री हर्षविजयजी।

—: दो शब्द :—

——:०:——

जिस मनुष्य का जीवन ज्ञान, ध्यान और तप में निरन्तर रहता है, तथा जो बड़ों को सम्मान की दृष्टि से देखता है, और परगुणानुरागी बन कर गुणवानों की सेवा करता है, वही सेव्य बन जाता है। संसार की जनता उसको पूज्य भाव से मानती है, उसके उपकारों को नहीं भूलती है, उसके शुद्धाचरणों का अनुकरण कर अपने हित के लिये कल्याणकारी मार्ग को पकड़ लेती है। दया धर्म की भावना भारत की प्रजा में सर्व श्रेष्ठ मानी जाती है और श्रद्धालु विनयी, विवेकी, भक्तिभाववाली जनता विश्व में सुख शान्ति-धाम को प्राप्त करती है। भगवान महावीर प्रभु के संदेश में सर्व प्रथम मैत्रीय भावना का सर्वोत्तम सूत्र है। इस सूत्र का उद्देश्य यह है कि जीव मात्र को प्रेम की दृष्टि से देखो। जहाँ हिंसा है वहाँ कारुण्य भाव का अभाव है। कारुण्य भाव के अभाव में अधोगति प्राप्त होती है। जहाँ अहिंसा है वहा धर्म-सत्य-धैर्य आदि गुणमयी महा विभूतियां आत्म स्वरूप में रमने लगती हैं। उसीसे पथिकों का आत्म-उत्थान होता है "समभाव भावी अप्पा" जो प्राणी इस पाठ को ध्यान मे रखता है और शनैः शनैः सम-भाव की शुभ श्रेणी में निजकृत कर्मों की अलोचना करता है। जो मुनिवर प्रमाद रहित चारित्र की आराधना में विचरते हैं। उन त्यागी महापुरुषों का जीवन चरित्र पढना, उनके सद्गुणों की श्लाघा करना, उनके उत्तम गुणों को अपने जीवन में उतारना यही मानव के जीवन की सफल साधना है। उपन्यास और सिनेमा आदि के साहित्य से आत्मोत्थान नहीं होताः किन्तु मोहरूपी अन्धकारमें आत्मगुणों को गवाँ कर प्राणी संसार में भटकते रहते हैं। मनुष्य बिगड़ता है तो बुरी सोबत से और सुधरता है तो अच्छी सोबत से। इससे महा पुरुषों की सोबत करना, उनके उत्तम साहित्य से प्रेम करके लाभ उठाना चाहिये और उसी से ही मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है। फिर भी जनता का नायक बन कर पूज्य पद को प्राप्त करता है।

इसी उद्देश्य को लेकर वर्तमान जैनाचार्य श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का दीक्षा पर्याय ६२ वर्ष का हुआ, यह जान कर हमको बड़ी खुशी है कि ऐसे महापुरुष का अभिनंदन करने का सौभाग्य प्राप्त हो, इस के साथ साथ गुरुदेव के शिष्य मुनि मंडल के भाव हमारे साथ में मेलजोल करने लगा जब सोने में सुगंध हो उठी तब।

अभिनंदन ग्रन्थ का कार्य सुचारु रूप से चलने लगा। मुनि-मंडल ने अभिनंदन ग्रंथ के लिये जो अपना अमूल्य समय दिया उसके लिये हम धन्यवाद देते हैं और कहते हैं कि इस प्रकार समय-समय पर समाज के उत्थान के हेतु सहयोग देते रहें, उत्साह बढाते रहें। श्री राजेन्द्रसभा के सदस्यों की बैठक श्री मोहन खेडा तीर्थ में बुलाई गई। मुनि मंडल की ओर से सभा में प्रस्ताव रखा कि अभिनंदन महोत्सव कहाँ मनाया जाय। सभा के सदस्यों ने कहा कि जहाँ मुनि मंडल की इच्छा हो वहाँ मनावें। कुछ दिनों के बाद में राजगढ से विहार करते हुए गुरुदेव खाचरोद में पधारे। गुरुदेव का दीक्षा स्थान खाचरोद ही है, यह जान कर मुनि मंडल ने खाचरोद श्री संघ के समक्ष अभिनंदन महोत्सव मनाने

का प्रस्ताव रखा, श्री संघने सहर्ष प्रस्ताव का स्वीकार करके अष्टाह्निका महोत्सव प्रारंभ किया। चैत्र सुदि पूर्णिमा शुक्रवार को गुरुदेव के करकमलों में अभिनंदन ग्रन्थ हस्त लिखित समर्पण किया। इस ग्रन्थ में भारत के प्रसिद्ध विद्वानों के सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक लेख हैं जो स्तुत्य और खोज पूर्ण है। इन विद्वानों को क्या! धन्यवाद दिया जाय, ये संसार में कीर्तिमान बने यही भावना। संपादक मण्डल ने इस ग्रन्थ में जो लेख सामग्री जुटाने में भरसक प्रयत्न किया है और सफलता प्राप्त की, उन्हें हम आन्तरिक सद्भावना से धन्यवाद देते हैं।

प्रूफ संशोधन करने के लिये जब व्यक्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई तो श्री दौलतसिंह लोढा बी ए को नियुक्त किया और उन्होंने 'विविध विषय खण्ड' के फार्म ११ से फार्म ५० पर्यंत प्रूफ संशोधन किया।

उन्होंने प्रेम में रह कर बड़ी दिलचस्पी के साथ सहयोग दिया है, अतः उनको हार्दिक धन्यवाद देते हैं। इसी प्रकार जिन जिन महानुभावों ने तन, मन, धन का सहयोग दिया है उनको धन्यवाद है।

प्रकाशक श्री संघ

सम्पादकीय

परिवर्तनशील इस संसार में प्रत्येक आत्मा को स्वकर्मानुसार मानव-देह धारण कर, आयुष्य कर्म जितना हो-पूर्ण कर यहाँ से प्रयाण करना पड़ता है; परन्तु महान् आत्माओं के जीवन कुछ अनोखी सुगंध फैलानेवाले होते हैं। उनके चले जाने पर भी उनकी स्मृति हमेशां वैसी ही बनी रहती है। क्यों कि वो अपने जीवनकाल अन्तर्गत स्वयं को ज्ञान तेज पुञ्ज से आलोकित किया करते हैं और पश्चात् अखिल विश्व को उसी प्रकाश से प्रकाशित करने के लिये कटिबद्ध रहते हैं उनकी प्रखर प्रभा से सभी अपना ध्येय साधन करते हैं। महान् आत्माएँ इस जगत् को अपने वाणी, विचार और व्यवहार की ऐक्यता से श्रेयस्कर पथारूढ करते हैं एवं मानव-समाज के वर्तमान और वर्तिष्यमाण को सुधार देते हैं।

वयोवृद्ध वर्तमान जैनाचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी म० भी वैसी ही विभूतियों में से एक हैं। जिन्होंने कि बाल्यावस्था से ही सभी स्नेही, सम्बंधियों का त्याग कर अपने मार्ग को बदल दिया। भौगिक परम्परा से अलग होकर यौगिक परम्परा को अपना लिया।

अपने श्रेय के लिये। स्व० प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म० के शुभकर कमलों से कल्याणकारी परम पावनी भागवती प्रवज्या को अंगीकार कर ज्ञान, ध्यान और तपश्चर्या से जीवन को निर्मल बनाया जो आपके ६९ वर्षों के दीर्घ दीक्षा पर्याय से उद्घोषित होता है। इस अवधि में आपने मानव समाज की उन्नति के लिये जो कार्य किये हैं वे अवर्णनीय हैं। आपकी साहित्य सेवा इतिहास पृष्ठों पर हमेशां के लिये स्वर्णाक्षरों से अंकित रहेगी।

ऐसे उपकारी महान पुरुषों का सन्मान करना प्रत्येक सभ्य समाज का परम कर्तव्य हो जाता है. क्यों कि इस प्रकार समूचे जीवन को इस ओर ही समर्पित करनेवाले विरल व्यक्ति ही पाये जाते हैं।

सं. २०१३ ज्येष्ठ वदि ५ को बड़नगर में अर्धशताब्दि उत्सव का निर्णय करने के लिये आयोजित किये गये अ० भा० राजेन्द्र समाज के प्रथम अधिवेशन में अर्धशताब्दि उत्सव के निर्णय के साथ ही साथ मुनिराजश्री-विद्याविजयजी एवं मुनिमण्डल के मार्गदर्शन से उपस्थित प्रतिनिधियोंने वर्तमानाचार्यश्री को भी अभिनन्दन ग्रन्थ अर्पित करने का शुभ निश्चय किया। अर्धशताब्दि उत्सव को समाज ने सानन्द सम्पन्न किया, उस अवसर पर स्व० गुरुदेव प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म० को स्मारक ग्रन्थ समर्पित किया गया।

पश्चात् अभिनन्दन ग्रन्थ की योजना तैयार की गई और उसका सम्पादन कार्य हमें दिया गया। यद्यपि यह कार्य हमारी शक्ति के बाहर का था परन्तु फिर भी हमारे सहयोगी मुनिवर एवं विद्वानों के अमूल्य सहकार से हम इस कार्य को संपूर्ण कर सके हैं और ग्रन्थ का कलेवर सुन्दर एवं पठनीय, मननीय सामग्री देने का प्रयास किया गया है।

(पीछे चालु)

बीकानेर निवासी श्री अगरचन्दजी नाहटा का यहाँ पर हम आभार प्रदर्शित किये बिना नहीं रह सकते कि जिन्होंने समय से भी ज्यादा इस कार्य में हमें सहकार दिया है।

अंत में हम उन विद्वान लेखकों का भी हार्दिक अभिनन्दन करते हैं-जिन्होंने हमारे इस कार्य में लेख रूप बिन्दु बिन्दु देकर ग्रन्थ को स्मरणीय बना दिया है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य में सहयोग देते रहेंगे।

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ को श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय जैन समाजने सं० २०१५ वैशाख वदि २ शनिवार को समारोह पूर्वक वर्तमान आचार्यश्री को ग्यागोद में हस्त-लिखित रूप में समर्पित किया जो आज प्रकाशित होकर जगत प्रांगण में आया है।

—सम्पादक मण्डल।

★ ★ ★

★ મારા ઉદ્‌ગારો ★

સંપાદક મંડળમાં મારૂં નામ મૂકવામાં આવ્યું છે. પરંતુ ખરેખર કહું તો આ ગ્રંથમાં મેં જે કંઈ કરવું જોઈતું હતું-સંપાદક તરીકે-એમાંનું કંઈજ કર્યું નથી કારણ હું એ કરવા શક્તિશાળીજ નથી.

ગુરૂદેવના મારા પર થએલ, થતા અને થનારા અનંત ઉપકારોના ઋણ પેટે કંઈક પણ કરી છુટવાની એક લાલસા જાગી અને મેં પૂ. મુનીમંડળની આજ્ઞાનો સ્વીકાર કર્યો અને ગુજરાતી લેખોના સંપાદનની જવાબદારી સ્વીકારી. પરંતુ આ તો મારી એક લાલસા જ હતી. ઉશ્કેરાટ અને આવેગમાં-ગુરૂપ્રેમની લગનીમાં એક ભગીરથ કાર્ય કરવાની જવાબદારી મેં ઝડપી લીધી. અને એ જવાબદારી લેતા મારી શક્તિનો ખ્યાલ મને ન રહ્યો, નહિ તો મોટા મોટા વિદ્વાન લેખકોના લેખોનું સંપાદન મારાથી શું થઇ શકે ?

અને એ લાલસા-આવેગ-ઉશ્કેરાટ કે ગુરૂપ્રેમ જે કહો તેને વશ ગુજરાતી વિદ્વાનોના લેખ મેં મેળવ્યા ખરા. અને એ લેખ આપનાર વિદ્વાનોનો આભારી છું કે જેમણે આજના જમાનામાં થતી રક ઝક કે પુરસ્કારની માગણી કર્યા સિવાય મને લેખો સહર્ષ આપ્યા પરંતુ એ મેળવ્યા બાદ હું એનું સંપાદન પણ બરાબર નથી કરી શકયો.

અને એટલેજ ગુરૂદેવનું મારા પર ચડેલ ઋણ અતિશત પણ ઉતારી નથી શકયો. છતાં મારૂં નામ સંપાદકોની શ્રેણીમાં મૂકી મને મુની મંડળે એક વધુ ૠણના બોજાથી ભારી કર્યો છે. કોણ જાણે કયારે ચૂકવાશે આ ૠણ ? જ્યારે અને ત્યારે પૂ. ગુરૂદેવશ્રીની કૃપાથી આ ૠણ ચૂકવીનેજ રહીશ—એજ અભિલાષા આજે છે.

મારા નવા નવા પ્રેસમાં છપાવાના કારણે ગ્રંથમાં રહેલી ત્રુટીઓ વિદ્વદ સમુદાય અને અન્ય વાંચકગણ સુધારીને વાંચશે તો આગળ પર મને બીજી વખત સાહસ કરવાની તક મળશે. એજ અભ્યર્થના સાથે

—કીર્તીકુમાર હાલચંદ વોરા થરાદ

श्री यतीन्द्रसूरि अभिनंदन ग्रंथ

विषय सुचि

(जीवन खण्ड)

हिन्दी गुर्जर

विविध विषय खण्ड

(हिन्दी विभाग)

(ગુર્જર વિભાગ)

सन्मान्य बनता है। सद्‌गुणी सज्जन-विद्वज्जनोंका सत्कार सन्मान करनेवाला खुद सत्कृत सन्मानार्ह बनता है। अभिनन्दनीय आचार्य श्रीयतीन्द्रसूरिजी उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। कहीं कहीं लोग विशिष्ट विद्वानोंका सत्कार, पुरस्कार, सन्मान-थेलीमें भी करते हैं। कई जगह कदरदानोंने-गुणज्ञ गुणरागी सज्जन श्रीमानोंने और अधिकारीओंने भी ऐसी उचित कदर की है, और कई जगह कर रहे हैं, ये अपनी कृतज्ञता दर्शा कर विद्वज्जनोंको विद्या-प्रचार द्वारा समाज-हित करनेके लिए प्रोत्साहित करते हैं। कर्तव्य-निष्ठोंको विशेष कर्तव्य-परायण बननेके लिए प्रेरित करते हैं, एवं अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करते हैं। कई जगह मान्य गुरुको रूपा-सोना-हीराओंसे और महामूल्य धातुओंसे तोल कर तुला-दान करके रजत-सुवर्ण-हीरक महोत्सव मनाते हैं। लेकिन जैनाचार्य महात्मा तो निष्परिग्रही निर्ग्रन्थ होते हैं, वे द्रव्यका परिग्रह-स्वीकार क्या, स्पर्श भी करते नहि हैं, उनके लिए ऐसे अभिनन्दनग्रन्थकी योजना-सन्मान-पुरस्सर उनको समर्पण करनेका विचार विचारकोंने किया उचित प्रतीत होता है।

विशेषमें, ऐसे अभिनन्दन ग्रन्थोंमें सन्मानार्ह व्यक्तिका सद्गुणमय सत्कर्तव्य-विशिष्ट [illegible] धार्मिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, [illegible] कला-विषयक विशिष्ट विद्वानोंके [illegible] विद्यार्थीओंकी और विद्वानोंकी ज्ञान-वृद्धिमें सहायक हो सकते हैं। इससे उच्च प्रकारकी शिक्षा-संस्कार-प्रेरणा भी मिल सकती है।

(१) जीवनखण्ड

अभिनन्दनीय श्रीयतीन्द्रसूरिजी एक विशिष्ट व्यक्ति हैं, जो प्रशंसनीय जीवनसे ७५ वर्ष व्यतीत कर चुके हैं, और ७६ वे वर्षमें प्रविष्ट हैं। साधु-जीवनके ६१ वर्ष पसार कर चुके हैं। और थोडा वर्षोंसे आचार्य-पदका सुयोग्य पालन कर रहे हैं। उनके जीवनका दिग्दर्शन-परिचय करानेवाला जीवनखण्ड इस अभिनन्दनग्रन्थमें प्रथम विभाग पृ. १ से ८० तक है। इसमें संस्कृतमें, हिन्दीमें, और गुजराती भाषामें कवित्व-काव्योंमें-पद्योंमें और गद्यमें विविध दृष्टि-कोणसे सूरिजीकी सद्गुणमय सत्कर्तव्य-स्तुत्य सुवास सूचित है। सिर्फ गुरु भक्त शिष्योंने ही नहि, भिन्न भिन्न देशके विशिष्ट विद्वानोंने, कवियोंने और ख्यातनाम लेखकोंने भी अपनी कविता-विद्वत्ता-लेखनशक्तिको इसमें सफल की है। सूरिजीको गुण-गानमय श्रद्धाजलि, पुष्पांजलि-कुसुमांजलि समर्पित करनेवाले मुख्य ये हैं-मुनिमण्डलमें (१) स्व. उ. श्रीगुलाबविजयजी, (२) स्व. वल्लभ-विजयजी, (३) विद्याविजयजी, (४) जयन्तविजयजी, (५) शान्तिविजयजी, (६) सागरानन्दविजयजी, (७) जयप्रभविजयजी, (८) सौभाग्यविजयजी, (९) साध्वीजी मुक्तिश्रीजी, और (१०) श्रमणी-संघकी गुरु-भक्ति इसमें उल्लिखित हुई है।

तथा विद्वन्मण्डलमें (१) पं. श्यामसुन्दराचार्यजी, (२) पं. विश्वेश्वरजी, (३) पं. अवधकिशोरजी, (४) पं. विश्वेश्वरनाथजी, (५) पं. व्रजनाथजी, (६) पं. मदनलालजी, (७) पं. विहारीलालजी, (८) पं. रमाकान्तजी (९) पं. विश्वनाथजी, (१०) पं. गजानन रामचन्द्र करमलंकरजी जैसे अनेकपदवीधर प्रसिद्ध विद्वानोंने सूरिजीके सद्गुण-सन्मान-पूजनमें औदार्यसे सहयोग दिया है।

एवं जैन-समाजके सद्गृहस्थ साक्षर-लेखकोंमें (१) दौलतसिंहजी लोढा बी. ए. कवि 'अरविंद', (२) विख्यातनाम अगरचन्दजी नाहटा, (३) लक्ष्मीचन्दजी, (४) राजमलजी लोढा ('दैनिक ध्वज' पत्रकार), (५) निहालचन्दजी फोजमलजी (मन्त्री, राजेन्द्र-प्रवचन-कार्यालय, खुडाला), (६) कुन्दनमलजी डांगी (प्र. सं. 'शाश्वतधर्म'), (७) कीर्तिकुमार हालचन्द वोरा, (८) विनुभाई गुलाबचन्द शाह बी. ए., (९) बालचन्द्रजी आदि कई लेखकोंने सूरिजीकी साहित्य-साधना, इतिहास-प्रेम, तीर्थयात्रा, तीर्थोद्धार, प्रतिमा-प्रतिष्ठा, ग्रन्थ-रचना आदि सद्गुणमय जीवन-कर्तव्यका परिचय कराया है, जिज्ञासु सज्जन स्वयं पढ़ कर परिचित हो सकते हैं।

(२) विविध विषय-खण्ड

दूसरा विविध विषय-खंड विविध विषयोंके विज्ञानसे भरा हुआ है। यह खण्ड विविध भाषामें है। इसमें मुख्यतया २७ लेख हिन्दीमें और १६ लेख गूजरातीमें हैं, तथा महत्त्वका १ लेख इंग्लीशमें और १ लेख राजस्थानीमें भी हैं। छोटे-बड़े ४५ लेख प्रकाशित हुए हैं। पृ. १ से २८३ तक हिन्दी विभाग, पृ २८४ से २८७ तक राजस्थानी, पृ. २८८ से ३०५ तक इंग्लीश, और पृ. ३०६ से ३७१ तक गूजराती विभागकी योजना हुई है, और पृ. ३७२ से ३७६ में पूर्ति-पुरवणी हिन्दीमें जोड़ दी गई है।

इसमें महत्त्वके लेख इस प्रकारके हैं-हिन्दी २७ लेख -

(१) भारतीय दर्शनोंमें आत्म-स्वरूप, (२) तुलनात्मक दृष्टिसे जैन-दर्शन, (३) स्याद्वाद और उसकी व्यापकता, (४) स्याद्वादकी सैद्धान्तिकता, (५) अहिंसाका आदर्श, (६) प्रवृत्ति और निवृत्ति, (७) विश्व-शान्तिका अमोघ उपाय-अपरिग्रह, (८) मोक्ष-पथ, (९) निवृत्ति ले कर प्रवृत्तिकी ओर; (१०) राकेट युग और जैनसिध्धान्त, (११) वीतरागकी ही उपासना क्यों?, (१२) नमस्कार महामन्त्र, (१३) नमस्कारमन्त्र-माहात्म्यकी कथाएं, (१४) संगीत और नाट्यकी विशेषता, (१५) आदिकालका हिन्दी जैन साहित्य और उसकी विशेषताएं, (१६) मन्त्री मण्डन और उसका गौरवशाली वंश, (१७) जैन श्रमणोंके गच्छों पर संक्षिप्त प्रकाश, (१८) अंग-विज्जा, (१९) वसंतगढकी प्राचीन धातु-प्रतिमायें (सचित्र), (२०) संस्कृतमें जैनोंका काव्य-साहित्य, (२१) विश्व-मैत्री और विश्वशांतिके सच्चे विधायक विश्व-वत्सल भगवान् महावीर, (२२) कर्म और आत्माका

सयोग, (२३) निश्चय और व्यवहार, (२४) उपाध्याय मेघविजयजी एवं उनका देवानन्द-महाकाव्य, (२५) सम्राट् अकबरका अहिंसा-प्रेम, (२६) पुनरुद्धारक श्रीमद् राजेन्द्रसूरि, (२७) खरवाटक भिणाय और श्रीचवलेश्वर पार्श्वनाथ। राजस्थानीमें— (१) जैन गीतारी रसधारा। इंग्लीशमें—(१) 'प्राकृत' विषयक महत्त्वका लेख है।

गूजरातीमें १६ लेख

(१) बहुश्रुत-पूजा, (२) जैनधर्मनी अतिविशालता, (३) नवपदो अने हेतु स्वरूप, (४) वेदनानी छवी, (५) त्रिवेणी-स्नान, (६) समाजमां धर्मनुं स्थान, (७) आत्म-संयम, (८) श्रीहेमचन्द्राचार्यनुं राजकारण, (९) मोजनु कीर्तिशिखर, (१०) प्राचीन तीर्थक्षेत्र श्रीलक्ष्मणी, (११) अहिंसा अने विश्व-शांति, (१२) अहिंसा, राष्ट्रभाषा अने समाज, (१३) परिग्रह-परिमाण व्रत अने समाजवादी समाज-रचना, (१४) जैननुं जीवन, (१५) आजनो जैन अने गृहस्थधर्म, (१६) शुं लखुं ?

इसे विविध विषयोंमें सुज्ञ लेखक महाशयोंने जो विविध विज्ञान दर्शाया है, उनकी प्रत्येककी समालोचना करना यहाँ अशक्य है। अभीष्ट विषयके जिज्ञासु स्वरुचिके अनुसार उनका अवलोकन कर अपनी जिज्ञासा पूर्ण कर सकते हैं। लेखकोंका शुभ आशय समझ कर उनका परिश्रम सफल कर सकते हैं। और अपनी समुचित ज्ञान-वृद्धि कर सकते हैं। इसमें कई लेख इतने बड़े हैं कि जिनकी पृथक् पुस्तिकाएं हो सकती हैं। हालमें प्रसिद्ध 'अंग-विज्जा' प्राचीन प्राकृत ग्रन्थसे उद्धृत विविध विषयक नाम सूची भी प्राचीन भारतकी सम्पत्ति, संस्कृति आदि पर विशिष्ट प्रकाश डाल सकती है।

इस विभागके विद्वान् लेखकोंमें मुनि-मण्डलमेंसे (१) मुनि श्रीकल्याणविजयजी, (२) मनोहर मुनिजी साहित्यरत्न शास्त्रीजी, (३) मुनि विद्याविजयजी 'पथिक' (४) साहित्यप्रेमी मुनि देवेन्द्रविजयजी, (५) उपाध्याय प. रत्नमुनि श्रीआनन्दऋषि, (६) शतावधानी कविवर्य श्रीजयन्तमुनिजी, (७) मुनि श्रीजय तविजयजी 'मधुकर' और (८) जैनसिद्धान्ताचार्या महासती कौशल्याकंवर आदिका हिस्सा है।

अन्य लेखकोंके संस्मरणीय नाम इस प्रकार है—

(१) मास्टर खुबचन्द कशनलालजी सिरोही, (२) लक्ष्मीचन्द जैन 'सरोज' बी.ए. शास्त्री साहित्यरत्न, (३) अगरचन्दजी नाहटा, (४) सूरजचन्दजी सत्यप्रेमी (डांगी), (५) मोहनलालजी जैन, (६) डांगी शा तप्रकाश 'सत्यदास' (७) भँवरलालजी नाहटा, (८) माधवलाल डांगी, (९) हरिशंकर शर्मा 'हरीश' (रिसर्च स्कॉलर हिन्दीविभाग-इलाहाबाद युनिवर्सिटी), (१०) दौलतसिंहजी लोढा बी.ए. कवि 'अरविन्द' (११) डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, (१२) डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, (१३) डॉ. गुलाबचन्दजी चौधरी एम्. ए. पीएच्. डी. (१४) प. लालचन्द भगवान् गान्धी, (१५) प. जुहारमलजी

न्याय-साहित्यतीर्थ, (१६) पं. मिश्रीलालजी बोहरा, (१७) दिवाकर शर्मा एम्. ए. (१८) प्रतापमल सेठिया, (१९) शाह इन्द्रमल भगवानजी, (२०) रावत सारस्वत, (२१) डॉ. ए. एन्. उपाध्याय, (२२) शतावधानी पं. धीरजलाल टोकरशी शाह, (२३) फतेहचन्द झवेरभाई, (२४) वैद्य मोहनलाल चुनीलाल धामी, (२५) मोहनलाल दीपचंद चोकशी, (२६) चंदुलाल एम्. शाह, (२७) नागकुमार मकाती बी. ए. एल् एल् बी. (२८) फूलचन्द हरिचन्द दोशी, (२९) शाह रतिलाल मफाभाई, (३०) साहित्यचन्द्र बालचन्द हीराचन्द, (३१) मफतलाल संघवी, (३२) पूनमचन्द नागरदास दोशी, (३३) जगजीवनदास कपासी आदि नामाङ्कित विद्वान् लेखकोंका सहयोग मिला है। यह जान कर पाठकोंको अधिक प्रसन्नता होगी।

उन लेखोंमें कहीं कहीं सुधारने योग्य कतिपय स्खलनाएं लक्ष्यमें आती हैं, यहाँ उनका सूचन करना आवश्यक समझता हूं; जिससे लेखक, पाठक सुधार सकें, और भविष्यके लिए भूल-परम्परा बढ़ने न पावे।

पृ. ६६ में श्रीहरिभद्रसूरिके अष्टक प्रकरणके टीकाकारका नाम अभयदेवसूरि बताया है, लेकिन वहाँ उनके गुरु श्रीजिनेश्वरसूरिका नाम मिलता है।

पृ. ११० में दामोदरका युक्ति-व्यक्ति प्र० नाम बताया है, वहाँ उक्ति-व्यक्ति नाम उचित है।

पृ. १११ में लेखकने कुछ विचित्र विधान किया है कि-"१५वी शताब्दीके पूर्वकी गुजराती कही जानेवाली लगभग समस्त रचनाएं आदिकालीन हिन्दी साहित्यकी ही सम्पत्ति है।"-शायद लेखकने ऐसा समझ लिया मालूम होता है कि उस समयके पहिले गूजरात देशका नाम नहि था, नाम होगा, लेकिन वहाँके लोग अपने देशकी भाषामें नहि बोलते होंगे या उसमें कविता-रचना नहि बनाते होंगे! अथवा वहाँ कोई कवि उस समयमें नहि हुआ होगा अथवा होगा तो हिन्दी साहित्य ही रचता होगा! लेखककी कल्पना भ्रान्तिवाली मालूम होती है। इसी वजहसे ही लेखकने पृ. १२१ में हिन्दी साहित्यकी सम्पत्ति करके दिखलाई हुई वही नामावली, जो प्राचीन गूर्जर साहित्य-सम्पत्ति है, उसको 'जैन गूर्जर कविओ' ग्रंथसे उद्धृत की है। शायद लेखकने मूल ग्रन्थोंको विना देखे पढ़े ही ऐसा भ्रान्त विधान किया मालूम होता है। वि. सं. १२४१ के गूजराती भरत-बाहुबलि-रासका सम्पादन करते समय प्रस्तावनामें हमने भाषा-विषयक विस्तारसे उल्लेख किया है।

पृ. ११२ में हमारे सम्पादित भरत-बाहुबलिरासके प्रकाशकका नाम प्राच्यविद्यामन्दिर बताया है, लेकिन वहाँ प्र. नाम अभयचन्द्र भगवान् गान्धी स्पष्ट प्रकाशित है।

पृ. ११५ में श्रीजिनप्रभसूरिने मुहम्मदशाह (तुगलक) से भेट सं. १३५५ में की बताई है, लेकिन वह भेट सं. १३८५ में हुई थी, ऐसा उल्लेख उनके तीर्थकल्पमें मिलता है, 'श्रीजिनप्रभसूरि और सुलतान महम्मद' पुस्तिकामें हमने सविस्तर दर्शाया है।

पृ १४७में गुर्वावलीके कर्ताका नाम मुनिचन्द्रसूरि बताया है, लेकिन मुनिसुन्दरसूरि नाम मिलता है। पृ १४७ में बताया है कि पूर्णतलगच्छका नाम त्रि. श. पु चरित्र की प्रशस्तिमें लिखा है, लेकिन वहाँ देखनेमें नहि आता है।

पृ. १६१ में बताया है कि—'स्तनपक्ष गच्छ-किसी पट्टावलीके अनुसार १३वी में विद्यमान होना लिखा है, पर अन्य उल्लेख प्राप्त नहीं है'—वास्तविकमें अंचलगच्छ (विधि पक्ष) को इस नामान्तरसे सूचित किया है—ऐसा समझना चाहीए।

पृ. १६१ में बताया हुआ पुरंदरगच्छ-नाम कैसी भ्रान्तिसे प्रचलित हुआ है, इसका स्पष्टीकरण करना यहाँ उचित है। राणकपुरतीर्थ-प्रासादकी प्रतिष्ठाका जो विस्तृत सं. १४९६ का सं. शिलालेख यहाँ है, उसमें प्रतिष्ठा करनेवाले बृहत्तपागच्छके सोमसुंदरसूरिजीके जो विशेषण दिये हैं, उसमें 'परमगुरुसुविहितपुरंदरगच्छाधिराज'-को नहि समझनेसे, विचित्र पदच्छेद करनेसे प्रचलित हुआ है। वहाँ परमगुरु, सुविहित-पुरंदर, गच्छाधिराज ऐसे विशेषण, पहिले शिलालेख प्रकट करनेवाले नहि समझे, फिर उसकी नकल करनेवालोंने इधर उधर उल्लेख किया है।

पृ २६,२१३ में उमास्वामी नाम आता है, प्रायः दिगम्बर-समाजमें उमा+स्वामी ऐसी समझसे प्रचलित है, वास्तविकमें स्वातिके तनय होनेसे तत्त्वार्थसूत्रकारका नाम उमा-स्वाति उचित मालूम होता है। सुप्रसिद्ध आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिजीने अपने शब्दानुशासनके 'उत्कृष्टेऽनूपेन' २-२-३९ सूत्रके उदाहरणमें 'उपोमास्वातिं संग्रहीतारः' सूचित कर न्यासमें भी उमास्वाति नामका समर्थन किया है। यहाँ बृहद्वृत्तिके नीचे पत्र ३१ में प्रकाशित न्यासमें इस तरह उल्लेख है- "उमां कीर्तिं सुष्ठु अतनीति 'पादाश्चात्यजिभ्याम्' इति ६० णित्। यद्वा उमा कीर्तिः स्वातिरिवोज्ज्वला यस्य, यद्वा उमा माता, स्वाति पिता तयोर्जातत्वात् पुत्रोऽप्युमास्वातिः।"

पृ २२९ में लेखकने बताया है कि-" आचार्य हेमचन्द्रका 'योगशास्त्र प्रकाश' है। इसमें *योगका अर्थ न तो ध्यान है और न ध्यानकी पद्धति।* ग्रन्थमें धर्मात्माओंके नित प्रति कर्तव्यके लिए धार्मिक उपदेश ही सुभाषित वाक्योंके रूपमें दिये गये हैं।"

–मालूम होता है, लेखकने सावधानतासे यह ग्रंथ पूरा देखा नहि होगा, इसकी वजहसे वहाँ नाम 'योगशास्त्र प्रकाश' और उसका प्रकाशन-स्थल जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर बताया है। उसका वास्तविक नाम 'योगशास्त्र' है, वह १२ प्रकाशोंमें विभक्त है। मूल ग्रन्थ वाक्योंमें नहि, श्लोकोंमें है, उसके उपर अपनी स्वोपज्ञ वृत्ति बारहजार श्लोक-प्रमाण है, वृत्तिके साथ वह ग्रन्थ श्रीजैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगरसे स १९८२ में प्रकाशित है। सूरिजीने योगको मोक्षका कारणभूत बता कर, उसको ज्ञान, श्रद्धान और चारित्ररूप रत्न त्रयरूप जरूर बताया है, तदनुसार उसके साधक अधिकारीका स्वरूप दिखलाते गृहस्थ धर्म, साधु धर्म आदिका वर्णन किया है। उसमें यम, नियम आसन, प्राणायाम, ध्यान धारणा, समाधि आदि प्राचीन अष्टांग योगका स्वरूप भी है, गौरसे देखे।

पृ. २१६ में शान्तिनाथ-चरितके कर्ताका नाम 'देवसूरि' (स. १२८२) ऐसा दर्शाया है, लेकिन उसका वास्तविक नाम 'मुनिदेवसूरि' मिलता है, और उसका रचना-संवत् १३२२ मिलता है।

पृ. २१९ में कथारत्नकोषके कर्ताका नाम 'देवप्रभसूरि' ऐसा दिखलाया है, लेकिन उसका नाम 'देवभद्रसूरि' मिलता है।

पृ. २२० में ग्रन्थका नाम 'भरटकत्रिंशिका' बताया है. लेकिन उसका नाम 'भरटकद्वात्रिंशिका' प्रसिद्ध है। तथा 'रत्नचूडा-कथा' छपा है, वहाँ रत्नचूड-कथा नाम चाहिए। वज्रायुद्ध नाम छपा है, वहाँ वज्रायुध होना चाहिए।

पृ. २२२ में 'प्रबुद्धरौहिणेय' के कर्ता रामभद्रको जिनप्रभसूरिका शिष्य बताया है, लेकिन उसने तो अपनेको जयप्रभसूरिका शिष्य कहा है।

पृ. २२३ में वादीभसिंहके साथ कवि धनपालका नाम-निर्देश कर 'ये दोनों मान्य जैनाचार्य थे' बताया है. लेकिन महाकवि धनपाल गृहस्थ था, वह जैनाचार्य नहि कहा गया है।

पृ. २२४ में यशोविजय-ग्रन्थमाला-प्रकाशित शान्तिनाथ-चरितके कर्ताका नाम 'मुनिचंद्रसूरि' बताया है, लेकिन वास्तविकमें उसका नाम 'मुनिभद्रसूरि' मिलता है।

—नरनारायणनन्द नाम छपा है, वहाँ नरनारायणानन्द समझना चाहीए।

पृ. २२५ में 'अष्टलक्षी'को काव्य कहा है, वास्तविकमें 'राजानो ददते सौख्यम्' इसकी व्याख्यारूप होनेसे आठ लाख अर्थवाली यह कृति अर्थरत्नावली 'अष्टलक्षार्थी' कही जाती है।

'चरित्रसुन्दर' नाम छपा है, वहाँ 'चारित्रसुन्दर' होना चाहीए, और 'अरसिंह' छपा है, वहाँ 'अरिसिंह' होना चाहीए।

पृ. २२६ में 'इन्दुदूत' काव्यके कर्ताका नाम 'जिनविजयगणि' दर्शाया है, वास्तविकमें 'विनयविजयगणि' होना चाहीए।

पृ. २२९ में 'काव्यशृंगारमंडन' ऐसा बताया है, वास्तविकमें 'काव्यमंडन' और 'शृङ्गारमण्डन' दो भिन्न ग्रन्थ है।

'मध्याह्नव्याख्या' नाम बताया है, उसका स्पष्ट नाम 'मध्याह्नव्याख्यान-पद्धति' मिलता है, और उसके कर्ताका नाम 'हर्षमंडनगणि' बताया है, लेकिन वास्तविक नाम 'हर्षनन्दनगणि' मिलता है।

पृ. २३० में उपदेशचिन्तामणिको राजशेखरसूरि-कृत बताया है, लेकिन वह ग्रन्थ जयशेखरसूरि-रचित है।

पृ.१४७में गुर्वावलीके कर्ताका नाम मुनिचन्द्रसूरि बताया है, लेकिन मुनिसुन्दरसूरि नाम मिलता है। पृ. १४७ में बताया है कि पूर्णतलगच्छका नाम त्रि. श. पु चरित्र की प्रशस्तिमें लिखा है, लेकिन वहाँ देखनेमें नहि आता है।

पृ. १५१ में बताया है कि—'स्तनपक्ष गच्छ-किसी पट्टावलीके अनुसार १३वीं में विद्यमान होना लिखा है, पर अन्य उल्लेख प्राप्त नहीं है'—वास्तविकमें अंचलगच्छ (विधि पक्ष) को इस नामान्तरसे सूचित किया है—ऐसा समझना चाहीए।

पृ. १६१ में बताया हुआ पुरंदरगच्छ-नाम कैसी भ्रान्तिसे प्रचलित हुआ है, इसका स्पष्टीकरण करना यहाँ उचित है। राणकपुरतीर्थ-प्रासादकी प्रतिष्ठाका जो विस्तृत सं १४९६ का स. शिलालेख वहाँ है, उसमें प्रतिष्ठा करनेवाले बृहत्तपागच्छके सोमसुन्दरसूरिजीके जो विशेषण दिये हैं, उसमें 'परमगुरुसुविहितपुरंदरगच्छाधिराज' को नहि समझनेसे, विचित्र पदच्छेद करनेसे प्रचलित हुआ है। यहाँ परमगुरु, सुविहित-पुरंदर, गच्छाधिराज ऐसे विशेषण, पहिले शिलालेख प्रकट करनेवाले नहि समझे, फिर उसकी नकल करनेवालोंने इधर उधर उल्लेख किया है।

पृ २६,२१३ में उमास्वामी नाम आता है, प्राय: दिगम्बर-समाजमें उमा+स्वामी ऐसी समझसे प्रचलित है, वास्तविकमें स्वातिके तनय होनेसे तत्त्वार्थसूत्रकारका नाम उमा-स्वाति उचित मालूम होता है। सुप्रसिद्ध आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिजीने अपने शब्दानुशासनके 'उत्कृष्टेऽनूपेन' २-२-३९ सूत्रके उदाहरणमें 'उपोमास्वातिं संग्रहीतार' सूचित कर न्यासमें भी उमास्वाति नामका समर्थन किया है। वहाँ बृहद्वृत्तिके नीचे पत्र ३१ में प्रकाशित न्यासमें इस तरह उल्लेख है- "उमा कीर्ति सुष्ठु अतनीति 'पाद्राच्चात्यजिभ्याम्' इति ङ. णित्। यद्वा उमा कीर्तिः स्वातिरिवोज्ज्वला यस्य, यद्वा उमा माता, स्वाति पिता, तयोर्जातत्वात् पुत्रोऽप्युमास्वाति।"

पृ २२९ में लेखकने बताया है कि-" आचार्य हेमचन्द्रका 'योगशास्त्र प्रकाश' है। इसमें योगका अर्थ न तो ध्यान है और न ध्यानकी पद्धति। ग्रन्थमें धर्मात्माओंके नित प्रति कर्तव्यके लिए धार्मिक उपदेश ही सुभाषित वाक्योंके रूपमें दिये गये हैं।"

—मालूम होता है, लेखकने सावधानतासे यह ग्रंथ पूरा देखा नहि होगा इसकी वजहसे यहाँ नाम 'योगशास्त्र प्रकाश' और उसका प्रकाशन-स्थल जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर बताया है। उसका वास्तविक नाम 'योगशास्त्र' है, वह १२ प्रकाशोंमें विभक्त है। मूल ग्रन्थ वाक्योंमें नहि, श्लोकोंमें है, उसके उपर अपनी स्वोपज्ञ वृत्ति बारहजार श्लोक-प्रमाण है, वृत्तिके साथ यह ग्रन्थ श्रीजैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगरसे सं १९८२ में प्रकाशित है। सूरिजीने योगको मोक्षका कारणभूत बता कर, उसको ज्ञान, श्रद्धान और चारित्ररूप रत्न त्रयरूप जरूर बताया है, तदनुसार उसके साधक अधिकारीका स्वरूप दिखलाते गृहस्थ धर्म, साधु धर्म आदिका वर्णन किया है। उसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि आदि प्राचीन अष्टांग योगका स्वरूप भी है, गौरसे देखें।

पृ. २१६ में शान्तिनाथ-चरितके कर्ताका नाम 'देवसूरि' (सं. १२८२) ऐसा दर्शाया है, लेकिन उसका वास्तविक नाम 'मुनिदेवसूरि' मिलता है, और उसका रचना-संवत् १३२२ मिलता है।

पृ. २१९ में कथारत्नकोषके कर्ताका नाम 'देवप्रभसूरि' ऐसा दिखलाया है, लेकिन उसका नाम 'देवभद्रसूरि' मिलता है।

पृ. २२० में ग्रन्थका नाम 'भरटकत्रिंशिका' बताया है. लेकिन उसका नाम 'भरटकद्वात्रिंशिका' प्रसिद्ध है। तथा 'रत्नचूडा-कथा' छपा है, वहाँ रत्नचूड-कथा नाम चाहिए। वज्रायुद्ध नाम छपा है, वहाँ वज्रायुध होना चाहिए।

पृ. २२२ में 'प्रबुद्धरौहिणेय' के कर्ता रामभद्रको जिनप्रभसूरिका शिष्य बताया है, लेकिन उसने तो अपनेको जयप्रभसूरिका शिष्य कहा है।

पृ. २२३ में वादीभसिंहके साथ कवि धनपालका नाम-निर्देश कर 'ये दोनों मान्य जैनाचार्य थे' बताया है. लेकिन महाकवि धनपाल गृहस्थ था, वह जैनाचार्य नहि कहा गया है।

पृ. २२४ में यशोविजय-ग्रन्थमाला-प्रकाशित शान्तिनाथ-चरितके कर्ताका नाम 'मुनिचंद्रसूरि' बताया है, लेकिन वास्तविकमें उसका नाम 'मुनिभद्रसूरि' मिलता है।

—नरनारायणनन्द नाम छपा है, वहाँ नरनारायणानन्द समझना चाहीए।

पृ. २२५ में 'अष्टलक्षी'को काव्य कहा है, वास्तविकमें 'राजानो ददते सौख्यम्' इसकी व्याख्यारूप होनेसे आठ लाख अर्थवाली यह कृति अर्थरत्नावली 'अष्टलक्षार्थी' कही जाती है।

'चरित्रसुन्दर' नाम छपा है, वहाँ 'चारित्रसुन्दर' होना चाहीए, और 'अरसिंह' छपा है, वहाँ 'अरिसिंह' होना चाहीए।

पृ. २२६ में 'इन्दुदूत' काव्यके कर्ताका नाम 'जिनविजयगणि' दर्शाया है, वास्तविकमें 'विनयविजयगणि' होना चाहीए।

पृ. २२९ में 'काव्यशृंगारमंडन' ऐसा बताया है, वास्तविकमें 'काव्यमंडन' और 'शृङ्गारमण्डन' दो भिन्न ग्रन्थ है।

'मध्याह्नव्याख्या' नाम बताया है, उसका स्पष्ट नाम 'मध्याह्नव्याख्यान-पद्धति' मिलता है, और उसके कर्ताका नाम 'हर्षमंडनगणि' बताया है, लेकिन वास्तविक नाम 'हर्षनन्दनगणि' मिलता है।

पृ. २३० में उपदेशचिन्तामणिको राजशेखरसूरि-कृत बताया है, लेकिन वह ग्रन्थ जयशेखरसूरि-रचित है।

पृ. २६४ में 'कुसउ०'गाथाको अभयदेवसूरिके 'साहम्मिवच्छल्लकुलक' की बताई है, लेकिन उससे प्राचीन सं. ९१५ के धर्मोपदेशमाला-विवरणमें (सिंघी जैन ग्र. २८, पृ. १२२) जयसिंह सूरिने उस प्राचीन आर्य गाथाको उद्धृत की है।

पृ. ३१६-३१७ में लेखकने पादलिप्तसूरिकी आकाश-गमनद्वारा अष्टापदादि तीर्थ-यात्रा सूचित की है, लेकिन उसके चरितोंमें शत्रुंजय, गिरनार आदिकी यात्राका उल्लेख है, उसमें अष्टापदका नाम नहि मिलता।

'बप्पभट्ट' नाम छपा है, वहाँ 'बप्पभट्टि' नाम चाहीए।

पृ. ३२२ में 'गिरिग्गालचहा' को मागधी बताई है, वास्तविकमें यह प्राकृत है।

पृ. ३३७ में गूजरात पर हेमचन्द्राचार्यकी पूरी असरका समय 'सं. ११९६ से ११३०' तक छपा है, वहाँ 'सं. १२१६ से १२३०' समझना चाहीए। परमार्हत महाराजा कुमारपालने जैनधर्मका स्वीकार किया, वहाँसे लेके उसका जीवन-काल यहाँ तक प्रसिद्ध है।

—विशेषमें यह निवेदन करते हमे अत्यन्त दुःख होता है कि ऐसा महत्त्वका चिरस्मरणीय ग्रन्थ जैसा विशुद्ध छपना चाहीए, वैसा नहि छपा। इसमें थोडीसी सामान्य स्खलनाएं-त्रुटियाँ होती तो हम उपेक्षा करते; लेकिन स्थूल दृष्टिसे अवलोकन करनेवाले हम संशोधकको भी इसमें सैंकडों भूलें दिखाई देती हैं, जिनका उद्धरण शुद्धि-पत्रक द्वारा करना मुश्किल है, और इसके लिए अधिक पत्र छपाकर अधिक व्यय करना भी अनुचित प्रतीत होता है। इसके लिए सम्पादक मण्डलको हम क्या उपालम्भ दें? वे तो मुद्रणालयसे बहोत दूर रहे होंगे। लेकिन वे इस प्रकारके ज्ञाता, शुद्ध संशोधककी योजनामें सफल नहि हुए—ऐसा मालूम होता है। जिसको शुद्धि अशुद्धिका अच्छा परिज्ञान हो जो व्याकरणादिका, संस्कृत आदि भाषाका व्युत्पन्न हो, और ग्रन्थस्थ विषयोंका भी ज्ञाता हो साथमें प्रूफ-संशोधनादि कार्य जिसने किये हो, उस विषयका अनुभवी हो और जो सावधानतासे विचार विमर्श कर संशोधन करनेवाला हो; लेकिन ऐसी व्यक्तिकी योजना नहि हो सकी-इसका यह परिणाम है कि यह ग्रन्थ सैंकडों भूलोंका भोग बन गया है। इससे लेखोंका वास्तविक भाव जो खुलना चाहीए, वह खुलता नहि है, उनका प्रकाश-तेज न्यून हो जाता है, लेखकोंका महत्त्व घट जाता है, ग्रन्थके गौरवको हानि पहुँचती है। कागज और छपाईका व्यय सफल नहि होता है। यथायोग्य संशोधन किया गया हो, तो उसका तेज अन्धकारमें चमकता है। और जो भूलें-अशुद्धियाँ एक नकलमें छपती हैं, वे हजारों नकलोंमें छप जाती हैं, रह जाती हैं, ऊड जाती हैं। अतः छपानेके पहिले ही सावधानतासे, दक्षतासे शुद्धि कर लेनी सम्पादकोंके और प्रकाशकोंके लिए आवश्यक होती है, तब वे यशस्वी बनते हैं। सम्भव है, अशुद्धि रहनेमें अन्य भी कारण हो सकते हैं लेखोंकी कॉपियाँ यथायोग्य शुद्ध न होना, उनके अक्षर बराबर न पढ सके ऐसा होना, ग्रन्थको त्वरासे अवधिमें प्रकाशित कर देनेकी उतावली, और प्रेसवालोंके भी कुछ दोष कम अनुभव, टाइपोंकी खामीयोंकी, अनुभवी कार्यकरोंकी न्यूनता, मशीनमें छपते समय अक्षर, मात्रा, ह्रस्व,

दीर्घ, रेफ, बिन्दु आदि ऊड़ जाना। यह सब होने पर भी संशोधक सावधान दक्ष हो तो ग्रन्थको अधिक विशुद्ध कर सकता है। और इतनी त्वरा करनी अनुचित है, जिससे ग्रन्थ अत्यन्त अशुद्ध भद्दा बन जाय। जिस ग्रन्थको महान् चिरस्थायी बनाना है, जगत्के विद्वानोंके समक्ष रखना है, देश-विदेशोंमें भेजना है-ऐसे महत्त्वके ग्रन्थके लिए अधिक दक्षतासे, पूरी सावधानतासे, समुचित संशोधन करना चाहीए-वैसा नहि हो सका-इसका हमे अत्यन्त खेद होता है। संस्कृत लेखोंमें ही अशुद्धियां है, और भाषाके लेखोंमें नहि है-ऐसा नहि है। हमारे हिन्दी, गूजराती लेख उसमेंसे बच गये हैं-ऐसा भी नहि है। ह्रस्व-दीर्घकी, वर्ण-व्यत्ययकी, पदच्छेद, पद-योजना करनेकी और अन्य प्रकारकी अशुद्धियां इधर-उधर दृष्टि-गोचर होती हैं। पृ. २३९ में जहां 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' लेखका मङ्गलाचरण छपना चाहीए, वहां लेखके नाम उपर बड़े टाइपोमें लेखका मुख्यनाम हो इस तरहसे छपा है, और वहां 'ॐ नमो' करके छपा है, और 'सिद्धे' अलग, और 'भ्यः' पदच्छेद करके अलग छपा है। ग्रन्थ-नायक सूरिजीका पूर्व-नाम रामरत्न प्रसिद्ध है, उसके बदलेमें वहां रातरत्न छपा है। बेचरदास नाम चाहीए, वहां बेचारदास, पट्टावलीकी जगह पठ्ठावली, परिपाटीकी जगह परिपाठी, महाकविकी जगह मकाकवि, मनुस्मृतिकी जगह भनुस्मृति, बालभारतकी जगह बालमारत, चिन्तामणिकी जगह चित्रामणि, अर्धमागधीकी जगह अर्थमागधी, और अर्धमार्गधी, नयचन्द्रकी जगह नथचन्द्र, बनासकांठाकी जगह बनासकांटा, सरस्वतीकी जगह सरभ्वती, पञ्चमाङ्गकी जगह पन्चमांग, श्रद्धाञ्जलिकी जगह श्रद्धाञ्जलि, पुञ्जकी जगह पुण्ज, अध्यक्षताकी जगह अक्षध्यता, अट्ठाईकी जगह अट्टाई, सैद्धान्तिक की जगह सौधान्तिक, बहुश्रुतकी जगह बहुश्रूत, बहुश्रुति, बहुश्रुत, स्थविरावलीकी जगह स्थिरावली, शताब्दीकी जगह सताब्धि, षोडशाक्षरीकी जगह शोडषाक्षरी, नेमिनाथ-चतुष्पदिकाकी जगह नेभिमान-चतुस्पदिका, आत्मोद्धारकी जगह आत्मोद्दार, क्रियोद्धार की जगह क्रियोद्दार, सदुपयोगकी जगह सद्प्रयोग छपा है। स्थूलदृष्टिसे अवलोकन करनेवाले संस्कृतज्ञ सुज्ञको भी यह शल्यकी तरह खटकता है। दिग्दर्शनरूप यह दिखलाया है। थोडे और नमूने भी देखे-अक्षरशः की जगह अक्षरक्षः, स्वस्ति के बदले स्वास्ती, वचनातिशय के बदले वशनातिशय, उपास्यके बदले उपाष्य, विमुच्य के बदले विमुध्य, आलोच्य के बदले आळोच, विश्वकी जगह विश्य, स्रष्टाकी जगह सृष्टा, सर्जनकी जगह सृजन, शुश्रूषाकी जगह सुश्रुषा, विद्वान् की जगह द्विवान्, विध्यान, व्रणकी जगह वृण, ऋणकी जगह रूण, मुक्तकी जगह मूक्त, शुभकी जगह शूभ, पुण्यकी जगह पूण्य, पूण्यवंत, पुन्यशाली, मुख्यके बदले मूख्य, मूख्यता, मुखके बदले मूख, सूत्रकी जगह सुत्र, कल्पसुत्र, पूर्वकी जगह पुर्व, प्रचुर की जगह प्रचूर, राहुकी जगह राहू, वीतरागकी जगह वितराग, सूरिकी जगह सुरि, सूरीश्वर की जगह सुरिश्वर, मुनीन्द्रकी जगह मुनिन्द्र, अवटंक की जगह अधटंक, सुवर्ण की जगह सूवर्ण छपा है। अपरिग्रहकी जगह अपरिगृह, तथा निःस्पृही की जगह निस्पृहि, गृहस्थकी जगह गृस्हथी, गीष्पतिकी जगह गीष्पति, समृद्धिकी जगह स्मृध्धि, जितेन्द्रियकी जगह जितेन्द्रीय, माहात्म्यकी जगह महात्म्य, ध्वंसितकी जगह ध्वंशित, प्रशंसा की जगह प्रसंशा, सूक्ष्म की जगह सुक्ष्म, चूलिका की जगह चुलिका,

दुर्लक्षकी जगह दूर्लक्ष, दुराचारी की जगह दूराचारी, बिन्दु की जगह बींदु, दृष्टिके बदले द्रष्टि, दृष्टिपथ, अदृश्यकी जगह अद्रश्य, विस्मितकी जगह विदिमत, मृतकी जगह मृत, वृत्तिकी जगह वृती, जरासन्धकी जगह जरासिन्ध, तिर्यंच की जगह तिर्यंच, अर्बुदकी जगह अबुर्द, मुक्षणकी जगह मुक्षर्णे, गुणकी जगह गुहा, खेमङ्करीकी जगह षमङ्करी, शास्त्रकी जगह शास्र, मातृष्वसाकी जगह मातश्वसा, पितृष्वसाकी जगह पितृश्वसा नमामि की जगह नमाभि, कामिनीकी जगह कामीनी स्थूलकी जगह स्थुल, पूज्यकी जगह पुज्य, हीरककी जगह हरिक, अष्टापदकी जगह अस्टापद, नंदीश्वरकी जगह नंदीस्वर, पिपासुकी जगह पीयासु, बुद्धिकी जगह बूदि, बुध्दिशाली, शुद्धकी जगह शुध्द, मूर्तिकी जगह मुर्ति, लघुकी जगह लुघु, वैशाखकी जगह वैसाख, स्पर्शकी जगह स्पर्ष, तन्दुलकी जगह तन्दूल, जिनचन्द्रकी जगह जितचद, धम्मोकी जगह धम्मो, कुकर्मकी जगह कुकर्म, शिलाभित्तिकी जगह शिलाभित्ति, पौषधोपवासकी जगह पौलधोपवास, श्वसुरालयकी जगह श्वसुरालय, वेष्टितकी जगह वेष्ठित, भण्डारकी जगह भन्डार, शार्दूलकी जगह शार्दुल, भुजगप्रयातकी जगह भु० प्रपात, स्याद्वादकी जगह स्यद्वाद, स्यायद्वाद, प्रव्रज्याकी जगह प्रवृज्या, शिथिलाचारीकी जगह सीथीलाचारी नरमेधकी जगह नरमेघ, अश्वमेधकी जगह अश्वमेघ, मधुरकी जगह मधर, वेदिकी जगह वेदि, धधूकीया की जगह धुधकिया, भर्त्सनाकी जगह भर्तस्ना, तद्विजयोपायकी जगह ० पाय, फाल्गुन मासकी जगह मास, रजतमापककी जगह रजतमापक, अभिशापकी जगह अभिशाप, उल्लापकी जगह उल्लाप्य, गभस्तिमि चाहीए यहाँ गभमस्तिभि, काष्ठ की जगह काष्ट, विनष्टकी जगह विनष्ट प्रतिमाकी जगह प्रतिमा, उत्कृष्टकी जगह उत्कृष्ट छपा है। तथा निश्चित को निश्चित, निष्णातको निष्णात् विख्यातको विख्यात् प्रवचन को प्रवचन्, दर्शन को दर्शन्, वर्तमानको वर्तमान्, विद्यमान को विद्यमान्, सन्मान को सम्मान् इस तरहसे अकारान्तके बदले व्यञ्जनान्त छपा है, उनको संस्कृतज्ञ विद्वान् शुद्ध नहि समझते हैं। विस्तारके भयसे इतनेसे ही सन्तोष मानते हैं। आशा है कि पाठक वाचक लोग अशुद्धियाँ दूर कर शुद्ध पाठ कैसा होना चाहीए, उसको समझ कर सुधार ले। खास पत्र निर्देश नहि किया, क्यों कि अनेक पत्रोंमें अनेक बार अशुद्ध पाठ आया है।

कर्तव्य -पालनके कारण, और भविष्यमें वैसी अशुद्धियाँ प्रचलित न रहे, यथायोग्य संशोधन कर लिया जाय -ऐसे शुभ आशयसे यह निवेदन हमे करना पडा है इसमें अनुचित हुआ हो तो सम्पादक मण्डल, विद्वन्मण्डल, लेखक-मण्डल, और संशोधक सज्जनों हमे क्षमा करें।

अभिनन्दनीय सूरिजीके सद्गुणोंको मैं वर्षोंसे सुन रहा था, जब उनकी प्रेरणासे 'प्राग्वाट इतिहास' तैयार हो रहा था, तब उसको पहिलेसे अवलोकन कर उचित सूचना करनेका कार्य मुझे सौंपा गया था; वहाँ तक सूरिजीसे मिलना नहि हुआ था। लेकिन दो वर्ष पहिले, श्रीराजेन्द्रसूरि स्मारक महोत्सवके प्रसंग पर राजगढमें मोहनखेडा तीर्थमें श्रीयतीन्द्र-सूरिजीका साक्षात् दर्शन करनेका हमे सुयोग मिला था। सपरिवार सूरिजीके सौजन्य,

औदार्य, धैर्य, गाम्भीर्य, प्रभावकता, विद्वत्ता, विद्वज्जन-सत्कार आदि कई सद्गुणोंका साक्षाद् अनुभव हुआ था, जिसको मैं भूल नहि सकता। उन्हीं सूरिजीके इस हीरक-महोत्सव-अभिनन्दन-प्रसंग पर परमात्मासे हम अन्तःकरणसे प्रार्थना करते हैं कि वे जिनशासनकी – अहिंसामय प्रवचनकी उन्नति करते हुए आरोग्यके साथ चिरकाल विजयवन्त रहे।

मेरी मातृभाषा गूजराती होने पर भी हिन्दी भाषामें यह प्रयास किया है, इसमें जो कुछ त्रुटि हो, उसको सुज्ञ पाठक सुधार कर पढ़े। ऐसी तक देनेके लिए मैं सम्पादक-मण्डलका आभार मानता हूँ।

विक्रमसंवत् २०१५
माघपूर्णिमा
वटपद्र (बड़ौदा)

सद्गुणानुरागी-
...चन्द्र भगवान् गान्धी
[निवृत्त जैनपण्डित-बड़ौदाराज्य]

शुद्धि-पत्रक

(जीवन-खण्ड)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	२१	तिसुमहै	तिसुमहे
४	२४	सर्व्वद्धित	सर्वद्धिस्त
७	४	यसा	यशा
७	१९	ध्यान्तो	ध्वान्तो
७	२१	कल्म	कल्म
८	४	युन	युत
८	४	लोकान्तमो- मोदीत्	लोकान्परो- ऽमोदयत्
८	६	करणपरः	कारणपरः
८	५	साधुप कारकरो हि	साधुनासु पकारकृद्धि
९	८	मच्छति	मच्छमति
९	१४	कार्यकलन करण	कार्यकलन- करणे
९	२१	कान्तया(प) स्वर्णो	कान्त्या सुवर्णोपम.
९	२२	दार्रेश्वर्य	दारैश्वर्य
९	३६	(हि)	(ह)
९	३८	नृरिहिं	नृरिहिं
१०	२	दध (ग्ध)	दग्ध
१०	१०	सुधावलित यशो	सुधावलि यशो
११	१५	मण्डलाऽ प्रयमाण.	मण्डला प्रणीयैः
११	२६	समाम्ने	समाम्यते
११	२८	धन्यात्मनो	धन्यात्मनां
१२	४	हद.	हृद.
१२	८	स ह्रीनो दीसो	सहिनो दीप्तो
१३	१	सुचित.	सुचित्त.
१३	११	श्रद्धानां	श्राद्धानां
१४	१४	गीष्पति	गीष्पनि
१४	२३	विजयो जयोयतु	विजयोऽ यतु
१४	२८	परिदघन्	परिदघत्
२०	१५	१९५७	१९७७
२३	२९	मेङगाँव	छेङगाँव
२६	८	छाणेड	छाजेड
२७	४	रायघटी	रावटी
३०	१३	यरमण्ड	वरमन्डल
३०	१३	खनगढ़	वखतगढ़

विविध विषय खण्ड

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४६	२६	शिल्पकार	शिल्पकला
४६	२९	रक्षक	रक्षा
५५	२१	प्रयस्ट- स्मिपद्	प्रयस्मिपद्
५५	२१	भणनीयं	भणनीयं
६४	१०	रागा नीपत्कर	रागा निषिपत्कर
६५	१४	प्रासोऽसि	प्राप्तोऽस्मि
७४	१	अंग	उपांग
७५	२	पयाभ्याम्	पयाद्रा भ्याम्
७८	२४	सन्द्रब्ध	सम्ब्रब्ध
८६	५	तुत्या	तुल्या
८९	३	स्वतार्पं	रचनार्पं
९०	२६	प्रमाण	प्रणाम
२४१	२२	मान	ज्ञान
२५८	५	आश्चर्य	आचार्य
२६१	१२	चत्ययाम	चैत्ययास
२६७	१०	मे	इससे
२६८	३६	हय	यह
२८३	१०	अममरढ़	अमरगढ़
२९२	२९.	Con-taing	Contai-ning

श्री अभिधानराजेन्द्र कोशाद्यनेक ग्रन्थ प्रणेता

परम योगी परमज्ञानी

सरस्वतीपुत्र - प्रातः स्मरणीय - प्रभु

श्रीमद्विजयराजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ।

श्री यतीन्द्रसूरि अभिनंदन ग्रंथ
जीवन खंड

काव्यादिजैनवचनस्फुर्ठशब्दशास्त्रे,
सम्यग् विबोधकरणे सुमतिश्च यस्य ।
व्याख्यानपद्धतिवराखिल बोधदात्री,
तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ ४ ॥

सद्वाचकेतिसमुपाधि विभूषितात्मा,
देशेतरे विचरणे प्रियतास्ति यस्य ।
श्रीलक्ष्मणी ह्यजनि पद्मजिनस्य तीर्थः
तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ ५ ॥

संघेन सार्धममुना बहुतीर्थयात्रा,
मद्रेश्वरस्य विहिता विमलाचलस्य ।
प्रीत्या पुनर्विकट जैसलमेरुकस्य,
तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ ६ ॥

भव्योपकारकरणार्थमनेन सूरि—
शास्त्राणि मञ्जुलतराणि विनिर्मितानि ।
ख्यातानि तानि च बहून्यपि मुद्रितानि,
तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ ७ ॥

उद्यापनादिसुकृतानि बहून्यमुष्य,
यस्योपदेशमनुसृत्य तथा प्रतिष्ठाः ।
शिष्यावलिश्च शुभधर्मपथप्रवृद्धि—
तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ ८ ॥

पञ्चाङ्काङ्कधराब्दके ऽतिसुमहे, माघे सिताश्वातियौ,
यं सूरिं सकलो ऽप्यसंघसहितश्चा ऽहोरसंघो व्यधात् ।
भक्त्यैतस्य जनो हि यो ऽष्टकमदो नित्यं मुदा सम्पठेत्,
सम्वेदितमियाद् गुलाबविजयो वक्तिस्फुटं वाचकः ॥९॥

ले.—उपाध्याय मुनि श्री गुलाबविजयजी

सूरिचक्रवर्त्ती श्रीमद् यतीन्द्रसूरि

(२)

कलानिधानबन्धुरं धुरन्धरं निमज्जतां,
भवोदधावबाप्य भारतीं शिवाय निर्मलाम् ।

दिनेशवद् विराजितं जगत्त्रये ऽ पराजितं,
भजे यतीन्द्रसूरिणं सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ १ ॥

कुशेशयं यथोपयान्ति पद्पद्मास्तथैव यं,
श्रयन्ति भावुका मुदा वचोविलासलोलुपाः ।
कुतो ऽ पि ना ऽ त्मनीनमाश्रयं प्रपद्य सादरं,
भजे यतीन्द्रसूरिणं सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ २ ॥

समस्तमानसान्धकारमाशु संप्रलीयते,
यदीय देशनादिनेश दीपितेऽनिशं भृशम् ।
जगन्ति मोदमावहन्ति हन्यते च किल्बिषं,
भजे यतीन्द्रसूरिणं सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ ३ ॥

कृपाकटाक्षधोरणीनिरुद्धदीनदैन्यकम्,
जिनोक्तधर्मधारणाज्जितोरुकामसैन्यकम् ।
अगण्यपुण्यसञ्चयाज्जनैरतः प्रपूजितम्,
भजे यतीन्द्रसूरिणं सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ ४ ॥

अनेक जीर्णशीर्ण तीर्थमन्दिरस्य कारिता,
समुद्धृतिर्द्रं तञ्च येन मानवस्य वारिता ।
अधोगतिः सतां मतं मुमुक्षुभिश्च वन्दितं,
भजे यतीन्द्रसूरिणं सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ ५ ॥

अतिष्ठियत्सुविम्बमर्हतामनेकमर्हतां,
विरागतप्रभूतकर्मकर्तने पटीयसाम् ।
व्रतोपधानकर्मकारीतञ्च येन भूरिशो,
भजे यतीन्द्रसूरिणं सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ ६ ॥

अजेयकामकोपलोभमोहमत्सरानरीं,
सुहेलया विजित्य शेमुषीमिवाप्य सत्तरिम् ।
ततार योऽतिदुस्तरं भवं तमानतोऽहकं,
भजे यतीन्द्रसूरिणं सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ ७ ॥

गुरो ! गुणैर्गरिष्ठतावकीनकीर्तिकीर्तना—
दियत्तया न संहृतं वचस्त्वशक्तितो मया ।
तथापि तत्तवेप्सितं पदं सुनाम संरटन्,
भजे यतीन्द्रसूरिणं सुसूरिचक्रवर्तिनम ॥ ८ ॥

गुरुगुणाष्टक और श्रद्धाञ्जलि

संस्कृत

श्रीमद् यतीन्द्रसूरि-वंदन

(१)

श्रीधौलपुरनगरे ब्रजलाल इभ्य —
श्चम्पा ऽभिधा च ललना ऽजनि तस्य पुत्रः ।
श्रीवेदनन्दविधुगे शुचिरामरत्न —
स्तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ १ ॥

राजेन्द्रसूरिसुगुरोरुपदेशमाप्य,
श्रीखाचरोदनगरे रुचिरोत्सवेन ।
दीक्षां ललौ गतिशराङ्कधरासुवर्षे,
तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ २ ॥

साधुक्रियां च समधीत्य जवात्सुबुद्ध्या,
लेभे ऽपरां पुनरयं महतीं सुदीक्षाम् ।
आहोर मध्य इषुपञ्चनवांकलाब्दे,
तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ ३ ॥

काव्यादिजैनवचनस्फुटशब्दशास्त्रे,
सम्यग् विबोधकरणे सुमतिश्च यस्य ।
व्याख्यानपद्धतिवराखिल बोधदात्री,
तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ ४ ॥

सद्वाचकेतिसमुपाधि विभूषितात्मा,
वैरोतरे विचरणे प्रियतास्ति यस्य ।
श्रीलक्ष्मणी ह्यजनि पद्मजिनस्य तीर्थं :
तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ ५ ॥

संघेन सार्द्धममुना बहुतीर्थयात्रा,
भद्रेश्वरस्य विहिता विमलाचलस्य ।
प्रीत्या पुनर्विकट जैसलमेरुकस्य,
तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ ६ ॥

भव्योपकारकरणार्थमनेन भूरि—
शास्त्राणि मञ्जुलतराणि विनिर्मितानि ।
ख्यातानि तानि च बहून्यपि मुद्रितानि,
तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ ७ ॥

उद्यापनादिसुकृतानि बहून्यमुष्य,
यस्योपदेशमनुसृत्य तथा प्रतिष्ठा : ।
शिष्यावलिश्च शुभधर्मपथप्रवृत्ति—
तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ ८ ॥

पञ्चाङ्काङ्कधराब्दके ऽतिसुमहे, राधे सिताशातिथौ,
यं सूरिं सकलो ऽन्यसंघसहितश्चा ऽहोरसंघो व्यधात् ।
भक्त्यैतस्य जनो हि यो ऽष्टकमदो नित्यं मुदा सम्पठेत्,
सर्वेप्सितमियाद् गुलाबविजयो वक्तिस्फुटं वाचकः ॥९॥

ले.—उपाध्याय मुनि श्री गुलाबविजयजी

सूरिचक्रवर्त्ती श्रीमद् यतीन्द्रसूरि

(२)

कलानिधानबन्धुरं धुरन्धरं निमज्जतां,
भवोदधावबाध्य भारतीं शिवावनर्गलाम् ।

दिनेशवद् विराजितं जगत्त्रये ऽ पराजितं,
भजे यतीन्द्रसूरिणं सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ १ ॥

कुशेशयं यथोपयान्ति पदपद्मास्तथैव यं,
श्रयन्ति भावुका मुदा वचोविलासलोलुपाः ।
कुतो ऽ पि ना ऽ त्मनीनमाश्रयं प्रपद्य सादरं,
भजे यतीन्द्रसूरिणं सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ २ ॥

समस्तमानसान्धकारमाशु संप्रलीयते,
यदीय देशनादिनेश दीपितेऽनिशं भृशम् ।
जगन्ति मोदमावहन्ति हन्यते च किल्विषं,
भजे यतीन्द्रसूरिणं सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ ३ ॥

कृपाकटाक्षधोरणीनिरुद्धदीनदैन्यकम्,
जिनोक्तधर्मधारणाज्जितोरुकामसैन्यकम् ।
अगण्यपुण्यसञ्चयाज्जनैरतः प्रपूजितम्,
भजे यतीन्द्रसूरिणं सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ ४ ॥

अनेक जीर्णशीर्ण तीर्थमन्दिरस्य कारिता,
समुद्धृतिर्द्रुतञ्च येन मानवस्य वारिता ।
अधोगतिः सतां मतं मुमुक्षुभिश्च वन्दितं,
भजे यतीन्द्रसूरिणं सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ ५ ॥

अतिष्ठियत्सुबिम्बमर्हतामनेकमर्हतां,
चिरागतप्रभूतकर्मकर्तने पटीयसाम् ।
व्रतोपधानकर्मकारीतञ्च येन भूरिशो,
भजे यतीन्द्रसूरिणं सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ ६ ॥

अजेयकामकोपलोभमोहमत्सरानरीं,
सुहेलया विजित्य शेमुषीमिवाप्य सत्तरिम् ।
ततार योऽतिदुस्तरं भवं तमानतोऽहकं,
भजे यतीन्द्रसूरिणं सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ ७ ॥

गुरो ? गुणैर्गरिष्ठतावकीनकीर्त्तिकीर्तना—
दियत्तया न संहृतं वचस्त्वशक्तितो मया ।
तथापि तत्त्वेप्सितं पदं सुनाम संरटन्,
भजे यतीन्द्रसूरिणं सुसूरिचक्रवर्तिनम ॥ ८ ॥

शार्दूलविक्रीडितछन्दः

यः प्रातः स्मरणीयतामुपगतो राजेन्द्रसूरीश्वर—
सच्छिष्यप्रवरस्य सूरिनृपतेः श्रीमद्यतीन्द्रप्रभोः ।
पादाम्भोरुहचञ्चरीकमहसा श्रीवल्लभेनाष्टकं,
देयाच्छं मुनिनादृतं सुपठतां नृणामदः सन्ततम् ॥

—स्व. मुनिश्रीवल्लभविजयजी

गुरुवर श्रीमद् यतीन्द्रसूरि
(३)

गुरोः ते गम्भीरा रुचिरसुखमुद्रा मदकरी,
प्रकर्षाह्लादं मे प्रकटयति चित्ते प्रणमत ।
अतो वारम्वारं निरवधिविदीर्णांहननहतेः
सदा त्वां ध्यायामि प्रवरकरणव्यावृतिमहम् ॥ १ ॥

असारे संसारे गुरुवर! विचार्य स्वहृदये,
त्वया सर्वे त्यक्ताः परमधनपक्षाः सुततरम् ।
भवद्भिः संप्राप्ता कठिनतरवैराग्यपदवी,
गृहीतं वैराग्यं जगति परमानन्दकरणम् ॥ २ ॥

अगाधे श्रीजैनागमजलनिधि निर्मलधिया,
विगाह्या ऽधार्यं च ह्यनवरततो रत्ननिचयम् ।
अनेकग्रन्थस्तूपाभगननविरोध्यो विगलता,
निरस्तं लोकानां घनतिमिरमज्ञानप्रभवम् ॥ ३ ॥

शरीरे भूत्वैवं यमनियमधर्माणि सततम्
जगज्जीवामोघं सरलयत्ले स्वयंप्रकरोः ।
कषायारीन्जित्वा विमलमतिमार्गे हि चरताम्,
पदार्थान् मर्मज्ञैरिह जगति विस्तारयसि यं ॥ ४ ॥

गुणाभिरता दृष्टिर्भवति नितरां भाविकजने,
चिरस्था स्याद्वाणी कलिहृतधियां शिक्षणविधौ ।
गतां निन्दां नृणामनुकरणयोग्यास्तव क्रियाः,
अहं त्वां मूर्ध्ना गुरुवर ! यतीन्द्रं स्तुतु भजे ॥ ५ ॥

—मुनि श्री विद्याविजयजी

राजमान श्रीमद् यतीन्द्रसूरि—

(४)

मान्यैर्मान्यो वदान्यो भविकजनकृते शंप्रदो मानदोऽय—
श्रोदार्ये कीर्तिधारी प्रथितमतिमतां मानकारी व्यगारी
जैनीयग्रन्थमर्मी भणिन बहुयशास्त्यक्तकर्मी सुधर्मी,
याचं वाचंयमो वै मधुरश्रुतयुतां श्रावयेच्छ्रीयतीन्द्रः ॥ १ ॥

श्रीमद्राजेन्द्रसूरिप्रवरतपगणे गीयमानप्रकीर्ति—
र्मौनी मानी सुमानी बहुविधसुजनैः प्रथ्यमान प्रगीतिः ।
कान्तो दान्तोऽतिशान्तोऽखिल विबुधनरैर्नम्यमानो मुनीन्द्रो,
धन्यो धन्योऽतिधन्यो निखिलजनसुखानन्दकृच्छ्रीयतीन्द्रः ॥ २ ॥

भावं भावं सुभावं भविकभविकवृन्दे यशोगीयमानम्,
पायं पायं व्यपायं सकलसकल लोके सुधापीयमानम् ।
स्थायं स्थायं स्वभिख्यां निखिलभुवितले यो गुरोरद्वयस्य,
वन्दं वन्दं पदाब्जे विविधबुधवरै राजते श्रीयतींद्रः ॥ ३ ॥

— पं० श्यामसुन्दराचार्य ।

विविधशास्त्रपारङ्गत श्रीमद् यतीन्द्रसूरि

(५)

यस्य प्रोद्यन्निपुणधिपणासाम्यमाप्तुं न दक्षो—
ऽलक्ष्यो देवालिपक्षो ऽप्यदितिसुत गुर्गीष्पतिर्भूतले ऽसौ ।
यः स्वीयज्ञानकाण्डप्रखरकिरणध्वंसिता ऽज्ञानजाल—
ध्वान्तो जैनो जयति विजयश्रीयतीन्द्रो महीयान् ॥ १ ॥

यदीयसुयशो विधुर्धवलयन् महीमण्डलम्,
प्रचण्डतरकल्मषव्रजसरोजमामीलयन् ।
विराजतितरामसौ विविधशास्त्रपारङ्गमो,
यतीन्द्रविजयाभिधः सदयजैनतत्त्वाविदः ॥ २ ॥

संस्तारयन्निजगुणैरुपकारजातान्,
प्रेम्णा हि कं न मनुजं हि वशीकरोति ।

शिष्योऽप्युदार चरितस्तथशान्तचितः,
विद्याविनोदरसिको जगतां हितैषी ॥ २ ॥

श्रीगुरुदेवयतीन्द्रसूरिविबुधोऽहिंसापथः सत्वरम्,
कारुण्यायुनमानस प्रतिदिनं लोकान्तमोमोदीत् ।
साध्वुपकारकरो हि लोभरहितो भिक्षाव्रतः संयमी,

—पं. विश्वेश्वर व्याकरणाचार्य–साहित्यतीर्थ ।

गुणाढ्य श्रीमद् यतीन्द्रसूरि

(६)

जरीहर्ति जाड्यं जनानामजस्रम्,
चरीकर्ति यद्दर्शनं पापपुञ्जम् ।
दरीदर्ति मिथ्यात्वितां तत्क्षणंयत्,
स जीयाद् यतीन्द्रः सदाचार्यवर्यः ॥ १ ॥

नरीनर्ति यद्दर्शनात् मानपाली,
पयोदागमे शोभना पिच्छशाली ।
दिनेशोदये पद्मपालीव भव्यः,
स जीयाद् यतीन्द्रः सदाचार्यवर्यः ॥ २ ॥

परीपर्ति पियूषतुल्यैर्वचोभि—
र्जनानामभीष्टं द्रुतं यः समग्रम ।
सरीसर्ति लोकोपकाराय भूमौ,
स जीयाद् यतीन्द्रः सदाचार्यवर्यः ॥ ३ ॥

जरीगर्दि यस्यामलां देशनां यः,
तरीतर्ति कामं भवाब्धिं जनः सः ।
वरीवर्ति तस्यागमेनैव भव्य,
स जीयाद् यतीन्द्रः सदाचार्यवर्यः ॥ ४ ॥

यदीयैर्गुणैरजितैर्भव्य वर्गैः —
स्तुवद्भिर्यदीयं कला कौशलं च ।
दिगन्तेऽपि यत्कीर्तिरातन्यते च,
स जीयाद् यतीन्द्रः सदाचार्यवर्यः ॥ ५ ॥

चरीकृष्यते यो विपक्षेऽपि शश्वत्,
सभायां जितो भूरिशो वादकसः ।

अरिर्येन नीतः स्वपक्षेऽपि दक्षः,
स जीयाद् यतीन्द्रः सदाचार्यवर्यः ॥ ६ ॥

यमालोक्य सन्तो विकासं भजन्ते,
समं दुर्धियो दिग्विभाजं श्रयन्ते ।
सुशान्तश्च दान्तश्च धन्यो वदान्यः
स जीयाद् यतीन्द्रः सदाचार्यवर्यः ॥ ७ ॥

सकलागमपारगतस्य यदि,
प्रपठेदिदमष्टकमच्छति ।
विजयादि यतीन्द्र-यतीन्द्रगुरोः,
सच याति वृहस्पतितां झटिति ॥ ८ ॥

—पं० अवधकिशोरजी मिश्र व्याकरणाचार्य मैथिल

नीतिनिधान श्रीमद् यतीन्द्रसूरि

(७)

यो वेदांते तरुणतिमिरद्वैतध्वंसप्रचण्ड :,
कार्याकार्यकलनकरणनीतदक्षावतार : ।
धर्माधर्माचरणचलननीतवर्मावतार :,
श्रीसूरीशो विबुधजलजोद्दीपक : श्रीयतीन्द्र : ॥ १ ॥

यो विद्याब्धिविगूढमन्थनलभच्छ्रीशब्दरत्नोऽधुना,
व्याख्यानामृतपायनेन मृतकान्मूर्खान् मुहुर्जीवयन् ।
कारुण्याम्बुविसेचनैर्भुवि बुधान् संमोदयन् सत्वरं,
कं कं रङ्कजनं न रक्षति महाकारुण्यपूर्णो भवान् ॥ २ ॥

लोकस्वान्तगलान्धकारतपनः कान्त्या (च) स्वर्णोपमो,
दारैश्वर्यपराङ्मुखो मतिमतामग्रेसरः केसरी ।
धर्माचारसुचारकारणचयैः कालान्मुहुर्यापयन्
सूरीशो जयतेऽधुना च नितरां श्रीमान् यतीन्द्रो यति : ॥ ३ ॥

यतीशः संयमी नित्यं, बुधान् सन्तोपयन् सुधी : ।
वार्तासुधाप्रदानेन, सर्वान् साधून् (हि) मोमुदीत् ! ॥ ४ ॥

शिष्ये खलु कृपादृष्टि : गुरुभक्तिश्च वर्तते ।
सोऽयं यतीन्द्रसूरिर्हि, राजतां धर्मगो बुध : ॥ ५ ॥

गाम्भीर्ये सरिताम्पतिं परिजयन् धैर्ये जयन्मेदिनी,
औदार्येऽवमहीपतिं परिजयन् [illegible]

पुण्यैर्धर्मसुतं जयन् सुरगुरुं वाचा तु विस्मापयन्,
भक्तिं श्रीचरणे दधं (ध) नितरां श्रीमान्, दयावारिधि ॥ ६ ॥

कन्दर्पं दमयन् रिपून् विदलयन् विद्याविनोदैर्निजैः,
संतोषं जनयन् बुधेत्वतितरां प्रासादमासादयन् ।
शिष्ये स्नेहयघो प्रवधतितरां दुखं बुधानांहरन्,
श्री श्रीमान् (सु) यतीन्द्रसूरिविबुधो विद्यावतामग्रगः ॥ ७ ॥

श्रद्धा श्रेष्ठजने दया बुधजने भक्तिः जिने जायतां,
स्नेहः शिष्यजने जयो रिपुजने धर्मश्रुते धर्यताम् ।
शिष्यस्तातनियोगपालनपरो विद्यावृतो जायतां,
श्रीमच्चन्द्रकलासु धवलितयशोराशिः शुभाभासताम् ॥ ८ ॥
एवं विद्यापयोवृद्धं, श्रीयतीन्द्रं पुनः पुनः
नमामि भक्तिभावेन, पायात्मां सततं गुरुः ॥ ९ ॥

—पं. विश्वेश्वरनाथ वैयाकरण तर्क-काव्य-भूषण

शम-दम-शीलनिधान श्रीमद् यतीन्द्रसूरि

(८)

जिनमतजनता—सुजातमानो,
यम—नियमादिगुणैर्विराजमान : ।
मुनिजनमनसि सुधासमानो,
जय 'सुयतीन्द्र यतीन्द्र' ! वन्द्यमान : ॥ १ ॥

गुणिगण—गणना—प्रगण्यमान :
शिव—पदवी—पदवी—प्रवर्तमान : ।
भवि—भयभव—भीतिमज्यमानो,
जय सुयतीन्द्र—यतीन्द्र ! वंद्यमान : ॥ २ ॥

अविरत—सुतपस्तपस्यमान :,
शम—दम—शीलगुणैश्च शोभमान : ।
जगति जडजनान् विबोधमानो,
जय सुयतीन्द्र—यतीन्द्र ! वंद्यमान : ॥ ३ ॥

अनुपमतनुदीप्ति—दीप्यमानो,
[illegible]

जय सुयतींद्र-यतींद्र ! वंद्यमानः ॥ ४ ॥

जन-जनन-मृतिविदार्यमाणः,
सतत-सुदुर्द्धर-धीर्यधार्यमाणः ।
मतिमद्नतिनतो गताऽभिमानो,
जय सुयतीन्द्र-यतीन्द्र ! वन्द्यमानः ॥ ५ ॥

जगदुदधि-सुजीवतार्यमाणः,
सकल-सदागम-मर्म-पार्यमाणः ।
मदगदरहितः प्रधी प्रधानो,
जय सुयतीन्द्र-यतीन्द्र ! वन्द्यमानः ॥ ६ ॥

तपन इव विभाविभासमानो,
जनकमलौघमुदाविकास्यमानः ।
अखिल - खल - खलत्वहीयमानो,
जय सुयतीन्द्र - यतीन्द्र ! वन्द्यमानः ॥ ७ ॥

कलिमलिनमलं बलादलं यो,
दलतितरां मुनिमण्डलाऽश्रयमाणः ।
अपरपरनरे सदा समानो,
जय सुयतीन्द्र - यतीन्द्र ! वन्द्यमानः ॥ ८ ॥

स्तुतिरिह रचिता सुपुष्पिताग्रा,
पदरुचिरा च यतीन्द्रसूरिकाणाम् ।
भवतु सुफलदा सदा तदेषा,
घृतरुलतेव फला सुपुष्पिताग्रा ॥ ९ ॥

—पं० व्रजनाथ-शास्त्री, बगजरी ।

- यतीश्वर श्रीमद् यतीन्द्रसूरि -

(१)

यः शिष्यान् परिपाति मोहरहितान् योग्यान् स्वपादाश्रितान् ।
यं वै विश्वविभीषकाः सविनतं देवं स्तुवन्ति प्रभुम् ॥
येनेदं निखिलं जगत् सुमहसा संभासते सर्वतः ।
यस्मै श्रीविदुषे नमन्ति सुजना जीयात्स लोके सुधीः ॥ १ ॥
यस्माद्बोधमवाप्य यान्ति च जना धन्यात्मनो मानवाः ।
यस्य श्रीसुविदः प्रसादकरणात्, स्तुत्यं पदं सर्वथा ॥

यस्मिन् भान्ति दयादिका (हि) सुगुणा व्याख्यानवाचस्पतौ ।
विश्वस्मिञ्जयताद् वसत्वय चिर सूरिर्यतीन्द्रो हि स ॥२॥

मोहध्वसदिवाकरो यतिवर सज्ज्ञानधर्माम्बुधि ।
कारुण्यार्द्रहृद कवित्वकुशलोदेदीप्यमानो मुनि ॥
जेता जल्पकपुगवो जनहित: पीनाम्बरीयान् मुनीन् ।
भाषाकल्पतरु सदा विजयता सूरिर्यतीन्द्रो यति ॥३॥

वैदुष्यादियमादिभिर्गुणगणैर्विद्वद्वरैरर्चित ।
शान्तिक्षांतिदयादिरत्नसहितो दीप्तो जनाह्लादक ॥
कृत्याकृत्यविवेचने सुनिपुण सद्धर्मसस्थो मुनि ।
जैनाचार्यवर सदा विजयता श्रीमद्यतीन्द्र सुधी ॥४॥

मालिनीवृत्तम्

मुनिमहितमुनीन्द्रो मारसमर्दनेन्द्र,
सकलगुणगणेन्द्रो धीमता य सुधीन्द्र ।
निपुणकरिमृगेन्द्र शास्त्रसत्वेश्वरीन्द्र,
जयतु जयतु देव श्रीलसूरिर्यतीन्द्र ॥५

सुविनतमुनिवृन्दे निष्पवर्ग सुवन्द्य,
विविधविधिविधानेनात्ममान्यो वदान्य ।
गुरुगुणगणरत्नस्त्यक्तदर्पो विरक्त,
जयतु जयतु देव श्रीलसूरिर्यतीन्द्र ॥६॥

विहितहितसुकृत्यो निश्चयज्ञो ऽनवद्य,
निखिलगुणगणानामाश्रया य सुनम्य ।
रविरिव हि सुदीप्तो माननीयो मुनिन्द्र,
जयतु जयतु देव श्रीलसूरिर्यतीन्द्र ॥७॥

द्रुतविलम्बितवृत्तम्

परमपण्डितमण्डितमण्डल,
सुनयनो नयनन्दितमानय ।
जयतु सूरियतीन्द्रयतीश्वर,
यमवतामवता च पुर प्रभ ॥८॥

वसन्ततिलका छन्द

श्रीमद्यतीन्द्रयतिराजमहामतीनाम्,
सिद्धिप्रद मदन-संविहित स्तव य

स्तौत्यर्थं सिद्धिसहितं ह्यनिशं सुवित्तः,
सर्वार्थसिद्धिमधिगम्य स नन्दतीह ॥ ९ ॥

पं० मदनलाल जोशी, शास्त्री, मन्दसौर ।

व्याख्यान-वाचस्पति श्रीमद् यतीन्द्रसूरि

(१०)

यतीनां राजानो जिनरचितमार्गानुसरणाः
कृपापाराचारा जिनसमुदयावाप्तिविषयाः ।
विजेतारः पीताम्बरधरमुनीनां सुमहसा,
स्वतंत्रा जीयासुर्गणधर मनीषा इव पराः ॥ १ ॥

श्रीमान् धर्मधुरन्धरो धृतियुतो विद्वज्जनैस्सेवितो,
निर्दर्पः सुविनायको गणवरो विख्यातकीर्तिः क्षितौ ।
श्रद्धानां प्रियकारकोऽस्ति महतां विद्यानिधेर्वारिधिः,
दिव्याच्छ्रीमुनिराजराजमुकुटो श्रीमान् यतीन्द्रोगुरुः ॥ २

व्याख्यानवाचस्पतिरेव धीरः;
गम्भीरतावार्धिरिवापरश्च ।
राद्धान्ततत्वार्थनिपुण मेधो,
जीयाद् मुनीन्द्रप्रवरो यतीन्द्रः ॥ ३ ॥

राजेन्द्रसूरीश्वर एव विद्वान्,
गुरुर्दयालुः परमार्थबुद्धिः ।
आराधितो येन मुनिश्वरेण,
भक्त्या महत्या परित्यक्तकामः ॥ ४ ॥

ज्ञाने परः कोविद हेमचंद्रः,
उदारचेता महनीयकीर्तिः ।
गृहीतकार्यं न जहाति कामम्,
उद्योगशाली जयताद् यतींद्रः ॥ ५ ॥

आह्लादने चंद्रमसो हि शोभां,
धत्ते कृपालुर्जनतापहर्त्ता ।
समाधिनिष्ठः पुरुषार्थहस्तः
गुरोः कृपातो जयताद् यतींद्रः ॥ ६ ॥

कार्यांतगः शिक्षणपारदृश्वा,
गुरोश्च वाक्यानि वहत्यजस्रम् ।

श्रोपादिजैना जनद्वितीय —
　　　　धरान्नगाही यमने यतीन्द्रः ॥ ७ ॥

गृहीत विद्याविजय ः सुशिष्यः,
　　　　समस्त लोकोपकरिष्णुरेषः ।
मासान् हि वेदान् गमयन् हि कुक्षौ,
　　　　सुखेन तस्थौ मुनिराड् यतीन्द्रः ॥ ८ ॥

इदं हि पद्यनटकं कृतं मयाल्पबुद्धिना,
　　　　निरीक्ष्य मूलतरलतो गुणान् विभाव्य सन्ततम् ।
भवन्तु पण्डिता जनाः समासु तान्प्रपूजिनान्,
　　　　भजन्तु सज्जनाः सुखं सुतल्पं स्वधर्मेण ॥ ९ ॥

—पं. पन्नालाल शास्त्री-नागर, रतलाम (मालवा)

तरसा रविरिवलसत्किरणो,
　　　　यशसा धवलायितचन्द्रयशः ।
वचसा ननु गीष्पतिरेव भवान्,
　　　　महसा च यतीन्द्रमुनिर्जयति ॥ १ ॥

श्रीमज्जिनेन्द्रप्रभधर्मधृतावतारो,
　　　　धर्मोपदेशकरणामरणार्दवौघः ।
देशाटनाटवि (प्र) चलनचातुर्याद्यः
　　　　श्रीमद्यतीन्द्र मुनिराजवरो विजीयात् ॥ २ ॥

मूर्त्या महर्षिरिव चन्द्र इव स्वकीर्त्या,
　　　　मत्या बृहस्पतिरिवाब्धिरिवाविधूत्या
सत्यावृतो विधिरिव मुनिधर्मवेषा,
　　　　श्रीमद्यतीन्द्रविजयोऽवतु मां मुनीन्द्रः ॥ ३ ॥

—पं. बिहारीलाल शास्त्री ।

शान्त-दान्त श्रीमद् यतीन्द्रसूरि

"श्रीमद्वीर सुशासनैक निरतः सन्मार्गसन्दीपकः ।
　　सम्यक् ज्ञानचारित्रदर्शनसरित्सत्सङ्गमस्तीर्थपद् ॥
एवं गुणगणसानकं परिदधन् भव्यः सुधीः शोभनः ।
　　शान्तो दान्तविनीतको विजयतां धन्यो यतीन्द्रोऽन्वहम् ॥ १ ॥

रमाकान्त शास्त्री. सं. महा. विद्या, इन्दौर

हिन्दी-गूर्जर

गुणवान्—गुरु

दौलतसिंह लोढ़ा 'अरविंद' सरस्वती विहार, भीलवाड़ा

गुरु ! गुणवंता, गुण का स्थान —

सत्यनिष्ठता है गुरु ! तुम में,
सत्यनिष्ठ के शरण महान ।
शांत, दांत तुम, कांत रुचि हो,
पुरुष प्रवर की लब्ध पहिचान ॥ गुरु ॥

नहीं विफलता फटकी तुम पर,
हुई विफलता स्वयं हैरान ।
अथक श्रमी हो, हीन आलस्य,
नीतिनिपुण हो, धर्मप्रधान ॥ गुरु ॥

विविध साहित्य-अंगों में गुरु !
अमर रहेगी देन महान ।
पुरातत्त्व, इतिहास करेंगे
नित्य तुम्हारे नव गुणगान ॥ गुरु ॥

धर्मक्षेत्र के रहे प्रदीपक,
शासन—सेवा करी महान ।
'गुरु चरित' तुम्हारा वरदायी
भव्यजनों को है वरदान ॥ गुरु ॥

सर्वव्रती सन्यासी हो तुम ।
त्याग तुम्हारा पथ—कल्याण ।
पंचभूत 'अरविंद' मांगता
वरद हस्त का छत्र-वितान ॥ गुरु ॥

श्रीमद् यतीन्द्रसूरि—अभिनंदन

धर्मानन्द जैन 'सरोज'

हे यतीन्द्र सूरीश्वर ! आज तुम्हारा अभिनन्दन है ।
　　हीरक सुखद जयन्ती पाकर पुलकित हृदय-गगन है ॥
महावीर के श्रमण-धर्म में तेरा जन्म हुआ है ।
　　उनकी दिव्य ध्वनि के सम ही तू भी सुखद हुआ है ॥
गुरु राजेन्द्र के वरद हस्त ने तेरा रूप सँवारा ।
　　मालव के अभिराम [illegible] में तू ने धर्म प्रसारा ॥
सौम्यमूर्ति ! गुणवान ! भाग्य भी तुझको गोद लिये है ।
　　स्वस्थ ! साधुसन्तुष्ट ! धन्य हे ! सुखप्रद मोद दिये है ॥
तू अगाध अध्यात्मवाद का रत्नाकर है ।
　　तू अथाह व्यवहारवाद का सीमाधर है ॥
सत्य-अहिंसा, शील-अचौर्य से तुझ में रत्न अपरिमित ।
　　तू चिरायु हो जग-जग का जीवन-पथ करने आलोकित ॥
जैन संस्कृति का तू जीवित जगती पर सुखद स्रोत है ।
　　विश्वबन्धु तव अन्तरात्मा दया-धर्म से ओत प्रोत है ॥
तव चिन्हों पर चलने उत्सुक यह समाज है आया ।
　　जिसके उर में तेरा शासन वर्धमान में छाया ॥
तू महान उद्देश्य लिये बढ़ता चल पथ में आगे ।
　　जिससे भौतिकयुग में फिर से धार्मिकता जागे ॥
हे यतीन्द्र सूरीश्वर ! आज तुम्हारा अभिनन्दन है ।
　　बढ़ रहा व्यक्ति, बढ़ता समाज; प्रमुदित हृदय-सदन है ॥

— વં દ ના —

શિશુ જયન્ત વિજય 'મધુકર'

યુ. પી. પ્રાન્તે ધવલપુરી નગરી આજ વિખ્યાત છે,
રહેતા હતા ત્યાં શ્રેષ્ઠિવ્રજ ચંપાકુમારી નામ છે.
પાવન કર્યું ગૃહ એમનું શ્રીરામરત્ને ધન્યદા,
એહવા સુગુરૂ યતીન્દ્રને વંદન કરૂં છું સર્વદા.

માતા પિતા પરલોકના વાસી થયા જ્યારે અહિં,
ભોપાલમાં માતુલ સમીપે રામરત્ન રહ્યા તહીં.
માતુલવચનથી જેમને મારગ મળ્યો અહા એકદા,
એહવા સુગુરૂ યતીન્દ્રને વંદન કરૂં છું સર્વદા.

ગુરૂદેવ શ્રીરાજેન્દ્રસૂરિવર મળ્યા જ્યાં આપને,
દર્શન કરી વાણી સૂણી ત્યાં ધોઈ નાખ્યા પાપને.
ઇચ્છા રહી સંસારથી વિરક્ત બનવાની સદા,
એહવા સુગુરૂ યતીન્દ્રને વંદન કરૂં છું સર્વદા.

વૈરાગ્યના શુભ ભાવનો જ્યારે જ ઉદ્ભવ થાય છે,
ત્યારે મનુજ કલ્યાણ કરવાને અહિં પ્રેરાય છે.
જાગૃત થતાં વૈરાગ્ય જેણે સર્વ છોડી આપદા,
એહવા સુગુરૂ યતીન્દ્રને વંદન કરૂં છું સર્વદા.

મેળવ્યા આશીર્વચન સહી જેમણે ગુરૂદેવના,
નવ નવ વરસ સાનિધ્યમાં રહી જેમણે કરી સેવના.
યતીન્દ્રપદ ધારણ કરી પામી સુસંયમ સંપદા,
એહવા સુગુરૂ યતીન્દ્રને વંદન કરૂં છું સર્વદા.

જે બાલબ્રહ્મચારી અને રહે દૂર શિથિલાચારથી,
શુધ્ધ સંયમથી સુવાસિત પ્રેમ સાધ્વાચારથી,
વિશ્વમાં શ્રીવીરનો સિદ્ધાન્ત પ્રસરાવ્યો સદા,
એહવા સુગુરૂ યતીન્દ્રને વંદન કરૂં છું સર્વદા

ઇન્દુ દ્વિતીયાનો યથા નિશરોજ વધતો જાય છે,
ગૌરવ તણી ગાથા તથા માનવ સમૂહ નિત ગાય છે,
સાહિત્યસેવી માર્ગદર્શક ભવ્યજન તારક સદા,
એહવા સુગુરૂ યતીન્દ્રને વંદન કરૂં છું સર્વદા.

ગુણગાન કરવા આપના આ બેનિનીના બહાર છે,
સદ્ભકિત સદ્ગુરૂદેવની સદ્જ્ઞાનનો પ્રચાર છે,
ગુરૂરાજ મમ શિરતાજ તુમ શિષ્યાણુ કરતો યાચના,
સામર્થ્યયુત આશીષ અર્પો પૂર્ણ હો સબ કામના.

पु ष्पां ज लि........

गुरुदेव !

बाल्यावस्था से ही आपने संसार को निस्सार समझ कर, स्नेहीजनों का स्वार्थपूर्ण स्नेह जान कर, सत्पथप्रदर्शक सद्गुरु श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के पावन करकमलों से भागवती-प्रव्रज्या को अंगीकार की, गुरु-सेवा में रह कर के सद्ज्ञान को प्राप्त किया और गुरुगच्छ को समुन्नत बनाने के लिये हमेशां तत्पर रहे। आज पर्यंत उन गुरुदेव के सिद्धान्तों पर अडिग चल कर हम जैसे भूले पथिकों को मार्गप्रदर्शन किया।

महामहीम !

आप के उन गुणों का वर्णन मेरी मन्द पंक्तियां कैसे कर सकती हैं ? हीरक जयन्ति के पुण्य पर्व पर हार्दिक भावना से आपश्री दीर्घायु हों, जिस से हम जैसे भक्तालियों का मार्ग सरल बन सके। इस शुभकामना के साथ शत-शत वंदन करता हूं..

—भवदीय चरणरेणु
मुनि शान्ति विजय की वन्दना।

कुसुमाञ्जलि

पूज्यपाद् गुरुदेव !

आपकी चरण-रेणुका स्पर्श कर न जाने कितने मानव धर्मश्रद्धा को प्राप्त होगये और न जाने कितने अंधकूप में पड़ने से बच गये। शुभकर्मों के उदय से हमको आपके पावन चरण-कमलों की निश्रा प्राप्त हुई। और आपने हमको दीक्षा देकर भव सुधारने का सुयोग दिया। इतना ही नहीं अद्यावधि हमारे साध्वी पन को सच्चा साधुत्व प्राप्त हो यह आपका निरंतर ध्यान रहा। हमारे जैसे ही अनेक बालमुनि आपका सान्निध्य, अधिष्ठापन, निश्रा प्राप्त करके अपना नरभव सुधार रहे हैं। हे पूज्य गुरु ! आपको हम इस हीरक-जयन्ती के शुभावसर पर इन शब्दों में श्रद्धाञ्जलि अर्पित करती हैं कि हम सर्व अधिकाधिक आपकी दया, कृपा का पात्र चारित्र साध कर बनी रहें।

विनीता—
श्रमणी संघ

गुरु--जीवन की झलक

लेखक—ज्योतिषविशारद मुनि श्रीसागरानन्दविजयजी ।

वे अपना पादविहार दिनोंदिन आगे बढाये जा रहे थे । पैरों में से निकलनेवाला रक्त भूतलपर पड़े रजकणों को लाल रंग से रंगीन बनाये जा रहा था । कच्छ की वह भूमि, शरदऋतु, ठंडी हवा, प्रातकाल का समय ! अपने इस अस्थिर देह की कुछ भी परवाह न कर के राही आगे ही बढ़ा जा रहा था ।

कौन है वह ? देखते-देखते उस भूमि का विचरण कर के सौराष्ट्र की पुण्यभूमि में रहे तीर्थाधिराज पालीताणा की ओर प्रस्थान कर दिया । तीर्थाधिराज की यात्रा करके मालवभूमि को भी पावन कर दी ।

एक समय धवलपुर एवं भोपाल के डमररोड पर चलनेवाला अपने पैरों में बूट-चप्पल पहन कर फिरनेवाला, श्रेष्ठि ब्रजलाल की आंखों का तारा, प्रिय माता चम्पा का दुलारा वह रामरत्न ! भाग्य की विचित्र गति से कौन बच सका है भला ! अच्छे या बुरे कामों में प्रेरित होते क्या देर लगती है ! पर कोई ऐसा प्रसंग या निमित्त जबतक नहीं आता तब तक विचार मन ही मन में रहते हैं । छः वर्ष की लघुवय में ही माताजी परलोक की यात्रृणी बन गई । रामरत्न एवं अपनी अन्य चार संतानों के साथ श्रेष्ठिवर्य ब्रजलालजी धवलपुर छोड़कर भोपाल आ बसे । प्यारे रामरत्न को अध्ययनार्थ भेजा गया । अल्प समय में ही योग्य विद्या उपार्जन कर ली । आह ! पर यह क्या ! पिताजी भी अपनी पांच संतानों को यहाँ असहाय छोड़कर सदा के लिये सो गये !

मामाजी ठाकुरदासजी थे । रामरत्न की बुद्धिमत्ता और सुशीलता को देखकर उन्होंने रामरत्न को अपने घर पर रख लिया ! रामरत्न भी बहुत ही प्रेम से मामाजी को प्रत्येक कार्य में सहायक बन गया । पर इतने में यह क्या ! मामाजी के एक बार कटु शब्दोंने रामरत्न के नेत्र यकायक खोल दिये । वह तो पहले ही सजग था । मामाजी से और शिक्षा मिली । उसी क्षण में भोपाल का त्याग किया और निकल गया दुनिया की लीला का दर्शन करने के लिये रामरत्न ! सिंहस्थ को देखकर महेंदपुर आये और भाग्य का चांद चमका ! मिल गये सरस्वतीपुत्र श्रीमद् राजेन्द्रसूरि ! उन्हीं से पाया मार्गदर्शन और बने श्रीयतीन्द्रविजयजी !

कहो, क्या कमी रह सकती है फिर और विद्वनूशिरोमणि गुरु मिलने के बाद ! कर लिया आवश्यकीय अध्ययन और पा लिया गुरुवर का सच्चा आशीर्वाद ! बात-बात में १० वर्ष व्यतीत हो चुके ! इतने में यह क्या ? जिन की पावन कृपादृष्टि से इतने आगे बढे ! जिन्होंने समझाया मानवजीवन का उत्थान कैसे हो—इस बात को । उन्हीं परम कृपालु गुरुदेव का भी वियोग ! संयोग के बाद वियोग होता ही

है। मुनि श्रीयतीन्द्रविजयजी भी इस प्रकार के संयोग-वियोग से बच नहीं सके। किस को दुःख नहीं होता अपने पिता या गुरु के वियोग का! भगवान् महावीर के प्रथम गणधर श्रीगौतमस्वामीजी को भी भगवान् के वियोगने थोड़ी देर पागल से बना दिये थे! मुनिश्री ऐसे चक्र को आज तक कई बार देख चुके थे। अत हिंमत रक्खी! उत्साह से काम में हाथ बटाया और समाज-सेवा एवं आत्मोद्धार के कार्य में तत्पर हो गये!

बात-बात में दिन चले जा रहे थे। राजस्थान की यह भूमि! पू. पी. में आगरा-मरुधर में बागरा! जहाँ विराजित थे श्रीमद्विजयधनचंद्र सूरीश्वरजी! आचार्य देवकी आज्ञा पाकर मुनिश्री व्याख्यानपीठ पर पधारे और अपनी पियूषवाहिनी देशना शुरू की। व्याख्यान चलता रहा। इस प्रकार जनप्रिय रोचक शैली से व्याख्यान दिया कि एक भी बच्चा न उठा, न बोला! सभा खचाखच भरी हुई थी। व्याख्यान समाप्ति के बाद आपको 'व्याख्यान-वाचस्पति' पद से विभूषित कर दिया।

विराट बृहद्विश्वकोश श्रीअभिधानराजेन्द्र को श्रीमद्विजयभूपेंद्र सूरीश्वरजी के साथ में रह कर संशोधित कर मुद्रित करवाया! सं. १९५७ का वर्ष आया। बागरा चातुर्मास में ही गच्छपति धनचन्द्र सूरीश्वरजी का स्वर्गवास हो गया। बागरा से मुनिमंडल का सियाणा पधारणा हुआ। वहां पहुँचने पर मालवभूमि को पावन कर रहे शान्तमूर्ति उपाध्याय श्रीमन्मोहन विजयजी के स्वर्गवास के अत्यंत दुखदायी हृदयविदारक समाचार आये! मुनिवृन्द में शोक छा गया! फिर भी आपने हिम्मत दी और मुनिगण आहोर आ उपस्थित हुआ। सर्वानुमत से समाज के नायक के सम्बन्ध में विचार—विनिमय हुआ और तीन वर्ष बाद आचार्यपद देनेके लिये तैयारियां होने लगीं। मालवभूमि का सुहावना शहर जावरा! जहां स्व. प्रभुश्रीमद्विजयराजेन्द्र सूरीश्वरजीने क्रियोद्धार कर आत्मकल्याण का सही रास्ता समाज को बतलाया था। समय व्यतीत होने क्या देर लगती है! समय भी आ गया। ज्येष्ठ मास था। अष्टमी जयप्रदा तिथि थी। शुभ योग और शुभ लग्न नवांश भी था। चतुर्विध संघ के समक्ष मुनिवरर श्रीमद्भूपेंद्रविजयजी को गच्छनायक बनाये गये। सहपाठी, सहयोगी और सर्वगुणसंपन्न मुनिश्रीयतींद्र विजयजी को उपाध्याय पद से विभूषित किये गये। नायक की आज्ञा में रहकर भारतभूमि के गूर्जर, कच्छ, मरुधर, मेवाड़, नेमाड़ एवं मालव प्रांतीय गाँव, नगर में भ्रमण करना शुरू किया। शीत आपको सताने में असमर्थ रही। उष्णताने आपके आगे घुटने टेक दिये। आपने शीत और गर्मी की, कुछ भी परवाह न की और अपने विहार को अनवरत रक्खा।

देखते हैं और देखे हैं कई अपनी नजरों से जाते हुए! कौन रह सकता है अमर भला! जिस का नाम हुआ उस का नाश होगा ही! कुक्षी (म०प्र०) में

आप विचरण करते हुए पधारे। चातुर्मास १९९३ का वहां पर ही किया। चातुर्मास समाप्त हो गया, हेमंत पूर्ण हुई और शिशिर भी पूर्णाहुति में ही थी। सुखशान्तिपूर्ण वातावरण था। समय सायंकाल था। एक लिफाफा आया। टेलीग्राम का था वह! खोला और पढा! अत्यंत दुःखदायी समाचार विदित हुए! गच्छपति श्रीभूपेन्द्र सूरिजी महाप्रयाण कर गये! आनंद के वातावरण में शोक छा गया! अपने पर रहे छत्र के इस प्रकार टूट जाने से आप को दुःख हुआ! पर क्या किया जाय! देववंदनादि क्रिया कर के स्वर्गस्थ की आत्मा को शांति की कामना की। सं. १९९४ का चातुर्मास आलिराजपुर में किया और तत्पश्चात् लक्ष्मणी तीर्थ का पुनरुद्धार करवाया।

बात की बात में समय बीता जा रहा था। मरुधर से चतुर्विध संघ का एक पत्र आया। आपको शिघ्र उधर पधारने के लिये विनती थी। श्रीसंघ की आज्ञा मान्य कर विहार कर दिया। निमाड़, मेवाड़, गोड़वाड़, की भूमि को पावन करते हुये पधार गये आहोर! जहां था मुनिसमुदाय! श्रीसंघने आपको गच्छभार देने का निर्णय कर लिया था।

निश्चित् दिन आ गया। धूम मच गई सारे नगर में। चारों ओर से भक्तजन उतर रहे थे राजस्थान के आहोर नगर में! आहोर के लिए कहावत है कि "पंजाब में लाहोर–मरुधर में आहोर"। पर आज तो इस की शान और भी चमक गई थी। वैशाख मास की दशमी तिथि, प्रात काल १० बजनेपर उपाध्याय श्रीमद् यतीन्द्र-विजयजी को गच्छाधीश पद पर आरुढ किये गये और समाज का शासन हाथ में दिया और बैठे जनसमूहने "गच्छपति श्रीयतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज की जय" के नारों से आकाशमंडल गुञ्जित कर दिया। संघने अपने मार्गदर्शक श्रीयतीन्द्र मुनीन्द्र के दीर्घायु की कामना की। इसी अवसर पर क्रियापात्र मुनि श्रीगुलाबविजयजी को उपाध्याय पद से अलंकृत किये गये। बस, तब से लेकर आज तक आप समाज का संचालन सुचारु रूप से कर रहे हैं। आप का सारा ही जीवन उपकारमय ही बीता। वृद्धायु में भी आप जनकल्याणकारी अनेक कार्य कर रहे हैं, जिन का वर्णन हम जैसे अज्ञानी कैसे कर सकें! यद्यपि आप की वृद्धावस्था होगई है तथापि आपके विचार बहुत ही क्रान्तिकारी है। समाज–संगठन, जाति–सुधार एवं साहित्य–निर्माण आप का परम ध्येय रहा है। हम जैसे अज्ञानियों को रास्ते पर लगाया और पथ–प्रदर्शन किया।

गुरुदेव? आप के शरण को पाकर मैंने मेरी यथाशक्ति साधना की। आप की कृपादृष्टि जैसी है वैसी बनी रहे–इस शुभाभिलाषा में मेरी कलम को विश्राम देता हूँ!

आचार्य श्री यतीन्द्रसूरीश्वरजी के मालव-भ्रमण

के

स्मरणीय ये तीन वर्ष

लेखक :— श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वरान्तेवासी—मुनिजयप्रभविजय

"पधारिये, गुरुदेव ! पधारिये । मालवे के निवासी आपका स्वागत करने के लिये अत्यधिक उत्सुक हैं । आपका विरह पाच वर्ष या दस वर्ष नहीं, परन्तु पच्चीस वर्ष तक उन्होंने सहन किया है । मालववासी अब इस प्रकार आपका विरह सहन करने को समर्थ नहीं हैं । क्या कहें ! गुरुदेव ! एक-एक मानव आपके पावन उपदेश से अपने आपको पवित्र करने की अभिलाषा रख रहा है ।" मालव प्रान्त के आगन्तुक भक्त जन कह रहे थे मरुभूमि को पवित्र बना रहे गुरुदेव से ।

क्या किया जाय क्षेत्र-स्पर्शना जहां की होती है वहाँपर ही जाया जाता है । *आपकी इतनी तीव्र अभिलाषा है तो आपकी भावना भी पूर्ण होगी ।" बात की बात* में दिन चले जारहे थे । आहोर का चतुर्मास पूर्ण हुआ और मालव भूमि के भाग्य का उदय हुआ । गुरुदेव का मुनि-मण्डलसह विहार हुआ मालव प्रान्त की ओर ।

मार्ग में श्री केशरियाजी तीर्थ की यात्रा करते हुये क्रमशः दाहोद पधारे । यहां पर याम्दला, झाबुआ व राणापुर का श्री संघ आया । उन्होंने अपने अपने गांव में पधारने की प्रार्थना की । किंतु आचार्यश्रीने लाभालाभ को सामने रखते हुए राणापुर पधारने की स्वीकृति दी । यहां से श्री लक्ष्मणी तीर्थ के लिये संघ निकला और श्री लक्ष्मणी तीर्थ के दर्शन करने के पश्चात् अलिराजपुर, कुक्सी, बाग, टाण्डा, रिंगणोद इत्यादि क्षेत्रों में पधारे । यहां पर आपका अपूर्व स्वागत हुआ । पश्चात् आप मोहनखेड़ा तीर्थ पधारे ।

अहा ! यह क्या ! मालव भूमिका मनहर पावन तीर्थ-क्षेत्र मोहनखेड़ा गुन्जित हो रहा था । जंगल में मंगलसा हृदय पुलकित हो रहा था । मानव मात्र के दिल को लहरा रही थी आनंद की लहरें । कितने वर्षों में अपना भाग्य चमका-इस खुश हाली में गांव - नगर का जनसमूह आज आ गया था श्री मोहन खेड़ा की पुण्य भूमि पर । श्री सौधर्मगच्छाधीश प्रभु श्री राजेन्द्रसूरीश्वर जी का समाधि-मंदिर एवं शत्रुञ्जयावतार श्री आदिनाथ प्रभु का मन्दिर है जहां पर । जंगम स्थावरतीर्थ की यात्रा का लाभ कौन चूक सकता है भला !

पधारने के पश्चात् गुरुदेवश्रीने अपने मंगल प्रवचन को प्रारम्भ करते हुये समाज को संदेश दिया, "हमारा समाज धनवान् है, विचारवान् है, अत: अब

भविष्य के लिये भी कुछ कर लेने के लिये सतर्क होना चाहिये। समाज में अज्ञानता का बोल बाला है और सद्ज्ञान का ह्रास होता जा रहा है। हमें अब जाग्रत होकर समाज में सद्ज्ञान की सरिता बहाने के लिये एक ऐसी संस्था का निर्माण करना चाहिये जहां से हमारे बच्चे सच्चे रत्न बनकर निकलें एवं विश्व को जगमगा दें। अपने सिद्धान्तों को समझलें और अन्यों को समझाने के प्रयत्न में सफलता प्राप्त कर सकें।" १० बज गये थे। गुरुदेव ने विशेष न कहते हुये केवल समाज का संगठन हो और शिक्षा का प्रचार हो—यही मेरी आन्तरिक मनो—कामना है, कह कर अपने प्रवचन को पूर्ण किया। वह समय, वह दृश्य आज भी घूम रहा है नजर के सम्मुख।

मालववासी आज गद्गद् हो उठे चिर काल से प्रतीक्षा थी जिनकी उनके आने पर।

दूसरे दिन जगह-जगह के श्री संघों ने चातुर्मासार्थ गुरुदेव से प्रार्थना की। समय देखकर गुरुदेव ने राजगढ़ चातुर्मास करने की स्वीकृति प्रदान कर दी। चारों ओर हर्षध्वनि से जयनाद हो उठे।......

अषाढ वदि ३ का प्रातः काल था। गुरुदेव ने चातुर्मासार्थ राजगढ़ में प्रवेश किया। क्या उस समय की स्वागत की तैयारी! राजगढ़निवासियों ने अपूर्व उल्लास एवं हर्ष से गुरुदेव का प्रवेशोत्सव मनाया।

चातुर्मास के अन्तर्गत मोहन खेडा की पुण्य भूमि पर "गुरुकुल" स्थापना के लिये राजगढ़ संघ की तरफ से सहायता प्रदान की गई और बाद में समीपस्थ गांवों में भी इसके प्रचार के लिए श्री बालचन्दजी मास्टर आदि को भेजे गये। उन्होंने इसके लिये अच्छा सहयोग प्राप्त कर लिया और फलतः मालव प्रान्तीय प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। जिस में करीब ३५ गांवों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सर्वानुमत से एक गुरुकुल व्यवस्थापक-समिति का निर्माण किया गया। उसके अध्यक्ष, उपाध्यक्ष एवं मंत्री, कोषाध्यक्ष चुने गये और गुरुकुल की स्थापना का निश्चिय किया गया।

चातुर्मास के पश्चात् गुरु—सप्तमी का पुण्य पर्व श्री मोहन खेडा तीर्थ में बड़े ही ठाठ से मनाया गया। चैत्र सुदि १० को श्री मोहन खेड़ा तीर्थ में ही मन्दिर पर ध्वजदंड की पू. गुरुदेव के हाथ से प्रतिष्ठा की गई।

राजगढ़ से विहार करके गुरुदेव श्री मुनि—मण्डल सह भेडगाँव, दशाई, फड़ोद, कानुन, अमला होते हुये बड़नगर पधारे। अर्ध शताब्दी की योजना कार्यान्वित करने के लिए "अखिल भारतीय राजेन्द्र समाज के प्रथम अधिवेशन को" यहां पर करने के लिये अत्रत्य श्री संघ ने बहुत साग्रह प्रार्थना की। गुरुदेव ने श्री संघ की प्रार्थना स्वीकार कर ली और बस त्वरा से सम्मेलन की तैयारियां होने लगीं।

तार, टेलिफोन और डाक के द्वारा आमंत्रण-पत्रिकाएं जगह-जगह भेज दी गई। इस सम्मेलन में यह निश्चित करना था कि आगामी पौष सुदि ७ को परम पूज्य गुरुदेव प्रभु श्रीमद् विजय राजेंद्र सूरिश्वरजी महाराज का अर्ध-शताब्दी-महोत्सव *कहाँ मनाया जाय?* इस प्रश्न को लेकर यह सम्मेलन तारीख २६-२७ मई १९९६ को पूज्य गुरुदेव के तत्वावधान में हुआ। इस अवसर पर मालवा, मारवाड, गुजरात आदि प्रदेशों से करीबन ५०० प्रतिनिधि उपस्थित हुए। २६ मई को गुरुदेव श्री के मंगल प्रवचन के साथ सम्मेलन की कार्यवाही शुरू हुई। २७ मई को सुबह प्रतिनिधियों के एक मत से यही निश्चित हुआ कि अर्ध-शताब्दी-महोत्सव परम पवित्र तीर्थ श्री मोहन खेड़ा में ही मनाया जाय। यह घोषणा होते ही सारा पंडाल जय-ध्वनि से गूँज उठा। दोपहर को बहार से आये हुए प्रतिनिधियों ने अपने-अपने नगर नगर में चातुर्मासार्थ पधारने के लिये गुरुदेव से प्रार्थना की। समय एवं लाभालाभ को देखकर गुरुदेव ने खाचरौद चातुर्मास करने की स्वीकृति प्रदान की। पश्चात् अधिवेशन की समाप्ति पर एक अपूर्व जुलूस निकाला गया। इस भव्य जुलूस के मध्य में स्व. गुरुदेव श्री का चित्र एक पालखी में रखा गया। जुलूस सारे नगर में होता हुआ पौषध शाल पर जा समाप्त हुआ। इस प्रकार दो दिवसीय सम्मेलन हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हुआ।

बडनगर से गुरुदेव मुनि-मण्डल सह विहार कर मार्ग में मोटा बालोदा खरसोद, पचलाना आदि गांवों में विचरते हुए रतलाम पधारे यहां समस्त जनता ने आपका हार्दिक स्वागत किया। यहां पर पधारने पर गुरुदेव ने समाज को यह संन्देश दिया कि आधुनिक विज्ञान युग में भी हम हमारे अहिंसा सिद्धान्त के द्वारा विश्व में शान्ति फैला सकते हैं, परन्तु यह हमारे जीवन में पूर्ण रूपेण उतारने पर ही समाज-सुधार और संगठन पर भी आपने जोर दिया। गुरुदेव श्री के आगमन पर यहाँ के श्री संघ ने अट्ठाई-महोत्सव का आयोजन किया। आठों ही दिन विविध प्रकारी पूजाएं पढ़ाई गई। अट्ठाई-महोत्सव की समाप्ति पर एक जुलूस निकाला गया। इस जुलूस में भाग लेने के लिये बहार से खाचरौद, जावरा, बडनगर, इन्दौर, उज्जैन, मन्दसौर, निम्बाहेडा, निमच, पचलाना, शियगढ आदि नगरों से कई श्रावक श्राविकाएं आई थीं। इस प्रकार यह महोत्सव शान्ति से सम्पन्न हुआ। बाद में गुरुदेव ने मुनि-मण्डल सह जावरा की ओर विहार किया। रास्ते में धूंणवास, नामली, सुखारी आदि गांवों में ठहरते हुए गुरुदेव श्री जावरा पधारे।

यहाँ की समस्त जनता आपका स्वागत करने को स्टेशन की फाटक पर तैयार थी। यहां से पिपली बजार तक सारा मार्ग तोरण व दरवाजों से सजाया गया था। जनता ने आप श्री का हृदयोल्लास पूर्वक स्वागत किया। करीबन ९ बजे आप पौषध-शाला में पधारे। यहाँ आप श्री ने अपार मानव मेदिनी के मध्य मुख्य पाट के ऊपर विराज कर मांगलिक प्रवचन दिया। आपके प्रवचन में मुख्य तीन बातें रहीं। समाज का संगठन हो, समाज का प्रत्येक बालक, बालिका धार्मिक शिक्षा से शिक्षित हों और

समाज के मुख पत्र मासिक 'शाश्वत-धर्म' का अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार हो। गुरुदेव श्री ने अपने मांगलिक प्रवचन को चालू रख कर जावरा श्री संघ को सम्बोधित करते हुए कहा, "मैं आज बहुत लम्बे समय के बाद यहा आया और जावरा श्री संघ ने स्वागत करके शासन प्रभावना के साथ अपनी भक्ति का परिचय दिया; परन्तु यह सर्व तब ही स्तुत्य कहा जा सकता है जब आप सर्व उपरोक्त तीन बातों का यथाशक्य पालन कर दिखलायेंगे।" आप श्री के प्रवचन का जावरा श्री संघ पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा। दो दिन बाद संघ ने खाचरौद, रतलाम, बडनगर, इन्दौर, उज्जैन, नागदा, महींदपुर, निंबाहेड़ा, नीमच, मन्दसौर आदि आस-पास के समाज के प्रतिनिधियों को बुलाकर सर्व सम्मति से पिपलोदा के जातिभाई ५०० ओसवाल घर के साथ जो २०१ वर्ष से बहिष्कृत थे खान-पान आदि व्यवहार चालू करने की गुरुदेव के समक्ष घोषणा कर दी। घोषणा होते ही चारों ओर हर्ष ही हर्ष छा गया। दैनिक पत्रोंने भी इन समाचारों की अच्छी प्रशंसा की और साथ ही अपने-अपने हार्दिक शुभ भाव व्यक्त किये।

अषाढ़ सुदि २ को सुबह आपने खाचरौद की ओर चातुर्मासार्थ मुनि-मण्डल सह विहार किया। रास्ते में बड़ावदा, घीनोदा आदि गांवों में होते हुए आप अषाढ सुदि ६ को खाचरौद पधारे। वैसे तो नगर-प्रवेश ६ को ही करना था; किंतु वर्षा के कारण ६ रोज शेठ टेकाजी इन्द्रमलजी की ओइल मिल में मुकाम किया। सप्तमी को सुबह ५ हजार मानवमेदिनी के साथ आपश्री नगर में पधारे। सारे नगर में घूमते हुए साडा नव बजे आपश्री लिमडावासस्थित श्री राजेन्द्र भवन में पधारे। वहां जाते ही आपश्री का मांगलिक प्रवचन हुआ। आपश्री ने प्रवचन में यहीं कहा, "दूसरों की भलाई ही मनुष्य का आभूषण है। मानव मात्र को हमेशा यहीं भावना रखना चाहिये कि मेरे द्वारा हर बार दूसरों की भलाई हो। समाज को अनेक मार्गदर्शनयुक्त आपका प्रवचन हुआ। आपश्री के आगमन से सर्वत्र हर्ष छा गया था। समाचारपत्रों ने भी अपनी शुभकामनाएं प्रकट कीं।

खाचरौद में आपश्री ने अपने ओजस्वी उपदेश से पिपलौदा समाज के साथ खान-पान आदि का प्रस्ताव पास करवा कर श्री संघ में घोषणा करवाई।

कार्तिक वदि २-३ दिनाङ्क २०-२१ अक्टुम्बर को अखिल भारत वर्षीय राजेंद्र समाज का द्वितीय अधिवेशन शेठ टेकाजी इन्द्रमलजी की अध्यक्षता में किया गया। इस सम्मेलन में यही निश्चित करना था कि आगामी पौष शुक्ला ७ को कई अड-चनों से "श्री अर्धशताब्दी महोत्सव" नहीं मनाया जा सकता था। अतः कब मनाया जाय? महोत्सव की व्यवस्था के लिये अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, स्वागताध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, मंत्री आदि का चुनाव भी करना था। इस सम्मेलन में मालवा, मारवाड़, गुजरात आदि प्रदेशों से ३०० प्रतिनिधि उपस्थित हुए। विचार-विनिमय के साथ

"अर्ध शताब्दी-महोत्सव आगामी चैत्र सुदि १३-१४-१५ और वैशाख वदि १ को मनाने का निश्चित किया गया। उत्सव के सभी कार्य सम्पन्न करने के लिये एक सर्वाधिकार समिति १०१ आदमियों की बनाई गई। इसके अन्तर्गत सभी समितियों का निर्माण किया गया। समिति के संचालन के हेतु सर्व सम्मति से अध्यक्ष-धराद निवासी शेठ गगरू भाई हालचंद संघवी, उपाध्यक्ष-रतलाम निवासी डाक्टर प्रेमसिंहजी राठोड, स्वागताध्यक्ष-इन्दौर निवासी पण्डित जुहार मलजी जैन शास्त्री न्याय-काव्य तीर्थ, कोषाध्यक्ष-रतलाम निवासी शेठ श्री कन्हैयालालजी काश्यप एवं राजगढ निवासी केसरीमलजी आम्बोर, मंत्री राजगढ निवासी मांगीलाल जी छाजेड़ को बनाया गया। दिनाङ्क २१ की सन्ध्या को अध्यक्ष महोदयने सम्मेलन की समाप्ति की घोषणा की। इस प्रकार सम्मेलन की व्यवस्था प्रशंसनीय ढंग पर रची गई। इस प्रकार चातुर्मास में अनेक धर्म-कार्य होते रहे व महदानन्द के साथ चातुर्मास पूर्ण हुआ।

चातुर्मास के बाद "गुरु सप्तमी" उत्सव पूर्ण उत्साह के साथ मनाई गई। सुबह में प्रभात फेरी निकाली गई। मन्दिरों के दर्शन करते हुए सारे नगर में फिर कर जनसमूह गुरुमन्दिर में गुरुदेव के दर्शन कर पुन राजेन्द्र भवन में आया। जुलूस यहा पर सभा के रूप म परिणित हुआ। सभा को गुरुदेव श्री यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने सम्बोधित करते हुए कहा ' जिस उत्साह व प्रेम से श्री संघ ने यह जयन्ती मनाई है वही उत्साह प्रेम सदैव ही बना रहना चाहिये। अपन सब मिलकर हर वर्ष महान् आत्माओं की जयन्तियां मनाते हैं, किन्तु उनके नाम के अनुरूप कोई न कोई स्थाई चीज बनाना चाहिये जिससे वह अपने को हमेशा उनकी याद दिलाती रहे"। आप श्री की वृद्धावस्था होते हुए भी आपने संक्षिप्त व सारगर्भित भाषण दिया। अन्त में मुनिराज विद्याविजय जी ने श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए "अर्धशताब्दी" की सारी रूपरेखा पर प्रकाश डाला। जयध्वनि के साथ सभा विसर्जित हुई।

पौष सुदि १० को सुबह नव बजे खाचरौद से आप श्री ने मुनि-मण्डलसह पिपलौदा की ओर विहार किया। रास्ते में भैसोला, पारडिया, सेमलिया, उपरवाड़ा आदि गावों में स्थिरता करते हुये आप पिपलौदा पधारे। यह वही पिपलौदा है जहा के निवासियों को आपने अपने ओजस्वी उपदेश से समाज में मिलाये और खान-पान आदि चालू करवाया। आपश्री का यहा की जनता ने बहुत ही अच्छा स्वागत किया। यहा आपश्री की तत्त्वावधानता में बृहद्शान्ति स्नात्रपूजा पढाने का माघ वदि ५ को आयोजन किया गया था। माघ वदि ५ के रोज बहुत ही हर्षोल्लास के साथ पूजा पढाई गई। आठों ही रोज विविध पूजाओं का आयोजन किया गया था। बाहर से भी ४ हजार की भावुक मानवमेदिनी उपस्थित हुई थी। यहां से आप श्री ने रतलाम की ओर विहार किया। मार्ग में हथनारा, नामली, सेजावता आदि गावों में धर्मोपदेश देते हुए आप

रतलाम पधारे। जनता ने आपश्री का अच्छा स्वागत किया। यहां आप १५ रोज तक विराजे। बाद में विहार कर सागोदिया तीर्थ के दर्शन करते हुए बांवड़ोद तीर्थ पधारे। वहां से शिवगढ़, बामुन्द्रा, रायवटी, किशनगढ, बामनिया, खवासा, थान्दला, अम्राल, मेघनगर, झाबुआ, राणापुर, पारा आदि गांवों में धर्मोपदेश देते हुए आप श्री स्वशिष्य—मण्डल सह फागण सुदि १२ को श्री मोहन खेड़ा तीर्थ भूमिपर पधारे। रास्ते के गांवों की जनता ने आप श्री का स्वागत किया। हर एक गांव में आपके पधारने से अपूर्व उल्लास की वृद्धि हुई! श्री मोहन खेडा तीर्थ पर अर्धशताब्दी महोत्सव की जोरोंसे तैयारियां होने लगीं।

यह श्री शत्रुञ्जयावतार श्री आदिनाथ भगवान् का तीर्थ स्थान है और सोने में सुगंध वाली कहावत के अनुसार यह तीर्थ तो है ही, किन्तु प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का समाधि—मन्दिर भी यहीं पर है। मूल मन्दिर श्री आदिनाथ भगवान् के संमुख में दोनों ओर श्री पार्श्वनाथ भगवान् के मंदिर हैं। इनके सामने गुरुदेव का समाधि—मंदिर है। पीछे की ओर श्री आदिनाथ भगवान् की चरणपादुका है। यह तीर्थ राजगढ़ से पश्चिम दिशा में एक मील की दूरी पर है।

इधर अर्धशताब्दीमहोत्सव के दिन भी निकट आगये थे। सारे भारत एवं भारतेतर देशों में भी उत्सव का प्रचार बहुत अधिक हो चुका था और आगे भी प्रचार चालू ही था। निकट भविष्य में काम जोरोंसे चलाया गया। सर्वप्रथम यात्रियों के ठहरने के लिये विशाल "श्री राजेन्द्र नगर" का निर्माण किया गया। साथ ही 'यतीन्द्र सदन' 'भूपेन्द्र सदन' 'धनचन्द्र सदन' 'श्री सिद्धचक्र सदन' आदि उपनगर भी बनाये गये। भक्तसमूह ज्यादा से ज्यादा साथ में बैठकर गुरुदेव को श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर सके-इस दृष्टि से 'श्री राजेन्द्र नगर' के समीप ही एक विशाल पण्डाल की रचना की गई थी। ऊपर के भाग में "श्री राजेन्द्र-चित्रकला प्रदर्शनी" का निर्माण किया गया था। कलाकारों ने उसको सुन्दर ढंग से सजाया था। इस प्रकार तैयारियां होते-होते महोत्सव का समय भी निकट आगया।

चैत्र सुदि १३ (१२ अप्रेल) १९५७ से उत्सव का प्रारंभ हुआ और वैशाख वदि १ (१५ अप्रेल) तक यह उत्सव चला। इतनी अल्प अवधि में भी मरुधर, मालव, गूर्जर प्रान्तों से हजारों की संख्या में भक्तजन उत्सव में भाग लेने के लिये उपस्थित हुए। आप के तत्त्वावधान में चैत्र सुदि १५ को प्रातः स्वर्गस्थ गुरुदेव को मानवमेदिनी ने श्रद्धाञ्जलि अर्पित की एवं 'स्मारक ग्रन्थ' समर्पित किया। वर्त्तमानाचार्य श्री ने अपने प्रवचन में समाज को यही सन्देश दिया कि जमाने को देखते हुए हमें अब अपने आपको सम्हल जाना आवश्यक है। आज हम सभी गुरुदेव को श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने के लिये एकत्रित हुए हैं; परन्तु इसकी सच्ची याद हमेशा

मगसर वदि १ को सुबह ७ बजे आपश्री ने मुनि-मण्डल सह विहार किया। गाँव के बहार गुरुदेव श्री ने मांगलिक प्रवचन सुनाते हुये यही कहां कि राणापुर श्री संघ ने जो यहां कार्य किये हैं वे सभी प्रशंसनीय हैं, किन्तु हां, आपने जो कार्य यहा चालू किये हैं उनमें कोई भी प्रकार की रुकावट मत करना। गुरुदेव की कृपा से सब आनन्द ही होगा। इतना आशीर्वाद देकर आचार्य श्री ने आगे विहार किया।

रास्ते में मदरुई, पारा, पडामली, छडावद होकर आप मगसर सुदि ६ को श्री मोहन खेडा तीर्थ क्षेत्र में पधारे। यहां पर मगसर सुदि १० को श्री पार्श्वनाथ भगवान् के नूतन मंदिर की प्रतिष्ठा की। यहां से इग्यारस को राजगढ़ गांव में पधारे। यहां से विहार तो बहुत ही जल्दी करना था, किन्तु श्री संघ के आग्रह से आप पौष सुदि ७ तक यहीं विराजे।

गुरु-सप्तमी बड़े ही समारोह के साथ में यहीं पर मनाई गई और पश्चात् कार्य वशात कुछ रोज ठहर कर नागदा श्री संघ की विनती को स्वीकार कर माघ सुदि १० को विहार कर मार्ग में बोला, ओलाणा, लाबरीया, बरमन्ड एवं खतगढ, बदनावर, कांछी बडोद, रतागढ खेडा, गजनी खेडा, पचलाना, कमेड, मडावदा आदि गांवों में धर्मोपदेश प्रदान करते हुये खाचरौद हो कर नागदा पधारे। यहां पर फाल्गुन सुदि ४ के दिन प्रतिष्ठा का आयोजन आप ही की सानिध्यता में सम्पन्न किया गया। यहा पर प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न करवा कर आपश्री खाचरौद पधारे। खाचरौद श्री संघ के आग्रह से आप कुछ रोज यहीं विराजे। यहा के श्री संघ को यह तो ज्ञान था ही की वर्तमानाचार्य देव श्री का "हीरक जयन्ती" मनाने का समाज में कई रोज से विचार चल रहा है। क्योंन यह शुभ कार्य खाचरौद में सम्पन्न किया जाय? यह विचार होते ही श्री संघ ने विचार कर यह कार्य चैत्र सुदि तेरस (१३) २ अप्रेल से ५ अप्रेल १९५८ वैशाख वदि १ तक चार दिन का उत्सव मनाना निश्चित कर दिया।

हर्ष की बात तो यह है कि जहां पर आप श्री ने अल्प वय में १९५४ में स्वर्गस्थ विद्वद्‌शिरोमणि श्रीमद्विजय प्रभु राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के शुभ हस्त से भागवती दिक्षा अंगीकार की थी वहां पर ही आपके धन्य जीवन का ६० वर्ष के दीर्घ तपस्वी जीवन का "हीरक जयन्ती" उत्सव कर एक "अभिनन्दन ग्रन्थ" भेट करने का आयोजन किया जारहा है।

इस शुभ महोत्सव की आमंत्रण पत्रिका के साथ में खबर भेज दीगई। इस शुभावसर पर विद्वद्‌सम्मेलन, कवि-सम्मेलन, संगीत सम्मेलन आदि का आयोजन किया गया।

५ अप्रेल को आपश्री को "अभिनन्दन ग्रन्थ" भेट दिया गया। इस के उत्तर में आप श्री ने समाज को संबोधित करते हुये कहा कि—

वर्त्तमान विश्व बहुत ही संकटों से गुजर रहा है। प्रत्येक समाज अपने उत्कर्ष के लिये प्रयत्नशील है। तब मेरा समाज से यही कहना है कि वह भी अपनी उन्नति के लिये जो मार्ग हैं उनका शीघ्र अनुसरण करें और उसके लिये सब से पहिले आवश्यकता शिक्षा की है। अतः इसकी प्रथम व्यवस्था करना चाहिये। साथ ही विद्वानों का सम्मान भी आवश्यक है। अपने प्रवचन के दरम्यान गुरुदेव ने समाज को अन्य भी कई संकेत किये जो गुरुदेव के उपदेश से प्रकाशित होरहे "शाश्वत धर्म" मासिक में छप चुके हैं। अन्त में गुरुदेव ने समाज को इस आयोजन के लिये धन्यवाद दिया। श्री दौलतसिंह लोढा 'अरविंद' गुरुदेव के परम भक्त हैं। उन्होंने भी इस ही अवसर पर गुरुदेवश्री को हस्तलिखित एक लघु 'वैराग्य-गीतिका' पुस्तक समर्पित की।

आपकी प्रेरणा से प्रेरित होकर अ. भा. राजेन्द्र सभा के उपाध्यक्ष डॉक्टर प्रेमसिंहजी राठोड ने एक योजना समाज के सन्मुख रखी कि गुरुदेव के दिक्षापर्याय के उपलक्ष में समाज का हरएक व्यक्ति ६१) रुपये राजेन्द्र साभा को दान दें। उस रकम को भी 'यतीन्द्रसूरि हीरक-जयन्ती शिक्षा-फंड' के नाम से घोषित किया गया। इस बात को साकार रूप देने के लिए उपस्थित जनसमुदाय में करिबन ३५ समाज प्रेमियों ने उपर्युक्त रकम देने की अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट की और आगे भी सहायता देने का वचन दिया। पश्चात् गुरुदेव श्री को पुष्पाञ्जलिरूप मुनिवरों और बहार से आये हुये एवं अत्रस्थ विद्वानों के प्रवचनरूप पुष्पांजलियां समर्पित की गईं।

अन्त में इस शुभावसर पर पूज्य परम कृपालु गुरुदेव के चरणारविन्द में शत-शत वन्दना करता हुआ भक्ति के यह दो शब्द-पुष्प सादर समर्पित कर अपने आप को धन्य मानता हूँ।

बनी रहे ऐसा कार्य करना चाहिये और हमें इस जगह से प्रतिज्ञाबद्ध होकर जाना चाहिये कि हम गुरुदेव के सिद्धान्तों पर अटल होकर चलेंगे।" समाज में जो-जो शिथिल प्रवृत्तियां, अज्ञानता दिन-प्रतिदिन कदम बढाये जारही हैं उनको दूर करने के लिये कटिबद्ध होना ही हमारे इस उत्सव का स्मरणीय कार्य है। साथ ही समाज को धन्यवाद देते हुए आपने कहा कि अति प्रसन्नता का विषय है कि आज समाज ने इतना बड़ा समारोह कर अपने उपकारक गुरुदेव के प्रति हार्दिक भक्ति प्रदर्शित की है।

एक बात का और भी आपने उल्लेख किया कि स्व. गुरुदेव ने समाज, देश और विश्व को जो अमूल्य भेंट "श्री अभिधान राजेन्द्र कोष" दिया है ऐसा ही एक कोष और गुरुदेव का हस्तलिखित पड़ा है। उसका नाम है 'शब्दाम्बुधि महाकोष'। समाज को गुरुदेव के ऐसे हस्तलिखित साहित्य को प्रकाश में लाने के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

प्रतिदिन मुनिवरों के एवं विद्वानों (जिनमें पण्डित लालचन्द्र भगवानदास गांधी आदि थे) के प्रवचन हुए। यह उत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ।

उत्सव सम्पन्न होने पर गुरुदेव श्री राजगढ पधारे। यहां पर राणापुर श्री संघ की अत्याग्रह पूर्ण विनती को स्वीकार कर चातुर्मास की गुरुदेव ने स्वीकृति दे दी। राजगढ से ज्येष्ठ वदि ५ को आपने धार की ओर विहार किया, क्यों कि यहां पर भगवान् महावीर के आद्य गणधर अनन्त लब्धिनिधान श्री गौतम स्वामिजी की, विद्वद् शिरोमणि प्रभु श्रीमद् विजयराजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज की एवं आचार्य श्रीमद् विजयधनचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज की-इन तीन प्रतिमा की अञ्जनशलाका व प्रतिष्ठा का मुहूर्त ज्येष्ठ सुदि ३ का था। आप श्री के शुभ हस्त से ही यह कार्य सानन्द सम्पन्न हुआ। बाद में असाढ महिने में झाबुआ श्री संघ की विनती को मान देकर आप झाबुआ पधारे। यहीं कुछ रोज स्थिरता रही। यहीं से चातुर्मासार्थ राणापुर की ओर विहार किया। रास्ते में एक मुकाम कर के आप मुनि-मण्डल सह राणापुर पधारे।

यहां के श्री संघ ने बहुत ही शान से आप का स्वागत किया। राणापुर में ऐसे तो ९० घर हैं। उनमें ६० घर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के हैं और ३० घर दिगम्बर सम्प्रदाय के हैं। किन्तु ६० घर होने हुये भी यहां के श्री संघ ने गुरुदेव के चातुर्मास एवं बाहर से दर्शनार्थ आनेवाले स्वधर्मी बन्धुओं की सेवा का बहुत लाभ उठाया।

२३ सितम्बर को परम पूज्य गुरुदेव ने समाज संगठन के उपर प्रवचन करते हुए बतलाया की वर्तमान में जो अलग रहेगा वह अलग पड़ जायगा, पीछे रह जायगा और जो मिल कर चलेगा वह अपने हर एक कार्य में सफलता पा सकेगा। *आप जानते हैं कि फ़िरकापरस्ती समाज के लिये कितनी घातक है। आज अपना पतन* होने का भी यही कारण है। गुरुदेव के ओजस्वी व्याख्यान से राणापुर श्री संघ ने

प्रभावित होकर यह प्रस्ताव पास किया कि मालवी समाज के साथ में आज से जिस प्रकार ओसवालों में सेवक फिरता है उसी भांति हर एक सामाजिक कार्य के लिये दोनों समाज में सेवक बराबर फिरेगा और साथ में सभी प्रकार के सामाजिक व्यवहार भी चालू किये जायंगे। इसमें कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार का विरोध नहीं करेगा। प्रस्ताव पास होते ही सभी व्यक्तियों के हस्ताक्षर करवाकर जयध्वनि के साथ व्याख्यान समाप्त किया गया।

जैन शास्त्रों में उपधान-तप का भी बहुत महत्त्व बतलाया गया है। जो भव्य विधिसह उपधानतप (योग) वहन करके क्रिया में प्रवृत्त होता है वह अवश्य सुख का भागी बनता है। शुभ या अशुभ करना, कराना और उसकी प्रशंसा करना तीनों का समान फल जैनागमों में कहा गया है। इस बात को लक्ष्य में रखकर यहां पर आपश्री के सानिध्य में उपधानतप का आयोजन किया गया। अत्रत्य श्री संघने आसोज सुदि १३ से उपधान-तप शुरू करवाया। जिसमें मारवाड़, मालवा से १२१ श्रावक, श्राविकाएं संमलित हुये थे। एक मास १५ दिन तक यह तप निर्विघ्नता से चलता रहा।

दीपावलि के बाद कार्तिक सुदि २ को वर्तमानाचार्य श्री का ७५ वां जयन्ती-उत्सव मनाया गया जिसके उपलक्ष में विशाल समारोह निकला गया। बाद में सभा का आयोजन किया गया। उसमें अनेक वक्ता एवं मुनिवरों ने गुरुदेव के जीवन पर संक्षिप्त प्रकाश डाला। बाद में गुरुदेव श्री ने समाज को धन्यवाद देते हुए कहा कि यहां कि जनता ने जो ज्ञान-जयन्ती मनाई है, उसका सही रूप में फल तभी मिल सकता है जब कि यहां पर एक धार्मिक पाठशाला की स्थापना की जाय। आगे अपने प्रवचन में गुरुदेव ने कहा, "आज भौतिक वैभव के पीछे मनुष्य सर्वस्व स्वाहा कर रहा है, मानवता को खतरे में डाल रहा है। आज समाज में अज्ञानता है और वह इतनी अधिक है कि किसी को पता नहीं कि जैन किसको कहना ? अब अपने को यदि अपना स्थायित्व मजबूत बनाना है तो घर-घर में धार्मिक शिक्षा का प्रचार करना चाहिये।

आप की प्रभावशालिनी व्याख्यान शैली से राणापुर श्री संघ ने धार्मिक पाठशाला की स्थापना करने की घोषणा के साथ निधि की सर्व व्यवस्था गुरुदेव के सामने ही कर दी। वर्तमान में वह श्रीयतीन्द्र जैन पाठशाला के नाम से चल रही है।

तप की पूर्णाहुति के अवसर पर यहां के श्री संघ ने अट्ठाई-महोत्सव किया। शुभ भाव से जो तपस्या कर लेते हैं, उनको माला-परिधान कराई जाती है। माला-परिधान का मुहूर्त मगसर वदि ६ का रखा गया था। इसी अवसर पर नूतन गुरु-मन्दिर में गुरुदेव के शुभ हस्तों से भगवान् श्री गौतमस्वामि, प्रभु श्रीमद् राजेन्द्र सूरीश्वरजी, श्रीमद् धनचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज की मूर्तियों की स्थापना भी शुभलग्नन-वांश में की गई। अट्ठाई महोत्सव में बहार से अच्छी संख्या में जनता आई थी। इस प्रकार बहुत ही आनन्द एवं उल्लास से तप व चातुर्मास पूर्ण हुआ।

मगसर वदि १ को सुबह ७ बजे आपश्री ने मुनि-मण्डल सह विहार किया। गाँव के बहार गुरुदेव श्री ने मांगलिक प्रवचन सुनाते हुये यही कहा कि राणापुर श्री संघ ने जो यहा कार्य किये हैं वे सभी प्रशंसनीय हैं, किन्तु हां, आपने जो कार्य यहा चालू किये हैं उनमें कोई भी प्रकार की रुकावट मत करना। गुरुदेव की कृपा से सब आनन्द ही होगा। इतना आशीर्वाद देकर आचार्य श्री ने आगे विहार किया।

रास्ते में रायपुरीई, पारा, पडासली छडावद होकर आप मगसर सुदि ६ को श्री मोहन खेडा तीर्थ क्षेत्र में पधारे। यहा पर मगसर सुदि १० को श्री पार्श्वनाथ भगवान् के नूतन मंदिर की प्रतिष्ठा की। यहां से इग्यारस को राजगढ गाव में पधारे। यहा से विहार तो बहुत ही जल्दी करना था, किन्तु श्री संघ के आग्रह से आप पौष सुदि ७ तक यहीं विराजे।

गुरु-सप्तमी बड़े ही समारोह के साथ में यहीं पर मनाई गई और पश्चात् कार्य वशात कुछ रोज ठहर कर नागदा श्री संघ की विनती को स्वीकार कर माघ सुदि १० को विहार कर मार्ग में बोला, ओलाणा, रूपारीया, बरमण्डल एवं खतगढ, बदनावर, कांछी बड़ोद, रतागढ खेडा, नजनी खेडा, पचलाना, कमेड, मडावदा आदि गावों में धर्मोपदेश प्रदान करते हुये खाचरौद हो कर नागदा पधारे। यहा पर फाल्गुन सुदि ४ के दिन प्रतिष्ठा का आयोजन आप ही की सानिध्यता में सम्पन्न किया गया। यहां पर प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न करवा कर आपश्री खाचरौद पधारे। खाचरौद श्री संघ के आग्रह से आप कुछ रोज यहीं विराजे। यहा के श्री संघ को यह तो ज्ञान था ही की वर्तमानाचार्य देव श्री का "हीरक जयन्ती" मनाने का समाज में कई रोज से विचार चल रहा है। क्योंकि यह शुभ कार्य खाचरौद में सम्पन्न किया जाय? यह विचार होते ही श्री संघ ने विचार कर यह कार्य चैत्र सुदि तेरस (१३) २ अप्रेल से ५ अप्रेल १९५८ वैशाख वदि १ तक चार दिन का उत्सव मनाना निश्चित कर दिया।

हर्ष की बात तो यह है कि जहा पर आप श्री ने अल्प वय में १९५४ में स्वर्गस्थ विद्वद्दिरोमणि श्रीमद्विजय प्रभु राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के शुभ हस्त से भागवती दिक्षा अंगीकार की थी वहा पर ही आपके धन्य जीवन का ६० वर्ष के दीर्घ तपस्वी जीवन का "हीरक जयन्ती" उत्सव कर एक "अभिनन्दन ग्रन्थ" भेट करने का आयोजन किया जारहा है।

इस शुभ महोत्सव की आमंत्रण पत्रिका के साथ में खबर भेज दीगई। इस शुभावसर पर विद्वद्सम्मेलन, कवि-सम्मेलन, संगीत सम्मेलन आदि का आयोजन किया गया।

५ अप्रेल को आपश्री को "अभिनन्दन ग्रन्थ" भेट दिया गया। इस के उत्तर में आप श्री ने समाज को संबोधित करते हुये कहा कि—

वर्त्तमान विश्व वहुत ही संकटों से गुजर रहा है। प्रत्येक समाज अपने उत्कर्ष के लिये प्रयत्नशील है। तव मेरा समाज से यही कहना है कि वह भी अपनी उन्नति के लिये जो मार्ग हैं उनका शीघ्र अनुसरण करें और उसके लिये सव से पहिले आवश्यकता शिक्षा की है। अतः इसकी प्रथम व्यवस्था करना चाहिये। साथ ही विद्वानों का सम्मान भी आवश्यक है। अपने प्रवचन के दरम्यान गुरुदेव ने समाज को अन्य भी कई संकेत किये जो गुरुदेव के उपदेश से प्रकाशित होरहे "शाश्वत धर्म" मासिक में छप चुके हैं। अन्त में गुरुदेव ने समाज को इस आयोजन के लिये धन्यवाद दिया। श्री दौलतसिंह लोढा 'अरविंद' गुरुदेव के परम भक्त हैं। उन्होंने भी इस ही अवसर पर गुरुदेवश्री को हस्तलिखित एक लघु 'वैराग्य-गीतिका' पुस्तक समर्पित की।

आपकी प्रेरणा से प्रेरित होकर अ. भा. राजेन्द्र सभा के उपाध्यक्ष डॉक्टर प्रेमसिंहजी राठोड ने एक योजना समाज के सन्मुख रखी कि गुरुदेव के दिक्षापर्याय के उपलक्ष में समाज का हरएक व्यक्ति ६१) रुपये राजेन्द्र साभा को दान दें। उस रकम को भी 'यतीन्द्रसूरि हीरक-जयन्ती शिक्षा-फंड' के नाम से घोपित किया गया। इस वात को साकार रूप देने के लिए उपस्थित जनसमुदाय में करिवन ३५ समाज प्रेमियों ने उपर्युक्त रकम देने की अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट की और आगे भी सहायता देने का वचन दिया। पश्चात् गुरुदेव श्री को पुष्पाञ्जलिरूप मुनिवरों और वहार से आये हुये एवं अत्रस्थ विद्वानों के प्रवचनरूप पुष्पांजलियां समर्पित की गईं।

अन्त में इस शुभावसर पर पूज्य परम कृपालु गुरुदेव के चरणारविन्द में शत-शत वन्दना करता हुआ भक्ति के यह दो शब्द-पुष्प सादर समर्पित कर अपने आप को धन्य मानता हूँ।

आचार्य श्री यतीन्द्रसूरिजी का इतिहास-प्रेम

श्री अगरचन्दजी नाहटा,

बीसवीं शताब्दी के जैनाचार्यों में श्री राजेन्द्र सूरिजी का प्रधान स्थान है। उन्होंने 'अभिधान राजेन्द्र कोष' जैसे महान् ग्रन्थ का निर्माण कर जैन साहित्य की बहुत बड़ी सेवा की है। और भी उनकी ज्ञानभक्ति बहुविध रही है। करीब ६१ ग्रन्थ उन्होंने स्वयं रचे और अनेकों स्थानों में हस्तलिखित प्रतियों और मुद्रित ग्रन्थों के ज्ञान-भण्डार स्थापित किये। सब से बड़ी बात तो यह है कि उन्होंने अपने शिष्य, प्रशिष्यों को भी योग्य विद्वान् बनाये जिससे उनका किया हुआ कार्य ही प्रकाश में नहीं आया; पर और भी बहुत सा साहित्य निर्माण होता रहा। यदि वे अपने शिष्यों को इतने योग्य नहीं बनाते तो उनका महान् ग्रन्थ 'अभिधान राजेन्द्र कोष' भी अप्रकाशित पड़ा रहता। उससे जो आज देश, विदेश में लाभ उठाया जा रहा है, नहीं मिल पाता।

आचार्य यतीन्द्र सूरिजी उन्हीं के विद्वान् शिष्यों में एक हैं जिन्होंने अपने गुरु श्री के कार्य को बड़ी लगन के साथ आगे बढाया और निरन्तर ज्ञानसेवा व शासन प्रभावना कर रहे हैं। उनके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। मुझे तो इस लेख में उनके इतिहास-प्रेम के सम्बन्ध में ही कुछ प्रकाश डालना है। मुझे उनका सबसे पहले परिचय उनके 'यतीन्द्रविहार-दिग्दर्शन' पुस्तक के द्वारा ही हुआ। जो सं. १९८६ में प्रकाशित हुई। हमने साहित्य और इतिहास के अनुसन्धान का कार्य इसी समय के आसपास प्रारम्भ किया था। और जब यह पुस्तक मेरे देखने में आई तो मुझे बहुत उपयोगी प्रतीत हुई। वैसे तो प्रत्येक जन मुनि अनेकों स्थानों व प्रदेशों में घूमते रहते हैं, लोगों के सम्पर्क में आते हैं, तीर्थों की यात्रा करते हैं, अनेकों महत्व की बातें सुनते व देखते हैं, पर उन सब बातों में जो दूसरों के उपयोगी जानने व पढने लायक होती हैं—उन्हें ग्रन्थरूप में लिखकर प्रकाशित करनेवाले मुनि बहुत थोड़े ही होते हैं। अतः उनकी जानकारी का लाभ दूसरा नहीं उठा पाते। कुछ मुनियों ने अपने विहार के सम्बन्ध में कुछ पुस्तकें प्रकाशित की हैं। पर वे एक तो वैसे विहार स्थलों की सूचिया विवरण होने से पठनीय नहीं बन पाई, बहुत रूखी हो गई हैं। केवल स्थानों के नाम, उनकी दूरी, स्टेशन मन्दिर, उपाश्रय श्रावकों आदि के घरों की संख्या ही उनमें होने से उनका उपयोग बहुत सीमित ही हो सकता है। जब कि यतीन्द्रसूरिजी ने अपने विहार का वर्णन 'यतीन्द्र विहार दिग्दर्शन' के ४ भाग और मेरी नेमाड यात्रा, गोडवाड यात्रा आदि पुस्तकों में दिया है वह बहुत ही सजीव है। उसमें जहा-जहा वे गये उन स्थानों की आवश्यक जानकारी, पुराना

इतिहास, लोकप्रवाद आदि जो भी ज्ञातव्य बातें उन्हें मिलीं, उनका विस्तार से वर्णन कर दिया है। साथ ही स्थान २ पर मूर्तियों के लेख व शिलालेख आदि भी दे दिये हैं। इससे उन पुस्तकों का महत्व बहुत बढ़ गया है। कई प्रसिद्ध प्राचीन व दर्शनीय स्थानों का विवरण तो बहुत ही प्रशंसनीय है। जो व्यक्ति उन स्थानों में नहीं गये हैं उनके लिये तो यह जानकारी बहुत काम की है ही, पर जो गये हैं उन्हों ने भी शायद उतनी जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया हो; इसलिये उनके लिये भी इन ग्रन्थों की उपयोगिता कम नहीं। मांडवगढ आदि कई स्थानों का वर्णन जब मैंने इन ग्रन्थों में पढा तो मुझे उन स्थानों को स्वयं जाकर देखने की उत्कट इच्छा हो गई। यही उनके लेख की सफलता है जिसमें पढनेवाले को देखने के लिये उत्सुकता जाग उठे।

श्री कोरटाजी तीर्थ का इतिहास आप द्वारा लिखित सं. १९८७ में प्रकाशित हुआ। इतिहास के साधनों को संग्रह करने का प्रयत्न भी आप का विशेषरूप से उल्लेखनीय है। आपके संग्रहित जैन प्रतिमाओं के ३७४ लेखों का एक संग्रह श्री दौलतसिंह लोढा के द्वारा संपादित व अनुवादित सं. २००९ में प्रकाशित हुआ है। उसकी प्रस्तावना में लिखा है कि 'सं. २००४ में यतीन्द्रसूरिजी महाराज को थराद चातुर्मास के समय कार्तिक महिने में डबल नमुनियां हो गया और जीवन की आशा भी कम हो गई।' उस परिस्थिति में भी आपने लोढाजी को उन शिलालेखों की दो कापियां देखने को दीं और कहा, "मैं इतना अस्वस्थ और अशक्त हूँ कि शिलालेखों का अनुवाद, अनुक्रमणिका आदि करने में अपने को असमर्थ पाता हूँ।" अतः आपकी इच्छा की पूर्ति लोढाजी ने की। इससे ऐतिहासिक साधनों को प्रकाशित करने में आप कितने उत्सुक व जागरूक रहे हैं, पता चलता है।

आप ही की प्रेरणा से प्राग्वाट जाति का इतिहास जैसा महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो सका। श्री दौलतसिंह लोढा स्वभावतः एक कवि हैं। पर इतिहास जैसे निरस विषय में उनको लगना पड़ा, यह आपकी प्रेरणा का प्रभाव है। पोरवाड जाति श्वेतांबर जैन समाज में बहुत ही गौरवशालिनी रही है। उसका इतिहास प्रकाशित किया जाना बहुत आवश्यक था। अभी आपकी प्रेरणा से ही महाकाय "राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ" प्रकाशित हुआ है। यह भी आपके ज्वलंत इतिहास-प्रेम का परिचायक है। इत्यलम्

इतिहास-प्रेमी गुरुवर्य्य श्रीमद् विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

(दौलतसिंह लोढा 'अरविंद' बी ए. सरस्वती विहार, भीलवाड़ा)

यह युग क्रांति एवं जाग्रति का है। जीवन के हर अंग में जो जागरण देखा जा रहा है, वह किसी एक व्यक्ति के श्रम का परिणाम नहीं है। भारत के जितने धर्म हैं और जितने समाज हैं उन सब में इस युग में कोई-न कोई विशिष्ट व्यक्ति कुछ अपनी चली, त्याग तपस्या, सद्भावना, सेवा के आधार पर नवजीवन, नवचेतना नवभाव-विचार एवं नव कार्य-दिशा प्रगटा गया है। यही कारण है कि समूचा भारत आज जाग्रत सा प्रतीत होता है।

धर्म के नाम पर भारत में जैन, हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान सिक्ख, इसाई आदि वर्ग प्रसिद्ध हैं और येही समाजों के नाम से भी। जैन वर्ग में इस समय श्वेताम्बर और दिगम्बर पक्ष भी कई उपवर्गों में विभाजित हैं। श्वेताम्बरपक्ष—मूर्त्तिपूजक, स्थानक और तेरहपंथ में बटा हुआ है। श्वे० मूर्त्तिपूजक पक्ष स्थूलदृष्टि से चार स्तुति और तीन स्तुति इन दो वर्गों में विद्यमान है। तीनस्तुति का पुनरुद्धार अथवा पुन प्रचार विश्वविख्यात्, विद्वद्मणि, 'अभिधान-राजेन्द्र कोष' के कर्त्ता श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी महाराज ने किया। उनके पट्ट पर आचार्य श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी, श्रीमद् भूपेन्द्रसूरिजी महाराज क्रमश: विराजमान हुये। वर्त्तमान में आप विराजमान हैं।

आपका 'हीरक-जयन्ती-उत्सव' मनाया जा रहा है। यह आपकी शासन सेवा का ही मूल्य एवं समादर है। आपका कुछ वंश-परिचय देता हुआ पाठकों को आपकी विशिष्ट सेवा एवं गुणों का परिचय कराऊंगा।

वंश-परिचय—मरुप्रदेश की प्राचीन एवं ऐतिहासिक नगरी भिन्नमाल से लग भग ४००--४५० वर्ष पूर्व काश्यपगोत्रीय वीरवर जैसपाल ने निकलकर अवध-प्रान्त के रायबरेली प्रगणामें जैसवालपुर नगर बसाकर अपने राज्य की स्थापना की। राजा जैसपाल से आठवीं पीढ़ी में राजा अमरपाल यवनों से परास्त हुये और वे राज्य का त्याग करके धौलपुर नगर में आकर बसे। उनके प्रपौत्र ब्रजलालजी आपके पिताश्री थे। आपकी माताश्री का नाम चम्पाकुवर था। आपके दो भ्राता और दो बहिने थीं। घर समृद्ध था और श्री ब्रजलालजी धौलपुरनरेश के कृपापात्र कर्मचारी थे। उनको रायसाहब की उपाधि प्राप्त थी। आप छोटी ही आयुके थे कि आपकी माता का और कुछ ही समय पश्चात् भ्राता किशोरीलाल का स्वर्गवास हो गया। श्रीव्रज लालजी को जीवन से औदासीन्य हो गया और वे बच्चों को लेकर भोपाल आ

गये, जहां उनका श्वसुरालय था। वे थोड़े वर्ष भी वहां जीवित नहीं रहे और वे भी स्वर्ग सिधार गये। इस समय आपकी आयु कोई १२-१३ वर्ष की रही होगी।

आपका जन्म नाम रामरत्न था। पिता के देहत्याग के पश्चात् आपका भरण-पोषण आपके मामा ठाकुरदास करने लगे। मामा यद्यपि निस्संतान थे; परन्तु स्वभाव से चिड़चिड़े थे और आप चंचल और कुछ निरंकुश प्रकृति के थे। मामा का प्रेम आप पर अधिक समय तक ठहरा न रह सका। मामा आपको प्रायः छोटी २ बातों पर फटकार दिया करते थे और फटकार में कभी २ ऐसे शब्दों का प्रयोग भी कर बैठते थे जो प्राणवान् एवं बुद्धिमान् बालक को कभी सहन भी नहीं हो सकते थे। उज्जैन में होनेवाला सिंहस्थ मेला संनिकट आ रहा था। ठीक इसके कुछ ही दिनों के पूर्व एक रात्रि को नाटक देखकर आने पर आपको मामा ने अत्यन्त बुरा-भला कहा और कहा, "यही स्वभाव रहा तो भिक्षा मांगोगे। जो मैं नहीं होता तो रखड़-रखड़ कर मरना पड़ता!" ये शब्द आपके हृदय पर गाण्डीव के तीरों से भी तीक्ष्ण लगे। आपने तुरंत मामा के घर का त्याग कर दिया और कुछ दिन आप अपने एक मित्र की दुकान पर रह कर एक दिन सिंहस्थ मेले को चल दिये और जब सिंहस्थ मेला समाप्त हो गया तो आप भी उज्जैन से लौट कर मार्ग में संध्या-समय महीदपुर में रुके।

हम निर्बलहृदयी, आश्रय में जीनेवाले, परमुखापेक्षी भले यह कहें कि सुशिक्षित माता-पिता का प्यारा पुत्र रामरत्न आज अनाथ होकर, कुलवान् से भिक्षुक हो कर, गौरवान्वित से हीन होकर, और परिवारवाले से दीन होकर, असहाय, दुःखी बन कर महीदपुर की संकुचित टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में निरुद्देशित ठोकरें खा रहा है।

सूरिजी से भेंट — 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' महीदपुर के उपाश्रय में उसी रात्री को महाविद्वान्, प्रखरतपस्वी आचार्य श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज विराज रहे थे। श्रीरामरत्न धर्म से दिगम्बर जैन तो थे ही। आपके जैन संस्कार एवं सुशिक्षित माता-पिता द्वारा बालवय में आपको मिली धार्मिक शिक्षा ने आपको उपाश्रय में जाने के लिये प्रेरित किया। आपने उपाश्रय में जाकर पट्ट पर विराजित आचार्य श्री को विधिपूर्वक वंदन किया। इस वंदन ने जितना समय लिया, उतने में ही बुद्धिनिधान, महाविद्वान् आचार्य ने आपकी गहराई का पता पा लिया—कुलवान् है, सुसंस्कारी है, दिगम्बर कुलोत्पन्न है, सुशिक्षित माता—पिता का प्यारपला पुत्र है, विनयी, सरल, सद्भावी है और है निर्भीक, साहसी, दृढ तथा प्रतिभापुञ्ज और होनहार। शरीर की सुडोलता और रमणीकता तो फिर अधिक ही आकर्षक थी, परन्तु वह दुःख से रो अवश्य रही थी; फिर भी वह कुल और कुल की गौरवता का आभास अवश्य दे रही थी। आचार्य श्री और आपमें पर्याप्त समय पर्यंत बात—चीत होती रही। इस बात-चीत का एवं आचार्य श्री के

इतिहास-प्रेमी गुरुवर्य्य श्रीमद् विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

(दौलतसिंह लोढ़ा 'अरविंद' बी. ए. सरस्वती विहार, भीलवाड़ा)

यह युग क्रांति एवं जाग्रति का है। जीवन के हर अंग में जो जागरण देखा जा रहा है, वह किसी एक व्यक्ति के श्रम का परिणाम नहीं है। भारत के जितने धर्म हैं और जितने समाज हैं उन सब में इस युग में कोई-न कोई विशिष्ट व्यक्ति कुछ अपनी शक्ति, त्याग तपस्या, सद्भावना, सेवा के आधार पर नवजीवन, नवचेतना नवभाव-विचार एवं नव कार्य-दिशा प्रगटा गया है। यही कारण है कि समूचा भारत आज जाग्रत सा प्रतीत होता है।

धर्म के नाम पर भारत में जैन हिन्दु, बौद्ध, मुसलमान सिक्ख, इसाई आदि धर्म प्रसिद्ध हैं और येही समाजों के नाम से भी। जैन धर्म में इस समय श्वेताम्बर और दिगम्बर पक्ष भी कई उपवर्गों में विभाजित हैं। श्वेताम्बरपक्ष—मूर्तिपूजक स्थानक और तेरहपन्थ में बटा हुआ है। श्वे० मूर्त्तिपूजक पक्ष स्थूलदृष्टि से चार स्तुति और तीन स्तुति इन दो वर्गों में विद्यमान है। तीनस्तुति का पुनरोद्धार अथवा पुन प्रचार विश्वविख्यात्, विद्वद्मणि, 'अभिधान-राजेन्द्र कोष' के कर्त्ता श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी महाराज ने किया। उनके पट्ट पर आचार्य श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी श्रीमद् भूपेन्द्रसूरिजी महाराज क्रमशः विराजमान हुये। वर्त्तमान् में आप विराजमान हैं।

आपका 'हीरक-जयन्ती-उत्सव' मनाया जा रहा है। यह आपकी शासन सेवा का ही मूल्य एवं समादर है। आपका कुछ वंश-परिचय देता हुआ पाठकों को आपकी विशिष्ट सेवा एवं गुणों का परिचय कराऊंगा।

वंश-परिचय—मरुप्रदेश की प्राचीन एवं ऐतिहासिक नगरी भिन्नमाल से लग भग ४००—४५० वर्ष पूर्व काश्यपगोत्रीय वीरवर जैसपाल ने निकलकर अवध प्रांत [illegible] रायबरेली प्रगणामें जैसवालपुर नगर बसाकर अपने राज्य की स्थापना की। राजा जैसपाल से आठवीं पीढ़ी में राजा अमरपाल यवनों से पराास्त हुये और वे राज्य का त्याग करके धौलपुर नगर में आकर बसे। उनके प्रपौत्र ब्रजलालजी आपके पिताश्री थे। आपकी माताश्री का नाम चम्पाकुंवर था। आपके दो भ्राता और दो बहिनें थीं। घर समृद्ध था और श्री ब्रजलालजी धौलपुरनरेश [illegible] कृपापात्र कर्मचारी थे। उनको रायसाहब की उपाधि प्राप्त थी। आप छोटी ही आयुके थे कि आपकी माता का और कुछ ही समय पश्चात् भ्राता किशोरीलाल का स्वर्गवास हो गया। श्रीब्रज लालजी को जीवन से औदासीन्य हो गया और वे बच्चों को लेकर भोपाल आ

सात भागों में क्रमशः पृ. १०२८, ११९२, १३६२, २७१६, १६३८, १४६६ और १२४४ में विभक्त है। इसमें जैन शास्त्र-आगम-कथा-कोषों में प्रयुक्त सर्व प्राकृत एवं समस्त प्राकृत शब्दों का संकलन है और विशेषता यह है कि प्रत्येक प्राकृत शब्द से प्रारंभ और प्रसिद्ध हुई पुस्तक, कथा, कहानी, पुरुष, ग्राम, नगर, सूक्ति, युक्ति आदि-आदि अनेक बातों का विशद साहित्यिक और इतिहास-पुरातत्त्व की दृष्टि से इसमें परिचय है। सम्पादन और प्रकाशन दोनों साथ-साथ ही चलते रहे। सूरिजी के स्वर्गवास के पश्चात् तुरंत ही वि सं. १९६४ में आपश्री और मुनि श्री दीपविजयजी ने उपरोक्त दोनों कार्य एक स्वतंत्र यंत्रालय रतलाम में खोल कर प्रारंभ कर दिये। वि. सं. १९७८ में मुद्रणकार्य समाप्त हुआ। पाठक स्वयं विचार सकते हैं कि इस जैन एन्साइक्लोपेडिया कोष और आगम-निगमसमष्टि ग्रन्थ के सम्पादन के लिये किस योग्यता, पाण्डित्य की आवश्यकता होती है, सम्पादक में किस स्तर का श्रम, धैर्य, कष्टसहिष्णुता और अनवरत साधना-शक्ति चाहिए? आपश्री कितने ऊँचे पंडित एवं दृढव्रती एवं संकल्पी हैं-सहज समझ में आ सकता है।

इस छोटे से निबंध में आपश्री के महत्वपूर्ण जीवन पर सुविधा के साथ लिखा नहीं जा सकता; अतः मैं वि. सं. १९७२ से आगे के आपश्री के जीवन को निम्न शीर्षकों में विभाजित करके ही संक्षेप में कुछ लिख सकता हूँ।

१—यात्रायें, २-अंजनशलाका-प्रतिष्ठायें, ३-तपाराधन, ४-संघ-यात्रायें, ५-तीर्थोद्धार, ६-ज्ञान-भण्डार, ७-मण्डल-विद्यालय, ८-साहित्य-सेवा और श्री राजेन्द्र-सूरि अर्धशताब्दी-महोत्सव।

यात्रायें—आपश्री ने वि. सं. १९७२ से वि. सं. २०१४ पर्यंत स्वतंत्र विहार करके साधु-शिष्यमण्डलसहित और कभी साधु-श्रावक सहित शंखेश्वर, तारंगगिरि, अर्बुद, पालीताणा, गिरनार, केशरियाजी, माण्डवगढ़, लक्ष्मणी, कोरटाजी, गोड़वाड़-पंचतीर्थी, माण्डवपुर, जालोर, वरकाणा, ढ़ीमा, भोरोल, जीरापल्ली, हमीरगढ और इन तीर्थों के मार्गों में पड़नेवाले छोटे-मोटे मंदिर तीर्थों की, एक बार और किसी तीर्थ की अधिक बार यात्रायें की हैं।

संघयात्रायें—श्री पालीताणा, गिरनार, अर्बुद, मण्डपाचल, जैसलमेर, कच्छ-भद्रेश्वर, गौड़वाड़ पंच तीर्थों की लघु एवं वृहद् संघ-यात्रायें कीं।

यह तो प्रायः सर्व ही साधु, जैन-जैनेतर करते आये हैं। परन्तु आपने विशेष और नवीन बात इन स्वतंत्र और संघयात्राओं पर जो की वह यह कि आपने इन यात्राओं का वर्णन 'श्री यतीन्द्र-विहार-दिग्दर्शन भाग १, २, ३, ४ और श्री कोरटाजी तीर्थ का इतिहास, मेरी नेमाड़यात्रा, मेरी गोड़वाड़ यात्रा, श्री माण्डवपुरतीर्थ, नाकोड़ा पार्श्वनाथ नामक पुस्तकें प्रकाशित करके जो प्रस्तुत किया है तथा तीर्थों के मार्ग में और विहार-क्षेत्र में स्पर्शित ग्राम, नगरों का जो वर्णन आपने उक्त पुस्तकों में दिया है-यह करके आपने इतिहास, पुरातत्त्व की महान् सेवा की है। ये ग्रंथ

सारगर्भित वचनों का सार यह निकला कि आपने एक दिन दीक्षा लेकर इस असार संसार से अपना त्राण करने के भाव आचार्य श्री को निवेदित कर दिये और आचार्य श्री ने आपके सविनय शब्दों एवं कान्तमुखमण्डल पर विचार करके आपको यह आश्वासन प्रदान कर दिया कि हमारे साथ विहार में रहो—योग्य अवसर पर मनोरथ के अनुसार सब कुछ फलेगा।

गुरुसेवा और अध्ययन—सूरिजी आवरा होते हुये खाचरौद पधारे। वि. सं. १९५४ आषाढ़ कृ० २ सोमवार को उत्सवपूर्वक आचार्य श्री ने आपको भारी जनसमूह की उपस्थिति में भागवती दीक्षा प्रदान करके आपका नाम 'यतीन्द्रविजय' रक्खा। किसी विघ्नसंतोषी के प्रतिपादन पर स्थानीय राजकर्मचारियों ने दीक्षा में विघ्न उत्पन्न करना चाहा; परन्तु आपकी दृढ़ धारणा और प्रबल वैराग्य-भावनाओं के समक्ष उनकी कोई युक्ति सफल नहीं हुई। विद्याध्ययन तो आपने आचार्य श्री की निश्रा में रहना प्रारंभ करने के साथ प्रारंभ कर दिया था; परन्तु अब आपने अध्ययन तीव्रगति से प्रारंभ किया। प्राकृत एवं संस्कृत दोनों भाषाओं में सलिखित जैनागम-सूत्र और साहित्य का पठन आपने इस तत्परता एवं श्रम से किया कि गुरु के संग दशवर्षीय सहवास में व्याकरण, छंद, साहित्य एवं धर्म के सभी ही मूल एवं टीकाग्रन्थों का समुचित अध्ययन समाप्त कर लिया। विद्यार्थी यतीन्द्रसूरि का तेज और ताप इतना असह्य था—लोग कहते हैं कि किसी स्त्री—पुरुष—युवक का साहस नहीं होता था कि उनके पास में कोई अकारण कुछ पलों के लिये भी ठहरने का विचार करें।

साधु-जीवन में उस समय आपके मात्र दोही उद्देश्य थे—गुरुसेवा और द्वितीय अध्ययन। गुरुसेवा के उपरान्त अध्ययन और अध्ययन के उपरान्त गुरुसेवा। श्रीमद् राजेन्द्रसूरि महाराज की अनवरत साहित्य—साधना, उनके प्रखर चारित्र और अडिग साहस का आपश्री पर भी गंभीर प्रभाव पड़ा है। दृढव्रती-प्रतिज्ञ एवं विद्याव्यसनी होने के कारण आप गुरु के परम कृपापात्र शिष्य थे। वि. सं. १९६३ में जब श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी महाराज ने नश्वर देह का राजगढ़ (धार—मालवा) में त्याग किया तब आप और मुनि श्री दीपविजयजी (भूपेन्द्रसूरिजी) पर अपने चिरकाल से लिखे जाते 'अभिधान राजेन्द्र-कोष' के सम्पादन—प्रकाशन का भार संघ के प्रमुख व्यक्तियों ने समक्ष रक्खा। आप पर गुरुप्रेम और आप में 'कोष' के सम्पादन के लिए रही हुई अपेक्षित योग्यता यहां स्वतः सिद्ध हो जाती है। यह 'कोष' विश्व के थोड़ा के एक-दो कोषों में अपनी गणना रखता है। इसके लेखक की योग्यता, और फिर सम्पादक की योग्यता किस माप की होनी चाहिए, पाठक स्वयं विचार सकते हैं।

कोष का सम्पादन—स्व. सूरिजी ने 'श्री अभिधान राजेन्द्र कोष' की रचना वि. सं. १९४६ में सियाणा मारवाड़ में प्रारंभ की थी और वि. सं. १९६० में सूरत में बनकर तैयार हुआ। संवत् १९६३ (उनके स्वर्गवासदिन) पर्यंत कुछ न कुछ रूप से यह चालू रहा। वर्णानुक्रम से यह १ अ, २ आ, ३ इ से छ, ४ ज से न, ५ प से म, ६ य से व और ७ श से ह

सात भागों में क्रमशः पृ. १०२६, ११९२, १३७२, २०९६, १६३६, १४६६ और १२४४ में विभक्त है। इसमें जैन शास्त्र-आगम-कथा-कोषों में प्रयुक्त सर्व प्राकृत एवं समस्त प्राकृत शब्दों का संकलन है और विशेषता यह है कि प्रत्येक प्राकृत शब्द से प्रारंभ और प्रसिद्ध हुई पुस्तक, कथा, कहानी, पुरुष, ग्राम, नगर, सूक्ति, युक्ति आदि-आदि अनेक वार्तो का विशद साहित्यिक और इतिहास-पुरातत्त्व की दृष्टि से इसमें परिचय है। सम्पादन और प्रकाशन दोनों साथ-साथ ही चलते रहे। सूरिजी के स्वर्गवास के पश्चात् तुरंत ही वि सं. १९६४ में आपश्री और मुनि श्री दीपविजयी ने उपरोक्त दोनों कार्य एक स्वतंत्र यंत्रालय रतलाम में खोल कर प्रारंभ कर दिये। वि. सं. १९७८ में मुद्रणकार्य समाप्त हुआ। पाठक स्वयं विचार सकते हैं कि इस जैन एन्साइक्लोपेडिया कोष और आगम-निगमसमष्टि ग्रन्थ के सम्पादन के लिये किस योग्यता, पाण्डित्य की आवश्यकता होती है, सम्पादक में किस स्तर का श्रम, धैर्य, कष्टसहिष्णुता और अनवरत साधना-शक्ति चाहिए? आपश्री कितने ऊँचे पंडित एवं दृढव्रती एवं संकल्पी हैं-सहज समझ में आ सकता है।

इस छोटे से निबंध में आपश्री के महत्त्वपूर्ण जीवन पर सुविधा के साथ लिखा नहीं जा सकता; अतः मैं वि. सं. १९७२ से आगे के आपश्री के जीवन को निम्न शीर्षकों में विभाजित करके ही संक्षेप में कुछ लिख सकता हूँ।

१—यात्रायें, २-अंजनशलाका-प्रतिष्ठायें, ३-तपाराधन, ४-संघ-यात्रायें, ५-तीर्थोद्धार, ६-ज्ञान-भण्डार, ७-मण्डल-विद्यालय, ८-साहित्य-सेवा और श्री राजेन्द्र-सूरि अर्धशताब्दी-महोत्सव।

यात्रायें—आपश्री ने वि. सं. १९७२ से वि. सं. २०१४ पर्यंत स्वतंत्र विहार करके साधु-शिष्यमण्डलसहित और कभी साधु-श्रावक सहित शंखेश्वर, तारंगगिरि, अबुर्द, पालीताणा, गिरनार, केसरियाजी, माण्डवगढ़, लक्ष्मणी, कोर्टाजी, गोड़वाड़-पंचतीर्थी, भाण्डवपुर, जालोर, वरकाणा, ढ़ींमा, भोरोल, जीरापल्ली, हमीरगढ और इन तीर्थों के मार्गो में पड़नेवाले छोटे-मोटे मंदिर तीर्थों की, एक वार और किसी तीर्थ की अधिक वार यात्रायें की हैं।

संघयात्रायें—श्री पालीताणा, गिरनार, अर्बुद, मण्डपाचल, जैसलमेर, कच्छ-भद्रेश्वर, गोडवाड़ पंच तीर्थों की लघु एवं बृहद् संघ-यात्रायें कीं।

यह तो प्रायः सर्व ही साधु, जैन-जैनेतर करते आये हैं। परन्तु आपने विशेष और नवीन वात इन स्वतंत्र और संघयात्राओं पर जो की वह यह कि आपने इन यात्राओं का वर्णन 'श्री यतीन्द्र-विहार-दिग्दर्शन भाग १, २, ३, ४ और श्री कोर्टाजी तीर्थ का इतिहास, मेरी नेमाड़यात्रा, मेरी गोड़वाड़ यात्रा, श्री भाण्डवपुरतीर्थ, नाकोड़ा पार्श्वनाथ नामक पुस्तकें प्रकाशित करके जो प्रस्तुत किया है तथा तीर्थों के मार्ग में और विहार-क्षेत्र में स्पर्शित ग्राम, नगरों का जो वर्णन आपने उक्त पुस्तकों में दिया है-यह करके आपने इतिहास, पुरातत्त्व की महान् सेवा की है। ये ग्रंथ

आपके इतिहासप्रेम को प्रदर्शित करते हैं जो आगे जाकर 'श्री प्राग्वाट-इतिहास' की रचना करवाने में मूर्त्तिवत प्रगट हुआ है। आपने मूर्त्तिलेख और शिलालेखों का भी पर्याप्त संग्रह किया है जो इन ग्रंथों में यथास्थान सप्रसंग आये हैं और 'श्री जैन-प्रतिमा-लेख संग्रह' नाम से आपद्वारा संग्रहित लेखों का एक स्वतंत्र ग्रंथ प्रकाशित हुआ है।

अंजनशलाका प्रतिष्ठायें—वि. सं. २०१३ पर्यंत आपश्री के कर कमलों से लगभग ५० प्रतिष्ठा—अंजनशलाकायें सम्पन्न हुई हैं। जिनमें श्री लक्ष्मणीतीर्थ, हरजी, आहोर, बागरा, सियाणा, थराद, धाणसा, माण्डवपुरतीर्थ और बाली में हुई अति प्रसिद्ध और प्रभावक रही हैं। आपने सैकड़ों प्राचीन बिम्बों को स्थापित करवाये और सहस्रों नवीन बिम्बों की प्रतिष्ठा की। सियाणा, धाणसा, माण्डवपुर की प्रतिष्ठाओं की स्वतंत्र पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और बागरा की प्रतिष्ठा का सविस्तार वर्णन 'श्री गुरुचरित' में उल्लिखित है। वैसे तो आहोर, थराद, बाली आदि समस्त प्रतिष्ठाओं का यथाप्राप्त वर्णन 'गुरुचरित' में दिया जाने का पूरा—पूरा प्रयत्न किया गया है।

'गुरुचरित' आपका जीवन-वृत्तान्त है जो इस लेख के लेखक ने लिखकर वि. स. २०११ में प्रकाशित करवाया है।

तपाराधन—वि सं. २०१४ पर्यंत आपश्री की तत्त्वावधानता में सियाणा, गुडा-बालोतरा, पालीताणा, खाचरौद, बागरा, आकोली, राणापुर में उपधानतपों का आराधन हुआ। इन तपों में सैकड़ों श्रावक-श्राविकाओं ने भाग लेकर अपना कायाकल्प किया और तपों के महत्व की प्रभावना की। 'गुरुचरित' में इन तपों का यथाप्रसंग और यथाप्राप्त वर्णन दिया गया है।

ज्ञान—भण्डार—इस सम्प्रदाय के बागरा, सियाणा, भिन्नमाल, जालोर, आहोर, गुडा, रतलाम, कुक्षी, खाचरौद, जावरा में समृद्ध एवं विशाल ज्ञान-भण्डार हैं। इन भण्डारों में श्रीमद् राजेन्द्रसूरि, धनचन्द्रसूरि और भूपेन्द्रसूरि तथा आपश्री द्वारा रचित सम्पादित, संग्रहित साहित्य है। सर्व भण्डार स्थानीय संघों के द्वारा सुरक्षित हैं। स्वर्गीय तीनों आचार्यों के नाम से फिर कई स्वतंत्र साहित्य—समितियां मारवाड़, थराद और मालवा में साहित्य सेवायें कर रही हैं। आपश्री के दो ज्ञान-भण्डार हैं, जिनमें गुड़ा का भण्डार अधिक समृद्ध और हर प्रकार के साहित्य से सम्पन्न है।

उल्लेखनीय तो यह है कि उपरोक्त सर्व भण्डारों पर आपकी एक सी देख रेख होने से सर्व ही ज्ञानमय और प्रकाशमान हैं। प्रकाशित पुस्तकों के विक्रय के लिये श्रीराजेन्द्र प्रवचन कार्यालय, खुडाला समस्त जैन जगत् में प्रसिद्ध है।

तीर्थोद्धार—श्रीलक्ष्मणीतीर्थ, श्रीकोरटाजीतीर्थ, श्रीस्वर्णगिरि जालोरतीर्थ, श्रीतालनपुर तीर्थ और श्री माण्डवपुरतीर्थ नामक अति प्राचीन तीर्थों के जीर्णोद्धार में

आपश्री के सदुपदेश से लक्षों रुपये व्यय हुये हैं और हो रहे हैं । ये सर्व ही तीर्थ अतिप्राचीन हैं । इन पर आपश्री द्वारा स्वतंत्र पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी हैं तथा 'गुरुचरित' में भी पूरा २ वर्णन आया है । आपश्री लक्ष्मणीतीर्थोद्धारक कहे जाते हैं ।

मण्डल, विद्यालय—आपश्री के सदुपदेश से कई ग्रामों में समाजसुधारक मण्डल स्थापित हुये हैं और आज तक उनमें से अधिक विद्यमान हैं तथा अच्छा कार्य करते रहे हैं । सियाणा, नीर्खा, बागरा, आहोर, हरजी, जावरा, राजगढ़, राणापुर आदि में समय समय पर आपके सदुपदेशों से विद्यालय स्थापित हुये । सियाणा, जावरा और राणापुर में अभी भी चल रहे हैं । अन्यत्र जो अंत को प्राप्त हुये हैं वे स्थानीय समितियों के सभ्यों में तत्परता की न्यूनता और अनुभवहीनता के कारण । बागरा का विद्यालय अगर अब तक रह जाता तो वह निस्संदेह देश की एक महान् शिक्षण-संस्था होती । फिर भी नव वर्षों के जीवन में उसने जो विद्यार्थी निकाले वे उसके चरित्रवान् कलेवर और उसकी प्रतिभा और भावनाओं का आभास देते रहेंगे ।

साहित्यसेवा—आपद्वारा रचित, सम्पादित एवं संकलित लगभग ६० से उपर छोटी-बड़ी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं । धर्म, नीति, समाज, इतिहास, पुरातत्त्व की दृष्टियों से इनमें से अधिक उपादेय एवं संग्रहणीय हैं । इसी लेख के अंत में उपरोक्त पुस्तकों की सूची दी जा रही है; अतः यहां उन सर्व का नामोल्लेख करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता । फिर भी अतिप्रसिद्ध एवं उपयोगी ग्रंथों की ओर संकेत कुछ कर देना ठीक ही है:—

तीन स्तुति की प्राचीनता, गौतमपृच्छा, सत्यबोध-भास्कर, गुणानुरागकुलक, जैनर्षिपट्टनिर्णय, श्री भाषणसुधा, श्री यतीन्द्र-प्रवचन भाग १-४, समाधान-प्रदीप, सूक्ति-रसलता, प्रकरण चतुष्टय आदि । विहार-यात्राविषयक कुछ ग्रन्थों के नाम पूर्व के पृष्ठों में दिये जा चुके हैं ।

आपश्री के उपदेश से इस लेख के लेखक द्वारा रचित 'जैन-जगती' और उसका समर्पण रूप में स्वीकार्य आपमें रही हुई समाज-सुधार की उदात्त भावनाओं का परिचय देती है । आप में ही वह साहस रहा है कि वर्त्तमान्, भूत, भविष्यत् का सचोट वर्णन देने वाली इस कविता-पुस्तक को जो फैले हुये आडम्बर एवं पाखंड को नेश्तनाबूद करने के लिये बम्ब का गोला कहीं गई है, आप से समर्पण-स्वीकार्य प्राप्त हो सका है ।

नव वर्षों के अनवरत श्रम से लिखा जा कर 'प्राग्वाट-इतिहास' भी आपश्री के एक मात्र उपदेश, उत्साह, अवलंब से प्रसिद्ध हुआ है । इस ग्रन्थों को ज्यों—ज्यों इतिहास-प्रेमी एवं इतिहासज्ञ अपनावेंगे वे आपश्री के हृदय में रही इतिहास-प्रियता को समझेंगे । मैं ने लिखा है, अतः मैं इस पर अधिक क्या लिखूँ ?

अभी हाल में जो 'श्रीमद् राजेन्द्रसूरि-स्मारक ग्रन्थ' राजगढ़ (धार—मालवा) में अर्ध शताब्दी-उत्सव के शुभावसार पर प्रकाशित हुआ है वह आपकी उत्कट

साहित्य-सेवा-भावना का चिरकाल पर्यंत ज्वलन्त प्रमाण रहेगा। इस में देशविदेश के एक सौ से उपर प्रसिद्ध विद्वानों के विविध जैन विषयक गम्भीर, तलस्पर्शी, विषय पूर्ण निबन्ध हैं। 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' इस कहावत का अक्षरशः अनुभव इन पंक्तियों के लेखक को इस ग्रन्थ के सम्पादन एवं प्रकाशन-काल में जो हुआ है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि महान् कार्यविषयक प्रस्ताव पास कर लेना सहज है, उसको प्रारंभ कर देना भी कुछ सहज है, परन्तु उसको सत्यरूप में, अपने कलेवर में बाहर ला देना साधारण पुरुषों का कार्य नहीं। आप महान् धैर्यवन्त, समयज्ञ, दृढ संकल्पी, नीतिनिपुण हैं और सर्व से ऊपर अपने महान् आदर्श पर अन्त में आ पहुंचना आपकी विशेषतायें हैं।

राजगढ में हुआ श्री राजेन्द्रसूरि-अर्धशताब्दी महोत्सव आपके जीवन के संध्या काल की महान् संस्मरणीय घटना है। स्मृतिग्रन्थ उसका सदा प्रमाण रहेगा।

मैंने सन् १९३८ से सन् १९५८ के प्रारंभ तक जो आपके गुणों का दर्शन किया वे अनुकरणीय हैं और प्रेरणादायी होने के कारण निम्नोल्लिखित हैं।

(१) दिन में जब भी विराजमान् देखा, लिखते ही देखा।

(२) विचारों में दृढ देखा और संकल्प में ध्रुव देखा।

(३) पुरुष की परीक्षा की आप में अद्भुत शक्ति देखी।

(४) संघर्ष में हँसते देखा और कठिनाई में बढते देखा।

(५) कई बार अनेक जैनाचार्य एवं साधु-मुनियों को हमने श्रीमंत, कवि, पंडित, राजनीति-पुरुष, सत्ताधारियों के प्रभाव से निस्तेज होते, उनसे मेल-प्रेम दिखाने का प्रयत्न करते देखा है; परन्तु यहां वह ही सरलता, सौम्यता जो एक जैनाचार्य में रहनी चाहिए, मैंने रहती देखी।

(६) सभा के योग्य भाषा में बोलते देखा—'व्याख्यान-वाचस्पति' उपाधि आपके साथ पूर्ण सार्थक है।

(७) आपके कर एवं वचनों से उसी को मान, सत्कार मिला जो व्यवहार में निष्कपट उतरा और चरित्र में स्वर्ण।

संक्षेप में आप एक सफल जैनाचार्य हैं जिन्होंने अपने चरित्र, न्यायनीति, आचार-व्यवहार, साहित्य-साधना, धर्मभावना, धर्मक्रिया, समाजसेवा, विद्याप्रेम से अपने मुनि-उपाध्याय एवं आचार्यकाल में अपनी शक्ति-योग्यता-तत्परता से जैन शासन की सेवा करने में अहर्निश योग दिया है, समाज का गौरव ऊपर उठाया है और विश्वविख्यात् स्व० राजेन्द्रसूरि महाराज के मिशन को सफल उद्देश्य किया है।

आपश्री का सविस्तार जीवन-परिचय पाने के लिये 'गुरु-चरित' पढने का आग्रह है।

आप द्वारा रचित—सम्पादित गद्य—पद्य ग्रंथों की सूची

ग्रंथनाम	वि. सं	पृष्टांक	ग्रंथनाम	वि. सं	पृष्टांक
१ तीन स्तुति की प्राचीनता	१९६३	१६	२ भावना स्वरूप (१२भावना संक्षिप्त)	१९६५	१६
३ गौतमपृच्छा (केवल भावानुवाद)	१९७१	२५	४ नाकोड़ा पार्श्वनाथ (ऐतिहासिक)	१९७१	५६
५ सत्यबोध भास्कर (प्रतिमापूजा-संसिद्धि)	१९७१	१६२	६ जीवनप्रभा (श्री राजेन्द्र-सूरीश्वर—जीवनी)	१९७२	४४
७ गुणानुरागकुलक (सार्थ विवेचनसहित)	१९७४	४८४	८ लघु चाणक्यनीति का अनुवाद	१९७६	६४
,, द्वितीय आवृत्ति	१९७५	३९२			
९ जन्म-मरण-सूतकनिर्णय	१९७८	१६	१० संक्षिप्त जीवनचरित्र (श्री धनचन्द्रसूरि)	१९८०	१७३
११ जीवभेदनिरूपण और गौतम कुलक (शब्दार्थ—भावार्थसहित)	१९८०	४८	१२ गौतमकुलक (शब्दार्थ—भावार्थ सहित)	१९८०	४८
१३ पीतपटाग्रहमीमांसा	१९८०	६२	१४ निक्षेप—निबंध	१९८०	६२
१५ जिनेन्द्रगुणगानलहरी (स्तवनादि संग्रह)	१९८०	१२०	१६ जैनर्षिपट्टनिर्णय (श्वेतवस्त्रसिद्धि)	१९८१	५२
१७ रत्नाकर-पच्चीसी (शब्दार्थ—भावार्थसहित)	१९८२	२४	१८ श्री मोहनजीवनादर्श (श्री मोहन विजयोपाध्याय)	१९८२	५६
१९ अध्ययन—चतुष्टय (दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययन, शब्दार्थ-भावार्थ सहित)	१९८२	८२	२० कुलिङ्गीवदनोद्गार-मीमांसा	१९८३	७८
२१ अघटकुमारचरित्र (संस्कृत गद्य)	१९८४		२२ रत्नसारचरित्र (संस्कृत गद्य)	१९८४	
२३ हरीबलधीवरचरित (संस्कृत गद्य)	१९८४		२४ आर्हत् प्रवचन (संग्रहित गूर्जर	१९८५	
२५ जीवभेद—निरूपण(गूर्जर)	१९८५		२६ गौतमकुलक (गूर्जर)	१९८५	
२७ श्री यतीन्द्र—विहार दिग्दर्शन भाग १	१९८६	३०५	२८ श्री कोरटाजी तीर्थ का इतिहास	१९८७	११२
२९ श्री जगडूशाह—चरित्रं गद्यम् (पत्राकार)	१९८८	४१	३० श्री कयवन्न—चरित्रं गद्यम् (पत्राकार)	१९८८	३७

१३ – १४. दोनों पुस्तकें एक जिल्द में हैं।
२१ – २२ – २३. तीनों ,, ,, ,, ,,
२५ – २६. दोनों ,, ,, ,, ,,

साहित्य-सेवा-भावना का चिरकाल पर्यंत ज्वलन्त प्रमाण रहेगा। इस में देशविदेश के एक सौ से ऊपर प्रसिद्ध विद्वानों के विविध जैन विषयक गम्भीर, तलस्पर्शी, विषय पूर्ण निबन्ध हैं। 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' इस कहावत का अक्षरशः अनुभव इन पंक्तियों के लेखक को इस ग्रन्थ के सम्पादन एवं प्रकाशन-काल में जो हुआ है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि महान् कार्यविषयक प्रस्ताव पास कर लेना सहज है, उसको प्रारंभ कर देना भी कुछ सहज है, परन्तु उसको सत्यरूप में, अपने कलेवर में बाहर ला देना साधारण पुरुषों का कार्य नहीं। आप महान् धैर्यवन्त, समयज्ञ, दृढ संकल्पी, नीतिनिपुण हैं और सर्व से ऊपर अपने महान् आदर्श पर अन्त में आ पहुचना आपकी विशेषतायें हैं।

राजगढ में हुआ श्री राजेन्द्रसूरि-अर्धशताब्दी महोत्सव आपके जीवन के संध्या काल की महान् स्मरणीय घटना है। स्मृतिग्रन्थ उसका सदा प्रमाण रहेगा।

मैंने सन् १९३८ से सन् १९५८ के प्रारंभ तक जो आपके गुणों का दर्शन किया वे अनुकरणीय हैं और प्रेरणादायी होने के कारण निम्नोलिखित हैं।

(१) दिन में जप भी विराजमान देखा, लिखते ही देखा।

(२) विचारों में दृढ देखा और संकल्प में ध्रुव देखा।

(३) पुरुष की परीक्षा की आप में अद्भुत शक्ति देखी।

(४) संघर्ष में हँसते देखा और कठिनाई में बढते देखा।

(५) कई बार अनेक जैनाचार्य एवं साधु-मुनियों को हमने श्रीमंत, कवि, पंडित, राजनीति-पुरुष, सत्ताधारियों के प्रभाव से निर्लेज होते, उनसे मेल-प्रेम दिखाने का प्रयत्न करते देखा है; परन्तु यहां वह ही सरलता, सौम्यता जो एक जैनाचार्य में रहनी चाहिए, मैंने तरती देखी।

(६) सभा के योग्य भाषा में बोलते देखा—'व्याख्यान-वाचस्पति' उपाधि आपके साथ पूर्ण सार्थक है।

(७) आपके कर एवं वचनों से उसी को मान, सत्कार मिला जो व्यवहार में निष्कपट उतरा और चरित्र में स्वर्ण।

संक्षेप में आप एक सफल जैनाचार्य हैं जिन्होंने अपने चरित्र, न्यायनीति, आचार-व्यवहार, साहित्य-साधना, धर्मभावना, धर्मक्रिया, समाजसेवा, विद्याप्रेम से अपने मुनि-उपाध्याय एवं आचार्यकाल में अपनी शक्ति-योग्यता-तत्परता से जैन शासन की सेवा करने में अहिर्निश योग दिया है, समाज का गौरव ऊपर उठाया है और विश्वविख्यात् स्व० राजेन्द्रसूरि महाराज के मिशन को सफल उद्देश्य किया है।

आपश्री का सविस्तार जीवन-परिचय पाने के लिये 'गुरु-चरित' पढने का आग्रह है।

संसार के सम्मुख आ चुकी हैं। रचना के साथ २ संसार की जनता को इस का पूरा २ लाभ भी मिलता जा रहा है।

इस साहित्य-रचना के साथ २ आप का समाज-सेवा में भी कम स्थान नहीं है। जैन मुनि जिस दिन से अपने जीवन में साधुजीवन की दीक्षा अंगीकार करता है सामाजिक व धार्मिक सेवा का व्रत भी उसी के साथ २ अंगीकार हो जाता है। जैन मुनियों की सामाजिक व धार्मिक सेवाएं शुद्ध व निःस्वार्थ होती हैं। जैनमुनि पैदल विहार व परमित उपधी (परिग्रह) पंच महाव्रत, पैसे-टके से बिल्कुल विलग रह कर अपने यम-नियमों का बाना पहन कर गांव २ सामाजिक और धार्मिक उपदेशों के द्वारा सच्ची समाजसेवा करते हैं।

आज भारत वर्ष में जैन मुनियों का सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में समाजसेवा का जो स्थान है वह अन्यत्र बहुत कम पाया जाता है। जिस ढंग व तरीके से जैन-मुनि समाज सेवा करते हैं, यदि इस प्रकार का व्रत भारत के अन्य साधु भी अंगीकार करलें तो भारत वर्ष का सामाजिक जीवन प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त हो सकता है। आज समाज में अनेक बुराइयोंने अपना स्थान बना लिया है जिसके कारण हमारा सामाजिक जीवन पतन की ओर बढ़ रहा है और इसी कारण हमारा धार्मिक जीवन भी शुद्ध स्वरूप में नहीं रहा है। केवल मात्र रूढी रूप ही धार्मिक जीवन बन गया है। कभी २ रूढ़ियां भी धार्मिक व सामाजिक जीवन को बनाये रखने के लिये बड़ी मदद करती हैं; किन्तु उन में भी समझदारी की बड़ी आवश्यकता होती है।

जिस समय सामाजिक या धार्मिक जीवन की पवित्रता के लिये कोई यम-नियम या रीत-रीवाज चलाया जाता है उस समय उसकी आवश्यकता बहुत ही महत्त्वपूर्ण व लाभदायी होती है। धीरे २ कई वर्षों के बाद उन यम-नियमों और रीत-रीवाजों में इतनी बुराइयां अपना घर बना लेती हैं या उन में इतनी विकृतियां पैदा हो जाती हैं कि वेही यम-नियम या रीत-रीवाज जो हमारा कल्याण करने वाले थे, हमारे ही पतन के कारण बन जाते हैं। इन्हीं के सुधार के लिये मुनिसमाज की जरूरत है।

श्रीयतींद्रसूरिने भी १४ वर्ष की बाल्यवय से समाजसेवा का जो व्रत अंगीकार किया आज दिन तक पैदल विहार कर के गांव-गांव, शहर-शहर, जिल्ले-जिल्ले, प्रान्त प्रान्त में घूम कर सामाजिक व धार्मिक जीवन का अध्ययन, मनन व परीशीलन किया और उस के साथ २ उपदेश देकर मानवसमाज को पतन के गर्त से बचाया। मानवजीवन में जो पाशविक बुराइयां अपना स्थान बना लेती हैं उनको दूर करने में सतत प्रयत्न किया यह मानव जीवन में कम सेवा नहीं है। मानव को मानव बनाये रखना और धीरे २ मानव को आत्मकल्याण की ओर अग्रसर कर के परमात्म स्वरूप बना देना यह कम समाजसेवा नहीं है। इसी समाज सेवाने भारत में अनेक ऋषि-महर्षियों को जन्म दिया है और उनका जीवन आज संसार के लिये अनुकरणीय बन गया है।

पूर्व महर्षियोंने अनुभव प्राप्त कर के संसार के सामने ज्ञान का निचोड रक्खा है। उसी ओर आप भी अपना कदम बढाते चले गये और धीरे २ ज्ञान की ज्योति का प्रकाश आप में अपने आप प्रकट होने लगा। आप के गुरु स्व जैनाचार्य श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरिजीने भी आप को प्रतिभाशाली और बुद्धिमान् देख कर आप की इस ज्ञानोपार्जन की तपश्चर्या में पूरा २ सहयोग दिया और शुभाशीर्वाद दिया। जिस के फल स्वरुप आज आप की गिनती अच्छे विद्वानों में मानी जाती है।

आपने गुरु आचार्य श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी से दीक्षा अंगीकार कर निरन्तर उन की आज्ञा में रत रहे। उनकी सेवा-सुश्रुषा में कमी किसी तरह कमी नहीं आने दी। लगातार ९ वर्ष अपने गुरु के साथ रहकर उन के अनुभव व सहचारिता का लाभ उठाया। अन्त में स्व० श्री राजेन्द्रसूरीजी कृत 'अभिधान राजेन्द्र कोष' की रचना का महत्वपूर्ण कार्य अपने जीवन में समाप्त किया। जिस के लिये गुरुवर्य्यने लगातार १४ वर्ष पर्यन्त दीर्घ तपश्चर्या की थी। उसी की देन है कि आज संसार का विद्वद्समाज इस कोष से लाभ उठा रहा है। श्री राजेन्द्रसूरिजी ने कोष की रचना अपने जीवन में कर दी किन्तु इस के मुद्रण का कार्य अधूरा रहा। वे अपनी इच्छा को अपने जीवन में पूर्ण नहीं कर सके। उन्होंने अपने विद्वान् शिष्यों की ओर अन्तिम समय एक तरस निगाह से देखा। उनकी तरस निगाह का कहना यही था कि मेरा 'अभिधान राजेन्द्र' कार्य जो अधूरा रह गया वह किसी भी तरह पूरा हो जाय। उनके विद्वान् शिष्योंने गुरु की इस भावना को दृढ प्रतिज्ञ होकर अंगीकार की और उसी दिन से 'अभिधान राजेन्द्र कोष' के मुद्रण की योजना कार्यरूप में परिणित कर दी गई १७ वर्ष पर्यन्त स्व० श्री भूपेन्द्रसूरि व वर्तमानाचार्य श्रीयतीन्द्रसूरिजी ने दीर्घ तपश्चर्या कर के अभिधान राजेन्द्र का मुद्रणकार्य समाप्त किया। श्री यतीन्द्रसूरिजीने अपने जीवन में सब से बडी व संसार को सुखदायी यह गुरुसेवा की। अपने गुरु के स्वर्ग वासी हो जाने के बाद भी गुरु के ऋण से उऋण होने के लिये जो प्रयत्न किया है वह कम नहीं कहा जा सकता। इनका जीवन शिष्यों के लिये एक दृष्टान्त रूप है। ऐसे दुष्कर व महान् कठिन कार्य में समाजने भी ४ लाख रुपये खर्च कर के गुरु भक्ति का एक बहुत बडा परिचय संसार को दिया।

श्रीयतीन्द्रसूरि ने अभिधान राजेन्द्र कोष' की साधना के समय अनेक ग्रन्थों की रचना एवं सम्पादन-कार्य किये। आज भी आपकी यह परिपाटी चालू ही है। आपने अनेक ऐसे उपयोगी ग्रन्थों को जन्म दिया है कि बाल्बुद्धिजीवी लोग प्रति दिन इन से लाभ उठा रहे हैं। साहित्यसृजन का कार्य मनुष्य अधिक रूप में एक ही स्थान पर बैठ कर करने में अधिकतर फलता प्राप्त कर सकता है, किन्तु आप का विहार, उपदेश व अन्य धार्मिक प्रवृत्तियां, उत्सव-महोत्सव चालू रहते हुए भी आपने साहित्यिक क्षेत्र में महान् सेवा की है। आप की यही कृतियां सैकडों और हजारों वर्षों तक आप के नाम को अजर अमर बनाने में सहायक हो सकेंगी। यह अत्यन्त खुशी का विषय है कि आपने जितनी भी साहित्य-रचना की हैं वे सब मुद्रित हो चुकी हैं,

संसार के सम्मुख आ चुकी हैं। रचना के साथ २ संसार की जनता को इस का पूरा २ लाभ भी मिलता जा रहा है।

इस साहित्य-रचना के साथ २ आप का समाज-सेवा में भी कम स्थान नहीं है। जैन मुनि जिस दिन से अपने जीवन में साधुजीवन की दीक्षा अंगीकार करता है सामाजिक व धार्मिक सेवा का व्रत भी उसी के साथ २ अंगीकार हो जाता है। जैन मुनियों की सामाजिक व धार्मिक सेवाएं शुद्ध व निःस्वार्थ होती हैं। जैनमुनि पैदल विहार व परमित उपधी (परिग्रह) पंच महाव्रत, पैसे-टके से विल्कुल विलग रह कर अपने यम-नियमों का वाना पहन कर गांव २ सामाजिक और धार्मिक उपदेशों के द्वारा सच्ची समाजसेवा करते हैं।

आज भारत वर्ष में जैन मुनियों का सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में समाजसेवा का जो स्थान है वह अन्यत्र बहुत कम पाया जाता है। जिस ढंग व तरीके से जैन-मुनि समाज सेवा करते हैं, यदि इस प्रकार का व्रत भारत के अन्य साधु भी अंगीकार करलें तो भारत वर्ष का सामाजिक जीवन प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त हो सकता है। आज समाज में अनेक बुराइयोंने अपना स्थान बना लिया है जिसके कारण हमारा सामाजिक जीवन पतन की ओर बढ़ रहा है ओर इसी कारण हमारा धार्मिक जीवन भी शुद्ध स्वरूप में नहीं रहा है। केवल मात्र रूढी रूप ही धार्मिक जीवन बन गया है। कभी २ रूढ़ियां भी धार्मिक व सामाजिक जीवन को बनाये रखने के लिये बड़ी मदद करती हैं; किन्तु उन में भी समझदारी की बड़ी आवश्यकता होती है।

जिस समय सामाजिक या धार्मिक जीवन की पवित्रता के लिये कोई यम-नियम या रीत-रीवाज चलाया जाता है उस समय उसकी आवश्यकता बहुत ही महत्वपूर्ण व लाभदायी होती है। धीरे २ कई वर्षों के बाद उन यम-नियमों और रीत-रीवाजों में इतनी बुराइयां अपना घर बना लेती हैं या उन में इतनी विकृतियां पैदा हो जाती हैं कि वेही यम-नियम या रीत-रीवाज जो हमारा कल्याण करने वाले थे, हमारे ही पतन के कारण बन जाते हैं। इन्हीं के सुधार के लिये मुनिसमाज की जरूरत है।

श्रीयतींद्रसूरिने भी १४ वर्ष की बाल्यवय से समाजसेवा का जो व्रत अंगीकार किया आज दिन तक पैदल विहार कर के गांव-गांव, शहर-शहर, जिल्ले-जिल्ले, प्रान्त प्रान्त में घूम कर सामाजिक व धार्मिक जीवन का अध्ययन, मनन व परीशीलन किया और उस के साथ २ उपदेश देकर मानवसमाज को पतन के गर्त से बचाया। मानवजीवन में जो पाशविक बुराइयां अपना स्थान बना लेती हैं उनको दूर करने में सतत प्रयत्न किया यह मानव जीवन में कम सेवा नहीं है। मानव को मानव बनाये रखना और धीरे २ मानव को आत्मकल्याण की ओर अग्रसर कर के परमात्म स्वरूप बना देना यंह कम समाजसेवा नहीं है। इसी समाज सेवाने भारत में अनेक ऋषि-महर्षियों को जन्म दिया है और उनका जीवन आज संसार के लिये अनु-करणीय बन गया है।

क्रम	ग्रंथ	संवत्	पृष्ठ	क्रम	ग्रंथ	संवत्	पृष्ठ
३१	श्री यतीन्द्र विहार दिग्दर्शन भाग २	१९८८	३०९	३२	बृहद्विद्वद्गोष्ठी संवर्धिता (पद्याकार)	१९८९	१३
३३	चम्पकमाला चरित्रं गद्यम् (पद्याकार)	१९९०	४१	३४	श्री राजेन्द्रसूरीश्वर जीवन-परिचय (कल्प सूत्रार्थ प्रबोधिनी में)	१९९०	२५
३५	श्री सिद्धाचल-नवाणुप्रकारी पूजा	१९९१	६४	३६	श्री चतुर्विंशतिजिन-स्तुति माला (संस्कृत पद्य)	१९९१	२४
३७	श्री यतीन्द्र-विहार-दिग्दर्शन भाग ३	१९९१	२०८	३८	श्री राजेन्द्रसूरीश्वर अष्ट प्रकारी पूजा	१९९१	१८
३९	श्री यतीन्द्र-विहार-दिग्दर्शन भाग ४	१९९३	३१०	४०	सविधि स्नात्र-पूजा (नवीन)	१९९३	२१
४१	मेरी नेमाड़यात्रा (ऐतिहासिक)	१९९६	८४	४२	श्री भाषणसुधा (सात व्याख्यानों का संग्रह)	१९९९	६२
४३	श्री अक्षयनिधितपविधि तथा श्री पौषधविधि	१९९९	६४	४४	श्री यतीन्द्र-प्रवचन हिन्दी भाग १	२०००	२९०
४५	समाधान प्रदीप हिन्दी भाग १	२०००	२७०	४६	सूक्तिसलता (सिंदूर प्रकर का हिन्दीपद्यानुवाद)	२००१	७९
४७	मेरी गोड़वाड़यात्रा	२००१	१००	४८	प्रकरण-चतुष्टय (सान्वयार्थ-भावार्थ)	२००५	२३१
४९	श्री यतीन्द्र-प्रवचन गुजराती भाग २	२००५	५०१	५०	श्री विंशतिस्थानकपद-तपविधि	२००५	९१
५१	देवसी पडिक्कमण(सार्थ)	२००७	१७२	५२	श्री सत्यसमर्थक प्रश्नोत्तरी	२००९	४८
५३	साध्वी-व्याख्यान समीक्षा	२०१०	२६	५४	साधु-प्रतिक्रमणसूत्र-शब्दार्थ	२०११	१८०
५५	स्त्री-शिक्षा-प्रदर्शन (हिन्दी)	२०११	१९	५६	श्री सत्पुरुषों के लक्षण ('कृष्णांछिन्धि' की व्याख्या)	२०११	
५७	श्री तप परिमल भाग १	२०११	४८	५८	मानव जीवन का उत्थान		

युगवीर आचार्यप्रवर श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी

ले० — श्री राजमल लोढा, संपा० दैनिक ध्वज, मन्दसौर

इन पीछले पचास वर्षों में जैन समाज में जितने भी आचार्य, उपाध्यय या मुनि हुए हैं उन सब में श्रीयतींद्रसूरिजी का भी एक मौलिक स्थान है।

१४ वर्ष की बाल्यवय में मुनिजीवन को अंगीकार कर के ब्रह्मचर्य, विद्याभ्यास गुरुसेवा, साहित्यसृजन, समाजसेवा, अंजनशलाका प्रतिष्ठा, त्याग व तपश्चर्या आदि की एक समान आजीवन सतत साधना कम गौरव की नहीं है।

संसार में एक, दो, चार, हजार, लाख और अनन्त वस्तुओं पर विजय प्राप्त करना सरल है; किन्तु पांच इंद्रियों और छट्ठे मन पर विजय प्राप्त कर लेना महान् कठिन है और दुष्कर है। जिसने इन पर विजय प्राप्त कर ली है वही संसार में परमात्म स्वरूप बना है। और संसार उन्हीं के चरणों पर झुका है। ज्ञानियों और महर्षियोंने उन्हीं के चरण-चिन्हों पर चलने का आदेश दिया है। एक ब्रह्मचारी के त्याग और तपश्चर्या के सामने अन्य त्याग और तपश्चर्या की कोई किमत नहीं है। इसकी सतत साधना ही प्रतिदिन त्याग और तपश्चर्या है। उसी प्रकार आचार्य यतीन्द्रसूरि के जीवन में भी अन्य तपश्चर्याओं को उतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हुआ जितना ब्रह्मचर्य की तपश्चर्या को स्थान प्राप्त हुआ है। उसी का प्रभाव है कि आज भी उनका ललाट और मुखाकृति वृद्धावस्था व रुग्णावस्था होने पर भी एक दिव्य मूर्ति के रूप में प्रभावित हो रही है। चौदह वर्ष की छोटी अवस्था से ही उन्होंने अपने जीवन में इसकी दृढ प्रतिज्ञा ली, क्रमशः इस की साधना की और अपने को दृढता पूर्वक निभाया-यही मुनिजीवन की सर्व प्रथम श्रेणी है। मानव-जीवन में अन्य दुर्गुण आंखों से ओजल किये जा सकते हैं; किन्तु ब्रह्मचर्य के पालन करने में तिल मात्र भी कमी हुई कि यह अवगुण मानव-समाज के लिये असहनीय बन जाता है और आंखों से ओजल नहीं किया जा सकता।

ब्रह्मचर्य की तपश्चर्या के साथ-साथ निरन्तर विद्याभ्यास करते रहना जीवन में सोने और सुगन्ध का काम है। आचार्य श्रीने भी बाल्यवय से विद्याभ्यास प्रारम्भ किया और धीरे २ ग्रन्थों का अध्ययन, मनन व परिशीलन किया और अंत में मन्थन करके उस में से रत्नों की प्राप्ति की।

हो सकता है वे आधुनिक जमाने की डिग्रियों से अलग रहे हों। आधुनिक जमाने की डिग्रियों को प्राप्त करने की ओर उनका ध्यान इतना आकर्षित नहीं हुआ हो, किन्तु उन्होंने उस ज्ञान और अध्ययन की ओर अपने जीवन को अग्रसर किया है जिस ओर

३१ श्री यतीन्द्र-विहार दिग्दर्शन भाग २ १९८८ ३०९

३३ चम्पकमाला चरित्रं गद्यम् (पद्याकार) १९९० ४१

३५ श्री सिद्धाचल-नवाणुंप्रकारी पूजा १९९१ ६४

३७ श्री यतीन्द्र-विहार-दिग्दर्शन भाग ३ १९९१ २०८

३९ श्री यतीन्द्र-विहार-दिग्दर्शन भाग ४ १९९३ ३१०

४१ मेरी नेमाड़यात्रा (ऐतिहासिक) १९९६ ८४

४३ श्री अक्षयनिधितपविधि तथा श्री पौषधविधि १९९९ ६४

४५ समाधान प्रदीप हिन्दी भाग १ २००० २७०

४७ मेरी गोड़वाड़यात्रा २००१ १००

४९ श्री यतीन्द्र-प्रवचन गुजराती भाग २ २००५ ५०१

५१ देवसी पडिक्कमण(सार्थ) २००७ १७२

५३ साध्वी-व्याख्यान समीक्षा २०१० २६

५५ श्री-दिक्षा-प्रदर्शन (हिन्दी) २०११ ९९

५७ श्री तत्व परिमल भाग १ २०११ ४८

३२ बृहद्विद्वद्गोष्ठी संवर्धिता (पत्राकार) १९८९ १३

३४ श्री राजेन्द्रसूरीश्वर जीवन-परिचय (कल्प सूत्रार्थ प्रबोधिनी में) १९९० २४

३६ श्री चतुर्विंशतिजिन-स्तुति माला (संस्कृत पद्य) १९९१ २४

३८ श्री राजेन्द्रसूरीश्वर अष्ट प्रकारी पूजा १९९१ १८

४० सविधि स्नात्र-पूजा (नवीन) १९९३ २१

४२ श्री भाषणसुधा (सात व्याख्यानों का संग्रह) १९९९ ९२

४४ श्री यतीन्द्र-प्रवचन हिन्दी भाग १ २००० ४९०

४६ सूक्तिरसलता (सिंदूर प्रकर का हिन्दीपद्यानुवाद) २००१ ७९

४८ प्रकरण-चतुष्टय (सान्वयार्थ-भावार्थ) २००५ २३१

५० श्री विंशतिस्थानकपद-तपविधि २००५ ९१

५२ श्री सत्यसमर्थक प्रश्नोत्तरी २००९ ४८

५४ साधु-प्रतिक्रमणसूत्र-शब्दार्थ २०११ १८०

५६ श्री सत्पुरुषों के लक्षण ('तृष्णांछिन्धि' की व्याख्या) २०११

५८ मानव जीवन का उत्थान

संसार के सम्मुख आ चुकी हैं। रचना के साथ २ संसार की जनता को इस का पूरा २ लाभ भी मिलता जा रहा है।

इस साहित्य-रचना के साथ २ आप का समाज-सेवा में भी कम स्थान नहीं है। जैन मुनि जिस दिन से अपने जीवन में साधुजीवन की दीक्षा अंगीकार करता है सामाजिक व धार्मिक सेवा का व्रत भी उसी के साथ २ अंगीकार हो जाता है। जैन मुनियों की सामाजिक व धार्मिक सेवाएं शुद्ध व निःस्वार्थ होती हैं। जैनमुनि पैदल विहार व परमित उपधी (परिग्रह) पंच महाव्रत, पैसे-टके से बिल्कुल विलग रह कर अपने यम-नियमों का बाना पहन कर गांव २ सामाजिक और धार्मिक उपदेशों के द्वारा सच्ची समाजसेवा करते हैं।

आज भारत वर्ष में जैन मुनियों का सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में समाजसेवा का जो स्थान है वह अन्यत्र बहुत कम पाया जाता है। जिस ढंग व तरीके से जैन-मुनि समाज सेवा करते हैं, यदि इस प्रकार का व्रत भारत के अन्य साधु भी अंगीकार करलें तो भारत वर्ष का सामाजिक जीवन प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त हो सकता है। आज समाज में अनेक बुराइयोंने अपना स्थान बना लिया है जिसके कारण हमारा सामाजिक जीवन पतन की ओर बढ़ रहा है और इसी कारण हमारा धार्मिक जीवन भी शुद्ध स्वरूप में नहीं रहा है। केवल मात्र रूढी रूप ही धार्मिक जीवन बन गया है। कभी २ रूढ़ियां भी धार्मिक व सामाजिक जीवन को बनाये रखने के लिये बड़ी मदद करती हैं; किन्तु उन में भी समझदारी की बड़ी आवश्यकता होती है।

जिस समय सामाजिक या धार्मिक जीवन की पवित्रता के लिये कोई यम-नियम या रीत-रीवाज चलाया जाता है उस समय उसकी आवश्यकता बहुत ही महत्वपूर्ण व लाभदायी होती है। धीरे २ कई वर्षों के बाद उन यम-नियमों और रीत-रीवाजों में इतनी बुराइयां अपना घर बना लेती हैं या उन में इतनी विकृतियां पैदा हो जाती हैं कि वेहीं यम-नियम या रीत-रीवाज जो हमारा कल्याण करने वाले थे, हमारे ही पतन के कारण बन जाते हैं। इन्हीं के सुधार के लिये मुनिसमाज की जरूरत है।

श्रीयतींद्रसूरिने भी १४ वर्ष की बाल्यवय से समाजसेवा का जो व्रत अंगीकार किया आज दिन तक पैदल विहार कर के गांव-गांव, शहर-शहर, जिल्ले-जिल्ले, प्रान्त प्रान्त में घूम कर सामाजिक व धार्मिक जीवन का अध्ययन, मनन व परीशीलन किया और उस के साथ २ उपदेश देकर मानवसमाज को पतन के गर्त से बचाया। मानवजीवन में जो पाशविक बुराइयां अपना स्थान बना लेती हैं उनको दूर करने में सतत प्रयत्न किया यह मानव जीवन में कम सेवा नहीं है। मानव को मानव बनाये रखना और धीरे २ मानव को आत्मकल्याण की ओर अग्रसर कर के परमात्म स्वरूप बना देना यह कम समाजसेवा नहीं है। इसी समाज सेवाने भारत में अनेक ऋषि-महर्षियों को जन्म दिया है और उनका जीवन आज संसार के लिये अनुकरणीय बन गया है।

पूर्व महर्षियोंने अनुभव प्राप्त कर के संसार के सामने ज्ञान का निचोड रक्खा है। उसी ओर आप भी अपना कदम बढाते चले गये और धीरे २ ज्ञान की ज्योति का प्रकाश आप में अपने आप प्रकट होने लगा। आप के गुरु स्व जैनाचार्य श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरिजीने भी आप को प्रतिभाशाली और बुद्धिमान् देख कर आप की इस ज्ञानोपार्जन की तपश्चर्या में पूरा २ सहयोग दिया और शुभाशीर्वाद दिया। जिस के फल स्वरूप आज आप की गिनती अच्छे विद्वानों में मानी जाती है।

आपने गुरु आचार्य श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी से दीक्षा अंगीकार कर निरन्तर उन की आज्ञा में रत रहे। उनकी सेवा-सुश्रुषा में कमी किसी तरह कमी नहीं आने दी। लगातार ९ वर्ष अपने गुरु के साथ रहकर उन के अनुभव व सहचारिता का लाभ उठाया। अन्त में स्व० श्री राजेन्द्रसूरीजी कृत 'अभिधान राजेन्द्र कोष' की रचना का महत्वपूर्ण कार्य अपने जीवन में समाप्त किया। जिस के लिये गुरुवर्य्यने लगातार १४ वर्ष पर्यन्त दीर्घ तपश्चर्या की थी। उसी की देन है कि आज संसार का विद्वद्समाज इस कोष से लाभ उठा रहा है। श्री राजेन्द्रसूरिजी ने कोष की रचना अपने जीवन में कर दी किन्तु इस के मुद्रण का कार्य अधूरा रहा। वे अपनी इच्छा को अपने जीवन में पूर्ण नहीं कर सके। उन्होंने अपने विद्वान् शिष्यों की ओर अन्तिम समय एक तरस निगाह से देखा। उनकी तरस निगाह का कहना यही था कि मेरा 'अभिधान राजेन्द्र' कार्य जो अधूरा रह गया वह किसी भी तरह पूरा हो जाय। उनके विद्वान् शिष्योंने गुरु की इस भावना को दृढ प्रतिज्ञ होकर अंगीकार की और उसी दिन से 'अभिधान राजेन्द्र कोष' के मुद्रण की योजना कार्यरूप में परिणित कर दी गई १७ वर्ष पर्यन्त स्व० श्री भूपेन्द्रसूरि व वर्तमानाचार्य श्रीयतीन्द्रसूरिजी ने दीर्घ तपश्चर्या कर के अभिधान राजेन्द्र का मुद्रणकार्य समाप्त किया। श्री यतीन्द्रसूरिजीने अपने जीवन में सब से बड़ी व संसार को सुखदायी यह गुरुसेवा की। अपने गुरु के स्वर्गवासी हो जाने के बाद भी गुरु के ऋण से उऋण होने के लिये जो प्रयत्न किया है वह कम नहीं कहा जा सकता। इनका जीवन शिष्यों के लिये एक दृष्टान्त रूप है। ऐसे दृढतर व महान् कठिन कार्य में समाजने भी ४ लाख रुपये खर्च कर के गुरु भक्ति का एक बहुत बड़ा परिचय संसार को दिया।

श्रीयतीन्द्रसूरि ने 'अभिधान राजेन्द्र कोष' की साधना के समय अनेक ग्रन्थों की रचना एवं सम्पादन-कार्य किये। आज भी आपकी यह परिपाटी चालू ही है। आपने अनेक ऐसे उपयोगी ग्रन्थों को जन्म दिया है कि वाग्बुद्धिजीवी लोग प्रति दिन इन से लाभ उठा रहे हैं। साहित्यसृजन का कार्य मनुष्य अधिक रूप में एक ही स्थान पर बैठ कर करने में अधिकतर फलता प्राप्त कर सकता है, किन्तु आप का विहार, उपदेश व अन्य धार्मिक प्रवृत्तियां, उत्सव महोत्सव चालू रहते हुए भी आपने साहित्यिक क्षेत्र में महान् सेवा की है। आप की यही कृतियां सैकडों और हजारों वर्षों तक आप के नाम को अजर-अमर बनाने में सहायक हो सकेंगी। यह अत्यन्त खुशी का विषय है कि आपने जितनी भी साहित्य-रचना की है वे सब मुद्रित हो चुकी हैं,

संसार के सम्मुख आ चुकी हैं। रचना के साथ २ संसार की जनता को इस का पूरा २ लाभ भी मिलता जा रहा है।

इस साहित्य-रचना के साथ २ आप का समाज-सेवा में भी कम स्थान नहीं है। जैन मुनि जिस दिन से अपने जीवन में साधुजीवन की दीक्षा अंगीकार करता है सामाजिक व धार्मिक सेवा का व्रत भी उसी के साथ २ अंगीकार हो जाता है। जैन मुनियों की सामाजिक व धार्मिक सेवायें शुद्ध व निःस्वार्थ होती हैं। जैनमुनि पैदल विहार व परमित उपधी (परिग्रह) पंच महाव्रत, पैसे-टके से विल्कुल विलग रह कर अपने यम-नियमों का बाना पहन कर गांव २ सामाजिक और धार्मिक उपदेशों के द्वारा सच्ची समाजसेवा करते हैं।

आज भारत वर्ष में जैन मुनियों का सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में समाजसेवा का जो स्थान है वह अन्यत्र बहुत कम पाया जाता है। जिस ढंग व तरीके से जैन-मुनि समाज सेवा करते हैं, यदि इस प्रकार का व्रत भारत के अन्य साधु भी अंगीकार करलें तो भारत वर्ष का सामाजिक जीवन प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त हो सकता है। आज समाज में अनेक बुराइयोंने अपना स्थान बना लिया है जिसके कारण हमारा सामाजिक जीवन पतन की ओर बढ़ रहा है और इसी कारण हमारा धार्मिक जीवन भी शुद्ध स्वरूप में नहीं रहा है। केवल मात्र रूढी रूप ही धार्मिक जीवन बन गया है। कभी २ रूढ़ियां भी धार्मिक व सामाजिक जीवन को बनाये रखने के लिये बड़ी मदद करती हैं; किन्तु उन में भी समझदारी की बड़ी आवश्यकता होती है।

जिस समय सामाजिक या धार्मिक जीवन की पवित्रता के लिये कोई यम-नियम या रीत-रीवाज चलाया जाता है उस समय उसकी आवश्यकता बहुत ही महत्वपूर्ण व लाभदायी होती है। धीरे २ कई वर्षों के बाद उन यम-नियमों और रीत-रीवाजों में इतनी बुराइयां अपना घर बना लेती हैं या उन में इतनी विकृतियां पैदा हो जाती हैं कि वेही यम-नियम या रीत-रीवाज जो हमारा कल्याण करने वाले थे, हमारे ही पतन के कारण बन जाते हैं। इन्हीं के सुधार के लिये मुनिसमाज की जरूरत है।

श्रीयतींद्रसूरिने भी १४ वर्ष की बाल्यवय से समाजसेवा का जो व्रत अंगीकार किया आज दिन तक पैदल विहार कर के गांव-गांव, शहर-शहर, जिल्ले-जिल्ले, प्रान्त प्रान्त में घूम कर सामाजिक व धार्मिक जीवन का अध्ययन, मनन व परीशीलन किया और उस के साथ २ उपदेश देकर मानवसमाज को पतन के गर्त से बचाया। मानवजीवन में जो पाशविक बुराइयां अपना स्थान बना लेती हैं उनको दूर करने में सतत प्रयत्न किया यह मानव जीवन में कम सेवा नहीं है। मानव को मानव बनाये रखना और धीरे २ मानव को आत्मकल्याण की ओर अग्रसर कर के परमात्म स्वरूप बना देना यह कम समाजसेवा नहीं है। इसी समाज सेवाने भारत में अनेक ऋषि-महर्षियों को जन्म दिया है और उनका जीवन आज संसार के लिये अनु-करणीय बन गया है।

इसी सामाजिक धार्मिक प्रवृत्ति को स्थायी बनाये रखने के लिये किसी एक अच्छे स्मारक की जीवन में आवश्यकता होती है कि जिसको देख कर मानव प्रकृति थोडे समय के लिये स्थिर हो जाय, मानव अपनी चंचल प्रवृत्ति पर काबू प्राप्त करता रहे। इसी बात को सोच कर पूर्व महर्षियोंने संसार में मंदिरों और मूर्तियों की परंपरा को कायम की।

मन्दिर व मूर्तियों ने इतिहास को जीवित रखने में, प्राचीन कला व संस्कृति को जीवन-दान देने में मानवप्रकृति को स्थायित्व प्रदान करने में जो सहयोग दिया है वह अन्य किसी वस्तु से प्राप्त नहीं हो सका है।

एक कारीगर द्वारा बनाई हुई पाषाणमूर्ति में प्राणप्रतिष्ठा के द्वारा भगवान् का स्वरूप पैदा किया जा सकता है तो कोई कारण नहीं है कि यह मूर्ति भी मानव-जीवन को आगे बढाने में सहायक नहीं बन सक्ती है। मनुष्य काच में देख कर अपनी शकल व सूरत की अच्छाई व बुराई को पहिचान सकता है। उसी प्रकार किसी भी मूर्ति को सामने रख कर मनुष्य अपनी जीवन की भलाई व बुराई की ओर अपना ध्यान आकर्षित कर सकता है।

भारत वर्ष की सैंकडों व हजारों वर्ष पुरानी संस्कृति आज भी मन्दिर व मूर्तियों के खंडहरों द्वारा जीवित दिखाई दे रही है और उसी का उदाहरण व दृष्टान्त पेश कर के विद्वान् प्राचीनता को सिद्ध कर रहे हैं। यदि भारतवर्ष के इतिहास में इन मन्दिर मूर्तियों व स्मारकों के प्रकरणों को अलग रख दिया जाय और कहा जाय कि बताओ कि भारत वर्ष की जीति और जागती संस्कृति कैसी और क्या थी तो उस के लिये हमारे पास कोई जवाब नहीं है। केवल शास्त्रों के प्रमाण ही मनुष्य देता है, किन्तु शास्त्रों के प्रमाण उतने पुराने नहीं हैं तथा हो सकता है कि किन्हीं ग्रन्थों में समयानुसार काल्प निकता की झलक भी पाई जाती हो जिस से वास्तविक स्वरूप तक पहुचने में बडी ही कठिनाइ होगी व आत्मा के अन्दर असमञ्जस, असन्तोष की प्राप्ति होगी।

इस से यह नहीं मान लेना चाहिये कि शास्त्र प्रमाण प्रामाणिक नहीं है। शास्त्र अवश्य प्रामाणिक हैं और शास्त्रोंने भी संसार को नैतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक व आध्यात्मिक जीवन देने में बडी मदद की है, किन्तु इतिहास को जीवित रखने में मन्दिर व मूर्तियोंने जो सहायता दी है वह अन्य किसी चीजने नहीं दी है। मोहन जोदरा व मथुरा के कंकालीटीलों की खुदाई उसके साक्षात् प्रमाण हैं।

उसी मार्ग का अवलम्बन कर के श्रीयतीन्द्रसूरिने भी अपने जीवन में सैकडों मूर्तियों की प्राणप्रतिष्ठा की, हजारों मूर्तियों को देवालय व मन्दिरों में विराजमान कर इतिहास को एक नया रूप दिया है। जब तक ये मन्दिर व मूर्तियां संसार में कायम रहेंगी उस समय तक यह इतिहास, कला व संस्कृति जीवित रहेगी। इन मूर्तियों की प्रतिदिन पूजने वाले मूर्तियों को देख कर अपनी आत्मा में अवश्य ही शान्ति का अनुभव करते हैं। थोडी देर के लिये ही सही, अपनी लौ परमात्मा की ओर लगाते

हैं। अपनी प्रतिदिनकी बुराई व भलाई की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। यह मन को स्थिर करने में कम उपयोगी नहीं है।

मानवप्रकृति तो स्वभावतः हमेशा पतन की ओर अधिक अग्रसर होती है। उसको रोकने के लिये, उसको बचाने के लिये, उसको उठाने के लिये, धार्मिक जीवन बनाये रखने के लिये, कला व संस्कृति को जीवित रखने के लिये इन मन्दिर और मूर्तियोंने मानव की बड़ी मदद की है। जिन्होंने मन्दिर व मूर्तियों का साधन उपयुक्त नहीं समझा है व जिन्होंने इन से दूर रहने की कोशीष की है उनका इतिहास अंधेरे में अधूरा रह गया है। आज तो उन की संस्कृति कथानक के रूप में रह गई है। किसी २ की संस्कृति तो बिलकुल नष्ट हो गई है और उनका नामनिशान ही संसार से नष्ट हो गया है। अपनी संस्कृति को कायम व स्थायी रूप में रखने के लिये श्री यतीन्द्रसूरिने पूर्वाचार्यो के मार्ग का अनुसरण कर के हजारों मूर्तियों के इतिहास को जीवनदान दिया। साथ ही जैन संस्कृति व कला को जीवित रखने में एक बड़ी मानवसेवा की है।

मनुष्य स्वभावतः सुख को चाहता है और दुःख के पास किंचितमात्र भी फटकना नहीं चाहता है और यदि उस को पहिले से मालूम हो जाय कि सामने से दुःख आ रहा है तो वह उस से बचने की या उस से संघर्ष लेने की अपनी पूर्ण तैयारी करने लग जाता है, चाहे भविष्य कुछ भी हो। दुःख की कल्पना कभी कोई स्वप्न में भी नहीं करता है, न दुःख को बुलाने की ओर कोई कदम ही उठाता है। फिर भी दुःख स्वभावतः मान लीजिये, मानव-जीवन की परीक्षा के लिये आ ही जाता है। जो व्यक्ति उस को बल पूर्वक सहन कर लेता है वही विजयी माना जाता है और जो रो-रो कर इस को भुगतता है वही निर्बल और डरपोक कहा जाता है।

संसार में ऐसे अवतारी पुरुष हुए हैं जिन्होंने दुःख को दुःख नहीं माना है, परंतु उस को सुख रूप मान कर इतना सहन किया है कि एक कान से दूसरे कान को भी यह भनक नहीं पड़ी कि यह व्यक्ति महान् दुःखी है, इस के उपर दुःख का पहाड़ खड़ा है।

भगवान् महावीर जिस समय जंगल के अंदर तपश्चर्या कर रहे थे उस समय उन के उपर बहेलियों, देवताओं आदि ने जो दुःख के पहाड़ खड़े किये हैं जिनको केवल मात्र आज सुनने से रोंगटें खड़े हो जाते हैं। वहां उन्होंने इन को बड़ी ही सावधानी पूर्वक सहन किया हैं। किसी के सामने अपने दुःखों की गाथाओं को नहीं सुनाया हैं। एक वक्त इन्द्रने भी आकर उन के उपसर्गों व दुःखों को सहन करने में मदद करने के लिये प्रार्थना की, किन्तु उस वीर प्रभुने इन्द्र की प्रार्थना को ठुकरा दिया। उन्होंने क्षणभर के लिए भी इन्द्र की ओर आंख उठाकर नहीं देखा।

जैन धर्म में इसी दुःख और सुख की समानता लोहे और स्वर्ण की बेड़ी से की है। दो व्यक्तियों में से एक को लोहे की और दूसरे को सोने की बेड़ी पहना कर दौड़ाया जाय तो कल्पना कीजिये दोनों के पैरों में क्या अलग २ तरह का दुःख का अनुभव होगा। यदि उस में से सोने की बेड़ी वाले को पूछा जाय कि क्या तुझे सोने की बेड़ी से मीठे दुःख का अनुभव हुआ? और लोहे की बेड़ीवाले को पूछा जाय कि क्या तुझे कड़वे दुःख का अनुभव हुआ है? तो उन दोनों में से कोई मीठे या कड़वे का अनुभव नहीं बतायेंगे। उनके पैरों में लगने की क्रिया व उस से पैदा हुए दुःख का अनुभव एकसमान होगा।

इसी प्रकार जो सांसारिक अवस्था में रहता है उसके लिये सुख और दुःख दोनों अलग २ चीजें हैं और वह स्वभावतः दुःख से दूर रहना चाहता है और सांसारिक सुख को प्राप्त करने की हर समय प्रवृत्ति करता रहता है। चाहे वह सुख क्षणिक ही क्यों न हो। इन दोनों चीजों से उपर ऊठने के लिये महर्षियोंने त्याग और तपश्चर्या का एक और मार्ग बताया है कि जो उपर से दुःखमय प्रतीत होता है। किन्तु उस के अन्दर महान् सुख रहा हुआ है। मनुष्य त्याग को और तप को दुःख रूप मान कर चलता है, इन से वह दूर भागना चाहता है; किन्तु जिसने इनको अपने जीवन में ग्रहण किया है, जीवन में इन का परिपालन किया है, जीवन की डोरी को इन के साथ संलग्न किया है–वे अपने आप को महान् सुखी समझ रहे हैं और उन्हें वास्तविक सच्चे सुख का अनुभव हो रहा है।

जिन्होंने जन्म से सांसारिक सुखों का अनुभव नहीं किया है, उन को अपना त्यागमय जीवन ही सुखमय प्रतीत होता है। वे उसीमें रह कर आत्मानुभव का वास्तविक सुख उठाते हैं। उसी की थोड़ी–बहुत झलक जैन मुनियों में पाई जाती है।

जैन मुनि अनुसरण तो उसी का कर रहे हैं, उसी वास्तविक वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न भी करते हैं, अपनी प्रवृत्तियां भी वैसी बनाते हैं; फिर भी आस-पास का वातावरण, अपनी खुद की निर्बलता, ज्ञान की कमी, क्रिया की कमजोरी उस लक्ष्यतक पहुंचने में बाधक बन रही है।

जैनमुनियों के आचार–विचार के परिपालन की जो मर्यादा शास्त्रकारोंने बनाई है, यदि उसीका अनुसरण कर के मनुष्य चलता रहे तो वह किसी न किसी एक दिन अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है; किन्तु उस मार्ग का परिपालन ही बड़ा कठिन है और उस ओर कम प्रवृत्ति होती है। केवल मात्र वेश पहन लेने से कोई वास्तविक साधु या गृहस्थ नहीं बन जाता है। किन्तु उस के स्वभावतः नियमों के पालन करने से ही वह साधु और गृहस्थ कहलायगा।

श्री यतीन्द्रसूरि का जीवन भी जन्म से ही साधुमय रहा। उन्हें गृहस्थ जीवन

की घाटियों का उतना अनुभव नहीं, जितने साधु-जीवन के उतार-चढ़ाव उन के सामने आये। उन्होंने अपने संघर्षमय साधु-जीवन में हमेशां पतन की ओर ले जानेवाली प्रवृत्तियों का मुस्तैदी से सामना किया, धार्मिक प्रवृत्तियों की थपेड़ों से अपने जीवन की टक्कर लेते रहे। इसी का कारण है कि आज उन्हें वास्तविक साधुजीवन का अनुभव हुआ है। साधु-जीवन में क्या २ कठिनाइयां आती हैं और उन से मनुष्य किस प्रकार ऊंचा उठ सकता है-इन बातों के मार्ग ऐसे ही मुनि प्रशस्त कर सकते हैं, अन्य मनुष्य की वह ताकत नहीं। इन का संपूर्ण जीवन हमेशा त्याग व तपश्चर्या रूप जितने भी अंशों में रहा मानव-जीवन के लिये अवश्य अनुकरणीय है। आज भी वृद्धावस्था व रुग्णावस्था होने पर भी दिन भर वही अपनी धार्मिक यथेष्ठ प्रवृत्तियां चालू हैं। समाज का सारा भार व तमाम जवाबदारियां अपने कंधों पर लेकर चल रहे हैं, शारीरिक निर्बलतायें बढ़ रही हैं, फिर भी अपनी जिम्मेदारी अपने जीवन में निभा रहे हैं-यह समाज के लिये कम बात नहीं हैं।

श्री यतीन्द्रसूरि का आजन्म चारित्र का तेज और प्रताप ऐसा है कि उनके सामने बोलने के लिये किसी की हिम्मत नहीं होती है। हर एक यही समझता है कि इन की स्वभाविक प्रकृति बड़ी ही तेज है, किंतु वास्तविक इस में रहस्य यही हैं कि वे जो कुछ कहते हैं मनुष्य के मुख पर स्पष्ट कहते हैं, और जो स्पष्ट कहनेवाला व्यक्ति होता है उस की प्रकृति हमेशां तेज मालूम होती है। उनके पेट में पाप कुछ नहीं होता है। आप दो मिनिट के बाद ही यदि गूढता पूर्वक देखेंगे तो आप को खुद ही अनुभव हो जायगा। इन की प्रकृति कितनी शुद्ध व सच्ची है, इस सच्चाई का ही कारण है कि उनके सम्मुख छल-कपट आदि की प्रवृत्तियां अपना घर बना नहीं पातीं।

उन्होंने अपने त्याग मय जीवन से बहुत कुछ सीखा, अनुभव किया और उसी की ही देन है कि आज संसार को उनके जीवन से बहुत कुछ सीखने को मिल रहा है। जो भी व्यक्ति इस समय इनके अनुभव का लाभ उठाना चाहे उठा सकता है और अपने जीवन को तपोमय, ज्ञानमय बना कर अपने खुद का व अपने देश का, समाज का कल्याण कर सकता है।

आचार्य श्री की दीक्षा-कुंडली पर एक दृष्टि

ज्योतिषाचार्य पं०—विश्वनाथ, रानापुर

मैं यहां पर कुंडली का कोई फलित नहीं लिख रहा हूं। मेरा तो मात्र यही प्रयास है कि इस कुंडली के सामान्य कुछ योग जो कि आचार्यश्री यतीन्द्रसूरीश्वरजी के जन्मकाल से कई वर्ष बाद जीवन की एक विशिष्ट एवं प्रमुख घटना काल के हैं दीक्षा के पूर्व और पश्चात् भी घटित घटनाओं को प्रकट करते हैं।

आचार्यश्री की जन्मकुंडली उपलब्ध नहीं है। जन्मकाल भी उपलब्ध नहीं है। श्री अरविंदरचित 'गुरु-चरित' में लिखित दीक्षाकुंडली पर ही सामान्य अध्ययन किया गया है और उसीके आधार पर ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं।

दीक्षा-काल—

श्री विक्रमसं० १९५४ शाके १८१९ आषाढ कृष्णा २ तिथि बुधवासरे पूर्वाषाढा में। ईष्टम् १२-५ सूर्य २-२ लग्नम् ४-७ अत्र शुभ समये श्रीमतां दीक्षा मुहूर्तः शुभो जातः।
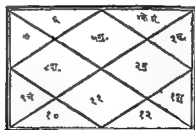
यह कुंडली आपके जन्मकाल से १५ वर्ष बाद की है। किन्तु इसके योग इसके पूर्व की घटनाओं को भी प्रकट करते हैं।

दीक्षा-कुंडली के लग्न-स्थान में सिंहराशि ७ अंश से उदित थी। सिंह स्थिर व क्रूर पुरुषराशि है। सिंहलग्न स्थिरता, दृढता, गंभीरता, साहसिकता और पुरुषार्थता प्रकट करती है। लग्न में गुरु अष्टमेश, पंचमेश होकर वर्गोत्तमी स्थित है। यह गुरु व्यक्ति को दृढ़ध्यान्, उन्नतिशील, निरंतर प्रतिभासंपन्न करता है।

गुरु अधिमित्र के घर का भी है। ऐसे प्रबल गुरु के विषय में भृगुसूत्र में लिखा है कि ऐसे व्यक्ति को सोलहवें वर्ष में महाराज योग आता है। वह लगभग ठीक ही है कि पंद्रहवें वर्ष में आपको दीक्षा देकर महाराज बनाया गया।

सूर्य-लग्नेश होकर नीस्वांश में लाभस्थ है। गुरु अष्टमेश है। चन्द्र से अष्टम में मंगल केतु है। लग्न पर रोगेश शनि की दृष्टि है। ये योग शरीर-स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव डालते हैं। एक से अधिक कमसेकम तीन घटनाएं जीवन में होती हैं जो शरीर-स्थिति को संदिग्ध करती हैं। सिंहराशि शरीर को दृढ तथा गुरु, स्थूल बनाती है। शरीर में वात-कफजन्य व्याधि रहती है। चन्द्र की पापद्वय मध्य स्थिति उदर-सम्बन्धी व्याधि, रक्त की सामान्य गति में अंतर तथा विद्याभवन में होने से बाल्यावस्था में विद्याभ्यास में बाधा प्रकट करता है। मंगलकेतुयोग जीवन में शस्त्र-अग्नि पाषाण-जल तथा विषजन्य भय और शरीर में स्थायी वृण या चिन्ह करता है।

चतुर्थ में शनि है। शनि पापराशि वृश्चिक का शत्रुगृह है। भृगुसूत्र में इस का फल—माता का विनाश, सुख का विनाश, निर्धनता आदि लिखा है। आप की ५-६ वर्ष की वय में ही माता का अवसान तथा ८-९ की उम्र में पिता का भी। शनि की दशम पर दृष्टि, पितृकारक सूर्य का नवमांश में जाना—ये योग पितृसुख से वंचित करते हैं, पैत्रिक सम्पत्ति से भी वंचित करते हैं।

चंद्रमा पंचम स्थान में धनराशि का गुरु, दृष्ट शुभनवांस्थ तथा पूर्ण है। इसके विषय में भृगुजी लिखते हैं कि-पूर्णचन्द्र हो तो बलवान्, अभयदान में प्रीति, अनेक विद्वानों का कृपाप्रसाद रूप ऐश्वर्य प्राप्त होता है, विजय होती है, सत्कर्मकर्ता, भाग्यशाली, राजयोगी, ज्ञानसंपन्न होता है। सभी जन्म से ही प्रत्यक्ष ही हैं।

षष्ठ में राहु है। स्वामी शनि से षष्ठ स्थान दृष्ट है। मंगल की भी दृष्टि है राहु राजयोगकारक है और मंगल भी अपनी उच्च राशि को देखने से यही फल करता है। रोग-स्थान इस प्रकार पापाक्रान्त होने से शरीर में वृणादि व्याधि करता है।

शुक्र भाग्य स्थान में है। इस के फल में भृगुसूत्र में लिखा है कि—शुक्र नवम में रहे तो धार्मिक, तपस्वी, अनुष्ठानपरायण पादरमें उत्तम चिन्हयुक्त, अश्व आंदोलनी-शिबिका-आदि वाहन युक्त होता है। शुक्र ही पराक्रमेश और दशम-राज्यकर्ममान का स्वामी है। पराक्रम को देखता भी है; अतः अत्यन्त पुरुषार्थी, निराशारहित, अत्यंत प्रवासशील, महान् पूज्यता, धर्म का विशेपक्ष करता है। अनेक धर्मकार्यों व ग्रंथों का कर्तापन भी प्राप्त होता है।

बुध दशम में अनेक सत्कार्यों की सिद्धि देता है। प्रतिष्ठावृद्धि, विस्तृत कीर्ति प्रदान करता है।

इस कुंडली के मोक्षत्रिकोण के स्थानों में ब्राह्मण राशियां हैं। गुरुचन्द्र का नवम पंचम योग, धर्म त्रिकोण के स्थान, समस्त शुभ ग्रहों की स्थिति तथा ग्रहों का पृथक-पृथक आठ स्थानों में रहना-यह धर्ममार्ग के प्रति प्रगाढ प्रेम, मोक्ष, धर्माचरण तथा प्रव्रज्या योग कहते हैं।

निष्कर्ष—

यह कि धनुर्धरस्थ शनि ने मातृ-पितृ सुख से वंचित किया। राहु और मंगल के कारण मामा से सुख-दुःख दोनों मिले। विद्याध्ययन में कितनी ही कठिनाइयां आईं। जन्मभूमि से प्रायः जीवन का अधिकांश भाग दूर, अति दूर व्यतीत होना। धार्मिक ज्ञान की उपलब्धि, उत्तमगुरु की प्राप्ति, बाल्यावस्था में ही घर, माता, पिता तथा भाई-भगिनी आदि से वियोग इत्यादि सभी बातें इस दीक्षाकुंडली में स्थित ग्रहयोगों से फलित होती हैं। शरीर के विषय में भी ग्रहयोग ठीक-ठीक घटित होते हैं। चन्द्र से सप्तम अष्टम सूर्य मंगल केतु गुप्तांग में व्याधि करते हैं। तथा शल्यक्रिया करवाते हैं। एक से अधिक बार रोग से आक्रांत होकर अंतिम स्थिति के निकट पहुंच जाना इत्यादि सभी बातें इस दीक्षाकुण्डली के संपूर्ण ग्रहयोगों से प्रगट होती हैं। अलम् विस्तरेण।

आचार्य श्री की साहित्य-साधना

लेखक: निहालचंद फोजमलजी जैन, खुडाला. मंत्री,श्री राजेंद्रप्रवचन् कार्यालय

भारतीय संस्कृति विभिन्न धर्मों, मतों व जातियों की संस्कृति का समन्वय है। भिन्न २ समय में इस संस्कृति ने अपना स्वरूप जरूर बदला; लेकिन इसके साथ ही उसने इन संस्कृतियों को अपने अन्दर आत्मसात् कर लिया। वैदिक काल में हिन्दू और जैन धर्म की कला, दर्शन, साहित्य व शिल्पकला का भारतीय संस्कृति पर प्रभुत्व था। धीरे २ बुद्ध धर्म के विकाश के साथ ही भारतीय संस्कृति विश्व-संस्कृति बन गई। भारतवर्ष पर समय २ पर उत्तर-पश्चिम के पहाड़ी दर्रों से आक्रमण हुए और आक्रान्तों ने भारतीय संस्कृति को समूल नाश करने व उसका स्थान अपनी संस्कृति को देने के विफल प्रयत्न किये; लेकिन भारतीय संस्कृति ने अपनी महानता, विशालता और परिपक्वता के कारण खुद आत्मसात् होने के बजाय, आक्रान्त संस्कृति को आत्मसात् कर लिया।

जैन संस्कृति अपनी कला व साहित्य की दृष्टि से हमेशा अग्रगण्य रही। मुसलमानों के आक्रमणों से जैन संस्कृति को बहुत हानि हुई।

किसी भी जाति अथवा धर्म के उत्थान व पतन में उस जाति के साहित्य का प्रमुख स्थान रहा है। जब २ जैन धर्म मरणासन्न अवस्था में पहुँचा, महान् तीर्थंकरों व महान् विभूतियों ने समय २ पर जन्म लेकर समाज व धर्म की बुराइयों को दूर किया। चौवीस तीर्थंकरों का चरित्र हमें बताता है कि भिन्न २ समय में तीर्थंकरों ने सारी दुनिया को बोध दिया और श्रमणसंघ की स्थापना की। उनकी मुक्ति के बाद उनके गणधरों ने उनके महान् वचनों व उपदेशों को साहित्य का रूप दिया। हिन्दू-काल व मुगलकाल में भी अनेक महान् आचार्य हुए जिन्होंने साहित्य के बल पर सम्पूर्ण श्रमण-संघ को संगठित व जाग्रत किया।

मुगल साम्राज्य के ह्रास के साथ ही-साथ जैनधर्म पर साधुओं का प्रभुत्व कम हो गया और यति लोगों का जैन-संस्कृति, साहित्य व कला पर आधिपत्य हो गया। लेकिन यतियों के प्रभाव में आकर जैन-धर्म का पतन होने लगा और समाज आलस्य, विलास और रूढिवाद की ओर अग्रसर हुआ। ऐसे विकट समय में दो महान् आचार्यों ने जन्म लिया जिन्होंने जैन-धर्म पर से यतियों का जुड़ा उतार कर उसे वापिस असली स्वरूप प्रदान किया। उन महान् नेताओं के नाम हैं (१) श्री आत्मारामजी (२) विजयराजेन्द्रसूरिजी। राजेन्द्रसूरिजी ने अपने जीवन काल में दो महान् कार्य किये—(१) जैन-धर्म में से गन्दगी निकाल कर उसे नया व असली स्वरूप दिया। (२) प्राकृत, संस्कृत, पाली व मागधी में लिखित जैन साहित्य के मर्म

व गूढ तत्त्वों को समझाने के लिये एक ऐसे कोष का निर्माण किया जिसकी सहायता से प्राचीन ग्रन्थों को सरल भाषा में सर्वसाधारण जनता के सामने प्रस्तुत कर सकें।

श्री राजेन्द्रसूरिजी के स्वर्गवास होने के बाद त्रिस्तुतिक सिद्धान्त को कई पंडितों की आलोचना का सामना करना पड़ा। समाज में इस मत को जीवित रखने के लिये तर्क व साहित्य की जरूरत थी जिसके बल पर न केवल टीका-टिप्पणी का जवाब दिया जा सके, वरन् समाज को ऐसे सिद्धांत का बोध कराया जावें जिससे कि समाज रूढी, ढोंग, आडम्बर व पोपलीला को छोड़कर भक्ति के असली मर्म को समझें। उस समय भक्ति का मर्म था किसी भी तरह उपासना के देवता को खुश करें जिससे धन व ऐश्वर्य की वृद्धि होवें अर्थात् इस मर्म से समाज में मोह, माया, लोभ व व्यभिचार का बीजारोपण हुआ जो कि जैन शासन, दर्शन व सिद्धान्तों के बिल्कुल विरुद्ध था। गुरुदेव के अधूरे कार्यों को पूर्ण करने का श्रेय श्रीमद् यतीन्द्र सूरिजी महाराज को है जिन्होंने साहित्य को प्राथमिकता देकर जैन शासन की अद्‌भुत व अमूल्य सेवा की है। उन्होंने अपनी तर्कशक्ति के बलपर त्रिस्तुतिक सिद्धान्त की जड़ को मजबूत किया जिसके परिणाम-स्वरुप समाज में एक क्रान्तिकारी चेतना फैली।

विजय यतीन्द्रसूरिजी के साहित्य को हम निम्न श्रेणियों में बांट सकते हैं—

(१) सम्पादन-कार्य
(२) ऐतिहासिक व भौगोलिक साहित्य
(३) व्याख्यान-साहित्य-माला
(४) धार्मिक व समालोचनात्मक लेख

(१) सम्पादन कार्य—राजेन्द्रसूरिजी द्वारा रचित 'श्री अभिधान राजेन्द्र' महान् कोष का आपने २४ वर्ष की अल्प आयु में ही सम्पादन कर, प्रकाशित कर, उसे प्रकाशित करवाया जिससे जैन-धर्म के महान्-ग्रन्थ जो कि संस्कृत, पाली व मागधी भाषा में लिखे हुए हैं, को समझने का एक बड़ा साधन मिल गया। भारतवर्ष में यह मागधी व प्राकृत भाषा का सबसे महान् कोष है।

(२) ऐतिहासिक व भौगोलिक साहित्यः—आपने करीब १२ पुस्तकें इस श्रेणि के साहित्य पर लिखी हैं। आचार्य श्री ने अपने जीवन में मालवा, राजस्थान, गोडवाड़, सिरोही, बनासकांठा, गुजरात, सौराष्ट्र आदि प्रान्तों में चौमासे किये। वहा के एवं अपनी जिन्दगी में देखे हुए समस्त नगरों, तीर्थों, ग्रामों का आपने ऐतिहासिक व भौगोलिक वर्णन साधार लिखा है। इस श्रेणि में आपकी निम्न पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध हैं—

(१) श्री यतीन्द्र विहार दिग्दर्शन १-२-३-४ भाग, (२) मेरी गोड़वाड़ यात्रा, (३) कोरटाजी का इतिहास, (४) मेरी नेमाड़ यात्रा।

इन पुस्तकों में शिलालेखों, ताम्रपत्रों, प्रतिमा लेखों, व पट्टे-परवानों का परिचय होने से इनका महत्त्व पुरातत्त्व दृष्टि से बहुत बढ गया है।

(३) व्याख्यान-साहित्य माला :— श्री यतीन्द्रसूरिजी का स्थान व्याख्यानकला की दृष्टि से जैनाचार्यों में बहुत ऊंचा है। हाजिर-जवाबी में तो आप जैन-समाज में सर्व प्रथम है। आपका भाषण सरल व मुहावरेदार भाषा में होता है। धार्मिक कहानियों से आगम-निगम के कठिन प्रश्नों को जोड देने से आपके व्याख्यान और भी निखर जाते हैं। आपके व्याख्यानों की बहुत सी कितावें मुद्रित हो गई हैं और उनमें निम्न बहुत प्रसिद्ध हैं—

(१) भाषण सुधा (७ व्याख्यानों का संग्रह), (२) श्री यतीन्द्र प्रवचन [हिन्दी] प्रथम भाग, (३) समाधान-प्रदीप, (४) सत्यसमर्थन प्रश्नोतरी, (५) मानव-जीवन का उत्थान आदि

(४) धार्मिक व आलोचनात्मक साहित्य :— यतीन्द्रसूरिजी ने अनेक धार्मिक कितावें लिखीं। उन कितावों को हम ३ भागों में वांट सकते हैं—(१) महान् पुरुषों के जीवन-चरित्र (२) धार्मिक आलोचनात्मक लेख (३) स्तवन व पूजा संग्रह। पहली श्रेणि में निम्न कितावें बहुत प्रसिद्ध हैं—

(१) जीवन-प्रभा, (२) अघटकुमार, रत्नसार, हरीवलधीवर चरित्र, (३) जगड्डूशाह चरित्र (गद्य), (४) कयवन्ना चरित्र (गद्य), (५) चम्पकमाला चरित्र [गद्य], (६) राजेन्द्रसूरीश्वर जीवन-चरित्र, (७) सत्पुरुषों के लक्षण, (८) मोहनं-जीवनादर्श

दूसरी श्रेणि (धार्मिक आलोचनात्मक) में निम्न पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध हैं—

[१] तीन स्तुति की प्राचीनता, [२] भावना स्वरूप, [३] सूक्तिरस लता, [४] लघु चाणक्यनीति, [५] पीतपटाग्रह मीमांसा, [६] जीवभेद-निरुपण अने गौतमकुलक (७) प्रकरण चतुष्टय, (८) स्त्री-शिक्षा प्रदर्शन, (९) गुणानुरागकुलक, (१०) तपःपरिमल—

आचार्य महाराज की सेवा को केवल इसी दृष्टि से नहीं आँका जा सकता है कि उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं, वरन् उन्होंने साहित्य लिखने में बहुत से तरुणों को प्रोत्साहन दिया। आचार्य महाराज इस कलिकाल में उन साधुओं में से हैं जिन्होंने समाज के उत्थान के लिये साहित्य के महत्त्व को समझा। यही कारण है कि अपने गुरु के स्वर्गवास के बाद उन्होंने 'राजेन्द्र अभिधान कोष' को सम्पादन कर, उसे प्रकाशित कराने का बीड़ा उठाया। निसन्देहः प्रकाशन की वह घड़ी जैन-समाज के

इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी। जैन साहित्य के गूढ तत्वों को समझने की चाबी मिल गई। यही नहीं, साहित्य के प्रचार के लिये उन्होंने जगह २ पर कार्यालयों की स्थापना कराई जहां से सर्व जनता को पुस्तकें सस्ते दामों में मिल सकें। बहुत सी किताबों का मूल्य उन्होंने "सदुपयोग", "पठन पाठन" रखवाया। बहुत सी किताबों का मूल्य नाम मात्र है। ये बात सिद्ध है कि आचार्य महाराज ने केवल साहित्य की ही साधना नहीं की, वरन् साहित्य के द्वारा समस्त जैन-शासन की महान् सेवायें की हैं। वे चिरायु हों, जिससे जैन समाज को उनका मार्गदर्शन मिलता रहे।

आदर्श यतीन्द्र

फुन्दनमल डांगी "प्र. सं. शाश्वतधर्म"

जैन संस्कृति व्यक्ति-पूजा में नहीं, वरन् गुण-पूजा में विश्वास लेकर चली है। सद्गुणों का आराधक तथा दिव्यगणों का साधक ही यहाँ पूजनीय एवं श्रद्धेय होता है। सद्गुण ही जन-मन में अपना विशेष स्थान बनाता है।

प्रातः स्मरणीय परमपूज्य गुरुदेव श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज वर्तमान जैनाचार्यों में एक सद्गुणों की साकार मूर्ति है। आप का तेजस्वी चहरा, भव्यभाल, मधुर वाणी, अखण्डब्रह्मचर्य, शुद्ध चारित्र अलौकिक एवं चित्ताकर्षक हैं। आप सदैव तत्वचिन्तन, साहित्यसेवा, शास्त्रावलोकन में ही अपना समय निर्गमन करते हैं।

गुरुदेव के अनेकानेक सद्गुणों से प्रेरित होकर ही मैं भूला-भटका पथिक प्रतिकूल मार्ग से अनुकूल मार्ग पर आसका; अतः उन परमोपकारी गुरुदेव के दीक्षापर्याय के ६० वर्ष पूरक हीरक-जयन्ती उत्सव के शुभावसार पर उनके अलौकिक गुणों का आलेख आंग्ल एवं उर्दू भाषा के इस लुघु कविता में अनेकानेक शुभाकांक्षाओं के साथ कोटिशः वन्दन सहित समर्पण करता हूँ।

परम पवित्र गुरु श्री यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

His Holiness Gurù Yateendrasoori
Is holy worthy Gentle-man
His birth place is Dhaulpur
In Agra district town One;

पाकीजा[1] दिल गुरु यतींद्र सूरि
है पण्डित आलिम[2] और कामिल[3]।
है जन्म धवलपुर कस्बे का,
जो आगरा दिल्ले में शामिल ॥

He has a mild and gentle heart,
And follows rules of his master,
He shows mercy on all alive,
And many good works he has done,

दिल जिसका पाक और साफ खरा,
फर्मांबरदार[4] है गुरुदेव के।

---

१) पाकीज़ = पवित्र, २) आलिम = विद्वान्, ३) कामिल = पूर्णगुरु, ४) फरमाबरदार = आज्ञाकारी,

जी' रूह पर रखते पक नजर,
हर काम करें नेकी माइल* ॥

This gentle-monk has white dress,
As per order of Mahaveer,
Them, who go against this order,
Advises this gentle-man,

पोशाक* सफेद ही रखते हैं,
जैसा महावीर ने फरमाया ।
इसके बर* अक्स जो चलते हैं,
उनको बतलाया है बातिल+ ॥

He took orders of Jain Sadhu,
In vikram nineteen fifty four,
At the Hands of Rajendrasoori
A worthy famous gentle-man

ली दीक्षा जैन श्वेतांबर की,
राजेन्द्र के दस्ते+मुबारिक से ।
उन्नीस सौ चौपन विक्रम में
हुए जैन श्रमण-संघ में शामिल ॥

Humbly I Pray him O, my Lord,
Make me also virtuous.
'Kundan' is also one of the,
Devotees of this gentle-man

बा अदब+ इल्त+ जा है गुरुवर !,
मुझको भी नेक नसीहत+ दे ।
'कुन्दन' यह भक्त तुम्हारा है,
है तेरी दुआ+ का मैं साइल+ ॥

---

५) जी = जीवात्मा, *) माइल = मिलाहुआ, *) पोशाक = वेष, *) बरअक्स = विरुद्ध,
+) बातिल = असत्य, +) दस्ते मुबारिक = वरद हस्त +) बा अदब = विनय पूर्वक,
+) इल्तजा = प्रार्थना, +) नसीहत = उपदेश, +) दुआ = आशीर्वाद, +) साइल = भिक्षुक

श्रीः विभूतिपूजा

रचयिता — पं. गजानन रामचंद्र करमलकर. शास्त्री, काव्यतीर्थ : सांख्यतीर्थ : साधारण-
दर्शनतीर्थ : भू. पू. प्राध्यापक : संस्कृतमहाविद्यालय : इन्दौर.

कर्तव्या स्तुतिरीश्वरस्य विपुलाऽप्यल्पामनुष्य नो, इति केनचित् कविना समुल्लिखितमस्ति, नैतत् तस्य वचः सर्वथा असत्यम् । किन्तु स न जानाति यत् - या हि मानवस्य स्तुतिः क्रियते, न सा व्यक्तेः किन्तु तध्दृदयवर्तिनः परमेश्वरस्यैव सा इति। यदा वयं कस्यामपि रत्नपाषाणादिनिर्मितायां धातुघटितायां, काचकाष्ठादिविरचितायां प्रतिमायां पुष्पमालादिकं उपचारं समर्पयामः । तदा न अयं उपचारस्तस्यां क्षणविध्वंसिन्यांमूर्तौ समर्पित इति कोऽपि विद्वान् विवेकी वदेत् । किन्तु तन्निष्ठविभूतेरेव सा पूजेति स निश्चिनुयात् । ईश्वरास्तित्वे शंकमानस्य मते तु सा पूजा व्यक्तिनिष्ठगुणानांमेवेति, सुस्पष्टमेव । अत्र प्रमाणं तत्रभवतो भवभूतेरेवेदम्—"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः" परमेश्वरपूजया, भजनेन, ध्यानेन वा तन्निष्ठगुणानां स्वात्मनस्तमोमयेऽन्तःकरणे स्वल्पोऽपि प्रकाशः प्रादुर्भवतु, इत्येवपूजादीनां मुख्योहेतुः यस्याधारेण जगति वर्तमानस्य स्खलनं प्रमादो वा न भवेदयमेव मौलिकोद्देशः

किं च वेदान्तशास्त्रसारभूतोऽयं सिद्धान्तः । यत् जीवःखलु परमेश्वरस्य स्वामिनः सेवक इति ।

> 'यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा'
> तत्तदेवावगच्छ त्वं ममतेजोंऽशसम्भवम् ॥ १

इति. भगवद्गीतैवात्र प्रमाणम् । किं च—

> 'देहबुध्यातुतु दासोऽहं जीवबुध्या त्वदंशकः ।
> आत्मबुध्या त्वमेवाहं इति मे निश्चिता मतिः ॥

इति श्री भगवत्पूज्यपादशंकराचार्याणां वचनमेतत् प्रसिद्धमेव । व्यवहारेऽपि च विशालेनगरे रथ्याचत्वरे तिष्ठतो नगररक्षकपुरुषस्य (पुलिस) सद् असद् वा केनापि कृतं चेत्, तत् तद्राष्ट्रस्यैव भवति, न तत्पुरुषस्य, यतो राष्ट्रपुरुषयोः स्वस्वामिसम्बंधः अकार्थतोऽपि सामान्येनापि ज्ञायते ।

एतेन विरक्तौ येन मानवेन बाल्यादारभ्य आवार्धक्यं ब्रह्मचर्ये स्थित्वा स्वात्मनश्चिन्तनं कुर्वताऽपि लोकोद्धारककार्याणि कृतानि, तथा स्वोपदेशेन उन्मार्गगामिनो गतानुगतिकान् लोकान् सन्मार्गगामिनः कृत्वा सर्वमपिस्वायुः कृतार्थं कृतम्, स एव लोकैः पूज्यते । तस्यैव च पूजा यथार्था, नान्यस्य । श्रीमद्यतीन्द्रसूरीश्वर ! तव हीरकजयन्तीमहोत्सवं कर्तुं समुद्युक्ता जैनजनता—समुचितमेव करोति । यतो महापुरुषेण येन त्वया बाल्यादेव विषयोपभोगलालसां त्यक्त्वा, परममहर्षिणासेवितः पन्थाः समाश्रितः । कथं

न स भवान् स्तुत्यर्हः ? विद्यते फटुसत्यवादिना मारविणा समुल्लिखितमस्ति यद्— 'ह्रियते विषयैः प्रायो वर्षीयानपि मादृशः' इति तत् 'त्वया साधु समारम्भि नवे वयसि यत् तपः' इत्येव त्वद्विषये सत्यमस्ति ।

मन्ये साधुत्वमपि त्वयि यथार्थं दृश्यते । न केवलं बहिरङ्गेण रक्तशुभ्रवस्त्रधारणेन, मुण्डितमस्तकत्वेन, जटामण्डलधारणेन, दण्डकमण्डलुना वा साधुत्वं सिद्धं भवति, किन्तु अन्तरङ्गमपि यस्य सर्वथा शुद्धम्, अर्थात् विषयरागेण न रक्तम्, न पापाचरणेन मलिनम् स एव साधुपदवीं समारोढुं सर्वथा समर्थः । स्वशरीरस्यापि येन चिन्ता न कृता, स एव यथार्थः साधुः 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः' इति कालिदासोक्तौ श्रद्दधानो भवानपि पूर्वोक्तगुणविशिष्टोऽस्ति, इत्यत्र नास्तिकस्यापि संशयः । किं च सुवर्णे सुगन्धमिव त्वयि, त्यागेन तपसा च सार्धं विद्वत्त्वं, व्याख्यानपटुत्वं, विनयशालित्वं च दृष्ट्वा को नाम भवन्तं मानवरत्नं शिरोभूषणं न कुर्यात् ? आनन्दसागरे वा न निमज्जेत् ?

लक्ष्मीकृपापात्रं पृथक्जनं यं कमपि श्रीमन्तं वदन्तु नाम साधारणाः किन्तु यथार्थः श्रीमान् भवानेव मन्यते, यतः —

"लब्धारो विपुलाश्च सन्ति विबुधाः विद्याधनस्याधुना
किन्त्वालस्यसुगुप्तदस्युमुषिताः प्रायोऽखिलानिर्धनाः ।
धार्धक्ये ऽपि निरन्तराध्ययनतस्तद्रासुराः भास्करा
श्रीमन्तस्तु भवन्त एव भुवने लक्ष्मीसुतास्त्वामनु ॥"

कलिकालेऽस्मिन् बाल्ये बहुकालपर्यन्तं मातपितृसुखं केनचिदेव लभ्यते न सर्वेण । भवतापि तन्न लब्धम्, किन्तु शीतलमातुलतरुतलच्छायायां कश्चित् कालं स्थित्वा पश्चात् स्वतन्त्रो भूत्वा पुण्यतीर्थानि दर्शंदर्शं भ्रमता भवता पुण्यकर्मोदयभाजा परमपुण्यतार्थभूतः अधुना दिवंगतोऽपि श्रीमद्राजेन्द्राभिधानकोषकीर्तिकायेन चिरं भूतलयं अलङ्कुर्वाणो जैनादिशास्त्रपारगतो विद्याभास्करो विद्वन्मुकुटमणिः मूर्तिमान् तपोभूमिः प्रातःस्मरणीयः स विजयराजेन्द्रसूरीश्वरः समालब्धः । यत्समीपे अन्तेवासित्वं स्वीकृत्य प्रसिद्धेषु मार्गेषु विद्योपार्जनकर्मणि अन्तिमौ मार्गौ धर्तुं असमर्थेन भवता 'गुरुशुश्रूषया विद्या' इति प्रथमेनानेन मार्गेण तच्चरणयोः शास्त्राभ्यासः कृतः । यस्य च गुरोः प्रतिदिनं वचनामृतेन आप्यायितो भवान् प्रवृत्तिनिवृत्त्युभयरूपेण पुरतः प्रवहन्तीं चित्तनदीं विलोक्य, मनसि पूर्णं विचार्य, धीरत्वमवलम्ब्य च मुनेरपि दुस्त्यजं प्रवृत्तिपथं परित्यज्य निवृत्तिपथमेव स्वीकृतवान् । युक्तं चैतत् यत् श्रुतिरपि —

'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' इतीमं पन्थानं स्तौति, उपनिषदोऽप्येनमेव मार्गं धीरस्य इति दर्शयन्ति । तदितरं च मन्दमार्गं निन्दन्ति ' श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ' इति ' अयमेव सर्वस्य सारः । यद्—आपातरम्यान् पर्यन्तपरितापिनः आहेयान् भोगानिव भोगान्, सर्पापचितगृहभूतान् दूरत एव समुज्झित्य स्वमार्गे निर्भीकं निष्कण्टकश्च कृतो भवता ।

रम्ये तारुण्योपवने मानुषः स्वस्यायुषः द्वितीय पञ्चविंशत्यां प्रविशति, गार्हस्थ्यं च वृणुते, भवतापि तत्र प्रविशता प्रकारान्तरेण तद् वृण्तम् इति वक्तुमहं साहसं करोमि। पश्यतु भवान्—तव मनोऽनुकूलया नित्यं ते सांनिध्यं अमुञ्चन्त्या, त्वदेकमयजीवनया, सात्विक्या पतिव्रतया, निर्जितरागद्वेषया, परमप्रेयस्या स्वशेमुष्या सहचिरं माययासह ब्रह्मेव, बालब्रह्मचार्यपि भवान् अरमत। इत्येव न, किन्तु तद्वारा अनेके सुन्दराः मनोहराः विविधभाषालंकारभूषिताः ग्रन्थबालकाः समुत्पादिताः। ये अधुनापि भारतवर्षे विद्वत्समाजे मान्यतां प्राप्ताः समुल्लसन्ति। न केवलं भारते, किन्तु विदेशेऽपि लब्धप्रतिष्ठाः विराजंते। कःखलुकाव्यकला कुशलः कविः इदं ते अपूर्वं गार्हस्थ्यं अभिनन्दन् न नृत्येत? अन्यच्च—

"अनुहुं कुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी' इति न्यायेन क्षुद्रवादिनः समुपेक्ष्य, प्रसंगे समागते त्वां वादे विजेतुं समागतान् बद्धपरिकरान् वादिगजेन्द्रान् अहिंसापरायणोऽपि नरकेसरी भवान् कौशल्येन स्वप्रचण्डपाण्डित्यनखैः तन्मतगण्डस्थलं विदार्य पराजितवान्। एतदपि न तिरोहितं तत्कालतस्थुषां विदुषाम्। एवमेव अस्तेयव्रतधारिणापि भवता पूर्वाचार्याणां अमूल्यानि ग्रन्थरत्नानि अपहृतानि। तथा अपरिग्रहभाजापि भवता उपहाररूपेण विद्वद्भिः प्रदत्तानि विविधानि दुर्लभानि हस्तलिखितानि संचीय स्वनिकटेऽद्यापि स्थापितानि दृश्यन्ते. एवमेव सत्यं वदतापि भवता व्याख्याने उपदेशकाले च कुत्रापि जगति न दृष्टाः न श्रुताः अतएव असत्या अपि दृष्टान्ता भाष्यन्ते। तात्पर्यम्—दुष्टशिष्टजनानां त्वम् सदा 'यादो रत्नैरिवार्णव' अप्रधृष्यः अभिगम्यश्चासि इति निश्चीयते।

शाखेपातञ्जले समुल्लिखितमेतदस्ति, यत्—"ते समाधौ उपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयेः" इति। तद् योगिरत्नं भवान् न योगसिद्धीरन्वधावत्, किंतु वत्सानुसारिण्यो गाव इव ता एव त्वामन्वसरन्। श्री कालिदासेनापि "न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्" इत्युक्तमेव। एवं सिद्धवचनेन भवता वहवो योग्यकामनाभिलाषिणः श्रावकाः श्राविकाश्च ईप्सितदानेन कृतार्थाः कृताः क्रियंते करिष्यंते च, इति सर्वैः विदितप्रायमेव।

स्त्रीरपि एतत् जानाति, यद् उप्तं बीजं सर्वमेव न फलरूपेण समुत्पद्यते, इति तव समीपे ये प्रवयसः साधवस्त्वां समुपासमानाः विराजन्ते. "वृद्धास्ते न विचारणीयचरिताहुं नाम तिष्ठन्तु ते' इति तद्विषये न किञ्चिदपि वक्तुमहमुत्सहे। किन्तु भवतास्वमभितो ये लघुसाधवो विभिन्नबीजाः वृक्षाः समारोपिताः। तेषु द्वित्रा अपि यदि विशालाः आम्रवृक्षाः भूत्वा संसारानलसन्तापेन सन्तापितानां अज्ञानतः इतस्ततो बंभ्रम्यमाणानां पान्थानां स्वशीतलच्छायाश्रयेण दाहं तथा स्वोपदेशामृतकल्पेन फलेन क्षुधां च शमयितुं प्रभवेयुश्चेत्स्वच्छुभाशिषा, मालाकारतुल्यस्य तत्रपरिश्रमवतः पण्डितस्य प्रयत्नं च सफलयेयुश्चेत् तर्हि कियत्सुन्दरं स्यात् कस्य सुमतेः इयं समभिलाषा, श्रीपरमेश्वरस्य चरणयोः न स्यात्?

अयं श्रुतेः डिण्डिमः। यद् 'शतायुर्वैपुरुषः' इति परमेश्वरेण प्रतिपुरुषाय शतवर्षात्मक परमायुः प्रदत्तमस्ति। किन्तु यो मानवः श्री गीतायां भगवतोक्तेन—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु

युक्तस्वमावबोधस्य—अनेन श्रेयो मार्गेण यदि चलेत् तर्हि नूनं स श्रुत्युक्तं सम्पूर्णमायुः सुष्ठुभोक्तुम् प्रभवेत् । भवता च अद्य पञ्चसप्तति समे वर्षे अशिथिलितेन्द्रियवर्गेण प्रविशता एतत् स्वाचारेण सिद्धंकृतमस्ति । अतो भाविनि काले ऽपि भवान् पूर्णायुष्मान् नूनं भूयादित्यत्र नास्त्यस्माकं शंकालवोऽपि ।

सौभाग्यशालिनमात्मानं मन्यमानोऽहं—

" वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं "
गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्
खलत्वमल्पीयसि जल्पिते ऽपि
तदस्तुवन्दिभ्रमिभूमितैव । "

इतीमं श्लोकं कविमुकुटालंकारहीरस्य पण्डितप्रकाण्डस्य श्रीहर्षस्य प्रमाणीकृत्य, गुणाधिकस्य भवतोवर्णनं अकृत्वाचिरं मां तुदद् असह्यं वाग्जन्मवैफल्यं शल्यं समुद्धर्तु द्विवेः शब्दैस्त्वां वर्णयित्वा समागतं खलत्वं परिहर्तुं अनेन बहुवर्णनेन प्राप्तां वन्दिभूमिकां सानन्दं समुद्य विरमामि अस्याः पल्लवितायाः विभूतिपूजायाः । इतिशम्

"क्व एतां रचनामत्र सुलभामकरोत्परः ।"

શું કહો સાચા પડ્યા.......?

લેખક—મુનિ સૌભાગ્ય વિજયજી

ઉજ્જૈનથી સિંહસ્થનો મેળો જોવા નિકળેલા એક યૂ. પી. પ્રાન્તીય યુવકે મેળો દેખીને માલવભૂમિના તીર્થોની યાત્રા કરવાની શુભ નિષ્ઠાથી યાત્રા કરતાં કરતાં મહેન્દ્રપુર સુધી લંબાવ્યું ! એમ તો એ યુવકે બાલ્યાવસ્થામાંજ વિદ્યા ઉપાર્જન કરી લીધી હતી, અધ્યયન અને મનન પછી તેને સમજાયું હતું કે જીવન ક્ષણભંગુરતાથી ભરેલું, શરીર અશુચીથી ઓતપ્રોત બનેલું અને સ્નેહીઓ ફક્ત સ્વાર્થસિદ્ધિ માટેજ ગળાબૂડ ડુબેલા છે. સંસારની એ ઘટમાળાનાં ગોથાં ખાવામાં કંઈ ઓછાશ રહી નથી. આ સમય અરે! આ અમૂલ્ય ભવજ એવો છે કે જેના દ્વારા હું મારૂ કંઈક અંશે પણ આત્મસ્વરૂપ સમજી શકું ! છતાં આ મારો અને પ્યારો કહેનારાઓની, થોડી પણ પરીક્ષા થવી જોઈએ. બાલપણમાં જ્યારે માતા પિતા પરલોકના યાત્રી બની ગયા ત્યારે તેને પોતાને મોસાળ રહેવું પડ્યું ! પોતાની બુદ્ધિમત્તા અને ચતુરાઈથી મામાને દરેક કાર્યમાં સફળતા પ્રાપ્ત કરાવવા છતાં એક સમય મામાની નારાજીએ તેને આવરી લીધેલ. દરેક જગ્યાએ જ્યારે આમ સ્વાર્થતા દેખાવા લાગી ત્યારે તેણે સંસારથી વિરક્ત થવાની પોતાની ભાવના મજબૂત બનાવી અને મામાને છેલ્લા પ્રણામ કરી ભોપાલનો ત્યાગ કરવો જ ઉચિત ધાર્યો. ત્યાંથી નિકળી દુનિયાની લીલાને નિહાળી પોતાના ધ્યેય સિદ્ધિ માટે ભ્રમણ કરતાં આ બાજૂ આવી જવાયું.

મહેન્દ્રપુરમાં આ અવસરે જૈનસિદ્ધાન્તના પ્રકાંડવિદ્વાન અને ઉત્કૃષ્ટ ચારિત્રના પાલક પરમપૂજ્ય જૈનાચાર્ય પ્રભુશ્રીમદ્વિજય રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજ બિરાજેલા હતાં ! મન્દિરોના દર્શન કરી નજીક રહેલી પૌષધશાળામાં પણ ગયા. આચાર્યશ્રીસૌમ્ય મુખાકૃતિએ પ્રથમદર્શને જ તેના મનમાં ભાવુકતા ભરી દીધી. જ્યારે વ્યાખ્યાન સાંભળ્યું ત્યારે તો જાણે એક શુષ્ક પડેલા વૃક્ષને નીર મળ્યું હોય નહીં, તેમ તેના મનમાં રહેલી વૈરાગ્ય ભાવનાને પાણી જેટલો સહારો મળ્યો. પોતે જન્મથી દિગમ્બર હોવા છતાં પણ અદ્ભુત યોગીરાજની ઉત્કૃષ્ટ ક્રિયાપાલન અને વિદ્વતાએ તેને આકર્ષિત કરી લીધો. પોતાની ભાવના આચાર્યશ્રીના સામે પ્રદર્શિત કરી.

બુંદેલખંડમાં ધવલપુર ગામના વતની વ્રજલાલ શ્રેષ્ઠિ અને ચંપાકુંવરની પાવનગોદથી ઉત્પન્ન થયેલ આ નવયુવક રામરત્ન કુમાર હતા. નાની વયે કળાઓમાં નિષ્ણાત્ અને અધ્યયનમાં પ્રવીણતા પ્રાપ્ત કરી લીધી હતી. આચાર્યશ્રીએ યુવકના સામે દૃષ્ટિનાખી, ખતાં જ જણાયું કે જરૂર આ વીરનો સાચો અનુયાયી અને મારો સાચો વારસ બનશે ! સ્વનામથી વિખ્યાત્ થશે ! જ્યારે આચાર્યશ્રીએ પ્રશ્નો પૂછ્યા ત્યારે તેના પ્રત્યુત્તરો આધ્યાત્મિક શૈલીથી આપ્યા ત્યારે ગુરૂદેવશ્રી આશ્ચર્યચકિત થઈ ગયા. યુવક

રામરત્નકુમારને પોતાની સાથે રહી અધ્યયન કરવા અને સાધુ જીવનની પ્રણાલીને સમજવા કહ્યું ! આ યુવકે આટલી નાની ઉમ્મરમાં તો નવસ્મરણ અને તત્વાર્થસૂત્ર જેવા ગ્રન્થો મુખપાઠ કરી લીધા હતા.

મહેન્દપુરથી વિહાર કરી માર્ગના ગામોમાં પોતાની સુધાવાહિની ઉપદેશ સરિતાને વહાવતા આચાર્યશ્રી ખાચરોદ પધાર્યા, અહીં આગન્તુક ભાવચારિત્રી કુમાર રામરત્નને ભાગવતી દીક્ષા આપવાનું નક્કી કરાયું ! અષાડ વદિ ૨ નું મુહૂર્ત્ત રાખ્યું.

આખું નગર આજ ત્યુગલોના અવાજ અને નિશાનડંકાના નાદથી ગુંજારવ કરી રહ્યું હતું. જ્યાં દેખો ત્યાં માનવ મહેરામણ ઉભરાતો દેખાતો હતો ! કોઈ પૂછતું, અરે ભાઇ ? આજ આટલી ખુશાલી શાની છે ? આજનો આનંદ ! વાત જ મત પૂછો ! પોતાના આત્માને ચિરશાન્તિના સ્થાન પર આરૂઢ કરવા સંસારની મોહજાળના પાસને ભેદવાની શક્તિ બતાવી આપનાર એ નવજુવાન, અરે ! હજુ મૂછનો દોરો પણ દેખાતો નથી, આટલી નાની અવસ્થામાં ત્યાગના માર્ગ પર જવાની તૈયારી કરી રહ્યો છે ?

શું તેને સંસારમા સહારો આપનાર કોઇ નહીં હોય ? સંસાર ના સુખો ભોગવવાની તેને શું ઇચ્છા નહીં હોય ? અધુરામાં પુરું આ યુવાવસ્થા ગૃહસ્થાવસ્થામાં રહીને મોજ શોખ માણવાની આ અવસ્થા ! આ અવસ્થામાં તે શા માટે ત્યાગના કઠણ માર્ગ પર જઈ રહ્યો હશે ? ત્યારે.. ....

કોઇ કહેતું ના ભાઇ ના ! એને સુખોપભોગનો કાઇ તોટો નથી, સંસારમાં સહારો આપનાર પણ ઘણા પડ્યા છે, અરે ખબર નથી જે રાજ્યકર્મચારીઓ વિરોધ કરતા હતા તે પણ સાથે આવી ગયા છે. આટલી નાની અવસ્થામાં જ્ઞાનોપાર્જન પણ કરી લીધું છે. ભાઇ ! એ વાત તો સત્યજછેને ? જેને વિશ્વ આખો કડવો લાગતો હોય, સહારો આપનાર જ સ્વાર્થી લાગતા હોય, મોજ શોખ અને સંસારી સુખોની પરંપરા મહાન દુઃખોના ડુંગરા જેવી દેખાતી હોય તેને પછી શું સુખ અને શું દુઃખ ! તેને તો એકજ તાલાવેલી લાગેલી રહે છે કે મારૂં લક્ષ્યબિન્દુ ક્યારે અને કેવી જાતના માર્ગ પર જવાથી સિદ્ધ થાય ?

જૈનશાસનની જય ! શાસનપતિ શ્રી મહાવીરસ્વામિની જય ? ત્યાગધર્મને અપનાવનારની જય ! ના પોકારો સાથે એક સરઘસ ગામના મુખ્ય બજારોમાં થઇને નીકળ્યું.

આ પેલો યુવક ઘોડા ઉપર બેઠેલ છેને એ પોતાના ધ્યેયની સિદ્ધિ માટે ત્યાગ ના કંટક વર્ણો પંથ પર પ્રયાણ કરશે. આંગળી ચિંધીને એક જણે કહ્યું ! અરે ? તેનુ તેજસ્વી ભાલ અને તેની અદ્ભુત કાન્તિ જ બોલાવી રહેલ છે કે તે ભવિષ્યમાં સમાજના ઉપર ઉપ કારી બનશે! અને પોતે પણ આત્મસાધના કરી જશે ખરેખર; એ સૌભગ્યશાળી યુવકને ગુરૂપણ એવાજ મળ્યા છે. જેમણે જ્ઞાનના અખૂટ કુંભમાંથી સત્યવારિને વહેડાવ્યું છે !

જેઓ શિથિલાચારના વિરોધી અને મહાવીર પ્રભુએ દીધેલ સત્યઉપદેશના પ્રચારક છો ધન્ય આ બાલવીરને! જે આટલી નાની કોમલ અવસ્થામાં આત્મકલ્યાણ માટે ભોગોપભોગને ત્યાગી રહ્યો છે. ચારે બાજુ માનવ સમૂહ જયકારના નાદોથી ગગનમંડળને ગુંજાવી રહ્યો હતો. બજારના માર્ગોથી થઇને માનવ મહેરામણ ગામના પશ્ચિમોદ્યાન બાજુ ચાલ્યો ગયો. જ્યાં એક સઘન વટવૃક્ષની છાયામાં એક ત્રિગડ સિંહાસન મૂકવામાં આવ્યું હતું, જેમાં ભગવાનની પ્રતિમાં બિરાજિત હતી. બાજુમાં એક પાટ ઉપર ગુરૂદેવ શ્રી બિરાજ્યા હતા, શ્રમણ સમુદાય પણ હતોજ ! ગુરૂદેવશ્રીએ ચતુર્વિધ સંઘ સમક્ષ પોતાના પવિત્ર હસ્ત કમળથી એ યુવાનને વિધિવત્ ભાગવતી પ્રવ્રજ્યા અંગીકાર કરાવી. અને નામ ઘોષિત કર્યું. ઉપસ્થિત જનસમુદાયે નૂતન મુનિરાજના નામનો જયજયકાર મચાવી દીધો

ધન્ય ગુરૂદેવશ્રીમદ્વિજયરાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજની જય ! નૂતન મુનિરાજ શ્રીયતીન્દ્રવિજયજી મહારાજની જય !

ગુરૂદેવશ્રીના આશીર્વાદ પ્રાપ્ત કરી. નવ વર્ષ ગુરૂસેવામાં વ્યતીત કર્યા, આટલા સમયમાં આપે સંસ્કૃત. પ્રાકૃત અને જૈન સિદ્ધાન્તોનું ગહન અધ્યયન કરી લીધું. સંવત ૧૯૬૩ માં પુ૦ગુરૂદેવાચાર્ય શ્રીમદ્વિજય રાજેન્દ્ર સૂરીશ્વરજી મહારાજનો સ્વર્ગવાસ થયો. ત્યાર પછી સ્વ૦ ગુરૂદેવશ્રીનો સંદેશ લઇને ગામડે અને શહેરોમાં આપશ્રીએ ભ્રમણ શુરૂ કર્યું. પોતાની વિદ્વતાથી ઘણા અંતઇ જવા માંડયા. ગચ્છનાયક શ્રીમદ્વિજય ધનચંદ્રસૂરીશ્વરજી એ ઓજસ્વી અને પ્રભાવશાલી વ્યાખ્યાનશૈલીથી આપને 'વ્યાખ્યાન વાચસ્પતિ' પદ આપ્યું. શ્રીમદ્વિજયધનચંદ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજના મહાપ્રયાણ પછી શ્રી ભૂપેન્દ્રસૂરીશ્વરજી ગચ્છનાયક બન્યા. તેમણે (વ્યા૦ વા૦ શ્રીયતીન્દ્ર વિજયજીને આપને) ઉપાધ્યાય પદથી વિભૂષિત કર્યા. શુભ સંવત્સર ૧૯૮૦ એ વખતે ચાલતો હતો આટલા વર્ષો દરમ્યાન આપશ્રીએ સમાજ સેવાના બહુ કાર્યો કર્યાં. પાઠશાળા, જ્ઞાન-ભંડારોની સ્થાપનાના સાથોસાથ આચાર્યશ્રીના સાથે રહી વિરાટ બૃહદ્વિશ્વકોશ 'શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર' નું સંશોધન કર્યું ! ઉપાધ્યાય પદની જવાબદારી પોતે એક મંત્રી રાજાનું રાજ્ય જેવી રીતે સંભાળીને તેનું સંચાલન કરે તેવી રીતે પોતે ખુબ કાળજીપૂર્વક અદા કરી.

સમય અને કાળની ગતિ ન્યારી છે. શ્રીભૂપેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજનો દેહાવસાન થયું. ચતુર્વિધ શ્રીસંઘના અત્યાગ્રહથી ગચ્છનાયક પદનો અનિચ્છાએ પણ સ્વીકાર કરવો પડ્યો. આ વખતે વિક્રમની ૧૯૯૫ ની સાલ હતી, આખા સમાજની જવાબદારી આપ પર આવી પડી, છતાં પણ આપે એક નાયકને શોભે તેવી રીતે વીરના સંદેશ નો પ્રચાર કરવામાં કમી રાખી નથી. આપશ્રીની જિંદગી ફક્ત જાતિ સુધાર અને સમાજ સેવામાં જ વ્યતિત થઇ નથી. પરંતુ વિશ્વના ગગનાંગણમાં આપે ૬૦ ગ્રન્થો લખી ને સાહિત્યસેવા પણ ખૂબ કરી છે. અને હજૂ આજે પણ સતત પ્રયત્નશીલ છે. આજ આપની ૭૪ વર્ષની દીર્ઘાયું હોવા છતાં પણ આપના હાથમાંથી લેખિની પોતાનું વર્ચસ્વ છોડી સકતી નથી ! એક ધારા આસન લગાવીને કલમ ને

ચાલૂ રાખવી ખરેખર યોગી અને મહાપુરૂષો સિવાય કોઇનાથી થઇ શકે નહીં! પોતાની વૃદ્ધાવસ્થા હોવા છતા પણ ક્રિયામા શિથિલતા જરા પણ આવવા દીધી નથી

ખરેખર! ૬૦ વર્ષ પૂર્વ ખાચરોદ નગરમા દીક્ષા લેતી વખતે લોકોના નીકળેલા હૃદયોદ્‌ગાર શબ્દો સાચા પડ્યા સ્વ૦ ગુરૂદેવશ્રીની ભાવના સફળ થઇ વર્તમાનમા પણ શ્રીમદ્વિજયયતીન્દ્રસૂરીશ્વરજીમહારાજનું પુનીત નામ જૈન સમાજમા પ્રખ્યાત્ છે અને આપશ્રી મરૂધર, માલવા અને ગુજરાતના ધર્મ પીપાસુઓને પોતાની અમૃતવાણીનુ પાન કરાવી રહ્યા છે અને આપની સાથે રહીને મુમુક્ષુજીવો પોતાના આત્મકલ્યાણના માર્ગ પર જઇ રહ્યા છે!

"રૂણમાંથી મૂક્ત થવા"

કીર્તિકુમાર હાલચંદ વોરા થરાદવાળા

લગભગ અરધી સદી પહેલાંની એક વાત છે. માળવા ઉજ્જૈન પ્રગણાના ખાચરોદ નગરમાં ત્યારે દીક્ષા મહોત્સવ મંડાયો હતો. આજુ બાજુના પ્રદેશોમાંથી જૈન-જૈનેતરો આ પ્રસંગે મોટી સંખ્યામાં ઉત્સાહભેર આવવા માંડ્યાં હતાં, ખાચરોદની રોનક વધી ગઇ હતી, કારણુ એક સાથ બે કામ જેવો આ પ્રસંગ હતો. ખાચરોદ આવવાથી એક તો પરમ યોગીરાજ પ્રભુ શ્રી મદ્‌વિજય રાજેન્દ્રસૂરિશ્વરજી મહારાજનાં દર્શનનો અમૂલ્ય લાભ મળતો હતો. અને બીજો લાભ મળતો હતો એક ઉગતા યુવાન–ચૌદ વરસના કિશોરની દીક્ષા ગ્રહણ કરવાના–આ અસાર સંસારને છોડી પરમ વિતરાગના માર્ગે પ્રયાણુ કરવાના અપૂર્વ પ્રસંગને સાંગોપાંગ નજરો નજર જોઇ અનુમોદન કરી પુન્યની પ્રાપ્તિ કરવાનો–આત્માને આ માર્ગે જવાની પ્રેરણા આપવાનો, અરે ! આ સાથે ત્રીજો પણુ મહાન લાભ હતો નજદિકમાંજ આવેલ શ્રી અવંતિ પાર્શ્વનાથ પ્રભુનાં અને શ્રી મક્ષીજી તીર્થનાં દર્શન કરી પાવન થવાનો. આમ ત્રેવડો લાભ લેવાનું કોણુ ભૂલે ?

અને એટલેજ ખાચરોદ નગર આજે માનવ મહેરામણથી ઉભરાઇ ગયું હતું. અસાઢ વદ-બીજ ને બુધવારનો દિવસ ઉદયમાન થવાને હતી અડતાલીસ કલાક જ બાકી કે જે દિવસે આ અસાર સંસારમાંથી એક જીવાત્મા પોતાના અસલી સ્વરૂપને ઓળખવાના સાચા સ્થાનને મેળવવાના- માર્ગે જવા પ્રસ્થાન કરવાના હતા- શ્રી ભાગવતી પ્રવજ્યા અંગીકાર કરવાના હતા.

'કહેવાય છે કે શૂભ કાર્યોમાંજ વિઘ્નો આવેછે' એ મુજબ તે વખતે પણુ સમાજ વિરોધી કોઇ તત્વોએ ભેગા થઇ, રાજ્યાધિકારીઓને ખબર આપી કે 'એક અનાથ બાળકને ભોળવીને બળાત્કાર પૂર્વક સંન્યાસી બનાવવામાં આવે છે.'

આજની કાયદાની વ્યવસ્થા એવા પ્રકારની છે કે કોઇ પણુ કાર્યમાં વિક્ષેપ-નાખવો હોયતો 'તે કાર્ય કાયદા વિરૂધ્ધ છે એમ લખી' કાયદાના કરવૈયાઓને જાણુ કરવામાં આવે તો પહેલું તો એ કાર્ય અટકી જાય છે પછી ભલે આ કાર્ય સત્ય અહિંસાના સાચા રાહ માટેનું હોય–કાયદો એને ન પહોંચતાં આ કાર્ય આગળ તો થાય છે. કારણુ આખર તો સત્યનો જય થાય જ છે ને ?

અને આ કારણે ખાચરોદના ઉચ્ચ રાજ્યાધિકારીઓને પણુ આજે ઉપાશ્રયના ઓટલે ચઢવું પડયું. ચઢયાતો ખરા પણુ.........

ધર્મશાળાનો હોલ માનવમેદનીથી ચીકાર હતો એક તરફ પુરુષો અને બીજી

એ આપની શકિત બહારની વાત [illegible] રાજ્યનો કાયદો—એ કાયદાનુ ખડત કરનાર પરજ ચાવી શકે, અન્યત્ર નહિ કિશોરે જવાબ આપ્યો

તો શુ બાલ દિક્ષા એ બીન કાયદે—અનુચિત કાર્ય નથી!

નાહ નહિ કદાપી નહિ, મને સમજાતુ નથીકે સર્વ અનર્થોના મૂળ સમાન બાળ વિવાહ પર આંખ આડા કાન કરનારો કાયદો સન્યાસ જેવા શુભ કાર્યોમાજ વિક્ષેપ નાખી શકે છે? એમ ન સમજતા કે બાળક નાનો હોય છે તેમ એનુ જ્ઞાન પણ નાનુ હોય છે! નના બાળકમા પણ સાઠ વરસના બૂઢા બુઝર્ગ જેટલી બૂદ્ધિ કર્મ મળે પૂર્વ કર્મના યોગે ભરેલી હોય છે અરે ઘણી વખત એક બૂઢા કરતા બળક વધુ બૂધ્ધિશાળી પણ તમને મળી આવશે આ સસારની અકળ લીલાનો પાર પામવાના રસ્તે કેવળ—બૂઢા કે આધેડજ જઇ શકે એવો કઈ કાયદો નથી અને કાયદો થઇ શકે પણ નહિ એ રસ્તે તો દરેકને જવાની છુટ છે, પછી ભલે એ બાળક હોય વૃધ્ધ યુવન હોય કે આધેડ સ્ત્રી પુરૂષ હોય કાયદો એમને કઇ કરી શકતો જ નથી આત્માના માર્ગે પુદ્ગલની તાકાત નથી કે આડે આવી એ માર્ગને રોકી શકે! અને યાદ રાખજો કે જે રાજ્ય કે દેશમા ધર્મની ઉન્નતિ નથી થતી તે રાજ્ય કે દેશની પડતીની નિશાની છે ધર્મ એ ધર્માચાર્યોનુ ક્ષેત્ર છે એમા રાજા કે એમના અધિકારીઓએ હસ્તક્ષેપ કરવો યોગ્ય નથી જ હા! પણ આતો થઇ એક રાજ્યની કાયદાની ફરજની વાત! તમારે તો તમારી ફરજ બજાવવાની છે ને? તો સભાળો, તમારા પ્રશ્નો વગર પુછે જવાબ —

હુ ઉમરમા ભલે નાનો હોઉ પરતુ હુ એટલુ સમજી શકુ છુ કે હુ શુ કરૂ છુ! કરૂ છુ તે યોગ્ય જ કરૂ કે અયોગ્ય! મને મારા હિતા હિતની સપૂર્ણ સમજ છે અને એ સમજવાની શકિત મારા આત્મામા છે હુ જૈન છુ જૈન ધર્મની સેવા કરવાની મારી ફરજ છે અને એ સેવાનો ભેખ ધરવા માટે જ પુ ગુરૂદેવશ્રી પાસે આવ્યો છુ અને એ ભેખ આ અડતાલીસ કલાકમા જ ધારણ કરવાનો અને ધારણ કરીને શોભાવવાનો બોલો હવે [illegible] કઇ પુછવાનુ! કોઇ પણ કાયદો વ્યકિતના મરજીઆત કાર્યને રોકી શકતો નથી જો એ કાર્યથી દેશ—દુનિયા કે સમાજને નુકશાન થતુ ન હોય તો પછી આતો ધર્મ દેશ દુનિયા અને સમાજના શ્રેયનુ કામ છે એને રોકવાની તાકાત કોઈની નથી

એક નાના બાળક ગણાતા દિક્ષાર્થી કિશોરની સાથેનો વાર્તાલાપ સાભળી બને રાજયાધિકારીઓ અવાક બની ગયા અને દિક્ષા યોગ્ય જ છે અને લેનારની મરજીથી જ અપાય છે એવો રીપોર્ટ લખી પૂ ગુરૂદેવની અવિનય બદલ ક્ષમા માગી, બને આવ્યા હતા એવા જ પાછા ગયા

કેવુ જોઇએ આજે પણ આપણી સરકાર “ બાલ સન્યાસ પ્રતિબધ ” જેવા ખીલો લાવે [illegible] પછી ભલે એ પસાર થયા વિના જ પડયા રહેતા હોય—પરતુ શુ આ સરકારમા બેસનાર એટલુ પણ નહિ સમજતા હોય કે પાપ—પુન્ય, આભવ—પરભવ જેવી કર્મ [illegible] સારી રીતે જાણવાવાળા જૈનોના બાળ ભલે ઉમરમા નાના હોય પરતુ

એમનાં અંતરમાં રહેલા પુર્વભવોના વૈરાગ્યના સંસ્કારો જયારે જાગૃત થાય છે. ત્યારે એમને ઉંમરનો ખ્યાલ નથી રહેતો, તેઓતો આ સંસારને તરવાને—બીજાઓને તરવાનો ઉપદેશ આપવાને જયારે ભાગવતી પ્રવજયા અંગીકાર કરવાને તત્પર બને છે ત્યારે કાયદાની કલમો એને કેમ રોકી શકે? આ દિક્ષાઓમાં બળજબરી કે ભોળાપણાને સ્થાન નથી જ હોતું—અને ન જ હોવું જોઇએ. અને તોજ આવાં બીલ આવે તો પણ આ દિક્ષાને અટકાવી શકતાં નથી. ખેર આ વાતતો સરકારને સમજવાની છે આપણે શું? આપણે તો પાછા ખાચરોદમાં જ દિક્ષા મહોત્સવ જોવા જવાનું છે.

અને—પછીતો નગર બેવડા હર્ષમાં આવી ગયું. અપૂર્વ ધામધુમ સાથે દિક્ષાની તડામાર તૈયારીઓ થવા લાગી. દરરોજ પુજા પ્રભાવના અને વરઘોડાથી ગામ આખું ગાજવા માંડયું. અને એમાં પણ જ્યારે એ દિક્ષાનો મહાન દિવસ આવી પહોંચ્યો ત્યારે?

ત્યારે તો—અસાઢ વદ બીજના પ્રભાતથી ગામ આખામાંથી નર અને નારીના વૃંદ-બાળક અનેવૃદ્ધોનાં ટોળાં ઉપાશ્રય તરફ ઉભરાવા માંડયાં. સૌ કોઇની સંસાર ત્યાગી જનારના આ સંસારના વેશે છેલ્લાં છેલ્લાં દર્શન કરવાની—એ કિશોરના મોઢાના હાવ ભાવ નીરખવાની ઉત્કંઠા પ્રબળજ હતી. સમય થતાં એક મોટો વરઘોડો ઉપશ્રયમાંથી નીકળ્યો.

પંચકલ્યાણી ઘોડા પર વસ્ત્રા ભુષણોથી સજ્જ થઈ એક કિશોર હસ્તા મૂખડે બેઠો હતો. કોઇ પંથ ભૂલેલા માનવીને પોતાનો રસ્તો હાથ લાગે અને એનું ધ્યેય નજર સામેજ દેખાવા માંડે ત્યારે એ કેવો આનંદમાં આવી જાય? બાળક માતાથી વિખુટું પડી ગયું હોય અને રોવા માંડયું હોય પરંતુ સામેથી માતાનો સાદ સાંભળે—માતાને આવતી જુએ ત્યારે? ત્યારે કેવું આનંદમાં આવી દોડવા લાગે? એવું જ હાસ્ય આ કિશોરના મુખ પર હતું. અગણિત માનવ મેદનીમાં અવનવી વાતો થવા માંડી.

ભાઈ? સંયમ તો ખાંડાની ધાર છે?

પણ ભાઇ! આ ભાગ્યશાળીને મન તો સંસાર જ ખાંડાની ધાર બન્યો ને? નહિ તો આમ હસ્તે મુખડે સંસાર છોડવાની તાકાત કોની હોય?

ધન્ય છે એનાં માતા પિતાને? ધન્ય એ ગામની ધરતીને કે જયાં આવા મહાન પૂણ્ય શાળી આત્માઓનો જન્મ થયો છે.

હા પણ! એ ધન્ય ધરતી, ધન્ય માતા ધન્ય પિતા કોણ છે!
શું નથી જાણતા તમે?

ના હું તો મોડો પડયો, ભાઇ દુકાનના કામમાંથી ઊંચા જ અવાતું નથી આવવાની ઇચ્છાતો અઠવાડીઆ પહેલાં હતી પણ માંડ દુકાનનું કામ પતાવી આજે આવી શકયો. શું નામ છે આ ભાગ્યશાળી કિશોરનું?

તરફ સ્ત્રીઓ શાંત ચિત્તે બેસી વ્યાખ્યાન-પૂ. ગુરૂદેવનો ઉપદેશ સાંભળી રહ્યા હતા કોણ હતા એ પૂ. ગુરૂદેવ!

એ હતા પ. પૂ. ગુરૂદેવ પરમ યોગીરાજ 'વિરલ વિભૂતિ' પ્રભુ શ્રીમદ્ વિજય રાજેન્દ્ર સૂરિશ્વરજી મહારાજ અને આત્માર્થી ભ. વ્ય જીવોને સંભળાવી રહ્યા હતા સંસાર સાગરને તરવાની તાકાત આપનારી ઉપદેશવાણી-અવિરલ અને અવિરત

પૂ. ગુરૂદેવના તેજમાં અંજાઈ ગયેલા અધિકારીઓ પહેલા તો માનવ મેદનીમાંજ જગા મળી ત્યાં બેસી ગયા અને પછીતો

પછીતો જેણે એક વખત સાંભળી હોય-કેવળી ભગવંતોએ પ્રરૂપેલી ગણધર મહારાજાઓએ ગ્રહણ કરી, આગમ સુત્રો રૂપે રચેલી-ઉપદેશ વાણી-અને તે પણ મહા પ્રભાવશાળી અને સચોટ રીતે સમજાવનાર મહાન વિભૂતિના મુખે એનું હીર પીગળ્યા વિના રહે ખરૂ? એના હીરમાં સત્ય અહિંસા-અસ્તેય-બ્રહ્મચર્યનો અં[illegible] પણ પ્રવેશ્યા વિના રહે ખરો? અને ખરેજ એ વિતારાગની વાણીના પ્રભાવને વશ બને અધિકારીઓ પરસ્પર કહેવા લાગ્યા.

ભાઈ? આવા પરમ યોગીરાજ તે કંઈ અયોગ્ય-બીન કાયદે કામ કરતા કે કરાવતા હશે ખરા કે? આતો અયોગ્ય કરનારને યોગ્ય રસ્તે વાળવા સદુપદેશ આપે છે તો પછી આવા મહાત્મા પોતે અવળા માર્ગે કદાપિ જાય જ કેમ?

વાતો ખરી છે પરંતુ આપણે તો ચીઠીના ચાકર-કાયદાના ગુલામ કાયદાનુ પાલન તો કરવુ જ જોઇએને? ફરજ તો અદા કરવીજ જોઇએને?

તો આપણે આ મહાન આત્મા સમક્ષ શું કહીશું?

એતો મને પણ સમજાતું નથી?

અને આમ વિમાસણમાં પડેલા બને અધિકારીઓ-વ્યાખ્યાન પુરૂ થયુ માનવ મેદની ગુરૂદેવના ચરણ કમલોનો સ્પર્શ કરી ધન્ય અનુભવતી-પૂ. ગુરૂદેવના મૂખે 'ધર્મલાભ' જેવો અમૃલ્ય શબ્દ સાંભળી અહોભાગ્ય માનતી-એક પછી એક વીખેરાવા લાગી-અને જ્યારે ઉપાશ્રયમાં વૈરાગી-ત્યાગી સાધુ સમુદાય શિવાય બીજા ગણ્યાગાં જીવાત્માઓ રહ્યા ત્યારેજ આ બે અધિકારીઓની આંખ ઉઘડી ફરજનું ભાન થયુ

બને ઉભા થઈ પૂ. ગુરૂદેવ પાસે આવ્યા વંદન કરી બેઠા અને એક અધિકારીએ ડરતા ડરતા વાત કહેવાની શરૂઆત કરી

ગુરૂદેવ! કહેતા જીભ ઉપડતી નથી છતા ફરજને વશ કહ્યા શિવાય છૂટકો નથી અમે બને કાયદાના આદેશને આધિન પરમ દિવસે જે કિશોરને દિક્ષા આપવાની છે એની તપાસ કરવા આવ્યા છીએ અમારી પાસે એક અરજી આવી [illegible] કે આ કિશોરને ભોળવીને બળજબરી પુર્વક દીક્ષા અપાય છે ઉપરાંત તે આજે અનાથ [illegible]

તો કરીલોને ભાઇ તપાસ, મારી કયાં મનાઇ છે? પૂ ગુરૂદેવે કહ્યું.

પરંતુ ગુરૂદેવ? અમને તો સમજાતું નથી કે અમારે આ માટે તપાસ કયાં કરવી અને શું કરવી? અમેતો માનીએ છીએ-માનતા થઇ ગયા છીએ કે આપના વરદ હસ્તે થતું કોઇપણ કાર્ય સમાજ ગામ-દેશ અને દુનિયાના લાભનુંજ હશે?

પણ ભાઇ? ફરજ તમારા મંતવ્યથી પૂરી નથી થતી તમારી? તમારી ફરજ તો તમારે જે કરવાનું છે તે સંપૂર્ણ રીતે કરીને પૂરી કરવીજ જોઇએ. શરમાશો નહિ-કચવાશો નહિ-જુઓ સામે જે કિશોર અભ્યાસ કરી રહેલ છે. એનેજ પરમ દીવસે દીક્ષા આપવામાં આવશે. જાઓ એને પૂછવું હોયતે પૂછી તમારી શંકાઓનું-તમારા કાયદાની કલમોનું નીરીક્ષણ કરીલો.

અને બંને અધિકારીઓ જ્યાં દિક્ષાર્થી કિશોર વાંચન કરી રહ્યા હતા ત્યાં ગયા આજનો ચૌદ વરસનો બાળક? પોલીસનું નામ સાંભળી ઘરના ખૂણે સંતાઇ જાય છે. જ્યારે આ ચૌદ વરસના કિશોરમાં-બાળકમાં કેટલી હિંમત હતી એનો આ પ્રસંગ સાંગોપાંગ નજરો નજર જોનારનેજ ખબર પડે.

ખાખી કપડાં, માથે સારજંટની ટોપી, હાથમાં દંડો, અકમરમાં રીવોલ્વર, સાથે મોટી કાગળીઆઓની ફાઇલ. આવું મોટું સ્વરૂપ છતાં આ કિશોરતો વાંચનમાંજ તલીન રહ્યા ત્યારે એમાંથી એક અધિકારીએ પૂછયું; આપનું નામ કહેશો?

મહેરબાની કરી પરમ દિવસેજ આ ટાઇમે મારૂં નામ પૂછવા તકલીફ લો તો સારૂં, કારણ જે નામની સાથેનો સંબંધ હું તાત્કાલિક છોડવાજ માંગું છું તે નામ પણ હવે બોલવું એ કર્મબંધના કારણ રૂપ હું માનું છું અને એટલે કહેવાને અસમર્થ છું.

અચ્છા તો? આપના પિતાશ્રીનું નામ

આ પણ એવોજ પ્રશ્ન છે. એટલે જવાબ શું આપું?

તો પછી આપની જ્ઞાતી અને ગામ તો કહેવામાં વાંધો નથી ને?

કેમ ન હોય, જે નાનકડી જ્ઞાતીના ગોળને છોડી. સમગ્ર માનવ સમાજની સર્વ જતીઓને પોતાની બનાવવા પગરણ માંડયું છે. જે ગામને-નાનકડા ગામને ત્યાગી આખી અવનીને પોતાનું ગામજ સમજવા અને એ પ્રમાણે વર્તવા-પ્રસ્થાન કરવાની તૈયારીઓ કરી ચૂકયોછું તો પછી જે છોડવાનું છે તેનું નામ શામાટે લેવું જોઇએ-જે ગામ જવું નહિ તેનો રસ્તો પૂછવાથી શું ફાયદો? આવા સંસાર વિષયક સંકુચિત પ્રશ્ન પૂછી આપનો અને મારો અમૂલ્ય સમય શા માટે ગુમાવતા હશો! કિશોરે નમ્રતા પૂર્વક કહ્યું.

ત્યાંતો રાજ્યાધિકારીઓએ જરા ધમકી આપી સ્વરૂપ બતાવી કહેવા માંડયું, તો પછી આપને અમે દિક્ષા નહિ લેવા દઇએ;

એ આપની શકિત બહારની વાત છે રાજ્યનો કાયદો-એ કાયદાનુ ખ ડત કરનાર પરજ ચાવી શકે, અન્ય ન નહિ કિશોરે જવાબ આપ્યે

તો શુ બાલ દિક્ષા એ બીન કાયદે-અનુચિત કાર્ય નથી!

નાહ નહિ કદાપી નહિ, મને સમજાતુ નથીકે સર્વ અનર્થોના મૂળ સમાન બાળ વિવાહ પર આખ આડા કાન કરનારો કાયદો સન્યાસ જેવા શુભ કાર્યોમાજ વિક્ષેપ નાખી શકે છે? એમ ન સમજતા કે બાળક નાનો હોય છે તેમ એનુ ભેજુ પણ નાનુ હોય છે! ન ના બાળકમા પણ સાઠ વરસના બૂઢા બુઝર્ગ જેટલી બૂદ્ધિ કર્મ બળે પૂર્વ કર્મના યોગે ભરેલી હોય છે અરે ઘણી વખત એક બૂઢા કરતા બ ળક વધુ બુદ્ધિશાળી પણ તમને મળી આવશે આ સ સારની અકળ લીલાનો પાર પામવાના રસ્તે કેવળ-બૂઢા કે આધેડજ જઇ શકે એવો કઈ કાયદો નથી અને કાયદો થઇ શકે પણ નહિ એ રસ્તે તો દરકને જવાની છુટ છે, પછી ભલે એ બાળક હોય વૃધ્ધ યુવ ન હોય કે આધેડ સ્ત્રી પુરૂષ હોય કાયદો એમને કઇ કરી શકતો જ નથી આત્માના માર્ગે પુદ્ગલની તાકાત નથી કે આડે આવી એ માર્ગને રોકી શકે! અને યાદ રાખજો કે જે રાજ્ય કે દેશમા ધર્મની ઉન્નતિ નથી થતી તે રાજ્ય કે દેશની પડતીની નિશાની છે ધર્મ એ ધર્માચાર્યોનુ ક્ષેત્ર છે એમા રાજા કે એમના અધિકારીઓએ હસ્તક્ષેપ કરવો યોગ્ય નથી જ હા! પણ આતો થઇ એક રાજ્યની કાયદાની ફરજની વાત! તમારે તો તમારાં ફરજ બજાવવાની છે ને? તો સ ભાળો, તમારા પ્રશ્નો વગર પુછે જવાબ -

હુ ઉમરમા ભલે નાનો હોઉ પર તુ હુ એટલુ સમજી શકુ છુ કે હુ શુ કરૂ છુ? કરૂ છુ તે યોગ્ય જ કરૂ કે અયોગ્ય? મને મારા હિતા હિતની સ પૂર્ણ સમજ [illegible] અને એ સમજવાની શકિત મારા આત્મામા છે હુ જૈન છુ જૈન ધર્મની સેવા કરવાની મારી ફરજ છે અને એ સેવાનો ભેખ ધરવા માટે જ પુ ગુરૂદેવશ્રી પાસે આવ્યો છુ અને એ ભેખ આ અડતાલીસ કલાકમા જ ધારણ કરવાનો અને ધારણ કરીને શે ભાવવાનો બોલો હવે છે કઇ પુછવાનુ! કોઇ પણ કાયદો વ્યકિતના મરજીઆત કાર્યને રોકી શકતો નથી જો એ કાર્યથી દેશ-દુનિયા કે સમાજને નુકશાન થતુ ન હોય તો પછી આતો ધર્મ દેશ દુનિયા અને સમાજના શ્રેયનુ કામ છે એને રોકવાની તાકાત કોઈની નથી

એક નાના બાળક ગણાતા દિક્ષાર્થી કિશોરની સાથેનો વાર્તાલાપ સાભળી બન્ને રાજયાધિકારીઓ અવાક બની ગયા અને દિક્ષા યોગ્ય જ [illegible] અને લેનારની મરજીથી જ અપાય છે એવો રાપોર્ટ લખી પૂ ગુરૂદેવની અવિનય બદલ ક્ષમા માગી, બન્ને આવ્યા હતા એવા જ પાછા ગયા

કોણ જાણે આજે પણ આપણી સરકાર " બાલ સ ન્યાસ પ્રતિબ ધ" જેવા બીલો લાવે છે પછી ભલે એ પસાર થયા વિના જ પડયા રહેતા હોય-પર તુ શુ આ સરકારમા બેસનાર એટલુ પણ નહિ સમજતા હોય કે પાપ-પુન્ય, આલોક-પરલોક જેવી કર્મ ફીલોસોફીને સારી રીતે જાણવાવાળા જૈનોના બાળ ભલે ઉમરમા નાના હોય પર તુ

એમનાં અંતરમાં રહેલા પુર્વભવોના વૈરાગ્યના સંસ્કારો જ્યારે જાગૃત થાય છે. ત્યારે એમને ઉંમરનો ખ્યાલ નથી રહેતો, તેઓતો આ સંસારને તરવાને–બીજાઓને તરવાનો ઉપદેશ આપવાને જ્યારે ભાગવતી પ્રવજ્યા અંગીકાર કરવાને તત્પર બને છે ત્યારે કાયદાની કલમો એને કેમ રોકી શકે? આ દિક્ષાઓમાં બળજબરી કે ભોળાપણાને સ્થાન નથી જ હોતું–અને ન જ હોવું જોઇએ. અને તોજ આવાં બીલ આવે તો પણ આ દિક્ષાને અટકાવી શકતાં નથી. ખેર આ વાતતો સરકારને સમજવાની છે આપણે શું? આપણે તો પાછા ખાચરોદમાં જ દિક્ષા મહોત્સવ જોવા જવાનું છે.

અને–પછીતો નગર બેવડા હર્ષમાં આવી ગયું. અપૂર્વ ધામધુમ સાથે દિક્ષાની તડામાર તૈયારીઓ થવા લાગી. દરરોજ પુજા પ્રભાવના અને વરઘોડાથી ગામ આખું ગાજવા માંડયું. અને એમાં પણ જ્યારે એ દિક્ષાનો મહાન દિવસ આવી પહોંચ્યો ત્યારે?

ત્યારે તો–અસાઢ વદ બીજના પ્રભાતથી ગામ આખામાંથી નર અને નારીના વૃંદ-બાળક અનેવૃદ્ધોનાં ટોળાં ઉપાશ્રય તરફ ઉભરાવા માંડયાં. સૌ કોઇની સંસાર ત્યાગી જનારના આ સંસારના વેશે છેલ્લાં છેલ્લાં દર્શન કરવાની–એ કિશોરના મોઢાના હાવ ભાવ નીરખવાની ઉત્કંઠા પ્રબળજ હતી. સમય થતાં એક મોટો વરઘોડો ઉપશ્રયમાંથી નીકળ્યો.

પંચકલ્યાણી ઘોડા પર વસ્ત્રા ભુષણોથી સજ્જ થઈ એક કિશોર હસતા મૂખડે બેઠો હતો. કોઇ પંથ ભૂલેલા માનવીને પોતાનો રસ્તો હાથ લાગે અને એનું ધ્યેય નજર સામેજ દેખાવા માંડે ત્યારે એ કેવો આનંદમાં આવી જાય? બાળક માતાથી વિખુટું પડી ગયું હોય અને રોવા માંડયું હોય પરંતુ સામેથી માતાનો સાદ સાંભળે–માતાને આવતી જુએ ત્યારે? ત્યારે કેવું આનંદમાં આવી દોડવા લાગે? એવું જ હાસ્ય આ કિશોરના મુખ પર હતું. અગણિત માનવ મેદનીમાં અવનવી વાતો થવા માંડી.

ભાઈ? સંયમ તો ખાંડાની ધાર છે?

પણ ભાઇ! આ ભાગ્યશાળીને મન તો સંસાર જ ખાંડાની ધાર બન્યો ને? નહિ તો આમ હસ્તે મુખડે સંસાર છોડવાની તાકાત કોની હોય?

ધન્ય છે એનાં માતા પિતાને? ધન્ય એ ગામની ધરતીને કે જ્યાં આવા મહાન પૂણ્ય શાળી આત્માઓનો જન્મ થયો છે.

હા પણ! એ ધન્ય ધરતી, ધન્ય માતા ધન્ય પિતા કોણ છે!
શું નથી જાણતા તમે?

ના હું તો મોડો પડયો, ભાઇ દુકાનના કામમાંથી ઊંચા જ અવાતું નથી આવવાની ઇચ્છાતો અઠવાડીઆ પહેલાં હતી પણ માંડ દુકાનનું કામ પતાવી આજે આવી શકયો. શું નામ છે આ ભાગ્યશાળી કિશોરનું?

એમનુ નામ છે રામરત્ન! નામ એવાજ ગુણ એમનામા, સવત ૧૯૪૦ના કારતક સુદ બીજના દિવસે એક ભાઈ બ્હેનના ભાઇ તરીકે રજપુતાનાના ધોલપુર નગરમા એમનો જન્મ થયો, એમના ભાગ્યશાળી પિતાનુ નામ શ્રેષ્ટિવર્ય શ્રી વૃજ લાલજી અને એ રત્નકુક્ષીની ધારક ભાગ્યશાળી માતાનુ નામ ચપાકુવર,

તે એ ભાગ્યશાળી મ ત પિતા પોતાના પુત્રના મહાપથના પ્રયાણના સમયે કેમ દેખાતા નથી!

ભાઇ? પૂર્વ કર્મની ગતિ ન્યારી છે કહ્યુ છે એક કવીએ કે -

'બાળ પણમા કોઇના માતા પિતા મરશો નહિ'

—છતા રામરત્નની ઉમર બાર વરસની હતી અરે સમજોને કે આજથી બેએક વરસ ઉપર જ સવત ૧૯૫૨ના વૈસાખ મહીનાનો સુર્ય અસ્તાચલે પહોચ્યો હતો ત્યારે શ્રેષ્ટિવર્યશ્રી વૃજલાલજીનો આત્મા આ પીજરાને છોડી જવાની તૈયારી કરવા લાગ્યો હતો-બીસ્તરા પોટલા બાધવા માડયો હતો અને ખરેજ એ દિવસે પાચમા પ્રહરે વૃજલાલજીનો આત્મા યમરાજના રથમા બેસી આ નાશવત શરીર-કાયાના પીજરને છોડી અન્યત્ર ચાલ્યો ગયો

હા પણ એ ભાગ્યશાળી માતા?

સાભળો તો ખરા જેટલી ખબર છે એ બધુજ ટુકમા કહુ છુ 'માતાનો વિયોગ તો આ બાળકને છ છ વરસથી થઇ ગયો હતો, એમને માટે નાની ઉમરમા આ દુખનો અસહ્ય થઇ પડેજ ને? પરતુ

સુખમા કદી ના છકી જવુ દુ ખમા ના હિમત હારવી
સુખદુ ખ સદા ટકતા નથી, એ વાત ઉર ઉતારવી

એ રીતે સુખ દુ ખમા સમાનતા રાખવાની સમજ આપનાર જૈનાગમોનો જેને પૂર્વભવોમા સમાગમ થયો હોય એવા ભાગ્યશાળી ભવ્ય આત્માને આવા પ્રસગે પણ દુ ખ દબાવી શકતુ નથી કર્મની ગતિને જેણે જાણી [illegible] તેને માટે સ સારના સુખ દુ ખ બને સરખાજ છે

છતા પણ રામરત્નતો સ સારમા સર્વની નજરે તો બાળકજ હતાને?

હા અને એટલેજ એ બાળકનો આધાર તુટી પડતા સૌ કોઇને સહજ ભાવે સહાનુભુતિ થાય તો પછી આ તો હતા એમના સગા મામા, એમનુ નામ હતુ ઠાકોર દાસ, ભોપાલના એ વેપારી, બનેવી નો દેહકાળ જાણી તેઓ અહીં આવ્યા અને પોતાને ઘેર ભાણેજને લઇ ગયા

ધન્ય છે એ મામાને કે આવા ભાગ્યશાળી ભાણેજના પગલે ઘર પાવન થયુ-અને ખરેખર ભાણેજ રાતરત્ન આવતા મામાને બેવડો લાભ થયો એકતો એમને પુત્ર

ન્હેતો અને દુકાનમાં પણ પોતાની ગેર હાજરીમાં કોઇકની જરૂર હતી. તે રામરત્ન મામાને પૂરેપૂરા સહાયક નીવડયા અને થોડા સમયમાં તો દુકાનમાં ધ્યાન આપી વાણિજયની કલાને હસ્તગત કરી પણ કહ્યું છે કે :-

'આદર્યાં અધવચ રહે હરિ કરે સો હોય.'

માણસ કરવા શું ધારે છે, અને કરવા બેસે છે. પરંતુ ધાર્યું ધણીનું-કર્મનુંજ થાય છે. પોતાનું ધાર્યું નથીજ થતું. 'હરિ' એટલે 'કર્મસત્તા' અને કર્મ સત્તા જે કરાવે તેજ કરવું પડે છે. કર્મસત્તાની આગળ કોઈનું ચાલ્યું નથી. કરેલાં કર્મો અનુસાર સારાં નરસાં ફળ ભોગવવાનો સમય આવે ત્યારે તે ભોગવ્યા વિના ભાગી છૂટાતું નથી.

જેમણે જૈન શાશનની સેવા કાજે આ કાયામાં પ્રવેશ કર્યો છે. જેઓનું સાધુ-સાધ્વી-સમુદાયના નાયક થવા નિર્માણ થયું છે. જેઓના હાથે અપૂર્વ ગ્રંથોના નિર્માણ થવાનું કાર્ય નિશ્ચિત થઈ ચુકયું છે. એવા મહાન ભાગ્યશાળી આત્મા આ-સંસારના ગંદા ખાબોચીઆમાં પડે પડે વેપારીની ઉપાધીઓમાં કયાંથી રહી શકે? એવા પરમ પૂન્યશાળી આત્માને માટે તો એ આત્માના આ કાયામાં પ્રવેશ સાથે એમના માટેનાં મહાન કાર્યોની પૂર્ણ ભૂમિકા પણ તૈયાર થઇ ચુકે છે.

ઉજ્જૈનમાં ભરાતા સિંહસ્થ મેળામાં ગયેલા રામરત્ન જયારે શ્રીમક્ષીજી તીર્થમાં બીરાજમાન શ્રી. પાર્શ્વનાથ પ્રભુનાં દર્શન કરી પાછા ફરે છે, ત્યારે રસ્તામાં જાણવા મળે છે કે 'સીથીલાચારી શાસકોની સાન ઠેકાણે લાવનાર ક્રિયોદ્ધારક મહાન તપસ્વી વિદ્વદ્ શીરોમણી પ્રભુશ્રી મદ્‌વિજય રાજેન્દ્રસૂરિશ્વરજી મહારાજ મહેન્દપુરમાં બીરાજે છે.

અને રામરત્નજી પણ મહેંદપુર આવા મહાન યોગીરાજનાં દર્શન કરવા આવી પહોંચ્યા, મહાન વિભૂતિનાં દર્શન કર્યાં-પાવન થયા અને બેઠા ત્યારે?

ત્યારે આ કિશોરના મુખની કાન્તિ અને ગંભીરતા જોઇ પૂ. ગુરૂદેવને પણ લાગ્યું કે અવશ્ય આ આત્મા પણ પોતાના પંથે પંથે ચાલી 'શાશ્વત ધર્મ'ના પ્રચારનો ભેખ ધારણ કરવાને યોગ્ય છે જ કહ્યું છે કે,

રણ ચઢયો રજપુત છૂપે નહિ, સૂર્ય છુપે નહિ બાદલ છાયો
માંગણ આવે દાતા છૂપે નહિ, યોગી છુપે નહિ ભભૂત લગાયો.

મતલબ કે લક્ષણ છુપાં રહી શકતાં નથી પછી ભલે સારાં હોય કે નરસાં અને પૂ. ગુરૂદેવે એ સુલક્ષણા સુકુમારને પૂછયું.

કયાં રહો છો ભાઈ?

પહેલાં તો ધોલપુર રહેતો હતો પરંતુ હાલ ભોપાલ રહું છું.

કઈ જાત છે તમારી!

આમતો જાતી મનુષ્ય પંચેદ્રિયની છે પરંતુ સંસાર વ્યવહારને સબંધેતો ઓશવાલ છે

'તમારા ધર્મ કયો!'

'જૈન દિગમ્બર'

તમારા ઉપાસ્ય દેવ કોણ' ગુરુદેવ ઉત્સાહમા પૂછતા જ ગયા

શ્રી રૂષભદેવ સ્વામીથી લઈને શ્રી મહાવીર સ્વામી સુધીના ચોવીસ તીર્થંકરો અને સામાન્ય કેવલી ભગવતો જે અજ્ઞાનાદિ અઢાર દોષોથી રહિત, પ્રશમર સનિમગ્ન અને કામીનીશૂન્ય અકવાળા છે

ગુરૂ કોને કહો છો?

પંચ મહાવ્રતના ધારક, કંચન કામીનીના ત્યાગી, સંસારિક વાસનાઓથી પર, અઢાર અંતરાય દોષોને ટાળવાવાળા ગુરુ કહેવાય છે અને એવાજ ગુરુજનોની સેવાથી આત્મ કલ્યાણના માર્ગે પ્રયાણ કરાય છે

ધર્મ કોને કહેવાય છે?

હિંસાદિ દોષોથી રહિત, આપ્ત પ્રણિત અને સદ્‌ગતિને દેવાવાળા ધર્મને જ ધર્મ કહેવાય છે જે દ્વારા સ્વપરનુ કલ્યાણ અવશ્ય સાધી શકાય છે

અને આમને આમ ઘણી પ્રશ્નોતરી થઈ અને પૂ ગુરૂદેવને ખાત્રી થઈ કે રામરત્ન ખરેખર રત્ન સમાન જ છે અને જ્યારે રામરત્ને પૂ ગુરૂદેવને પોતાના અંતરની વાત કરી કે,

પુ ગુરૂદેવ' અને આ સંસારની અસાર માયામા રાચવાનુ મન નથી મારી તો ભાવના છે કે ધર્મની રક્ષા પ્રચાર અને પ્રસારને ખાતર આ જીવનનુ દાન આપના જેવા સમર્થ યોગીરાજને આપી દઉં, પરંતુ આપ મારો સ્વીકાર કરશો?

અને રામરત્નના હૃદયમા રહેલા વૈરાગ્યના અંકુરોને નીરખી ગુરુદેવે એ અંકુરોને મોટા છોડ રૂપે ઉભા કરવા રામરત્નને વિહારમા પોતાની સાથે રાખ્યા અને આગમ સુત્રો-તત્વ પ્રકરણ અને વ્યાકરણ શાસ્ત્રોનો અભ્યાસ કરાવવા માડયો જ્યારે રામરત્નજી તો દરરોજ એકજ વિનંતિ કરતા હતા દીક્ષા આપી પોતાને ચરણોમા લેવાની

કહ્યુ છેકે 'हीरा मुखसे ना कहे लाख हमारा मोल' સાચો હીરો હોય તો પોતે પોતાની કિંમત આકતો નથી એની કિંમતતો સાચો ઝવેરીજ આંકી શકે છે એમ મહાન-પુરુષ પોતાનુ મહત્વ જાતે બીજાને નથી વર્ણવતા-બતાવતા 'એની તો મહાત્માજ

મહત્વતાને સમજે છે. એમ જ્યારે રામરત્નજીની સર્વ શક્તિની કસોટી. પૂ. ગુરુદેવે કરી અને તેમાં સાંગોપાંગ પસાર થયા ત્યારે.......

આજે આપણે જે અપૂર્વ અવસરને પામવા ભાગ્યશાળી બન્યા છીએ તે પરમ-ઉપકારી શ્રી ભાગવતી દીક્ષાનો મહાન પ્રસંગ ઉપલબ્ધ થયો.

ખરેખર ધન્ય છે આ મહાન આત્માને કે જે અવસરે આપણે આ સંસારમાં પ્રવેશ કરવા-પ્રભુતામાં પગલાં માંડવાનું સમજી-લગ્નના વરઘોડે ચડીએ છીએ ત્યારે આ કોમળ-સુકોમળ-કિશોર સંસારને ત્યાગ કરવાના પંથે પડે છે. સમજાતું નથી કે પ્રભુતામાં પગલાં માંડવાં તે આનું નામ કે પછી આપણે સંસાર વધારવાના કારણ રૂપ ગૃહ સંસારમાં પ્રવેશ કરીએ એનું નામ ?

હા ભાઇ હા ? ચાલ ચાલ વાતોમાંને વાતોમાં આપણે તો પાછળ જ રહી ગયા વરઘોડો તો આગળ જ ચાલવા માંડયો છે.

અને બંને પ્રવાશીઓ-જે દૂર દૂરથી વિરલ વિભૂતિ પૂ. ગુરૂદેવનાં દર્શન કરી પાવન થવા અને કીશોર વયે સંસાર ત્યાગનાર ભાગ્યશાળી કિશોર-રામરત્નજીને નીરખી એનું અનુમોદન કરી પૂન્ય સંચય કરવા ખાચરોદમાં આવ્યા હતા તે આગળ ચાલ્યા.

પાછળ રહી ગયેલા પાંચ સાત હતા જે દીક્ષાર્થી કિશોરના જીવન વિષે પોત પોતાની જાણ કરી એક બીજાને જણાવી રહ્યા હતા. આમાંથી ચાર.પાંચતો વરઘોડા ભેગા થઈ ગયા પરંતુ બે બાકી હતા એમની વાત તો હજુ પુરી જ ન્હોતી થઈ.

વાત વાતમાં એકે કહ્યું અને જાણો છો આટલી નાની વયમાં પરાક્રમ પણ કેટલાં કર્યાં છે આ કિશોરે ? એક વખત મામાની દુકાન પર રાત્રે બે ચાર મિત્રો સાથે બેઠા હતા રાતના બારેક વાગ્યા હશે, ત્યાં સામેની દુકાનના મેડા પર પ્રકાશ દેખાયો અને બારી ખોલી એક માણસ નીકળ્યો અને તે જવા વાટે નીચે ઉતર્યો, રામરત્નજીએ આ જોયું અને એકદમ સમજી ગયા કે આ કોઇ ચોર છે. અને તરત જ મિત્ર મંડળીને પડતી મૂકી ચોર ચોર કરતા એ તો ચોરની પાછળ દોડયા.

જાણો છો આપણે તો આજે ચોર ચોર બૂમો મારતા જ ઉભા રહીએ છીએ ત્યારે ચોરની પાછળ જવાની હિંમત કોઈની ચાલે છે ખરી ? પણ આતો હતા હિંમતવાન અજબ આત્મશકિતના ધણી, એતો દોડયા અને પકડી પાડયો ચોરને મુદ્દામાલ સાથે, અને ખરેખર સરકારે પણ આ બાલવીરની કદર કરી ઇનામ આપ્યું, આવા આવા તો કેટલાય પ્રસંગ આટલી નાની વયમાં બન્યા હશે ? આપણને તો યાદ પણ કયાંથી હોય.

ખરેખર ધન્ય એમની હિંમતને ? ધન્ય એમની આત્મ શકિતને ? ? અરે હા પણ આપણે તો પાછળ જ રહી ગયા પાછળ રહીશું તો દીક્ષાનો પ્રસંગ દુરથી જ દેખાશે ચાલો ચાલો વરઘોડાની આગળ જઇ સારી જગ્યા લઈ આગળ બેસી જઈએ એટલે આવો મહાન પ્રસંગ તો સંપૂર્ણ જોવા મળે !

અને અંને ભાવુકોએ પગ ઉપાડયા જોરથી

અને અસ ખ્ય માનવ મેદની સભાકારે બેસી ગઈ વચ્ચે–મધ્યમા સમોવસરણ આકારના ત્રીગડા પર પરમ વિતરાગ પ્રભુની પ્રતિમા બીરાજમાન કરવામા આવી હતી અને વિતરાગ પરમાત્માની–ચતુર્વિધ શ્રીસ ઘની સાક્ષીએ–પૂ ગુરુદેવે રામરત્નજીને ચારિત્રના સ યમના પ્રતિક સમાન ઓઘો અને મુહપતી અર્પણ કર્યા–પોતાના શિષ્ય બનાવ્યા

એમનુ નામ પડ્યુ મુનીરાજ શ્રી યતીન્દ્રવિજયજી

લગભગ ■ દસકા પહેલાનો આ પ્રસ ગ જોનારને આજેય આખ આગળ તરવરે છે સાઠ સાઠ વરસના વ્હાણા વાવા આવ્યા એક વખતના શ્રી રામરત્નજી તે વખતે મુનીરાજશ્રી યતીન્દ્રવિજયજી બન્યા હતા–સવ ત ૧૯૮૦મા જાવરા નગરમા એમને ઉપાધ્યાય પદ પ્રદાન થયુ અને

સ વત ૧૯૯૫ મા વૈસાખ શુકલા દશમીના દિવસે આહોર નગરમા અપૂર્વ મહોત્સવ પુર્વક આચાર્ય પદવી પ્રાદાન કરવામા આવી અને...

સાઠ સાઠ વરસોથી શુદ્ધ સ યમના પ થે વીહરનાર પૂ ગુરુદેવે છ દસકાઓમા કેટલા મહાન કાર્યો કર્યા એની ગણત્રી કરવા જઈએ તો પારજ કેમ આવે ?

વિશ્વ વિભુતિ પૂ ગુરૂદેવશ્રી મદ્‌વિજય રાજેન્દ્રસૂરિશ્વરજીએ રચેલ શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્રકોષનુ સ પાદન–અને સ શોધન પ પૂ ગુરૂદેવથી શાન્તમુર્તિ સાહિત્ય વિશારદ શ્રી મદ્વિજય ભુપેન્દ્રસૂરિશ્વરજી સાથે રહીને કર્યુ, કેટલાય સ્થાનોએ પડેલા વિખવાદોને દૂર કરી એકતાની સ્થાપના કરી, કેટલાય નગરમા પ્રતિષ્ઠા અ જન સલાકાઓ કરાવી ઉપધાનતપ નવપદ આરાધનતપ અને એવા એવા બીજા પણ ઘણા તપની આરાધના કરી–કરાવી શ્રી લક્ષ્મણીજી ભા–વપુર મોહનખેડાદિ તીર્થોનો ઉધ્ધાર પણ પૂ વર્તમાનાચાર્યના સદ્દુપદેશથી જ થયો અને સાહિત્યના ક્ષેત્રમા પણ અનેક સ સ્કૃત પ્રાકૃત–ગ્ર થો ગદ્ય પદ્ય રૂપે લખી મહાન ફાળો આપ્યો અને છે લે પોતાના ઉપકારી–સમાજના પરોપકારી પ્રભુ શ્રી મદ્‌વિજય રાજેન્દ્રસુરિશ્વરજી મહારાજનો નિર્વાણ અર્ધ સતાબ્દિ મહોત્સવ પણ એમના જ સદુપદેશથી શ્રી મોહનખેડા–રાજગઢ કે જ્યા સ્વ પૂ ગુરુદેવ વિરલ વિભૂતિનું નિર્વાણ થતુ છે ત્યા એટલા માટે મનાવવામા આવ્યો કે,

સમાજની આજની વેર વિખેર પરિસ્થિતિને સ ગઠન રૂપે વણવા, જૈન ધર્મનુ સાચુ સ્વરૂપ દુનિયાને બતાવવા દેશભરના અગ્રેસરો અને બીજા પણ અનેક જનો સાથે મળી ચર્ચા વિચારણા કરી સમાજોદ્ધાર દેશોદ્ધાર અને માનવોદ્ધાર કરનાર શાશ્વત ધર્મના પ થને સમજે અને દુનિયાને સમજાવે

સાથે જ ગુરુદેવના સ્મારક રૂપમા શ્રીમદ્‌રાજેન્દ્રસૂરિ સ્મારક ગ્રન્થ પણ પ્રકાશિત કરાવ્યો જેને જૈન અને જૈનેતર વિદ્વાનોની કસાયેલી કલમથી સમૃધ્ધ બનાવામા

આવાં ભગીરથ કાર્યોના પ્રણેતા પૂ. ગુરૂદેવશ્રી વર્તમાનાચાર્ય શ્રી મદ્વિજય યતીન્દ્રસૂરિશ્વરજી મહારાજ સાહેબશ્રીને આથી ભૂરી ભૂરી વંદના સૌકોઇથી થાય એમાં નવાઇ શું !

આ અપૂર્વ 'અભિનંદન ગ્રંથ' એમના રૂણમાંથી મૂકત થવા આપણા સમાજ-માંથી પ્રગટ થાય છે પરંતુ રૂણ મુકત થવા માટેતો પૂ. ગુરૂદેવે જે માર્ગ આપણને બતાવ્યો છે તે માર્ગે જવાની આપણે બધાએ પ્રતિજ્ઞા લેવી પડશે અને તોજ સાચા અભિનંદનની આ પૂર્તિ ગણાશે.

થરાદ અને પૂ ગુરૂદેવ

લેખીકા —સાધ્વી શ્રી મૂક્તિ શ્રી મહારાજ

સંવત ૨૦૧૪ની સાલ અને અસાઢ સુદી ચૌદસનો દિવસ થરાદ (થીરપુર)ના માટે અતિ આનંદનો દિવસ હતો, અતિ ઉલ્લાસનો દિવસ હતો

એવુ તે શુ હતુ એ દિવસે?

પૂ ગુરૂદેવ શ્રી મદ્દવિજય યતીન્દ્રસુરિશ્વરજી મહારાજ ચાતુર્માસ નિમિતે થરાદમાં પ્રવેશ કરતા હતા એ દિવસે?

થરાદના દ્વાર સમી હનુમાનની દેરી અને એથી પણ બહાર લગભગ વરખડી કે જયા શ્રી પાર્શ્વનાથ પ્રભુના પગલા છે (અને પાસેજ પૂ તપસ્વી મુનીરાજ શ્રી હર્ષ વિજયજી મહારાજનો સ્વર્ગવાસ થતા એમનો અગ્નિ સંસ્કાર કરી એક નાનુ સરખુ સ્મારક ઉભુ કર્યું છે) ત્યાથી માંડી અને છેક ધર્મશાળા સુધીમા આખો રસ્તો ઉપર અવનવા તોરણોથી શણગારવામા આવ્યો હતો દિવાલો તેના પર લખેલ સોનેરી સુત્રનોથી શોભતી હતી ભૂમિ ગઈ કાલે જ થયેલ સમયસરની વર્ષાના કારણે ઠંડક અર્પી રહી હતી

આગળ બેન્ડ અને પાછળ 'વંદેવીરમ્' 'જૈન શાસનનો જય જયકાર' કરતી અપાર માનવ મેદની પૂ ગુરૂદેવની સામે સામૈયુ લઈ જઇ રહી હતી મલુપુર જે થરાદથી બે માઈલ જ દૂર છે ત્યા પૂ ગુરુદેવ આગળના દિવસે બીરાજતા હતા ત્યાથી વિહાર-થરાદ તરફ થઈ ચુકયો હતો સાથે હતો શિષ્ય સમુદાય અને થરાદથી દર્શન માટે અધીરા બનેલા અગાઉથી અહી આવી પૂ ગુરૂદેવશ્રીના વરસો પછી દર્શન કરી તૃપ્ત થયેલ થરાદ અને આજુબાજુના ગામોના અનેક નરનારી આ રીતે ભવ્ય ધામધુમ પૂર્વક પ્રવેશ કર્યો હતો પૂ ગુરુદેવે થરાદમા

અને પ્રવેશ કર્યા બાદ?

પછીતો દરરોજ વહેવા માંડી એમની ઉપદેશ ધારા! પરીણામ શુ આવ્યુ એ ઉપદેશનુ પછી?

પંદરમા સૈકા લગભગમા થરાદની ભાગોળેથી નીકળેલ શ્રી મહાવીર સ્વામીની અતિભવ્ય પ્રતિમાજી જે આજ સુધી પરોણા દાખલ બીરાજમાન હતા તેની પ્રતિષ્ઠા એક ભવ્ય જિનાલય બંધાવી કરાવવાનુ નક્કી કર્યું થરાદ શ્રી સંઘે

અને સંઘનુ કામ એટલે પુછવુ જ શું? સંઘના કામનો વેગ એટલે? જાણે

ગ્રાન્ડ ટ્રન્ક એક્ષપ્રેસ, ગણ્યા દિવસોમાં તો જિનાલય બનાવવા માટે જંગી મોટા પથ્થ-આવી પહોંચ્યા.

અને પછી ?

પછી તો આવી પહોંચ્યા શિલ્પકારો અને થવા માંડયું કોતરકામ અને જોત જોતામાં તો એક જિનાલય તૈયાર થઇ ચુકયુ (જે જિનાલયનો ફોટો આ સામેજ છપાયો છે) શ્રી રૂષભદેવ ભગવાનનું દહેરાસર તો ભવ્ય હતું જ અને પડખેજ આ એક અતિ ભવ્ય જિનાલય બનાવી બંને જિનાલયો ફરતો એક મોટો કોટ થતાં બંને જિનાલય એક થતાં ભવ્ય અને અતિભવ્ય ભેગા થતાં...

શું લખવું એજ સુજતું નથી...એવી સુંદરતા એ જિનાલયની લાગવા માંડી.

અને મહા સુદ ૬ સંવત ૨૦૦૮ નો દીવસ હતો આ નૂતન જિનાલયમાં શ્રી મહાવીર સ્વામી, શ્રી આદીનાથ ભગવાન, શ્રી શાન્તિનાથ ભગવાન અને બીજી ઘણી પ્રતિમાજીઓની પ્રતિષ્ઠા કરવાનો, સં. ૨૦૦૪ અને સં. ૨૦૦૫ નાં બે ચાર્તુમાસમાં થરાદશ્રી સંઘમાં એક જ્યોત પ્રગટાવી બે વરસ મારવાડ વિહાર કરી જ્યારે પૂ. ગુરૂદેવે થરાદમાં ધામધૂમ પૂર્વક પ્રવેશ કર્યો ત્યારે એમણે પ્રગટાવેલી જ્યોત જગમ-ગતી હતી-નૂતન જિનાલય તૈયાર થઈ ચૂકયું હતું.

પછી તો થવા માંડી તડામાર તૈયારીઓ પ્રતિષ્ઠાની, નુતન જિનાલયને અવનવાં તોરણો અને ધ્વજા પતાકાઓથી શણગારવામાં આવ્યું. ઈલેકટ્રીક લાઈટથી ઝગમગાટીત કરવામાં આવ્યું. બહાર એક ભવ્ય મંડપ બનાવવામાં આવ્યો મંડપમાં એક મોટી વેદીકા ઉપર નુતન પ્રતિમાઓને બીરાજમાન કરવામાં આવી અને આસપાસ શત્રુંજય અષ્ટાપદજી વિ. તીર્થોના સ્વરૂપ રૂપે ગીરીમાળાઓની રચના તેમજ અન્ય કથાત્મક ચિત્રોના પરદાથી મંડપને શણગારવામાં આવ્યો અને આ મંડપમાં પ્રતિષ્ઠાનું કાર્ય શરૂ થયું

પ્રતિષ્ઠાના પ્રસંગને અનુરૂપ થરાદમાં એક બેંડ મંડળની સ્થાપના પૂ. ગુરૂદેવશ્રીના ઉપદેશથી કરવામાં આવી જેથી બહાર ગામથી બેન્ડ મંડળ બોલાવી ફાલતુ ખર્ચ ન થાય. આ મંડળનું નામ રાખવામાં આવ્યું શ્રી યતીન્દ્ર જૈન બેન્ડ મંડળ જે આજે પણ સાર્વજનિક કાર્યોમાં પોતનો ફાળો આપે છે.

પ્રતિષ્ઠાનો દિવસ આઠ આઠ દિવસના મહાન ઉત્સવ પછી આવી પહોંચ્યો તે દિવસે આખું થરાદ વહેલી સવારમાં ઉઠી પ્રતિષ્ઠા મહોત્સવ માટે ઉભા કરાયેલા મંડપમાં આવવા માંડયું.

થરાદ આજે ઉભરાઈ ગયું હતું વસ્તી ડબલથી પણ વધી ગઇ હતી. આજુ બાજુનાં ગામોમાંથી તેમજ મારવાડ–રાજસ્થાન–અને માળવામાંથી હજારો ભાવુકો આ પ્રતિષ્ઠા મહોત્સવ પર આવી પહોંચ્યા હતા. કારણ આ પ્રસંગે આવવાથી એક કામ અને

દો કાજ જેવુ હતુ પ્રતિષ્ઠા મહોત્સવ એક અૌલૌકિક પ્રાચિન પ્રતિમાજીનો હતો જેના દર્શનથી પાવન થવાનુ હતુ એક કાર્ય, બીજુ હતુ પુ ગુરુદેવ શ્રીમદ્વિજય યતીન્દ્રસૂરિશ્વરજી અને એમના વિદ્વાન શિષ્ય સમુદાય તેમજ થરાદમા બીરાજમાન સાધ્વીજી મહારાજોના અપુર્વ દર્શનનો લાભ મળવાનુ હતુ આવા પ્રસ ગે આવવાનુ કોણ ભૂલે?

આમ પ્રતિષ્ઠા મહોત્સવ નિર્વિઘ્ને સ પૂર્ણ થયો સાથે સાથે બીજા જિનાલયો શ્રી પાર્શ્વનાથજી જિનાલય ઓનારા શેરી શ્રી વિમળનાથ જિનાલય આખલી શેરી શ્રી સુપાર્શ્વનાથ જિનાલય આખલી શેરી અને શ્રી કમકાર દેવીનુ મ દિર (પાચસો વોરા કુટુ બની કુળદેવી) દેસાઈ શેરી વિ જગ્યાએ પણ આજ સમયે ધ્વજ દ ડ તેમ ગુરુમૂર્તિ આદિની પ્રતિષ્ઠાઓ પૂ ગુરુદેવશ્રીના ઉપદેશથી થઈ

આજ સમયે 'શ્રી જૈન પ્રતિમા લેખ સ ગ્રહ' જે પૂ ગુરુદેવે સ વત ૨૦૦૪ મા સગ્રહિત કરેલ અને પૂ ગુરુદેવશ્રીની એ સમયે થયેલ ગ ભીર માદગીના કારણે શ્રી દોલતસિહ લોઢાને આ કાય સોપાયેલ તેનુ પ્રકાશન પણ પૂ ગુરુદેવશ્રીના ઉપદેશથી થયુ આ પુસ્તક ઈતિહાસે અને અને પુરાતત્વના લેખકો મ ટે ઘણુ મહત્વનુ છે અને તેમા પૂ ગુરુદેવે શ્રી જીરાવલી તીર્થથી તે થરાદ સુધી વિહાર દરમ્યાન સ ગ્રહિત કરેલ અથવા ગામોની પ્રાચિન પ્રતિમાઓના લેખો અક્ષર સ પ્રગટ થયેલ છે

આમ પુ ગુરુદેવશ્રી નો થરાદ પર થરાદ પર થયેલ ઉપકાર એ થરાદ અને પૂ ગુરુદેવના સ બ ધનો પુરાવો છે અને રહેશે અને

અને હજુ પણ પુ ગુરુદેવ થરાદ માટે કેટ કેટલુ કરશે એનો અ દાજ અમદાવાદમા નિર્માણ થતા શ્રી રાજેન્દ્ર સૂરિ જૈન જ્ઞાન મ દિર પરથી આવી શકશે જે પૂ ગુરુદેવશ્રીના ઉપદેશથી કાર્યની શરૂઆત થઇ છે

श्री यतीन्द्रसूरीश्वरः

भारतीय दर्शनों में आत्मस्वरूप

लेखकः- स्व. वि. श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज अन्तेवासी
मुनिश्रीकल्याणविजयजी महाराज

पुनर्जन्म और मोक्ष माननेवाले सभी दार्शनिक देहादिजड़भिन्न आत्मतत्त्व को मानते हैं। चाहे फिर वह आत्मा किसी के मत से सर्वव्यापक हो या किसी की मान्यता से अव्यापक हो। कितनेक दार्शनिक उस आत्मा को एक या कुछ अनेक, किसी का मन्तव्य क्षणिकत्वविषयक हो या किसी का नित्यत्वविषयक पर सभी को पुनर्जन्म और उस का कारण अज्ञान आदि कुछ न कुछ मानना ही पड़ा है। अतएव ऐसे विचारवाले सभी दार्शनिकों के सामने निम्नोक्त प्रश्न एक समान ही विचारणीय हैं।

जन्म के कारणभूत तत्त्व का आत्मा के साथ सम्बन्ध कब हुआ और वह सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादिकालीन है तो फिर उस अनादि का नाश कैसे? एक वार आत्मा से सर्वथा अनादिकाल का सम्बन्ध दूर हो जाने पर फिर उस सम्बन्ध का आत्मा के साथ में सम्बध क्यों न होगा? और यदि हो तो उस में आपत्ति ही क्या हैं? इस तरह के प्रश्नों का उत्तर सभी अपुनरावृत्तिरूप मोक्ष माननेवाले दार्शनिकोंने अपनी अपनी अलग २ परिभाषा में भी वस्तुतः एकरूप से ही प्रदर्शित किया है।

सभीने आत्मा के साथ जन्म के कारण के सम्बन्ध को अनादिकालीन ही माना है। सभी कहते हैं कि यह वतलाना तो असम्भव ही है कि अमुक समय में आत्मा के साथ जन्म के कारणभूत मूलतत्त्व का आत्मा से सम्बन्ध हुआ। फिर चाहे वह जन्म का मूल कारण अज्ञान, अविद्या, वासना, कर्म, दृष्ट, भाग्य, दैव या और कुछ पुरुष-प्रकृति

भेद आदि के नाम से बतलाया जाता हो, पर सभी स्वसम्मत अमूर्त आत्मतत्त्व के साथ सूक्ष्मतम किसी न किसी प्रकार का पर मूर्त तत्त्व का ऐसा विचित्र सम्बन्ध मानते ही हैं। जो कि अविद्या या अज्ञानादि उपरोक्त कारणों की विद्यमानता में ही अपना अस्तित्व रखता है। अतएव सभी द्वैतवादी के मत से अमूर्त और मूर्त का पारस्परिक सम्बन्ध निर्विवाद है। जिस तरह अज्ञान अनादिकालीन होने पर भी नष्ट होता है वैसे ही वह अनादि सम्बन्ध भी अज्ञान का नाश होते ही नष्ट हो जाता है। पूर्णज्ञान की प्राप्ति के बाद सर्वथा दोष का सम्भव न होने के कारण अज्ञान आदि का उदय किसी हालत में सम्भवित ही नहीं हो सकता। अतएव अमूर्त–मूर्त का सामान्य सम्बन्ध मोक्षदशा में होने पर भी वह अज्ञानजन्य न होने के कारण जन्म का निमित्त कदापि नहीं बन सकता।

संसारकालीन यह आत्मा और मूर्त द्रव्य का संयोग अज्ञानजनित ही है जब कि मोक्षकालीन सम्बन्ध में उपरोक्त सारी बातें सदा के लिये वैसी नहीं है।

सांख्य-योगदर्शन आत्मा-पुरुष के साथ प्रकृति का, न्याय–वैशेषिक दर्शन परमाणुओं का ब्रह्मवादी–वेदान्ती अविद्या–माया का बौद्धदर्शन चित्तनाम के साथ रूप का और जैनदर्शन जीव के साथ कर्माणुओं का संसारकालीन विलक्षण सम्बन्ध मानते हैं। ये सभी मान्यता पुनर्जन्म और मोक्षविषयक विचार में से फलित हुई हैं।

इस से यह तो स्पष्ट जाना जाता है कि सभी भारतीय दार्शनिकों का मुख्य और अंतिम चिंतन आत्मविषयक ही रहा है। अन्य सभी विषय–विचार आत्मतत्त्व की शोधखोल में से ही उत्पन्न हुए हैं। अतएव आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप के विषय में एक दूसरे से भिन्न परस्पर विरोधी ऐसे अनेक मत–मतान्तर बहुत ही विस्तार से दर्शनशास्त्रों में पाये जाते हैं। आत्मा को नित्य एवं कूटस्थ माननेवाले दर्शनों में औपनिषद्, सांख्य आदि दर्शनों के नाम प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह मान्यता उपनिषद् काल से भी पहिले की है।

'आत्मा अर्थात् चित्त या नाम को भी सर्वथा क्षणिक मानने का जो बौद्ध सिद्धान्त है वह भी गौतमबुद्ध का समकालीन तो अवश्य ही है। इन सर्वथा नित्यत्व और सर्वथा क्षणिकत्व स्वरूप दो एकान्तों के मध्य हो कर चलनेवाला उक्त दोनों एकान्तों का समन्वयात्मक नित्यानित्यत्ववाद भगवान् श्रीमहावीरप्रभु के द्वारा (भग० श० ७३, २ आदि आगमग्रन्थों में) स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया गया है। —पं० सुख०

इस जनाभिमत आत्मनित्यानित्यत्ववाद का समर्थन एवं प्रतिपादन मीमांसा अग्रगण्य कुमारिल जैसे विद्वान्ने भी अपनी (श्लोक वा० श्लो० २८ में) बड़ी ओजस्विनी तार्किक शैली के साथ सविस्तर वर्णन किया है। इसी तरह का प्रतिपादन जैनतर्क ग्रन्थों में जगह २ पर पाया जाता है। यद्यपि इस विषय में जब हम समर्थ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य के न्यायग्रन्थों को देखते हैं तो यही निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने भी जैनमान्यतानुसार नित्यानित्यत्व आत्मतत्त्व की पुष्टि में कुमारिल के श्लोकवार्तिकान्तर्गत

श्लोकों का ही उद्धरण दिया है, जो कि वस्तु के भाव को प्रकट करनेवाले तत्त्वसंग्रहगत श्लोकों का ही अवतरण है। इन श्लोकों का सार मात्र एक ही स्वरूप का कथन करता है जो कि मीमांसक मान्यता की ही पुष्टि है।

ज्ञान एवं आत्मा में स्वावभासित्व–परावभासित्वविषयक विचार के मूल तो श्रुति में पाये जाते हैं–"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् ॥" (कठोपनिषद्, ५-१५)

इसी तरह आगमकालीन साहित्य में भी इस विचार का उल्लेख यत्र तत्र किया हुआ स्पष्ट दिखाई देता है। पर इन विचारों का विशदरूप से स्पष्टीकरण एवं समर्थन और प्रतिपादन तो विशेष रूप से तर्कयुग में ही पाया जाता है। परोक्ष ज्ञानवादी कुमारिलआदि मीमांसक के मतानुसार ही ज्ञान और उससे अभिन्न आत्मा इन दोनों का परोक्षत्व अर्थात् मात्र परावभासित्व सिद्ध होता है। योगाचार बौद्ध की मान्यतानुसार विज्ञान बाह्य किसी चीज का अस्तित्व न होने से और विज्ञान स्वसंविद् होने से ज्ञानरूप तद्रूप आत्मा का मात्र स्वावभासित्व फलित होता है। इस ज्ञान के स्वावभासित्व–परावभासित्व के विषय में जैनदर्शनने अपनी अनेकान्तदृष्टि के अनुसार ही अपना मत स्थिर किया है—

स्वार्थावबोधः क्षम एव बोधः, प्रकाशते नार्थकथान्यथा तु।
परे परेभ्योभयस्तथापि, प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ॥ १२ ॥

[अन्ययोगव्यवच्छेदिका]

श्रीमद्हेमचन्द्राचार्यने ज्ञान एवं आत्मा दोनों को स्पष्टतया स्वपरावभासी ही कहा है, इसी बात को पूर्ववर्त्ती आचार्यों में से सर्व प्रथम श्रीसिद्धसेनदिवाकरसूरिने ही बतलाई है। —न्याय, ३१।

उपरोक्त श्लोक में भी श्रीसिद्धसेनदिवाकर सूरिके ही कथन का निर्देश किया गया है। अपने 'प्रमाणनयतत्त्व लोकालङ्कार' में श्रीवादिदेवसूरिने आत्मा का स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए जो जैनेतर मतव्यावर्तक अनेक विशेषण दिये हैं, उन में एक विशेषण देहव्यापित्व भी आत्मा के लिये दिया गया है। इस विशेषण के द्वारा आत्मा को देहव्यापित्व बतलाकर अन्य मान्यता का निराकरण किया है। जैसे कि वेदान्ती आत्मा को अणुपरिमाणी मानते है और अणुरूप परिमाणी होने से देह के एक देश–हृदयपुण्डरीक में ही आत्मा का निवास मानते हैं परन्तु यह प्रत्यक्ष से बाधित विषय है क्यों कि हमें शरीर के प्रत्येक अवयव–अङ्गोपाङ्ग में सुखदुःख का अनुभव होता हुआ दिखाई देता है। इसलिये आत्मा का अणुपरिमाण मानना भी उचित नहीं ठहरता है।

कितने ही आत्मा को महत्परिमाणवाला मानते हैं परन्तु यह भी किसी तरह से मानने योग्य नहीं हैं कारण कि–इस मान्यतासे आत्मा शरीर के बाहर भी रहेगा और होगा।

"युञ्जानस्य योगसमाधिजमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मा प्रत्यक्ष इति।" यद्यपि न्याय और वैशेषिक मान्यता में कुछ अन्तर जान पड़ता है, तथापि इनकी प्राचीन या अर्वाचीन मान्यता के अनुयायी सभी एक मत से इस बात को मानते हैं कि- योगी की अपेक्षा प्रत्यक्ष ही है। कारण कि सभी की मान्यता में योगजन्य प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता ही है। परन्तु प्राचीन नैयायिक और वैशेषिक में अर्वाक्-दर्शी की अपेक्षा कुछ भेद है। इन के मन्तव्य में आत्मा को प्रत्यक्ष न मान कर अनुमेय माना गया है[१]।

प्रभाकर की मान्यता में प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि किसी में से कोई भी तरह का संविद् क्यों नहीं हो पर उस में आत्मा तो प्रत्यक्ष रूप से अवश्य ही प्रभिन्न-भासित होता है। जब कि पिछले नैयायिक और वैशेषिक विद्वानों ने "तदेवमहं प्रत्ययविषयत्वादात्मा तावत्प्रत्यक्ष" आत्मा को उसके मानसप्रत्यक्ष का विषय मान कर प्रत्यक्ष बतलाया है।

ज्ञान को आत्मा से भिन्न माननेवाले सभी दर्शन के मत से यह बात तो फलित होती है कि- मुक्तावस्था में योगजन्य या और किसी प्रकार का ज्ञान न रहने के नाते आत्मा साक्षात्कर्ता एवं साक्षात्कार का विषय नहीं ठहर सकता। इस विषय में दार्शनिकों के विचार और उनकी तर्कजटिल विविध भाँति की कल्पनाएं अतीव विस्तृत हैं पर यहाँ पर उन का प्रसङ्ग नहीं है।

प्रस्तुत आत्मस्वरूप के विषय में स्वप्रकाश और परप्रकाश का कुछ दिग्दर्शन करना जरूरी है। सभी दर्शनों में ज्ञान को लेकर लौकिक और अलौकिक का विचार बहुत ही विस्तार के साथ पाया जाता है। इन्द्रियजन्य और मनोमात्रजन्य इन्द्रिय संनिकर्षविषयक ज्ञान को लौकिकप्रत्यक्ष कहा गया है[*]। अलौकिकप्रत्यक्ष का वर्णन भिन्न २ दर्शनों में भिन्न भिन्न नाम से बतलाया गया है। न्याय-वैशेषिक, बौद्ध सांख्य, योग सभी अलौकिकप्रत्यक्ष का योगिप्रत्यक्ष अथवा योगि-ज्ञान नाम से व्यवहार करते हैं।

मीमांसक जो कि प्रधानतया सर्वज्ञत्व का एवं धर्माधर्मसाक्षात्कार का विरोध ही करते हैं परन्तु फिर भी वे मोक्ष के अङ्गभूत आत्मज्ञान के अस्तित्व का स्वीकार करते ही हैं जो वास्तविक में योगजन्य या अलौकिक ही सिद्ध होता है।

वेदान्त में जो ईश्वरसाक्षी चैतन्य की परिभाषा मानी गई है वही यहाँ पर अलौकिकप्रत्यक्ष स्थान का ही स्वरूप है।

जैनदर्शन की परम्परा आगमानुसार यही रही है कि जो इन्द्रियजन्य न हो वही ज्ञान इसमें प्रत्यक्ष माना जाता है। दर्शनान्तरमान्य इन्द्रियजन्य लौकिक

---

१ आत्मा तावत्प्रत्यक्षतो न गृह्यते न्याय भा १-१-१०। तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे —वै० ८-१ २

* नैयायिकास्तु इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् —न्याय-११-४।

प्रत्यक्ष वह वस्तुतः प्रत्यक्ष नहीं अपितु परोक्ष ही माना जाता है। श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपने विशेषावश्यकभाष्य गाथा ९५ में "इंदियमणोभवं जं तं संववहार पच्चक्खं" इसके द्वारा आगमिक द्विविध प्रमाणविभाग में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान इन पांचों ज्ञान में से प्रथम दो को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष बतलाकर अन्य तीनों को पारमार्थिक प्रत्यक्ष रूप से माना है और इसी विचार से आर्यरक्षितसूरि स्थापित इन्द्रियजन्य-नोइन्द्रियजन्य ज्ञान जो कि नंदी सूत्रकार स्वीकृत मन्तव्य का तर्कपुरस्सर शैली से वर्णन किया गया है। इस तरह से जैन दर्शन की तार्किक परम्परा प्रत्यक्ष के दो भेद मान के दर्शनान्तर मान्य लौकिक प्रत्यक्ष जिसे कहा जाता है उसें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहती है[1]।

अर्थात् पांच इन्द्रिय और मनोजन्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है। इस से अतिरिक्त शेष तीन ज्ञान को नोइन्द्रियजन्य होनेके कारण पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है।

तत्प्रमाणे, आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत्।
—तत्त्वार्थसूत्र।

जैनेतर दर्शनों में जिसे अलौकिकप्रत्यक्ष कहा जाता है उस ही को जैन मतमें पारमार्थिक प्रत्यक्ष के नाम से कहा जाता है। पारमार्थिकप्रत्यक्ष के कारण रूप से लब्धि या विशिष्ट आत्मशक्ति का जो वर्णन किया जाता है, वह एक तरह से अन्य दर्शनमान्य योगजधर्म की ही परिभाषा को बतलाता है अर्थात् योगजन्य ही है।

ज्ञान को स्वप्रकाशी माननेवालों में मीमांसक, वेदान्त, प्रभाकर और विज्ञानवादी बौद्ध एवं खास करके जैनमत का समावेश होता है। परन्तु ज्ञानविषयक स्वरूप में सभी की मान्यता एक सी नहीं दिखाई देती भिन्न-भिन्न तरह की विचारधारा है, जिज्ञासुओं को यह विषय दार्शनिक ग्रन्थोंसे जानना चाहिये।

उपरोक्त अलौकिक ज्ञानमें प्रत्यक्ष का विषय निर्विकल्प ही होता है या सविकल्प ही या उभयरूप? इन प्रश्नों के उत्तर में दार्शनिक मान्यता एक समान नहीं दिखाई पडती। कुछ दर्शनों के विचार यहाँ पर संक्षिप्त में ही दिखलाना आवश्यक समझे गये हैं। न्याय-वैशेषिक, वैदिक, आदि कुछ दर्शनों के अनुसार अलौकिक प्रत्यक्ष को सविकल्प–निर्विकल्प या उभयरूप से माना है। तार्किक बौद्ध एवं शाङ्कर-वेदान्त परम्परा के अनुसार तो अलौकिकप्रत्यक्ष को प्रायः निर्विकल्प हीं मानने पर अधिक जोर दिया गया है। जब कि वेदान्त की शाखा रामानुज की मान्यता में ठीक इस से विपरीत ही मालूम होती है, इस मान्यता में लौकिक या अलौकिक उभयरूप प्रत्यक्ष को सविकल्प हीं मानने का आग्रह रहा है। निर्विकल्प को असंभव ही बतलाया

* सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते, पराङ्ग चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यनवधारणाद्॥

तंत्र वा० पृष्ठ २४०

[1] इन्द्रियमनोनिमित्तो ऽवग्रहेहावायधारणात्मा सांव्यवहारिकम्। प्रमाणमीमांसा, अ० १–१–२०।

अतएव जैनदर्शन में आत्मा को मध्यम परिमाणवाला माना गया है। जिस तरह का शरीर चाहे फिर वह मोटे में हाथी या छोटे में चींटी आदि का शरीर हो उसी शरीर में आत्मा सर्वत्र रहा हुआ है और यही मान्यता सुसंगत है।

स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।

प्रमाणनय—प० १ सूत्र २

जब हम आत्मा और उसके स्वरूप का विचार करते हैं तो सर्व प्रथम यह जानना अत्यावश्यक है कि दार्शनिक क्षेत्र में आत्मा और उसका ज्ञान स्वप्रकाश है या परप्रकाश है या उभयरूप स्वपरप्रकाश है? इन प्रश्नों को लेकर दर्शनशास्त्र में विविध कल्पना भरी अनेक तरह की जोरदार चर्चाएं दिखाई देती हैं अतएव इस विषय में भिन्न २ दर्शनों की क्या मान्यता है इस का वर्णन करने के पहिले स्वप्रकाशत्व परप्रकाशत्व का सामान्य स्वरूप और एतद्विषयक मन्तव्य कुछ बातें जान लेना अनिवार्य है।

१–ज्ञान का स्वभाव प्रत्यक्ष योग्य है ऐसा सिद्धान्त कुछ व्यक्ति मानते हैं जब कि दूसरे कोई इससे सर्वथा विपरीत मान्यता वाले हैं। उनका कहना यही है कि ज्ञान का स्वभाव परोक्ष ही है प्रत्यक्ष नहीं है। इस तरह प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से ज्ञान के स्वभावभेद की कल्पना ही स्वप्रकाशत्व परप्रकाशत्व की चर्चा का मूल स्रोत है।

२–स्वप्रकाश शब्दका अर्थ इतना ही है कि स्वप्रत्यक्ष अर्थात् अपने आपही ज्ञान का प्रत्यक्षरूप से भासित होना। परन्तु जब परप्रकाश का विचारविनिमय किया जाता है तब प्रकाश के दो अर्थ मालूम हुए बिना नहीं रहते। जिन में से प्रथम तो परप्रत्यक्ष अर्थात् एक ज्ञानका अन्य व्यक्ति में प्रत्यक्षरूप से भासित होना। दूसरा अर्थ यह होगा कि परानुमेय अर्थात् एक ज्ञान का अन्य ज्ञान में अनुमेयरूपता से भासित होना।

३–स्वप्रत्यक्ष का भी यह अर्थ कदापि नहीं होता कि कोई ज्ञान स्वप्रत्यक्ष है अतएव उसका अनुमानादिद्वारा बोध होता ही नहीं पर उसका अर्थ इतना ही है कि जब कोई ज्ञानव्यक्ति (आत्मा) उत्पन्न हुई तब वह स्वाधार प्रमाता को प्रत्यक्ष होती ही है, उस से अन्य प्रमाताओं के लिये उसकी परोक्षता ही है तथा स्वाधार प्रमाता के लिये भी वह ज्ञानव्यक्ति यदि वर्तमान नहीं तो परोक्ष ही है।[१]

परप्रकाश के प्रत्यक्ष अर्थके पक्ष में भी उपरोक्त बात ही घटित होती है–अर्थात् वर्तमान ज्ञानव्यक्ति ही स्वाधार प्रमाताके लिये प्रत्यक्ष है अन्यथा नहीं।

---

१ यत्त्वनुभूते—स्वप्रकाश प्रयुक्तम्... स्वप्रकाशत्वेनेष्यते ... सर्वेषां ... तथोक्ति नियम ... परानुभव ... ज्ञानोपादान ... स्वानुभव ...

श्री भाष्य पृष्ठ २४।

—प्रमाण मीमांसा पृ० मुखराम्जी संपादित।

'स्वाभासी' पद के 'स्व' का आभासनशील और 'स्व' के द्वारा आभासनशील ऐसे दो अर्थ फलित होते हैं, पर वस्तुतः इन दोनों अर्थोंमें कोई तात्त्विक भेद नहीं। दोनों अर्थोंका तात्पर्य स्वप्रकाश से है और स्वप्रकाश का मतलब भी स्वप्रत्यक्ष ही है। परन्तु 'परामासी' शब्द से निकलनेवाले दोनों अर्थोंकी मर्यादा एक नहीं। पर का आभासनशील यह एक अर्थ और पर के द्वारा आभासनशील यह दूसरा अर्थ। इन दोनों अर्थों के स्वरूप में सूक्ष्मदृष्टि से अंतर ही है। पहिले अर्थ से आत्मा का परप्रकाशन स्वभाव सूचित किया गया है जब कि दूसरे अर्थ से स्वयं आत्माका अन्य के द्वारा प्रकाशित होना सूचित होता है। इस निष्कर्ष से यह तो सहज समझ में आता है कि-उपरोक्त दो भिन्न-भिन्न अर्थो में से दूसरा अर्थात् पर के द्वारा आभासित होना इस अर्थ का तात्पर्य पर के द्वारा प्रत्यक्ष होना इसी अर्थ में है। पहिले अर्थ का मतलब तो पर के प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी रूप से भासित करना यह होता है। जो दर्शन आत्मभिन्न तत्त्व को भी मानते हैं वे सभी आत्मा को पर का अवभासक मानना स्वीकार करते हैं और जिस तरह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पर का अवभासक आत्मा अवश्य होता है उसी तरह वह भी किसी न किसी रूपसे स्व का भी अवभासक होता ही है, अतएव यहाँ जो दार्शनिकों का मतभेद बतलाया जा रहा है वह स्वप्रत्यक्ष और परप्रत्यक्ष अर्थ को लेकर ही जानना चाहिये।

स्वप्रत्यक्षवादी वे ही कहे जा सकते हैं जो ज्ञान को स्वप्रत्यक्ष मानते हैं और साथ ही साथ ज्ञान आत्मा का अभेद या कथञ्चित् भेद मानते हैं। आत्मा को स्वप्रत्यक्ष मानने में जैन, बौद्ध, वेदान्त और उसकी शाखाएँ शङ्कर, रामानुज आदि सांख्य योग का समावेश होता है। फिर भी वह आत्मा किसीके मत में शुद्ध व नित्य चैतन्य रूपसे मानी गई है, कितनेक की मान्यतानुसार जन्यज्ञानरूप ही रही है या किसी के विचार से चैतन्य-ज्ञानोमयरूप रही है क्यों कि वे सभी किसी न किसी तरह से आत्मा और ज्ञान का अभेद स्वीकार कर, ज्ञान मात्र को स्वप्रत्यक्ष ही मानते हैं, अब सिर्फ कुमारिल की ही एक ऐसी मान्यता है जो कि ज्ञान को परोक्ष मानते हुए भी आत्मा को वेदान्त की भाँति स्वप्रकाश ही मानते हैं। इससे कुमारिल का भी सारांश तो यही मालूम होता है कि श्रुतिसिद्ध आत्मस्वरूप उन को भी मान्य है। यथा हि—

" आत्मनैव प्रकाश्योऽयमात्मा, ज्योतिरितीरितम् "—

[—श्लोक वा. आत्मवाद श्लोक—१४२]

श्रुतियों में आत्मा को स्वप्रकाशी स्पष्ट कहा है इसलिये ज्ञान का परोक्षत्व मानने पर भी आत्मा को तो स्वप्रत्यक्ष माने विना कोई दूसरा रास्ता ही दिखाई नहीं देता।

परप्रत्यक्षवादी वे ही हो सकते हैं जो ज्ञान को आत्मा से भिन्न, पर उसका गुण मानते हैं- फिर चाहे वह ज्ञान किसी के मत से स्वप्रकाश माना जाता हो जैसे कि प्रभाकर के मत से या नैयायिकादि इन के मत में वह ज्ञान परप्रकाशक माना जाता है। न्यायभाष्यकार का मत यह है कि—

" युञ्जानस्य योगसमाधिजमात्ममनसो संयोगविशेषादात्मा प्रत्यक्ष इति । "
यद्यपि न्याय और वैशेषिक मान्यता में कुछ अन्तर जान पड़ता है, तथापि इनकी प्राचीन या अर्वाचीन मान्यता के अनुयायी सभी एक मत से इस बात को मानते हैं कि- योगी की अपेक्षा प्रत्यक्ष ही है। कारण कि सभी की मान्यता में योगजन्य प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता ही है। परन्तु प्राचीन नैयायिक और वैशेषिक में अर्वाक्-दर्शी की अपेक्षा कुछ भेद है। इन के मन्तव्य में आत्मा को प्रत्यक्ष न मान कर अनुमेय माना गया है[१]।

प्रभाकर की मान्यता में प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि किसी में से कोई भी तरह का संविद् क्यों नहीं हो पर उस में आत्मा तो प्रत्यक्ष रूप से अवश्य ही प्रभिन-भासित होता है। जब कि पिछले नैयायिक और वैशेषिक विद्वानों ने "तदेवमहं प्रत्ययविषय त्वादात्मा तावत्प्रत्यक्ष " आत्मा को उसके मानसप्रत्यक्ष का विषय मान कर पर प्रत्यक्ष बतलाई है।

ज्ञान को आत्मा से भिन्न माननेवाले सभी दर्शन के मत से यह बात तो फलित होती है कि- मुक्तावस्था में योगजन्य या और किसी प्रकार का ज्ञान न रहने के नाते आत्मा साक्षात्कर्ता एवं साक्षात्कार का विषय नहीं ठहर सकता। इस विषय में दार्शनिकों के विचार और उनकी तर्कजटिल विविध भाँति की कल्पनायें अतीव विस्तृत हैं पर यहां पर उन का प्रसङ्ग नहीं है।

प्रस्तुत आत्मस्वरूप के विषय में स्वप्रकाश और परप्रकाश का कुछ दिग्दर्शन करना जरूरी है। सभी दर्शनों में ज्ञान को लेकर लौकिक और अलौकिक का विचार बहुत ही विस्तार के साथ पाया जाता है। इन्द्रियजन्य और मनोमात्रजन्य, इन्द्रिय सन्निकर्षविषयक ज्ञान को लौकिकप्रत्यक्ष कहा गया है[२]। अलौकिकप्रत्यक्ष का वर्णन भिन्न २ दर्शनों में भिन्न भिन्न नाम से बतलाया गया है। न्याय वैशेषिक बौद्ध, सांख्य, योग सभी अलौकिकप्रत्यक्ष का योगिप्रत्यक्ष अथवा योगि-ज्ञान नाम से व्यवहार करते हैं।

मीमांसक जो कि प्रधानतया सर्वज्ञत्व का एवं धर्माधर्मसाक्षात्कार का विरोध ही करते हैं परन्तु फिर भी वे मोक्ष के अङ्गभूत आत्मज्ञान के अस्तित्व का स्वीकार करते ही हैं जो वास्तविक में योगजन्य या अलौकिक ही सिद्ध होता है।

वेदान्त में जो ईश्वरसाक्षी चैतन्य की परिभाषा मानी गई है वही वहाँ पर अलौकिकप्रत्यक्ष स्थान का ही स्वरूप है।

जैनदर्शन की परम्परा आगमानुसार यही रही है कि जो इन्द्रियजन्य न हो वही ज्ञान इसमें प्रत्यक्ष माना जाता है। दर्शनान्तरमान्य इन्द्रियजन्य लौकिक

१ आत्मा तावत् प्रत्यक्षो न गृह्यते न्याय भा १-१-१०। तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे —वै० ८-१-२

२ नैयायिकास्तु इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यम् अव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् —न्याय-१-१-४।

प्रत्यक्ष वह वस्तुतः प्रत्यक्ष नहीं अपितु परोक्ष ही माना जाता है। श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपने विशेषावश्यकभाष्य गाथा ९५ में "इंदियमणोभवं जं तं संववहार पच्चक्खं" इसके द्वारा आगमिक द्विविध प्रमाणविभाग में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान इन पांचों ज्ञान में से प्रथम दो को सांव्य-वहारिक प्रत्यक्ष वतलाकर अन्य तीनों को पारमार्थिक प्रत्यक्ष रूप से माना है और इसी विचार से आर्यरक्षितसूरि स्थापित इन्द्रियजन्य-नोइन्द्रियजन्य ज्ञान जो कि नंदी सूत्रकार स्वीकृत मन्तव्य का तर्कपुरस्सर शैली से वर्णन किया गया है। इस तरह से जैन दर्शन की तार्किक परम्परा प्रत्यक्ष के दो भेद मान के दर्शनान्तर मान्य लौकिक प्रत्यक्ष जिसे कहा जाता है उसें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहती है[1]।

अर्थात् पांच इन्द्रिय और मनोजन्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है। इस से अतिरिक्त शेष तीन ज्ञान को नोइन्द्रियजन्य होनेके कारण पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है।

तत्प्रमाणे, आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत्।
—तत्त्वार्थसूत्र।

जैनेतर दर्शनों में जिसे अलौकिकप्रत्यक्ष कहा जाता है उस ही को जैन मतमें पारमार्थिक प्रत्यक्ष के नाम से कहा जाता है। पारमार्थिकप्रत्यक्ष के कारण रूप से लब्धि या विशिष्ट आत्मशक्ति का जो वर्णन किया जाता है, वह एक तरह से अन्य दर्शनमान्य योगजधर्म की ही परिभाषा को वतलाता है अर्थात् योगजन्य ही है।

ज्ञान को स्वप्रकाशी माननेवालों में मीमांसक, वेदान्त, प्रभाकर और विज्ञान-वादी बौद्ध एवं खास करके जनमत का समावेश होता है। परन्तु ज्ञानविषयक स्वरूप में सभी की मान्यता एक सी नहीं दिखाई देती भिन्न-भिन्न तरह की विचारधारा है, जिज्ञासुओं को यह विषय दार्शनिक ग्रन्थोंसे जानना चाहिये।

उपरोक्त अलौकिक ज्ञानमें प्रत्यक्ष का विषय निर्विकल्प ही होता है या सविकल्प ही या उभयरूप? इन प्रश्नों के उत्तर में दार्शनिक मान्यता एक समान नहीं दिखाई पडती। कुछ दर्शनों के विचार यहाँ पर संक्षिप्त में ही दिखलाना आव-श्यक समझे गये हैं। न्याय-वैशेपिक, वैदिक, आदि कुछ दर्शनों के अनुसार अलौकिक प्रत्यक्ष को सविकल्प-निर्विकल्प या उभयरूप से माना है। तार्किक बौद्ध एवं शाङ्कर-वेदान्त परम्परा के अनुसार तो अलौकिकप्रत्यक्ष को प्रायः निर्विकल्प हीं मानने पर अधिक जोर दिया गया है। जब कि वेदान्त की शाखा रामानुज की मान्यता में ठीक इस से विपरीत ही मालूम होती है, इस मान्यता में लौकिक या अलौकिक उभयरूप प्रत्यक्ष को सविकल्प ही मानने का आग्रह रहा है। निर्विकल्प को असंभव ही वतलाया

* सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते, पराङ्ग चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यनवधारणात्॥

तंत्र वा० पृष्ठ २४०

१ इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवग्रहेहावायधारणात्मा सांव्यवहारिकम। प्रमाणमीमांसा, अ० १-१-२०।

है। जैनदर्शन में प्रत्यक्ष के नियामक दो तत्त्व हैं। आगमीय परम्परा के अनुसार तो एक मात्र आत्मतत्त्व सापेक्षत्व ही प्रत्यक्ष का नियामक है।

दूसरा प्रत्यक्ष का नियामक तार्किक मान्यतानुसार आत्मा से अन्य इन्द्रिय मनो जन्य न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनान्तर सम्मत सन्निकर्षजन्य भी फलित होता है।

सारांश यहि निकला कि आत्मस्वरूप के विषय में उसका ज्ञान स्वप्रकाशी और परप्रकाशी या उभय प्रकाशी फिर वह किसी की मान्यतामें निर्विकल्प और सविकल्प माना जाता है। जैनपरम्परा के अनुसार लौकिक साव्यवहारिक अलौकिक-पारमार्थिक प्रत्यक्ष उभयरूप है। क्यों कि जैनदर्शन में जो अवधिदर्शन तथा केवलदर्शन नामक सामान्य बोध माना जाता है वह अलौकिक निर्विकल्प ही कहा गया है और जो अवधि ज्ञान मन पर्यायज्ञान एवं केवलज्ञानरूप विशेष बोध है वही सविकल्प है।

तुलनात्मक दृष्टि से जैन दर्शन

लेखक—मास्टर खुबचंद केशवलाल, सिरोही (राजस्थान)

संसारके क्षणिक सुखका त्याग करके कठोर संयमका पालन करना, जीवनको क्रमशः विशुद्ध बनाना, तथा मोक्ष प्राप्त करना यही भारतवर्षके प्रत्येक दर्शनका उद्देश्य है। परन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि सभी दर्शन तत्त्वतः एक ही है! बाह्य रूपसे किन्हीं विशेष विषयोंकी मान्यतामें समानता दृष्टिगोचर होनेपर भी प्रत्येक दर्शन तथा उसके सिद्धान्त भिन्न एवं स्वतंत्र है। सामान्यतः भारतवर्षके दार्शनिक जगतमें जैनदर्शन प्रतिष्ठित पद भोग रहा है, और विशेषकर जैन दर्शन एक संपूर्ण दर्शन भी कहा जा सकता है। तत्त्वविद्याके सभी अंग इसमें उपलब्ध हैं। जैनदर्शन कुछ बातोंमें बौद्ध वेदान्त, सांख्य, चार्वाक और न्याय दर्शनसे मिलता-जुलता दिखता है, परन्तु वास्तवमें यह एक स्वतन्त्रदर्शन है। अपने बहुविध तत्त्वोंके विषयमे यह अपना संपूर्ण तथा स्वतंत्र अस्तित्व रखता है।

जैन तथा बौद्ध

जीवके सुख-दुख कर्माधीन हैं। जो कुछ करते हैं, और जो भी किया है, उसके परिणामस्वरूप ही सुखदुःखकी प्राप्ति होती है। निःसार तथा मायावी भोगविलास पामर जीवोंको किंकर्तव्यविमूढ बना देता है। सांसारिक सुखके पीछे दौड़नेवाला जीव जन्म-जन्मान्तरपरम्परा में फँसता है। इस अविराम दुःख और क्लेशसे छुटकारा प्राप्त करना हो तो हमें कर्मके बंधन तोडने चाहियें। कर्मसत्ता में से छूटनेसे पूर्व हमें कुकर्मके स्थानपर सत्कर्मकी स्थापना करनी चाहिये। अर्थात् भोगलालसा के स्थानपर वैराग्य, संयम, तप, जप और अहिंसा आदि का आचरण करना चाहिये। इस प्रकारकी मान्यता जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म दोनोंमें समान है। वेद दर्शनके अद्वैतवादको अमान्य करनेमें, चार्वाक मतके इन्द्रिय भोगविलासको तिरस्कारपूर्वक निकालनेमें, तथा अहिंसा और वैराग्य ग्रहण करने में जैन और बौद्धदर्शन दोनों एक ही मत रखते हैं, परन्तु बाहरसे समान दृष्टिगोचर होते जैनदर्शन तथा बौद्धदर्शनमें भारी भेद है। बौद्ध दर्शनकी जडमें जो निर्बलता हम देखते हैं, वह जैनदर्शन में नहीं है। बौद्ध दर्शनका अहिंसा तथा त्याग का आग्रह समझमें आसकता है, कर्मबंधनको छेदनेकी बातभी अर्थ रखती है, परन्तु हम हैं क्या? जिसका परिचय वे परमपदके रूपमें देते हैं, और जिसे वे साध्य मानते हैं—वह है क्या? इनके प्रत्युत्तरमें वे कहते हैं कि "हम शून्य" अर्थात् कुछ नहीं हैं, तब प्रश्न उठता है कि क्या हमें सदैव अंधकारमें ही भटकना है? और अन्तमें भी क्या असार ऐसे महाशून्यमें ही सबको विलीन हो जाना है! तो फिर महाशून्यके हेतु जीवनमें सामान्य सुख क्यों वृथा जाने दें? यह भले ही निस्सार हो, परन्तु उसके पश्चात् जो कुछ भी

प्राप्त होता है वह इसकी अपेक्षा भी अधिक निस्सार हो तो वह तनिक भी वांछनीय नहीं है, ऐसा कहना पड़ेगा। कहनेका अभिप्राय यह है कि बौद्धदर्शनका यह अनात्मवाद सामान्य जनको संतोष नहीं दे सकता है। अतः इन मुख्य अंगोंपर हि बौद्ध दर्शनमें तथा जैन दर्शनमें बड़ा भेद है। बौद्ध मत शून्यसे ही आलिंगित रहता है, जबकि जैन षड्द्रव्य पदार्थ मानते है। बौद्धमतमें आत्मा का अस्तित्व नहीं परमाणुका अस्तित्व नहीं तथा ईश्वर भी नहीं। जैन मतमें इन सबकी सत्ता स्वीकार की गई है। बौद्धमतके अनुसार निर्वाण–प्राप्ति अर्थात् शून्यमें विलीनीकरण, परन्तु जैनमतमें मुक्त जीव अनंतज्ञान–दर्शन चारित्रमय तथा आनंदमय माने गये हैं। बौद्धदर्शन तथा जैनदर्शनमें धर्म भी भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त होते हैं।

जैन तथा वेदान्त

आत्मा सत्य है तथा जन्म–जन्मान्तर ग्रहण करती है, सुख दुःख भोगती है, परन्तु वस्तुतः वह एक असीम सत्ता है। ज्ञान तथा आनंदके संबंधमें यह असीम तथा अनन्त है। वेदान्तदर्शनका यह मूल प्रतिपाद्य विषय है। अब आत्माके अमरत्व तथा अनंतत्वको स्वीकार करनेमें वेदान्तदर्शन तथा जैनदर्शन दोनों निर्विरोधी हैं। बौद्धदर्शनके अनात्मवादको स्वीकार न करनेमें और आत्माकी अनंत सत्ताकी उद्घोषणा करनेमें जैन तथा वेदान्त समान मान्यतावाले हैं। फिर भी इन दोनों दर्शनोंमें भिन्नता है। क्योंकि वेदान्त जीवात्माकी सत्ता स्वीकार करने तक ही सीमित नहीं रहता है। वह तो एक कदम और आगे बढ़ता है और स्पष्टतया कहता है कि जीवात्माओंके बीचमें कोई भेद नहीं है। वेदान्त मतके अनुसार यह चिन्मय विश्व एक अद्वितीय सत्ताका विकास मात्र है। वेदान्तका "एकमेवाद्वितीयम्' का वाद अति गम्भीर तथा मजबूत है। सामान्य मानवीय जीवात्मा एक सत्ता है। इतना अनुभव कर सकता है, परन्तु मानव मानव के बीच कोई भेद नहीं है तथा अन्य प्रकारसे दृष्टिगत पदार्थोंमें किसी प्रकारका भेद नहीं है, ऐसी बातों का विचार करें तब तो बुद्धि पर पाला ही पड़ जाता है। अतः यह बात जैनदर्शनके स्वीकार करनेके योग्य नहीं है। और इसीसे जैनदर्शन तथा वेदान्त दर्शनकी मान्यतामें यहाँ भिन्नता उपस्थित हो जाती है।

जैन और सांख्य

सांख्य भी आत्माका अनादिपन तथा अनंतपन स्वीकार करते हैं। विजातीय पदार्थोंके सम्बन्धसे आत्माको अलग करनेको वे मोक्ष मानते हैं। प्राकृतिक रूपसे स्वाधीन आत्मा के साथ संलग्न एक विजातीय पदार्थका अस्तित्व उन्हें स्वीकार्य है। वेदान्तके अद्वैतवादको न माननेमें भी सांख्य दर्शन की जैन दर्शन के साथ समानता है। तथा सांख्य दर्शन जीवसे अलग अजीव तत्त्व और स्वीकार करता है। इस प्रकार जैन दर्शन के साथ कई दृष्टिकोणोंसे उसका सादृश्य होने पर भी अन्दर भारी भेद है। उदाहरणार्थ सांख्य दर्शनने अजीव तत्त्वके अर्थमें केवल एक प्रकृति

को ही माना है, परन्तु जैन दर्शन में अजीवके पांच भेद है, और इन पांचमें पुद्गल तो अनंतानंत परमाणुमय है। सांख्य केवल दोही तत्त्व स्वीकार करता है, जब कि जैन दर्शन में अधिक तत्त्व है। सांख्य मत में आत्मा निर्विकार तथा निष्क्रिय मानी गई है, परन्तु जैन दर्शन का कथन है कि उसका स्वभाव ऐसा हे कि वह परिपूर्णता की प्राप्ति के लिये उद्योग करे, इतना ही नहीं परन्तु साथ ही वह अनंत क्रियाशक्तिका आधार है।

जैन तथा चार्वाक

जैन और चार्वाक दर्शन के बीच यदि कोई सादृश्य भी है तो वह इतना ही कि चार्वाक की भांति जैन दर्शन में भी वैदिक क्रियाकांड की निरर्थकता बताई गई है। भली प्रकार खोज करें तो पत्ता चलेगा कि जैन दर्शन चार्वाककी भांति मात्र निषेधात्मक ही नहीं है। अंधश्रद्धा तथा अंधक्रियानुरागसे मनुष्य की बुद्धी तथा विवेकशक्ति का अतुल अपमान होता है, इस दृष्टिसे जैन दर्शनने तो कर्मकांडका विरोध किया है। सर्व प्रथम तो जैन दर्शनने इन्द्रिय सुख तथा विलासका अवज्ञापूर्वक परिहार किया है। चार्वाक दर्शन का यह ध्येय नहीं है। अर्थरहित वैदिक क्रियाकलापका विरोध करनेमें चार्वाक भले ही उचित हो परन्तु तत्पश्चात् किसी गंभीर विषय पर विचार करनेकी इसे नहीं सूझी। वैदिक क्रियाकांड कैसे ही हो, परन्तु इनसे लोगोंकी लालसा कुछ वशमें रहती। स्वच्छंद इन्द्रियविलासका मार्ग कुछ वशमें रहती। स्वच्छंद इन्द्रियविलासका मार्ग कुछ कंटकमय बनता। चार्वाक दर्शनको यह तर्कसंगत नहीं लगा, अंतः जैन दर्शन तथा चार्वाक दर्शनमें कोई सादृश्य है ही नहीं।

जैन दर्शन तथा न्यायदर्शन

नैयायिक अनेक आत्माओंकी स्वतन्त्र सत्तामें विश्वास रखते हैं। इस अनेकता की दृष्टिसे जैनदर्शनमें तथा न्यायदर्शनमें मतैक्य है। परमाणु, दिशा, काल, गति और आत्मादिक तत्त्वविचारमें जैन दर्शन तथा न्याय दर्शनके बीच बहुत कुछ समानता है। जैनदर्शनकी तरह न्यायदर्शनमें युक्तिप्रयोगको अच्छा सा पद प्राप्त है, फिरभी दोनों मे कितना ही भेद है। स्याद्वाद अथवा सप्तभंगनयनामक जो सुविख्यात युक्तिवादका अविष्कार जैनदर्शन में दिखाई पडता है वह न्यायदर्शनमें भी कहां? फिर नैयायिक आत्माका अनेकत्व स्वीकार करते हैं, परन्तु साथ २ अन्य दर्शनोंकी भाँति आत्माको सर्वव्यापक भी मानते हैं। दूसरी ओर जैनदर्शन आत्मा को स्वदेहपरिमाण में मानता है। जैनदर्शन कहता है कि आत्मा सर्वगत नहीं है क्योंकि उसके गुण सवमें तथा सर्वत्र प्राप्त नहीं हो सकते है। जिसके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं, वह सर्वगत नहीं होता जैसे घडा. आत्माके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते है। अतः आत्मा सर्वगत नहीं है। जो आत्मा सर्वगत होती है तो उसके गुण भी सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। जैसे आकाश। नैयायिक आत्माको कूटस्थनित्य मानते हैं, जब कि जैन दर्शन आत्माको कूटस्थनित्य मानता ही नहीं। आत्मा संकोच तथा विस्तारशील है, जिससे एक शरीरसे

दूसरे शरीरमें जाने पर उसके परिमाण में परिवर्तन हो जाता है। पुनः कर्मफलके संबंध में न्यायदर्शन कर्मके साथ फलका योग करनेके लिये ईश्वर को स्वीकार करता है। अर्थात् उसकी मान्यता के अनुसार कर्मफलके विषयमें कर्मके अतिरिक्त कर्मफलनियंता एक ईश्वर और है। जबकि जैन दर्शन तो, कर्म ही स्वयं अपने फलका उत्पादन करता है, ऐसा कहता है।

भारतवर्षमें पृथक् पृथक विचारभेदोंमें प्रवर्तित प्रत्येक धर्मका समावेश उपरोक्त छ दर्शनोंमें हो जाता है। इन छ दर्शनोंमें जैन दर्शनके सिद्धांत आत्मस्वरूपका बोध करवानेमें इतर दर्शनोंकी श्रेणीमें कितने उच्च कोटिका है, यह उपरोक्त विवरण पढने पर प्रत्येक को अपने आप समझमें आ जायगा। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जैन धर्मको हिन्दू धर्मकी शाखा स्वरूप स्वीकार करनेवाला जैनदर्शन के तत्त्वज्ञानसे अनभिज्ञ ही है ऐसा कहने में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। स्याद्वाद, देव-गुरु-धर्मका स्वरूप, कर्मस्वरूप इत्यादि जैन धर्मके अन्य कितने महत्वपूर्ण सिद्धांतके आधार पर समझमें आजायेगा कि जैन धर्मको हिन्दुधर्मकी शाखा स्वरूप गिनने में जैन धर्मके उच्च कोटिके तथा महत्त्वपूर्ण तत्त्वोंका नाश करनेका भारी दुष्कृत्य है।

स्याद्वाद और उसकी व्यापकता

लेखक—मुनि श्री मनोहर मुनिजी, 'शास्त्री' 'साहित्यरत्न'

सत्य के अनंत रूप हैं और अनंत रूपों में ही उसके दर्शन किये जा सकते हैं। उसे देश काल की सीमा में बांधा नहीं जा सकता। संप्रदायों की चार दीवारी में उसे कैद नहीं किया जासकता। क्योंकि असीम को सीमा में बांधना उसकी अवमानना है अतः सत्य को हम विध रूप में ही पासकते हैं। अनेक रूपात्मक सत्य को अनेक रूपों में स्वीकार करना ही अनेकान्त है। इसलिये अनेकान्तदृष्टि पूर्ण सत्य है। वह वस्तु के अनंत धर्मोंको स्वीकार करता है। अतः वह विभेद में अभेद देखता है। संघर्षो में समन्वय साधना है।

विचारजगत का अनेकान्त जब वाणी में उतरता है तब वह स्याद्वाद कहलाता है। एक विचारकण यदि दूसरे विचारकण से एकदम निरपेक्ष नहीं है तो स्याद्वाद कहलाएगा। विश्व का प्रत्येक विचारक जीवन और जगत के संबन्ध में अपनी एक नई दृष्टि रखता है। किन्तु यदि वह दूसरे विचारक से एकदम निरपेक्ष होकर अपने आपको पूर्ण सत्य का ज्ञाता मान लेता है तब वह मिथ्यात्व बन जाता है। अंश रूप से वे सभी सत्य हैं। क्योंकि चिन्तन का हर अंश सत्यके एक अंश को अनावृत करता है। सागर की लहर सागर का ही एक अंश है, वाणी का हर अंग सत्य का एक अंश है। आचार्य सिद्धसेन चिन्तन की अनुभूति में दर्शनकी अभिव्यक्ति देते हुए कहते हैं:—

> जावइया वयणवहा, तावइया चेव होंति णयवाया।
> जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया॥
>
> —सन्मतितर्क ३-४७

जितने वचनपथ हैं उतने ही नयवाद हैं, और जितने नयवाद हैं उतने ही पर-समय हैं। अर्थात् प्रत्येक विचारक की वाणी एक सत्य का परिचय है। उसे पूर्ण सत्य मानना मिथ्या होगा तो उसे मिथ्या कहना भी मिथ्या होगा। क्योंकि अनेक एकान्तों का समूह ही तो अनेकान्त है। जबतक एक सत्यांश अपने आपको पूर्ण न मानकर दूसरे सत्यांश के लिये द्वार बन्द नहीं करता तब तक वह मिथ्या भी नहीं है। पर अंश को पूर्ण मानलेने का मोह ही मिथ्यामत है। दर्शनशास्त्र के दिवाकर आचार्य सिद्धसेन के शब्दों में—

> णिय वयणिज्जसच्चा सव्व नया परवियालणे मोहा।
> ते उण ण दिट्ठ समओ विभयइ सच्चे व अलिए वा।
>
> सन्मतितर्क :— १-२५

सभी नय अपनी सीमा में सत्य हैं पर दूसरे को जब असत्य घोषित करते हैं तभी मिथ्या होजाते हैं। किन्तु अनेकान्तज्ञ नयों के बीच सत्य और मिथ्या की तिरे दक रेखा नहीं खींचता। स्याद्सिद्धान्त के प्रतिपादक नय सत्य हैं। दूसरे के खंडन करने में मिथ्या भी हैं।

हर चिन्तन के पीछे सापेक्षदृष्टि होनी चाहिए। यदि हमारे पास सापेक्ष दृष्टि है तो हर दर्शन के पास से सत्य तत्त्व ग्रहण कर सकते हैं। फिर वह नित्यवादी हो या अनित्यवादी। सामान्य वाद का प्रतिपादक हो या विशेष वाद का समर्थक। विश्व के समस्त पदार्थ एक और अनेक रूप हैं उनमें एक और नियत्व के दर्शन होते हैं। दूसरी ओर वही पदार्थ प्रतिपल परिवर्तित होता हुआ दृष्टिगत होता है। वस्तु के ध्रुव तत्त्व की ओर जब हमारा दृष्टिबिन्दु टिकता है तो वस्तु के शाश्वत सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। और जब हम उसके ऊपर रूपों की ओर दृष्टि पात करेंगे तो प्रतिक्षण विनाशी रूप दिखलाई देगा। आचार्य हेमचन्द्र द्रव्य और पर्याय को विभेद करते हुये कहते हैं —

अपर्यय वस्तु समस्यमानं अद्रव्यमेतच्च विविच्यमानं।

अन्ययोगव्यवच्छेदिका २३

जब हमारी दृष्टि भेदगामिनी बनती है तब वस्तु का परिवर्तित होनेवाला रूप सामने आता है और जब दृष्टि अभेदगामिनी बनती है तब वस्तु का अखंडरूप दृष्टिपथ में आता है। जब हम आत्मा के भेदरहित रूप को चिन्तन पथमें लावेंगे तब हमें अनंत अनंत आत्माओं के बीच एक आत्मतत्त्व के दर्शन होते हैं। यहीं आत्मा द्वैत का प्रतिपादक "एगे आया" भी सत्य है। भेदानुगामी दृष्टिमें आत्मा के मानुष, देव आदि पर्याय रूप के दर्शन होते हैं। दार्शनिक शब्दावलि में भेदगामीनी दृष्टि पर्यायदृष्टि है और अभेदगामिनी दृष्टि द्रव्यास्तिक नय है।

पर्यायनय वस्तु के प्रतिपल परिवर्तित होनेवाले रूपको ही स्वीकार करती है। द्रव्यास्तिक नय ध्रुव अंशको स्वीकार करती है। किन्तु विश्वव्यवस्था उभय के सम न्वय में ही सम्भव है। युवक को अपने बचपन की चेष्टाओं का स्मरण हो आता है। भावी जीवन को सुखमय बनाने के लिये प्रयत्न करता है। अतः जीवन की इस बदलती हुई छाया में भी एकसूत्रता के दर्शन होते हैं। यही द्रव्यास्तिक नय की अभेद गामिनी दृष्टि है। दूसरी ओर बचपन के बीच की भेदप्रतीति स्पष्ट ही है। शरीर और बुद्धि का विकास नये खून में नई कान्ति करने की तरह दोनों के बीच विभाजक रेखा खींचती है। यहीं पर्यायदृष्टि सफल है। पर युवक क्या है? वह दोनों का मिलाजुला रूप है। आचार्य सिद्धसेन के शब्दों में —

पडिपुण्ण जोव्वणगुणो जह लज्जइ बालभावचरिएण।
कुणइ य गुणपणिहाणं अणागय सुहोवहाणत्थं॥

सन्मतितर्क १—४३

युवक बचपन में सर्वथा भिन्न भी नहीं है क्योंकि वह बचपन की सुकोमल स्मृतियों में जीता है और उसके साथ पूर्ण संबद्ध भी नहीं है क्योंकि हम उसे बालक भी नहीं कह सकते। जीवन की यही भेदाभेदगामिनी दृष्टि पदार्थसार्थ के यथार्थ स्वरूप को पा सकती है। आत्मा ही क्यों, विश्व के समस्त पदार्थ भेदाभेद रूप में अवस्थित हैं। पर्यायदृष्टि से उनमें उत्पत्ति और विगम भी चालू है और द्रव्यास्तिक दृष्टि से सदा अवस्थित हैं। आचार्य हेमचन्द्र पदार्थ मात्र का स्वरूप एक बताते हैं:—

"आदीपव्योमसमस्वभावं स्याद्वादमुद्रा नहि भेदि वस्तु"।
तान्नित्यमेवैकमनित्यमन्य-दिति त्वदाज्ञा द्विषतां प्रलापाः।

अन्ययोगव्यवच्छेदिका—५

अनित्य प्रदीप और नित्य आकाश दोनों का एक स्वभाव है। पदार्थ मात्र उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है। एक नित्य और दूसरे को अनित्य बताना बुद्धि की विडम्बना है। दीपक नित्य भी हो सकता है और आकाश अनित्य भी। दीपक से आकाश-पर्यन्त पदार्थ द्रव्यास्तिक दृष्टि से ध्रुव और पर्यायास्तिक दृष्टिसे अनित्य हैं। घट फूट जाता है; अतः अनित्यता स्पष्ट है पर टुकड़ों में भी मृद्द्रव्य अनुगत है अतः वह नित्य भी है।

इस प्रकार अपेक्षावाद विचारजगत के शत-सहस्र संघर्षों को समाप्त कर देता है। बड़े बड़े दार्शनिक जिस समस्या को लेकर वर्षों तक झगडते रहे, स्याद्वाद उसका एक मिनिट में समाधान देता है। दृष्टि बदली कि सृष्टि भी बदल जाती है। परस्पर निरपेक्ष बने नयप्रवादरूप अन्य दर्शन मिथ्यारूप हैं। किन्तु जब उनमें समन्वय का सौरस्य आता है वे ही सम्यक् बन जाते हैं।

स्याद्वाद विचारशोधन का बहुत बड़ा माध्यम है। वह मानव को "ही" की कैद से मुक्त करता है क्योंकि "ही" की कैंची मानव की स्वतंत्र उड़नेवाली बुद्धि के पंख काट देती है और विचारसृष्टि की नई उपज से उसे वंचित रखती है। 'ही' के द्वारा मानव अपने को किसी पंथ या वादविशेष से अपने को बांधकर उसी को पूर्ण सत्य मान बैठता है। किन्तु अनेकान्त 'भी' के माध्यम से सत्य को सदैव आदर देता है फिर वह चाहे किसी पंथ से आया हो या किसी संप्रदायविशेष में। स्याद्वाद विचारसहिष्णुता को जन्म देता है। एक दूसरे के विचारों का समन्वय करने की प्रेरणा देता है। एक प्रकारसे वह वैचारिक सहअस्तित्व को जन्म देता है।

स्याद्वाद की सैद्धान्तिकता

लेखक—जैन सिद्धान्ताचार्या-महासती कौशल्या कंवर

"जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ"। मानवको यदि सत्य पाना है तो गहरा गोता लगाये बिना प्राप्त नहीं हो सकता। एक बार उसी सत्य का असत्य होना और असत्य का सत्य बनना मानव को और भी चक्में डाल देता हैं। एक संखिया को ही लीजिए। सम्पूर्णविश्व उसे मारक मानता है तो वैद्य उसी वस्तु का भयकर से भयंकर रोगों के निवारण में उपयोग करता है। उस समय वही मारक संखिया उद्धारक रूप बन जाता है। ऐसे समय कितनेक बुद्धिजीवि प्राणी भी ऊब कर कह उठते हैं—

कोई कहै कछु है नहीं, कोई कहै कछु है।
'है और नहीं' के बीच में, जो कुछ है सो है।

ऐसी धारणावाले सत्य पा नहीं सकते। जो गहरा चिन्तक होगा, वही ठीक सत्य को पा सकता है। परन्तु शंकराचार्य जैसे भी स्याद्वाद के रहस्य को नहीं समझने के कारण उसमें अनेक दोष ही अपनी मन कल्पना से उपस्थित कर लेते हैं।

आज का युग समन्वयवादी है। यह सभी वस्तुओं को जानने की चेष्टा करता है और इसी चिन्तन के बूते पर आजके अनेकों जैनेतर विद्वान् भी स्याद्वाद के अमूल्य तत्व की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं।

गांधीजी ने लिखा है—"जिस प्रकार मैं स्याद्वाद को जानता हूँ, उसी प्रकार मानता हूं। मुझे यह अनेकान्त बड़ा प्रिय है"।

श्रीयुत महामहोपाध्याय सत्यसम्प्रदायाचार्य प. स्वामी राममिश्रजी शास्त्री ने लिखा है—"स्याद्वाद् जैन धर्मका एक अभेद्य किला है। जिसके अन्दर प्रतिवादियों के मायामय गोले प्रवेश नहीं कर सकते।'

प्रो हर्मन जेकोबी ने लिखा है—"जैन धर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्व ज्ञान और धार्मिक पद्धतियों के अभ्यासियों के लिए महत्वपूर्ण हैं। इस स्यायद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।"

डा थामस के भी विचार या उद्गार बड़े महत्वपूर्ण हैं—"न्यायशास्त्र में जैन न्याय का स्थान बहुत ऊंचा है। स्याद्वाद का स्थान बड़ा गम्भीर है। वह वस्तुओं की भिन्न भिन्न परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है"।

भारत के निष्पक्ष आलोचक पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने तो यहां तक कह डाला है कि—' प्राचीन काल के हिन्दू धर्मावलम्बी बड़े बड़े शास्त्री तक अब भी यह नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है"। अस्तु।

इतने गंभीर सिद्धान्त का ज्ञान मानव को अवश्य प्राप्त करना चाहिए। बुद्धि-वाला अवश्य ही सत्य को प्राप्त करने की इच्छा पर सत्य को प्राप्त कर सकता है।

स्याद्वाद में स्याद्‌निपात से सिद्ध हुआ अनेकान्तद्योतक अव्यय है। यानि कथञ्चित् होना और कथञ्चित् न होना। वस्तु सदा अपने रूप से होती है, पररूप से नहीं। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से ही वस्तु अस्तिरूप होती है किन्तु पर द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव से अस्तिरूप नहीं होती। जैसे गाय को ही लें। गाय, गाय रूप से अस्ति है किन्तु गधे या घोडे रूप से अस्ति नहीं होती। यदि पर रूप से भी अस्तिरूप हुई तो गाय, गधे और घोड़े में कोई अन्तर ही नहीं होगा, और गाय शब्द से ही घोड़े और गधे का ज्ञान होने लगेगा। एवं यदि स्वरूप से भी कथञ्चित् अस्ति रूप नहीं होगी तो गाय, गाय ही नहीं रहेगी। यानि गाय का अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा।

वस्तु एक भी होती है और अनेक भी। इससे इस स्याद्वाद का अपर नाम अनेकान्तवाद भी है। वस्तु सदा अनेकान्तधर्मात्मक होती हैं। अनंत धर्म एक ही वस्तु में स्थान प्राप्त करते हैं। कहा है—"अनंतधर्मात्मक वस्तु एक ही मनुष्य को कोई पिता मानता है, तो कोई पुत्र कहता है। कोई काका कहकर पुकारता है, तो कोई भतीजा कहकर प्यार करता है। इन सभी विरोधि धर्मों का समन्वय स्याद्वाद करता है। वह कहता है सभी का कथन न्यायसंगत है। पुत्र की अपेक्षा वह पिता है, और पिता की अपेक्षा पुत्र, भतीजे की अपेक्षा काका है, और काके की अपेक्षा से भतीजा। अपेक्षावाद से एक वस्तु में अनंत धर्म समाते हैं विरोध की कहीं गुंजाइस ही नहीं हैं। जन्मान्ध मानवमण्डली हस्तस्पर्श से हाथी के भिन्न २ अवयवों का ज्ञान करती है एवं आपस में कलह करती हैं, अपने को ही सत्य मान कर। किन्तु नेत्रवाला मानव सम्पूर्ण हाथी के ज्ञान को रखता है और सभी का समझौता कर देता है, इसी प्रकार स्याद्वादवादी काल, नियति, स्वभाव, कर्म और पुरुषार्थ पाँचों के विषय में एकान्त मानकर झगड़ने वालों का समन्वय कर समाधान कर देता है।

स्याद्वाद के मुख्य भेद तीन हैं—१ स्याद् अस्ति, २ स्याद् नास्ति, ३ स्याद् अवक्तव्य।

स्याद् अस्ति—वस्तु सदा स्वरूप से होती है।
स्याद् नास्ति—वही वस्तु पररूप नहीं होती।

स्याद् अवक्तव्य—दोनों रूपों का एक साथ कथन नहीं किया जा सकता, कथञ्चित्। यदि सर्वथा कहा ही नहीं जा सकता हो तो अवक्तव्य यह शब्द भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु अनुभवयुक्त है कि अन्य को समझानेमें अवक्तव्यरूप शब्दों का प्रयोग होता है। ये तीनों धर्म वस्तु में एकसाथ पाये जाते हैं। जैसे दधि मंथन करनेवाली बहन एक तरफ की रस्सी खींचती है दूसरी तरफ की ढ़ील देती है, किन्तु छोड़ती किसी को नहीं। ऐसे पदार्थ स्वरूप से अस्ति रूप है और दोनों धर्मो का कथन एक साथ नहीं कहा जा सकने के कारण अवक्तव्य रूप है। इन्हीं मूल तीन भंगो से ४ भंग और बनते हैं। तीन और चार मिलकर सात

स्याद्वाद की सैद्धान्तिकता

लेखिका—जैन सिद्धान्ताचार्या-महासती कौशल्या कंवर

"जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ"। मानवको यदि सत्य पाना है तो गहरा गोता लगाये बिना प्राप्त नहीं हो सकता। एक बार उसी सत्य का असत्य होना और असत्य का सत्य बनना मानव को और भी भ्रममें डाल देता हैं। एक संखिया को ही लीजिए। सम्पूर्णविश्व उसे मारक मानता है तो वैद्य उसी वस्तु का भयंकर से भयं कर रोगों के निवारण में उपयोग करता है। उस समय वही मारक संखिया उद्धारक रूप बन जाता है। ऐसे समय कितनेक बुद्धिजीवि प्राणी भी उब कर कह उठते हैं—

कोई कहै कछु है नहीं, कोई कहै कछु है।
'है और नहीं' के बीच में, जो कुछ है सो है।

ऐसा धारणावाले सत्य पा नहीं सकते। जो गहरा चिन्तक होगा, वही ठीक सत्य को पा सकता है। परन्तु शंकराचार्य जैसे भी स्याद्वाद के रहस्य को नहीं समझने के कारण उसमें अनेक दोष ही अपनी मन कल्पना से उपस्थित कर लेते हैं।

आज का युग समन्वयवादी है। वह सभी वस्तुओं को जानने की चेष्टा करता है और इसी चिन्तन के बूते पर आजके अनेकों जनेतर विद्वान् भी स्याद्वाद के अमूल्य तत्व की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं।

गांधीजी ने लिखा है—'जिस प्रकार मैं स्याद्वाद को जानता हूँ, उसी प्रकार मानता ▮। मुझे यह अनेकान्त बड़ा प्रिय है"।

श्रीयुत महामहोपाध्याय सत्यसम्प्रदायाचार्य प स्वामी राममिश्रजी शास्त्री ने लिखा है— स्याद्वाद जैन धर्मका एक अभेद्य किला है। जिसके अन्दर प्रतिवादियों के मायामय गोले प्रवेश नहीं कर सकते।'

प्रो हर्मन जेकोबी ने लिखा है—"जैन धर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्व ज्ञान और धार्मिक पद्धतियों के अभ्यासियों के लिए महत्त्वपूर्ण ▮। इस स्यायद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।"

डा थामस के भी विचार या उद्गार बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—"न्यायशास्त्र में जैन न्याय का स्थान बहुत ऊँचा है। स्याद्वाद का स्थान बड़ा गम्भीर है। वह वस्तुओं की भिन्न भिन्न परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है"।

भारत के निष्पक्ष आलोचक पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने तो यहा तक कह डाला है कि— प्राचीन काल के हिन्दू धर्मावलम्बी बड़े बड़े शास्त्री तक अब भी यह नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है'। अस्तु।

रूप में विरोध हैं। इस तरह एकही वस्तु में भाव अभाव दोनों हो सकते हैं। स्वरूप से भाव पर रूपसे अभाव।

२ शंका—अस्ति नास्ति का एक पदार्थ में होना; एक अधिकरणमें होना हैं। इसीलिए एकाधिकरण दोष हैं ?

समाधान—एक वृत्त रूप अधिकरण में चल और अचल दोनों धर्म हैं। एकही वस्तुमें रक्त, श्याम, पीत कई रंग हो सकते हैं। इसी प्रकार अनेकान्तवाद है।

३ शंका—जो अप्रामाणिक पदार्थोंकी परंपरा से कल्पना हैं। उस कल्पना के विश्राम के अभाव को अनवस्था कहते हैं। अस्ति एक रूप से नास्ति पर रूपसे हैं। दोनों एकरूप से होने चाहिए अन्यथा अनवस्था दोष आता है ?

समाधान—अनेक धर्मरूप वस्तु पहले से ही सिद्ध हो चुकी। फिर कहने की आवश्यकताही क्या ? यहाँ अप्रामाणिक पदार्थो की परंपरा की कल्पना का सर्वथा अभाव है।

४ शंका—एक काल में ही एक वस्तुमें भिन्न धर्मोका पाया जाना संकरता हैं और वह इसमें है ?

समाधान—अनुभवसिद्ध पदार्थ सिद्ध होनेपर किसीभी दोष को स्थान नहीं। पदार्थ की सिद्धि अनुभवसे विरुद्ध होती है तभी यह दोष आता है वरन् नहीं।

५ शंका—परस्पर विषयगमन को व्यतिकर कहते हैं। जैसे जिस रूप से सत्य है, वैसे उसी रूप से असत्य भी होना नकि सत्य और जिस रूपसे असत्य है उसी रूप से सत्य होना नकि असत्य, इसीलिए व्यतिकर दोष है।

समाधान—स्व स्वरूप से सत्य और परस्वरूप से असत्य अनुभव सिद्ध होनेसे न संकर को स्थान है न व्यतिकरको।

६ शंका—एकही वस्तुमें सत्व असत्व उभय रूप होने से निश्चय करना अशक्य है कि यह क्या ? इसीलिए संशय हैं।

समाधान—व्यवस्थित रूपसे वस्तु रूपका ज्ञान होनेसे संशय दोष हो ही नहीं सकता।

७ शंका—संशय होने से बोध का अभाव हैं इसीलिए अप्रतिपत्ति दोष है।

समाधान—जब संशयही न हो तो वस्तु का बोध ठीक रूपसे होगा ही फिर अप्रतिपत्ति दोष क्यों होगा ? नहीं होगा।

८ शंका—अप्रतिपत्ति होने से सत्व-असत्व-स्वरूप वस्तुका ही अभाव प्रतीत होगा। अतः अभावदोष है।

समाधान—जब अप्रतिपत्ति दोषही लागू नहीं हुआ तो अभाव का प्रभाव ही लुप्त होगा अर्थात् यह दोष भी स्याद्वाद सिद्धान्त में रह ही नहीं पाता।

भंग होते हैं। इससे उसका नाम सप्तभंगी है। प्रश्न हो सकता है भंग सात ही क्यों? मानव की जिज्ञासा प्रत्येक पदार्थों के जानने में सात ही प्रकार की होती है, और उत्तर सात ही प्रकार से दिये जाते हैं, अतः सात ही भंग बनते हैं। इससे न्यून या ज्यादा नहीं। गणित की दृष्टि से ही देखिए। जैसे १, २, ३ हैं उनके भंग इस प्रकार होंगे १/१२ २/१.३ ३/२३ ४/१.२.३ यों ४ और ऊपर के तीन यों सात होते हैं। क्रम से सातों की स्थापना इस प्रकार होगी। जो एक मरीज के उदाहरण सहित बताया जाता है। आप किसी मरीज से रोग का हाल पूछेंगे वह निम्न प्रकार से उत्तर देगा।

स्याद् अस्ति–बिमारी है।

स्याद् नास्ति–भयंकर नहीं है।

स्याद् अस्ति नास्ति–बीमारी है अवश्य किन्तु भयंकर नहीं।

स्याद् अवक्तव्य–दोनों बातों का कथन एक साथ नहीं होता।

स्याद् अस्ति अवक्तव्य अवश्य होती भी रुग्णावस्था है अवश्य।

स्याद् नास्ति अवक्तव्य–अवश्य होते भी भयंकरता तो नहीं है।

स्याद् अस्तिनास्ति अवक्तव्य–रुग्ण है भयंकर रूपसे नहीं अवस्था अवश्य है अर्थात् वर्णनीय नहीं है।

ये सातों भंग इसी प्रकार अनंत धर्मोपर समान रूप से लागू होते हैं। प्रत्येक पदार्थ के प्रत्येक धर्म का ज्ञान इन सात अंगों से सर्वतोमुखी बनता है। ये सातों भंग नियमित हैं संशय के प्रकार ही सात होनेसे। यदि ये प्रश्न इच्छित हो तो यह स्याद्वाद स्याद्वाद न होकर अव्यवस्थावाद बनजाय, किन्तु यह नियमित होनेसे व्यवस्थितवाद है। इन सातों भंगों में आया हुआ स्याद् शब्दही व्यवस्था और अनेकान्त वाद का द्योतक है। मानव को चाहिए प्रत्येक पदार्थों का निश्चय सातों भंग को घटाकर करे। एक या दो रूप मात्र से अपनी बात सर्वथा सत्य नहीं हो सकती।

स्याद्वाद की अज्ञता से दिये जाते दोष

स्याद्वाद यह एक रत्नाकर है। गहराई में उतरनेवाला चन्द्रकान्त आदिसे बहुमूल्य रत्न प्राप्त करते हैं। किन्तु ऊपर ही रह पानी चखनेवाले लवणता का दोष देते हैं। इस प्रकार स्याद्वाद से अनभिज्ञ इसपर आठ दोष देते हैं। शंका–समाधान रूप से वे निम्न प्रकार हैं।

१ शंका–अस्ति नास्ति एक पदार्थ में विरोध है?

समाधान–विरोध का साधन अभाव है। जैसे एक वस्तु में घटत्व और पटत्व दोनों विरोधि हैं परन्तु द्रव्य को छोड दिया जाय और केवल उस वस्तुको ही देखा जाय तो इन रूपों में विरोध नहीं है। द्रव्य की दृष्टिसे वस्तु की सत्ता है। परन्तु

आदीपमाव्योमसमःस्वभावं, स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥

क्षणिकता में मानव जन्म के दूसरे क्षण ही मर जायगा। कार्य करता दूसरा होगा। कार्यकर्ता कार्य करने के दूसरे ही क्षण नष्ट हो जायगा। उसका फल कोई तीसरा ही अनुभवेगा। माता पुत्रजन्म देनेके दूसरे क्षण नष्ट हो जायगी। पुत्र को दूध पिलायेगा कौन ? पुत्र मातृहीन हो जायगा। दूध पिलायगी दूसरी माता। बड़े होने-पर सुख पुत्र का तीसरी ही माता देखेगी क्यों कि दुग्ध से पालक माता भी दूसरे क्षण नष्ट हो जायगी। व माता का भी पुत्रजन्म देने का कष्टसहन वृथा होगा। पुत्रजन्म के अनंतर ही नष्ट होजायगा। पुत्रजन्म देकर भी माता निपुत्रीका रहेगी ऐसी स्थिति में यम-नियम सभी व्यर्थ होंगे। क्षणिकवाद में नियमों की आवश्य-कता ही क्यों कर रहने लगेगी ? नियम पालनकर्ता नियम पालन के दूसरे क्षण ही नष्ट होजायगा। तो मुक्ति मृत को हो नहीं सकती और वह मरचुका तो मुक्ति मिलेगी किसे ? मुक्ति का अधिकार किसे ? जब मुक्ति मिलने की नही तो जप-तप व्रत-नियम-ब्रह्मचर्य का पालन ही करने की आवश्यक्ता नहीं होगी। चार्वाक से भी भयंकर नास्तिक मत ये होगा। वह तो मरने के पश्चात् दुसरा भव नहीं मानता जब कि यह तो एक भव ही नहीं मानता। एक भव में ही असंख्य जन्म-मरण करता है। इसके मत से किसी के पत्नी पति विवाहिता नहीं हो सकते। लग्नके पश्चा-त्की पति की पत्नी और पत्नी का पति मर जायगा। दोनों व्यभिचारी होगें। पति की पत्नी मर जाने से दूसरे क्षण दुसरी होगी और पत्नीके भी पति दूसरा होगा। यों असंख्य पति-पत्नी होगें। एकही देह में भला देह भी एक क्यों होगा ? वह भी तो क्षणविध्वंसी है। जब सभी वस्तु क्षणिक है तो किया जानेवाले कार्य का फल करनेवाले को मिल ही नहीं सकते। कारण के कार्य तो करने के अनंतर ही नष्ट होजायेगें। पुण्य और पाप, धर्म और कर्म सभी व्यर्थ। जब फल ही भोगने वाला न रहेगा तो फल किसका या फल भी उत्पन्न ही कैसे होगा ? कारण कारणके रहते कार्य और कार्य के रहते फल। जब कारण ही नहीं तो कार्य ही क्या होगा ? कार्य के अभाव में फल किसका ? यों कार्य के नाशसे कृतप्रणाश और मानव रातदिन दुःख सुख भोगते दिखलाई देता है। पुण्य पाप तो किया ही नहीं और विना पुण्य पाप के सुखदुःख भोगे यह तो महा अनर्थवाद है। यह तो पोपाबाई के राज्य समान होगा कि टके सेर भाजी टके सेर खाजा। कर्म करे कोई और फल भुगते और। दुसरा जीव मारा किसीने और फाँसी में उसका गला छोटा पडता है तो किसी मोटे ताजी आदमी को फाँसी दे देना। किन्तु यह तो अनुचित हैं। क्षणिकवाद में स्मृति भी नहीं हो सकती। आज जिसने अनुभव किसी वस्तुका किया और वह तो दूसरे ही क्षण विनश्वर होगा। याद रखेगा कौन ? ऋण देगा एक लेनेवाला कोई दूसरा होगा। दाता देने के पश्चात् और ऋणी ग्रहण के अनन्तर ही नहीं रहेंगे तो आगे ऋण चुकायेगा कौन और दाता मरचुका ऋण पुनः लेगा कौन ? एकवार स्वयं बुद्धने अपने शिष्यों को कहा—“देखो, यह मेरे पैर में जो काँटा लगा उसका कारण है मैंने ९९ भव पहले एक आदमी को शूली पर चढाया

दार्शनिक क्षेत्रमें स्याद्वादकी उपयोगिता

विश्व की किसी भी वस्तुको लीजिए। बिना स्याद्वाद के वस्तु का निर्णय हो ही नहीं सकता। मान लीजिए यदि आप अस्ति को ही मानते रहे या नित्य को ही तो एक कदम भी पृथ्वीपर नहीं चल सकते। यदि वस्तु एकान्त नित्य बन जाय तो भी सत्य नहीं हो सकता या एकान्त अनित्य हो जाय तो भी सत्य नहीं।

प्रथम अस्ति ही को क्यों न लें ? अस्तिसे यदि पदार्थ सर्वथा अस्तिरूप होगा तो वह पदार्थ अन्य पदार्थों के रूपका भी होजायगा और उसी एक पदार्थ से संसार के समस्त कार्यकलाप बनने चाहिएँ, किन्तु देखते यह है कि सभी पृथक् २ पदार्थों की आवश्यकता समय समय पर होती है। अतः वह पदार्थ पररूपसे कभी अस्तिरूप नहीं हो सकता वैसी तरह पररूपसे नास्ति के समान स्वरूपसे नास्ति हो नहीं सकता अन्यथा सारा संसार ही लुप्त हो जायगा। जब वस्तु स्वयही स्वरूप नहीं होगी तो संसार में रहेगा ही क्या ? ऐसा होनेसे भी एकान्त अनिर्वचनीय वस्तुका स्वरूप नहीं है। वरन् वह दूसरों के ज्ञान करानेमें ही असमर्थ होगी। ज्ञान अन्य को शब्दद्वारा ही करवाया जाता है और जब शब्दोंसे वचनीय न हो तो अनिर्वचनीय रूप शब्दका उच्चारण ही कैसे हो सकेगा ? इसी प्रकार वस्तु यदि एकान्त नित्य है तो परिवर्तन एकान्त नित्य में असंभव है। किन्तु यह बात अनुभवविरुद्ध है। प्रत्येक पदार्थोंका परिवर्तन दृष्टिगोचर है। एक ही स्वर्ण प्रथम कुण्डलरूप होता है तो फिर कंकणरूप की पर्याय में बदल जाता है। यहां पर्यायरूप से कुण्डल का कंकण रूप में संक्रमण हो गया है। वैशेषिक नित्य का लक्षण करते हैं। अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं नित्यं" उत्पाद विनाश नित्य का लक्षण ही नहीं मानते तो यहाँ केवल पर्यायकी उत्पत्ति का नाश प्रत्यक्षसिद्ध का अपलाप नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार एकान्त अनित्य पक्ष भी अनुचित है। बौद्ध तार्किक वस्तु का लक्षण करते हैं–"सर्वं क्षणिकं स्याद् उदाहरण भी देते हैं बहते नदी का और दीपककी लौ का कि ये सभी क्षणिक हैं–क्षण क्षण में होते हैं और क्षण क्षण में ही नाश हो जाते हैं। परन्तु दीर्घ दृष्टिसे सोचने पर यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है। पानी दूसरे स्थान चला जाता है अथवा दूसरे रूप में बदल जाता है। जैसे दिनमें वही रात्रि का घनान्धकार सूर्यकिरणों से प्रकाश रूप धारण करलेता है और पुनः रात्रि को अंधकाररूप में किन्तु वस्तुका विनाश नहीं होता है। यदि संसार की प्रत्येक वस्तु ही विनाशी हो तो कार्य कारणभावही नहीं घट सकता। कारण कार्य को उत्पन्न करने के पहले ही नष्ट होजायगा। कार्य भी इसी प्रकार नहीं होजायगा या कारण के अभाव में कार्य ही उत्पन्न न होगा। यदि हो तो सभी कारणों से कार्य उत्पन्न होने लगेंगे। मिट्टी से पट और तन्तु से घट किन्तु यह अनुभव से असिद्ध है। मिट्टी रूप कारण से घट ही और तन्तुरूपकारण से पट ही उत्पन्न होता है न कि पट घट। यदि क्षणिकवाद मानें तो अनेक दोष उत्पन्न होंगे। कृतप्रणाश, अकृतकर्मभोग, स्मृतिभंग इत्यादि। कारण संसार के समस्त पदार्थ नित्यानित्य स्वरूप हैं। आचार्य हेमचन्द्रजी अपनी अन्ययोगव्यवच्छेदिकामें कहते हैं–

आदीपमाव्योमसमस्वभावं, स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥

क्षणिकता में मानव जन्म के दूसरे क्षण ही मर जायगा। कार्य करता दूसरा होगा। कार्यकर्ता कार्य करने के दूसरे ही क्षण नष्ट हो जायगा। उसका फल कोई तीसरा ही अनुभवेगा। माता पुत्रजन्म देनेके दूसरे क्षण नष्ट हो जायगी। पुत्र को दूध पिलायेगा कौन ? पुत्र मातृहीन हो जायगा। दूध पिलायगी दूसरी माता। बड़े होने-पर सुख पुत्र का तीसरी ही माता देखेगी क्यों कि दुग्ध से पालक माता भी दूसरे क्षण नष्ट हो जायगी। व माता का भी पुत्रजन्म देने का कष्टसहन वृथा होगा। पुत्रजन्म के अनंतर ही नष्ट होजायगा। पुत्रजन्म देकर भी माता निपुत्रीका रहेगी ऐसी स्थिति में यम-नियम सभी व्यर्थ होंगे। क्षणिकवाद में नियमों की आवश्यकता ही क्यों कर रहने लगेगी ? नियम पालनकर्ता नियम पालन के दूसरे क्षण ही नष्ट होजायगा। तो मुक्ति मृत को हो नहीं सकती और वह मरचुका तो मुक्ति मिलेगी किसे ? मुक्ति का अधिकार किसे ? जब मुक्ति मिलने की नही तो जप-तप-व्रत-नियम-ब्रह्मचर्य का पालन ही करने की आवश्यकता नहीं होगी। चार्वाक से भी भयंकर नास्तिक मत ये होगा। वह तो मरने के पश्चात् दुसरा भव नहीं मानता जब कि यह तो एक भव ही नहीं मानता। एक भव में ही असंख्य जन्म-मरण करता है। इनके मत से किसी के पत्नी पति विवाहिता नहीं हो सकते। लग्नके पश्चात्की पति की पत्नी और पत्नी का पति मर जायगा। दोनों व्यभिचारी होंगे। पति की पत्नी मर जाने से दूसरे क्षण दुसरी होगी और पत्नीके भी पति दूसरा होगा। यों असंख्य पति-पत्नी होंगे। एकही देह में भला देह भी एक क्यों होगा ? वह भी तो क्षणविध्वंसी है। जब सभी वस्तु क्षणिक है तो किया जानेवाले कार्य का फल करनेवाले को मिल ही नहीं सकते। कारण के कार्य तो करने के अनंतर ही नष्ट होजायेंगे। पुण्य और पाप, धर्म और कर्म सभी व्यर्थ। जब फल ही भोगने वाला न रहेगा तो फल किसका या फल भी उत्पन्न ही कैसे होगा ? कारण कारणके रहते कार्य और कार्य के रहते फल। जब कारण ही नहीं तो कार्य ही क्या होगा ? कार्य के अभाव में फल किसका ? यों कार्य के नाशसे कृतप्रणाश और मानव रातदिन दुःख सुख भोगते दिखलाई देता है। पुण्य पाप तो किया ही नहीं और विना पुण्य पाप के सुखदुःख भोगे यह तो महा अनर्थवाद है। यह तो पोपाबाई के राज्य समान होगा कि टके सेर भाजी टके सेर खाजा। कर्म करे कोई और फल भुगते और। दुसरा जीव मारा किसीने और फाँसी में उसका गला छोटा पडता है तो किसी मोटे ताजी आदमी को फाँसी दे देना। किन्तु यह तो अनुचित हैं। क्षणिकवाद में स्मृति भी नहीं हो सकती। आज जिसने अनुभव किसी वस्तुका किया और वह तो दूसरे ही क्षण विनश्वर होगा। याद रखेगा कौन ? ऋण देगा एक लेनेवाला कोई दूसरा होगा। दाता देने के पश्चात् और ऋणी ग्रहण के अनन्तर ही नहीं रहेंगे तो आगे ऋण चुकायेगा कौन और दाता मरचुका ऋण पुनः लेगा कौन ? एकवार स्वयं बुद्धने अपने शिष्यों को कहा—"देखो, यह मेरे पैर में जो काँटा लगा उसका कारण है मैंने ९९ भव पहले एक आदमी को शूली पर चढाया

दार्शनिक क्षेत्रमें स्याद्वादकी उपयोगिता

विश्व की किसी भी वस्तुको लीजिए। बिना स्याद्वाद के वस्तु का निर्णय हो ही नहीं सकता। मान लीजिए यदि आप अस्ति को ही मानते रहे या नित्य को ही तो एक कदम भी पृथ्वीपर नहीं चल सकते। यदि वस्तु एकान्त नित्य बन जाय तो भी सत्य नहीं हो सकता या एकान्त अनित्य हो जाय तो भी सत्य नहीं।

प्रथम अस्ति ही को क्यों न लें? अस्तिसे यदि पदार्थ सर्वथा अस्तिरूप होगा तो वह पदार्थ अन्य पदार्थों के रूपका भी होजायगा और उसी एक पदार्थ से संसार के समस्त कार्यकलाप बनने चाहिएँ, किन्तु देखते यह है कि सभी पृथक् २ पदार्थों की आवश्यकता समय समय पर होती है। अत वह पदार्थ पररूपसे कभी अस्तिरूप नहीं हो सकता यैनी वह पररूपसे नास्ति के समान स्वरूपसे नास्ति हो नहीं सकता अन्यथा सारा संसार ही लुप्त हो जायगा। जब वस्तु स्वयही स्वरूप नहीं होगी तो संसार में रहेगा ही क्या? ऐसा होनेसे भी एकान्त अनिर्वचनीय वस्तुका स्वरूप नहीं है। वरन् वह दूसरों के ज्ञान करानेमें ही असमर्थ होगी। ज्ञान अन्य को शब्दद्वारा ही करवाया जाता है और जब शब्दोंसे वचनीय न हो तो अनिर्वचनीय रूप शब्दका उच्चारण ही कैसे हो सकेगा? इसी प्रकार वस्तु यदि एकान्त नित्य है तो परिवर्तन एकान्त नित्य में असंभव हैं। किन्तु यह बात अनुभवविरुद्ध है। प्रत्येक पदार्थोंका परिवर्तन दृष्टिगोचर है। एक ही स्वर्ण प्रथम कुण्डलरूप होता है तो फिर कंकणरूप की पर्याय में ढल जाता है। यहाँ पर्यायरूप से कुण्डल का कंकण रूप में संक्रमण हो गया है। वेशेषिक नित्य का लक्षण करते हैं। अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकलक्षणो नित्य" उत्पाद विनाश नित्य का लक्षण ही नहीं मानते तो यहाँ कंकण पर्यायकी उत्पत्ति का नाश प्रत्यक्षसिद्ध का अपलाप नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार एकान्त अनित्य पक्ष भी अनुचित है। बौद्ध तार्किक वस्तु का लक्षण करते हैं -"सर्वं क्षणिकं स्याद् उदाहरण भी देते हैं बहते नदी का और दीपककी लौ का कि ये सभी क्षणिक है -क्षण क्षण में होते हैं और क्षण क्षण में ही नाश हो जाते हैं। परतु दीर्घ दृष्टिसे सोचने पर यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है। पानी दूसरे स्थान चला जाता है अथवा दूसरे रूप में बदल जाता है। जैसे दिनमें वही रात्रि का घनान्धकार सूर्यकिरणों से प्रकाश रूप धारण करलेता है और पुन रात्रि को अधकाररूप में किन्तु वस्तुका विनाश नहीं होता है। यदि ससार की प्रत्येक वस्तु ही विनाशी हो तो कार्य कारणभावही नहीं घट सकता। कारण कार्य को उत्पन्न करने के पहले ही नष्ट होजायगा। कार्य भी इसी प्रकार नहीं होजायगा या कारण के अभाव में कार्य ही उत्पन्न न होगा। यदि हो तो सभी कारणों से कार्य उत्पन्न होने लगेंगे। मिट्टी से पट और तन्तु से घट किन्तु यह अनुभव से असिद्ध है। मिट्टी रूप कारण से घट ही और तन्तुरूपकारण से पट ही उत्पन्न होता है न कि पट घट। यदि क्षणिकवाद मानें तो अनेक दोष उत्पन्न होंगे। कृतप्रणाश, अकृतकर्मभोग, स्मृतिभंग इत्यादि। कारण संसार के समस्त पदार्थ नित्यानित्य स्वरूप हैं। आचार्य हेमचन्द्रजी अपनी अन्ययोगव्यच्छेदिकामें कहते हैं—

जब मोक्ष ही सिद्ध न हुआ तो बंध ही क्या बाकी बचा रह सकता है ! इस प्रकार संसार में पुण्य-पाप, बन्ध–मोक्ष, सुख–दुःख ही नहीं होगा तो संसार ही क्या ? संसार रहेगा ही क्यों ? संसार शब्द ही परिवर्तन का द्योतक है। सृ सरकने धातु से बना। संसरतीति संसार यह संसार शब्द की व्युत्पत्ति ही परिवर्तनमय संसार का दिग्दर्शन कराती है। अरहट्टघटिका की भाँति परिवर्तनचक्र संसार का चालू है। कोई जन्मता है तो कोई मरता है। आज राजा तो कल रंक। आज गरीब कल अमीर। आज दुःखी कल सुखी। सूर्य दिन में तीन दिशा बदलता है। मानव एक जीवन में तीन रूप धरता है। बालक, बुड्ढा, नवयुवान। इसी सत्य को समन्तभद्राचार्य इस प्रकार बताते हैं—

> भावेषु नित्येषु विकारहानेर्न कारकव्यापृतकार्ययुक्तिः।
> न बन्धभोगौ न च तद्विमोक्षः समस्तदोषं मतमन्यदीयम्॥

अतःसिद्ध है कि दार्शनिक क्षेत्र में एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य दोनों पक्ष युक्ति युक्त नहीं है।

सत्य को सम्यकरीत्या समझने का उपाय स्याद्वाद

मानव यदि सत्य समझना चाहता है तो बिना स्याद्वाद के दूसरा मार्ग नहीं। उसे स्याद्वाद का सहारा लेना ही होगा। इसी के आधार वह सत्य को हृदयंगम कर सकता है। एक उदाहरण ही एक मानव एक लकीर को देख कहता है यह छोटी है। दूसरा उसी को बड़ी कहता। किन्तु स्याद्वादवादी दोनों के सामने एक छोटी बड़ी दो लकीर खींचकर दोनों का समाधान करदेता है। अस्तु कहने का तात्पर्य यही कि आखीर स्याद्वाद ही मानव को सरल उपाय से सत्य बता सकता है।

नयप्रमाण आदि भी इसी स्याद्वाद में समाता हैं। इसके विषय में जितना भी लिखा जाय कम होगा। इसके सभी स्वतन्त्र ग्रन्थ ही तैय्यार हो जाय। अतः अमृतचन्द्र स्याद्वाद के मार्मिक विद्वान ने इसीको प्रणाम करते लिखा हैं।

> परमागमस्य बीजं निषिध्य जात्यंधसिन्धुरविधानम्
> सकलनयविलासितानाम्, विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्

—पुरुषार्थ सिध्युपाय २

उसका पाप । नरकप के कारण क्षीण होकर इतना मिला ।" ऐसी भवपरंपराकी सत्ता क्षणिकवाद में सम्भवित नहीं । अतः क्षणिकवाद ही अव्यवस्थावाद है और दार्शनिक क्षेत्र में यह अनुपयोगी है इसकी अनुपयोगितासिद्ध होनेसे ।

जब क्षणिकवाद अनुपयोगी सिद्ध हो चुका तो नित्यवाद कब तक पृथ्वी पर अपना आडम्बरमय नाटक दिखानेको समर्थ होसकता है? स्याद्वाद के सामने यह हस्तिके सामने चींटिवत् है । एकान्त नित्यवाद भी दोषोंसे अछूता नहीं है । नित्य वही कहलाता है जो समर्थ है और समर्थ समय या अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता। अपेक्षा रखना असमर्थ का लक्षण है। कहा है सापेक्षमसमर्थम् । समर्थ जब किसी की अपेक्षा ही नहीं रखता तो काल कारण आदि की उपेक्षा कर सम्पूर्ण कार्य एक क्षण में कर डालेगा । क्यों कि समर्थ क्रम से कार्य नहीं करता । जब एक ही क्षण में सम्पूर्ण कार्य का कर डालेगा तो दूसरे क्षण में करने का कुछ बाकि ही नहीं रहेगा । क्यों कि समर्थस्य कालक्षेप न योग्य । जब इस न्याय से कार्य ही दूसरे क्षण के लिये नहीं बचा तो वस्तु अर्थक्रिया शून्य होगी । अर्थक्रियाशून्य होना वस्तु का लक्षण नहीं । कहा है- अर्थक्रियाहीनमवस्तु । अर्थक्रिया रहित जो होता है । वह अवस्तु होता है । जब अवस्तुता प्राप्त हुई वस्तु को तो सारा विश्व ही नहीं रहेगा । सारा अस्त हुआ तो पुण्य-पाप, सुख दुःख, बंध मोक्ष नहीं हो सकते । नित्य है वह अपरिवर्तनीय है । सुख और दुःख एक दूसरे विरोधि । और विरोधिभाव एक रूपसे हो नहीं सकते । जिस रूप से मानव सुख का वेदन करता है उसी स्वभाव से दुःख का वेदन नहीं कर सकता और जिस स्वभाव से दुःख का वेदन करता है सुख का वेदन नहीं कर सकता । इसी प्रकार पुण्य-पाप, धर्म अधर्म एक भाव में हो नहीं सकते । पुण्य जिन विचारोंसे मानव करता है पाप उन विचारों में हो नहीं सकता । जिन कर्तव्यों से धर्म होता है अधर्म उन कर्तव्यों से हो नहीं सकता । और तो क्या? पुण्य जिन भावों में उपार्जित करे उसका फल भी उसी भावों को नहीं भोगा जा सकता । पुण्य कठिनता से उपार्जित किया जाता है भोगनेके लिए सरलता होती है । तो काठिन्यता और सरलता दोनों विरोधि हैं । एक भाव कैसे पाये जा सकते हैं? परिवर्तन अवश्यभावी है । दिन भी बनता है और रात भी बनती है। सारा संसार परिवर्तनमय है । परिवर्तन को माने बिना मार्ग नहीं । पदार्थों के नित्य मानने पर निष्क्रिया परिवर्तन का अभाव होगा । और परिवर्तन न होने पर कारणों का प्रयोग करना निरर्थक सिद्ध होगा । जब कारण निरर्थक होंगे तो कारणों के अभाव में कार्य ही नहीं होंगे। एक नित्य सिद्धान्त मानने पर अर्थक्रिया का लोप हो जायगा । जब अर्थ क्रियाएं ही नहीं होगी तो भला बंध और मोक्ष तो हो ही कैसे सकता है ।

मोक्ष का अर्थ है छूटना । जब बंध से छूटेगा तो बंध अवस्था से छूटने की अवस्था दूसरी होगी तो परिवर्तन कहलायगा और परिवर्तन होना अनित्य का लक्षण है । जब मोक्ष ही नहीं होगा तो बंध ही क्या ? संसार के सभी शब्द एक दूसरे की अपेक्षावाला है । जैसे सुख-दुःख धर्म-अधर्म, इसी प्रकार मोक्ष भी अपेक्षा युक्त है और बंध की अपेक्षा रखता है। और बंध शब्द मोक्ष की अपेक्षा रखता है ।

जब मोक्ष ही सिद्ध न हुआ तो बंध ही क्या बाकी बचा रह सकता है ! इस प्रकार संसार में पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष, सुख-दुःख ही नहीं होगा तो संसार ही क्या ? संसार रहेगा ही क्यों ? संसार शब्द ही परिवर्तन का द्योतक है । सृ सरकने धातु से बना । संसरतीति संसार यह संसार शब्द की व्युत्पत्ति ही परिवर्तनमय संसार का दिग्दर्शन कराती है । अरहट्टघटिका की भाँति परिवर्तनचक्र संसार का चालू है । कोई जन्मता है तो कोई मरता है । आज राजा तो कल रंक । आज गरीब कल अमीर । आज दुःखी कल सुखी । सूर्य दिन में तीन दिशा बदलता है । मानव एक जीवन में तीन रूप बनता है । बालक, बुड्ढा, नवयुवान । इसी सत्य को समन्तभद्राचार्य इस प्रकार बताते हैं—

भावेषु नित्येषु विकारहानेर्न कारकव्यापृतकार्ययुक्तिः ।
न बन्धभोगौ न च तद्विमोक्षः समस्तदोषं मतमन्यदीयम् ॥

अतःसिद्ध है कि दार्शनिक क्षेत्र में एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य दोनों पक्ष युक्ति युक्त नहीं है ।

सत्य को सम्यकरीत्या समझने का उपाय स्याद्वाद

मानव यदि सत्य समझना चाहता है तो बिना स्याद्वाद के दूसरा मार्ग नहीं । उसे स्याद्वाद का सहारा लेना ही होगा । इसी के आधार वह सत्य को हृदयंगम कर सकता है । एक उदाहरण ही एक मानव एक लकीर को देख कहता है यह छोटी है । दूसरा उसी को बेडी कहता । किन्तु स्याद्वादवादी दोनों के सामने एक छोटी बड़ी दो लकीर खींचकर दोनों का समाधान करदेता है । अस्तु कहने का तात्पर्य यही कि आखीर स्याद्वाद ही मानव को सरल उपाय से सत्य बता सकता है ।

नयप्रमाण आदि भी इसी स्याद्वाद में समाता हैं । इसके विषय में जितना भी लिखा जाय कम होगा । इसके सभी स्वतन्त्र ग्रन्थ ही तैय्यार हो जाय । अतः अमृतचन्द्र स्याद्वाद के मार्मिक विद्वान ने इसीको प्रणाम करते लिखा हैं ।

परमागमस्य बीजं निषिध्य जात्यंधसिन्धुरविधानम्
सकलनयविलासितानाम्, विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्
—पुरुषार्थ सिध्युपाय २

अहिंसा का आदर्श

श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन [illegible] B. A. [illegible] साहित्यरत्न

जैनधर्म के जो प्रमुख सिद्धान्त हैं, उनमें अहिंसा का स्थान सर्वोपरि है और इस दिशा में यदि मैं कहूं कि जैन धर्म में अहिंसा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सैद्धान्तिक बल नहीं होता तो भी जैनधर्म आज जैसा ही लोकप्रिय होता क्योंकि आचार्य आशाधर के शब्दों में धर्म [अहिंसा हि लक्खणो धम्मो] अहिंसा लक्षणात्मक है और यह तो आबालवृद्ध सभी ही जानते हैं कि इस युग में जैन धर्म के प्रसारक भगवान महावीर ने सामन्तवादी कर्मकाण्डी हिंसामय वातावरण में पुनः अहिंसा की प्रतिष्ठा की और नरमेध अश्वमेध जैसे अनेक यज्ञों के स्थान में आत्मिक यज्ञ करने के लिये प्रेरणा दी। प्रस्तुत प्रसंग में मुझे ऐसा लगता जैसे महावीर और अहिंसा—दोनों ही एक दूसरे के पूरक और प्रतीक हों। मेरे विचारके धरातल में तो जो महावीर हैं, वही अहिंसक हैं और जो अहिंसक है वही महावीर है।

अहिंसा की असाधारणता

लोग कहते हैं— गांधीजी ने अहिंसात्मक संग्रामद्वारा दो शताब्दियों से पराधीन रहे भारतको स्वतन्त्र कर दिया और फ्रान्स के विख्यात विद्वान रोम्यारोला ने कहा— 'जिन सन्तोंने हिंसा के मध्य अहिंसा की अवतारणा की वे निश्चय ही न्यूटन से अधिक बुद्धिमान और वलिंगटन से भी बढ़कर वीर थे।' डाक्टर बेणीप्रसाद के शब्दों में—'सबसे ऊंचा आदर्श जिसकी कल्पना मानवीय मस्तिष्क कर सकता है, अहिंसा है। अहिंसा के सिद्धान्त का जितना व्यवहार किया जावेगा उतनी ही मात्रा में सुखशान्ति विश्वमण्डल में रहेगी। लौकिक जीवन में सुख और शान्ति के लिये आन्तरिक सामञ्जस्य की बड़ी आवश्यकता है और जो अहिंसा के बिना सम्भव नहीं है।

भारतवर्ष के राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने आत्मकथा में यह कहकर अहिंसा की असाधारणता प्रकट की— 'अहिंसा का सिद्धान्त अनोखा सिद्धान्त है। इतने बड़े पैमाने पर विशेषकर इतनी बड़ी शक्ति के हाथों (अँगरेजों) से स्वराज्य प्राप्त करने में उसका उपयोग और भी अनोखा है। बहुतेरों ने इस नीतिरूप में माना है और सचाई से इसे वर्त्तते हैं।' दो विश्व-युद्धों की विभीषिकाओं के बीच भी मुस्कराते रहनेवाले शान्ति के एकमात्र सेनानी महात्मा गांधी ने अपने निबन्ध 'तलवारका उसूल' में निम्नलिखित पंक्तियां लिखकर अहिंसापर अपार आस्था अभिव्यक्त की। 'अहिंसा धर्म केवल ऋषियों-महात्माओं के लिये नहीं, वह तो आम लोगोंके लिये भी है। अहिंसा हम मनुष्यों की प्रकृति का कानून है। जिन

ऋषियों ने हिंसा से अहिंसा का नियम निकाला, वे न्यूटन से ज्यादा प्रतिभाशाली थे और वेलिंगटन से बडे योद्धा।"

प्रस्तुत किये अनेकानेक विश्वविख्यात विचारकों के उद्धरणों से विदित होता है कि अहिंसा मनुष्यों का धर्म है और हिंसा पशुओंका धर्म है। यदि कोई पशु होकर भी अहिंसा का पालन करता–जैसे भगवान महावीर ने अपनी पूर्व पर्याय सिंह योनिमें किया तो वह नाममात्र के लिये पशु है, वस्तुतः वह मनुष्य है क्योंकि उसकी मति और मन दोनोंही सतर्क और सचेष्ट हैं। इसके विपरीत यदि कोई मनुष्य हिंसा करता है, और आदर्श अहिंसा धर्म की अवहेलना करता है तो वह भी नाममात्रके लिये मनुष्य है पर वस्तुतः वह पशु है। क्योंकि उसकी मति और मन-दोनोंही कुचेष्टा में लवलीन हैं। ऐसा मानव सही अर्थो में मानवता का कलंक है, क्योंकि प्रायः सभी ही धर्मो और दर्शनों के आचार्यों ने कहा—अरे आदमी! अगर तूं आदमी है तो आदमी को आदमी समझ। दूसरे शब्दों में अहिंसक बन और अहिंसाका पालन कर।

बहुतेरे व्यक्ति तो अहिंसा का पूर्णतया अर्थ भी नहीं जानते हैं और जो जानते हैं उनमेंसे अधिकांश दूसरों को समझाने भरके लिये जानते हैं, खुद समझने या दैनिक जीवन में प्रयोग करने वे नहीं जानते हैं। अधिकांश लोगों की धारणा है कि किसी प्राणीके प्राण लेने में ही हिंसा होती है अन्य प्रकारसे नहीं, पर यह शुद्ध भ्रम है। शस्त्रप्रहार अथवा प्राणहरण के सिवाय अन्य प्रकार भी हिंसा सम्भव है। किसी को अकारण कटुवचन कहना, मद्य-मधु खाना, चमडा-रेशम का उपयोग करना हिंसा ही है, अहिंसा नहीं। इस दिशा में द्रव्य हिंसा-भावहिंसा भेद लिये जैन ग्रन्थ एक बहुत बडी मात्रा में पठनीय सामग्री देते हैं, जो उत्सुक वहीं से प्राप्त करलें।

अहिंसा के एक से अधिक अर्थ और तुलना

भारतवर्ष के प्रधान मन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने 'मेरी कहानी' में अहिंसा विषयक जो निम्नलिखित पंक्तियां लिखी है, उनमें अस्पष्टतया अहिंसा की परिभाषा भी आ गई है और उसकी असाधारण सूचक महत्ता भी, "यद्यपि उसका नाम नकार में है तो भी वह बहुत बल और प्रभाव रखने वाला उपाय है और ऐसा उपाय जो अत्याचारी की इच्छा के सामने चुपचाप सिर झुकाने के विरुद्ध है" आज ही नहीं बल्कि अतीत में भी भारतवर्ष मे अहिंसा का निर्वृति परक अर्थ किया गया, जो हिंसा का निषेध करता है। 'अहिंसा' शब्द में दो शब्द जुड़े है:-१ 'अ' २ 'हिंसा'. 'अ' का अर्थ है नहीं, और 'हिंसा' का अर्थ है दूसरे के प्राणों का हरण करना, पर यह न समझा जावे कि अपने प्राणों का हरण करना ते अहिंसा के अन्तर्गत होगा। प्रत्युत जब दूसरे के प्राणों को हरण करना भी हिंसा है तो अपने प्राणों को हरना या आत्मघाती प्रवृतियां अपनाना तो हिंसा होगा ही। अतएव अहिंसा का अर्थ हुआ, दूसरे के [अपने भी] प्राणों का हरण न करना बल्कि दयामयी प्रवृत्ति करना।

दूसरे शब्दों में अहिंसा का अर्थ है, तुम स्वयं सुखी और खुशी होकर जिओ और दुसरों को भी जीने दो। तुम स्वयमेव जीवनके धरातल पर उठो और

दूसरों को उठने दो। Live and let live, Love all and serve all मा हिंस्यात भूतानि, आत्मन प्रतिकुलानि परेषां न समाचरेत् जैसे सुभाषित वाक्य अहिंसा के अर्थ सूचक हैं। दूसरे दृष्टिकोन से भारत के पडौसी देश चीन में अहिंसा का अर्थ विधी रुप में किया जाता है। प्रेम करो, मित्रता बढाओ, सहयोग दो, जैसी भावनाओं द्वारा अहिंसा धर्म समझा जाता है पर मुझे तो चीनी अर्थ की अपेक्षा विधी मूलक अर्थ की अपेक्षा निरेध मूलक अर्थ अधिक रुचिकर लगता है। इस दिशा में मेरा विचार है कि बुद्धिग्राह्य ज्ञान वाले मनुष्य ने जब किसी को अज्ञान या आलस्य के वशीभूत होकर मारा होगा और उसे आखो के आगे ही तडपते देखा होगा तथा अपने अन्तरके क्रोध सदृश विकार की उसकी व्यथा और वेदना को हृदयंगम किया होगा तब ही उसने अहिंसा का आशय समझा होगा और अन्य जनोंको समझाने के लिये सूत्र लिखा होगा — अहिंसा परमो धर्म '

'मोक्षशास्त्र' जैसे लोकप्रिय ग्रन्थके प्रणेता और सर्व प्रथम जैनसूत्रकार आचार्यवर उमास्वामी से हिंसा का लक्षण समझाने के लिये कहें तो वे परामर्श देंगे-' प्रमत्तयोगा त्प्राणव्यपरोण हिंसा' अर्थात प्रमाद या आलस्यके वशीभूत होकर जो जीवों के प्राणोंका हरण करना है, वह हिंसा है। प्रस्तुत सूत्र में आए हिंसा के क्षेत्र में प्रमत्त या अज्ञान शब्द जितना मननीय और चिन्तनीय है, उतना प्राण व्यपरोपण या प्राणलेना नहीं। फलत एक डाक्टर रोगी का ऑपरेशन करता और असफल होता तथा रोगी भी मरता पर डाक्टर हिंसक नहीं, हत्यारा नहीं और दण्डका पात्र भी नहीं। क्यों कि डाक्टर रोगी को मारना नहीं बचाना चाहता था। और एक अन्य व्यक्ति दूसरे को मा-बहिन या नालायक साले जैसी सामान्य गाली भी दूसरे के हृदय को दुखाने की नियत से देता है, तो वह हिंसक है, झगडालू है और धृष्ट है, ऐसा भला कौन नहीं कहेगा ? हां तो जीवात्मा मरे या न भी मरे परन्तु यदि प्रमाद है तो हिंसा है और यदि प्रमाद नहीं तो जीव मर भी जावे पर हिंसा नहीं। यह एक अनोखा सा मौलिक रहस्य जैनाचार्यकी अहिंसा द्वारा विदित हुआ। दूसरे शब्दों में यही बात आचार्य कुन्दकुन्द ने भी अपने 'प्रवचनसार' की पंक्तियों में यों कहा है—

मरदु व जियदु अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसा मत्तेण समि दस्स॥

यों तो प्राय सभी ही धर्मों ने और विश्वके विख्यात विचारकों ने अहिंसा को सर्वोपरि और सर्वमान्य सिद्धान्त कहा पर उनमें जैन धर्म और महावीर का स्थान प्रमुख है। प्रमाण के लिये आज भी जैन ग्रन्थ पढे जा सकते और जैन जनों की प्रवृत्तिया परखी जा सकतीं हैं।

ईसाई मत के प्रवर्त्तक ईसामसीहने बाइबिल में एक जगह कहा-Thou shell *not kill* अर्थात 'दूसरोंको मत मारो' पर अन्यत्र वे खुद ही सारे गाव को मछलियां मारकर खिलाते हैं। ऐसा लगता जैसे व ऊची बात सोचतो सके पर उसका निर्वाह नहीं कर सके। चीनके सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान खुद चाउ यानी कनफ्यूशियस ने भी कहा-

'किसी के निरर्थक प्राण न लो' परके भी किसी खास ऋतु में किसी खास पक्षी का मांस न खाने की आज्ञा मात्र देते हैं। यों इन्होंने अहिंसा को समझने की चेष्टा मात्र की है। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा गौतमबुद्ध ने भी 'महावग्ग' में कहा—"इरादा पूर्वक किसी को मत सताओ" परन्तु वे ही 'विनय पिटक' में प्रकारान्तर से मांस खाने की आज्ञा देते हैं और खुद भी खाकर एक बार तो अतिसार के रोगी होते हैं। यों वे हिंसा का भी अहिंसा से समझौता किये हैं। जहां हिन्दू धर्म के प्रामाणिक मान्य ग्रन्थ मनुस्मृति में मनु ने निम्नलिखित आशयका श्लोक लिखा—"जिसका मैं मांस खा रहा हूं, वह बदले में मुझे खावेगा।" इस अभिप्राय में प्रयुक्त 'मांस भक्षयिता' इस शब्द समूह में पाये जाने वाले मांस इन शब्दों से मांस बना है[1] अतः उन्होंने अहिंसा धर्म पर जहाँ सुदृढ आस्था प्रकट की वहाँ हिन्दू संस्कृतिके मूल स्रोत ऋग्वेद में इसके विरोधमें कहा गया—"स्वर्गकामो यजेत् पशुमा लम्भेत" अर्थात् स्वर्गका इच्छुक यज्ञ करे और पशु-वध करे। यद्यपि इसके विरोधीवचन भी वेदों में मिलते हैं तथापि अनेक हिन्दू आचार्यों की अहिंसा पर अपार आस्था ही रही हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता और इसी का परिणाम है, जो आज हिन्दूसमाज में मांसाहार प्रचलित है, और शिकार खेलना, युद्धकरना तो क्षत्रियों के जीवन का गौरव समझा जाता रहा है। इस दिशा में महर्षि वशिष्ठ की अहिंसा भी अविस्मरणीय बनी है। उन्होंने स्वयं राक्षसों का वध नहीं किया पर दशरथसे यज्ञ-रक्षाके लिये राम-लक्ष्मण को मांग लिया, और उनसे यज्ञ में विघ्न करनेवाले राक्षसोंको मरवा डाला। कहना न होगा कि महर्षि वशिष्ठ भी अपूर्ण अहिंसक हैं और प्रेरणा दिये हिंसा के समर्थक हैं पर ऐसी बातें जैन धर्मने नहीं कहीं और न उसके प्रसारक किसी तीर्थंकरने ही ऐसी देशना की। तीर्थंकरों की तो बात जाने दें पर अन्य आजतक के आचार्योंने भी देश-काल-सम्प्रदाय आदिकी बातोंको सोचकर भी मूलभूत बातों में कोई फेरफार नहीं किया, उसीका परिणाम है, जो आज जैन समाज दिगम्बर-श्वेताम्बर, तेरह-बीस पन्थ, स्थानकवासी-मंदिरमार्गी सदृश अनेक भेद-प्रभेदों में बँट जाने परभी अहिंसा पर अपार आस्था रखे हैं। यह देखकर हमें आज से ढाई हजार वर्ष पहले कहे गये, भगवान महावीरके निम्नलिखित वे वचन जो दशवैकालिक में संग्रहीत हैं; बरबस याद हो आते हैं—

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा तितं नमस्संति, जस्स धम्मे सया मणो॥

अर्थात् अहिंसा (दया) संयम (दमन) तवरूप धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है। जो इस मार्गपर चलते हैं, देवलोक भी उन्हें नमस्कार करते हैं। इसी दिशा में एक आचार्यने तो आगे बढ़कर यहाँतक कहा—"वीतरागदेव ने प्राणातिपातविरमण अर्थात् अहिंसा रूप एकही व्रत मुख्य कहा है और शेष व्रत तो उसकी रक्षाके लिये ही

[1] मांस भक्षयितामुत्र यस्यमांसमिहाद्म्यहम्। एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिण:॥

बतलाये गये हैं। " १ जैनधर्म की अहिंसा सिखाती है, प्राणों का संकट आनेपर भी दूसरों के प्राण लेकर अपने प्राण न बचाओ बल्कि दूसरों के प्राण बचाने के लिये अपने प्राण दे दो। इसी कारण जैनजन अत्यधिक दया-प्रिय हैं और उनकी दयालुता की प्रशंसा भी एक से अधिक इतिहासकारों तक को करनी पड़ी है।

अपने समकालीन भारतीय राष्ट्र के जनक युगपुरुष महात्मा गांधी ने भी अहिंसा के विषयमें अनेक बातें कहीं और वे बार बार ईसामसीह के इस सिद्धान्त को दुहराते थे-'यदि कोई तुम्हारे बायें गालपर थप्पड मारे तो तुम दाया भी उसके सामने उपस्थितकर दो।' पर इसका निर्वाह गांधाजी अपने जीवनमें पूर्णतया कर सकें ऐसा नहीं कहा जा सकता पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि गांधीजीने धार्मिक अहिंसाका राजनैतिक जीवनमें जो प्रयोग किया और अभूतपूर्व स्वराज्य जैसी सफलता पाई, यह विश्वके इतिहासमें बेजोड है पर बापू गाय के बछडे की हत्या करा कर, बन्दरोंको मारने की आज्ञा देकर पूर्णतया अहिंसक नहीं है, यह तो कहना ही पडेगा।

अपने इस अल्प अध्ययन और अनुभव के बाद यदि मैं कहूं कि ईसामसीहकी अहिंसा में मां का हृदय है, और कनफ्यूशियस की अहिंसा में तो हिंसाकी रोक थाम मात्र है तथा बुद्ध की अहिंसा तो उनके धर्म की भांति मध्यममार्ग की अनुगामिनी है, एवं हिन्दू धर्मकी अहिंसा तो हिंसा को भी साथ लेकर चली है और महात्मागांधीकी अहिंसा जितनी राजनैतिक है उतनी धार्मिक नहीं, पर भगवान महावीर की अहिंसा में उस विराट पिता का हृदय है जो सुमेरु सा सुदृढ कठोर कर्तव्य लिये है। इस विषय में एक बात और भी मैं स्पष्टतया कह देना चाहूंगा कि इस अहिंसा की तुलना के अर्थका कोई अनर्थ न करे और यह कदापि नहीं समझे कि पूर्वोक्त धर्मों या महापुरुषोंने अहिंसा के प्रचारमें योग दान नहीं दिया, प्रत्युत यह समझें कि प्रत्येक महापुरुष के समक्ष उसकी स्वयकी और देश-कालकी जो परिस्थितिया रहीं उनको देखते हुए उनके ही अनुयायियों के शब्दोंमें उन्होंने पर्याप्त परिश्रम अहिंसाके प्रसारके लिये किया पर ऐसा प्रयत्न करनेवाले धर्मों या महापुरुषों में मेरे लेखे भगवान महावीर या उनके द्वारा प्रतिपादित जैनधर्म सबसे आगे है।

अहिंसा के भेदों पर एक विहंगम दृष्टि

'अहिंसा का अर्थ कर्तव्य पालन है।' ऐसा जैन धर्म के एक से अधिक ग्रन्थोंके अध्ययन और अनुभव, मनन और चिन्तन से विदित होता है। जैनजनों के दृष्टिकोण से पूर्णतया अहिंसा का पालन मुनि या साधु करते हैं और अपूर्णतया उनके अनुयायी श्रावक अथवा गृहस्थ करते हैं पर श्रावक धर्मकी अपूर्ण अहिंसा भी मुनियोंकी पूर्ण अहिंसाकी ओर उन्मुख है। दूसरे शब्दोंमें जो अणुव्रत हैं, वे महाव्रतों की ओर बढनेके लिये प्रारम्भिक प्रयत्न हैं।

१ एक्कं चिय एत्थ वयं निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं। पाणाइवायविरमणं मवसेसा तस्स रक्खट्ठा॥

लोग कहते—'सिकन्दर ने विश्व-विजय का स्वप्न देखा था और नेपोलिय ने एक से अधिक युद्धों में अपना अपार साहस प्रकट किया था पर क्या इन्होंने अपने लिये भी जीता था ? यदि नहीं तो ये विश्व विजेता अपने आप ही मुंह की खा रहे। अपने लिये जीतने की बात तो दृढ़ता से अहिंसा के अनुयायी ही कह सकते हैं, क्यों कि अहिंसा का तो यथार्थ अर्थ ही राग—द्वेष, लोभ—क्रोध, मोह—शोक जैसी विविध मनोवृत्तियों पर विजय पाना है, और हिंसा-अहिंसा का प्रश्न तो मनोभावना पर वैसे ही आश्रित है, जैसे अर्थ शास्त्रीय दृष्टि से एक ही वस्तु एक व्यक्ति को अनुपयोगी पर अन्य को आवश्यक हो सकती है। अतः हम यहाँ सतर्क रहें।

यों तो अनेक जैन आचार्योंने, गृहस्थों और मुनिजनों के अनुरूप अहिंसा का विशद विवेचन किया है पर मुझ मन्द मति की दृष्टि में 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' के प्रणेता अमृतचन्द्र आचार्य इस दिशा में अपेक्षा कृत आगे हैं। उन्होंने गृहस्थ जीवन की अनुविधाओं को विचार के धरातल में रखते हुये अहिंसा की विरोधी हिंसा के चार भेद किये हैः—(१) संकल्पी (२) आरम्भी (३) विरोधी (४) उद्योगी। इन हिंसाओं को संक्षेप में यों समझा जा सकेगा।

प्राण हरण के उद्देश्य से की गई हिंसा संकल्पी है। जैसे शिकार खेलना, मांस खाना और जान बूझ किसी को गाली देना। जैन अनुयायी को चाहिये कि वह इससे बचे और प्रयत्न करके वह चाहे तो बच भी सकता है। पर शत्रु से अपने को बचाने के लिये जो हिंसा होती है, वह विरोधी है। जैसे चोर-डाकुओं या आक्रमण कारियों से मुठभेड़ हो जाने पर उनके या अपने प्राण जाना। यद्यपि यह जैन जन को विवश होकर करना पड़ता है तथापि जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक इसे टाल दे। जीवन—निर्वाहके लिये, परिवार के उचित भरण—पोषण के लिये प्रयत्न करने में जो हिंसा होती है वह आरम्भी है, और गृहस्थ अपने लिये इससे बच नहीं सकता, अगर बचने की चेष्टा करेगा तो लोक में निन्दा का पात्र होगा पर फिर जहाँ तक सम्भव हो वह आरम्भ कम ही करे क्यों कि जितना कम आरम्भ होगा, वह उतना ही अधिक निश्चिंत और अहिंसक हो सकेगा। जीवन - कार्य करने में, आजीविका के व्यापार में जो हिंसा होती है, वह उद्योगी है, जैसे खेती करना, व्यापार करना, लिपिक या शिक्षक अथवा सम्पादक बनना। इससे गृहस्थ अपने लिये बच नहीं सकता तथापि वह 'सांप मरे और लाठी न टूटे' वाली कहावत चरितार्थ करने यत्न शील रहे। अपने पेट की पूर्ति के लिये दूसरे के हृदय को लात न मारे क्यों कि शरीर में पेट से हृदय ऊपर है और हृदय काँच या दर्पण के समान है, अत एव उसकी रक्षा बड़े कौशल से करे। प्रकारान्तर से कहा जा सकेगा कि हृदय की रक्षा भी अहिंसा का पालन है।

एक बात और भी है। वह यह कि हिंसा करना और हिंसा हो जाना, इन दोनों में बड़ा अन्तर है। एक में आदमी असावधान है और दुसरे में अनजान।

असावधानी से अगर चींटी भी मरती तो चिन्ता की बात है पर अनजान में अगर हाथी भी मरता तो खास चिन्ता नहीं है। जैन धर्म में विवश हो कर हिंसा करने का विधान केवल गृहस्थों के लिये है पर मुनियों, यतियों, साधुओं, उपाध्यायों और आचार्यों तथा अर्हन्तों के लिये कदापि नहीं है। ये तो 'छहढाले' के प्रणेता दौलतरामजी के शब्दों में जल में भिन्न कमल से होते हैं, और अधावतारन असिप्रहारन में सदा समता धरन होते हैं। इनके जीवनका ध्येय लोक की अपेक्षा अलोक में अधिक होता है। इनका जीवन समभाव की साधना लिये इतना अधिक अहिंसामय होता कि जितना भी इस दिशा में शक्य और सम्भव होता है।

मानव-जीवनकी महत्ता श्रेष्ठ कार्यों के करने में है, परोपकारी और अहिंसक बनने में है। सन्त तुकाराम के शब्दों में-'जिस मानव-जीवन को पाने के लिये स्वर्ग के देवता तरसते हैं' वही मनुष्य का दुर्लभ जीवन (जो धर्माचार्योंके मत से ८४ लाख योनियों में बड़ी कठीनाई से मिला) अगर दूसरों के प्राण हरण के लिये अणुबम और उदजन बम जैसे विध्वंसक शस्त्र बनाने में बीत जाये तो इससे बढ़ कर और क्या दुर्भाग्य की बात होगी? यह तो वैसा ही प्रयत्न होगा, जैसे कोई खेत में अनाज खाते हुए कौवे को माणि फेंक कर भगाये।

हमें अपने जीवन को जितना भी हो सके उतना अहिंसक और अपरिग्रही बनाना चाहिये ताकि विश्वकी विषमता समाप्त हो और सुख-शान्ति एवं समृद्धिकी सम्भावना हो। यद्यपि काका कॅलेलकर के इन शब्दों को सभी जानते, 'विनाविशेष श्रम किये हम अहिंसक नहीं बनेंगे और न बिना त्याग किये अपरिग्रही ही बनेंगे' तथापि आज के समाज में लोग इनसे उल्टी ही प्रवृत्तिया लिये हैं। एक ओर लोग पैसे के पीछे पागल हो रहे, पैसे को बिना तिलक का भगवान बना रहे और इतने भौतिकवादी बन रहे कि लोकायतका अनुयायी भी शरमा जावे और दुसरी ओर मांसाहार करते हुये कह रहे-'गाय में तो आत्मा ही नहीं, अण्डा तो दुध सा पवित्र है, पर ऐसे लोग अब अधिर दिनोंतक विचारों की दृष्टिमें बुद्धिमान रहने वाले नहीं हैं। इधर कुछ लोग क्षमा और विनय की जननी अहिंसा को कायरता ही समझ बैठे हैं पर वे भी मेरे लेखे विवेकशील नहीं हैं क्यों कि अहिंसा की आराधना करने के लिये कितना बल चाहिये? यह तो कोई विरला लोकोत्तर महा पुरुष ही बतला सकेगा, कोई सामान्य आदमी नहीं।

आज के युग में अहिंसाही क्यों और कैसे?

आज विश्व तीसरे महायुद्ध के द्वार पर खड़ा है। लोग युद्धसे घबड़ा गये हैं और विश्व शान्ति के इच्छुक हैं। इस दशा में अणुबम और उदजनबम के भय को अहिंसा और प्रेम के अमोघ अस्त्र द्वारा ही मिटाया जासकता है, न कि उदजन बमसे भी अधिक उत्तेजक अन्य विध्वंसक बमकी सृष्टि करके। अब हमें बम नहीं चाहिये बल्कि बम का विचार ही खतम करनेवाली अहिंसा चाहिये। वह अहिंसा

चाहिये, जिससे शक्ति का सही दिशा में उपयोग हो और बुद्धिकी सही दिशा में प्रवृत्ति हो। इस में मुझे अणुभर भी सन्देह नहीं कि अगर आजके राष्ट्र अहिंसा के मूलभूत सूत्रया मन्त्रको समझ लें तो विश्व-शान्ति का अपूर्ण स्वप्न पूर्ण हो और दुखी मानव सुखी हो तथा वैर-विरोध के स्थान में जीवनमें प्रेम और क्षमा हो।

दुसरे शब्दों में वर्तमान विश्व को विनाश और विषमता से बचानेका एकही उपाय है और वह अहिंसा है। इस दिशा में डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने ठीक ही कहा है कि "जब मानवजाति हिंसा की चरम सीमापर पहुँच चुकी है, तब ऐसे गाढ़े समय में अहिंसा में ही उसका एकमात्र अवलम्बन छिपा हुआ है। यदि मानवको महाविनाश में विलीन नहीं हो जाना है तो अहिंसा की चिरन्तन-वाणीका उसे पुनः आविष्कार करना होगा। जिस बुद्धिने अणुकी सूक्ष्म शक्ति का विघटन किया है, वही बुद्धि अहिंसा की जीवनी शक्तिका मार्ग समझने की शक्ति रखती है।" अहिंसा का मार्ग सचमुच ही विजयका मार्ग है। वह शरीर के ऊपर आत्मा की विजय का मार्ग है। वह लोक से अलोक की ओर बढनेका प्रयत्न है। वह त्याग और विवेक का सुखप्रद पथ है। वह क्रोध और विरोध को मिटानेका महामन्त्र है। अहिंसा ही सभी धर्मों की कसौटी है। अहिंसाही मानव-धर्म और विश्व-संस्कृति की शिलाभित्ति है। अहिंसा के अभाव में जीवन सम्भव नहीं है, अतः अहिंसा को अलग करनेका अर्थ है मृत्युको निमन्त्रण देना।

महात्मा गांधी के शब्दोंमें "अगर अहिंसा या प्रेम हमारा जीवन में न होता तो इस मर्त्यलोक में हमारा जीवन कठिन हो जाता। जीवन तो मृत्युपर प्रत्यक्ष और सनातन विजय है। अगर मनुष्य और पशु के बीच कोई मौलिक और सबसे महान अन्तर है तो वह यही है कि मनुष्य दिनोंदिन इस धर्म का अधिकाधिक साक्षात्कार कर सकता है।" आज के युग में अहिंसा कैसे? यह तो प्रश्न ही निरर्थक है क्यों कि अहिंसा हमारा स्वाभाविक जन्मजात धर्म है, पर आज हम इसे भुल चुके हैं। इसी लिये जैसे हम स्वच्छता और सहयोग, क्रान्ति और शान्ति-दिवस तथा अनेक जयन्तियां और पुण्यतिथियां मनाते हैं वैसे ही आज अहिंसा धर्म का विश्व के विचारोंकों को प्रचार और प्रसार करना पड़ रहा है, ताकि विनाश रुके और विकाश बढ़े। सुप्रसिद्ध चिन्तक भगवानदास केलाके शब्दों में—'यदि मनुष्य जीवन चाहता है, मृत्यु नहीं; वह विकाश चाहता है अवरोध नहीं; वह संघटन चाहता है, विघटन नहीं तो अहिंसा आवश्यक ही अनिवार्य भी है। क्यों कि संसार का आधार अहिंसा है, जीवनका धर्म अहिंसा है, सुख-शान्तिके लिये अहिंसाकी आवश्यकता है। सचतो यह है कि हिंसा के वातावरण में अहिंसाकी ही विशेष आवश्यकता है। क्यों कि समाजसुधार, समाज-संगठन का मूलमन्त्रही अहिंसा पर आधारित है।

अहिंसा के आदर्श की उज्जवलता

पारिवारिक जीवन में जो माता पुत्रकी माता होनेके अतिरिक्त दासी, संरक्षिका, शिक्षिका भी बनी है, और पिता पुत्रीके लिये पिता होनेके अतिरिक्त दास, संरक्षक और

शिक्षक भी जो बना है, उसकी पृष्ठभूमि में पारिवारिक साथ ही सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यपालन की ओट में अहिंसा अपना अस्तित्व लिये है। यदि मैं कहूं कि भगवती अहिंसा का क्षेत्र केवल मनुष्यों में ही नहीं बल्कि कुछ पशुओं और पक्षियों में भी है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। क्योंकि जीना सब चाहते है और मरना कोई भी नहीं। अतः बहुतसे लोग मान लेते कि अपनी रक्षाके लिये दूसरों की रक्षा करना भी हमारा कर्तव्य है और अहिंसा का पालन करते हैं। अगर वे ऐसा न करें और स्वयं जीवन के शीशमहल में बैठ कर अन्य के जीवन रूपी शीशमहल पर पत्थर फेंके तो यह संभव ही नहीं बल्कि सुनिश्चित भी समझें कि उनका भी जीवन रूपी शीश महल सुरक्षित न रहेगा और कोई न कोई सबल लड़ाक उसे चकनाचूर करही देगा।

फलतः भारतीय वाङमय में जो आत्मवत् सर्वभूतेषु (सभीको अपने जैसा समझो) आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् (जो तुम्हें अप्रिय है उसका दूसरों के प्रति प्रयोग मत करो) धर्मस्य मूलं दया (धर्मका मूल दया है) सत्यं वद (सच बोलो) धर्मंचर (धर्मका आचरण करो) मृत्योर्माअमृतं गमय (मृत्युको नहीं अमृतत्व को प्राप्त करो) सर्वेभवन्तु सुखिनः (सभी प्राणी सुखी हों) क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु (सभी प्रजाओं का कल्याण हो) अहिंसा परमो धर्म (अहिंसा ही परम धर्म है) और यतो धर्मस्ततो जयः (जहाँ धर्म है वहाँ विजय है] जैसी अनेकों भावनायें निखरी हैं। भारतवर्षतो इतना अधिक धर्मप्राण अहिंसा प्रिय देश है कि उसे पाश्चात्य विद्वान आज भी आदर्श समझते हैं और धार्मिक अजायब घर कहते हैं, पर यह भी सत्य है कि कुछ धर्मों में अब अहिंसा की उपेक्षा से धर्म का प्रदर्शन मात्र रह गया है, वैसे भारतीय एक से अधिक धर्मों ने अहिंसा के आदर्श को मापने जोखने का प्रयत्न किया है। जीवन-संघर्ष की जटिलता को यदि सरलता के रूप में परिणित करनेका श्रेय अगर किसी अदृश्य शक्ति को है तो वह अहिंसा को ही है।

महर्षि पतंजलि ने अपने योग दर्शन में अहिंसा को न केवल यमों के रूप में स्वीकार ही किया है, बल्कि उससे वैर और विरोध भी सुदूर होने की बात कही है।[1] आचार्य उमास्वामी ने भी हिंसा के त्याग से व्रत पालन होने की राय देते हुये कहा 'जीवों' पर दया करने से सुख देनेवाले वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।[2] यदि एक और धर्मविद् व्यास ने अहिंसा को धर्म के अचौर्य, दान, अध्ययन, तप, अहिंसा, सत्य, क्षमा और यम लक्षणों में ग्रंथित किया तो दूसरी ओर नीतिविद् भर्तृहरि ने भी प्राणियों पर दया रखना सज्जन पुरुषों का कार्य बताया। यों कुल मिलाकर कहा जा सकेगा कि सुख और शान्ति, संतोष और समृद्धि के लिये अहिंसा का आदर्श अनिवार्य आवश्यक है और अगर मैं कहूं कि

१ अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैर त्यागः

२ हिंसा नृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् । भूतव्रत्यनुकम्पादान सरागसंयमादि योगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ।

चारों पुरुषार्थों [धर्म, अर्थ, काम (कार्य) और मोक्ष] की सिध्धि भी बहु भाग में अहिंसा पर आधारित है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी ।

आदमी को आदमी बनानेका कार्य बहु भाग में अहिंसा ने सिखाया । अहिंसा ने सिखाया कि आदमी ? अगर तू आदमी है तो आदमी को आदमी समझ । अहिंसा ने एक नहीं अनेक युध्ध रोके । उसने सुस्पष्ट कहा 'संधि पत्रों के स्वार्थ सने हस्ताक्षर अधिक दिनों तक शांति नहीं रख सकते, अतः स्थायी शान्ति के लिये मेरी शरण में आओ । युध्ध रोकने के लिये शस्त्री करण-निशस्त्री करण के चक्कर में न पड़ो बल्की हृदय मिला कर आगे बढो ।'

सच तो यह है कि अहिंसा का आदर्श इतना निर्मल है कि उस पर हिंसा का एक बिन्दु भी पड जावे तो वह स्पष्टतया अलग वैसे दिखाई देगा जैसे धोबीद्वारा धुले सफेद कपडे पर काजल की रेखा दिखाई देगी । अहिंसा का आलोक जहाँ एक ओर सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी है, वहां दूसरी ओर चन्द्रसे भी अधिक शितल है Might is right 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' या 'शक्तिः परेषां परिपीड़नाय' के अन्धकार को मिटानेके लिये अहिंसा करोडों सूर्यों से भी अधिक तेजस्वी है और 'आत्मवत्सर्व भूतेषु' का पाठ पढ़ाने के लिये, 'एक हृदय हो निखिल विश्व' यह की भावना बढ़ाने के लिये अहिंसा करोडों चन्द्रों से भी कहीं अधिक शीतलता देने का कार्य करती है । संक्षेप में अहिंसा में वह अलौकिक अस्मी है जो मुझे तो क्या बृहस्पति को भी अकथनीय और अवर्णनीय बनी है । यदि धर्म देवता है तो भगवती अहिंसा उसकी अन्तरंग देवी है । जब तक आकाश में सूर्य-चन्द्र प्रकाश देते हैं और पृथ्वी पर सरिता-सरोवर-समुद्र लहराते है, तब तक अहिंसा अखण्ड, अजर, अमर और अक्षय हो । आज इतना ही मुझे 'अहिंसा का आदर्श' निबन्ध में निवेदन करना है ।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

लेखक – मुनिविद्याविजय 'पथिक'

किसी भी योनिमें जीव पुण्य-कर्णों का संग्रह करता है। उन शुभ कर्णों के शुभ योग से मनुष्य अवतार को प्राप्त करता है। जिस समय में जीव एक योनी से दूसरी योनी में जाता है तब यह तेजस और कारमण शरीर अपने साथ ले जाता है। स्त्री-पुरुष के संयोग के पश्चात् ही जीवकी उत्पत्ति हो जाती है। वह रज -वीर्य का आहार करता है, शुभ पुद्गल और अशुभ पुद्गल का शरीर धारण करता है, इन्द्रियों के अवयव पल्लवित होते हैं। उसके बाद श्वासोश्वास लेने की शक्ति प्राप्त करता है। बादमें भाषा बोलने की शक्ति और अन्त में मन की शक्ति तैयार होती है। इनमें से दश प्राण प्रगट होते हैं-रसेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोतेन्द्रिय, मन बल, वचन बल, काय बल, श्वासोश्वास और आयु इन दश को प्राण कहते हैं। इनके आधार से शरीर रहता है और शरीर पुण्य-पाप रूप प्रकृति के आधार से रहता है। इन दश प्राणों पर जीव को ममता होती है- इस से सुख -दुःख का अनुभव जीव करता है। जब जीव प्रवृतिमार्ग को ग्रहण करता है तब वह जीव शुभ प्रवृत्ति अथवा अशुभ प्रवृत्ति से नये कर्मों का संचय करता रहता है। जीव की प्रवृत्ति के संचालक मन, वचन और काया हैं-मन से करना, करवाना और अनुमोदना, वचन से करना, करवाना व अनुमोदना, काया से करना, करवाना और अनुमोदना। शुभ अशुभ इन दो पटरियों पर मनुष्य चलता फिरता है। शुभ प्रवृत्ति में जब शुभ प्रकृति होती है तब जीव को शुभ योग का उदय होता है-धर्मानुष्ठानों के नियमों का पालन करना, आत्म ज्ञान में रमण करना, जिनेश्वर भगवन्त की श्रद्धा में अटल रहना, पूर्वाचार्यों की आज्ञा का पालन करना, आगमों के वाक्यों का मनन करना, ज्ञान दर्शन और चारित्र की प्राप्ति के लिये हर समय में सद्भावना] को भाना। इस शुभ प्रवृत्ति से आत्मा के गुण प्रगट होते हैं, कर्म की निर्जरा होती है। ज्ञाना वर्णीय, दर्शनावर्णीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य नाम गोत्र और अन्तराय इन अष्ट कर्मों की निर्जरा करने के लिये सूत्रकारों ने सामायिक, प्रतिक्रमण क्रिया का उल्लेख किया है-'प्रतिक्रमण'—किये हुए पापों को स्मरण करके फिर उन पापों की ओर से मन, वचन और काया को सर्वथा रोकना। आलोचना करने के लिये जो सूत्र बने हुए हैं, उन सूत्रों के अर्थ का मनन करते हुए।

खामेमि सव्व जीवे सव्वे जीवा खमंतुमे।
मित्ति मे सव्व भूए सु वेरं मज्झं न केणई॥

इस गाथा का पाठ वारंवार स्मरण करने की प्रवृत्ति को प्रमाद रहित करना चाहिये। इस भव में, पर भव में राग द्वेष के वश मैंने किसी भी

जीव के साथ अपराध किया, करवाया या अनुमोदित किया हो तो मैं अन्तःकरण से क्षमाता हूँ, वह मुझे क्षमा करें, समस्त प्राणियों के साथ मेरा मैत्रीय भाव है, किसी भी प्राणी के साथ मेरा वैर-विरोध भाव नहीं है। इस शुभ प्रवृत्ति से कर्मों की आलोचना होती है। अशुभ प्रवृत्ति के आचरण से जीव अधोगति को प्राप्त करता है। जीवहिंसा करने की प्रवृत्ति अवश्य नरक निगोद में ले आती है। चोर चोरी करने की प्रवृत्ति करता है और पर द्रव्य को चुरा ले जाता है—वह राज-दण्ड का भोगी बनता है। जूए की प्रवृत्ति धन हीन बनाती है; चोरी करवाती है, झूठ बुलवाती है, मान हानि करवाती है, व्यभिचार सेवन करवाती है। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह ईर्षादि की प्रवृत्ति अशुभ कर्मों के समूह से जीव को चोराशी लक्ष जीवा योनी में भ्रमण करवाती है। इस लिये अशुभ प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग करना चाहिये। शुभ प्रवृत्ति में जो मनुष्य अपने जीवन को ढालता है वह मनुष्य परम पावन बनता है।

एगोहं नत्थि मे कोई नाहं मन्नस्सकस्सई,

मैं ही हूँ, मेरा कोई नहीं; किसी के साथ मेरा राग-द्वेष-कषाय आदि नहीं है। इस प्रकार की मध्यस्थ भावना में जीव की जब प्रवृत्ति होती है तभी जीव अपनी निवृत्तिमय आत्मा में रमण करता हुआ भव बन्धनों से मुक्त होता है—यह निवृत्ति स्थान है।

विश्व शान्ति का अमोघ उपायः अपरिग्रह

लेखक—श्री अगरचन्द नाहटा

विश्व में जो चारों ओर अशान्ति के बादल छारहे हैं और मनुष्य मनुष्य में जो वैरविरोध बढ रहा है उसके कारणों पर गम्भीरता से विचार करने पर मूर्छा आसक्ति या ममत्व ही उसका मूल कारण प्रतीत होता है। मनुष्यों में संग्रह की प्रवृति बढती जा रही है। उनकी आवश्यकताएँ दिन प्रतिदिन बढ रही हैं और उन आवश्यकताओं से भी अधिक उसकी संग्रह प्रवृति प्रबल आरही है। संग्रह ही संघर्ष का कारण है। एक ओर धनादि वस्तुओं का ढेर लगता है और दूसरी ओर उनका अभाव हो जाता है। एक जगह गड्ढा खोदते हैं तो दूसरा जगह उसकी मीट्टी का ढेर ऊँचा पहाड सा लग जाता है। इसी तरह जिन लोगों द्वारा जिन २ वस्तुओं का जितना अधिक रूप में संग्रह किया जाता है उन वस्तुओं की दूसरों को कमी पडेगी ही। और जब एक के पास आवश्यकता से अधिक दिखाई देगा तो जिनके पास उन वस्तुओं की कमी हैं उनके हृदय में एक आन्दोलन व संघर्ष उत्पन्न होगा ही। और उसीका परिणाम आगे चलकर चोरी, लूटमार, युद्ध, हिंसा-द्वेष आदि विविध रूपों में प्रकट होगा।

मनुष्य की तृष्णा का अन्त कहाँ ? चाहे उसे विश्व के सारे पदार्थ मिल जाँय पर उसकी इच्छाएँ और अधिक पाने को ही लालचित रहेंगी। जिसके पास कुछ नहीं है वह चाहता है कि किसी तरह जीवन-यापन योग्य सामग्री मिल जाय तो बस। जब उतना मिल जायगा फिर सोचेगा-अरे इतने से क्या होगा ? मेरा शरीर बीमार पड गया या अन्य किसी कारण से मैं उत्पादन में असमर्थ रहा तो इस थोडी सी सामग्री से कैसे काम चलेगा ? घर वाले भी तो हैं। बालबच्चों के लिये भी तो कुछ और चाहिए। इस तरह वर्तमान से भविष्य की ओर बढता ५ वह सात और १०० पीढी तक का सामान संग्रह करना आवश्यक समझ बैठता है। पूर्व इच्छाओं की पूर्ति होते ही नई २ इच्छाएँ जाग उठती। खाने पहनने रहने आदि के साधारण साधन अब उचित नहीं लगकर साधारण से बढते हुए ऊँचे से ऊँचे स्तर की चीजों की चाह लगेगी। इस तरह संग्रह की प्रवृति का और छोर नहीं। जो चीजें पास होगी उन पर मेरापना ममत्व, आसक्ति होती जायगी। और जब किसी पर ममत्व हो जाता है तो उसको किसी तरह आंच नहीं आय, कोई ले नहीं ले इस चिन्ता से संरक्षण और संवर्धन की भावना बढेगी। अन्य व्यक्ति उन वस्तुओं को लेना चाहेगा तो उससे संघर्ष हो जायगा। तृष्णावश दूसरे की चीजों को लेने की प्रवृति भी होगी। अतः सारी अशान्ति का मूल, मूर्छा है और भगवान महावीर ने इस ममत्व को ही परिग्रह बतलाया है। संसार में जितने

भी पाप होते हैं वे सारे परिग्रह के कारण ही । मनुष्य दूसरे की हिंसा करता है अपने स्वार्थ के लिए—बचाव के लिए या परिग्रह को बढ़ाने के लिए । जिन व्यक्तियों या वस्तुओं पर मेरापन छा गया उनके संगठन व संवर्धन के लिए दूसरे का कितना ही नुकसान हो, ध्यान नहीं दिया जाता । इसी तरह झूठ बोलना, चोरी करना, कपट करना, लोभी होना दूसरों से द्वेष-ईर्षा करना, इन सारी प्रवृतियों के मूलमें परिग्रह ही है । धनादिक उत्पन्न करने में इसीलिए अठारह पाप लगना बताया गया है । उसके उत्पादन भोग संरक्षण, संवर्धन में अठारह पाप आजाते हैं ।

तीर्थंकर सभी क्षत्रिय व राजवंश के थे । उनके घर में किसी तरह की कमी नहीं थी धन, धान्य, कुटुम्ब परिवार सभी तरहसे पूर्ण थे फिर भी उन्होंने त्याग को स्वीकार किया इसका एक मात्र कारण यही था कि उन्हें ममत्व की ओर बढना था । सीमित ममत्व से ऊँचे उठे बिना समभाव हो नहीं सकता । राग और द्वेष, मोह और अज्ञान जनित है । कर्मों के मूल बीज राग और द्वेष हैं । इसलिए उन्होंने सोचा, कि द्वेष भी राग के कारण होता है । और वह राग भाव ममत्व है । शरीर को अपना मान लेना, धन, घर, कुटुम्ब आदि में अपनापन आरोपित करना ही ममत्व है, राग है, परिग्रह है । समत्व की प्राप्ति के लिए परिग्रह का त्याग अत्यन्त आवश्यक है । अभ्यंतर परिग्रह के १४ प्रकार बतलाये गये हैं । हास्य, रति, अरति भय, शोक, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद और मिथ्यात्व । बाह्य परिग्रह धन धान्य, क्षेत्र, वस्तु, द्विपद, चतुस्पद, सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातुएँ व ऊन पदार्थ । इनका संग्रह करना इनपर ममत्व करना ही परिग्रह है । साधु के लिए परिग्रह सर्वथा त्याज्य है । गृहस्थ के लिए भी अनावश्यक वस्तुओं का त्याग और आवश्यक का परिमाण करना, सीमा निर्धारण करना जरूरी होता है । आवश्यकताओं का कम करते जाना जरूरी बताया गया है । इससे इच्छाओं पर अंकुश रहता है ।

कोई भी प्राणी न कुछ साथ लेके आता है न साथ कुछ ले जा सकता है । फिर ममता क्यो ? संग्रह वृति क्यों ? तृष्णा व हाय हाय क्यों ? संघर्ष द्वेष व हिंसा क्यों ? वस्तुएं सभी के उपयोग व उपभोग के लिए है व्यक्ति विशेष का अभाव पर ही संघर्ष का कारण है । वस्तुएं सभी यहीं पडी रहेंगी, हमें छोडकर जाना होगा, जीवन क्षणभंगुर है, न मालूम कब मृत्यु आ जाय, अतः अनीति के प्रधान कारण ममत्वको छोड सम भाव को अपनावे, वही कल्याणका पथ है.

विषमताओं का मूल भी परिग्रह में हैं । मनुष्य को अहंवृति ने ही भेदबुद्धि सिखाई है । वह अपने को बहुत बड़ा विशेष बुद्धि मान, धनवान आदि मान बैठता है, तो दूसरों के प्रति, तुच्छ भावनाएँ पैदा हो जाती है । जातीय अहंकार व अपने विचारो का पका आग्रह भी परिग्रह ही है । धन आदि वस्तुओं की कमी-बेशी से ऊँचापन व नीचापन की भेद रेखा आज सर्वत्र दिखाई देती है । जिसके पास धन,

विश्व शान्ति का अमोघ उपायः अपरिग्रह

लेखक—श्री अगरचन्द नाहटा

विश्व में जो चारों ओर अशान्ति के बादल छारहे हैं और मनुष्य मनुष्य में जो वैरविरोध बढ रहा है उसके कारणों पर गम्भीरता से विचार करने पर मूर्छा आसक्ति या ममत्व ही उसका मूल कारण प्रतीत होता है। मनुष्यों में संग्रह की प्रवृति बढती जा रही है। उनकी आवश्यकताएँ दिन प्रतिदिन बढ रही हैं और उन आवश्यकताओं से भी अधिक उसकी संग्रह प्रवृति नजर आरही है। संग्रह ही संघर्ष का कारण है। एक ओर धनादि वस्तुओं का ढेर लगता है और दूसरी ओर उनका अभाव हो जाता है। एक जगह गड्ढा खोदते है तो दूसरी जगह उसकी मीट्टी का ढेर ऊँचा पहाड सा लग जाता है। इसी तरह जिन लोगों द्वारा जिन २ वस्तुओं का जितना अधिक रूप में संग्रह किया जाता है उन वस्तुओं की दूसरों को कमी पडेगी ही। और जब एक के पास आवश्यकता से अधिक दिखाई देगा तो जिनके पास उन वस्तुओं की कमी हैं उसके हृदय में एक आन्दोलन व संघर्ष उत्पन्न होगा ही। और उसीका परिणाम आगे चलकर चोरी, लूटमार, युद्ध, हिंसा-द्वेष आदि विविध रूपों में प्रकट होगा।

मनुष्य की तृष्णा का अन्त कहाँ? चाहे उसे विश्व के सारे पदार्थ मिल जाँय पर उसकी इच्छाएँ और अधिक पाने को ही लालचित रहेंगी। जिसके पास कुछ नहीं है वह चाहता है कि किसी तरह जीवन-यापन योग्य सामग्री मिल जाय तो बस। जब उतना मिल जायगा फिर सोचेगा-अरे इतने से क्या होगा? मेरा शरीर बीमार पड गया या अन्य किसी कारण से मैं उपादन में असमर्थ रहा तो इस थोडी सी सामग्री से कैसे काम चलेगा? घर वाले भी तो हैं। बालबच्चों के लिये भी तो कुछ और चाहिए। इस तरह वर्तमान से भविष्य की ओर बढता २ वह सात और १०० पीढी तक का सामान संग्रह करना आवश्यक समझ बैठता है। पूर्व इच्छाओं की पूर्ति होते ही नई २ इच्छाएं जाग उठती। खाने, पहनने, रहने आदि के साधारण साधन अब उचित नहीं लगकर, साधारण से बढते हुए ऊँचे से ऊँचे स्तर की चीजों की चाह लगेगी। इस तरह संग्रह की प्रवृति का और छोर नहीं। जो चीजें पास होगी उन पर मेरापना ममत्व, आसक्ति होती जायगी। और जब किसी पर ममत्व हो जाता है तो उसको किसी तरह आंच नहीं आय, कोई ले नहीं ले इस चिन्ता से संरक्षण और संवर्धन की भावना बढेगी। अन्य व्यक्ति उन वस्तुओं को लेना चाहेगा तो उससे संघर्ष हो जायगा। तृष्णावश दूसरे की चीजों को लेने की प्रवृति भी होगी। अत सारी अशान्ति का मूल, मूर्छा है और भगवान महावीर ने इस ममत्व को ही परिग्रह बतलाया है। संसार में जितने

भी पाप होते हैं वे सारे परिग्रह के कारण ही। मनुष्य दूसरे की हिंसा करता है अपने स्वार्थ के लिए—बचाव के लिए या परिग्रह को बढ़ाने के लिए। जिन व्यक्तियों या वस्तुओं पर मेरापन छा गया उनके संगठन व संवर्धन के लिए दूसरे का कितना ही नुकसान हो, ध्यान नहीं दिया जाता। इसी तरह झूठ बोलना, चोरी करना, कपट करना, लोभी होना दूसरों से द्वेष-इर्षा करना, इन सारी प्रवृतियों के मूलमें परिग्रह ही है। धनादिक उत्पन्न करने में इसीलिए अठारह पाप लगना बताया गया है। उसके उत्पादन भोग संरक्षण, संवर्धन में अठारह पाप आजाते हैं।

तीर्थंकर सभी क्षत्रिय व राजवंश के थे। उनके घर में किसी तरह की कमी नहीं थी धन, धान्य, कुटुम्ब परिवार सभी तरहसे पूर्ण थे फिर भी उन्होंने त्याग को स्वीकार किया इसका एक मात्र कारण यही था कि उन्हें समत्व की ओर बढना था। सीमित ममत्व से उँचे उठे विना समभाव हो नहीं सकता। राग और द्वेष, मोह और अज्ञान जनित है। कर्मों के मूल बीज राग और द्वेष हैं। इसलिए उन्होंने सोचा, कि द्वेष भी राग के कारण होता है। और वह राग भाव ममत्व है। शरीर को अपना मान लेना, धन, घर, कुटुम्ब आदि में अपनापन आरोपित करना ही ममत्व है, राग है, परिग्रह है। समत्व की प्राप्ति के लिए परिगह का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। अभ्यंतर परिग्रह के १४ प्रकार बतलाये गये हैं। हास्य, रति, अरति भय, शोक, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद और मिथ्यात्व। बाह्य परिग्रह धन धान्य, क्षेत्र, वस्तु, द्विपद, चतुस्पद, सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातुएँ व ऊन पदार्थ। इनका संग्रह करना इनपर ममत्व करना ही परिग्रह है। साधु के लिए परिग्रह सर्वथा त्याज्य है। गृहस्थ के लिए भी अनावश्यक वस्तुओं का त्याग और आवश्यक का परिमाण करना, सीमा निर्धारण करना जरूरी होता है। आवश्यकताओं का कम करते जाना जरूरी बताया गया है। इससे इच्छाओं पर अंकुश रहता है।

कोई भी प्राणी न कुछ साथ लेके आता है न साथ कुछ ले जा सकता है। फिर ममता क्यो ? संग्रह वृति क्यों ? तृष्णा व हाय हाय क्यों ? संघर्ष, द्वेष व हिंसा क्यों ? वस्तुएं सभी के उपयोग व उपभोग के लिए है व्यक्ति विशेष का अभाव पर ही संघर्ष का कारण है। वस्तुएं सभी यहीं पडी रहेंगी, हमें छोडकर जाना होगा, जीवन क्षणभंगुर है, न मालूम कब मृत्यु आ जाय, अतः अनीति के प्रधान कारण ममत्वको छोड सम भाव को अपनावे, वही कल्याणका पथ है.

विषमताओं का मूल भी परिग्रह में हैं। मनुष्य को अहंवृति ने ही भेदबुद्धि सिखाई है। वह अपने को बहुत बड़ा विशेष बुद्धि मान, धनवान आदि मान बैठता है, तो दूसरों के प्रति तुच्छ भावनाएँ पैदा हो जाती है। जातीय अहंकार व अपने विचारो का पका आग्रह भी परिग्रह ही है। धन आदि वस्तुओं की कमी-बेशी से उँच्चापन व नीचापन की भेद रेखा आज सर्वत्र दिखाई देती है। जिसके पास धन,

विश्व शान्ति का अमोघ उपायः अपरिग्रह

लेखक—श्री अगरचन्द नाहटा

विश्व में जो चारों ओर अशान्ति के बादल छारहे हैं और मनुष्य मनुष्य में जो वैरविरोध बढ़ रहा है उसके कारणों पर गम्भीरता से विचार करने पर मूर्छा आसक्ति या ममत्व ही उसका मूल कारण प्रतीत होता है। मनुष्यों में संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। उनकी आवश्यकतायें दिन प्रतिदिन बढ़ रही हैं और उन आवश्यकताओं से भी अधिक उनकी संग्रह प्रवृत्ति नजर आरही है। संग्रह ही संघर्ष का कारण है। एक ओर धनादि वस्तुओं का ढेर लगता है और दूसरी ओर उनका अभाव हो जाता है। एक जगह गड्ढा खोदते है तो दूसरी जगह उसकी मीट्टी का ढेर ऊँचा पहाड़ सा लग जाता है। इसी तरह जिन लोगों द्वारा जिन २ वस्तुओं का जितना अधिक रूप में संग्रह किया जाता है उन वस्तुओं की दूसरों को कमी पड़ेगी ही। और जब एक के पास आवश्यकता से अधिक दिखाई देगा तो जिनके पास उन वस्तुओं की कमी है उनके हृदय में एक आन्दोलन व संघर्ष उत्पन्न होगा ही। और उसीका परिणाम आगे चलकर चोरी, लूटमार, युद्ध, हिंसा-द्वेष आदि विविध रूपों में प्रकट होगा।

मनुष्य की तृष्णा का अन्त कहाँ? चाहे उसे विश्व के सारे पदार्थ मिल जाँय पर उसकी इच्छायें-और अधिक पाने को ही लालचित रहेंगी। जिसके पास कुछ नहीं है वह चाहता है कि किसी तरह जीवन-यापन योग्य सामग्री मिल जाय तो बस। जब उतना मिल जायगा फिर सोचेगा-और इतने से क्या होगा? मेरा शरीर बीमार पड़ गया या अन्य किसी कारण से मैं उत्पादन में असमर्थ रहा तो इस थोड़ी सी सामग्री से कैसे काम चलेगा? घर वाले भी तो हैं। बालबच्चों के लिये भी तो कुछ और चाहिए। इस तरह वर्तमान से भविष्य की ओर बढ़ता २ वह सात और १०० पीढी तक का सामान संग्रह करना आवश्यक समझ बैठता है। पूर्व इच्छाओं की पूर्ति होते ही नई २ इच्छायें जाग उठती। खाने, पहनने, रहने आदि के साधारण साधन अब उचित नहीं लगकर, साधारण से बढ़ते हुए ऊँचे से ऊँचे स्तर की चीजों की चाह लगेगी। इस तरह संग्रह की प्रवृत्ति का ओर-छोर नहीं। जो चीजें पास होगी उन पर मेरापना-ममत्व, आसक्ति होती जायगी। और जब किसी पर ममत्व हो जाता है तो उसको किसी तरह आंच नहीं आय, कोई ले नहीं ले इस चिन्ता से संरक्षण और संवर्धन की भावना बढ़ेगी। अन्य व्यक्ति उन वस्तुओं को लेना चाहेगा तो उससे संघर्ष हो जायगा। तृष्णावश दूसरे की चीजों को लेने की प्रवृत्ति भी होगी। अतः सारी अशान्ति का मूल, मूर्छा है और भगवान महावीर ने इस ममत्व को [illegible] परिग्रह बतलाया है। संसार में जितने

आश्रित हैं। और वही परिग्रह है, हिंसा है, द्वेष है, अशान्ति है। परिग्रह ही बंधन है पाप का प्रधान कारण है। अपरिग्रही ही परम सुखी है । उसे चिन्ता किसकी ? चाह नहीं तो आह भी नहीं ।

भारतीय मनीषियों ने इस बाहरी भेदो के भीतर रहे हुए अभेद तक अपनी दृष्टी बढ़ाई । आत्मा सबकी समान है, स्वरूप तः शुद्ध बुद्ध सत्‌चित् आनंद रूप है। देहादि के बाहरी भेद कल्पित है अभेद बुद्धि ही अहिंसा है अपरिग्रह है और वही विश्वशान्ति का अमोघ उपाय है ।

अधिकार आदि का परिग्रह अधिक है वह अपने को बड़ा समझकर दूसरों के प्रति घृणा की भावना रखता है और जो नीची श्रेणी के हैं वे अपने से अधिक समृद्धि देखकर ईर्ष्या वश उससे जलते रहते हैं। इसी से प्रेम, मैत्री और अहिंसा, करुणा सहानुभूति, सहयोग और शान्ति के बदले द्वेष घृणा कलह, भेद, विरोध संघर्ष, भेद बुद्धि, ईर्ष्या व अशान्ति की होलियाँ सुलग रही हैं। अपने परिग्रह को बढ़ाने के लिये और दूसरों के अधिकार छीनने के लिये ही युद्ध आदि अशान्ति जनक कार्य होते हैं। यदि हम अपनी आवश्यकताओं को कम और सीमित करलें, इच्छाओं पर अंकुश लगादें या दमन करलें तो अशान्ति का कारण ही नहीं रहेगा। सन्तोष से प्राप्त वस्तुओं में शान्ति और सुख का अनुभव करने लगेंगे। आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ एक जगह संग्रहीत न रहने पर वे सबके लिये सुलभ हो जायँगी। फिर समाजवाद, साम्यवाद, के नाम से जो संघर्ष और विरोध चल रहे हैं वे स्वयं समाप्त हो जायँगे। वास्तव में विश्व में वस्तुओं की कमी नहीं है परन्तु जो अभाव दिखाई देता है उसका प्रधान कारण है-किसी का आवश्यकता से अधिक संग्रहीत कर रखना और पुरुषार्थ हीन जीवन। जिससे जो उत्पादन नहीं करते पर उन्हें भोगने या उपभोग को तैयार होते हैं। जैन ग्रन्थानुसार भगवान ऋषभदेव के समय तक मनुष्यों की बहुत सीमित आवश्यकताएँ थीं और उनकी पूर्ति कल्पवृक्ष आदि से हो जाती थी। संग्रह की आवश्यकता ही न थी, तो वैर विरोध का कारण ही नहीं था। पर, एक ओर आवश्यकताएं बढ़ी-दूसरी ओर उत्पादन कम हुआ तो संघर्ष पैदा हुआ। फिर पुरुषार्थ से उत्पादन बढ़ा तो संग्रह वृत्ति ने घर दबाया। परिस्थिति, अशान्ति बढ़ती रहने की ही बनी रही, और आज भी उसी का बोल बाला है।

यदि हम शान्ति चाहते हैं तो इच्छा, तृष्णा और आवश्यकताओं पर अंकुश लगाना होगा। संग्रह की प्रवृति बन्द करनी होगी। ऊँच-नीच के भेद भावको मिटाना होगा। अहं और ममत्व पद को घटाना होगा, समस्त प्राणियों को अपने ही समान मानने और स्वयं भी राग-द्वेष से अभिभूत न होने रूप समभाव जमाना होगा। सबको प्रेम, मैत्री सहानुभूति और सहयोग से जीना होगा। जीवन में संयम त्याग को प्रधानता देकर निवृति-अनासक्ति की ओर बढते रहना होगा।

परिग्रह के कारण ही आज अनीति का साम्राज्य है। मनुष्य में सन्तोष नहीं रहा। दिनोंदिन आवश्यकताएं और संग्रहवृत्ति बढ रही है। अपने स्वार्थ के पीछे मनुष्य इतना अन्धा है कि दूसरे का चाहे दम ही निकल जाय उसकी उसे तनिक भी परवाह नहीं। भेद बुद्धी इतनी बढ गई है कि देशभेद, प्रान्तभेद जातिभेद, धर्म और सम्प्रदायभेद, काले और गोरे का भेद, धनी निर्धन का भेद शिक्षित और अशिक्षित का भेद, स्त्री और पुरुष का भेद, खानपान और रीति रिवाज का भेद यावत हर बात में भेद ही भेद नजर आते हैं। तो प्रेम और मैत्री का विस्तार ही कैसे ! हमारे बीच रंग बिरंगी अनेकों मजबूत दिवारें खड़ी करदी गई है। तो फिर एक दूसरे से आपस में टकरायेंगे ही। और ये सारे भेद अहं या ममत्व पर-

कपड़ों का मैल दूर करने के लिये जैसे सावुन, पानी और धोने की क्रिया आवश्यक है, उसी प्रकार चित्त के मल को दूर करने के लिये भी जीवन मुक्त वीतराग पुरुषोत्तम के वचनों का ज्ञान, श्रद्धा और उसके अनुसार क्रिया आवश्यक है। जिस प्रकार पानी नहीं हो तो हजारों टन सावुन भी कपड़ा साफ नहीं कर सकता, उसी प्रकार श्रद्धा, दर्शन या भक्ति नहीं हो तो हज़ारों टन पुस्तकोंका ज्ञान भी चित्त शुद्धि के लिये वेकार है। जिस प्रकार सावुन नही हो तो भी पानी से मल दूर हो सकता है (चाहे चमक कम आवे) उसी प्रकार ज्ञान की कमी हो तो भी श्रद्धा से चित्त शुद्धि हो सकती है (चाहे प्रकाश कम हो) परन्तु धोने की क्रिया तो अनिवार्य आवश्यक है। ज्ञान और श्रद्धा के साथ साथ आचरण न हो तो मोक्ष मार्ग में प्रगति ही नहीं हो सकती।

अब हमें यह सोचना है कि मोक्ष क्या वस्तु है? जिसे हमें प्राप्त करना है। लिफाफ़े पर पता वरावर नहीं किया तो लिखी हुई सारी इवारत 'डेड लेटर ऑफिस' (रद्दी के टोकरे] में जायगी, उसी प्रकार मोक्ष के स्वरूप का पता नहीं हो तो सारी क्रियाएँ रद्द हो जायेंगी।

'मोक्ष' का अर्थ है छूटना —

किससे छूटना? हमको किसने बाँध रखा है? कव बाँधा हैं? क्या सचमुच हम बँधे हैं? अनंत संतों के अनुभव में से यह एक ही आवाज निकली है कि निश्चय दृष्टी से आत्मा शुद्ध बुद्ध और मुक्त ही है – स्वरूपतः उसमें बंधन है ही नहीं, फिर भी व्यावहारिक दृष्टी से हम स्वयं अपनी मिथ्यात्वमयी धारणा से अनादि काल से वद्ध हैं – उस मिथ्यात्वमयी धारणा से छूटना ही सम्यग्दर्शन है, जो मोक्ष – पथ का प्रथम सोपान है।

उसके वाद राग द्वेष या क्रोध, मान, माया और लोभ के त्याग का अभ्यास प्रारंभ करना दूसरा सोपान है। परिग्रह का सर्वथा त्याग तीसरा सोपान है। मोह का सर्वथा त्याग चौथा सोपान है। अज्ञान का सर्वथा त्याग पांचवा सोपान है। और जव यह संपूर्ण अनुभूति हो जाती है कि कर्मो के साथ – जड़ तत्वों के साथ हमारा कोई सम्वन्ध नहीं और जव मन, वचन, काया की सारी प्रवृत्तियाँ शान्त हो जाती है तो सिद्धि हो गई।

अव हम अपना विवेक करें कि हम कहाँ हैं? मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग रूप पंच आश्रवों का परित्याग ही मोक्ष है। झूठी समझ का त्याग मिथ्यात्व का त्याग है, मिथ्या आचरणों का त्याग अव्रत का त्याग है, आलस्य और असावधानी का त्याग प्रमाद का त्याग है, रागद्वेष का त्याग कषाय का त्याग है, और अंत में मन वचन काया की संपूर्ण प्रवृत्तीयों का त्याग योग का त्याग है, यही मोक्ष ह जो आत्मा की शुद्ध वुद्ध पर्याय है। वह दिन धन्य होगा जिस क्षण हम उस पर्याय की प्राप्ति कर चुके होंगे।

मोक्ष – पथ

लेखक – सूरजचंद सत्यप्रेमी (डांगीजी)

वीतराग सर्वज्ञ श्रीतीर्थंकर प्रभु ने अपने अन्तिम पुरुषार्थ यानी सम्पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये जो मार्ग बतलाया है उसे हमें जानना है, मानना है और आचरण में लाना है ।

मोक्ष पथ का ज्ञान करके उसे मान्य करना और उसी का ध्यान करना सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र्य कहलाता है । सत्‌ज्ञान, सत्‌मान और सत्‌कार ही मोक्ष का पथ है । महान आचार्य देव श्री उमास्वामी के मोक्ष शास्त्र का यही मंगल सूत्र है ।

' सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग '

अब हमें यह विचार करना है कि, क्या जानें ? क्या मानें ? और क्या आचरण करें ? जिससे हमारा साध्य सिद्ध हो सके ।

निर्ग्रन्थ के प्रवचन ही आदरणीय है निर्ग्रन्थ के प्रवचन ही ज्ञेय हैं, और निर्ग्रन्थ के प्रवचन ही ध्येय हैं । उन्हीं को जानें, मानें और अमल में लावें । वचन तो हम सभी बोलते हैं परन्तु प्रवचन उन्हें ही कहना चाहिये जो प्रकृष्ट वचन हों । मोक्ष मार्ग में उत्कृष्ट बोलों का ही उपयोग है और ऐसे बोल निर्ग्रन्थ के ही हो सकते हैं । जिनके हृदय में राग द्वेष की ग्रन्थि है उनके वचनों का मोक्ष पथ में कोई मोल नहीं । जिसमें राग हो वह दोष नहीं देख सकता, और जिसमें द्वेष हो वह गुण नहीं देख सकता । गुण दोषों का ठीक ठीक ज्ञान करने के लिये वीतराग का हृदय चाहिये – निर्ग्रन्थ के प्रवचन चाहिये – और निष्पक्ष पुरुषोत्तम की आत्मा में से ही सत्य ज्ञान का प्रकाश आ सकता है ।

" जैन जयति शासनम् जिनेश्वर भगवान के शासन की जय हो – विजय हो ।

जिसने अपने इन्द्रियों और मन के विकारों पर विजय प्राप्त नहीं की जिसने बुद्धि में से अस्थिरता और विषयों का ममत्व निर्मूल नहीं किया वह स्वयम् ही बद्ध है तो औरों को मुक्त कैसे कर सकता है ? खुला हुआ व्यक्ति ही बँधे हुए को खोल सकता है ।

' मुत्ताण मो अगाण '

देवेन्द्र का यही कहना है कि प्रभु मुक्त हैं और मोचक हैं – छूटे हैं इसलिये छुड़ा सकते हैं । आज़ाद व्यक्ति ही शासन कर सकता है । जो वासनाओं के बंधन में बंधा है उसके शासन की विजय कैसे हो सकती है ?

कपड़ों का मैल दूर करने के लिये जैसे साबुन, पानी और धोने की क्रिया आवश्यक है, उसी प्रकार चित्त के मल को दूर करने के लिये भी जीवन मुक्त वीतराग पुरुषोत्तम के वचनों का ज्ञान, श्रद्धा और उसके अनुसार क्रिया आवश्यक है। जिस प्रकार पानी नहीं हो तो हजारों टन साबुन भी कपड़ा साफ नहीं कर सकता, उसी प्रकार श्रद्धा, दर्शन या भक्ति नहीं हो तो हजारों टन पुस्तकोंका ज्ञान भी चित्त शुद्धि के लिये बेकार है। जिस प्रकार साबुन नहीं हो तो भी पानी से मल दूर हो सकता है (चाहे चमक कम आवे) उसी प्रकार ज्ञान की कमी हो तो भी श्रद्धा से चित्त शुद्धि हो सकती है (चाहे प्रकाश कम हो) परन्तु धोने की क्रिया तो अनिवार्य आवश्यक है। ज्ञान और श्रद्धा के साथ साथ आचरण न हो तो मोक्ष मार्ग में प्रगति ही नहीं हो सकती।

अब हमें यह सोचना है कि मोक्ष क्या वस्तु है ? जिसे हमें प्राप्त करना है। लिफाफे पर पता बराबर नहीं किया तो लिखी हुई सारी इबारत 'डेड लेटर ऑफिस' (रद्दी के टोकरे] में जायगी, उसी प्रकार मोक्ष के स्वरूप का पता नहीं हो तो सारी क्रियाएँ रद्द हो जायँगी।

'मोक्ष' का अर्थ है छूटना —

किससे छूटना ? हमको किसने बाँध रखा है ? कब बाँधा है ? क्या सचमुच हम बँधे हैं ? अनंत संतों के अनुभव में से यह एक ही आवाज निकली है कि निश्चय दृष्टी से आत्मा शुद्ध बुद्ध और मुक्त ही है - स्वरूपतः उसमें बंधन है ही नहीं, फिर भी व्यावहारिक दृष्टी से हम स्वयं अपनी मिथ्यात्वमयी धारणा से अनादि काल से बद्ध हैं - उस मिथ्यात्वमयी धारणा से छूटना ही सम्यग्दर्शन है, जो मोक्ष - पथ का प्रथम सोपान है।

उसके बाद राग द्वेष या क्रोध, मान, माया और लोभ के त्याग का अभ्यास प्रारंभ करना दूसरा सोपान है। परिग्रह का सर्वथा त्याग तीसरा सोपान है। मोह का सर्वथा त्याग चौथा सोपान है। अज्ञान का सर्वथा त्याग पांचवा सोपान है। और जब यह संपूर्ण अनुभूति हो जाती है कि कर्मों के साथ - जड़ तत्वों के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं और जब मन, वचन, काया की सारी प्रवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं तो सिद्धि हो गई।

अब हम अपना विवेक करें कि हम कहाँ हैं ? मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग रूप पंच आश्रवों का परित्याग ही मोक्ष है। झूठी समझ का त्याग मिथ्यात्व का त्याग है, मिथ्या आचरणों का त्याग अव्रत का त्याग है, आलस्य और असावधानी का त्याग प्रमाद का त्याग है, रागद्वेष का त्याग कषाय का त्याग है, और अंत में मन वचन काया की संपूर्ण प्रवृत्तीयों का त्याग योग का त्याग है, यही मोक्ष है जो आत्मा की शुद्ध बुद्ध पर्याय है। वह दिन धन्य होगा जिस क्षण हम उस पर्याय की प्राप्ति कर चुके होंगे।

मोक्ष – पथ

लेखक – सूरजचद सत्यप्रेमी (डांगीजी)

वीतराग सर्वज्ञ श्रीतीर्थंकर प्रभु ने अपने अंतिम पुरुषार्थ यानी सपूर्ण स्वतत्रता प्राप्त करने के लिये जो मार्ग बतलाया है उसे हमें जानना है, मानना है और आचरण में लाना है।

मोक्ष पथ का ज्ञान करके उसे मान्य करना और उसी का व्यवहार करना सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र कहलाता है। सत्ज्ञान, सत्श्रद्धान और सत्कार ही मोक्ष का पथ है। महान आचार्य देव श्री उमास्वामी के मोक्ष शास्त्र का यही मंगल सूत्र है।

" सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग "

अब हमें यह विचार करना है कि, क्या जानें ? क्या मानें ? और क्या आचरण करें ? जिससे हमारा साध्य सिद्ध हो सके।

निर्ग्रन्थ के प्रवचन ही आदरणीय हैं, निर्ग्रन्थ के प्रवचन ही ज्ञेय हैं, और निग्रन्थ के प्रवचन ही ध्येय हैं। उन्हीं को जानें, माने और अमल में लावें। वचन तो हम सभी बोलते हैं परन्तु प्रवचन उन्हें ही कहना चाहिये जो प्रकृष्ट वचन हों। मोक्ष मार्ग में उत्कृष्ट बोलों का ही उपयोग है और ऐसे बोल निर्ग्रन्थ के ही हो सकते हैं। जिनके हृदय में राग द्वेष की ग्रन्थि है उनके वचनों का मोक्ष पथ में कोई मोल नहीं। जिसमें राग हो वह दोष नहीं देख सकता, और जिसमें द्वेष हो वह गुण नहीं देख सकता। गुण दोषों का ठीक ठीक ज्ञान करने के लिये वीतराग का हृदय चाहिये – निर्ग्रन्थ के प्रवचन चाहिये – और निष्पक्ष पुरुषोत्तम की आत्मा में से ही सत्य ज्ञान का प्रकाश आ सकता है।

" जैन जयति शासनम् जिनेश्वर भगवान के शासन की जय हो – विजय हो।

जिसने अपने इन्द्रियों और मन के विकारों पर विजय प्राप्त नहीं की, जिसने बुद्धि में से अस्थिरता और विषयों का ममत्व निर्मूल नहीं किया वह स्वयम् ही बद्ध है तो औरों को मुक्त कैसे कर सकता है ? खुला हुआ व्यक्ति ही बँधे हुए को खोल सकता है।

' मुत्ताण मो अगाणं '

देवेन्द्र का यही कहना है कि प्रभु मुक्त हैं और मोचक हैं – छूटे हैं इसलिये छुडा सकते हैं। आज़ाद व्यक्ति ही शासन कर सकता है। जो वासनाओं के बंधन में बधा है उसके शासन की विजय कैसे हो सकती है ?

वर्तमान विचार

इस प्रकार के विचारों के प्रति अंशमात्र टीका टीप्पण नहीं करते हुए सिर्फ इतना ही कहना है कि जैन लेखकों के तरफ से जो भी साहित्य प्रकाशन हुआ है वह युग की मांग के अनुसार ही होता आया है, और हो रहा है। क्यों कि आज अपनी पांचवीं, सातवीं और दशवीं, अठ्ठारहवीं शताब्दी के जैनग्रन्थों को देखते हैं तो अपने को गर्व होता है कि उस समय जैन ग्रन्थकार कितने पहुंचे हुए थे? जिन्होंने अपने हाथों से इस प्रकार का सवजन उपयोगी साहित्य निर्माण किया जो साहित्य आज सभी के लिए उपकारक · तारक वन गया है! उसी प्रकार प्रत्येक शताब्दी में जैन साहित्यनिर्माताओंने अपने समय की प्रणाली एवं भाषा में साहित्यसर्जन किया जो प्रत्यक्ष है।

जैन लेखक एवं विद्वानोंने समय २ पर युग की मांग के अनुसार जो साहित्य निर्माण किया जिस के (समकक्ष) में अन्य मतावलम्बी साहित्य निर्माण नहीं कर सके। वह द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, कथानुयोग, चरणकरणानुयोग इस प्रकार चार विभागों में विभक्त है। ऐसा कोई विषय शेष नहीं वचा जिस को जैन साहित्य-स्रष्टाओंने न समझाया हो। इसी लिये तो प्रो. जोहन्स हर्टल भी लिखते हैं कि—

"They (Jains) are the creators of very extensive popular literatrue"

—जैन लोग वहुत विस्तृत लोगोपयोगी साहित्य के स्रष्टा हैं!

इस प्रकार प्रचूरमात्रा में निकले हुए जैन साहित्य के प्रति इतर जनों को भी कितना मान है वह उपर्युक्त प्रमाण से स्पष्ट हो जाता है। साहित्य निर्माण कर के अपने सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार करने के लिये जन लेखकों ने भगीरथ प्रयास किये जिनके प्रमाण आज भी हमारे सामने प्रत्यक्ष हैं! आज भी जैन साहित्य सब प्रकार से सर्वोपयोगी और समृद्ध है, इसे कौन नहीं जानता? व्यवहार, नीति, रीति एवं आध्यात्मिकता की ओर आगे वढने के लिये वह मानवमात्र को मार्गदर्शन कराता है।

बस, इस से स्पष्ट होता है कि जैन सिद्धान्तों को विविध दृष्टिकोणों से लोगों को समझाने का प्रयास करने के लिये समयानुकूल साहित्य प्रकाशन करवाना चाहिये और ऐसा करने पर ही जन जन तक सत्य सिधान्त की वातें पहुँच सकती है।

कइएक व्यक्ति के दिमाग में ये विचार भी चक्कर काट रहे हैं कि पुराने को ही प्रकाश में लाया जाय, नया नहीं होना चाहिये!"

कितना भ्रम है इन विचारवानों को भी तो? पुराना यदि होता ही नही तो नया आता ही कहाँ से,? जलाशय होगा ही नहीं तो जल आयगा ही कैसे? पुराने

निवृत्ति लेकर प्रवृत्ति की ओर

लेखक – श्री यतीन्द्रसूरीश्वर विनेय – मुनि जयन्तविजय "मधुकर"

विश्व में आज मंडरा रहे हैं यातना के बादल ! विज्ञान दिनों दिन बढ़ाये जा रहा है आगे कदम ! सन्त्रस्त और भयभीत हो रहा है मानव समाज ! वर्तमान की इस प्रकार की गतिविधि को देखकर कितने ही लोग आश्चर्यमग्न हो रहे हैं तब कितने ही लोग शंकान्वित हो कर प्रबल मानते हैं अपने भाग्य को, और समझ रहे हैं उत्थान हो रहा है अपना, अपने देश का, एवं समस्त जगत का ! इसी प्रश्न को लेकर यत्र तत्र सर्वत्र अनेक विचार धाराऐं प्रस्फुटित हो चुकी हैं वर्तमान जगत में !

धर्म और अधर्म ! भौतिक और आध्यात्मिक ! ज्ञान और विज्ञान ! वर्तमान के मानव को जितना धर्म प्रिय नहीं उतना प्रिय अधर्म ! आध्यात्मिकता से जितना दूर उतना ही भौतिकता के भीतर ! सत्यज्ञान से जितना अनभिज्ञ उतना ही विज्ञान का परम भक्त !!!

आश्चर्य की बात है कि वह दूर है अनभिज्ञ है और विहीन भी है तथापि धर्मसिद्धान्त एवं शास्त्रों में निष्णात की भाँति अपने आप को चोटी का विद्वान् समझ कर सिद्धान्तभवन टिका हुआ है जिस पर उसी का खण्डन करते देर नहीं करते ! जिन कार्यों से उस पर चलचलाहट छाई जाती है उन्हीं को वे अयोग्य समझते हैं !

हो सकता है बहुत समय के हो जाने पर कचरा लग जाय उस पर ! परन्तु उस का अर्थ यह नहीं होता कि हम बिना सोचे समझे ही कचरे को स्वच्छ करने का दूर रखकर उस के मूल को ही उखाड कर फेंक दें !

आधुनिक युग से प्रभावित होकर कितने ही अज्ञ अपने आप मनमानी बातों का अपलाप कर के भोले जनों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। वास्तव में ऐसा कहना एवं प्रचार करना शुभ न होकर हानिकर ही होता है !

' हमारे यहाँ साहित्य की कमी नहीं है, हमारे ज्ञानागार उस से सुशोभित हैं, जिन के लगे हुए ताले वर्षभर में एकाध वक्त ही खुलते हैं उन्हें पढ़नेवाला कोई नहीं है उन की सारसम्हाल करने वाला भी कोई नहीं ! अरे ! उन शास्त्रों में क्या लिखा है ? इस बात को समझनेवाले प्रतिशत दो चार व्यक्ति ही निकलेंगे ! अतः अब अधिक साहित्य छपाकर आशातना दोष के भागी नहीं बनना चाहिए ! अब दूसरी ओर यह भी सुनाई देता है कि हमारे ग्रन्थ संस्कृत और प्राकृत भाषा में ही बने हुए हैं हम उनको समझ नहीं सकते हमारे विद्वान् मुनिवरों एवं लेखकों को चाहिये कि वे ऐसे ही साहित्य का निर्माण करें जो कि वर्तमान प्रणाली का अनुसरण करनेवाला हो जिससे मानवमात्र हमारे दृष्टिकोणों को समझ सके !

वर्तमान विचार

इस प्रकार के विचारों के प्रति अंशमात्र टीका टीप्पण नहीं करते हुए सिर्फ इतना ही कहना है कि जैन लेखकों के तरफ से जो भी साहित्य प्रकाशन हुआ है वह युग की मांग के अनुसार ही होता आया है. और हो रहा है। क्यों कि आज अपनी पांचवीं, सातवीं और दशवीं, अट्ठारहवीं शताब्दी के जैनग्रन्थों को देखते हैं तो अपने को गर्व होता है कि उस समय जैन ग्रन्थकार कितने पहुंचे हुए थे ? जिन्होंने अपने हाथों से इस प्रकार का सवजन उपयोगी साहित्य निर्माण किया जो साहित्य आज सभी के लिए उपकारक · तारक बन गया है ! उसी प्रकार प्रत्येक शताब्दी में जैन साहित्यनिर्मोताओंने अपने समय की प्रणाली एवं भाषा में साहित्यसर्जन किया जो प्रत्यक्ष है ।

जैन लेखक एवं विद्वानोंने समय २ पर युग की मांग के अनुसार जो साहित्य निर्माण किया जिस के (समकक्ष) में अन्य मतावलम्बी साहित्य निर्माण नहीं कर सके। वह द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, कथानुयोग, चरणकरणानुयोग इस प्रकार चार विभागों में विभक्त हैं। ऐसा कोई विषय शेष नहीं बचा जिस को जैन साहित्य-स्रष्टाओंने न समझाया हो। इसी लिये तो प्रो. जोहन्स हर्टल भी लिखते हैं कि—

"They (Jains) are the creators of very extensive popular literatrue"

—जैन लोग बहुत विस्तृत लोगोपयोगी साहित्य के स्रष्टा हैं !

इस प्रकार प्रचूरमात्रा में निकले हुए जैन साहित्य के प्रति इतर जनों को भी कितना मान है वह उपर्युक्त प्रमाण से स्पष्ट हो जाता है। साहित्य निर्माण कर के अपने सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार करने के लिये जन लेखकों ने भगीरथ प्रयास किये जिनके प्रमाण आज भी हमारे सामने प्रत्यक्ष हैं ! आज भी जैन साहित्य सब प्रकार से सर्वोपयोगी और समृद्ध है, इसे कौन नहीं जानता ? व्यवहार, नीति, रीति एवं आध्यात्मिकता की ओर आगे बढने के लिये वह मानवमात्र को मार्गदर्शन कराता है ।

बस, इस से स्पष्ट होता है कि जैन सिद्धान्तों को विविध दृष्टिकोणों से लोगों को समझाने का प्रयास करने के लिये समयानुकूल साहित्य प्रकाशन करवाना चाहिये और ऐसा करने पर ही जन जन तक सत्य सिधान्त की बातें पहुँच सकती है।

कइएक व्यक्ति के दिमाग में ये विचार भी चक्कर काट रहे हैं कि पुराने को ही प्रकाश में लाया जाय, नया नहीं होना चाहिये !"

कितना भ्रम है इन विचारवानों को भी तो ? पुराना यदि होता ही नही तो नया आता ही कहाँ से,? जलाशय होगा ही नहीं तो जल आयगा ही कैसे ? पुराने

से ही नई चीजों का निर्माण होता है। जिस जमाने में जिस ढंग से जनसाधारण बातों को जल्दी समझ सके और अपनावें उसी ढंग से सिद्धान्तों को प्रति मध्यस्थ दृष्टि रखकर पुराने को ही नई प्रणाली में ढालकर जनता के सन्मुख रखना यही क्रम प्रत्येक शताब्दी में होता चला आया है, और उसी के फल स्वरूप आज हम युग युग के साहित्य का दर्शन कर रहे है। बस, इस से यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि पुराना साहित्य ही नयारूप लेकर जन जन तक आता है।

"प्रत्येक समाज आज प्रगति की ओर प्रयाण करता जा रहा है, पर हमारा समाज ही एक ऐसा समाज है उन्नति के स्थान पर अवनति की ओर जा रहा है। विचार करने पर उसके परिणाम में अन्य समाज कि अपेक्षा जैन समाज पर लगे कुछ सामाजिक प्रतिबन्ध भी कारणभूत हो सकते है। अन्य समाज में आज पुनर्लग्न, विधवाविवाह आदिका कोई बन्धन नहीं है, जब हमारे यहाँ इस के लिये कडक प्रतिबन्ध है। ऐसे प्रतिबन्धों के कारण आज कितनी बालविधवा बहने अपने आपको दुःखी बना रही हैं और उसी के कारण आज गर्भपात जैसे निकृष्ट हत्य भी बढते जा रहे है, ऐसे प्रतिबन्ध हमारे मन्तव्य से नहीं होना चाहिये।"

—वर्तमान मन्तव्य

समाजउत्थान के मार्गों को आज का विज्ञानी दिमाग किस प्रकार खोज निकालता है, उस का यह भी एक नमुना है। हमारे शास्त्रों में एक नहीं अनेक ऐसे प्रमाण हैं जो उपर्युक्त प्रवृत्ति के लिये मनाई करते हैं। जिन के कुछ प्रमाण उपयुक्त होने से यहाँ दिये जा रहे हैं।

कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यजी कहते हैं कि

सकृज्जल्पन्ति राजान, सकृज्जल्पन्ति साधवः।
सकृत् कन्या प्रदीयन्ते, त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥

—राजालोग हमेशा एक ही वक्त वचनोच्चार करते हैं, सत और तपस्वी मुनिजन एक ही वक्त बोलते हैं और कन्यारत्न भी एक वक्त ही दिये जाते हैं। ये तीनों कार्य एक वक्त ही किये जाते है।

उपर के प्रमाण से यह भलिभाँति समझ सकते हैं कि समाज के कर्णधार और दुषमकालमें सर्वज्ञ जैसे आचार्यवर्य भी कहते हैं कि एक से दूसरी वक्त कन्या का आदान प्रदान नहीं होता।

श्रीमन् सिद्धर्षिगणिजी महाराज अपने श्रीचन्द्रकेवली चरित्र के चतुर्थाध्ययन की ४६२ वीं गाथा में लिखते हैं कि—

काष्ठस्थाली सकृद् वह्नौ, कणिकाया जले सकृत्।
सज्जनाना सकृत वाक्य, स्त्रीणामप्यम सकृत ॥

अग्नि में काष्ट की थाली, कणक में जल, सज्जनों के वाक्य और स्त्रियों का विवाह एक ही वक्त होता है।

ऐसे ओर भी अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। जो ग्रन्थों में लिखे हुए है! यदि पुनर्लग्न और विधवा विवाह के लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं हो तो न मालुम, कब अबला सबला बन कर के क्या नहीं कर देगी? जिस का परिणाम बहुत ही, बुरा आ सकता है। वर्तमान विचारों के साथ साथ यह कह दें कि समाज रचना प्रतिबन्ध ही गलत हैं। परन्तु इस में आत्म साक्षी कैसे हो सकेगी।

भारतीय दर्शनकारों ने पतिव्रत को श्रेष्ठव्रत माना है। यदि समाज के तरफ से धार्मिक दृष्टि या व्यावहारिक दृष्टि से किसी प्रकार के नियम बने हुए नहीं होते तो एक स्त्री एक के बाद दूसरा पति करने की धून में क्या नहीं करती? सब कुछ करती और फलस्वरूप कितने ही जनों का जीवन भी संकटमय हो जाता! एवं पतिव्रत जैसे महान् व्रत को पालन करने की भारतीय दर्शनकारों की आज्ञा का भी उल्लंघन हो जाता।

मान लो किसी एक स्त्री की शादी कोई एक अच्छे घरानेवाले लडके के साथ हुई। भाग्यवशात् वह बिमार हो गया। और पास में जो लक्ष्मी थी वह भी कूच कर गई। उस समय ऐसी समाजव्यवस्था और बंधन नहीं होने पर वह स्त्री क्या उस निर्धन और रुग्ण आदमी की सेवा करती हुई बैठी रहेगी? नहीं कदापि नहीं। वह यही समझेगी मुझे क्या? मैं क्यों इतने कष्ट ऊठाऊं? जब कि मेरे लिये एक नहीं अनेक पति मौजुद हैं।

अपनी इज्जत के कारण अथवा ऐसे न छोडकर किसी भी प्रकार से उस रुग्ण को खतम कर देगी तो फिर कितना घोर अन्याय और पाप बढ जायगा! और पतिव्रत जैसा शब्द ही साहित्य के पृष्ठों से ऊड जायगा! यदि विधवाविवाह–पुनर्लग्न के लिये समाज का कोई बन्धन–प्रतिबन्ध नहीं होता तो आज समाज की क्या दशा होती? पति पत्नी के तरफ से सशंक रहता! और पत्नी किसी प्रकार की चिंता न रखकर मनमाने ढंग से जिस के साथ जब जाना हो तब चली जाती; जिस के अनेक प्रमाण अपन विदेश के न्युझ पेपरों से जानते हैं।

विधवाविवाह और पुनर्लग्न से जो अव्यवस्था और हिंसा बढती है वैसा बंधारण से कभी भी नहीं हो सकता। इस के सम्बंध में जब विचार करने के लिये बैठते हैं तब दिमाग से यही शब्द निकलते हैं कि 'दर्शन, नीति और समाज व्यवस्था करनेवाले महापुरुषों ने कितना गहरा सोचकर नियम बनाये हैं, जिन को आज का क्षुद्र दिमाग का व्यक्ति समझ भी नहीं पा रहा है, और अपने क्षुद्र विचारों को जनता के सामने रखता है।

विधवा विवाह और पुनर्लग्न से जो अव्यवस्था और हिंसा का जोर बढता

से ही नई चीजों का निर्माण होता है। जिस जमाने में जिस ढंग से जनसाधारण बातों को जल्दी समझ सके और अपनावें उसी ढंग से सिद्धान्तों को प्रति मध्यस्थ दृष्टि रखकर पुराने को ही नई प्रणाली में ढालकर जनता के सन्मुख रखना यही क्रम प्रत्येक शताब्दी में होता चला आया है, और उसी के फल स्वरूप आज हम युग युग के साहित्य का दर्शन कर रहे हैं। बस, इस से यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि पुराना साहित्य ही नयारूप लेकर जन जन तक आता है।

"प्रत्येक समाज आज प्रगति की ओर प्रयाण करता जा रहा है, पर हमारा समाज ही एक ऐसा समाज है उन्नति के स्थान पर अवगति की ओर जा रहा है। विचार करने पर उसके परिणाम में अन्य समाज कि अपेक्षा जैन समाज पर लगे कुछ सामाजिक प्रतिबन्ध भी कारणभूत हो सकते है। अन्य समाज में आज पुनर्लग्न, विधवाविवाह आदिका कोई बन्धन नहीं है, जब हमारे यहाँ इस के लिये कडक प्रतिबन्ध है। ऐसे प्रतिबन्धों के कारण आज कितनी बालविधवा बहने अपने आपको दुःखी बना रही हैं और उसी के कारण आज गर्भपात जैसे निकृष्ट कृत्य भी बढते जा रहे है, ऐसे प्रतिबन्ध हमारे मन्तव्य से नहीं होना चाहिये।"

—वर्तमान मन्तव्य

समाजउत्थान के मार्गों को आज का विशाली दिमाग किस प्रकार खोज निकालता है, उस का यह भी एक नमूना है। हमारे शास्त्रों में एक नहीं अनेक ऐसे प्रमाण हैं जो उपर्युक्त प्रवृत्ति के लिये मनाई करते हैं। जिन के कुछ प्रमाण उपयुक्त होने से यहाँ दिये जा रहे हैं।

कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यजी कहते हैं कि

सकृज्जल्पन्ति राजानः, सकृज्जल्पन्ति साधवः।
सकृत् कन्याः प्रदीयन्ते, त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्॥

—राजालोग हमेशां एक ही वक्त वचनोच्चार करते हैं, संत और तपस्वी मुनि जन एक ही वक्त बोलते हैं और कन्यारत्न भी एक वक्त ही दिये जाते हैं। ये तीनों कार्य एक वक्त ही किये जाते है।

उपर के प्रमाण से यह भलिभाँति समझ सकते हैं कि समाज के कर्णधार और दुषमकालमें सर्वज्ञ जैसे आचार्यवर्य भी कहते हैं कि एक से दूसरी वक्त कन्या का आदान प्रदान नहीं होता।

श्रीमद् सिद्धर्षिगणिजी महाराज अपने श्रीचन्द्रकेवली चरित्र के चतुर्थाध्ययन की ४६२ वीं गाथा में लिखते हैं कि—

काष्ठस्थाली सकृद् वह्नौ, वणिकाया जल सकृत्।
सज्जनाना सकृत् वाक्यं, स्त्रीणामुपयमः सकृत्॥

अग्नि में काष्ट की थाली, फणक में जल, सज्जनों के वाक्य और स्त्रियों का विवाह एक ही वक्त होता है।

ऐसे और भी अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। जो ग्रन्थों में लिखे हुए हैं! यदि पुनर्लग्न और विधवा विवाह के लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं हो तो न मालुम, कब अबला सबला बन कर के क्या नहीं कर देगी? जिस का परिणाम बहुत ही बुरा आ सकता है। वर्तमान विचारों के साथ साथ यह कह दें कि समाज रचना प्रतिबन्ध ही गलत हैं। परन्तु इस में आत्म साक्षी कैसे हो सकेगी।

भारतीय दर्शनकारों ने पतिव्रत को श्रेष्ठव्रत माना है। यदि समाज के तरफ से धार्मिक दृष्टि या व्यावहारिक दृष्टि से किसी प्रकार के नियम बने हुए नहीं होते तो एक स्त्री एक के बाद दूसरा पति करने की धून में क्या नहीं करती? सब कुछ करती और फलस्वरूप कितने ही जनों का जीवन भी संकटमय हो जाता! एवं पतिव्रत जैसे महान् व्रत को पालन करने की भारतीय दर्शनकारों की आज्ञा का भी उल्लंघन हो जाता।

मान लो किसी एक स्त्री की शादी कोई एक अच्छे घरानेवाले लडके के साथ हुई। भाग्यवशात् वह बिमार हो गया। और पास में जो लक्ष्मी थी वह भी कूच कर गई। उस समय ऐसी समाजव्यवस्था और बंधन नहीं होने पर यह स्त्री क्या उस निर्धन और रुग्ण आदमी की सेवा करती हुई बैठी रहेगी? नहीं कदापि नहीं। वह यही समझेगी मुझे क्या? मैं क्यों इतने कष्ट उठाऊं? जब कि मेरे लिये एक नहीं अनेक पति मौजुद हैं।

अपनी इज्जत के कारण अथवा ऐसे न छोडकर किसी भी प्रकार से उस रुग्ण को खतम कर देगी तो फिर कितना घोर अन्याय और पाप बढ जायगा! और पतिव्रत जैसा शब्द ही साहित्य के पृष्ठों से ऊड जायगा! यदि विधवाविवाह-पुनर्लग्न के लिये समाज का कोई बन्धन-प्रतिबन्ध नहीं होता तो आज समाज की क्या दशा होती? पति पत्नी के तरफ से सशंक रहता! और पत्नी किसी प्रकार की चिंता न रखकर मनमाने ढंग से जिस के साथ जब जाना हो तब चली जाती; जिस के अनेक प्रमाण अपन विदेश के न्युझ पेपरों से जानते हैं।

विधवाविवाह और पुनर्लग्न से जो अव्यवस्था और हिंसा बढती है वैसा बंधारण से कभी भी नहीं हो सकता। इस के सम्बंध में जब विचार करने के लिये बैठते हैं तब दिमाग से यही शब्द निकलते हैं कि 'दर्शन, नीति और समाज व्यवस्था करनेवाले महापुरुषों ने कितना गहरा सोचकर नियम बनाये हैं, जिन को आज का क्षुद्र दिमाग का व्यक्ति समझ भी नहीं पा रहा है, और अपने क्षुद्र विचारों को जनता के सामने रखता है।

विधवा विवाह और पुनर्लग्न से जो अव्यवस्था और हिंसा का जोर बढता

है, वैसा बन्धारण से कभी भी नहीं होता। ज्यादा क्या? इस विषय पर जितना लिखा जाय उतना ही कम है।

"जमाना बढ रहा है आगे, धर्म क्या? अधर्म क्या? पुण्य क्या? पाप क्या? भौतिक क्या? आध्यात्मिक क्या? इसे भूला जा रहा है आज का मानव! कम हो रहे हैं उपासक और बढते जा रहे हैं उपास्य? घट रहे हैं पूजक, तब पूज्यों की संख्या बढ रही है। आज हम देख रहे हैं एक ओर मंदिरों के रक्षक और पूजक नहीं दिखते जब दूसरी ओर समाज के कर्णधार नये मन्दिर तैयार करवाने और बडे उत्सवों में ही अपना नाम समझते हैं। यह भी हमारे विचारों से ठीक नहीं हो रहा है।"

— वर्तमान विराग

हां, यह भी ठीक है परन्तु वर्तमान की गतिविधि को देखते हैं तो ऐतिहासिक एवं शिल्पकलायुक्त मन्दिरों एवं स्थानों से भारत ही नहीं अन्यदेश भी अपना इतिहास और अपनी कलाकृति विश्व के सम्मुख रख रहे हैं। जैन शिल्पकला ने भारत में ही नहीं विश्व में अपना एक अनूठा अस्तित्व रक्खा है। आज हम उस शिल्पकला से यह अनुमान लगा सकते हैं कि जैन समाज किस समय कैसा तेजोमय था। आज का विकृत हुए दिमाग का मनुष्य दिनों दिन शास्त्रश्रद्धासे पतित होता जा रहा है। धर्मको ढोंग और शास्त्र को थोथे समझता जा रहा है उस को जैन धर्म की प्राचीनता समझाने के लिये सर्व प्रथम ऐसे ही कला स्तम्भ बताने पडेंगे जिन में जैन धर्म की प्राचीनता अंकित की गई है। इसी लिये प्रत्येक शताब्दीमें नये मन्दिरों का निर्माण कर उस समय की कलाकृति का संरक्षण किया जाता है।

भारतवर्ष में ही देखें? यहाँ पर बौद्धधर्मावलम्बी कितने वर्ष हुए कम हो गये थे और नाम शेष भी होने आया परन्तु यहाँ पर रहे उन के स्तूप और शिल्पकला से भूषित मंदिर दिखाई पडते हैं। जिस से यह कहा जा रहा है कि एक समय बौद्धधर्मी भी यहाँ पर बहु संख्या में थे। यदि ये चीजें नहीं मिलती तो सब कैसे कह सकते कि एक समय भारत में भी बौद्धों का अस्तित्व था।

प्रत्येक शताब्दी साहित्यनिर्माण और शिल्पकार में अपनी अपनी विशिष्टता रखती हैं हम पांचसौ वर्ष पूर्व की शिल्पकला को देखना चाहेंगे तो देख सकेंगे और हजार वर्ष पूर्व की भी। हरएक अवसर में जैन धर्म विद्यमान था, चमकता था। जैन धर्मवीर थे, कर्मवीर थे और थे देशभक्त। भारतीय शिल्पकला रक्षक में जैनियों का जो योग रहा है और वर्तमान में भी है अवर्णनीय है। जैन शिल्पकला को यदि हमारे पूर्वजों ने नहीं टिकाई रखी होती तो आज जो हम देख रहे है वह हमारे सामने नहीं होता।

इतना जरूर कह सकते है कि जहाँ एक मंदिर हों वहाँ पर दूसरे नये मंदिरों का निर्माण न करें परन्तु ऐसा नहीं कह सकते कि नये मंदिर निर्माण करना ही

अयोग्य है । उत्थान जिस का होना है उसी का एक समय पतन भी होता है, और गिरनेवाला ही पुनः उठकर के कार्य करने के लिये तत्पर होकर सफलता पाता है। इसी लिये प्रत्येक बात को कहने के पहले विचार कर लेने के बाद ही अपने वचन को निकालना चाहिये ।

भौतिकता के पीछे पागल बनने वाले, उन्नति की पुकार करने वाले यहाँ तक कह देते है कि "हमारे समाज का पतन यदि किसी ने किया है तो वह साधु समाजने ही किया है" । कितना अज्ञान ! जिस समाजने हमारे सिद्धान्तों का रक्षण किया, जिन्होंने सभी प्रकार के कष्ट सहन कर के भी हमारे मंदिर एवं शास्त्रों को सुरक्षित रखा, आज भी जो जैनसिद्धान्तों का प्रचार प्रसार करने के लिये कटिबद्ध हैं उन के लिये इस प्रकार के शब्द और उन के प्रति घृणा करना हमारे लिये ही घातक है, यह निःसन्देह सत्य है, क्यों कि जैन धर्म के चारस्तंभ में यह ऐसा स्तंभ है जिस के सहारे दूसरे स्तंभ रह सकते हैं । उस का अपमान हो ऐसे शब्द या उससे मानसिक घृणा भी प्रत्येक कार्य में विघ्न उपस्थित करती है । कोई अंग समाज का अकेला रह कर अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता ।

संसार में ऐसी कौनसी चीज है जो अच्छी ही रह सकती है सदा के लिये ! हाँ, वीतराग परमात्मा में कोई दोष नहीं है । उन्हें छोड़कर सभी में किसी न किसी प्रकार की बुराई या कमजोरी रहती है, इस का सारांश यह नहीं होता है कि एक जूं के कारण सभी वस्त्रों को ही फेंक दें ! या बुरें कह दें ! यदि ऐसा करते हैं या कहते हैं तो करने और कहनेवालों की दुनिया में इज्जत-प्रतिष्ठा नहीं होती !

वास्तव में हमें यही सोचना है कि किससे लाभ है और किस से हानी ? पुराने को जडमूल से न ऊखाड़ फेंककर उस में आई विकृति को दूर करने में ही सही समयज्ञता और समझदारी है । इस के लिये ही यह नवयुग का आह्वान है ।

हाँ, तो चलो । हमारी अज्ञानमूलक प्रवृत्ति को जल्दी से निवृत्ति की ओर ले चलें और सद्ज्ञानमय प्रवृत्ति को अपनावें ।

राकेट युग और जैन सिद्धान्त

लेखक – श्री मोहनलाल जैन, मु खुडाला

आज संसार बडी तेजी से करवटें बदल रहा है। विज्ञान की चरम उन्नति के साथ ही साथ सभ्यता भी करवटें बदल रही है। आजसे ८० साल पहले पैदा हुए आदमी से पूछीये, जिस समय वह अपनी माँ की गोदमें किलकारी मारता था, उस समय विज्ञान भी शैशवावस्था में था। जब उसने यौवन में प्रवेश किया तो विज्ञान ने भी उन्नति की आगे ओर कदम बढाया। सड़को पर मोटरें व रेलें चलने लगी और धीरे २ घोडे गाडियों की जगह मोटरों लेने लगी। धीरे २ आदमी ने पक्षी की तरह आकाश में उडने का स्वप्न पुरा किया। बीजली के लट्टुओ से शहर जगमगा उठे। आज तो घोडे गाडियों की जगह रेलें, मोटरें, ट्रामें और बसों की भरमार दिखाई देती है। जिन्दगी के हर पहलु में विज्ञान ही विज्ञान दिखाई दे रहा है। आज विज्ञान जन्म मरण के सिवाय आदमी का हर दैनिक काम करता है। विज्ञान की करा मत से आज एक साधारण आदमी एक साधारण दुकानदार से अपनी वह इच्छा पुरी कर सकता है यो कि आज से कुछ शताब्दी पहले एक बडे साम्राज्य का सम्राट नहीं कर सकता था। रेडीयों द्वारा दुनिया की किसी भी कोने की वह खबर पा सकता है। टेलीविजन द्वारा अपने बिस्तर पर सोते बम्बई में हो रहे नाचों का मजा ले सकता है। आज समाज के विभिन्न जाति, धर्म, संस्कृति, भाषा व वेश देशान्तर के लोग एक दूसरे से मिलते है। समय और दूरी कम हो गई है। विद्युत युग समाप्त हो चुका है और अब राकेट युग शुरू हुआ है। मानव ने आज विज्ञान को वह रूप दे दिया है यह चन्द्रलोक व दूसरें ग्रहोंमें जाने की सोच रहा है। ऐसा मालुम होता है मानों स्वर्ग लोक पृथ्वी पर ही उतर आया हो।

इतना सब होते हुए भी आज विश्व में तनाव और भय का वातावरण छाया हुआ है। आज सबके सामने यही समस्या है कि कहीं तृतीय महायुद्ध न छिड जावें, यदि छिड गया तो सर्वनाश के सिवाय कुछ नहीं होगा। क्या विज्ञान की चरम उन्नति का अन्तिम लक्ष्य सर्वनाश और प्रलाप है? मार्शल जुकोव व ख्रुश्चेव (रूसी नेता) ने तो यहाँ तक घोषणा कर दी है कि अब हवाई जहाज व जेट-विमान केवल अजाय बघर की सामग्री रह गई है, आनेवाली पीढियाँ अजायबघर में कोतुहल से देखेंगी कि किसी जमानें में हवाई जहाजों से लडाई होती थी। इसका अर्थ यह हुआ कि राकेटों द्वारा केवल जन-संहार ही नहीं होगा वरन् जमीन कुछ शताब्दी तक ऊसर हो जावेगी और मानव का इस दुनियाँ से अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। सम्पूर्ण विश्व एक फौजी केम्प की तरह दिखाई दे रहा है। सम्पूर्ण विश्व आज दो परस्पर

विरोधी जुथ्यो में विभाजित है-(१) रूसी जुथ्य व (२) अमेरिकन जुथ्य। दोनों जुथ्य छोटे छोटे कमजोर राष्ट्रो को अपनी ओर मिला रहे हैं। जिसमें तनाव का वातावरण गम्भीर हो गया है। आज शिखर राष्ट्रों की कुटनीति के कारण विश्व में जगह २ पर ज्वाला-मुखी पैदा हो रहें हैं, न मालुम कब उगल पडे और सम्पूर्ण विश्व को अपने मुख में समा बैठे।

लेकिन आज विश्व में एक तीसरा अंकुर पनप रहा है जो तटस्थता की नीतिको अपना कर शान्ति क्षेत्र का निर्माण कर रहा है। इस जुथ्य का नेतृत्व कर रहा है भारत-इसी तटस्थता व स्वतन्त्र विदेश नीति के कारण दोनों परस्पर विरोधी जुथ्यो में उसका सन्मान है। तब भी विश्व शान्ति खतरें में पडती है। युद्ध भयसे पीड़ित जनता की आशा भारत पर बँधवाती है।

हमारी विदेश नीति पर भारतीय संस्कृति की गहरी छाप लगी हुई है। भारतीय संस्कृति का आधार है अहिंसा व मित्रता। भारतीय संस्कृति जैन धर्म के सिद्धान्तों की खूब ऋणी है। विश्व में यही एक धर्म है जो कि अहिंसा को बहुत सुक्ष्म दृष्टि से मानता है। जैन दर्शन व संस्कृति की निम्न विशेषतायें है।

(१) अहिंसा- (२) मित्रता व भाईचारा (३) अनेकान्तवाद

अहिंसाः—अहिंसा जैन धर्म की जड़ है। अहिंसा का अर्थ यहाँ बड़ा व्यापक है और उसका सुक्ष्म से सुक्ष्म विश्लेषण किया गया है। दूसरे अर्थों में अहिंसा को "जीओं और जीनें दो" का सिद्धान्त कह सकते है। यदि इस सिध्धान्त को हम क्रियात्मक रूपमें हर पहलु में काम में ले लेवें तो संसार की आधी समस्या सुलझ सकती हैं।

मित्रताः—आजके बडे २ राष्ट्र यह सोचते है कि हमारे पास राकेट अस्त्र है। अतः वे दूसरें राष्ट्रों के सामनें क्यों झुके? बलवान राष्ट्र कमजोर राष्ट्र को गुलाम बनाना चाहता है। यह कारण है कि आज विश्व दो फौजी जुथ्यो में विभाजित हो गया है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ शस्त्र के बल पर समस्यायें सुलझाना चाहता है। यदि हम आपसी बातचीत व सहयोग से आपसी समस्यायों को सुलझावें तो वर्तमान तनाव व दंगे लड़ाई दूर हो सकती है। फौजी जुथ्य की अपेक्षा यदि हम मित्रता के ऐसे जुथ्य बनावें जिसमें आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक सहयोग सम्मलित हो। तो विश्व की सम्पूर्ण दरिद्रता, कदयापन शत्रुता समाप्त हो सकती है, और सम्पूर्ण विश्व एक कुटम्ब का रूप धारण कर सकता है।

(३) अनेकान्तवादः—अनेकांतवाद का अर्थ है कि एक आदमी जो कुछ कहता है वह सम्पूर्ण सत्य नहीं है वरन आंशिक सत्य है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत निम्न बातें आ सकती है—

(१) अपने मत या बात को सर्वश्रेष्ठ नहीं समझे और दूसरों के मत को हीन बताकर, दूसरे पर अपनी बात या मत जबरदस्ती नहीं लादे।

(२) एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करे।

(३) युद्ध व झगडे नहीं करने की घोषणायें व प्रतिज्ञायें।

(४) आपसी सहयोग व एक दूसरे से सीखनें की प्रवृति।

(५) दूसरों की गलतियों की तरफ देखने के बजाय अपनी गलती की तरफ ध्यान देना।

(६) दूसरों के दुखों को अपना दुख समझ कर उसके निवारण के उपाय सोचना।

आज सम्पूर्ण विश्व की आखें भारत की तरफ लगी हुई है। बड़े २ राजनीतिज्ञ आज यह मानने लग गये है कि राकेट अस्त्रों से भी शक्तिशाली है अहिंसा। राकेट से पराजित देशही बरबाद नहीं होता बरन् विजयी देश भी इतना कमजोर हो जाता है कि वह भी कुछ शताब्दी तक उठ नहीं सकता। इसके विपरीत अहिंसा शस्त्र से न तो पराजित देश का सर्वनाश होता है और न विजयी देशका। बल्की दोनों देश मित्रता के सूत्र में बँध जाते हैं। जैन धर्म सिखाता है प्रेम और त्याग का पाठ। आज विश्वकी जनता राकेट की भूखी नहीं है, वह चिर शाति चाहती है। यह तबही सम्भव है जबकि हम त्याग और प्रेम को अपनाये और ऊपर विवरण किये हुए सिद्धान्तो का पालन करें। क्या शिखर राष्ट्र के नेतागण जरा ठंडे दिमाग से विचार कर, राकेट व अणुशस्त्रों को मानव संहार के काम में न लगाकर मानव कल्याण के काम में लाने के उपाय सोचेंगे? क्या वे राकेट व अणु शस्त्रों को एक कोने में पटक कर अहिंसा, त्याग, मित्रता और अनेकान्तवाद के सिद्धान्तों को लेकर आगे बढ़ेंगे और सम्पूर्ण विश्व को तृतीय महायुद्ध की विकराल व सर्वनाशता से बचायेंगे?

वीतराग की ही उपासना क्यों ?

[लेखकः—डाँगी शान्तप्रकाश "सत्यदास"]

इस लिये कि जो वितराग है—राग रहित है–मोहरहित है, वही निष्पक्ष रह सकता है। मोह के कारण ही मनुष्य पक्षपात करता है। जो पक्षपाती है, उससे न्याय की आशा नहीं की जा सकती। इस लिए निष्पक्ष न्यायप्रेमी बनने के लिए यह जरूरी है कि सब प्रकार का मोह छोड कर मनुष्य वीतराग बने !

मोह दो प्रकार का होता है–स्वत्वमोह और कालमोह।

स्वत्वमोह
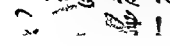
अपनी होने से ही कोई वस्तु सच्ची नहीं हो जाती और न पराई होने से ही कोई वस्तु झूठी हो जाती है। अपनापन सत्य की पहिचान नहीं हैं। अमुक वस्तु अपनी है, इसलिये सच्ची है–यह स्वत्वमोह की आवाज हैः किन्तु अमुक वस्तु सच्ची है, इसलिए अपनी है यह आवाज विवेक की है।

अपनी होने से कोई वस्तु हमें प्यारी तो हो सकती है, किन्तु वह सबके लिये अच्छी है–ऐसा दावा वह नहीं कर सकता, जो सम्यग्दृष्टि है। अपनी माँ हमारे लिए कितनी भी प्यारी और पूज्य हो, किन्तु केवल इसीलिए क्या हम ऐसा दावा कर सकते हैं कि वह सब लोगों के लिए उतनी ही प्यारी और पूज्य है ?

सूत्रों के अनुसार मालूम होता है, कि अपने बड़े भाई नन्दीवर्द्धन की बात मानकर वर्द्धमानकुमार ने महाभिनिष्क्रमण जैसे पवित्र विचार को भी दो वर्ष के लिए स्थगित कर दिया था। इस घटना के आधार पर वर्द्धमान स्वामी ऐसा तो कह सकते हैं—कि जैसे मैंने बड़े भाई की बात मान ली है, उसी प्रकार सब लोग अपने-अपने बड़े भाई की बात माना करें।

परन्तु उन्होंने कभी ऐसा नहीं कहा और न कह भी सकते थे—कि मैंने जैसे नन्दीवर्द्धन की बात मानी है, उसी प्रकार सब लोग नन्दीवर्द्धन की बात माना करें, क्यों कि वे मेरे बड़े भाई हैं !

सम्यग्दृष्टि को सत्य का ही आग्रह होता है, अपनेपन का नहीं। उसकी नजर सम्यक् पर होती है अपनेपन पर नहीं।

सम्यग्दृष्टि कभी ऐसा नहीं कह सकता–कि जैनधर्म मेरा है, इसलिए सच्चा है ! किन्तु वह सिर्फ यही कहेगा या उसे यही कहना चाहिए कि जैनधर्म सच्चा है, [illegible] है !

चौंकिये नहीं, जैनधर्म की बात तो एक उदाहरण के रूप में कह गया हूँ किन्तु आज दुनियाभर के सारे सम्प्रदाय अपने अपने मजहब को ही सच्चा समझते हैं और दूसरों को झूठा ! इसके लिए अज्ञानी, मिथ्यात्वी, म्लेच्छ, काफिर और नास्तिक जैसे शब्द भी बना रक्खे हैं उन्होंने । यह सब एकान्त-दृष्टि है । वीतराग की बताई हुई अनेकान्तदृष्टि उन सब का समन्वय करने के ही लिए है ।

एकान्तदृष्टियों के दुराग्रह के कारण ही धार्मिक दृष्टि से भी आज मानवसमाज की चिन्दियाँ चिन्दियाँ हो गई हैं । सब प्रकार के साम्प्रदायिक संघर्ष के मूल में उसी स्वत्वमोह की गर्जना है ।

स्वत्वमोह के विजेता वीतराग वर्द्धमानस्वामी ने आज के तथाकथित जैनसमाज के ही लिए धर्मप्रवचन नहीं किया था किन्तु —

"सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं ।

(जगत् के सभी जीवों की रक्षारूप दया के लिए भगवान ने प्रवचन कहा है ।)

इसीलिये तो कहा जाता है कि उनके समवसरण में मनुष्य ही नहीं पशु पक्षी भी आकर उपदेश सुना करते थे ।

कालमोह

कालमोह दो प्रकार का है—प्राचीनत्वमोह और अर्वाचीनत्वमोह ।

जैसे अपनापन सत्य की पहिचान नहीं है वैसे ही नयापन या पुरानापन भी सत्य की पहिचान नहीं है । अमुक वस्तु पुरानी है इसलिए अच्छी है अथवा अमुक वस्तु नई है इसलिये अच्छी है—यह कालमोह की आवाज है, किन्तु अमुक वस्तु सच्ची है इसलिए अच्छी है यह विवेक की वाणी है ।

महाकवि कालिदास के शब्दों में —

पुराणमित्येव न साधु सर्वम् न साधु सर्वम् नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्यय-नेयबुद्धिः ॥

[न सब पुराना होने से ही अच्छा माना जा सकता है और न सब नया होने से ही । सज्जन परीक्षा करके जो ठीक मालूम होता है, उसी का ग्रहण करते हैं (फिर भले ही वह नया हो या पुराना) दूसरों के विश्वास पर चलने वाले तो मूढ हैं ।]

यह बात एक चुटकुले से भी अच्छी तरह समझी जा सकती है —

पहला आदमी—मेरा धर्म पाँच हजार वर्ष पुराना है।
दूसरा „ —मेरा मजहब पाँच लाख वर्ष पुराना है।
तीसरा „ —मेरा सम्प्रदाय पांच करोड़ वर्ष पुराना है।
चौथा „ —(पांचवे से) क्यों भाई आप किसे अच्छा समझते हैं ?

पांचवाँ „ —जो सब से पुराना होगा, वही सबसे खराब होगा।
चौथा „ —ऐसा कैसे कह रहे है आप?
पांचवाँ „ —इसलिए कि पाप सब से पुराना है और सब से खराब भी।
चौथा „ —बहुत ठीक! इसी लिए मैं नये का भक्त हूं, पुराने का नहीं।
पांचवाँ „ —इस विषयमें आपके बाप की क्या राय थी?
चौथा „ —जी हां, वे भी यही मानते थे।
पांचवाँ „ —और आपके पूज्य पुत्र जी की राय?

चौथा „ —यह क्या? पूज्य पिताजी के लिये तो आप ने सिर्फ बाप कहा और पुत्र को पूज्य विशेषण लगा दिया! आपको बोलना आता है या नही?

पांचवां आदमी—माफ कीजिये, मैं समझा आप नये के भक्त हैं। और पिता की अपेक्षा पुत्र तो नया होता है, इसलिए पिताजी का विशेषण छीन कर मैंने पुत्र के पहले लगा दिया था!

यह संवाद सुन कर सब की आँखें खुल गईं।

सचमुच विवेकी मनुष्य नयेपन या पुरानेपन का आग्रही नहीं, सत्याग्रही होता है। वह समझता है कि नई या पुरानी होने से ही कोई वस्तु उपादेय नहीं हो जाती, किन्तु केवल सच्ची होने से ही उपादेय होती है।

विद्वान् बनाने का ध्येय एक-सा होते हुए भी जैसे सभी कक्षाओं का पाठ्यक्रम अलग-अलग होता है, वैसे ही जगत् कल्याण का ध्येय एक-सा होने पर भी द्रव्य-क्षेत्र काल और भाव के अनुसार सत्य के बाह्य रूपों में भिन्नता हो जाती है। किन्तु सम्यग्दृष्टि उन सभी भिन्नताओं के भीतर छिपी हुई ध्येयरूप एकता को देखता है—उसकी नजर माला के भीतर छिपे हुए एक धागे की ओर होती है कि जिस पर भिन्न मणियाँ पिरोई रहती हैं।

कालमोह के विजेता वीतराग वर्द्धमान स्वामी ने अर्वाचीन होने से ही "चतुर्याम" को उपादेम नहीं मान लिया, और चतुर्याम की अपेक्षा प्राचीन होने से ही "पंचमहाव्रत" को अनुपादेय नहीं माना! दूसरी ओर पुराने होने से ही चार वेदों को प्रामाणिक नहीं मान लिया और न बौद्ध आदि दर्शनों की मान्यताएँ नई होने से ही उन्हें प्रामाणिक माना! उनकी नज़र केवल सत्य पर थी—केवलज्ञान पर थी, इसीलिए वे केवलज्ञानी कहलाये।

सारांश

कहने का आशय यह है कि स्वत्वमोह और कालमोह से ऊपर उठने वाला ही वीतराग है। जो वीतराग है, वही सब के कल्याण के लिए निर्भयतापूर्वक निष्पक्ष सत्य-विचार कह सकता है। इसी लिये वह आराध्य-देव है।

वीतराग-देवों की आराधना या उपासना केवल इसीलिए की जाती है, कि

णमो समणस्स भगवओ सिरी महावीरस्स ।

श्री नमस्कार महामंत्र

लेखकः—श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश शिष्य मुनि देवेन्द्र विजय "साहित्य प्रेमी"

नमस्कार समो मंत्रः, शत्रुंजय समो गिरिः ।
वीतराग समो देवो, न भूतो न भविष्यति ॥ १ ॥

जिस प्रकार वैदिक समाज में वैदिक मंत्रों तथा गायत्री मंत्रों का पारसी और ईसाइयों में प्रार्थना का महत्त्व है । उसी प्रकार श्री जैन शासन में श्री नमस्कार महामंत्र का महत्त्वशाली स्थान माना गया है । धर्मोपासक कोई भी प्राणी हो फिर वे अवस्था से बाल हो, वृद्ध हो, अथवा तरुण हो सब प्रत्येक समय नमस्कार महामंत्र का श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं । जिनेन्द्र शासन में इस मंत्राधिराज के समान दुसरा कोई मंत्र अथवा विधान नहीं है । आत्मिक साधना हो या व्यवहारिक कार्य हो, व्यापार हो अथवा परदेश गमन हो, मूल बात छोटे बड़े सब कार्यों में सर्व प्रथम महामंगलकारी श्री आदि मंत्र (नवकार) का ही स्मरण किया जाता है । पूर्वाचार्यों ने जितने भी आश्चर्य जनक कार्य किये हैं, जिन्हें सुनकर हम विस्मित हो जाते हैं । उन सब में भी नमस्कार मंत्र की आराधना का ही फल सन्निहित है । पंचमांग श्री व्याख्या प्रज्ञप्ती [भगवती] सूत्र का प्रारंभ नमस्कार मंत्र से मंगलाचरण करने के पश्चात् ही किया गया है । श्री महानिशीथ सूत्र में भी लिखा है कि—

" ताव न जायइ चित्तेण, चिन्तियं पत्थियं च वायाए ।
काएण समाढत्तं, जाव न सरिओ नमुक्कारो ॥ "

चित्त से चिन्तित, वचन से प्रार्थित और काया से प्रारम्भित कार्य यहाँ तक सिद्धि को प्राप्त नहीं होते, जब तक कि नमस्कार मंत्र का स्मरण नहीं किया जाता।

इस प्रकार महानिशीथ सूत्र ही नहीं, अपितु अनेक सूत्र–ग्रन्थों तथा पूर्वाचार्यों ने इस चौदह पूर्व के सार भूत नमस्कार महामंत्र की महत्ता दिखलाई है । ऐसे महा महिमावन्त नमस्कार का उच्चारण करते समय किस पदमें कितने और कौन से अक्षर होना चाहिये ? नमस्कार मंत्र का ही स्मरण क्यों करना चाहिये ? यह दिख लाना ही यहाँ हमारा ध्येय हैं । श्री महानिशीथ सूत्र के :—

" तहेव च तदत्थाणुगमियं इक्कारस पय परिच्छिन्नं ति आलावगतित्तीसक्खर परिमाणं ' एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढम हवइ

मंगलं ॥ १ ॥ ' इय चूलं त्ति अहिज्जंति त्ति " " तत्र प्रवृत् तदेवम्, हवइ मंगलं इत्यस्य साक्षादागमे भणितत्वात् प्रभु श्री वज्रस्वामी प्रभृति सुवहुश्रुत सुविहित संविग्न पुर्वाचार्य सम्मतत्वाच्च ' हवइ मंगलं ' इति पाठेन अष्टषष्ठयक्षर प्रमाण एव नमस्कार : पठनीय : "

[श्री अभिधान राजेन्द्र कोश भाग ४ पृष्ठ १८३६]

इस पाठानुसार अडसठ अक्षर प्रमाण श्री नमस्कार मंत्र का स्मरण करना चाहिये। जो इस प्रकार है :—

" णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।

एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणंच सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥१॥

इसके अडसठ अक्षरों की गणना इस प्रकार है :—

सत्त पय सत्त सत्त य, नव अठ्ठ य अठ्ठ अठ्ठ नव पहुंति।
इय पय अक्खरसंखा असह पूरेई अडसठ्ठी॥

[श्री अभिधान राजेन्द्र भाग ४ पृ. १८३६]

प्रथम पद के सात, दुसरे पद के पांच, तीसरे पद के सात, चौथे पद के सात, पांचवें पद के नव, छट्टे पद के आठ, सातवें पद के आठ, आठवें पद के आठ और नवमें पद के नौ। इस प्रकार यह पदाक्षर संख्या जोडने से (७-५-७-७-९-८-८-८-९= ६८) अडसठ अक्षर होते हैं। शास्त्रीय आज्ञानुसार ६८ अक्षर प्रमाण नमस्कार का पठन होना हीं चाहिये इसलिये लिखा है कि :—

" त्रयस्त्रिंशदक्षरप्रमाण चूलिका सहितो नमस्कारो मणनीय इत्युक्तं भवति "
(श्री अभिधान राजेन्द्र भा. ४ पृ. १८३६)

अर्थात ३३ अक्षर प्रमाण चूलिका सहित नमस्कार मंत्र का स्मरण करना चाहिये। जो लोग ऐसा कहते है कि ३५ अक्षर प्रमाण ही नमस्कार मंत्र पठनीय है। उनको उक्त प्रमाण का तात्पर्य समझना चाहिये।

नमस्कार मंत्र का संक्षिप्त अर्थ :—

णमो अरिहंताणं :—नमस्कार हो अरिहंतों के लिये।
णमो सिद्धाणं :—नमस्कार हो सिद्धों के लिये।
णमो आयरियाणं :—नमस्कार हो आचार्य महाराज के लिये।
णमो उवज्झायाणं :—नमस्कार हो उपाध्यायजी महाराज के लिए।
णमो लोए सव्व साहूणं :—नमस्कार हो ढाई द्वीप प्रमाण लोक में विचरने वाले समस्त साधू मुनिराजों के लिये।

एसो पंच नमुक्कारो :—यह पांचों को किया हुवा नमस्कार।
सव्व पावप्पणासणो :—सब पापों का नाश करने वाला है।
मंगलाणं च सव्वेसिं :—और सब मंगलों में,
पढमं हवइ मंगलं :—प्रथम मंगल है।

किस पद में कौन से अक्षर

नमस्कार मंत्र के नौ पद और अडसठ अक्षर हैं। इसके प्रथम पदको तीन प्रकार से लिखा जाता है — णमो अरिहंताणं, णमो अरहंताणं और णमो अरुहंताणं। इन में से अरहंताणं और अरुहंताणं नहीं, अर्थात् वास्तव में 'अरिहंताणं' ही लिखना चाहिये। श्री [1]महानिशीथ सूत्र और श्री [2]भगवती सूत्र में 'अरिहंताणं' ही लिखा है। श्री आवश्यक सूत्र में तथा श्रीविशेषावश्यक भाष्य में श्री भद्रबाहु स्वामी और श्रीजिनभद्रगणी क्षमा श्रमण ने "अरिहंताणं" इस पद की ही व्याख्या की है।

दूसरा पद "णमो सिद्धाणं" है। यह सर्वत्र एक समान ही लिखा मिलता है। इस में किसी प्रकार का विकल्प नहीं है।

तीसरा पद "णमो आयरियाणं" है। इस पद को 'आयरियाणं, आयरीयाणं आइरियाणं और आइरीयाणं' इस प्रकार चार तरह से लिखा जाता है। परन्तु वास्तव में 'आयरियाणं' ही लिखना चाहिये, न कि आयरीयाणं, आइरियाणं या आइरीयाणं। श्री महानिशीथ सूत्र के तीसरे अध्याय में और भगवती सूत्र में 'आयरियाणं' ही आलेखित है।

चौथा पद 'णमो उवज्झायाणं' है। लेखन दोष के कारण यह पद दो प्रकार से लिखा मिलता है—णमो उवज्झायाणं और णमो उवज्झायाणं। इनमें से प्रथम शुद्ध और दूसरा अशुद्ध है। उच्चारण भी प्रथम पद का ही होता है। न कि दूसरे पद का। महानिशीथ सूत्र में तथा भगवती सूत्र में णमो उवज्झायाण ही लिखा है।

पांचवां पद 'णमो लोए सव्व साहूणं' है। इस पद को अनेक मनुष्य 'णमो लोये सव्व साहुणं' एसे लिखते तथा बोलते हैं। जो अशुद्ध है। वास्तव में 'णमो लोए सव्व साहूण' ही लिखना तथा बोलना चाहिये। महानिशीथ सूत्र में यही पद प्राप्त है।

इन पांचों पदों के आदि में णमो आता है, यह भी दो प्रकार से लिखा जाता है। णमो और नमो ये दोनों शुद्ध हैं। क्यों कि नमो के नकार का 'वाऽऽदौ' ।८।१।२२९। सूत्र से विकल्प से णकार होता है। विकल्प का मतलब है कि एक पक्ष में होता है अथवा नहीं भी होता है। किन्तु नमस्कार मंत्र प्राकृत होने से नमो के स्थान पर णमो लिखना ठीक है।

१— देखो श्री अभिधान राजेन्द्र भाग २ पृष्ट १०५०
२— देखो श्री अभिधान राजेन्द्र भाग ४ पृष्ट १८३५

सिद्धहेम व्याकरण (प्राकृत)

यद्यपि प्राकृत कल्पलतिका, प्राकृत प्रकाश, षड्भाषा चन्द्रिका, प्राकृत मंजरी और प्राकृत लक्षण आदि अनेक प्राकृत व्याकरणें प्राप्त हैं। तथापि जिस सरलतम प्रकार से कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराजने श्री सिद्धहेम शब्दानुशासनके अष्टमाध्याय में विस्तार पूर्वक प्राकृत भाषा के व्याकरण को समझाया है वैसे अन्य वैयाकरणों ने नहीं। अतः यहाँ जहां जहां भी शब्दों की संस्कृत में सिद्धि की गई है, वहां वहां श्रीसिद्धहेम प्राकृत व्याकरण के सूत्रों को ही लिया है। संस्कृत सिद्धि लघु सिद्धान्त कौमुदि (पाणिनी व्याकरण) के अनुसार की है। क्यों कि मेरा प्रवेश (अध्ययन) पाणिनि व्याकरण का है।

यहाँ हम क्रमशः अरिहंत सिद्धादि पांचों पदों का पूर्वाचार्य सम्मत अर्थ चालुमें और पांचों पदों की प्रक्रिया यथा स्थान पादनोंटों में लिख रहे हैं।

अरिहंतका अर्थ :—

"'अरिहंत' इस शब्द का अर्थ श्रीभद्रबाहु स्वामिने श्री आवश्यक निर्युक्ति में इस प्रकार किया है :—

" इन्दिय विसय कसाये, परिसहे वेयणा उवसग्गे।
ए ए अरिणो हंता, अरिहंता तेण उच्चंति ॥

१— 'अर्ह्' धातु से वर्तमान कालीन कर्तृ अर्थ में शतृ प्रत्यय लगाने से संस्कृत व्याकरणानुसार "अर्हत्" शब्द इस प्रकार बनता है :— अर्ह् + शतृ 'लशक्वतद्धिते' ।१।३।८। सूत्र से शतृ के श का की इत् संज्ञा और 'तस्यलोपः' ।१।३।९। सूत्र से श कार का लोप हुवा। तब अर्ह् + अतृ रहा यहां 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' ।१।३।२। सूत्र से ऋकार की इत् संज्ञा और 'तस्यलोप' सूत्र से ऋकार का लोप होने पर अर्ह्+अत् रहा 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' न्याय से सब का सम्मेलन करने से 'अर्हत्' यह रूप सिद्ध होता है।

'अर्हत्' का प्राकृत रूप 'अरिहंताणं' इस प्रकार बनता है :—

अर्हत् शब्द को 'उच्चार्हति' ।८।२।१११। सूत्र से हकार से पूर्व 'इत्' हुवा तब अर्इहत्' बना, रेफ में इकार को मिलाने पर अरिहत् बना। उगिद चांसर्वनामस्थाने धातोः ।७।१।७० (पाणिनी के) सूत्र से नुम् होकर अनुबन्ध का लोप होने पर अरिहन्त् रहा। 'क ग ट ड त द प श ष स क पामूर्ध्वं लुक्' 'ङ ञ णनो व्यंजने' ।८।१।२५। सूत्र से नकार का अनुस्वार और प्राकृत में स्वर रहित व्यंजन नहीं रहता। अतः अन्त्य हल् तकार में अकार आया तब बना अरिहंत।

'शक्तार्थवषड्नमः स्वस्ती स्वाहा स्वधाभिः' ।२।२।२५। सूत्र से 'नमः के योग में चतुर्थ विभक्ति होती है। अतः यहां भी नमः के योग में चतुर्थी का बहुवचन प्रत्यय भ्यस् आया; तब अरिहंत + भ्यस् ऐसा बना। 'चतुर्थ्याः षष्ठी' ।८।३।१३१। सूत्र से षष्ठी का बहुवचन प्रत्यय आम् आया। तब अरिहंत + आम बना। 'जस्शस्ङसित्तोदो द्वामी दीर्घः ।८।३।१२। सूत्र से अजन्ताङ्ग को दिर्घ हुवा 'टा आमोर्णः' ।८।३।६। सूत्र से आम के आ का ण तथा 'मोऽनुस्वारः ।८।१।२३ सूत्र से मकार का अनुस्वार होने पर अरिहंताणं ऐसा रूप सिद्ध हुवा।

अट्ठविहं पि य कम्मं, अरिभूयं होइ सव्व जीवाणं।
तंकम्ममरिहंता, अरिहंता तेण वुच्चंती ॥
अरिहंति वंदण नमंसणाणि अरिहंति पूय सक्कारं।
सिद्धि गमणं च अरिहा, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥
देवासुरमणुए सुय, अरिहा पुया सुरुत्तमा जम्हा।
अरिणो हंता अरिहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ "

अप्रशस्त भावों में रमण करती इन्द्रियों द्वारा काम भोगों की चाहना को, तथा क्रोध मान माया और लोभादि कषायों, क्षुधा, तृषादि बाईस परिषहों, शारीरिक और मानसीक वेदनाओं के उपसर्गों का नाश करने वाले, सब जीवों के शत्रुभूत उत्तर प्रकृतियों सहित ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों का नाश करने वाले, वन्दन और नमस्कार, पूजा और सत्कार के योग्य हों, और सिद्धि (मोक्ष) गमन के योग्य हों, सुरासुरनरवासव पूजित तथा आभ्यन्तर अरियों-शत्रुओं को मारनेवाले जो हों वे अरिहंत कहलाते हैं।

श्रीमद् जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण भी विशेषावश्यक भाष्य में लिखते हैं कि:—

" रागदोस कसाए य, इन्दियाणी पंच वि परिसहे ।-
उवसग्गे नामयंता, नमोऽरिहा तेण वुच्चंति ॥"

राग, द्वेष और चार कषाय, पांचों इन्द्रियां तथा परिषहों को झुकानेवाले अर्थात् इनके सामने स्वयं न झुकनेवाले, अपितु इन्हें ही झुकाने वाले अरिहंत कहलाते हैं। उनको नमस्कार हो।

" सर्वज्ञो जितरागादि दोषस्त्रैलोक्य पूजित.
यथा स्थितार्थवादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥ ४ ॥ '

जो सर्वज्ञ हैं, जिन्होंने रागादि दोषों को जीता है, जो त्रैलोक्य पूजित है, जो पदार्थ जैसे है, उनका यथार्थ विवेचन करते हैं, वे देव "अर्हन्" परमेश्वर कहलाते हैं।

(श्रीमद् हेमचन्द्रसूरि—योगशास्त्र द्वि. प्र.)

इस प्रकार बहुश्रुत पूर्वाचार्यों ने विविध प्रकार से अरिहंत शब्द का अर्थ अनेक ग्रन्थों में किया है। अरिहंत बननेवाली आत्मा पूर्वभवों में अपने जैसी ही सामान्य आत्मा होती है। परन्तु अरिहंत बनने से पूर्व यों तो अनेक भवों मे वे आत्मसाधना में मग्न रहती हैं। तथापि अरिहंत वीतराग बनने से तीसरे पूर्वभव में विंशतिस्थानक महातप की आराधना कर के तीर्थंकर नामकर्म निकाचित रूप से बांधकर देवलोक, ग्रैवेयक अथवा अनुत्तर विमान में मध्यभव करके पुनः मनुष्यलोक में शुभकर्मा माता पिता के यहाँ जन्म लेकर जिनका सुरासुरेन्द्रों ने च्यवन, जन्म, दीक्षा कल्याणक महोत्सव मनाया है, ऐसी वे चारित्र धर्म अंगीकार करके आत्मा के जो ज्ञानावरणीयादि आभ्यन्तर शत्रु हैं, उनको निर्बल पराक्रम से परास्त करके केवलज्ञान-केवलदर्शन

प्राप्त करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग बनती हैं, जिन्हें हम अरिहंत, जिन, जिनेन्द्र आदि अनेक गुण निष्पन्न नामों से पहचानते हैं। ऐसे श्री तीर्थंकर-अरिहंतों के चार मुख्य अतिशय, आठ महाप्रातिहार्य, चौंतीस अतिशय तथा उनकी वाणी के पैंतीस अतिशय होते है। जो क्रमशः इस प्रकार है:—

चार मूल (मुख्य) अतिशय—

१ ज्ञानातिशय—अरिहंत भगवान जन्म से ही मतिश्रुत और अवधिज्ञान से युक्त होते हैं। दीक्षा ग्रहण करते ही चौथा मनःपर्यव ज्ञान और घनघाती कर्मों का क्षय होने पर केवल ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जिस से विश्व के सब पदार्थों को देखकर, भूत भविष्य और वर्तमान के समस्त भावों को यथावत् जानना तथा उनका यथार्थ व्याख्यान करना ज्ञानातिशय है।

२ वचनातिशय—सुर मनुष्य तिर्यंचादि समस्त जीवों के समग्र संशयों को एक साथ दूर करनेवाली परम मधुर शान्तिप्रद उपादेय तत्वों से युक्त ऐसी वाणी, जिसके श्रवणसे कर्मोसे सन्त्रस्त जीवों परम आल्हाद एवं सुख को विना परिश्रम प्राप्त कर सकते है, याने— सब प्रकार से उत्तम तथा जो जिस भाषा का भाषी हो उसको अपनी उसी [1]भाषामें समझ पड जाय ऐसी जो भगवद् वाणी उसके अतिशय को वचनातिश कहते हैं।

३ पूजातिशय—सुरासुरनर और उनके स्वामी [इन्द्र राजा] जिन की पूजाकर के अपने पाप धोते हैं। वह पूजातिशय है।

४ अपायापगमातिशय—श्री अरिहंत भगवान जहां जहां विचरण करते हैं वहां वहां से प्रायः [2]सवा सौ सवा सौ योजन तक किसी को किसी प्रकार के कष्ट प्राप्त न हों और जो हों वे भी नष्ट हो जाय तथा अतिवृष्टि अनावृष्टि एवं परचक्र भयादि समस्त उपद्रव दूर होते है। वह अपायापगमातिशय है।

आठ प्रातिहार्य —

अशोक वृक्षःसुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनञ्च ।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥

अशोक वृक्ष, देवताओं के द्वारा पंचवर्ण सुगंधी फूलों की वर्षा, दिव्यध्वनि, देवों द्वारा चवरों का ढोना, सिंहासन, भामण्डल, दुन्दुभि और छत्र, ये आठ प्रातिहार्य जिनेश्वरों के होते हैं।

१–२– तेषामेव स्वस्वभाषापरिणाममनोहरम्।
अप्येक रूपं वचनं, यत्ते धर्मावबोधकृत् ॥ ३ ॥

साग्रेऽपि योजनशते, पूर्वोत्पन्ना गदाम्बुदाः।
यदञ्जसा विलीयन्ते, त्वद्विहारानिलोर्मिभिः ॥ ४ ॥

(श्रीवीतराग स्तोत्र तृतीय प्रकाश)

चौंतीस अतिशय

"तेषाम् च देहोऽद्भुतरूपगन्धो, निरामय स्वेदमलोज्झितश्च ।
श्वासोऽब्जगन्धो रुधिरामिषं तु, गोक्षीरधाराधवलं ह्यविस्रम् ॥५७॥

आहारनीहारविधिस्त्वदृश्यश्चत्वार एतेऽतिशयाः सहोत्थाः ।
क्षेत्रेस्थितिर्योजनमात्रकेऽपि नृदेवतिर्यग्जनकोटिकोटेः ॥५८॥

वाणीनृतिर्यक्सुरलोक भाषा, संवादिनी योजनगामिनी च ।
भामण्डलं चारु च मौलिपृष्टे विडम्बिताहर्पतिमण्डलश्रि ॥५९॥

साग्रे च गव्यूतिशतद्वये, रुजावैरेतयोमार्यति वृष्ट्य वृष्ट्य ।
दुर्भिक्षमन्यस्वक चक्रतो भय, स्यान्नैत एकादशकर्म घातजा ॥६०॥

खधर्म चक्र चमरा सपादपीठ, मृगेन्द्रासनमुज्ज्वलं च ।
छत्र त्रयं रत्नमयध्वजोऽङ्घ्रिन्यासेच चामीकर पङ्कजानि ॥६१॥

वप्रत्रय चारु चतुर्मुखाङ्गता, चैत्य द्रुमोऽधो वदनाश्चकण्टका ।
द्रुमानतिर्दुन्दुभिनाद उच्चकैर्वातानुकूल शकुना प्रदक्षिणा ॥६२॥

गन्धाम्बुवर्षं बहुवर्णपुष्पवृष्टि, कचश्मश्रुनखाप्रवृद्धि ।
चतुर्विधामर्त्यनिकायकोटिर्जघन्यभावादपि पार्श्वदेशे ॥६३॥

ऋतूनामिन्द्रियार्थानामनुकूलत्वमित्यमी ।
एकोन विंशतिर्दैव्याश्चतुस्त्रिंशच्च मीलिता ॥६४॥

(श्री अभिधान चिन्तामणी देवाधिदेव काण्ड)

१ लोकोत्तर तथा अद्भुत रूपवाला, मल और स्वेद से रहित शरीर। २ कमलों की सौरभ के समान परम सुगन्धवाला श्वासोश्वास। ३ रक्त[1] और मांस दोनों दूध के समान श्वेत। ४ आहार और नीहार विधि का चर्मचक्षुवालों को नहीं दिखना। ये चार

---

१ कम समझवाले लोग यह पूछ बैठते हैं कि भगवान के मांस और रक्त किस प्रकार से सफेद हो सकते हैं? यह तो मात्र भगवान की महत्ता का वैशिष्ट्य दिखलाने के लिये उक्ति मात्र बना दी है। वास्तव इसमें कोई तथ्यांश दिखाई ही नहीं देता। इसका समाधान है कि परमकरुणामूर्ति भगवान के रक्त और मांस का सफेद होना कोई आश्चर्य एवं उनका वैशिष्ट्य सिद्ध करने के लिए बनाई गयी युक्ति मात्र नहीं है। जैन शासन में जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही कही गई है। अस्तु। हम देखते हैं कि जिस प्रकार एक माता का वात्सल्य अपने पुत्र पर होने से पुत्र बहुत वर्षों के पश्चात् जब माता के पास आकर उसे नमस्कार करता है तब स्नेह के वश माता के स्तनों में दूध झरता है अथवा स्तनों में दूध आता है। पर उसी माता के सामने अन्य के पुत्र को लाया जाता तो उसके स्तनों में कदापि दूध न तो आयगा ही और न झरेगा ही। उसी प्रकार जिन की आत्मा में सारे जगत् के जीवों के लिए इस प्रकार वात्सल्य का सागर लहराता हो उनके समुद्र में जल, तो [illegible] क्यों न उनके शरीर का रक्त और मांस दुग्धवत् श्वेत होगा? अवश्य होगा। इसमें सन्देह को लेशमात्र भी स्थान नहीं है।

अतिशय जन्म से ही होते हैं। ५ योजन प्रमाण क्षेत्र में देवों तथा देवेन्द्रों द्वारा रचित समवसरण (व्याख्यान सभा) में असंख्य देवों, मनुष्यों और तिर्यंचों का बिना किसी कष्ट के समावेश हो जाना। ६ मनुष्य, देव तथा तिर्यंच सब को निज निज भाषा में योजन प्रमाण भूमि में सब को समान रूप से सुखपूर्वक सुनाई देना। ७ मस्तक के पृष्ठ भाग में अपने मनोहर सौन्दर्य से सूर्य की शोभा की भी विडम्बना करनेवाले भामण्डल का रहना। ८ सवासौ योजन प्रमाण क्षेत्र में उपद्रव न होना। ९ समस्त प्रकार की ईतियों का शमन। १० मारी आदि महाभयंकर रोगों का शमन। ११ अतिवृष्टि न होना। १२ अनावृष्टि न होना। १३ दुर्भिक्ष न होना। १४ स्वचक्र और १५ परचक्र भय न होना। ये ग्यारह अतिशय घनघाति चार (ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय) कर्मों का क्षय होने से होते हैं। १६ आकाश में धर्म चक्र का चलन। १७ देवों द्वारा अहोनिश चामरों का ढोना। १८ उज्ज्वल ऐसे परमशोभा से युक्त पादपीठ सह सिंहासन का रहना। १९ मस्तक पर छत्र त्रय रहना। २० रत्नमय धर्मध्वज साथ रहना। २१ विहार में चलते समय देवों द्वारा चरणों के नीचे स्वर्णकमलों की रचना करना। २२ त्रिगढ़ का होना। २३ समवसरण वेदिका पर विराजित भगवान का चारों दिशाओं में समान रूप से दीखना। २४ अशोक वृक्ष की छाया का निरन्तर रहना। २५ कांटों का अधोमुख हो जाना। २६ वृक्षों का ऐसा झुकजाना कि मानों वे भगवान को नमस्कार करते हों। २७ देवों द्वारा भुवनव्यापी देवदुन्दुभि (वाद्य विशेष) की ध्वनि करना। २८ अनुकूल हवा चलना। २९ पक्षियों द्वारा प्रभु को वंदन करना ३० सुगन्धयुक्त जल की वर्षा होना। ३१ बहुवर्णफूलों की वृष्टि होना। ३२ बाल, दाढी और मूंछ नखादि का वर्धन न होना। ३३ कम से कम क्रोड देवता सदैव भगवान के साथ रहना। ३४ छहों ऋतुओं का अनुकूल होना। ये (४–११–१९=३४) चौतीस अतिशय अरिहंत भगवान के होते हैं। श्री समवायांग सूत्र की ३४ वीं समवाय में भी अतिशयों का वर्णन है।

भगवान के चार मूल अतिशयों में से जो वचनातिशय है वह पैंतीस गुणों से युक्त होता है। वाणी के गुण इस प्रकार हैं—

> संस्कारवत्वमौदात्यमुपचार परीतता।
> मेघगम्भीरघोषत्वं, प्रतीनादविधायिता ॥६५॥
>
> दक्षिणत्वमुपनितरागत्वं च महार्थता।
> अव्याहतत्वं शिष्टत्वं, संशयानामसंभवः ॥६६॥
>
> निराकृतान्योत्तरत्वं, हृदयंगमतापि च।
> मिथः साकांक्षता, प्रस्तावौचित्यं तत्त्वनिष्ठता ॥६७॥
>
> अप्रकीर्णप्रसृतत्वमस्वश्लाघान्यनिन्दिता ।
> आभिजात्यमतिस्निग्धमधुरत्वं प्रशंस्यता ॥६८॥

चौंतीस अतिशय :

तेषाम् च देवोऽद्भुतरूपगन्धो, निरामयः स्वेदमलोज्झितश्च ।
श्वासोऽब्जगन्धो रुधिरामिषं तु, गोक्षीरधाराधवलं ह्यविस्रम् ॥५७॥
आहारनीहारविधिस्त्वदृश्यश्चत्वार एतेऽतिशयाः सहोत्थाः ।
क्षेत्रे स्थितिर्योजनमात्रकेऽपि, नृदेवतिर्यग्जनकोटि कोटेः ॥५८॥
वाणी नृतिर्यक्सुरलोक भाषा, संवादिनी योजनगामिनी च ।
भामण्डलं चारु च मौलिपृष्ठे, विडम्बिताहर्पतिमण्डलश्रि ॥५९॥
साग्रे च गव्यूतिशतद्वये, रुजावैरेतयो मार्यतिवृष्ट्य वृष्ट्य ।
दुर्भिक्षमन्यस्वक चक्रतो भयं, स्यान्नैत एकादश कर्मघातजाः ॥६०॥
खेधर्म चक्रं चमराः सपादपीठं, मृगेन्द्रासनमुज्ज्वलं च ।
छत्र त्रयं रत्नमयध्वजोऽङ्घ्रिन्यासे च चामीकर पङ्कजानि ॥६१॥
वप्रत्रय चारु चतुर्मुखाङ्गता, चैत्य द्रुमोऽधो वदनाश्चकण्टकाः ।
द्रुमानतिर्दुन्दुभिनाद उच्चकैर्वातोऽनुकूला शकुनाः प्रदक्षिणाः ॥६२॥
गन्धाम्बुवर्षं बहुवर्णपुष्पवृष्टिः, कचश्मश्रुनखाप्रवृद्धिः ।
चतुर्विधामर्त्यनिकायकोटिर्जघन्यभावादपि पार्श्वदेशे ॥६३॥

ऋतूनामिन्द्रियार्थानामनुकूलत्वमित्यमी ।
एकोन विंशतिर्दैव्याश्चतुस्त्रिंशच्च मीलिताः ॥६४॥

(श्री अभिधान चिन्तामणी देवाधिदेव काण्ड)

१ लोकोत्तर तथा अद्भुत रूपवाला, मल और स्वेद से रहित शरीर। २ कमलों की सौरभ के समान परम सुगन्धवाला श्वासोश्वास। ३ रक्त[1] और मांस दोनो दूध के समान श्वेत। ४ आहार और नीहार विधि का चर्मचक्षुवालों को नहीं दिखना। ये चार

---

१ कुछ समझवाले लोग यह पूछ बैठते हैं कि—"भगवान के मांस और रक्त किस प्रकार से सफेद हो सकते हैं? यह तो मात्र भगवान की महत्ता या वैशिष्ट्य दिखलाने के लिये उक्ति मात्र बना दि है। वरना इसमें कोई तथ्यांश दिखाई ही नहीं देता। इसका समाधान है कि—परमकरुणामूर्ति भगवान के रक्त और मांस का सफेद होना कोइ आश्चर्य एवं उनका वैशिष्ट्य सिद्ध करने के लिए बनाई गयी युक्ति मात्र नहीं है। जैन शासन में जो वस्तु जैसि है उसे वैसी ही कही गइ है। अस्तु। हम देखते हैं कि जिस प्रकार एक माता का वात्सल्य अपने पुत्र पर होने से पुत्र बहुत वर्षों के पश्चात् जब माता के पास आकर उसे नमस्कार करता है तब स्नेह के वश माता के स्तनों मे दूध झरता है अथवा स्तनों में दुग्ध आता है। यह उसी माता के समीप अन्य के पुत्र को लाया जाता तो उसके स्तनों मे कदापि दूध न तो आवेगा हि और न झरेगा ही। उसी प्रकार जिन की आत्मा में सारे जगत् के जीवों के लिए इस प्रकार वात्सल्य का सागर लहराता हो मानों समुद्र में जल। तो भला सोचिए क्यों न उनके शरीर का रक्त और मांस दुग्धवत् श्वेत होगा? अवश्य होगा। इसमें सन्देह को लेशमात्र भी स्थान नहीं है।

प्रकार के मानसिक, वाचिक अथवा कायिक खेद से रहित। इस प्रकार भगवान चार मूलातिशय, आठ प्रातिहार्य, चौंतीस अतिशय और पैंतीस वाणी के अतिशय युक्त होते हैं।

अरिहंत भगवान की उक्त लोकोत्तर एवं चित्तको चमत्कार करनेवाली विभूतियों के विषय में हमको यह आशंका हो सकती है कि—अरिहंत ऐसे भगवान वीतराग इतनी विभूतियों से युक्त थे ऐसा कैसे मानलिया जाय ? इसका निराकरण है कि अपन लोग कर्मावरण से आवरित होने से अपने स्वयं के ही वल पराक्रम को नहीं समझते हुये ऐसी बातों को सुनकर आश्चर्यान्वित हो चट से कह देते हैं कि ये तो असंभव हैं। परन्तु परम योगीन्द्रों इतनी विभूतियां होना असंभव नहीं है। जिस प्रकार हम विषयवासना के दास और स्वार्थ में मग्न हैं, वैसे वे नहीं होते। अतः उन्हें विषयवासना अपनी ओर नहीं खींच सकती। वे मेरु के समान अप्रकम्प्य होते हैं। उनके पास उक्त विभूतियों का होना कोई आश्चर्य नहीं है। वर्तमान युग में भी सामान्य योग साधना के साधक भी हमको आश्चर्यान्वित करने वाली महिमा वाले होते हैं। तो भला जो आत्माकी सर्वोच्चतम दशा को प्राप्त हो गये हैं, जिनके निकट किसी प्रकार की वासना नहीं हैं, उनके समीप ऐसी आश्चर्यजन्य विभूतियों का होना कोई असंभव वात नहीं है।

प्रश्न—ऐसे महामहिमाशाली अरिहंतों को अरि नाम शत्रुओं को और हंताणं याने मारनेवाले, इस संबोधन से क्यों संबोधित किया जाता है ?। यदि अपने शत्रु-ओंको मारनेवाले को अरिहंत कहा जाता है तो संसार के सब जीव इस संज्ञा को प्राप्त होवेंगे और जो डाकू तथा चोर आदि जितने भी अत्याचारी हैं, वे सब के सब भी इस संज्ञा को प्राप्त क्यों नहीं होवेंगे ? क्यों कि वे भी तो अपने शत्रुओं का ही संहार करते है और मित्रों का पालन करते हैं। अतः इस हिसाब से उन्हें भी हमारी समझसे तो अरिहंत इस संज्ञा से ही संबोधित करना चाहिये।

उत्तर—धन्यवाद महोदय आपको, एवं आपके सोचने के प्रकार को अभिनन्दन। आपने तो ऐसी बात करके अपनी बुद्धि का प्रदर्शन ही कर डाला। क्या शत्रुओं का नाश करने वाला अत्याचारी भी अरिहंत संज्ञा को प्राप्त होगा ? पर वास्तव में देखा जाय तो यह आपके द्वारा प्रदर्शित अर्थ अरिहंत से निकलता ही नहीं है। हमने आगे जो श्री आवश्यक निर्युक्ति और श्री विशेषावश्यक की गाथाएँ उध्धृत की हैं। उन में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा के कर्म रूप जो शत्रु उनका अत्यन्ता-भाव करनेवाले (पराजय करनेवाले) को अरिहंत कहा जाता है। उन को हम नमस्कार करते हैं। कहाँ आम और कहाँ आक ? क्या कभी आक भी आम्र कहलायगा ? कहाँ सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग अरिहंत और कहाँ अत्याचारी आतताई डाकू ? चिन्ता-मणि और पाषाण को एक समान कैसे गिना जायगा ? जो लोग इस प्रकार मनचाहा अर्थ लिखकर अपना अभिमत सिद्ध करने को सोचते हुवे वेकार का भ्रम खड़ा करते हैं। वे ज्ञात होता है। ममत्व के झुठे मोह में कर्मों का वन्ध ही प्राप्त करते हैं। श्रुत

अमर्मवेधितौदार्य्यं, धर्मार्थ प्रतिबद्धता ।
कारकाद्य विपर्य्यासो, विभ्रमादिवियुक्तता ॥६९॥

चित्रकृत्त्वमद्भुतत्वं, तथानतिविलम्बिता ।
अनेकजाति वैचित्र्यमारोपित विशेषता ॥७०॥

सत्यप्रधानता वर्णपद वाक्य विविक्तता ।
अव्युच्छित्तिरखेदित्वं पंचत्रिंशाच्च वाग्गुणा ॥७१॥

१ संस्कारवत्व–व्याकरणीय नियमों से युक्त (भाषा की दृष्टि से सब प्रकार के दोषों से रहित। २ औदात्य–उच्चस्वर से उच्चारित। ३ उपचार परीतता–ग्रामीण दोषों से रहित। ४ मेघगम्भीर–घोषत्व–मेघ के जैसे गम्भीर घोषयुक्त। ५ प्रतिनाद–विधायिता–प्रतिध्वनिसे युक्त [चारों ओर दूर तक गुंजित होनेवाली]। ६ दक्षिणत्व–सरलता युक्त। ७ उपनीत–रागत्व–मालकोशादि रागों से युक्त अर्थात् संगीत की प्रधानतावाली। ये सात अतिशय शब्द की अपेक्षा से होते हैं। ८ महार्थता–दीर्घार्थ वाली। ९ अव्याहतत्व–पूर्वापर विरोध से रहित (पहले कहा तथा बाद में कहा उस में किसी प्रकार का विरोध नहीं होना)। १०, शिष्टत्व–अभिमत सिद्धान्त प्रतिपादक और वक्ता की शिष्टता की सूचक। ११ संशयानामसम्भव–जिसके श्रवण से श्रोताजनों का संशय पैदा ही न हो। १२ निराकृतोऽन्योत्तरत्व–किसी भी प्रकार के दोष से रहित (जिस कथन में किसी प्रकार का दूषण न हो और न भगवान को वही दूसरी बार कहना पड़े)। १३, हृदयंगमता–श्रोताके अन्तःकरण को प्रमुदित करने वाली। १४ मिथ साकांक्षता–पदों और वाक्यों की सापेक्षता से युक्त। १५ प्रस्तावौचित्य–यथा वसर देश काल भाव के अनुकूल। १६ तत्वनिष्ठता–तत्वों के वास्तविक स्वरूप को धारण करने वाली। १७ अप्रकीर्ण–प्रसृतत्व–वहुविस्तार और विषयान्तर दोषों से रहित। १८ अस्वश्लाघान्यनिन्दिता–अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा इत्यादि दुर्गुण से रहित। १९ अभिजात्य–प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप भूमिकानुसारी। २० अतिस्निग्ध–मधुरत्व–घृतादि के समान स्निग्ध और शर्करादि के समान मधुर। २१ प्रशस्यता–प्रशंसा के योग्य। २२ अमर्मवेधिता–दूसरों के मर्म अथवा गोप्य को न प्रकाश करने वाली। २३ औदार्य–प्रकाशने योग्य अर्थ को योग्यता से प्रकाशित करने वाली। २४ धर्मार्थ प्रतिबद्धता–धर्म और अर्थ से युक्त। २५ कारकाद्यविपर्यास–कारक, काल, लिंग, वचन और क्रिया आदि के दोषों से रहित। २६ विभ्रमादि–वियुक्तता–विभ्रम विक्षेप आदि चित्त के दोषों से रहित। २७ चित्रकृत्व–श्रोताजनों को निरन्तर आश्चर्य पैदा करने वाली। २८ अद्भुतत्व–अश्रुतपूर्व। २९ अनतिविलम्बिता–अति विलम्ब दोष से रहित। ३० अनेकजातिवैचित्र्य–नाना प्रकार के पदार्थों का विविध प्रकार से निरूपण करने वाली। ३१ आरोपित विशेषता–अन्य के वचनों की अपेक्षा विशेषता दिखलाने वाली। ३२ सत्वप्रधानता–सत्वप्रधान एवं साहसिक पन से युक्त। ३३ वर्णपद वाक्य विविक्तता–वर्ण, पद, वाक्यों का विवेक, पृथक् पृथक् करने वाली। ३४ अव्युच्छित्ति प्रतिपाद्य विषय को अपूर्ण न रखने वाली। ३५ अखेदित्व–किंचित् भी

प्रकार के मानसिक, वाचिक अथवा कायिक खेद से रहित। इस प्रकार भगवान चार मूलातिशय, आठ प्रातिहार्य, चौंतीस अतिशय और पैंतीस वाणी के अतिशय युक्त होते हैं।

अरिहंत भगवान की उक्त लोकोत्तर एवं चित्तको चमत्कार करनेवाली विभूतियों के विषय में हमको यह आशंका हो सकती है कि—अरिहंत ऐसे भगवान वीतराग इतनी विभूतियों से युक्त थे ऐसा कैसे मानलिया जाय ? इसका निराकरण है कि अपन लोग कर्मावरण से आवरित होने से अपने स्वयं के ही बल पराक्रम को नहीं समझते हुये ऐसी बातों को सुनकर आश्चर्यान्वित हो चट से कह देते हैं कि ये तो असंभव हैं। परन्तु परम योगीन्द्रों इतनी विभूतियां होना असंभव नहीं है। जिस प्रकार हम विषयवासना के दास और स्वार्थ में मग्न हैं, वैसे वे नहीं होते। अतः उन्हें विषयवासना अपनी ओर नहीं खींच सकती। वे मेरु के समान अप्रकम्प्य होते हैं। उनके पास उक्त विभूतियों का होना कोई आश्चर्य नहीं है। वर्तमान युग में भी सामान्य योग साधना के साधक भी हमको आश्चर्यान्वित करने वाली महिमा वाले होते हैं। तो भला जो आत्माकी सर्वोच्चतम दशा को प्राप्त हो गये हैं, जिनके निकट किसी प्रकार की वासना नहीं हैं, उनके समीप ऐसी आश्चर्यजन्य विभूतियों का होना कोई असंभव बात नहीं है।

प्रश्न—ऐसे महामहिमाशाली अरिहंतों को अरि नाम शत्रुओं को और हंताणं याने मारनेवाले, इस संबोधन से क्यों संबोधित किया जाता है ? यदि अपने शत्रुओंको मारनेवाले को अरिहंत कहा जाता है तो संसार के सब जीव इस संज्ञा को प्राप्त होवेंगे और जो डाकू तथा चोर आदि जितने भी अत्याचारी हैं, वे सब के सब भी इस संज्ञा को प्राप्त क्यों नहीं होवेंगे ? क्यों कि वे भी तो अपने शत्रुओं का ही संहार करते है और मित्रों का पालन करते हैं। अतः इस हिसाब से उन्हें भी हमारी समझसे तो अरिहंत इस संज्ञा से ही संबोधित करना चाहिये।

उत्तर—धन्यवाद महोदय आपको, एवं आपके सोचने के प्रकार को अभिनन्दन। आपने तो ऐसी बात करके अपनी बुद्धि का प्रदर्शन ही कर डाला। क्या शत्रुओं का नाश करने वाला अत्याचारी भी अरिहंत संज्ञा को प्राप्त होगा ? पर वास्तव में देखा जाय तो यह आपके द्वारा प्रदर्शित अर्थ अरिहंत से निकलता ही नहीं है। हमने आगे जो श्री आवश्यक निर्युक्ति और श्री विशेषावश्यक की गाथाएँ उध्धृत की हैं। उन में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा के कर्म रूप जो शत्रु उनका अत्यन्ताभाव करनेवाले (पराजय करनेवाले) को अरिहंत कहा जाता है। उन को हम नमस्कार करते हैं। कहाँ आम और कहाँ आक ? क्या कभी आक भी आम्र कहलायगा ? कहाँ सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग अरिहंत और कहाँ अत्याचारी आतताई डाकू ? चिन्तामणि और पाषाण को एक समान कैसे गिना जायगा ? जो लोग इस प्रकार मनचाहा अर्थ लिखकर अपना अभिमत सिद्ध करने को सोचते हुवे बेकार का भ्रम खडा करते हैं। वे ज्ञात होता है। ममत्व के झुठे मोह में कर्मों का बन्ध ही प्राप्त करते हैं। श्रुत

केवली भद्रबाहुस्वामि, श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, विद्वद्शिरोमणी श्री हरिभद्र सूरि, वृत्तिकार श्री मलयगिरीजी, आदि अनेक पूर्वाचार्यों ने भी अरिहंत का यही अर्थ किया है। क्या यह असत्य है ? नहीं यह असत्य नहीं सत्य है। हम अपने अभिमत की पुष्टि करने के लिये जो कपोलकल्पित अर्थ करते हैं वह अप्रामाणिक है। जो लोग अरिहंत शब्द का मनमाना अर्थ कर उसमें अपने अवास्तविक तर्कों का क्षेपन करते हैं, उनको पूर्वाचार्यों के बनाए शास्त्रों का मनन करना चाहिये। मनन करते समय ममत्व और दृष्टिराग का पटल आखों से हटा लेना चाहिये। क्यों कि कामराग और स्नेह राग को हटाना तो सरल है, परन्तु दृष्टिराग बड़ी कठिनता से दूर होता है। तभी तो श्रीमद् हेमचन्द्र सूरिजी ने वीतराग स्तोत्र में लिखा है कि—

कामराग स्नेहरागावीषत्करनिवारणौ।
दृष्टिरागस्तु पापीयान्, दुरुच्छेद सतामपि ॥१०॥

यदि उक्त स्थिति वाले होकर सत्य का अवलोकन किया जाय तो अवश्य ही सत्य की प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न—अरिहंत, अरुहंत, और अरहंत ऐसे तीन पद व्याकरण से "अर्ह धातु से बनते हैं। तो फिर उन तीनों में से यहाँ अरिहंत ही क्यों लिया ? अरहंत और अरुहंत क्यों नहीं लिये ?

उत्तर—अरहंत और अरुहंत इन दो पदों का पाठभेद के रूप में कहीं कहीं उपयोग हुआ है। परन्तु वह अन्य अर्थों में। न की इस अर्थ में और नवकार में। श्री महानिशीथ सूत्र में अरिहंताण का ही प्रयोग है, नमस्कार के उपधान के अधिकार में। अरहंत और अरुहंत का अर्थ इस प्रकार है—

'अर्हन्ति देवादिकृता पूजामित्यर्हन्त '
अरहंत याने देवादि द्वारा पूजित।

न रोहति भूय संसारे समुत्पद्यते इत्यरु, संसारकारकाना कर्मणा निर्मूल कषित यात्। अजन्मनि सिद्धे।

संसार में पुन जो उत्पन्न नहीं होते हैं, उन्हें अरुह कहते है—कर्मो का समूल नाश करने से उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

उक्त दोनों पाठों से यह सिद्ध होता है कि अरहत याने पूजा के योग्य, और जिन्होंने समस्त कर्मों को निर्मूल कर दिया है वे अरुह याने सिद्ध। यहाँ जरा ममत्व को छोडकर सोचो कि जो आत्मा कुछ काल पूर्व हमारे जसे ही सकर्मा एवं संसारी आत्मा थी। वही पुजा के योग्य कैसे बन गई ? तब हम इसके उत्तर में झट कह देंगे कि—अनादि काल से आत्मा के साथ जो कर्मों का मैल था याने आत्मा के गुणों के घातक जो कर्म थे उनको सम्यग् क्रियानुष्ठानों द्वारा आत्मा से दूर कर दिये

जिससे वे पूजन के योग्य हो जाती हैं। कर्म आत्मा के दुश्मन थोड़े ही हैं जो उनका हनन किया जाता है?

क्या हम आत्मा के ज्ञानादि गुणों के घातक कर्मों को घातक नहीं मानते? जो कह दिया जाता है कि कर्म आत्मा के दुश्मन नहीं हैं। कैसे नहीं हैं? यहीं समझ नहीं पड़ती। शास्त्रकारों ने तो कर्मों को आत्मा के दुश्मन कहा ही है। क्यों कि कर्म आत्मा के ज्ञानादि गुणों को आवरित जो करते हैं। शास्त्रों में लिखा है कि—

"कम्मरिवु जएण सामाइयं लब्भति"

श्री आवश्यक[1] सूत्र चूर्णि १ : अ.

"कामक्रोधलोभमानमोहाख्ये आन्तरशत्रुषट्के"

श्री सूयगडांग[2] सूत्र।

रागद्वेष कषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गघातिकर्म शत्रू जितवन्तो जिनः"

श्री जीवाभिगमसूत्र[3] २ प्रतिपत्ति

निघ्नन्परीषहचमूमुपसर्गान् प्रतिक्षिपन्।
प्राप्तोऽसि शमसौहित्य, महतां कापि वैदुषी ॥१॥

अरक्तो भुक्तवान्मुक्तिमद्विष्टो हतवान्द्विषः
अहो! महात्मनां कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभः ॥२॥

श्री वीतराग स्तोत्र ११ वाँ प्रकाश।

यदि हमारे यहाँ कर्मों को आत्मा के शत्रु नहीं माने जाते तो उक्त प्रमाण आते कहा से? इन शत्रुओं को पराजित करने वाली आत्मा को हम अरिहंत कहते हैं। जो आत्मा कभी संसार में उत्पन्न होने वाली नहीं है। जिसने संसारके कारण भूत कर्मों को निर्मूल कर दिया है, वे अजन्मा अर्थात् सिद्ध है। याने अरुह हैं। अरुह यह नाम सिद्ध भगवान का होने से अघनघाति चार कर्म शेष हैं जिनके ऐसे अरिहंत का यह नाम नहीं हो सकता। नाम गुण निष्पन्न होना चाहिये। अतः इसी नियमानुसार अरिहंतों का अरिहंत यह नाम गुण निष्पन्न और सार्थक होने से नमस्कार मंत्र के आदि के पद में यही आया है न कि अरहंताणं और अरुहंताणं।

प्रश्न :— अरिहंतों की अपेक्षा सिद्ध भगवान आठों कर्मों पर विजय करके परम आदर्श, को प्राप्त कर चुके हैं। अतः अरिहंतों से पहले सिद्धों को नमस्कार करना चाहिये न? तो फिर अरिहंतों को पहले नमस्कार क्यों किया गया?

---

१ श्री अभिधान राजेन्द्र कोश तृतीय भाग पृ. ३४१

२ श्री अभिधान राजेन्द्र कोश प्रथम भाग पृ. ७६१

३ श्री अभिधान राजेन्द्र कोश चौथा भाग पृ १४५९

उत्तर —सिद्ध भगवन्तों से पहले अरिहन्त भगवान को नमस्कार करने का मतलब यह है कि—श्री अरिहन्त भगवान का उपकार सिद्ध भगवान की अपेक्षा अधिक है। श्री अरिहन्त भगवान ही हम को सिद्ध भगवान की पहचान कराते हैं। सिद्ध भगवान और अरिहन्त भगवान दोनों ने आत्म विकास तो कर लिया है, परन्तु सिद्ध भगवान आठों कर्मों का सर्वथा क्षय कर के मोक्ष में (लोकाग्र पर) जा कर विराजमान हो गये हैं। और अरिहन्त भगवान सशरीरी अवस्था में विचरण कर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं, जिसके द्वारा कर्मों से सन्तप्त प्राणी वीतराग शासन को प्राप्त कर आत्मकल्याण साधते हैं। अतः सर्व प्रथम अरिहंतों को नमस्कार किया गया है। अरिहंतों को नमस्कार करने के पश्चात् सिद्धों को नमस्कार किया जाना इस रहस्य का द्योतक है कि पहले अरिहंतों को नमस्कार करके वे जिस अवस्था को शेष रहे अघनघाति चार कर्मों (आयु नाम गोत्र और अन्तराय) का क्षय करके प्राप्त होनेवाले हैं, उस सिद्धावस्था का नमस्कार किया जाता है। श्री अरिहंत भगवान संसारी जीवों के लिये धर्म सार्थवाह हैं याने जिस प्रकार सार्थवाह अपने साथ के लोगों को उनकी आजीविकोपार्जन के लिये उन्हें समस्त प्रकार की सुविधायें जुटा देता है। उसी प्रकार संसार में निजआत्म साधना से जो च्युत हो गये हैं, उन्हें आत्मसाधना में लगा देते हैं। वे संसार से तिरते हैं और दूसरों को तिराते हैं। अतः उन्हें तिन्नाणं तारयाणं विशेषण दिया गया है। सिद्ध भगवान अशरीरी होने से तथा लोकाग्र पर जाकर विराजमान हो गये हैं, अतः वे हमको किसी प्रकार का उपदेश नहीं देते अतः हम सिद्धभगवन्तों से पहले अरिहंत भगवान को नमस्कार करते हैं। इस में सिद्ध भगवन्तों की किसी प्रकार से आशातना भी नहीं होती।

प्रश्न —श्री अरिहंत भगवान कैसे होते हैं ?।

उत्तर —श्री अरिहंत भगवान ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणी, वेदनीय और मोहनीय इन चार घनघाती कर्मों का नाश कर के केवलदर्शन-केवलज्ञान को प्राप्त कर सर्वज्ञ बने हुये। तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले, द्वादश गुणों से विराजित, चौंतीस अतीशयवंत। पैंतीस गुणयुत वाणी के प्रकाशक, भव्य जीवों को ज्ञानचक्षु रूप चक्षुयें देनेवाले। प्रशस्त मार्ग दिखाने वाले। स्वयं कर्मों को जीतने वाले और दूसरों को जिताने वाले श्री अरिहंत भगवान होते हैं। श्री मद्हरिभद्रसूरीश्वर अष्टक प्रकरण की श्री अभयदेव सूरिकृत टीका के पृ २ पर लिखा है कि—

> रागोऽङ्गनासङ्गमनानुमेयो द्वेषोद्विषद्दारण हेतुगम्यः ।
> मोहः कुवृत्तागम दोषसाध्यो नो यस्य देवः स तु सत्यमर्हन् ॥

जिस देव को स्त्री संग से अनुमान करने योग्य राग नहीं है, जिस देव को शत्रु के नाश करने वाले शस्त्र के संग अनुमान करने योग्य द्वेष नहीं है, जिस देव को दुश्चरित दोष से अनुमान करने योग्य मोह नहीं है, वह ही सच्चा देव अर्हन् (अरिहंत) है। अर्थात् राग द्वेष और मोह से जो रहित है, वही देव मानने योग्य है।

श्री अरिहंत भगवान के स्वरूप का विशेप विवरण श्री आवश्यक सूत्र श्री विशेपावश्यक भाष्य और श्री वीतराग स्तोत्र आदि से जानना चाहिये।

अरिहंत के नाम—

अर्हन् जिनः पारगतस्त्रिकालविद्
क्षीणाष्टकर्मा परमेष्ठ्यधीश्वरः ॥
शम्भुः स्वयम्भूर्भगवान् जगत्प्रभु-
स्तीर्थङ्करस्तीर्थकरो जिनेश्वरः ॥ २४ ॥

स्याद्वाद्यभयदसार्वाः सर्वज्ञः सर्वदर्शि केवलिनौ।
देवाधिदेवबोधिद पुरुपोत्तमवीतरागाप्ताः ॥ २५ ॥

अर्हन्, जिनः, पारगत, त्रिकालविद्, क्षीणाष्टकर्मा, परमेष्ठि, अधीश्वर, शम्भु, स्वयंभू, भगवान, जगत्प्रभु, तीर्थंकर, तीर्थकर, जिनेश्वर, स्याद्वादि, अभयद, सार्व, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, केवली, देवाधिदेव, बोधिद, पुरुषोत्तम, वीतराग और आप्त।

ऐसे परम महिमावन्त श्री अरिहंत भगवान की महिमा का गान करते हुये जैनाचार्यवर्य श्रीमद् राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ने श्री सिद्धचक्र पूजा में लिखा है कि—

तित्थयरं नाम पसिद्धिजायं, णरामरेहिं पणयं हि पायं।
संपुण्णणाणं पयहं विसुद्धं, नमामि सोहं अरिहन्तबुद्धं ॥ १ ॥
(तीर्थंकर नाम्ना प्रसिध्दिं प्राप्तं नरामरैः यस्य प्रणतं हि पादम्।
सम्पूर्णज्ञान युक्तं विशुद्धं नमामि सोऽहमरिहन्तं बुद्धम् ॥)

तीर्थंकर इस नाम से जो प्रसिध्दि को प्राप्त हुवे हैं, जिन के चरण कमलों को मनुष्य और देवता प्रणाम करते हैं। जो सम्पूर्ण ज्ञानी हैं, स्वयं विशुध्द है, वे ही अरिहन्त बुध्द हैं। उन्हीं को मैं नमस्कार करता हूँ।

'सिद्ध'[1]—

ध्मातं सितं येन पुराण कर्म यो वा गतो निर्वृत्ति सौधमूर्ध्नि
ख्यातोनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो. यः सोऽस्तु सिध्दः कृतमंगलो मे ॥

जिसने बहुत भवों के परिभ्रमण से बांधे हुवे पुराने कर्मों को भस्मीभूत किये हैं,

१ सिध् धातु से निष्ठा" ।३।२।१०२। सूत्र से क्त प्रत्यय आने पर सिध् + क्त बना। लशक्वतद्धिते ।१।३।८। सूत्र से ककार की इत् संज्ञा तथा तस्य लोपः" सूत्र से ककार का लोप होने पर सिध् + त रहा झषस्तथोर्धोऽधः" ।८।२।४०। सूत्र से तकार का धकार तथा झलां जश् झशि" ।८।४।५३। सूत्र से सिध् के धकार का दकार तथा सब को मिलाने पर सिद्ध ऐसा रूप बनता है। सिद्ध शब्द से शक्तार्थवषट् नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधाभिः" ।२।२।२५। सूत्र से नमः के योग में चतुर्थ विभक्ति होती है। अतः चतुर्थी का भ्यस प्रत्यय आया और चतुर्थ्याः षष्ठी: ।८।३।१३१। से भ्यस् के स्थान पर आम आदा सिद्ध + आम जस् शस् ङसित्तो-दो द्वामि दीर्घः ।८।३।१२। सूत्र से अजन्तांग को दीर्घ तथा टा आमोर्णः सूत्र से नकार का णकार तथा मोनुस्वारः ।८।१।२३। से मकार का अनुस्वार होने पर सिद्धाण-सिद्धाणं बनता है।

उत्तर —सिद्ध भगवन्तों से पहले अरिहन्त भगवान को नमस्कार करने का मत लब यह है कि-श्री अरिहंत भगवान का उपकार सिद्ध भगवान की अपेक्षा अधिक है। श्री अरिहंत भगवान ही हम को सिद्ध भगवान की पहचान करवाते हैं। सिद्ध भगवान और अरिहंत भगवान दोनों ने आत्म विकास तो कर लिया है, परन्तु सिद्ध भगवान आठों कर्मों का सर्वथा क्षय कर के मोक्ष में (लोकाग्र पर) जा कर विराजमान हो गये हैं। और अरिहंत भगवान सशरीरी अवस्था में विचरण कर धर्मतीर्थ का का प्रवर्तन करते हैं, जिसके द्वारा कर्मों से सन्तप्त प्राणी वीतराग शासन को प्राप्त कर आत्मकल्याण साधते हैं। अतः सर्व प्रथम अरिहंतों को नमस्कार किया गया है। अरिहंतों को नमस्कार करने के पश्चात् सिद्धों को नमस्कार किया जाना इस रहस्य का द्योतक है कि पहले अरिहंतों को नमस्कार करके वे जिस अवस्था को शेष रहे अघनघाति चार कर्मों (आयु नाम गोत्र और अन्तराय) का क्षय करके प्राप्त होनेवाले हैं, उस सिद्धावस्था को नमस्कार किया जाता है। श्री अरिहंत भगवान संसारी जीवों के लिये धर्म सार्थवाह हैं याने जिस प्रकार सार्थवाह अपने साथ के लोगों को उनकी आजीवीकोपार्जन के लिये उन्हें समस्त प्रकार की सुविधायें जुटा देता है। उसी प्रकार संसार में निजआत्म साधना से जो च्युत हो गये हैं, उन्हें आत्मसाधना में लगा देते हैं। वे संसार से तिरते हैं और दूसरों को तिराते हैं। अतः उन्हें तिन्नाणं तारयाणं विशेषण दिया गया है। सिद्ध भगवान अशरीरी होने से तथा लोकाग्र पर जाकर विराजमान हो गये हैं, अतः वे हमको किसी प्रकार का उपदेश नहीं देते अतः हम सिद्धभगवन्तों से पहले अरिहंत भगवान को नमस्कार करते हैं। इस में सिद्ध भगवन्तों की किसी प्रकार से आशातना भी नहीं होती।

प्रश्न —श्री अरिहंत भगवान कैसे होते हैं ?।

उत्तर —श्री अरिहंत भगवान ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणी, वेदनीय और मोहनीय इन चार घनघाती कर्मों का नाश कर के केवलदर्शन-केवलज्ञान को प्राप्त कर सर्वज्ञ बने हुये। तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले, द्वादश गुणों से विराजित, चौंतीस अतीशयवंत। पैंतीस गुणयुक्त वाणी के प्रकाशक, भव्य जीवों को ज्ञानचक्षु रूप चक्षु के देनेवाले। प्रशस्त मार्ग दिखलाने वाले। स्वयं कर्मों को जीतने वाले और दूसरों को जिताने वाले श्री अरिहंत भगवान होते हैं। श्री मद्हरिभद्रसूरीशकृत अष्टक प्रकरण की श्री अभय देव सूरिकृत टीका के पृ. २ पर लिखा है कि—

> रागोऽङ्गनासङ्गमनानुमेयो द्वेषोद्विपद्दारण हेतुगम्यः ।
> मोहः कुवृत्तागम दोषसाध्यो नो यस्य देवः सतुसत्यमर्हन् ॥

जिस देव को स्त्री संग से अनुमान करने योग्य राग नहीं है, जिस देव को शत्रु के नाश करने वाले शस्त्र के संग अनुमान करने योग्य द्वेष नहीं है, जिस देव को दुश्चरित दोष से अनुमान करने योग्य मोह नहीं है, वह ही सच्चा देव अर्हन् (अरिहंत) है। अर्थात् राग द्वेष और मोह से जो रहित है, वही देव मानने योग्य है।

अनन्त चारित्र को प्राप्त करती है। उसको अनन्त चारित्र कहते है।

५ अक्षय स्थितिः—आयुष्य कर्म की स्थिति का पूर्ण रूप से क्षय होने पर सिध्द जीवों को जन्म एवं मरण नहीं होने से वे सदा स्वस्थिति में ही रहते हैं। उसे अक्षय स्थिति कहते हैं।

६ अगुरु लघुत्वः— गोत्र कर्म का अन्त होने पर आत्मा में न गुरुत्व और न लघुत्व ही रहता है। इसलिए उसे अगुरुलघु कहते हैं।

७ अरूपित्वः—नाम कर्म का अन्त होने पर आत्मा सब प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म रूपों से मुक्त हो कर अरूपित्व प्राप्त करती है। अरूपित्व अतीन्द्रीय याने इन्द्रियां जिसे ग्रहन करने में असमर्थ रहती हैं, ऐसी अग्राह्य वस्तु को अरुपी कहते है।

८ अनन्त वीर्यः—विघ्नरूप अन्तराय कर्म का क्षय होने से आत्मा अनन्तवीर्य प्राप्त करती है।

इन आठ गुणों से युक्त आत्मा सिद्ध कहलाती है। सिद्धात्माओं का संसार में पुनरागमन नहीं होता, क्योंकि संसार भ्रमण के कारणभूत आठों कर्म का आत्मा से सर्वथा जुदापन जो हो गया है। वाचक मुख्य श्रीमद् उमास्वातिजी महाराज ने श्री तत्वार्थाधिगम सूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य के अन्त में जो कारिकाएं लिखी है उन्हों में फरमाया है कि—

> दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः।
> कर्म बीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः॥

जिस आत्मा ने एक वार कर्ममल से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लिया है, वह पुनः संसार में कैसे आ सकती है ?। जिस प्रकार धान्य कण दग्ध होने पर पुनः वह नहीं ऊगता उसी प्रकार कर्म बीज के भस्म होने पर आत्मा भी पुनः उत्पत्ति और नाश को याने जन्म मरण को नहीं करती। श्री आवश्यक निर्युक्ति में सिद्ध भगवान का वर्णन इस प्रकार आया है—

> निच्छिन्न सव्व दुक्खा जाइजरामरणवंध विमुक्का।
> अव्वावाहं सुक्खं अणु हवंती सासयं सिध्दा॥

सब दुःखों को नाश करके, जन्म जरामरण और कर्मबन्ध से मुक्त हुवे तथा किसी भी प्रकार की बाधाओं से रहित ऐसे शाश्वत सुख का अनुभव करनेवाले 'सिध्द' कहलाते हैं।

सिध्दों के नाम -

> सिद्ध त्ति य बुध्द त्ति य, पारगय त्ति य परंपरगय त्ति।
> उम्मुक्क कम्म कवया, अजरा अमरा असंगाय॥

अथवा जो मुक्ति रूप महल के उच्च भाग पर जा चुके हैं, या जो प्रख्यात हैं, शास्ता हैं, कृतकृत्य हैं, वे सिद्ध मुझे मंगलकारी हों।

जिन्हों ने संसार भ्रमण मूलक समस्त कर्मों को पराजित कर दिये हैं। जो मोक्ष को प्राप्त हो गये हैं, जिन का पुनर्जन्म नहीं होता, उनको सिद्ध कहे गये हैं। ऐसे सिद्ध भगवान नमस्कार मन्त्र के द्वितीय–पद पर विराजित हैं। श्री आवश्यक निर्युक्ति में ग्यारह प्रकार के सिद्ध इस प्रकार बताए हैं—

कम्मे सिप्पे य विज्जाए, मन्ते जोगे य आगमे।
अत्थ जत्ता अभिप्पाए, तवे कम्मक्खए इय॥

१ कर्म सिद्ध, २ शिल्प सिद्ध, ३ विद्या सिद्ध, ४ मन्त्र सिद्ध, ५ योग सिद्ध, ६ आगम सिद्ध, ७ अर्थ सिद्ध, ८ यात्रा सिद्ध, ९ अभिप्राय सिद्ध, १० तप सिद्ध, और ११ कर्मक्षय सिद्ध। इन सब सिद्धों में से यहाँ कर्म क्षय सिद्ध ही लिये गये हैं, न कि कर्मसिद्धादि अन्य। सिद्ध भगवान ज्ञानावरणीयादि चार घनघाति और आयु आदि चार अघनघाति कर्मों का सर्वथा क्षय करके सम्पूर्ण रूपेण मुक्तात्मा हैं। उनके आठ गुण इस प्रकार हैं—

नाणं च दसणं चिय अव्वाबाह तहेव सम्मत्तं।
अक्खयठिई अरुवी अगुरुलहूवीरिय हवइ॥

१ अनन्तज्ञान —ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय होने पर आत्मा को केवल ज्ञान प्राप्त होता है। जिससे वह संसार के समस्त चराचर पदार्थों को हस्तामल कवत् प्रत्यक्ष जान सकता है। जो अप्रतिपातिज्ञान भी कहलाता है।

२ अनन्तदर्शन —पांचों प्रकृतियों सहित दर्शनावरणीय कर्म का क्षय होने पर आत्मा को केवल दर्शन प्राप्त होता है। जिससे वह लोक के समस्त पदार्थों को देख सकता है।

३ अनन्त अव्याबाध सुख —वेदनीय कर्म का सर्वथा प्रकारेण क्षय होने से आत्मा अनिर्वचनीय अनन्त सुख प्राप्त करती है। उसे अनन्त अव्याबाध सुख कहा जाता है। याने जो सुख पौद्गलिक संयोग से मिलता है, उसको संयोगिक सुख कहा जाता है। इस में किसी न किसी प्रकार की विघ्न परम्परा का आना हो सकता है। किन्तु जो सुख पौद्गलिक संयोग के बिना प्राप्त हुआ है उसमें कदापि किसी प्रकार के विघ्नों का आना संभव ही नहीं होने से यह अनन्त अव्याबाध सुख कहा जाता है।

४ अनन्त चारित्र —दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय (जो कि आत्मा के तत्त्वश्रद्धान गुण और वीतरागत्व प्राप्ति में विघ्नरूप हैं) के क्षय होने पर आत्मा

अनन्त चारित्र को प्राप्त करती है। उसको अनन्त चारित्र कहते हैं।

५ अक्षय स्थितिः—आयुष्य कर्म की स्थिति का पूर्ण रूप से क्षय होने पर सिध्द जीवों को जन्म एवं मरण नहीं होने से वे सदा स्वस्थिति में ही रहते हैं। उसे अक्षय स्थिति कहते हैं।

६ अगुरु लघुत्वः– गोत्र कर्म का अन्त होने पर आत्मा में न गुरुत्व और न लघुत्व ही रहता है। इसलिए उसे अगुरुलघु कहते हैं।

७ अरूपित्वः—नाम कर्म का अन्त होने पर आत्मा सब प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म रूपों से मुक्त हो कर अरूपित्व प्राप्त करती है। अरूपित्व अतीन्द्रीय याने इन्द्रियां जिसे ग्रहन करने में असमर्थ रहती हैं, ऐसी अग्राह्य वस्तु को अरुपी कहते है।

८ अनन्त वीर्यः–विघ्नरूप अन्तराय कर्म का क्षय होने से आत्मा अनन्तवीर्य प्राप्त करती है।

इन आठ गुणों से युक्त आत्मा सिद्ध कहलाती है। सिद्धात्माओं का संसार में पुनरागमन नहीं होता, क्योंकि संसार भ्रमण के कारणभूत आठों कर्म का आत्मा से सर्वथा जुदापन जो हो गया है। वाचक मुख्य श्रीमद् उमास्वातिजी महाराज ने श्री तत्वार्थाधिगम सूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य के अन्त में जो कारिकाएं लिखी है उन्हों में फरमाया है कि—

दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्म बीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः॥

जिस आत्मा ने एक बार कर्ममल से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लिया है, वह पुनः संसार में कैसे आ सकती है?। जिस प्रकार धान्य कण दग्ध होने पर पुनः वह नहीं ऊगता उसी प्रकार कर्म बीज के भस्म होने पर आत्मा भी पुनः उत्पत्ति और नाश को याने जन्म मरण को नहीं करती। श्री आवश्यक निर्युक्ति में सिद्ध भगवान का वर्णन इस प्रकार आया है—

निच्छिन्न सव्व दुक्खा जाइजरामरणबंध विमुक्का।
अव्वावाहं सुक्खं अणु हवंती सासयं सिध्दा॥

सब दुःखों को नाश करके, जन्म जरामरण और कर्मबन्ध से मुक्त हुवे तथा किसी भी प्रकार की बाधाओं से रहित ऐसे शाश्वत सुख का अनुभव करनेवाले 'सिध्द' कहलाते हैं।

सिध्दों के नाम -

सिद्ध त्ति य बुध्द त्ति य, पारगय त्ति य परंपरगय त्ति।
उम्मुक्क कम्म कवया, अजरा अमरा असंगाय॥

सिध्द, बुध्द, पारगत, परस्परागत, कर्मकवचोन्मुक्त, अजर अमर और असंगत ये नाम सिध्द भगवन्तों के हैं।

आचार्य :—

चरम श्रुत केवली भगवान श्री भद्रबाहु स्वामी ने श्री आवश्यक सूत्र निर्युक्ति में आचार्य का लक्षण लिखा है कि—

पंच विहं आयारं, आयरमाणा तहा पभायां संता।
आयारं दंसंता, आयरिया तेण वुच्चन्ति॥

पांच प्रकार के आचार को स्वयं पालन करनेवाले, प्रयत्न पूर्वक दूसरों के सामने उन आचारों को प्रकाशित करनेवाले तथा श्रमणों को उन पांच प्रकार के आचारों को दिखलाने (उनके पालनार्थ उत्सर्गापवादादि विधिमार्गों का गूढार्थों को प्रयत्न पूर्वक समझाने) वाले "आचार्य[1]" महाराज कहलाते हैं।

अरिहंत भगवान के द्वारा प्रकाशित तत्वों का जनता में कुशलता पूर्वक प्रसार करना, संघ को उनके दिखलाए मार्ग पर चलाना, आत्मसाधक मुनियों को सारणा वारणा चोयणा पडिचोयणा द्वारा शिक्षा देना यह कार्य आचार्य महाराज का होता है। आचार्य महाराज स्व-पर सिद्धान्त निपुण समयज्ञ आचारवान् द्रव्य क्षेत्र काल भाव के ज्ञाता और प्रकृति से सौम्य होते हैं। सांसारिक प्राणियों के लिये आचार्य महाराज भाव वैद्य हैं। जिस प्रकार भयंकर से भयंकर रोगों से आक्रान्त रोगी कुशल वैद्य से रोग की उपशमन कर्ता औषधी लेकर पथ्यापथ्य का जैसा वैद्यने कहा वैसा पालन कर आहार विहार में सावधानता रख कर थोडे समय में ही रोगी रोग से मुक्त

---

१ आयरियाणं (आचार्येभ्यः)

चर् धातु से आङ् उपसर्ग लगने पर आङ्+चर् बना। "लशक्वतद्धिते" सूत्र से ङ् की इत् संज्ञा और "तस्यलोपः" सूत्र से ङ् का लोप आचार बना "ऋहलोर्ण्यत्"। ।३।१।१२४। सूत्र से ण्यत् प्रत्यय हुआ आचर+ण्यत् बना "चुटू" १।३।७। सूत्र से ण् की इत् संज्ञा तथा त् की "हलन्त्यम्" १।३।३। सूत्र से इत् संज्ञा और दोनो का "तस्यलोपः" से लोप होने पर आचर्+य बना। "अत उपधायाः" ७।२।११६। सूत्र से वृध्दी होने पर तथा सबका सम्मेलन करने पर "अचतुर्मिवका न्यायेन रेफस्योर्ध्वगमनम्" न्याय से रेफ् का ऊर्ध्वगमन होने पर सिद्ध रूप आचार्य बनता है।

"स्याद् भव्य चैत्य चौर्य समेषु यात्" ८।२।१०७। सूत्र से यकार से पूर्व इत् का आगम तथा अनुबन्ध का लोप होने पर इकी रेफ् में मिलाने से आचारिय बना। "क ग च ज त द पयवां प्रायो लुक्" ८।१।१७७ सूत्र से च कारका लोप "आचार्येचोच" ८।१।७३। सूत्र से के लोप होने पर शेष रहे आ के स्थान पर अत्। अवर्णोयः श्रुति। ८।१।१८० सूत्र से अ के स्थान पर यकार होने पर आयरिय बनता है। फिर नम के योग में 'शक्तार्थवषड्नम स्वस्ति स्वधाभिः २।२।२५। सूत्र से चतुर्थी का भ्यस आया और चतुर्थ्या षष्ठी सूत्र से भ्यस के स्थान पर आम आया आयरिय + आम हुआ। जस शस् ङ सित्तो दो आमि दीर्घे। सूत्र से अकारान्त को दीर्घ। टा आमोर्णः आम के आ का ण और मोऽनुस्वार से अन्त्य मकार का अनुस्वार होने आयरियाणं होता है।

होता हैं। उसी प्रकार मिथ्यात्व रूप भयंकर रोग से आक्रान्त प्राणियों को भाववैद्य आचार्य महाराज सम्यक्त्व रूप औषध धर्मरूप (जिन वचन रूप) धारोष्ण दूध में मिला कर देते हैं। राग द्वेष क्रोध मान माया और लोभ से बचने रूप पथ्य दिखला कर उन्हें कर्म रूप रोग से मुक्त करने-करवाते हैं। कर्मों के आवरण से आवरित-सांसारिक प्राणियों को जिन वीतराग भाषित तत्व रूप दीपक देकर सन्मार्गगामी बनाते हैं। जीवन में जहाँ कटुता, कलह, धंकाल, विकार, ईर्ष्या द्रोहादि घुस कर महानतम अनर्थों का जाल फैलाते हैं। वहाँ आचार्य महाराज इन विचारों के द्वारा उत्पन्न अशान्ति की ज्वाला को वीतराग प्रकाशित तत्वौषध देकर शान्त करते हैं। ऐसे जिनेन्द्र वचनानुसार चारित्र धर्म के पालक सद्धर्म के निर्भय वक्ता, समयज्ञ एवं स्व-पर समय निपुण आचार्य को श्री गच्छाचार पयन्नामें तीर्थंकर की उपमा दी गई है—

'तित्थयर समो सूरि, सम्मं जो जिणमयं पयासेइ'

याने जो आचार्य भले प्रकार से जिनेन्द्रधर्म की प्ररूपणा करता है, वह तीर्थंकर के समान है। श्री महानिशीथ सूत्र के पांचवे अध्ययन में इसी आशय का कथन आया है कि—

"से भयवं ? किं तित्थयर संतियं आणं नाइक्कमिज्जा उदाहु आयरिय संतियं ? गोयमा ? चउविहा आयरिया भवन्ति, तं जहा—नामायरिया, ठवणायरिया, दव्वायरिया, भावायरिया तत्थ णं जे ते भावायरिया ते तित्थयर समाचेव दट्ठव्वा, तेसिं संतिय आणं नाइक्कमेज्ज त्ति"

हे भगवन् ? तीर्थंकर सम्बन्धी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता कि आचार्य सम्बंधि ? गौतम ? नामाचार्य, स्थापनाचार्य, द्रव्याचार्य और भावाचार्य इस प्रकार चार प्रकार के आचार्य कहे हैं। उनमें से भावाचार्य तीर्थंकर समान होने से उनकी आज्ञा का कदापि उल्लंघन नहीं करना।

इस प्रकार आचार्य शासन के आधार स्तम्भ एवं परम माननीय हैं। आचार्य महाराज के छत्तीस गुण शास्त्रों में इस प्रकार आये हैं—

पंचिंदिय-संवरणो, तह नवविह बम्भचेर गुत्तिधरो।
चउविह कसाय मुक्को, इअ अट्ठारस गुणेहिं संजुत्तो ॥ १ ॥

पंच महव्वय जुत्तो, पंचविहायार पालण समत्थो।
पंच समिओ ति गुत्तो, छत्तीस गुणो गुरु मज्झ ॥ २ ॥

पांचों इन्द्रियों को वश में रखने वाले अर्थात् स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय, और श्रोत्रेन्द्रिय इन पांचों को २३ विकारों से संवृत करने वाले, नवप्रकार की ब्रह्मचर्य-गुप्ती के धारक। चारों कषायों से मुक्त। इन अठारह गुणों से युक्त तथा सर्वतः प्राणातिपात विरमण, सर्वतः मृषावाद विरमण, सर्वतः अदत्तादान विरमण,

सिध्द, बुध्द, पारगत, परम्परागत, कर्मकवचोन्मुक्त, अजर अमर और असंगत ये नाम सिध्द भगवन्तों के हैं।

आचार्य :—

चरम श्रुत केवली भगवान श्री भद्रबाहु स्वामी ने श्री आवश्यक सूत्र निर्युक्ति में आचार्य का लक्षण लिखा है कि—

> पंच विहं आयारं, आयरमाणा तहा पभाया संता।
> आयारं दंसंता, आयरिया तेण वुच्चन्ति॥

पांच प्रकार के आचार को स्वयं पालन करने वाले, प्रयत्न पूर्वक दूसरों के सामने उन आचारों को प्रकाशित करने वाले तथा श्रमणों को उन पांच प्रकार के आचारों को दिखलाने (उनके पालनार्थ उत्सर्गापवादादि विधिमार्गों का गूढार्थों को प्रयत्न पूर्वक समझाने) वाले "आचार्य" महाराज कहलाते है।

अरिहंत भगवान के द्वारा प्रकाशित तत्वों का जनता में कुशलता पूर्वक प्रसार करना, संघ को उनके दिखलाए मार्ग पर चलाना, आत्मसाधक मुनिवरों को सारणा वारणा चोयणा पडिचोयणा द्वारा शिक्षा देना यह कार्य आचार्य महाराज का होता है। आचार्य महाराज स्व-पर सिद्धान्त निपुण समयज्ञ आचारवान् द्रव्य क्षेत्र काल भाव के ज्ञाता और प्रकृति से सौम्य होते हैं। सांसारिक प्राणियों के लिये आचार्य महाराज भाव वैद्य हैं। जिस प्रकार भयंकर से भयंकर रोगों से आक्रान्त रोगी कुशल वैद्य से रोग की उपशमन कर्ता औषधी लेकर पथ्यापथ्य का जैसा वैद्य ने कहा वैसा पालन कर आहार विहार में सावधानता रख कर थोडे समय में ही रोगी रोग से मुक्त

---

१ आयरियाणं (आचार्येभ्य.)

चर् धातु से आङ् उपसर्ग लगने पर आङ्+चर् बना। "हलन्त्यम्" सूत्र से ङ् की इत् संज्ञा और "तस्यलोपः" सूत्र से ङ् का लोप आचार बना "ऋहलोर्ण्यत्"। ।३।१।१२४। सूत्र से ण्यत् प्रत्यय हुआ आचर+ण्यत् बना "चुटू" १।३।७। चू की इत् संज्ञा तथा त् की "हलन्त्यम्" १।३।३। सूत्र से इत् संज्ञा और दोनो का "तस्यलोपः" से लोप होने पर आचर्+य बना। "अत उपधायाः" ७।२।११६। सूत्र से वृद्धी होने पर तथा सबका सम्मेलन करने पर "अचनुत्मिका न्यायेन रेफस्योर्ध्वगमनम्" न्याय से रेफ का ऊर्ध्वगमन होने पर सिद्ध रूप आचार्य बनता है।

"स्याद् भव्य चैत्य चौर्य समेषु यात्" ८।२।१०७। सूत्र से यकार से पूर्व इत् का आगम तथा अनुबन्ध का लोप होने पर इको रेफ् में मिलाने से आचारिय बना। "क ग च ज त द प य वा प्रायो लुक्" ८।१।१७७ सूत्र से च कारका लोप "आचार्येचोच" ८।१।७३। सूत्र से के लोप होने पर शेष रहे आ के स्थान पर अत्। अवर्णोय श्रुति। ८।१।१८० सूत्र से अ के स्थान पर यकार होनें पर आयरिय बनता है। फिर आम के योग में 'चतुर्थ्यर्थस्य षष्ठी' सूत्र से चतुर्थी का भ्यस आया और चतुर्थ्या षष्ठी सूत्र से भ्यस के स्थान पर आम आया आयरिय+आम हुआ। जस शस् ङसि त्तो दो द्वामि दीर्घं। सूत्र से अकारान्त को दीर्घ। टा आमोर्ण आम के आ का ण और मोऽनुस्वार से अन्त्य मकार का अनुस्वार होने आयरियाण सिद्ध होता है।

जिन्हों का अन्तःकरण जिनेश्वरों की आज्ञा में रत है। उन आचार्यवर्यों को बार बार नमस्कार हो जो आचार्य छत्तीस गुणों के धारक हैं। आचारका मार्ग जिन्होंने दिखलाया है। वे आचार्य तीर्थंकर के समान है, जो जिनेन्द्र भगवान के शासन को शिरसा वहन करते हैं। जो सूत्रों के अर्थ को एवं मर्म को जनता के सामने रखते हैं। ऐसे आचार्य महाराज मेरे (हमारे) हृदय में वास करे।

उपाध्याय

श्री भद्रबाहु स्वामि ने श्री आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि—

बार संगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहियो बुहेहिं।
तं उवइ सन्ति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चंति॥

श्री जिनेश्वर भगवान द्वारा प्ररूपित बारा अंगों (द्वादशांगी) को पण्डित पुरुष स्वाध्याय कहते हैं। उनका उपदेश करने वाले उपाध्याय कहलाते हैं। अर्थात् "उप समीपे अधि वसनात् श्रुतस्यायो लाभो भवति येभ्यस्ते उपाध्यायाः" याने जिनके पास निवास करने से श्रुत (ज्ञान) का आय याने लाभ हो उन्हें उपाध्याय[1] कहते हैं।

श्री श्रमण संघ में आचार्य महाराज के पश्चाद् महत्वपूर्ण स्थान श्री उपाध्यायजी महाराज का होता है। वे संघस्थ मुनियों को द्वादशांगी का मूल से अर्थसे और भावार्थ से ज्ञान करवाते हैं। श्रमणों को आचार विचार में प्रवीण करते और चरित्र पालन के समस्त पहलुओं तथा उत्सर्ग अपवाद का ज्ञान कराते हैं। यों तो श्री उपाध्यायजी महाराज साधु होने से साधु के सत्ताईस गुणों के धारक हैं ही। तथापि उनके पच्चीस गुण इस प्रकार दिखलाए हैं—

१ उवज्झायाणं (उपाध्यायेभ्यः) समीपार्थी उप और अधि पूर्व में है जिसके ऐसे इङ् (अध्ययने धातोः) धातु से घञ् प्रत्यय होने पर उप + अधि + इ घञ् बना। उप + अधि में अकः सवर्णे दीर्घः ।६।१।१०१ सूत्र से पूर्व पर के स्थान में दीर्घादेश होने पर उपाधि + इ घञ् बना। घञ् की लशक्वतद्धिते सूत्र से इत् संज्ञा और तस्यलोपः सूत्र से लोप हुवा। तब उपाधि + इ + अ रहा। अचो-ञ्णिति ।७।२।११५। सूत्र से अजंता ग को वृद्धि। उपाधि + ऐ + अ बना। इको यण चि सूत्र से यण। उपाध्यै + अ। एचोऽयवायावः ।६।१।७८। सूत्र से ऐ के स्थान पर आय् हुवा आ मिला ध्य् में य मिला घञ् के शेष रहे अ में तब बना उपाध्याय। उपाध्याय का उवज्झाय इस प्रकार बनता है—

पोवः ।८।१।२३१। सूत्र से पकार का वकार हुवा। साध्वस ध्य ह्यां झः ।८।२।२६। सूत्र से ध्या के स्थान पर ज्झा हुवा तब उवज्झाय बना। उवज्झाय से नमः के योग मे शक्तार्थ वषट् नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधाभिः ।२।२।२५। सूत्र से चतुर्थी का भ्यस् प्रत्यय आया। चतुर्थ्याः षष्ठीः। सूत्र से भ्यस् के स्थान पर आम आया। उवज्झाय + आम। जस् शस ङसि त्तो दो द्वामि दीघः। सूत्र से अजन्तांग को दीर्घ हुवा टा आमोर्णः सूत्र से आम के आकार का ण और अन्त्य मकार का मोऽनुस्वारः ।८।१।२३। मे अनुस्वार होने पर उवज्झायाणं बनता है।

सर्वत: मैथुन विरमण, और सर्वत: परिग्रह विरमण इन पाचों महाव्रतों से युक्त पाच प्रकार के आचारों का पालन करने में समर्थ पाच समितियों तथा तीन गुप्तियों से युक्त इस प्रकार छत्तीस गुणों के धारक गुरु अर्थात् आचार्य महाराज हमारे गुरु हैं।

१४४४ ग्रन्थ प्रणेता जैन शासन नभोमणी आचार्य वर्य श्रीमद् हरिभद्र सूरिजी महाराजने संबोध प्रकरण में आचार्य के ३६ गुणों का वर्णन अनेक प्रकार से तथा गुरुपद का विवेचन भी विस्तारपूर्वक किया है। गच्छाचार पयन्ना में भी आचार्य के अतिशयों तथा योग्यायोग्यत्व पर विस्तृत विवेचन किया है।

प्रश्न—नमो आयरियाणं के स्थान पर नमो आइरियाणं क्यों नहीं बोला जाता है?

उत्तर—श्रीमहानिशीथ सूत्र के तीसरे अध्ययन में, पन्चमांग श्रीभगवती सूत्र के मंगलाचरण में, श्री आवश्यक सूत्र निर्युक्ति और श्री गच्छाचार पयन्ना आदि अनेक आगम ग्रन्थों में आयरियाणं ही लिखा है। न कि आइरियाणं। अर्थ शुद्धि की दृष्टि से भी आयरियाणं ही लिखना ठीक है।

प्रश्न—आचार्य सर्वज्ञ नहीं है फिर भी उनको ' तित्थयर समो सूरि ' कहकर तीर्थंकर की उपमा क्यों दी गई है? क्या यह अनुचित नहीं है?

उत्तर—श्री श्रमण भगवान महावीर देव ने श्री गौतम स्वामि के प्रश्न के उत्तर में जो भावाचार्य को तीर्थंकर के समान कहा है यह अनुचित नहीं अपितु उचित है। क्यों कि भावाचार्य आगमज्ञ एवं समयज्ञ होते है। प्रत्येक प्रकार की आचरणा का आचरण वे आगमानुसार ही करते हैं। आगमोक्त वस्तु तत्व को निर्भयता पूर्वक जनता में तर्क युक्त रीति से प्रकाशित करते हैं। कर्म रोग से आक्रान्त जीवों को जिनेन्द्र शरण देकर शुद्ध देव गुरु और धर्मरूप उपादेय त्रयी सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चरित्र रूप तत्व त्रयी का दर्शन करा कर जीवनोत्कर्ष का मार्ग दिखलाते हैं। अत: वे अपने लिये तो तीर्थंकर के समान ही हैं। इसी से उन भावाचार्य महाराज को यह उपमा दी गई है। शेष नामाचार्य, द्रव्याचार्य और स्थापनाचार्य को नहीं। आचार्यवर्य श्रीमद् राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराजने भी श्री नवपद पूजा में लिखा है कि—

जिणाण आणम्मि मणो हि जस्स णमो णमो सूरि दिवायरस्स।
छत्तीस वग्गेण गुणायरस्स आयारमग्ग सुपयासयस्स॥

सूरिवरा तित्थयरा सरीसा, जिणिन्दमग्गं मिणयति सिरसा।
सुतत्थ भावाण सम पयासी ममं मणसी वसियो निरासी॥

(जिनस्य आज्ञाया यस्य मनो वर्तते तस्म सूरि दिवाकराय नमो नम
षट्त्रिंशद्वर्गेण गुणाकराय आचारमार्गस्य सुप्रकाशकाय

सूरिवरा तीर्थंकरा सदृशा जिनेन्द्र मार्गं वहन्ति शिरसा।
सूत्रार्थ भावाना सममेव प्रकाशक मम मनसि वासतो ऽ निराशी।)

जिन्हों का अन्तःकरण जिनेश्वरों की आज्ञा में रत है। उन आचार्यवर्यों को बार बार नमस्कार हो जो आचार्य छत्तीस गुणों के धारक हैं। आचारका मार्ग जिन्होंने दिखलाया है। वे आचार्य तीर्थंकर के समान हैं, जो जिनेन्द्र भगवान के शासन को शिरसा वहन करते हैं। जो सूत्रों के अर्थ को एवं मर्म को जनता के सामने रखते हैं। ऐसे आचार्य महाराज मेरे (हमारे) हृदय में वास करें।

उपाध्याय

श्री भद्रबाहु स्वामि ने श्री आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि—

वार संगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहियो बुहेहिं।
तं उवइ सन्ति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चंति॥

श्री जिनेश्वर भगवान द्वारा प्ररूपित बारह अंगों (द्वादशांगी) को पण्डित पुरुष स्वाध्याय कहते हैं। उनका उपदेश करने वाले उपाध्याय कहलाते हैं। अर्थात् "उप समीपे अधि वसनात् श्रुतस्यायो लाभो भवति येभ्यस्ते उपाध्यायाः" याने जिनके पास निवास करने से श्रुत (ज्ञान) का आय याने लाभ हो उन्हें उपाध्याय[1] कहते हैं।

श्री श्रमण संघ में आचार्य महाराज के पश्चात् महत्वपूर्ण स्थान श्री उपाध्यायजी महाराज का होता है। वे संघस्थ मुनियों को द्वादशांगी का मूल से अर्थसे और भावार्थ से ज्ञान करवाते हैं। श्रमणों को आचार विचार में प्रवीण करते और चरित्र पालन के समस्त पहलुओं तथा उत्सर्ग अपवाद का ज्ञान कराते हैं। यों तो श्री उपाध्यायजी महाराज साधु होने से साधु के सत्ताईस गुणों के धारक हैं ही। तथापि उनके पच्चीस गुण इस प्रकार दिखलाए हैं—

---

१ उवज्झायाण (उपाध्यायेभ्यः) समीपार्थी उप और अधि पूर्व में है जिसके ऐसे इङ् (अध्ययने धातोः) धातु से घञ् प्रत्यय होने पर उप+अधि+इ घञ् बना। उप + अधि में अकः सवर्णे दीर्घः ।६।१।१०१ सूत्र से पूर्व पर के स्थान में दीर्घादेश होने पर उपाधि + इ घञ् बना। घञ् की लशक्वतद्धिते सूत्र से इत् संज्ञा और तस्यलोपः सूत्र से लोप हुआ। तब उपाधि + इ + अ रहा। अचो-ञ्णिति ।७।२।११५। सूत्र से अजंता ग को वृद्धि। उपाधि+ए+अ बना। इको यण चि सूत्र से यण। उपाध्यै+अ। एचोऽयवायावः ।६।१।७८। सूत्र से ऐ के स्थान पर आय् हुवा आ मिला ध्य् में य मिला घञ् के शेष रहे अ में तब बना उपाध्याय। उपाध्याय का उवज्झाय इस प्रकार बनना है—

पोवः ।८।१।२३१। सूत्र से पकार का वकार हुवा। साध्वस ध्य ह्यां झः ।८।२।२६। सूत्र से ध्या के स्थान पर ज्झा हुवा तब उवज्झाय बना। उवज्झाय से नमः के योग मे शक्तार्थ वषट् नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधाभिः ।२।२।२५। सूत्र से चतुर्थी का भ्यस् प्रत्यय आया। चतुर्थ्याः षष्ठीः। सूत्र से भ्यस् के स्थान पर आम आया। उवज्झाय+आम। जस् शस ङसि त्तो दो द्वामि दीर्घः। सूत्र से अजन्तांग को दीर्घ हुवा टा आमोर्णः सूत्र से आम के आकार का ण और अन्त्य मकार का मोऽनुस्वारः ।८।१।२३। मे अनुस्वार होने पर उवज्झायाणं बनता है।

श्री आचारांग, सूत्रकृतांगादि ग्यारह अंग, श्री औपपातिकादि बारह अंग इन तेईस आगमों के मर्म को जाननेवाले तथा उनका विधिपूर्वक मुनिवरों को अध्ययन करानेवाले और चरण सित्तरी तथा करण सित्तरी इन पच्चीस गुणोंके धारक श्री उपाध्यायजी महाराज होते हैं। ११ अंग और १२ उपांगों का वर्णन श्री अभिधान राजेन्द्र कोष के प्रथम भाग की प्रस्तावना में आया है। वहीं से देखना चाहिये। चरण सित्तरी और करण सित्तरी इस प्रकार है—

चरण सित्तरी—

वय समण संजम वेयावच्च च बंभगुत्तिओ।
नाणाइ तिय तव कोह, निग्गहाई चरणमेयं॥

५ महाव्रत, १० प्रकार (क्षमा, मार्दव, आर्जव, निर्लोभता, तप, संयम सत्य शौच आकिंचन और ब्रह्मचर्य) का यति धर्म। १७ प्रकार का संयम १० प्रकार का वैयावृत्य। ९ प्रकार ब्रह्मचर्य। ३ प्रकार का ज्ञान। १२ प्रकार का तप। ४ कषाय निग्रह। इस प्रकार सत्तर भेद चरण सित्तरी के होते हैं।

करण सित्तरी
पिंडविसोहि समिई, भावण पडिमाय इन्दिय निरोहो।
पडिलेहण गुत्तिओ अभिग्गह चेव करणं तु।

४ पिंडविशुद्धि, ५ समिति, १२ भावना, १२ प्रतिमा, ५ इन्द्रियों का निग्रह २५ पडिलेहण, ३ गुप्ती ४ अभिग्रह इस प्रकार सत्तर भेद करण सित्तरी के होते हैं।

चरण सित्तरी और करण सित्तरी को स्वयं पालते हैं और श्रमण संघ को पलाते हुये श्री उपाध्यायजी महाराज विचरण करते हैं। कोई श्रमण यदि चरित्र पालन में शिथिल होता है तो उसे सारणा, वारणा, चोयणा और पडिचोयणा द्वारा समझा कर पुनः उसे अविचल संयम धर्म पालन में प्रयत्नशील करते हैं, यदि कोई परसमय का पण्डित किसी प्रकार की चर्चावार्ता करने के लिये आता है, तो उसे आप अपने ज्ञान बल से निरुत्तर करते हैं, और स्व समय के महत्त्व को बढाते हैं। ऐसे अनेक गुण सम्पन्न श्री उपाध्याय जी महाराज के गुणों का स्मरण-वन्दन करते हुये, आचार्य प्रवर श्री मद्राजेन्द्र सूरिजी महाराज ने श्रीसिद्धचक (नवपद) पूजन में फरमाया है कि—

सुत्ताण पाठ सुपरंपराओ, जहागय त भविण बिराओ।
जे साहगा ते उवझाय राया नमो नमो तस्स पदस्स पाया॥१॥
गीयत्थता जस्स अजस्स अत्थि विहार जेसिं सुय पज्जणत्थि।
रहस्सगियरेण समग्गभासी, दिंतु दृढ वायणगाण रासी॥२॥
(सूत्राणां पाठ सुपरंपरात यथागत न भव्यानां निजदयि।
ये साधका ते उपाध्याय राजा नमो नमः तेषां पदस्य ।

गीतार्थता यस्यावश्यमस्ति विचाराः येषां श्रुतवर्जिताः न सन्ति ।
उत्सर्गापवाभ्याम् सन्मार्गप्रकाशी ददातु सुखं वाचक गणानां राशिः ।)

जो परंपरा से आए हुए सूत्रों के अर्थ को यथार्थ रूप से भव्य जनों को कहते हैं । जो साधक हैं, वे उपाध्याय राजा हैं, उन्हों के चरणकमलों में वार वार नमस्कार हो । जिन्हों को गीतार्थता वश में है । जिन्हों के आचार विचार शास्त्रानुगामी हैं । जो उत्सर्ग और अपवाद को ध्यान में रखकर सन्मार्ग का बोध देते हैं । वे उपाध्याय-महाराज हम को सब सुख देवें ।

साधु :—

श्री नमस्कार मन्त्र के पांचवें पद पर श्री साधु महाराज विराजमान हैं । संसार के समस्त प्रपंचों को छोड कर पापजन्य क्रिया कलापों का त्याग करके, पांच महाव्रत पालन रूप वीर प्रतिज्ञा कर समस्त जीवों पर समभाववृति धारण करने वाले, सब को निजात्मवत् समझ कर किसी को भी किसी प्रकार का कष्ट नहीं हो इस प्रकार से चलने वाले । मनसा वाचा कर्मणा किसी का भी अनिष्ट नहीं चाहने वाले । एवं समभाव साधना में संलग्न, भारंड पक्षी के समान अप्रमत्त दशा में रहने वाले, प्रमाद स्थानों असमाधि स्थानों तथा कषायों के आगमन कारणों से सर्वथा पर रहने वाले । उनके लिये यदि किसी ने कुछ भी बनाया तो उसका त्याग करने वाले, चित्त से भी उसकी चाहना नहीं करने वाले, माधुकरी वृती से भिक्षा ग्रहण करने वाले, छोटी बड़ी सब स्त्रियों को मां बहन समझने वाले । ब्रह्मचर्यव्रत के बाधक समस्त स्थानों का त्याग करने वाले । बाह्याभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग करने वाले मुनिराज को साधु अथवा श्रमण कहते हैं । श्री नमस्कार मंत्र के पांचवें पद पर ऐसी अनुमोदनीय-वंदनीय साधुता के धारक बाईस परिषहों को जीतने वाले तथा शास्त्रों के अर्थों का चिन्तन मनन अध्ययन-अध्यापन में जीवन यापन करने वाले मुनिराज को नमस्कार किया गया है । अन्तिम श्रुतकेवली भगवान श्री भद्रबाहु स्वामी ने श्री आवश्यक निर्युक्ति में लिखा है कि—

निव्वाण साहए जोगे, जम्हा साहन्ति साहुणो ।
समा य सव्व भूयेसु, तम्हा ते भाव साहुणो ॥

निर्वाण साधक योगों की क्रियाओं को जो साधते हैं, और सब प्राणियों पर समभाव धारण करते हैं वे भाव साधु[1] हैं।

---

१ नमो लोए सव्व साहूणं लोक शब्द से सप्तमी का एक वचन प्रत्यय ङि आया । लोक + ङि बना । लशक्वतद्धिते सूत्र से ङ् की इत् संज्ञा और तस्यलोपः सूत्र से लोप होने पर लोक + इ रहा । तब आद्गुणः ।६।१।८६। सूत्र से पूर्व पर के स्थान में गुणादेश होने पर लोके बना । फिर क ग च ज त द प य वां प्रायो लुक् ।८।१।१७७। सूत्र से ककार का लोप होने पर लोए यह प्राकृत रूप बना ।

सर्व शब्द से प्रथमा का बहुवचन प्रत्यय जस् आया जसःशी ।७।१।१७। सूत्र से जस् के स्थान

श्री आचारांग, सूत्रकृतांगादि ग्यारह अंग, श्री औपपातिकादि बारह अंग इन तेईस आगमों के मर्म को जाननेवाले तथा उनका विधिपूर्वक मुनिवरों को अध्ययन करानेवाले और चरण सित्तरी तथा करण सित्तरी इन पच्चीस गुणोंके धारक श्री उपाध्यायजी महाराज होते हैं । ११ अंग और १२ उपांगों का वर्णन श्री अभिधान राजेन्द्र कोष के प्रथम भाग की प्रस्तावना में आया है । वहीं से देखना चाहिये। चरण सित्तरी और करण सित्तरी इस प्रकार है—

चरण सित्तरी—

> वय समण संजम वेयावच्च च बंभगुत्तिओ ।
> नाणाइ तिय तव कोह, निग्गहाइ चरणमेयं ॥

५ महाव्रत, १० प्रकार (क्षमा, मार्दव, आर्जव, निर्लोभता, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिंचन और ब्रह्मचर्य) का यति धर्म । १७ प्रकार का संयम १० प्रकार का वैयावृत्य । ९ प्रकार ब्रह्मचर्य । ३ प्रकार का ज्ञान । १२ प्रकार का तप । ४ कषाय निग्रह । इस प्रकार सत्तर भेद चरण सित्तरी के होते हैं ।

करण सित्तरी

> पिंडविसोहि समिई, भावण पडिमाय इन्दिय निरोहो ।
> पडिलेहण गुत्तिओ अभिग्गहं चेव करणं तु ।

४ पिंडविशुद्धि, ५ समिति, १२ भावना, १२ प्रतिमा, ५ इन्द्रियों का निग्रह २५ पडिलेहण, ३ गुप्ती ४ अभिग्रह इस प्रकार सत्तर भेद करण सित्तरी के होते हैं ।

चरण सित्तरी और करण सित्तरी को स्वयं पालते हैं और श्रमण संघ को पलाते हुये श्री उपाध्यायजी महाराज विचरण करते हैं । कोई श्रमण यदि चरित्र पालन में शिथिल होता है तो उसे सारणा, वारणा, चोयणा और पडिचोयणा द्वारा समझा कर पुनः उसे अविहत संयम धर्म पालन में प्रयत्नशील करते हैं, यदि कोई परसमय का पण्डित किसी प्रकार की चर्चावार्ता करने के लिये आता है, तो उसे आप अपने ज्ञान बल से निरुत्तर करते हैं, और स्व समय के महत्व को बढाते हैं । ऐसे अनेक गुण सम्पन्न श्री उपाध्याय जी महाराज के गुणों का स्मरण-वन्दन करते हुये, आचार्य प्रवर श्री मद्राजेन्द्र सूरिजी महाराज ने श्रीसिद्धचक्र (नवपद) पूजन में फरमाया है कि—

> सुत्ताण पाठ सुपरंपराओ, जहागयं तं भविण दिंताओ ।
> जे साहगा ते उवझाय राया, नमो नमो तस्स पदस्स पाया ॥ १ ॥
> गीयत्थता जस्स अगस्स अत्थि, विहार जेसिं सुय वज्जणत्थि ।
> रस्सग्गियरेण समग्गभासी, दिंतु दूढ वायगणाण रासी ॥ २ ॥
> (सूत्राणां पाठं सुपरम्परातः यथागतं तं भव्येभ्यो निवेदयन्ति ।
> ये साधका ते उपाध्याय राजा नमो नमः तेषां पदस्य ।

ये तीर्णा भववारिधिं मुनिवरास्तेभ्यो नमस्कुर्महे ।
येषां नो विषयेषु गृध्यति मनो नो वा कषायैः प्लुतम् ॥
राग द्वेष विमुक् प्रशान्त कलुषं साम्याप्तशर्माद्वयं ।
नित्यं खेलति चात्मसंयमगुणा क्रीडे भजद्भावना ॥ १ ॥

जिन महामुनिवरों का मन इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होता, कषायों से व्याप्त नहीं होता, जो राग द्वेष से मुक्त रहते हैं, पाप कर्मों (व्यापारों) का त्याग किया है जिनने। समता द्वारा अखिलानन्द प्राप्त किया है जिसने और जिन का मन आत्म-संयम रूप उद्यान में खेलता हैं। संसार से तिर जाने वाले ऐसे मुनिराजों को हम नमस्कार करते हैं। श्री मद् राजेन्द्र सूरिजी महाराज भी श्री नवपद पूजा में लिखते हैं कि –

संसार छंडी दृढ मुक्ति मंडी, कुपक्ष मोडी भव पास तोडी ।
निग्गंथ भावे जसु चित्त आत्थि, णमो भवि ते साहु जणत्थि ॥१॥
जे साहगा मुक्ख पहे दमीणं, णमो णमो हो भविते मुणिणं ।
मोहे नही जेह पव्वतिधीरा, मुणिण मज्झे गुणवंत वीरा ॥२॥

जैसा कि उपर लिखा जा चुका है कि नमस्कार मंत्र में दो विभाग हैं नमस्कार और नमस्कार चूलिका। 'नमो लोए सव्व साहूणं' यहाँ तक के पाद पदों से पन्चपरमेष्ठि को अलग अलग नमस्कार किया गया है। "एसो पञ्च (पंच) नमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं" यह चुलिका नमस्कार फल दर्शन है। जो नमस्कार मन्त्र के आदि के पांच पदों के साथ नित्य स्मरणीय है। कुछ लोग कहते हैं कि चुलिकानित्य पठनीय नहीं अपितु जानने योग्य है। परन्तु उनका यह कथन तत्थ्यांश हीन है। शास्त्राकारों की आज्ञा है कि—

'त्रयस्त्रिंशदक्षर प्रमाण चूला सहितो नमस्कारों भणनीय :'

श्री अभिधान राजेन्द्र भा. ४ पृष्ठ १८३६।

अतः पैंतीस अक्षर प्रमाण मन्त्र और तेंतीस अक्षर चूला। दोनों मिला कर अडसठ अक्षर प्रमाण श्री नमस्कार मन्त्र का स्मरण करना चाहिये न्युनाधिक पढना दोष मूलक है।

प्रश्न—नमस्कार मन्त्र में अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु यह नमस्कार का क्रम क्यों रखा गया है?

उत्तर—श्री अरिहंत भगवान को सर्व प्रथम नमस्कार इसलिये किया जाता है कि वे हमारे सर्व श्रेष्ठ उपकारक हैं। श्री सिद्ध भगवन्तों की अपेक्षा अरिहंत भगवन्तो का उपकार निकट का जो है। क्यों कि श्री अरिहंत भगवान तीर्थ के प्रवर्तक होते हैं। तीर्थ के द्वारा धर्ममार्ग की प्रवृति होती है। अतः तीर्थ के निर्माता सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान वीतराग श्री अरिहंत को ही सर्व प्रथम नमस्कार किया जाता है। अरिहन्त भगवान ही हमको सिद्ध भगवन्तों की स्थिति आदि समझाते हैं, और उनके द्वारा ही

श्री दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में साधु का व्युत्पत्त्यर्थ तीन प्रकार से किया है।—

"साधयति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधु"
"समता च सर्व भूते ध्यायतीति निरुक्त न्यायात् साधु"
"सहायकं वा संयमकारिणं साधयतीति साधु"

जो ज्ञान दर्शन इत्यादि शक्तियों से मोक्ष की साधना करते हैं, या सब प्राणियों के विषय में समता का चिन्तन करते हैं, अथवा संयम पालने वाले को सहायक होते हैं वे साधु हैं।

ऐसी अनुमोदनीय एवं स्तुत्य साधुता के धारक मुनिवरों के सत्ताईस गुण होते हैं। जो इस प्रकार है—सर्व प्राणातिपात विरमणादि पांच महाव्रत और रात्रिभोजन विरमण व्रत ६, पृथ्वीकायादि षट्काय के संरक्षण ६, इन्द्रिय निग्रह ५, भावविशुद्धि १ कषाय निग्रह ४ अकुशल मनवचन और काया का निरोध ३, परिषहों का सहन १ और उपसर्गों में समता १ ये २७ गुण अथवा बाह्याभ्यन्तर तप १८, निर्दोष आहार ग्रहण १, अनिश्रमादि दोष त्याग ४, इत्यादि अभिग्रह चार, और व्रत ६ आदि २७ गुण हैं।

भावदया जिन के हृदय में विराजमान है, वैसे साधु मुनिराज नित्य अन्य साधना करते हुए 'कर्म से संत्रस्त जीव किस प्रकार से बचें?' इस उपाय को सोचते हुए, क्रोध मान माया और लोभ रागद्वेषादि आभ्यन्तर शत्रुओं को परास्त करने के कार्य में लगे, भूमंडल पर विचरण कर संसारी जीवों को सन्मार्गारूढ कर मोक्ष नगर जाने के लिये धर्मरूप मार्ग का पाथेय देने वाले, पापाश्रवों का त्याग करने वाले अठारह महाव्रतों का निर्दोषता पूर्वक पालन करने वाले मुनिराज की आदरणीय एवं प्रशंसनीय साधुवृत्ति को नमस्कार करते हुए श्रीमद् मुनिसुन्दर सूरीश्वरजी महाराज ने श्री अध्यात्म कल्पद्रुम में लिखा है कि—

पर घी हुवा हकार की स्थानापन्न सूत्र से घ का हीना और तस्यलोप सूत्र से हकार का लोप होने से सह + इ रहा। अद्गुण सूत्र से पूर्व पर के स्थान पर ए गुणैश होने पर सहे बना। उसको सवत्र सूत्र सातवें [illegible] ।८।२।७९। सूत्र से रेफ का लोप तथा सकार का द्वित्व होने से सत्व सिद्ध होता है।

साध संसिद्धौ धातु से कृत के क्रियादि स्यो उण। सूत्र से उण प्रत्यय आया तब साध + उण हुआ ण का वृद्ध ।१।३।७। सूत्र से ण की इत संज्ञा होकर तस्यलोपः सूत्र से लोप होने पर पूर्व पर का मिलने पर साधु सिद्ध होता है।

साधु का [illegible] ।८।१।१८७। सूत्र से धकार का स्थानापन्न हकार हुवा तब साहु बना। [illegible] मे रोचार्थ धातु जन [illegible] स्वाहा स्वधामि। सूत्र से जन के योग में चतुर्थी का बहुवचन प्रत्यय भ्यस् आया। चतुर्थ्याः षष्ठी सूत्र से भ्यस् के स्थान पर आम आया। तब साहु + आम। [illegible] [illegible] [illegible] सूत्र से अनुस्वार को नीष। [illegible] सूत्र से आम के आकार का [illegible] और म [illegible] सूत्र से अन्य हल प्रकार का अनुस्वार हुवा तब बना साहूणं। सब को जमक [illegible] तब बना [illegible] सव्व साहूणं।

ये तीर्णा भववारिधिं मुनिवरास्तेभ्यो नमस्कुर्महे ।
येषां नो विषयेषु गृध्यति मनो नो वा कषायैः प्लुतम् ॥
राग द्वेष विमुक्त प्रशान्त कलुषं साम्यात्तशर्माद्वयं ।
नित्यं खेलति चात्मसंयमगुणा क्रीडे भजद्भावना ॥ १ ॥

जिन महामुनिवरों का मन इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होता, कषायों से व्याप्त नहीं होता, जो राग द्वेष से मुक्त रहते हैं, पाप कर्मों (व्यापारों) का त्याग किया है जिनने। समता द्वारा अखिलानन्द प्राप्त किया है जिनने और जिन का मन आत्म-संयम रूप उद्यान में खेलता हैं। संसार से तिर जाने वाले ऐसे मुनिराजों को हम नमस्कार करते हैं। श्री मद् राजेन्द्र सूरिजी महाराज भी श्री नवपद पूजा में लिखते हैं कि -

संसार छंडी दृढ मुक्ति मंडी, कुपक्ष मोडी भव पास तोडी ।
निग्गंथ भावे जसु चित्त अत्थि, णमो भवि ते साहु जणत्थि ॥१॥
जे साहगा मुक्ख पहे दमीणं, णमो णमो हो भविते मुणिणं ।
मोहे नही जेह पसंतिधीरा, मुणिण मज्झे गुणवंत वीरा ॥२॥

जैसा कि उपर लिखा जा चुका है कि नमस्कार मंत्र में दो विभाग हैं नमस्कार और नमस्कार चूलिका। 'नमो लोए सव्व साहूणं' यहाँ तक के पाद पदों से पन्चपरमेष्टि को अलग अलग नमस्कार किया गया है। "एसो पञ्च (पंच) नमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं" यह चुलिका नमस्कार फल दर्शन है। जो नमस्कार मन्त्र के आदि के पांच पदों के साथ नित्य स्मरणीय हैं। कुछ लोग कहते हैं कि चुलिकानित्य पठनीय नहीं अपितु जानने योग्य है। परन्तु उनका यह कथन तत्थ्यांश हीन है। शास्त्राकारों की आज्ञा है कि—

'त्रयस्त्रिंशदक्षर प्रमाण चूला सहितो नमस्कारों भणनीयः'

श्री अभिधान राजेन्द्र भा. ४ पृष्ठ १८३६।

अतः पैंतीस अक्षर प्रमाण मन्त्र और तेंतीस अक्षर चूला। दोनों मिला कर अडसठ अक्षर प्रमाण श्री नमस्कार मन्त्र का स्मरण करना चाहिये न्युनाधिक पढना दोष मूलक है।

प्रश्न—नमस्कार मन्त्र में अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु यह नमस्कार का क्रम क्यों रखा गया है?

उत्तर—श्री अरिहंत भगवान को सर्व प्रथम नमस्कार इसलिये किया जाता है कि वे हमारे सर्व श्रेष्ठ उपकारक हैं। श्री सिद्ध भगवन्तों की अपेक्षा अरिहंत भगवन्तो का उपकार निकट का जो है। क्यों कि श्री अरिहंत भगवान तीर्थ के प्रवर्तक होते हैं। तीर्थ के द्वारा धर्ममार्ग की प्रवृति होती है। अतः तीर्थ के निर्माता सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान वीतराग श्री अरिहंत को ही सर्व प्रथम नमस्कार किया जाता है। अरिहन्त भगवान ही हमको सिद्ध भगवन्तों की स्थिति आदि समझाते हैं, और उनके द्वारा ही

श्री दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में साधु का व्युत्पत्यर्थ तीन प्रकार से किया है।—

"साधयति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधुः"
"समतां च सर्वे भूते ध्यायतीति निरुक्त न्यायात् साधुः"
"सहायको वा संयमकारिणं साधयतीति साधुः"

जो ज्ञान दर्शन इत्यादि शक्तियों से मोक्ष की साधना करते हैं, या सब प्राणियों के विषय में समता का चिन्तन करते हैं, अथवा संयम पालने वाले को सहायक होते हैं वे साधु हैं।

ऐसी अनुमोदनीय एवं स्तुत्य साधुता के धारक मुनिवरों के सत्ताईस गुण होते हैं। जो इस प्रकार है—सर्वतः प्राणातिपात विरमणादि पांच महाव्रत और रात्रिभोजन विरमण व्रत ६, पृथ्व्यादि षट्काय के संरक्षण ६, इन्द्रिय निग्रह ५, भावविशुद्धि १, कषाय निग्रह ४, अकुशल मनवचन और काया का निरोध ३, परिषहों का सहन १ और उपसर्गों में समता १ ये २७ गुण अथवा बाह्याभ्यन्तर तप १२, निर्दोष आहार ग्रहण १, अतिक्रमादि दोष त्याग ४, द्रव्यादि अभिग्रह चार, और व्रत ६ आदि २७ गुण हैं।

भावदया जिन के हृदयपद्म में विराजमान है, ऐसे साधु मुनिराज नित्य आत्म साधना करते हुए "कर्म से संयुक्त और किस प्रकार से बचें?" इस उपाय को सोचते हुए, क्रोध मान माया और लोभ रागद्वेषादि आभ्यन्तर शत्रुओं को परास्त करने के कार्य में लगे, भूमंडल पर विचरण कर संसारी जीवों को सन्मार्गारूढ कर मोक्ष नगर जाने के लिये धर्मरूप मार्ग का पाथेय देने वाले, पापाश्रवों का त्याग करने वाले अगीहन महाव्रतों का निर्दोषता पूर्वक पालन करने वाले मुनिराज की आदरणीय एवं प्रशसनीय साधुवृत्ति को नमस्कार करते हुए श्रीमद् मुनिसुन्दर सूरीश्वरजी महाराज ने श्री अध्यात्म कल्पद्रुम में लिखा है कि—

पर ही हुआ नकार की लयकात्वीने सूत्र से इत् संज्ञा और तस्यलोप सूत्र से इकार का लोप होने से सर्व + व रहा। सार्वगुण सूत्र से पूर्व पद के स्थान पर व गुणादेश होने पर सर्व बना। इसको सवव लव रामचन्द्र ।८।२।७९। सूत्र से रेफ का लोप तथा वकार का द्वित्व होने से सव्व सिद्ध होता है।

साध् संसिध्धौ धातु से कृदन्त के क्रियादि ध्यो उण्। सूत्र से उण प्रत्यय आया तब साध + उण बना [illegible] का धुइ ।१।३।७। सूत्र [illegible] [illegible] की इत् संज्ञा होकर तस्यलोप सूत्र से लोप होने पर पूर्व पद का मिलने पर साधु सिद्ध होता है।

साधु का रा प थ व भाम् ।८।१।१८७। सूत्र से धकार का स्थानपर हकार हुआ तब साहु बना। साधु शब्द से दानार्थ वषड् नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधाभिः। सूत्र से नमः के योग में चतुर्थी का बहुवचन प्रत्यय भ्यस् आया। चतुर्थ्याः षष्ठी, सूत्र से भ्यस् के स्थान पर आम आया। तब साहु + आम। जस् शस् ङसि तो दा द्वामि दीर्घ। सूत्र से अजन्ताग को दीर्घ। टा आमोर्णः। सूत्र से आम के आकार का [illegible] हुआ और म अनुस्वार सूत्र से अन्त्य हल मकार का अनुस्वार हुआ तब बना साहूणं। सब को क्रमशः लिखा तब बना णमो सव्व साहूणं।

प्रश्न :—इन पांचों को नमस्कार करने से क्या लाभ होता है ?

उत्तर :—पंच परमेष्ठि को नमस्कार करने से हम को सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र का लाभ होता है तथा वीतराग और वीतरागोपासक श्रमणवरों को वन्दना करने से हम भी वीतरागदशा प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। जब हमारी भावना वीतरागोपासना की ओर प्रवाहित होती है, तब हम अच्छे और खराब का विवेक प्राप्त करके आश्रवद्वारों का अवरोध करके संवर और निर्जरा भावना को प्राप्त करके, आत्मसाधना में प्रवृत्त होते हैं। तथा अन्तमें ईप्सित की प्राप्ती भी कर सकने में सशक्त हो जाते हैं। यह लोकोत्तर लाभ हमको सकलागमरहस्यभूत महामंत्र श्री नमस्कार मंत्र के स्मरण करने से प्राप्त होता है। तैतीस अक्षर प्रमाण नमस्कार चूलिका में यही तो दिखलाया गया है।

प्रश्न :—श्री नमस्कार मंत्र को महामंत्र क्यों कहा जाता है ?

उत्तर :—श्री नमस्कार मंत्र को महामंत्र इसलिए कहा जाता है कि-इसका त्रिकरण त्रियोग से स्मरण एवं मनन करने से, अन्य लौकिक मंत्रो से जो सिद्धि मिलती है, उससे अधिक और अनुपम सिद्धि प्राप्त होती है। यह महामंत्र कर्मक्षय में भी सहायक है। इसके स्मरण से महापापी जनों के पाप धुल जाते हैं, एवं धुल गए हैं। चौदह पूर्व के ज्ञाता-श्रुतकवली भगवान भी अपना पूरा जीवन एवं अन्तिम समय इसी महामंत्र के स्मरण में व्यतीत करते हैं। मुनिजन चित्तशुद्धि के लिये दिनरात इसी मंत्र का जाप करते हैं। भूतकाल के ऐसे कितने ही उदाहरण हमारे सामने हैं कि जिनकीं वास्तविकता में अंश मात्र भी सन्देह को अवकाश नहीं है। वर्तमान काल में भी भावपूर्वक किये गये नमस्कार मन्त्र स्मरण से अचिन्त्यलाभ प्राप्ती के उदाहरण प्रसिद्ध है। ऐसे महामहिमाशाली सकलागमरहस्यभूत श्री नमस्कार मंत्र को महामन्त्र अथवा मन्त्राधिराज कहा जाना कोई हर्ज की बात नहीं है अपितु वास्तविक ही है।

प्रश्न—"नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्यः" और "अ. सि. आ. उ सा य नमः" ये मन्त्र क्या है ?

उत्तर—तार्किक शिरोमणी आचार्य प्रवर श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरीजी महाराज द्वारा किया गया नमस्कार मन्त्र का संक्षिप्ती करण "नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्यः" है और अ. सि. आ. उ. सा. य नम" यह मन्त्र अरिहंत का "अ" सिद्ध की 'सि' आचार्य का 'आ' उपाध्याय का 'उ' साधु का 'सा' ये सब मिलकर 'असि आ उ सा य नमः' यह अत्यन्त संक्षिप्त स्वरूप भी नमस्कार मन्त्र का ही है। जो आदरणीय एवं स्मरणीय हैं। कितने ही लोग ऐसे होते हैं कि जिन्हें "कौड़ी की कमाई नहीं और क्षण मात्र का समय नहीं" उनके लिये थोडा समय लगने वाले पद स्मरणीय हैं। जिन्हें समय बहुत मिलता है परन्तु वे आलस्य

हम सिद्ध भगवान को जानते हैं। अतः सर्व प्रथम नमस्कार अरिहन्त भगवान को किया जाना है सो योग्य ही है।

दूसरा नमस्कार जो आठों कर्मों का सर्वथा क्षय करके लोकाग्र पर विराजमान हो गए हैं, उन श्री सिद्ध भगवन्तों को किया जाता है। जिस का तात्पर्य है कि-अरिहन्तों को नमस्कार करने के पश्चात् वे (अरिहन्त) चार अघनघाति कर्मों का क्षय करके जिस सिद्धावस्था को प्राप्त होने वाले हैं। उसे दूसरा नमस्कार किया जाता है। यद्यपि कर्मक्षय की अपेक्षा से श्री सिद्ध भगवान अरिहन्तों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं तथापि व्यावहारिक दृष्टि से सिद्धों की अपेक्षा अरिहन्त अधिक गिने जाते हैं, क्यों कि परोक्ष ऐसे श्री सिद्ध भगवान का ज्ञान अरिहन्त ही करवाते हैं। अतः व्यावहारिक दृष्टि को ध्यान में रख कर हा प्रथम नमस्कार अरिहन्त को और दूसरा नमस्कार सिद्धों को किया जाता है।

तीसरा नमस्कार छत्तीस गुण के धारक प्रतापी सौम्य भाव धैर्य भावाचार्य भगवान आचार्य महाराज को किया गया है। जिसका रहस्य है कि-श्री अरिहन्तों के द्वारा प्रवर्तित धर्म मार्ग का-तत्त्वमार्ग-का जीवनोत्कर्ष मार्ग-का एवं आचार मार्ग का यथार्थ प्रकार से जनता में प्रचारण कर स्वयं आत्मसाधना में लगे रहते हैं और दूसरों को बोध देकर आत्मसाधना में लगाते हैं। तीर्थ का रक्षण करते हैं, करवाते हैं। श्री सघ की यथा प्रकार से उन्नति के मार्ग प्रदर्शित करते हैं साधना से विचलित साधकों को साधना की उपादेयता समझा कर संयम मार्ग में प्रवृत्त करते हैं। ऐसे महदुपकारी शासन के आधार स्तंभ मुनिजन मानससरहस आचार्य महाराज को इसलिये तीसरा नमस्कार किया गया है।

चौथा नमस्कार श्री उपाध्यायजी महाराज को किया गया है। इस का मतलब कि-तीर्थ के निर्माता श्री अरिहंत भगवान से उच्चारित तथा गणधर भगवन्तों के द्वारा सूत्र से ग्रन्थित श्रुत का योगोद्वहन पूर्वक और परमकारुणिक श्री पूर्वाचार्यवर्यों से संदृब्ध शास्त्रों का स्वयं अध्ययन कर के सघस्थ छोटे बड़े मुनियों को जो जिनके योग्य है उसे उसी का अभ्यास करवा कर स्वाध्यायाध्यान का प्रशस्त मार्ग देनेवाले तथा चारित्रपालन की विधियों-प्रकारों के दर्शक श्री उपाध्यायजी महाराज होते हैं। आगमों का रहस्य जिन्होंने पाया है, ऐसे श्री उपाध्यायजी महाराज को चौथा नमस्कार किया गया है।

पांचवा नमस्कार साधु महाराज को किया गया है। जिसका हेतु है कि-आचार्य और उपाध्याय महाराज से सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग भगवान श्री अरिहंत देव प्ररूपित धर्म मार्ग का श्रवण करके उसे आत्महितकर जान करके उसे अंगीकार करके चारित्र धर्म की प्रतिपालना में दत्तचित्त मुनिराजों को नमस्कार करके हम (नमस्कार कर्ता) भी समता को प्राप्त कर, ममता को त्याग कर कर्मों के ताप से आत्मा को शान्त कर सकें इसीलिये पांचवें पद में साधु मुनिराजों को नमस्कार किया गया है।

प्रश्न :—इन पांचों को नमस्कार करने से क्या लाभ होता है ?

उत्तर :—पंच परमेष्ठि को नमस्कार करने से हम को सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र का लाभ होता है तथा वीतराग और वीतरागोपासक श्रमणवरों को वन्दना करने से हम भी वीतरागदशा प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। जब हमारी भावना वीतरागोपासना की ओर प्रवाहित होती है, तब हम अच्छे और खराब का विवेक प्राप्त करके आश्रवद्वारों का अवरोध करके संवर और निर्जरा भावना को प्राप्त करके, आत्मसाधना में प्रवृत्त होते है। तथा अन्तमें ईप्सित की प्राप्ती भी कर सकने में सशक्त हो जाते हैं। यह लोकोत्तर लाभ हमको सकलागमरहस्यभूत महामंत्र श्री नमस्कार मंत्र के स्मरण करने से प्राप्त होता है। तैतीस अक्षर प्रमाण नमस्कार चूलिका में यही तो दिखलाया गया है।

प्रश्न :—श्री नमस्कार मंत्र को महामंत्र क्यों कहा जाता है ?

उत्तर :—श्री नमस्कार मंत्र को महामंत्र इसलिए कहा जाता है कि-इसका त्रिकरण त्रियोग से स्मरण एवं मनन करने से, अन्य लौकिक मंत्रो से जो सिद्धि मिलती है, उससे अधिक और अनुपम सिद्धि प्राप्त होती है। यह महामंत्र कर्मक्षय में भी सहायक है। इसके स्मरण से महापापी जनों के पाप धुल जाते हैं, एवं धुल गए हैं। चौदह पूर्व के ज्ञाता-श्रुतकवली भगवान भी अपना पूरा जीवन एवं अन्तिम समय इसी महामंत्र के स्मरण में व्यतीत करते हैं। मुनिजन चित्तशुद्धि के लिये दिनरात इसी मंत्र का जाप करते हैं। भूतकाल के ऐसे कितने ही उदाहरण हमारे सामने हैं कि जिनकीं वास्तविकता में अंश मात्र भी सन्देह को अवकाश नहीं है। वर्तमान काल में भी भावपूर्वक किये गये नमस्कार मन्त्र स्मरण से अचिन्त्यलाभ प्राप्ती के उदाहरण प्रसिद्ध हैं। ऐसे महामहिमाशाली सकलागमरहस्यभूत श्री नमस्कार मंत्र को महामन्त्र अथवा मन्त्राधिराज कहा जाना कोई हर्ज की बात नहीं है अपितु वास्तविक ही है।

प्रश्न—"नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्य:" और "अ. सि. आ. उ सा य नमः" ये मन्त्र क्या है ?

उत्तर—तार्किक शिरोमणी आचार्य प्रवर श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरीजी महाराज द्वारा किया गया नमस्कार मन्त्र का संक्षिप्ती करण "नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्यः" है और अ. सि. आ. उ. सा. य नम" यह मन्त्र अरिहंत का "अ" सिद्ध की 'सि' आचार्य का 'आ' उपाध्याय का 'उ' साधु का 'सा' ये सब मिलकर 'असि आ उ सा य नमः' यह अत्यन्त संक्षिप्त स्वरूप भी नमस्कार मन्त्र का ही है। जो आदरणीय एवं स्मरणीय हैं। कितने ही लोग ऐसे होते हैं कि जिन्हें "कौड़ी की कमाई नहीं और क्षण मात्र का समय नहीं" उनके लिये थोडा समय लगने वाले पद स्मरणीय हैं। जिन्हें समय बहुत मिलता है परन्तु वे आलस्य

के कारण ऐसे लघु मंत्रों का स्मरण करते हैं। उन्हें तो प्रमाद स्थानों को छोड़ कर मूलमंत्र का ही स्मरण करना चाहिये।

प्रश्न—श्री नमस्कार मन्त्र का जाप किस प्रकार से करना चाहिये?।

उत्तर—कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ने योग शास्त्र में श्री नमस्कार मन्त्र के जाप का विधान विस्तार पूर्वक बतलाया है। अतः इस विषय के लिए योगशास्त्र के आठवें प्रकाश का ही अवलोकन करना चाहिये। श्रीमद् पादलिप्त सूरीजी ने श्रीनिर्वाणकलिका में जाप के भाष्य उपांशु और मानस, ये तीन प्रकार दिखलाये हैं। जो इस प्रकार हैं—नमस्कार स्मरण करने वालों के द्वारा अन्यलोग भले प्रकार से सुन सके वैसे स्पष्ट उच्चारण पूर्वक जो जाप होता है उसको 'भाष्य'[1] जाप कहते हैं।

भाष्य जाप की सिद्धी होने पर स्मरण करने वाला मन्द मन्द वाणी से दूसरे लोग सुन तो न सके परन्तु उनको यह ज्ञात हो जाय कि आप कर्ता जाप कर रहा है। उस जाप को 'उपांशु'[2] जाप कहते हैं।

उपांशु जाप की सिद्धी हो जाने पर जाप करने वाला स्वयं ही अनुभव करता परन्तु दूसरों को ज्ञात नहीं हो सकता उस जाप को 'मानस'[3] जाप कहते हैं।

इस प्रकार भाष्य, उपांशु और मानस जाप करने में जाप करने वालों में कोई सम्पूर्ण नवकार का और कोई अ. सि. आ. सा. उ. य नमः तो कोई नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्य का तो कोई ॐ अर्हम्‌ इस अत्यन्त संक्षिप्त परमेष्ठि मन्त्र का स्मरण करते हैं।

ॐ अर्हम्‌ मन्त्र में पंच परमेष्ठि का समावेश इस प्रकार होता है—

अरिहंता असरीरा आयरिया उवज्झाया तहा मुणिणो।
पढमक्खर निप्फण्णो ॐकारो पंच परमिट्ठी॥

अरिहंत का अ, अशरीरि सिद्ध का अ, आचार्य का आ उपाध्याय का उ, और मुनि का म इन सब को परस्पर मिलाने से ॐकार निष्पन्न होता है, जो पंच परमेष्ठी का वाचक है—अ+अ = आ, आ + आ, = आ, आ + उ = ओ, ओ + म्‌ = ओम्‌ (ॐ) इस प्रकार ॐ पंच परमेष्ठि का वाचक है ही और अर्हम्‌ की भी महिमा अपरम्पार है। श्री हेमचन्द्र सूरिजी म. ने 'श्री सिद्धहेमशब्दानुशासन' की बृहद् वृत्ति में लिखा है कि—"अर्हमित्येतदक्षरं परमेश्वरस्य परमेष्ठिनो वाचकं सिद्धचक्रस्यादि बीज सकलागमो

१ यन्तु परैः श्रूयते भाष्यः

२ उपांशुः परैरश्रूयमाणोऽन्तर्जल्परूपः।

३ इह मानसो मनो मात्र वृत्ति निवृत्त स्वसंवेद्यः॥

पनिपद्भूतमशेष विघ्न विघातनिघ्नमखिलदृष्टादृष्ट संकल्पकल्पद्रुमोपमं, शास्त्राध्ययनाध्यापनावधि प्रणिधेयम्"

'अर्हम्' ये अक्षर परमेश्वर परमेष्ठि के वाचक हैं। सिद्धचक्र के आदि बीज हैं। सकलागमों के रहस्य भूत हैं, सब विघ्न समूहों का नाश करने वाले हैं। सब दृष्ट याने राज्यादि सुख और अदृष्य याने संकल्पित अपवर्ग सुख का अभिलषित फल देने में कल्पद्रुम के समान हैं। शास्त्रों के अध्ययन और अध्यापन के आदि में इसका प्रणिधान करना चाहिये। अर्हन् का महत्व दिखलाते हुए आचार्यश्री ने योगशास्त्र में भी फरमाया है कि—

अकारादि हकारान्तं, रेफमध्यं सबिन्दुकम्।
तदेव परमंतत्वं, यो जानाति स तत्व वित्॥
महातत्वमिदं योगी, यदैव ध्यायति स्थिरः।
तदैवानन्दसंपद्भूमुक्ति श्री रूपतिष्ठते॥

जिसके आदि में अकार है। जिसके अन्तमें हकार है। बिन्दुसहित रेफ जिसके मध्य में है। ऐसा अर्हम् मंत्रपद है। वही परमतत्व है। उसको जो जानता है-समझता है वही तत्वज्ञ है। जब योगी स्थिर चित्त होकर इस महातत्व का ध्यान करता है, तब पूर्ण आनंद स्वरूप उत्पत्तिस्थान—रूपमोक्ष—विभूति उसके आगे आकर प्राप्त होती है।

वाचक प्रवर श्रीमद् यशोविजयजी भी फरमाते हैं कि—

अर्हमित्यक्षरं यस्य चित्ते स्फुरति सर्वदा
परं ब्रह्म ततः शब्द ब्राह्मणः सोऽधिगच्छति॥२७॥
परः सहस्राः शरदां, परे योगमुपासताम्।
हन्तार्हन्तमनासेव्य, गन्तारो न परं पदम्॥२८॥
आत्मायमर्हतो ध्यानात् परमात्मत्वमश्नुते।
रसविद्धं यथाताम्रं स्वर्णत्वमधिगच्छति॥२९॥
(द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका)

अर्हम् ऐसे अक्षर जिसके चित्त में हमेशां स्फुरायमान रहते हैं। वह इस शब्द ब्रह्म से परब्रह्म (मोक्ष) की प्राप्ती कर सकता है। हजारों वर्षों पर्यन्त योग की उपासना करनेवाले इतर जन वास्तव में अरिहंत की सेवा किये बिना परम पद की प्राप्ती नही कर सकते। जिस प्रकार रस से लिप्त तांबा सोना बनता है। उसी प्रकार अरिहंत के ध्यान से अपनी आत्मा परमात्मा बनती है।

कितने ही लोग 'नमो अरिहंताणं' यह सप्ताक्षरी मन्त्र और कितने ही लोग 'अरिहंत, सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू' इस षोडशाक्षरी मंत्र का स्मरण करते

के कारण ऐसे लघु मन्त्रों का स्मरण करते है। उन्हें तो प्रमाद स्थानों को छोड़कर मूलमन्त्र का ही स्मरण करना चाहिये।

प्रश्न—श्री नमस्कार मन्त्र का जाप किस प्रकार से करना चाहिये?।

उत्तर—कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ने योग शास्त्र में श्री नमस्कार मन्त्र के जाप का विधान विस्तार पूर्वक बतलाया है। अत इस विषय के लिए योगशास्त्र के आठवें प्रकाश का ही अवलोकन करना चाहिये। श्रीमद् पादलिप्त सूरीजी ने श्रीनिर्वाणकलिका में जाप के भाष्य उपांशु और मानस, ये तीन प्रकार दिखलाये हैं। जो इस प्रकार हैं—नमस्कार स्मरण करने वालों के द्वारा अन्यलोग भले प्रकार से सुन सके वैसे स्पष्ट उच्चारण पूर्वक जो जाप होता है उसको 'भाष्य' जाप कहते हैं।

भाष्य जाप की सिद्धी होने पर स्मरण करने वाला कण्ठगत वाणी से दूसरे लोग सुन तो न सके परन्तु उनको यह ज्ञान हो जाय कि आप कर्ता जाप कर रहा है। उस जाप को 'उपांशु' जाप कहते हैं।

उपांशु जाप की सिद्धी हो जाने पर जाप करने वाला स्वयं ही अनुभव करता परन्तु दूसरों को ज्ञान नहीं हो सकता उस जाप को 'मानस' जाप कहते है।

इस प्रकार भाष्य, उपांशु और मानस जाप करने में जाप करने वालों में कोई सम्पूर्ण नवकार का और कोई अ सि. आ सा. उ. य नम तो कोई नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्य का तो कोई ॐ अर्हंनम इस अत्यन्त संक्षिप्त परमेष्ठि मन्त्र का स्मरण करते हैं।

ॐ अर्हंनम मन्त्र में पंच परमेष्ठि का समावेश इस प्रकार होता है—

> अरिहंता असरीरा आयरिया उवज्झाया मुहा मुणिणो।
> पढमक्खर निप्पण्णो ॐकारो पंच परमिट्ठी ॥

अरिहंत का अ, अशरीरि सिद्ध का अ, आचार्य का आ उपाध्याय का उ, और मुनि का म इन सब को परस्पर मिलाने से ॐकार निष्पन्न होता है, जो पंच परमेष्ठी का वाचक है—अ+अ = आ, आ + आ, = आ, आ + उ = ओ, ओ + म् = ओम् (ॐ) इस प्रकार ॐ पंच परमेष्ठि का वाचक है ही और अर्हम् की भी महिमा अपरम्पार है। श्री हेमचन्द्र सूरिजी म. ने 'श्री सिद्धहेमशब्दानुशासन' की बृहद् वृत्ति में लिखा है कि—
"अर्हमित्येतदक्षरं परमेश्वरस्य परमेष्ठिनो वाचकं सिद्धचक्रस्यादि बीजं सकलागमो

१ यत्तु परै श्रूयते मन्त्रः

२ [illegible]

३ स्व मनसा [illegible] वृत्ति [illegible] ॥

जाता मेरा यह काम सफल नहीं होता। अव उन के स्थान पर जावेगें उन्हें तैल सिन्दूर चढावेंगे जुहार करेगें। अव की वार पूजा अच्छी तरह करेगें तो फिर कभी वे हमारा काम झट कर देंगे या प्रार्थना करने पर स्वप्न में आकर फोचर का अंक वतादेगें तो हम लखपति हो जावेंगें" ऐसे भ्रामक एवं वृथाप्रलाप को सुन कर मैं सोचता हूं, हा? क्या अज्ञान की लीला है। इन भ्रान्त धारणाओं के वर्तुल में फस कर हम अपने जीवन को कलंकित करते हैं। प्राप्त धन एवं शक्ति का अप-व्यय करते हैं। आत्म साधना से भी वंचित रहते हैं। वीतराग को अपना आराध्य मानने वालों एवं सुदेव, सुगुरु, और सुधर्म को मानने वालों की यह विचार धारा आश्चर्य? महदाश्चर्य?? अर्हन्। अर्हन्।

हम मंत्रों के लिए तथाकथित मंत्रवादियों से प्रार्थना करने से पहले उन मन्त्रवादियों के जीवन का अवलोकन करेंगें तो, उनका जीवन इन भ्रामक ढकोसलों से पतित हुआ ही दिखेगा। उदर पोषण के लिये कष्ट पूर्वक अन्न मिलाते होवेंगे। पांच दस रुपयों में भक्तों को मंत्र यंत्र देने वाले वे भक्तों के शत्रुओं को परास्त करने की वृथा डींग हाँकते हैं। भक्तों को धनधान्य से प्रमुदित करने वाले वे क्यों पांच दस रुपयों के मूल्य में मंत्र वेचते हैं? उन्हें क्या आवश्यकता है पांच दस की? क्यों न वे मंत्रों के वल आकाश से सोना वरसाते? क्यों वे रोगों से आक्रान्त होते है?

आदि प्रश्नों के उचित एवं संतोषप्रद उत्तर मंत्रवादियों के पास नहीं है। यदि हम ही स्वयंमेव इन प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने की प्रवृत्ति करते हैं। तो हम को चिन्तन का नवनीत यही मिलेगा कि जो वल जो श्रद्धा जो सामर्थ्य हमारी भावना में है। वह किसी में भी नहीं। हम सोचते रहे जगद् भर की वुराई तो हमारी भलाई होगी कैसे? समुद्र के विशालकाय मत्स्यों की भोंहो में या कान पर चावलों के दानें जितनी काया वाला तन्दूल नाम का अतिछोटा मत्स्य होता है। वह अपने नन्हें से जीवन में रतिमात्र मांस नहीं खाता और न खुन की एक वूंद भी पीता है। वह किसी को किसी प्रकार का दुख भी नहीं देता, परन्तु उन विशाल काय मत्स्यों की भोंहों पर वैठा वह हिंस्र विचारों मात्र से ही नरक जैसा महाभयंकर यातना-स्थान प्राप्त हो वैसा वन्ध प्राप्त करता है, और अन्तर्मुहूर्त का जीवन समाप्त कर उस स्थान को प्राप्त भी हो जाता है। अतः हमारे शास्त्रकारों ने तभी तो उद्घोषणा की है कि — "अप्पा कत्ता विकत्ता य" याने आत्मा ही कर्त्ता है और आत्मा ही भोक्ता है, और "यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी"। अपने हाथों ही अपने पैर को काटकर और सोचना की इस होती हुई पीड़ा का अनुभव कोई अन्य करे, यह कैसे संभव हो सकता है? जिसने जैसे किये हैं, उसको तदनुसार ही फल प्राप्त होगा।

खेद का विषय है कि हम शास्त्रों और शास्त्रकारो के निर्दिष्ट मार्ग को छोड कर जिस प्रकार पागल वास्तविक को छोड़ कर अवास्तविक की ओर जाता है वैसे

है। सताक्षरी (नमो अरिहंताण) के लिये योगशास्त्र के आठवें प्रकाश में लिखा है कि-

यदीच्छेद् भवदावाग्नेः समुच्छेदम् क्षणादपि।
स्मरेत्तदादिमन्त्रस्य वर्ण सप्तकमादिमम्॥

यदि संसार के रूप दावानल का क्षण मात्र में उच्छेद करने की इच्छा हो तो आदि मन्त्र (नमस्कार) के आदि के सात अक्षर (नमो अरिहंताण) का स्मरण करना चाहिये।

षोडशाक्षरी मन्त्र की महत्ता के विषय में कहा गया है कि—

यदुच्चारण मात्रेण, पाप संघः प्रलीयते।
आत्मानंय शिरोदेय न देयः षोडशाक्षरी॥

शरीर का नाश कर देना, मस्तक दे देना परन्तु जिसके उच्चारण मात्र से ही पापों का संघ (समूह) नष्ट हो जाता है, ऐसा षोडशाक्षरी मन्त्र किसी को नहीं देना चाहिये।

इस प्रकार के महामहिमाशाली सकल श्रुतागम रहस्य भूत श्री मन्त्राधिराज महा मन्त्र नमस्कार को प्राप्त करके भी नाम तो जैन रखते हैं और अत्यन्त लाभप्रदाता मन्त्र को छोड़कर अन्य मन्त्रों के लिए इधर उधर भटकते देखे जाते हैं। मन्त्रों के लोभ से लुब्ध होकर भटकने वाले इजन धन एवं धर्म तक से हाथ धोते देखे गए हैं। सब ओर से लुट जाने के पश्चात् वे मनेच्छु साधुओं के पास उनसे मन्त्र प्राप्त कर बिना मेहनत के श्रीमन्त बनने की इच्छा से आते हैं। उनकी सेवा सुश्रूषा करते हैं। अशरण दयावान् वे मुनिराज उन्हें महा मंगलकारी श्री नवकार मन्त्र देते हैं। तो वे कहते हैं। महाराज! इस में क्या धरा है। यह तो हमारे नन्हे मुन्ने बच्चों को भी आता है। इसका स्मरण कर कर के कितने ही वर्ष पूरे हो गए। परन्तु कुछ भी नहीं मिला कृपा कर के अन्य देवी देवता की आराधना बतलाइए। जिस के साधन स्मरण से मेरी सभी चाहनाएँ पूर्ण हो जाय। मुनिराज बहुत समझाते हैं। परन्तु वे नहीं समझते। वे मन्त्रों को लोभ से लुब्ध मुग्ध जीव यह नहीं जानते कि क्या ये देवी देवता हमारे पूर्वकृत कर्मों को मिटा सकने में समर्थ हैं। ये भी तो कर्मपाश में बन्धे हैं। स्वयं बन्धा हुवा दूसरे को बन्धनों से कैसे छुड़ा सकता है? देवी देवता हमको धन पुत्र कलत्रादि देकर सुखी कर देंगे। उनकी प्रसन्नता से हमारा सारा का सारा कार्य चुटकी बजाते ही हो जायगा। इस भ्रान्त धारणाने हमको पुरुषार्थ हीन बना दिया है। जरा सा दुःख आया अरिहंत याद नहीं आते अपितु ये सकामी देवी देवता याद आते हैं। मुझे आश्चर्य तो जब होता है ऐसे लोग चिकित्सकों के औषधोपचार से रोग मुक्त होते हैं तथा अकस्मात् कहीं या किसी ओर से कुछ लाभ होता है तो चट से ऐसा कहते सुनता हूँ कि "मैंने अमुक देव की या देवी की मानता ली थी, उन्हों ने कृपा कर के मुझे रोग से मुक्त कर दिया, मेरा यह काम सफल कर दिया। यदि उन्हों की कृपा नहीं होती तो मैं रोग से मर

जाता मेरा यह काम सफल नहीं होता। अब उन के स्थान पर जावेगें उन्हें तैल सिन्दूर चढावेंगे जुहार करेंगे। अब की बार पूजा अच्छी तरह करेगें तो फिर कभी वे हमारा काम झट कर देंगे या प्रार्थना करने पर स्वप्न में आकर फीचर का अंक बतावेगें तो हम लखपति हो जावेंगे" ऐसे भ्रामक एवं वृथाप्रलाप को सुन कर मैं सोचता हूं, हा! क्या अज्ञान की लीला है। इन भ्रान्त धारणाओं के वर्तुल में फस कर हम अपने जीवन को कलंकित करते हैं। प्राप्त धन एवं शक्ति का अपव्यय करते हैं। आत्म साधना से भी वंचित रहते हैं। वीतराग को अपना आराध्य मानने वालों एवं सुदेव, सुगुरु, और सुधर्म को मानने वालों की यह विचार धारा आश्चर्य? महदाश्चर्य?? अर्हन्। अर्हन्।

हम मंत्रों के लिए तथाकथित मंत्रवादियों से प्रार्थना करने से पहले उन मन्त्रवादियों के जीवन का अवलोकन करेंगें तो, उनका जीवन इन भ्रामक ढकोसलों से पतित हुआ ही दिखेगा। उदर पोषण के लिये कष्ट पूर्वक अन्न मिलाते होवेंगे। पांच दस रुपयों में भक्तों को मंत्र यंत्र देने वाले वे भक्तों के शत्रुओं को परास्त करने की वृथा डींग हाँकते हैं। भक्तों को धनधान्य से प्रमुदित करने वाले वे क्यों पांच दस रुपयों के मूल्य में मंत्र बेचते हैं? उन्हें क्या आवश्यकता है पांच दस की? क्यों न वे मंत्रों के बल आकाश से सोना बरसाते? क्यों वे रोगों से आक्रान्त होते है?

आदि प्रश्नों के उचित एवं संतोषप्रद उत्तर मंत्रवादियों के पास नहीं है। यदि हम ही स्वयंमेव इन प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने की प्रवृत्ति करते हैं। तो हम को चिन्तन का नवनीत यही मिलेगा कि जो बल जो श्रद्धा जो सामर्थ्य हमारी भावना में है। वह किसी में भी नहीं। हम सोचते रहे जगद् भर की बुराई तो हमारी भलाई होगी कैसे? समुद्र के विशालकाय मत्स्यों की भौंहो में या कान पर चावलों के दानें जितनी काया वाला तन्दूल नाम का अतिछोटा मत्स्य होता है। वह अपने नन्हें से जीवन में रतिमात्र मांस नहीं खाता और न खुन की एक बूंद भी पीता है। वह किसी को किसी प्रकार का दुख भी नहीं देता, परन्तु उन विशाल काय मत्स्यों की भौंहों पर बैठा वह हिंस्र विचारों मात्र से ही नरक जैसा महाभयंकर यातना-स्थान प्राप्त हो वैसा बन्ध प्राप्त करता है, और अन्तर्मुहूर्त का जीवन समाप्त कर उस स्थान को प्राप्त भी हो जाता है। अतः हमारे शास्त्रकारों ने तभी तो उद्घोषणा की है कि — "अप्पा कत्ता विकत्ता य" याने आत्मा ही कर्त्ता है और आत्मा ही भोक्ता है, और "यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी"। अपने हाथों ही अपने पैर को काटकर और सोचना की इस होती हुई पीड़ा का अनुभव कोई अन्य करे, यह कैसे संभव हो सकता है? जिसने जैसे किये हैं, उसको तदनुसार ही फल प्राप्त होगा।

खेद का विषय है कि हम शास्त्रों और शास्त्रकारो के निर्दिष्ट मार्ग को छोड कर जिस प्रकार पागल वास्तविक को छोड़ कर अवास्तविक की ओर जाता है वैसे

व यह-नमन समस्त पापों का नाश करनेवाला एवं समस्त मंगलों में प्रधान व श्रेष्ठ है। इसी भाव को पीछे के चार पदों में अभिव्यक्त किया गया है। पूरा नवकार मंत्र इस प्रकार है —

णमो अरिहंताणं — अरिहन्तों को नमस्कार
णमो सिद्धाणं — सिद्धों को नमस्कार
णमो आयरियाणं — आचार्यों को नमस्कार
णमो उवज्झायाणं — उपाध्यायों को नमस्कार
णमो लोए सव्वसाहूणं — लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार
एसोपंच णमुक्कारो — ये पांचो नमस्कार
सव्व पावप्पणासणो — समस्त पापों का नाश करनेवाले हैं।
मंगलाणंच सव्वेसिं — सर्व मंगलों में
पढमं हवइ मंगलं। — यह प्रथम या प्रधान मंगल है।

इस नमस्कार मंत्र के जाप की सुविधा की दृष्टि से संक्षिप्तिकरण भी किया गया है। संस्कृत में नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्य प्रसिद्ध है ही। भारत में पांचों पदों का प्रथमाक्षर लेकर 'असिआउसाय नमः' मंत्र के जाप का विधान भी है। सब से संक्षिप्त रूप प्रणव मंत्र "ॐ" है। जिसमें पंच परमेष्ठि के सूचक अ आ आ उ म् इन पांचों का संयुक्त रूप ॐ कार माना गया है। यों ॐ प्रणव मंत्र सर्व मान्य है ही। इन में से पहले के पांच पद तो समस्त जैन सम्प्रदायों को समान रूप से मान्य हैं। दिगम्बर, श्वेताम्बर स्थानकवासी तेरापंथी आदि प्रत्येक जैन के लिए यह आदर्श मंत्र है। महात्म्य वर्णन वाले अंतिम चार पदों को कोई कोई प्रधानता नहीं देते, व कोई कोई देते हैं। कई जैन सूत्रों का प्रारंभ भी नमस्कार मंत्र से होता है। षडावश्यक आदि सभी विधि विधान एवं व्याख्यान भी इसी मंत्रोच्चार के साथ प्रारंभ किया जाता है। इस मंत्र के पद वाक्यों में कोई भी व्यक्ति न्यूनाधिक न कर सके इसलिए अक्षर आदि की गणना भी निश्चित कर दी गयी है। ८ संपदा ६८ लघु अक्षर, ७ गुरु अक्षर इस मंत्र के बतलाये गये हैं। इसके जप का बड़ा भारी महात्म्य है। लक्ष और कोटी की संख्या में जप करने का विधान पाया जाता है, और उसका बड़ा फल बतलाया गया है।

जिन मणियों के द्वारा इस मंत्र का जाप किया जाता है उनकी संख्या १०८ होती है, जो इन पंच परमेष्ठियों के गुणों की संख्या पर आधारित है। अरिहंत के १२, सिद्ध के ८, आचार्य के ३६, उपाध्याय के २५, और साधु के २७ गुण, कुल मिलाकर १०८ हो जाते हैं। नवकार मंत्र को इन १०८ मणियोंवाली माला से गुणने के कारण ही इसका नाम नवकारवाली पड़ा। जैनोंके अनुकरण में अन्य धर्मावलम्बियों ने भी जप करनेवाली माला १०८ मनकों की ही स्वीकार की यद्यपि उनकी संख्या १०८ होने का कोई स्पष्ट कारण उन लोगों में नहीं बतलाया गया है।

नवकार मंत्र की व्याख्या और उसके महात्म्य पर बहुत बडा साहित्य निर्मित हुआ है। कई शब्द शास्त्री मुनियोंने एक एक पद के शताब्धिक अर्थ किये है। ऐसी कुछ शतार्थी स्वताए मंत्रराज गुणकल्प महोदधि, और अनेकार्थ रत्नमंजूषा में प्रकाशित भी हो चुके हैं। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश राजस्थानी, गुजराती आदि के कई स्तुति स्तोत्र प्रकाशित हुए हैं। कुच्छ प्रकरणग्रंथ भी रचे गये हैं। नमस्कार मंत्र सम्बधी रचनाओं के दो विशिष्ट संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाले हैं। जिनमें से पहला मुनि जिनविजयजी सम्पादित के कई फरमे हमने कई वर्ष पूर्व छपे देखे थे। दूसरा जैन साहित्य विकास मंडल की ओर से तय्यार हो रहा है। मुनि भद्रंकरविजयजी ने गूजराती में एक ग्रंथ प्रकाशित किया है जिसके अंत मे खरतर गच्छीय श्रीजिनचंद्रसूरि रचित पंच परमेष्ठि प्रकरण आदि भी सानुवाद प्रकाशित हुए हैं। आत्मानंद सभा भावनगर ने एक इनामी योजना इस विषय में निबन्ध तैयार कराने के लिए की गयी थी जिसमें बंगाली विद्वान श्रीहरिसत्य भट्टाचार्य का निबन्ध सर्व प्रथम रहा। उस निबन्ध का गूजराती अनुवाद भी भावनगर की आत्मानंद सभा से प्रकाशित हो चुका है। इसी प्रकार नमस्कार महामंत्र के विशेष विधिविधान और उसके फलको बतलानेवाला नवकार कल्प भी प्रकाशित है श्वेताम्बर समाज में तो इस सम्बन्ध में बहुत विशाल साहित्य है, अनेक ग्रन्थो की टीकाओं में इस मंत्र के महात्म्य को प्रकट करने वाली कई कथाएँ भी प्राप्त होती हैं, और उन कथाओ को लेकर कई रास आदि रचे गये हैं। ऐसे ही एक सतरहवी शदी के कवि हीरकलश कृत रास के आधार से कुछ कथाएँ यहां प्रकाशित की जा रही हैं। रासकार ने मूल एक कथा की उपकथाओं के रूप में अन्य कई कथाओं को गूंथ लिया है यह इस रास की उल्लेखनीय विशेषता है।

राजसिंह रत्नावती कथा

भरतक्षेत्र में रयणापुर नामक नगर था। वहा मृगाङ्क नरेश्वर राज्य करता था जिसकी पटरानी विजया शीलादि गुणों से विभूषित थी। राजसुख भोगते हुए रानी ने सिंह स्वप्न सूचित राजसिंह नामक कुमार को जन्म दिया। पांच धाय माताओं द्वारा लालन पालन होकर कुमार बडा हुआ। उसे बहुत्तर कलाओं का अभ्यास कराया गया। मंत्रीश्वर मतिसागर का पुत्र सुमतिकुमार उसका समवयस्क था, जिससे उसकी मित्रता हो गई। एक दिन दोनों मित्र अश्वारूढ हो कर धूमने निकले। उन्हें वन में घूमते मध्यान्ह हो गया। धूप में व्याकुल होकर वे एक आम्रवृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे थे तो एक पथिक उनके दृष्टिगोचर हुआ। कुमार ने उसे बुलाकर पूछा आप कहां से आ रहे हैं ओर किस तरफ जावेंगे ? पथिक ने कहा – मैं कदमपुर नगर से शत्रुञ्जय गिरि की यात्रा के हेतु निकला हूं। राजकुमार ने उसे कोई कौतुक की बात सुनाने का आदेश दिया।

पथिक ने कहा पदमपुर में सिंहरथ राजा को कमला नामक रानी है। उसको रत्नावती नामक अत्यन्त सुन्दर पुत्री है जो चौसठ कलाओं में निपुण और तरुण वय

जैसा हो वैसा उपासक भी उसकी उपासना से हो जाना चाहिये। आचार्यप्रवर श्री मानतुंगसूरि ने श्री भक्तामर स्तोत्र के दसवें काव्य में इसी आशय को प्रकाशित किया है —

> नात्यद्भुत भुवनभूषण भूतनाथ, भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्त ।
> तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा, भूत्याश्रित य इह नात्मसम करोति ॥१०॥

हे जगद् भूषण हे प्राणियों के स्वामी भगवान्? आपके सत्य और महान् गुणों की स्तुति करने वाले मनुष्य आपके ही समान हो जाते है। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है, क्यों कि जो कोई स्वामी अपने आश्रित उपासक को अपने समान यदि नहीं बना लेता उसके स्वामीपन से क्या लाभ? अर्थात् कुछ नहीं।

हाँ तो अन्य सभी देवता सकामी समानी सक्रोधी सलोभी एव रागद्वेष से युक्त है और वीतराग इन से रहित। अन्य ऐसी देवताओंकी उपासना से हम को वही प्राप्त होगा जो उनमें है यानि काम क्रोध लोभ राग द्वेषादि ही प्राप्त होगें। और वीतराग की उपासना से उपासक काम क्रोध मान माया और राग द्वेषादि से दूर होकर वीतरागत्व को प्राप्त करके स्वय भी वीतराग बन जायगा। मुनि प्रवर श्री यशो विजयजीने भी कहा है कि—

> इलिका भ्रमरी ध्यानात्, भ्रमरीत्व यथाश्नुते ।
> तथा ध्यायन् परमात्मानं, परमात्मत्वमाप्नुयात् ॥

भवरी का निरन्तर ध्यान करने से जिस प्रकार इलिकाएं भवरित्व को प्राप्त होती हैं उसी प्रकार परमात्मा (वीतराग) का निरतर ध्यान करने से आत्मा भी परमात्मा बन जाती है।

वीतराग की सम्यग् उपासना करने से जब हमारी आत्मा वीतरागत्व को भी प्राप्त कर लेती है, तो अन्य सामान्य वस्तु ओं का प्राप्त होना कोई आश्चर्य का कारण नहीं है। अत सब प्रपचों का त्याग कर श्री वीतराग की उपासना के बीजभूत सकलागम रहस्यभुत महामंत्राधिराज श्री नमस्कार महामंत्र का निष्काम भक्ति से स्मरण करना ही हमारे लिये लाभप्रद है।

अन्त में निबन्ध में यदि कुछ भी अयुक्त लिखा गया हो तो उसके लिये त्रिकरण त्रियोग से मिथ्या दुष्कृत्य की चाहना करते हुए वाचको से निवेदन है कि अपने हाथों अपनी शक्ति और समय का वृथा साधनाओ में व्यय न करते हुए सत्यर्थी निष्पक्ष भाव से गवेषणा कर के उसको सत्य मान कर के आत्मसाधना के मार्ग में आगे बढ़ें यही आशा। इत्यलम् विस्तरेण।

श्री नमस्कार मन्त्र—महात्म्य की कथाएं

लेखक—श्री भंवरलाल नाहटा

प्रत्येक धर्म में इष्ट देव और गुरू की भक्ति—पूजा का महत्वपूर्ण स्थान होता है। हरेक धर्म में कुछ मंत्र भी विशेष श्रद्धा के साथ जाप किये जाते है और उनके द्वारा उस धर्म का आदर्श सामने आता है। जैन धर्म में देव या ईश्वर सम्बन्धी मान्यता अन्य धर्मों से कुछ पृथक है। अन्य धर्मों में उनके इष्ट देव क्रुद्ध और तुष्ट होते हैं ऐसी मान्यता होने के कारण उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए या उपद्रव निवारण व सुखप्राप्ति के लिए पूजे जाते हैं, पर जैन धम के देव और गुरू न रुष्ट होते हैं, न तुष्ट होते हैं, वीतरागता ही उनका आदर्श है। उनकी उपासना अपनी आत्मशुद्धि और सद्‌गुण प्रकटीकरण की प्रेरणा के लिए की जाती है। आध्यात्मिक दृष्टि से जैन धर्म का यह मन्तव्य है कि, सुख या दुख या नरक-स्वर्ग और मोक्ष का मूल कारण अपनी आत्मा ही हैं देव और गुरू तो निमित्त कारण है। जैन धर्म के प्रवर्तक व प्रचारक तीर्थंकर अपनी साधना के द्वारा ही आत्मा की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त किये थे। प्राणी मात्र के कल्याण के लिए उन्होंने आत्मोत्थान का मार्ग प्रकाशित किया इस लिए परमोपकारी होने से उनकी भक्ति-पूजा की जाती है। उनके जीवन और प्रवचनों से विशेष प्रेरणा मिलती है इसी प्रकार उनके प्रदर्शित पथ के अनुयायी निर्ग्रन्थ मुनि गुरू माने जाते हैं। उनके द्वारा तीर्थंकरों का मङ्गलमय उपदेश प्रसारित होता है, वे यथा शक्य आत्मोन्नति की साधना में प्रवृत्त रहे हैं। इसलिए उनका जीवन भी दूसरों के लिए पथप्रदर्शक और अनुकरणीय होता है।

जैन धर्म में अरिहंत और सिद्ध दो परमेश्वर या देव माने जाते हैं। एवं आचार्य, उपाध्याय व साधु, ये तीनों गुरूस्थानीय हैं। इन पांचों को परमेष्ठि कहा जाता है। प्रत्येक जैन के लिए ये इष्ट और उपासनीय होते हैं, इसलिए जैन धर्म का जो मूलमंत्र है उसमें पंच परमेष्ठि को नमस्कार किया गया है। उसके पश्चात् चार पदों में उपर्युक्त परमेष्ठियों के नमस्कार के महात्म्य का वर्णन किया गया है, और पंच परमेष्ठि के पांच पद एवं नमस्कार महात्म्य के चार पद मिलाकर नव पद[1] होते हैं जिसे नवकार मंत्र कहा जाता है। इस मंत्र में पांचों परमेष्ठियों को नमस्कार किया है इस से नमस्कार मंत्र भी कहते हैं। अपने इष्ट पूज्य पुरुषों का नामस्मरण

---

१ पंच परमेष्ठि के पांच पद एवं दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप इन चारों को मिलाकर नवपद कहा जाता है। इस में देव गुरू के अतिरिक्त धर्म तत्त्व भी सम्मिलित हो गया व साध्य, साधक, साधन की त्रिपुटी भी मिल गयी है अतः सिद्धचक्र कहा जाता है और उसकी बड़ी महिमा है। इसके माहात्म्य पर श्रीपाल की कथा बहुत प्रसिद्ध है एवं श्वेताम्बर दिगंबर दोनों में नवपद की साधना की जाती है।

व वदन-नमन समस्त पापों का नाश करनेवाला एवं समस्त मंगलों में प्रधान व श्रेष्ठ है। इसी भाव को पीछे के चार पदों में अभिव्यक्त किया गया है। पूरा नवकार मंत्र इस प्रकार है:—

णमो अरिहंताणं — अरिहन्तों को नमस्कार
णमो सिद्धाणं — सिद्धों को नमस्कार
णमो आयरियाणं — आचार्यों को नमस्कार
णमो उवज्झायाणं — उपाध्यायों को नमस्कार
णमो लोए सव्वसाहूणं — लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार
एसोपंच णमुक्कारो — ये पांचो नमस्कार
सव्व पावप्पणासणो — समस्त पापों का नाश करनेवाले हैं।
मंगलाणंच सव्वसिं — सर्व मंगलों में
पढम हवइ मंगलं। — यह प्रथम या प्रधान मंगल है।

इस नमस्कार मंत्र के जाप की सुविधा की दृष्टि से संक्षिप्तिकरण भी किया गया है। संस्कृत में नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्य प्रसिद्ध है ही, प्राकृत में पांचों पदों का प्रथमाक्षर लेकर 'असिआउसाय नमः' मंत्र के जाप का विधान भी है। सब से संक्षिप्त रूप प्रणव मंत्र "ॐ" है। जिसमें पंच परमेष्ठि के सूचक अ आ आ उ म् इन पांचों का संयुक्त रूप ॐ कार माना गया है। यों ॐ प्रणव मंत्र सर्व मान्य है ही। इन में से पहले के पांच पद तो समस्त जैन सम्प्रदायों को समान रूप से मान्य है। दिगम्बर, श्वेताम्बर स्थानकवासी तेरापंथी आदि प्रत्येक जैन के लिए यह आदर्श मंत्र है। महात्म्य वर्णन वाले अंतिम चार पदों को कोई कोई प्रधानता नहीं देते, व कोई कोई देते हैं। कई जैन सूत्रों का प्रारंभ भी नमस्कार मंत्र से होता है। षडावश्यक आदि सभी विधि विधान एवं व्याख्यान भी इसी मंत्रोच्चार के साथ प्रारंभ किया जाता है। इस मंत्र के पद वाक्यों में कोई भी व्यक्ति न्यूनाधिक न कर सके इसलिए अक्षर आदि की गणना भी निश्चित कर दी गयी है। ८ सपदा ६८ लघु अक्षर, ७ गुरु अक्षर इस मंत्र के बतलाये गये हैं। इसके जप का बड़ा भारी महात्म्य है। लक्ष और कोटी की संख्या में जप करने का विधान पाया जाता है, और उसका बड़ा फल बतलाया गया है।

जिन मणिकों के द्वारा इस मंत्र का जाप किया जाता है उनकी संख्या १०८ होती है, जो इन पंच परमेष्ठियों के गुणों की संख्या पर आधारित है। अरिहंत के १२, सिद्ध के ८ आचार्य के ३६, उपाध्याय के २५, और साधु के २७ गुण, कुल मिलाकर १०८ हो जाते हैं। नवकार मंत्र को इन १०८ मणियोंवाली माला से गुणने के कारण ही इसका नाम नवकारवाली पड़ा। जैनोंके अनुकरण में अन्य धर्मावलम्बियों ने भी जप करनेवाली माला १०८ मणकों की ही स्वीकार की, यद्यपि उनकी संख्या १०८ होने का कोई स्पष्ट कारण उन लोगों में नहीं बतलाया गया है।

नवकार मंत्र की व्याख्या और उसके महात्म्य पर बहुत बडा साहित्य निर्मित हुआ है। कई शब्द शास्त्री मुनियोंने एक एक पद के शताधिक अर्थ किये है। ऐसी कुछ शतार्थी स्वताए मंत्रराज गुणकल्प महोदधि, और अनेकार्थ रत्नमंजूषा में प्रकाशित भी हो चुके हैं। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश राजस्थानी, गूजराती आदि के कई स्तुति स्तोत्र प्रकाशित हुए हैं। कुच्छ प्रकरणग्रंथ भी रचे गये हैं। नमस्कार मंत्र सम्बधी रचनाओं के दो विशिष्ट संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाले हैं। जिनमें से पहला मुनि जिनविजयजी सम्पादित के कई फरमे हमने कई वर्ष पूर्व छपे देखे थे। दूसरा जैन साहित्य विकाश मंडल की ओर से तैय्यार हो रहा है। मुनि भद्रंकरविजयजी ने गूजराती में एक ग्रंथ प्रकाशित किया है जिसके अंत मे खरतर गच्छीय श्रीजितचंद्रसूरि रचित पंच परमेष्टि प्रकरण आदि भी सानुवाद प्रकाशित हुए हैं। आत्मानंद सभा भावनगर से एक इनाभी योजना इस विषय में निबन्ध तैयार कराने के लिए की गयी थी जिसमें बंगाली विद्वान श्रीहरिसत्य भट्टाचार्य का निबन्ध सर्व प्रथम रहा। उस निबन्ध का गूजराती अनुवाद भी भावनगर की आत्मानंद सभा से प्रकाशित हो चुका है। इसी प्रकार नमस्कार महामंत्र के विशेष विधिविधान और उसके फलको बतलानेवाला नवकार कल्प भी प्रकाशित है श्वेताम्बर समाज में तो इस सम्बन्ध में बहुत विशाल साहित्य है, अनेक ग्रन्थो की टीकाओं में इस मंत्र के महात्म्य को प्रकट करने वाली कई कथाएँ भी प्राप्त होती हैं, और उन कथाओ को लेकर कई रास आदि रचे गये हैं। ऐसे ही एक सतरहवी शर्दी के कवि हीरकलश कृत रास के आधार से कुछ कथाएँ यहां प्रकाशित की जा रही हैं। रासकार ने मूल एक कथा की उपकथाओं के रूप में अन्य कई कथाओं को गूंथ लिया है यह इस रास की उल्लेखनीय विशेषता है।

राजसिंह रत्नावती कथा

भरतक्षेत्र में रयणापुर नामक नगर था। वहा मृगाङ्क नरेश्वर राज्य करता था। जिसकी पटरानी विजया शीलादि गुणों से विभूषित थी। राजसुख भोगते हुए रानी ने सिंह स्वप्न सूचित राजसिंह नामक कुमार को जन्म दिया। पांच धाय माताओं द्वारा लालन पालन होकर कुमार बडा हुआ। उसे बहुत्तर कलाओं का अभ्यास कराया गया। मंत्रीश्वर मतिसागर का पुत्र सुमतिकुमार उसका समवयस्क था, जिससे उसकी मित्रता हो गई। एक दिन दोनों मित्र अश्वारूढ हो कर धूमने निकले। उन्हें वन में घूमते मध्यान्ह हो गया। धूप में व्याकुल होकर वे एक आम्रवृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे थे तो एक पथिक उनके दृष्टिगोचर हुआ। कुमार ने उसे बुलाकर पूछा आप कहां से आ रहे हैं ओर किस तरफ जावेंगे? पथिक ने कहा-मैं कदमपुर नगर से शत्रुञ्जय गिरि की यात्रा के हेतु निकला हू। राजकुमार ने उसे कोई कौतुक की बात सुनाने का आदेश दिया।

पथिक ने कहा पदमपुर में सिंहरथ राजा को कमला नामक रानी है। उसको रत्नावती नामक अत्यन्त सुन्दर पुत्री है जो चौसठ कलाओं में निपुण और तरुण वय

प्राप्त है। राजा उसके अनुरूप वर की चिन्ता में था, मंत्रीश्वर ने कहा आप निश्चिन्त रहें इसके भाग्यबल से योग्य वर अवश्य प्राप्त होगा। इतने ही में नाट्य मंडली आई और नट्टुवे ने पुलिन्द का वेश धारण कर भीली नृत्य प्रारम्भ किया। नृत्य देखती हुई राजकुमारी एकाएक मूर्छित हो धराशायी हो गई जिससे सर्वत्र हाहाकार होने लगा। शीतोपचार से सचेत होने पर राजा ने रत्नावती से इसका कारण पूछा। उसने कहा–पिताजी! नट को देखकर मुझे जातिस्मरण ज्ञान हुआ है, मेरा पूर्वभव का पति पुलिन्द मिलेगा तभी मुझे सुख मिलेगा अन्य से मुझे प्रयोजन नहीं। राजा ने देश विदेश में दूत भेजे। मदनकुमार बहुत से सुन्दर सुन्दर राजकुमार एकत्र हुए और राजकुमारी से अपने पूर्वभव में पुलिन्द होने की बनावटी बातें बताई। कुमारी के यह पूछने पर कि पूर्वभव में क्या सुकृत किया जिससे राजवंश में उत्पन्न हुए ? तो उत्तर में किसीने कहा–हमने ब्रह्माजी की पूजा की, किसीने कहा–हमने दान दिया, किसीने कहा–पचाग्नि तपश्चर्या की। राजकुमारी ने कहा–यह कपट पूर्ण धपलेबाजी मुझ अच्छी नहीं लगती। इस प्रकार के मिथ्या व्यवहार के बचक पुरुषों के प्रति वह घृणा भाव धारण कर केवल स्त्री समुदाय में ही रह कर अपना काल निर्गमन करती है, और पुरुष का मुह देखना भी पसन्द नहीं करती। मैं यह कौतुक वार्ता देखकर ही पद्मपुर से आरहा हु जो आपसे निवेदन की है।

पथिक के वचन सुन कर रत्नसिंह तत्काल मूर्छित हो गया। थोड़ी देर में शीतल वायु से सचेत होने पर पथिक ने मूर्छा का कारण पूछा, तो कुमार ने अपने पूर्व भव की स्नेह वार्ता का सकेत बता कर उसे वस्त्राभरणों से सतुष्ट कर विदा किया। राजकुमार के मन पर उसकी पूर्व जन्म की प्रिया ने ऐसा अधिकार जमाया कि वह किसी प्रकार उसे भुला न सका। मंत्री पुत्र सुमतिकुमार के पूछने पर उसने कहा–मित्र! जम्बूद्वीप में सिद्धावट ग्राम है वहा सिद्धसेन सूरि नामक अणगार पधारे, उन्होंने वहीं चौमासा किया। उनका शिष्य समयसारमुनि तपश्चर्या करने के निमित्त गुर्वाज्ञा लेकर गिरीकन्दरा में गुफावास करने के लिए आए। उन्हें सिंहादि हिंसक जन्तुओं का कोई भय नहीं था क्योंकि वे स्वय क्रोधादि कषायों से रहित थे। एक दिन उनके पास भील युगल आया और मुनि को प्रणाम कर भक्ति पूर्वक बैठा। मुनिराज ने उन्हें भद्र परिणामी जान कर के नवकार मंत्र सिखाया। उस नमस्कार मन्त्र के निरन्तर जाप से मैं यहा राजकुमार हुआ और मेरी पूर्व जन्म की प्रिया पद्मपुर में सिंहरथ राजा की पुत्री रत्नावती हुई है। पथिक के वचनों से जातिस्मरण प्राप्त कर मैं उसके लिए बड़ा व्याकुल हु। उसकी प्राप्ति के बिना मैं जल और अग्नि में प्रविष्ट होकर या फासी खाकर मरने को उत्सुक हो रहा हूं। मंत्रीपुत्रने कहा–धैर्य रखो, जीता हुआ मनुष्य ही सुख परम्परा को प्राप्त करता है, मरने पर नहीं।

इस अवसर पर एक ऐसा प्रसग उपस्थित होता है, कि नागरिक लोग एकत्र

होकर राज प्रासाद में आते हैं। नगर के प्रमुख लोग उन का प्रतिनिधित्व कर रहे थे जिन के नाम इस प्रकार हैं—

आल्हण, आंवड, अचलसी, आमड, आसड, अमरसी, आपू, अक्कड, अरजनसींह आपमल्ल, अमृतसींह, ऊदड, ऊहड, ऊधड, आसधीर, आसू, अज्जड, अमरड, ईसर, अमीपाल, अक्खड, काजड, करमण, कुमरसी, करणड, केसव, करमसी, कान्हड, केल्हण, काजलिसाह, कृष्णड, कोडउ, कूमड, कूंपड, कम्मउ, कुसलउ, कालउ, कमलउ, कउंरड, केलड, कपूरचन्द, कल्हू, खरहथ, खेतड, खीमसी, खीरदेव, खिडपति, खेतसी, खीदड, खोखर, खिवराज, खीढड, खेमड, क्षेमराज, गेहड, गांगड, गुणराज, गोपड, गोदड, गिरराज, गोईद, गुणू, गोपाल, गोढ़, गोरड, गुणपाल, गढमल, गूजर, गुणदत्त, गज्जू, गोपीदास, गोवल, गौडीदास, आदि—

इन महाजन लोगों ने राजा से निवेदन किया कि आपका पुत्र राजसिंह अत्यन्त रूपवान है जो प्रतिदिन नगरी में घूमता है। कुमार का नाम सुनते ही रूप मुग्ध स्त्रियां घर के काम काज और बच्चों को रोते छोडकर उसकी रूप सुधा को लोचनो द्वारा पान करने के लिए उद्यत रहती हैं। कोई, भोजन करती हुई, कोई पानी छानती हुई कोई मोतियों के हार पिरोती हुई सारे काम छिटका कर कुमार को देखने दौडती है। जिससे हम लोगों की वडी हानि होती है, एक दिन का तो काम नहीं, सदा का प्रश्न है! आप मालिक है, विचार] करें। राजा ने कहा—ठीक है, हम कुमार को शिक्षा देंगे आप लोग निश्चित होकर सुख समाधि पूर्वक रहिए!

अब राजा ने कुमार को बुलाकर कहा—पुत्र! घूमना फिरना अच्छा नहीं, तुम घर बैठे ही आराम से रहो! पिता की यह शिक्षा कुमार को अरुचिकर लगी। उसने मित्र से कहा—मुझे पिता ने घर में रहने का आदेश दिया है, जो मुझे सर्वथा नही सुहाता। मुझे तो रत्नावती चाहिए, मैं विदेश जाऊंगा और अपने भाग्य की परीक्षा कर देखूंगा। तुम यहां सुखपूर्वक रहो! मित्र ने कहा—"मैं तुम्हारे विना यहां नहीं रह सकता, जो तुम्हारी गति वही मेरी गति" इस प्रकार दोनों ने विचार करके मध्य रात्रि में प्रयाण कर दिया।

ये दोनों मित्र क्रमशः वन—मार्ग का उल्लंघन करते हुए एक दिन रात्री के समय किसी सूने मन्दिर में ठहरे। मध्यरात्रि के समय मानव रूदन के स्वर सुनकर कुमार ने सोचा इन निर्जन वन में कौन दुखी मानव चिल्ला रहा है? वह तुरत खड्ग लेकर शब्द की अनुसार दूर निकल गया। आगे जा कर उसने देखा—एक राक्षस ने एक पुरुष को पकड़ रखा है। कुमारने कहा—अहो राक्षस! इसने क्या विगाड़ा है? उसने कहा—इसने वहुत सी विद्याएं सीखी हैं, इसने मुझे आकर्षित किया, मैंने इससे वलि रूप में अपना मांस देने को कहा। इसके अस्वीकार करने पर मै इस साधक को ही भक्षण करने को उद्यत हुआ हूं। कुमार ने कहा—मैं अपना मांस देने को प्रस्तुत हूं।

प्राप्त है। राजा उसके अनुरूप वर की चिन्ता में था, मत्राश्वर ने कहा आप निश्चिन्त रहें इसके भाग्यवश से योग्य वर अवश्य प्राप्त होगा। इतने ही में नाट्य मंडल आई और नटुवे ने पुलिन्द का वेश धारण कर भीली नृत्य प्रारम्भ किया। नृत्य देखती हुई राजकुमारी एकाएक मूर्छित हो धराशायी हो गई जिससे सर्वत्र हाहाकार होने लगा। शीतोपचार से सचेत होने पर राजा ने रत्नावती से इसका कारण पूछा। उसने कहा—पिताजी! नट को देखकर मुझे जातिस्मरण ज्ञान हुआ है, मेरा पूर्वभव का पति पुलिन्द मिलेगा तभी मुझे सुख मिलेगा अन्य से मुझे प्रयोजन नहीं। राजा ने देश विदेश में दूत भेजे। नदनुसार बहुत से सुन्दर सुन्दर राजकुमार एकत्र हुए और राजकुमारी से अपने पूर्वभव में पुलिन्द होने की बनावटी बातें बताई। कुमारी के यह पूछने पर कि पूर्वभव में क्या सुकृत किया जिससे राजवंश में उत्पन्न हुए? तो उत्तर में किसीने कहा—हमने महारानी की पूजा की, किसीने कहा—हमने दान दिया, किसीने कहा—पंचाग्नि तपश्चर्या की। राजकुमारी ने कहा—यह कपट पूर्ण धूर्तवाद मुझे अच्छी नहीं लगती। इस प्रकार के मिथ्या व्यवहार के वंचक पुरुषों के प्रति वह घृणा भाव धारण कर केवल स्त्री समुदाय में ही रह कर अपना काल निर्गमन करती है, और पुरुष का मुंह देखना भी पसंद नहीं करती। मैं यह कौतुक वार्त्ता देखकर ही पद्मपुर से आरहा हु जो आपसे निवेदन की है।

पथिक के वचन सुन कर राजसिंह तत्काल मूर्छित हो गया। थोड़ी देर में शीतल वायु से सचेत होने पर पथिक ने मूर्छा का कारण पूछा, तो कुमार ने अपने पूर्व भव की कुछ वार्त्ता का संकेत बता कर उसे वस्त्राभरणों से संतुष्ट कर विदा किया। राजकुमार के मन पर उसकी पूर्व जन्म की प्रिया ने ऐसा अधिकार जमाया कि वह किसी प्रकार उसे भुला न सका। मंत्री पुत्र सुमतिकुमार के पूछने पर उसने कहा—मित्र! जम्बूद्वीप में सिद्धावट ग्राम है वहां सिद्धसेन सूरि नामक अणगार पधारे, उन्होंने वहीं चौमासा किया। उनका शिष्य समयसारमुनि तपश्चर्या करने के निमित्त गुर्वाज्ञा लेकर गिरीकन्दरा में गुफावास करने के लिए आए। उन्हें सिंहादि हिंसक जन्तुओं का कोई भय नहीं था क्योंकि वे स्वयं क्रोधादि कषायों से रहित थे। एक दिन उनके पास भील युगल आया और मुनि को प्रणाम कर भक्ति पूर्वक बैठा। मुनिराज ने उन्हें भद्र परिणामी जान कर के नवकार मंत्र सिखाया। उस नमस्कार मन्त्र के निरन्तर जाप से मैं यहां राजकुमार हुआ और मेरी पूर्व जन्म की प्रिया पद्मपुर में सिंहरथ राजा की पुत्री रत्नावती हुई है। पथिक के वचनों से जातिस्मरण प्राप्त कर मैं उसके लिए बड़ा व्याकुल हु! उसकी प्राप्ति के बिना मैं जल और अग्नि में प्रविष्ट होकर या फांसी खाकर मरने को उत्सुक हो रहा हूँ। मंत्रीपुत्रने कहा—धैर्य रखो, जीता हुआ मनुष्य ही सुख परम्परा को प्राप्त करता है, मरने पर नहीं।

इस अवसर पर एक ऐसा प्रसंग उपस्थित होता है, कि नागरिक लोग एकत्र

का स्वामी हो कर थोड़े दिन में शिवकुमार नगर का प्रधान धनाढ्य हो गया। वह प्रतिदिन नवकार महामंत्र का जाप करता और सद्गुरु के वचनों से सम्यक्त्व प्राप्त कर यह स्वर्ण मय चैत्य निर्माण कराया और अन्त में शुभ भावों द्वारा स्वर्ग प्राप्त हुआ

कुमार राजसिंह ने यह वृतान्त श्रवण कर जिनेश्वर प्रभु के दर्शन किये और नवकार के प्रभाव से चमत्कृत हो मन्त्री पुत्र के साथ वहां से प्रयाण कर के पोतनपुर नगर पहुंचे। यहाँ घर घर में उत्सव देख कर राजसिंह ने लोगों से पूछा कि—इस नगर में आज क्या पर्व है? लोगों ने कहा—कुमार, ध्यान देकर सुनिये।

श्रीमती कथा

इस पोतनपुर में धनदत्त नामक शुद्ध समकितधारी सेठ निवास करता था। उसको श्रीमती नामक अत्यन्त सुन्दर और सुशीला कन्या थी। एकदिन एक मिथ्यात्वी श्रेष्ठिपुत्र श्रीमती के रूप पर मुग्ध होकर उससे पाणिग्रहन करने के लिए निमित्त कपटपूर्वक श्रावकपना धारण किया। वह प्रतिदिन जिन दर्शन करके भोजन करता। साधु साध्वियों का योग मिलने पर वन्दन करने जाता। उसने शक्रस्तव सीखा और लोगों के समक्ष कहता मैंने इतने दिन मिथ्यात्व में व्यर्थ गंवाएँ। अब जिनेश्वर प्रणित धर्म का मर्म प्राप्त कर शिवमत का त्याग कर कृतार्थ हुआ। इस प्रकार लोक प्रसिद्ध श्रावक हो कर उसने श्रीमती से पाणिग्रहण किया। श्रीमती उसके घर आई, तब वह पुनः जैसा का तैसा शैवधर्मी हो गया। श्रीमती घर का सारा काम करती पर मिथ्यात्व का अनुशरण कदापि नहीं करती। जिससे सास, नणंद, जिठानी आदि घर के सभी लोग उससे रुष्ट रहते और उन्हें नाना प्रकार के ताने कसे जाते। श्रीमती निर्विकार हो सब कुछ सहती, किन्तु अपने व्रतनियमों पर दृढ रह कर जिन धर्म का पालन करती। एक दिन माता ने पुत्र को सिखाया—तुम्हारी वह धूतारी पाखण्ड का त्याग नहीं करती। अतः अपनी आज्ञा को अमान्य करने वाली इस दुष्टा को मार कर दूसरी अच्छी वहू को लाओ। माता की शिक्षानुसार पुत्र ने श्रीमती का परिच्छेद समाप्त करने के लिए एक कृष्ण सर्प को गुप्तरूप से लाकर घडे में ढंक कर रखा। उसने श्रीमती से कहा—प्रिये! घड़े में मैंने सुन्दर सुगन्धित पुष्प रखे हैं, निकाल कर लाओ। पतिव्रता श्रीमती स्वामी की आज्ञा पालन करने गयी और हृदय में अरिहंत का जाप करती हुई तीन नवकार गिन कर ज्योंही उसने घडे में हाथ डाला कृष्ण सर्प नवकार के प्रभाव से पुष्प रूप हो गया। श्रीमती ने उसे लाकर स्वामी को दिया। उसने चकित होकर घडे को देखा तो उसमें उत्तम सुगन्धी प्रस्फुटित हो रही थी। पति ने सोचा यह महान् सत्वशालिनी है, देवता भी इसकी सानिध्य करते हैं। मैं महापापी हूं जो ऐसी महिलारत्न को मारने के लिए उद्यत हुआ। उसनें समस्त स्वजन परिजनों को एकत्र कर उनके समक्ष सारा चरित्र प्रकाश कर श्रीमती से क्षमा याचना की। और सारा कुटुम्ब जैन धर्मानुयायी हुआ। इस नवकार मन्त्र के प्रभाव के हेतु ही आज नगर में यह उत्सव मनाया जा रहा है।

तुम इस साधक को छोड़ दो ! उसने सत्वर अपने शरीर पर खड्ग का वार किया। राक्षस ने प्रसन्न हो कर कहा—वत्स कुमार मैं संतुष्ट हूँ, मनोवांछित मांगो ! कुमार ने कहा—राक्षसराज ! साधक को सिद्धि दो ! राक्षस ने कुमार का वचन मान्य किया और साधक का मनोरथ पूर्ण हुआ। राक्षस ने कुमार को चिन्तामणी रत्न दिया। कुमार मित्र के समीप पहुंचा। कुमार और मंत्रीपुत्र प्रातःकाल वहां से दोनों चले ये क्रमशः कंचनपुर पहुंचे और वहां कनकमय जिन प्रासाद देखकर लोगों से पूछने लगे कि यह किसने निर्माण करवाया है ? लोगों ने कहा—

शिवकुमार कथा

इसी कंचनपुर में सुभद्र सेठ रहता था। जिसको सुमंगला नामक भार्या थी। उनका पुत्र शिवकुमार सातों व्यसनों में आसक्त था। माता की हितशिक्षा को न मान कर वह दिनरात दुर्व्यसनों में निमग्न रहा करता था। अंत समय में पिता ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से पुत्र को बुलाकर नवकार मंत्र सिखाया और कहा कि आपत्ति के समय इस चतुर्दशपूर्व के सारभूत महामंत्र का स्मरण अवश्य करना। पिता की मृत्यु के उपरान्त शिवकुमार और भी अधिक निस्पृह होकर दुर्व्यसनों का सेवन करने लगा। फलस्वरूप निर्धन हो कर दुखी हो गया। एक योगी का आश्रय प्राप्त कर उसकी सेवा करने लगा उससे द्रव्य याचना करने पर योगी ने कहा—काली चतुर्दशी के दिन मेरे साथ स्मशान में चलना, तुम्हें खूब धन दूंगा। निर्दिष्ट समय पर दोनों स्मशान में गए। योगी ने मंडल की रचना कर गूगल का धूप किया, बाकुला, लापसी तैयार कर तिलों का होम किया। एक मुर्दे के हाथ में खड्ग देकर सुलादिया और शिव कुमार को उसके पावों में तैल मालिश करने की आज्ञा दी। योगी मंत्र जाप करने बैठा शिवकुमार मुर्दे के पांव मसलता हुआ भयभीत होकर सोचने लगा, आज मरणान्त आपदा आई, किस प्रकार इसके चंगुल से निकलूंगा ? तभी उसे पिताके वचन स्मरण हुए और मन ही मन एकचित्तसे नवकार मंत्र का जाप करना प्रारंभ कर दिया। योगी के मंत्र प्रभाव से मुर्दा उठा, पर वापस भूमिसात् हो गया। योगी ने फिर से जाप किया पर फिर वोही बात हुई। योगी ने अपनी विद्या सिद्ध न होते देख कर साश्चर्य शिवकुमार से पूछा—तुम भी कोई मंत्र जाप करते हो क्या ? शिवकुमार ने कहा—यदि मैं मंत्र जानता तो आप के पीछे क्यों भटकता। योगी ने तृतीय वार जाप प्रारंभ किया शिवकुमार विशेष एकाग्रतापूर्वक नवपद का ध्यान करने लगा। इस मंत्र के प्रभाव से वेताल विकराल हो कर उठा और योगी की चूटी पकड़ कर उसे, अग्नि में झोंक दिया। इससे यह स्वर्ण पुरुष सिद्ध हुआ। शिवकुमार ने नवकार मन्त्र का प्रत्यक्ष चमत्कार देखा। स्वर्ण पुरुष को भूगर्भ में छिपा कर वह नगर में आया और राजा से मिल कर रातकी सारी बात निवेदित की। राजा ने स्वर्ण पुरुष शिवकुमार को प्रदान किया। इस स्वर्ण पुरुष की यह महिमा थी कि मस्तक और हृदय के अतिरिक्त जितना भी सोना काट कर लिया जाय दूसरे दिन परिपूर्ण हो जाता। इस प्रकार अनर्गल संपत्ति

का स्वामी हो कर थोडे दिन में शिवकुमार नगर का प्रधान धनाढ्य हो गया। वह प्रतिदिन नवकार महामंत्र का जाप करता और सद्गुरु के वचनो से सम्यक्त्व प्राप्त कर यह स्वर्ण मय चैत्य निर्माण कराया और अन्त में शुभ भावों द्वारा स्वर्ग प्राप्त हुआ

कुमार राजसिंह ने यह वृतान्त श्रवण कर जिनेश्वर प्रभु के दर्शन किये और नवकार के प्रभाव से चमत्कृत हो मन्त्री पुत्र के साथ वहां से प्रयाण कर के पोतनपुर नगर पहुंचे। यहाँ घर घर में उत्सव देख कर राजसिंह ने लोगों से पूछा कि—इस नगर में आज क्या पर्व है? लोगों ने कहा–कुमार, ध्यान देकर सुनिये।

श्रीमती कथा

इस पोतनपुर में धनदत्त नामक शुद्ध समकितधारी सेठ निवास करता था। उसको श्रीमती नामक अत्यन्त सुन्दर और सुशीला कन्या थी। एकदिन एक मिथ्यात्वी श्रेष्ठिपुत्र श्रीमती के रूप पर मुग्ध होकर उससे पाणिग्रहन करने के लिए निमित्त कपटपूर्वक श्रावकपना धारण किया। वह प्रतिदिन जिन दर्शन करके भोजन करता। साधु साध्वियों का योग मिलने पर वन्दन करने जाता। उसने शक्रस्तव सीखा और लोगों के समक्ष कहता मैंने इतने दिन मिथ्यात्व में व्यर्थ गंवाएँ। अब जिनेश्वर प्रणित धर्म का मर्म प्राप्त कर शिवमत का त्याग कर कृतार्थ हुआ। इस प्रकार लोक प्रसिद्ध श्रावक हो कर उसने श्रीमती से पाणिग्रहण किया। श्रीमती उसके घर आई, तब वह पुनः जैसा का तैसा शैवधर्मी हो गया। श्रीमती घर का सारा काम करती पर मिथ्यात्व का अनुशरण कदापि नहीं करती। जिससे सास, नणंद, जिठानी आदि घर के सभी लोग उससे रुष्ट रहते और उन्हें नाना प्रकार के] ताने कसे जाते। श्रीमती निर्विकार हो सब कुछ सहती, किन्तु अपने व्रतनियमों पर दृढ रह कर जिन धर्म का पालन करती। एक दिन माता ने पुत्र को सिखाया–तुम्हारी बहू धूतारी पाखण्ड का त्याग नहीं करती। अतः अपनी आज्ञा को अमान्य करने वाली इस दुष्टा को मार कर दूसरी अच्छी बहू को लाओ। माता की शिक्षानुसार पुत्र ने श्रीमती का परिच्छेद समाप्त करने के लिए एक कृष्ण सर्प को गुप्तरूप से लाकर घडे में ढंक कर रखा। उसने श्रीमती से कहा–प्रिये! घडे में मैंने सुन्दर सुगन्धित पुष्प रखे हैं, निकाल कर लाओ। पतिव्रता श्रीमती स्वामी की आज्ञा पालन करने गयी और हृदय में अरिहंत का जाप करती हुई तीन नवकार गिन कर ज्योंही उसने घडे में हाथ डाला कृष्ण सर्प नवकार के प्रभाव से पुष्प रूप हो गया। श्रीमती ने उसे लाकर स्वामी को दिया। उसने चकित होकर घडे को देखा तो उसमें उत्तम सुगन्धी प्रस्फुटित हो रही थी। पति ने सोचा यह महान् सत्त्वशालिनी है, देवता भी इसकी सानिध्य करते हैं। मैं महापापी हूं जो ऐसी महिलारत्न को मारने के लिए उद्यत हुआ। उसनें समस्त स्वजन परिजनों को एकत्र कर उनके समक्ष सारा चरित्र प्रकाश कर श्रीमती से क्षमा याचना की। और सारा कुटुम्ब जैन धर्मानुयायी हुआ। इस नवकार मन्त्र के प्रभाव के हेतु ही आज नगर में यह उत्सव मनाया जा रहा है।

कुमार रत्नसिंह और मन्त्री पुत्र यह बात सुनकर अपने को नवकार मन्त्र के प्रति अत्यन्त श्रद्धान्वित करते हुये विस्मय पूर्वक आगे बढे और अविच्छिन्न प्रयाण करते हुए क्रमशः मन्दिरपुर पहुंचे। वहा भी घर घर में उत्सव मनाया जाता देख कर एक आदमी को बुला कर कुमार ने उस उत्सव का कारण पूछा तो उसने कहा—

जिनदास श्रावक कथा

इस मन्दिरपुर नगर में बलि नामक राजा राज्य करता है। एक बार वर्षा ऋतु में नदी के प्रवाह में प्रवाहित होता हुआ एक बिजौरा आया। एक व्यक्ति ने उसे लेकर राजा को भेंट किया। राजाने उस स्वादिष्ट फल को खा कर पूछा कि यह किस की वाडी का है? उस व्यक्ति ने कहा राजन्! यह नदी में प्रवाहित होकर आया है। राजाने इसका उत्पत्ति स्थान शोध करने की आज्ञा दी। राजपुरुष नदी के किनारे किनारे उस वाटिका की शोध में निकल पडे। आगे जाने पर एक वाडी मिली। जिसमें उन्होंने प्रवेश किया तो आस पास के लोगोंने कहा—'इस वाटिका का जो फल फूल ग्रहण करेगा, उसकी अवश्य मृत्यु होगी।' राजपुरुषों ने राजा से यह बात निवेदित की। राजा तो रस लोलुप था, उसने तलारक्षक को आज्ञा दी कि वह प्रतिदिन बिजोरा फल मगाने की व्यवस्था करे। उस ने समस्त नागरिकों को एकत्र कर उनके नाम चिठी पर लिख कर एकत्र रख दिये। अब प्रतिदिन कुमारी कन्या के हाथ से चिट्ठी निकाली जाती, जिसका नाम निकलता वही व्यक्ति उस वाटिका में फल लेने के लिए जाता। वह फल तोडकर नदी में फेंक देता जिसे राजपुरुष ले आते। उस फल लाने जाने वाले व्यक्ति का वाडी में ही संहार हो जाता इस प्रकार प्रतिदिन एक पुरुष की हत्या से नगर में हा हा कार मच गया।

एक दिन जिनदास श्रावक के नाम की चिठी निकली। जिनदास श्रावक निर्भय होकर जीव राशि क्षामणा पूर्वक सागारी अनशन लेकर नवकार मन्त्र का जाप करते हुए वाटिका की ओर बढा। उसने वाटिका के द्वार पर आ कर उच्च स्वर से नवकार मन्त्र का उच्चारण किया। जब वन यक्ष ने सुना तो वह स्तब्ध हो कर कुछ सोचने लगा। फिर उसने उपयोग देकर देखा कि—मैंने पूर्व भव में सासारिक भोगों को त्याग कर संयम धर्म स्वीकार किया था। पर शुद्ध चारित्र न पालन कर बहुत से दोष लगाए जिससे मर कर व्यन्तर योनि में उत्पन्न हुआ हूं। धिक्कार है मुझे, मैंने कौडी के मोल चिन्तामणि रत्न को गँवाया। अब यह जिनदास श्रावक मेरा गुरु है, इस की सेवा करनी चाहिए। यह सोचकर वह प्रत्यक्ष होकर जिनदास के चरणों मे गिरकर कृतज्ञता ज्ञापन करता हुआ, वर मागने के लिए कहने लगा। सेठ ने कहा—एक तो जीव हिंसा न करने का नियम लो और दूसरा मुझे प्रतिदिन घर बैठे एक बिजोरा पहुचा दिया करो। यक्ष ने जिनदास का वचन स्वीकार किया। जिनदास श्रावक बिजोरा लेकर राजा के पास पहुंचा और

सारा वृतान्त बतलाते हुए कहा कि मैं प्रतिदिन आपको बिजौरा भेंट करूंगा! यक्ष प्रतिदिन बिजौरा लाकर जिनदास को देता है और वह राजा को भेंटकर उसका मनोरथ पूर्ण करता है। सारे नगर में प्रतिदिन का संहार दूर होने से आज यह उत्सव मनाया जा रहा है। सर्वत्र जिनदास सेठ और उसके वंश की प्रशंसा हो रही है जिसने समस्त नागरिकों को अभयदान दिया।

कुमार राजसिंह और मित्र नवकार मंत्र के महात्म्य का यह प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर आगे बढ़े और क्रमशः चम्पावती नगरी पहुंचे। उन्होंने वहां एक आश्चर्य देखा कि छोटे बड़े सभी लोग जाप कर रहे थे। कुमार ने लोगों से इसका कारण पूछा. एक व्यक्ति ने कहा—हे नरश्रेष्ठ इस जपमाला की वार्ता सुनिये!

चण्डपिंगल चोर कथा

इस चम्पावती नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता है। उसको मदनावली नामक साक्षात् इन्द्राणी के सदृश रूपवती पटरानी है। इसी नगरी में चण्डपिंगल नामक एक चोर बडा कठोर, अन्यायी और दुर्जेय था, उसने समस्त नागरिकों को बड़ा संत्रस्त कर रखा था। एकदिन उसने राजा के भांडागार में खात दी, और पटरानी के अत्यन्त मूल्यवान हार को निकाल कर ले गया। उस नगरी में कलावती नामक वेश्या बड़ी प्रसिद्ध थी जो कुछ श्राविका और कुछ मिथ्यात्वरत थी। चण्डपिंगल कलावतीपर आसक्त था। उसने वह हार उसे दे दिया। एकबार मदनत्रयोदशीपर्व के दिन सभी श्राविकाओंने श्रृंगार किया तो कलावती भी हार पहन कर उद्यान में गयी। पटरानी की दासीने कलावती के गले में पहने हुए हार को पहचानकर रानी से हार का अनुसन्धान बतलाया। रानी ने राजा से निवेदन किया। राजा ने तुरत प्रतिहार को आज्ञा दी कि वह चोर को पकड़ कर लावे। प्रतिहार ने अवसर देखकर चण्डकपिंगल को कलावती के यहां से गिरफ्तार कर लिया और राजसभा में पेश किया। राजाने उसे विडम्बनापूर्वक शूली का दण्ड दिया। जब कलावती को यह मालुम हुआ तो वह उसके पास गई और यह सोच कर कि इसने मेरे लिए अपने प्राण दिये तो मैं भी परपुरुष का त्याग करती हूं—उसने चण्डपिंगल से कहा—प्रियतम, नवकार मंत्र का जाप करो और यह नियाणा करो कि मैं मर कर राजकुमार होऊं। नियाणा के प्रभाव से उसने रानी की कुक्षि से जन्म लिया। राजा ने उत्सव महोत्सव पूर्वक उसका नाम पुरंदरकुमार रखा। कलावती ने दिनगणना से अनुमान कर लिया कि यह अवश्य मेरा प्रियतम् चण्डपिंगल होगा। इसे अवश्य देखना चाहिए। वह राजमहलों में रानी मदनावलि के पास गयी और पुरंदरकुमार को हुलराते हुए जब वह रोता तो कहने लगती, रे चण्टपिंगल! तुम क्यों रोते हो? यह सुनकर बालक को जातिस्मरण ज्ञान हुआ, उसने पूर्वभव ज्ञात कर नवकार मंत्र का प्रभाव प्रत्यक्ष देखकर मन में विस्मित होकर रोना बंद कर दिया। जब राजकुमार पुरंदर बड़ा हुआ तो पिता के स्वर्गवासी होने पर सिंहासनारूढ हुआ और गणिका कलावती का उपकार स्मरण कर उसने उसे

कुमार रत्नसिंह और मन्त्री पुत्र यह बात सुनकर अपने को नवकार मंत्र के प्रति अत्यन्त श्रद्धान्वित करते हुये विस्मय पूर्वक आगे बढे और अविछिन्न प्रयाण करते हुए क्रमशः मन्दिरपुर पहुंचे। वहां भी घर घर में उत्सव मनाया जाता देख कर एक आदमी को बुला कर कुमार ने उस उत्सव का कारण पूछा तो उसने कहा—

जिनदास श्रावक कथा

इस मन्दिरपुर नगर में बलि नामक राजा राज्य करता है। एक बार वर्षा ऋतु में नदी के प्रवाह में प्रवाहित होता हुआ एक बिजौरा आया। एक व्यक्ति ने उसे लेकर राजा को भेंट किया। राजाने उस स्वादिष्ट फल को खा कर पूछा कि यह किस की बाडी का है? उस व्यक्ति ने कहा राजन्! यह नदी में प्रवाहित होकर आया है। राजाने इसका उत्पत्ति स्थान शोध करने की आज्ञा दी। राजपुरुष नदी के किनारे किनारे उस वाटिका की शोध में निकल पडे। आगे जाने पर एक बाडी मिली। जिसमें उन्होंने प्रवेश किया तो आस पास के लोगोंने कहा—इस वाटिका का जो फल फूल ग्रहण करेगा, उसकी अवश्य मृत्यु होगी। राजपुरुषों ने राजा से यह बात निवेदित की। राजा तो रस लोलुप था, उसने नगररक्षक को आज्ञा दी कि यह प्रतिदिन बिजोरा फल मँगाने की व्यवस्था करे। उस ने समस्त नागरिकों को एकत्र कर उनके नाम चिठ्ठी पर लिख कर एकत्र रख दिये। अब प्रतिदिन कुमारी कन्या के हाथ से चिठ्ठी निकाली जाती, जिसका नाम निकलता वही व्यक्ति उस वाटिका में फल लेने के लिए जाता। वह फल तोडकर नदी में फैंक देता जिसे राज पुरुष ले आते। उस फल लाने जाने वाले व्यक्ति का वाडी में ही संहार हो जाता इस प्रकार प्रतिदिन एक पुरुष की हत्या से नगर में हा हा कार मच गया।

एक दिन जिनदास श्रावक के नाम की चिठी निकली। जिनदास श्रावक निर्भय होकर जीव राशि क्षामणा पूर्वक सागारी अनशन लेकर नवकार मन्त्र का जाप करते हुए वाटिका की ओर बढा। उसने वाटिका के द्वार पर आ कर उच्च स्वर से नवकार मन्त्र का उच्चारण किया। जब वन यक्ष ने सुना तो वह स्तब्ध हो कर कुछ सोचने लगा। फिर उसने उपयोग देकर देखा कि—मैंने पूर्व भव में सांसारिक भोगों को त्याग कर संयम धर्म स्वीकार किया था। पर शुद्ध चारित्र न पालन कर बहुत से दोष लगाए जिससे मर कर व्यन्तर योनि में उत्पन्न हुआ हूं। धिक्कार है मुझे, मैंने कौडी के मोल चिन्तामणि रत्न को गँवाया। अब यह जिनदास श्रावक मेरा गुरु है, इस की सेवा करनी चाहिए। यह सोचकर वह प्रत्यक्ष होकर जिनदास के चरणों में गिरकर कृतज्ञता ज्ञापन करता हुआ, वर मांगने के लिए कहने लगा। सेठ ने कहा—एक तो जीव हिंसा न करने का नियम लो और दूसरा मुझे प्रतिदिन घर बैठे एक बिजोरा पहुंचा दिया करो। यक्ष ने जिनदास का वचन स्वीकार किया। जिनदास श्रावक बिजोरा लेकर राजा के पास पहुंचा और

स्वस्थान गया । राजाने सेठ को गजारूढ कर स्वयं छत्र धारण कर नगर प्रवेश कराया और क्षमायाचना की । फिर यक्षायतन निर्माण कर मूर्ति निर्माण करवायी, यही इस मंदिर का इतिहास है ।

राजकुमार अपने मित्र मंत्रीपुत्र के साथ वहां से अगे वढा । और नाना प्रकारके कौतुहल देखते हुए एक वन में पहुंचे । आम्रवृक्षों की शीतल छाया वाला एक सुन्दर जलाशय देखकर वे दोनों वहां विश्राम करने के लिए ठहरे । राजकुमार को नींद आगई और मंत्रीपुत्र समीपवर्ती वृक्षों से आहार के निमित्त फल फूल लेने लगा ।

इसी समय आकशमार्ग से जाते हुए एक विद्याधर ने सौन्दर्यमूर्ति राजसिंह को सोये हुए देखकर सोचा–यदि इस अत्यन्त सुन्दर पुरुष को मेरी स्त्री कहीं देख लेगी तो इसके प्रति प्रीति धारण कर मुझे त्याग देगी, और वह पीछे आ ही रही है। उसने यह सोचकर एक वन की जडी लेकर कुमार के हाथ को वांध दी जिससे वह स्त्री रूप धारी हो गया। विद्याधर के जाने के पश्चात् जब उस मार्ग से विद्याधरी आयी तो उसने सोचा इस सुन्दर रमणी को यदि मेरा पति देखेगा तो अवश्य ही इस पर आसक्त होकर मेरा त्याग कर देगा। उसने तुरत एक वनौपधि लेकर राजकुमार के दाहिने हाथ में वांध दी जिससे वह पुनः अपने पुरुप रूप में आ गया। मन्त्री पुत्र सुमति कुमार ने दूर खडे खडे सारा वृतान्त देखा और उन दोनों औपधियों को लेकर आनन्दित चित्त से राजकुमार को जगाया और राजकुमारी से व्याह करने में सहायक–साधन इन जडियों की प्राप्ति की सारी वात कर सुनायी। वे दोनों मित्र क्रमशः आगे चलते हुए पद्मपुर पहुंचे। सर्व प्रथम उन्होंने जिनालयको देखा उसमें प्रवेश किया तो जिनेश्वर भगवान के दिव्य तेजोमय जगमगाहट करते हुए विम्ब के दर्शन हुए। उन्होंने कहा–आज हमारा जन्म सफल हो गया जो जिनदर्शन प्राप्त किया, हमारे दुख, दोहग सब टले ओर मनोवांछित फल प्राप्ति हुई। प्रभु की स्तवना कर वे चिन्तामणि के प्रभाव से जिनालय के पास रहते हुए अरिहंन्त का ध्यान करने लगे।

एक दिन राजकुमारी रत्नावती अनेक स्त्रियों के साथ उस जिनालय में आई। राजकुमार राजसिंह और मन्त्री पुत्र सुमति कुमार दोनों स्त्री का रूप कर उसके पास खडे हो गए। रत्नवती ने सुगन्धित जल लेकर प्रभु को न्हवण कराया, फिर चन्दन वनसगर, कस्तूरी आदि से नव अंग अर्चना कर दामनक, मरूवा, जाइ, जूही, मुचकुन्द, केतकि, चम्पक आदि पुष्पों को भावोल्लास पूर्वक चढाए। फिर फलादि चढा कर गीत वाजित्रादि के साथ नृत्यादि से भक्ति कर रत्नावती जिनालय से वाहर निकली उसने वाहर खडे स्त्री रूपधारी होने मित्रों को देखा। राजसिंह के अत्यन्त सुन्दर रूप को देखकर उसने सम्मान पूर्वक पूछा कि आप लोग कहां से आ रही हैं? सुमतिकुमार ने कहा–रतनपुर के राजा मृगङ्क की यह पुत्री है, और मैं इसकी दासी हूं। एकवार वसन्त ऋतु में क्रीडा करने के निमित्त हम लोग सखि-

पटरानी स्थापित की । अब राजा स्वयं नवकार का जाप करता है और नागरिक लोग भी जपमाला लेकर नवकार मंत्र जपते हैं । इतना वृतान्त बतला कर वह व्यक्ति अपने मार्ग लगा । मित्र और राजकुमार आगे बढ़े । वे क्रमशः मथुरापुर जा पहुंचे । नगर प्रवेश करते ही प्रथम एक देवल देखा और वे दोनों उसी में प्रवेश कर गये । उन्होंने उस में देखा कि पाषाण की शूली पर एक पाषाण का पुरुष बैठाया हुआ है । दूसरी पुरुषमूर्ति समक्ष खड़ी हुई नवकार मंत्रोच्चारण कर रही है । उन्होंने एक आदमी से पूछा कि यह किसका मन्दिर है ? किसकी मूर्ति है, और किसने निर्माण करवाया ? उत्तर में उसने इस प्रकार निवेदन किया —

हुडक चोर कथा

इस मथुरापुर में शिवदेव नामक शूरवीर और न्यायवान राजा राज्य करता है। यहां एक हुंडक नामक चोर रहता था । उसने एकदिन एक सेठ के घर में प्रवेश कर के चोरी की । घरधणी के कोलाहल करने पर राजपुरुषों ने तुरत आकर पदचिन्हों का पीछा कर चोर को पकड़ लिया । प्रातःकाल राजा के समक्ष पेश करने पर उसने सोचा यदि इसे छोड़ दूंगा तो नगर में मच्छगलागल मच जायगी अतः शीघ्रतापूर्वक उसे शूली का दण्ड दे दिया । हुडक चोर को विडम्बनापूर्वक शूली पर चढ़ादिया गया लोग कहने लगे देखो, बुरे काम का फल हुडक को हाथोंहाथ मिला । राजाने नगर में उद्घोषणा की कि — कोई व्यक्ति हुडक का हित न करे यदि कोई करेगा तो वह मेरा अपराधी होगा और उसकी भी हुडक की तरह दुर्गति की जायगी । नगर का तलारक्षक गुप्त रूप से चौतरफ नजर रखने लगा कि कौन इस चोर से बात करता है । नगर के लोगों ने राजभय से उसतरफ जाना छोड़ दिया । हुडक प्यास में व्याकुल होकर शूलीपर चिल्ला रहा था पर लोग सुनते हुए भी दूर से टल जाते । जब जिनदत्त सेठ कार्यवश उधर से निकला तो चोर ने पुकारा - सेठ तुम तो नगरमें शिरोमणि हो सबका उपकार करनेवाले हो। अतः कृपा करके मुझे जल पिलाओ ! सेठ ने उसके पास आकर कहा - मेरी बात मानो मैं तुम्हारे लिए लोटा भर कर जल लाता हूं, तबतक तुम नवकार मन्त्र का जाप करो ! सेठ इतनी बात कर लोटा पीछे से हुडक चोर के प्राण निकल गए और वह देव हुआ । इधर चर पुरुषों ने राजा से सेठ की चुगली खाई । राजा ने सेठ जिनदत्त को चोर से वार्ता करने के दण्ड में शूली की आज्ञा दी । सेठको शूली पर ले जाया गया। हुंडक देव ने अपने ज्ञानोपयोग से सारा वृत्तान्त ज्ञात कर क्रुद्ध होकर नगर पर शिलानिकर्षण की और कहने लगा - मैं इस शिला को यहां गिराकर राजा व नागरिक लोगों को चूर चूर कर डालूंगा । तुम दयालु सेठ जिनदत्त की जो मेरा उपकारी है, विडम्बना करते हो तो उसका फल प्रत्यक्ष देखो ! राजाने देव से अपराध क्षमा करने की प्रार्थना की। देव ने कहा - जिनदत्त से क्षमा मागो और पूर्व दिशा की ओर मेरा चैत्य कराओ जिसमें शूली - चोर और सामने सेठ की मूर्ति व नवकार मंत्र लिखाओ। फिर उसकी हमेशा पूजा करो, तो मैं तुम्हारी आपदा दूर करूंगा । राजा के बात मानने पर देव

स्वस्थान गया। राजाने सेठ को गजारूढ कर स्वयं छत्र धारण कर नगर प्रवेश कराया और क्षमायाचना की। फिर यक्षायतन निर्माण कर मूर्ति निर्माण करवायी, यही इस मंदिर का इतिहास है।

राजकुमार अपने मित्र मंत्रीपुत्र के साथ वहां से आगे बढा। और नाना प्रकारके कौतूहल देखते हुए एक वन में पहुंचे। आम्रवृक्षों की शीतल छाया वाला एक सुन्दर जलाशय देखकर वे दोनों वहां विश्राम करने के लिए ठहरे। राजकुमार को नींद आगई और मंत्रीपुत्र समीपवर्ती वृक्षों से आहार के निमित्त फल फूल लेने लगा।

इसी समय आकाशमार्ग से जाते हुए एक विद्याधर ने सौन्दर्यमूर्ति राजसिंह को सोये हुए देखकर सोचा—यदि इस अत्यन्त सुन्दर पुरुष को मेरी स्त्री कहीं देख लेगी तो इसके प्रति प्रीति धारण कर मुझे त्याग देगी, और वह पीछे आ ही रही है। उसने यह सोचकर एक वन की जडी लेकर कुमार के हाथ को बांध दी जिससे वह स्त्री रूप धारी हो गया। विद्याधर के जाने के पश्चात् जब उस मार्ग से विद्याधरी आयी तो उसने सोचा इस सुन्दर रमणी को यदि मेरा पति देखेगा तो अवश्य ही इस पर आसक्त होकर मेरा त्याग कर देगा। उसने तुरत एक वनौषधि लेकर राजकुमार के दाहिने हाथ में बांध दी जिससे वह पुनः अपने पुरुष रूप में आ गया। मन्त्री पुत्र सुमति कुमार ने दूर खडे खडे सारा वृतान्त देखा और उन दोनों औषधियों को लेकर आनन्दित चित्त से राजकुमार को जगाया और राजकुमारी से व्याह करने में सहायक—साधन इन जडियों की प्राप्ति की सारी बात कर सुनायी। वे दोनों मित्र क्रमशः आगे चलते हुए पद्मपुर पहुंचे। सर्व प्रथम उन्होंने जिनालयको देखा उसमें प्रवेश किया तो जिनेश्वर भगवान के दिव्य तेजोमय जगमगाहट करते हुए बिम्ब के दर्शन हुए। उन्होंने कहा—आज हमारा जन्म सफल हो गया जो जिनदर्शन प्राप्त किया, हमारे दुख, दोहग सब टले और मनोवांछित फल प्राप्ति हुई। प्रभु की स्तवना कर वे चिन्तामणि के प्रभाव से जिनालय के पास रहते हुए अरिहंन्त का ध्यान करने लगे।

एक दिन राजकुमारी रत्नावती अनेक स्त्रियों के साथ उस जिनालय में आई। राजकुमार राजसिंह और मन्त्री पुत्र सुमति कुमार दोनों स्त्री का रूप कर उसके पास खडे हो गए। रत्नवती ने सुगन्धित जल लेकर प्रभु को न्हवण कराया, फिर चन्दन घनसगर, कस्तूरी आदि से नव अंग अर्चना कर दामनक, मरूवा, जाइ, जूही, मुचकुन्द, केतकि, चम्पक आदि पुष्पों को भावोल्लास पूर्वक चढाए। फिर फलादि चढा कर गीत वाजित्रादि के साथ नृत्यादि से भक्ति कर रत्नावती जिनालय से बाहर निकली उसने बाहर खडे स्त्री रूपधारी दोनों मित्रों को देखा। राजसिंह के अत्यन्त सुन्दर रूप को देखकर उसने सम्मान पूर्वक पूछा कि आप लोग कहां से आ रही हैं? सुमतिकुमार ने कहा—रतनपुर के राजा मृगाङ्क की यह पुत्री है, और मैं इसकी दासी हूं। एकबार वसन्त ऋतु में क्रीडा करने के निमित्त हम लोग सखि-

यों से परिवृत होकर वाटिका में गई। दैवयोग से ऐसा भयंकर तूफान आया कि हम लोग उस में उड कर भयानक अटवी में आ गिरी। फिर यत्र तत्र भ्रमण करती हुई आपकी कीर्ति सुनकर साक्षात्कार करने के लिए यहा पहुची है। आज हमारा धन्य दिवस है जो जिनेश्वर प्रभु के दर्शन हुए। एव आप से साक्षात्कार हुआ। रत्नावती ने कहा – मुझे भी आपकी सखि को देखकर हार्दिक उल्लास हुआ, कृपा कर आप दोनों मेरे यहा पधारिये।

अब वे दोनों स्त्रीरूप धारी मित्र रत्नावती के साथ राजप्रासाद में आये। राजकुमारी ने उन दोनों को बडे सम्मान पूर्वक अपने यहा ठहराया। कुछ दिन बाद नारिरूपी सुमतिकुमार ने रत्नावती से बात ही बात में पूछा कि – सखि तुम्हारा क्यों विवाह नहीं होता? उसने कहा मेरा पूर्व भव का पति मिलने पर ही मैं विवाह करूगा। मत्रीपुत्र सुमतिकुमार ने कहा तुम्हारा पूर्वभव वृत्तान्त एक पत्र में लिखकर अपने हाथ में रखो। रत्नावती के ऐसा करने पर सुमतिकुमार ने स्त्रीरूपी राजकुमार को बुला कर रत्नावती का पूर्वभव वृत्तान्त कहने के लिए कहा। राजकुमार कहने लगा और रत्नावती ध्यानपूर्वक सुनने लगी। कुमार ने कहा —

एक भील दम्पति पर्वत की गुफा में निवास करते थे। एकदिन उन्होंने मुनिराज के दर्शन किये। उन्हें मुनिराज ने नवकार मंत्र सिखाया। जिसके स्मरण करने के प्रभाव से यह राजा की पुत्री रूप में अवतरित हुई। इस प्रकार अपना पूर्वभव श्रवण कर रत्नावती चित्त में अत्यन्त चमत्कृत हुई, दूसरे ही क्षण राजकुमार को स्त्रीरूप में देख कर उदास हो गई। मत्रीपुत्र व राजकुमार ने तत्काल अपना पुरुष रूप धारण किया। राजकुमारी अपने पूर्वजन्म के पतिको पाकर अत्यन्त प्रमुदित हुई। अब वे दोनों मित्र पुन स्त्रीरूप धारण कर राजमहलों से बाहर निकले। राजा सिंहरथ से मिलने के लिए राजसिंह और सुमतिकुमार ने चिन्तामणि रत्न के प्रभाव से सार्थवाह का रूप किया समस्त सार्थ और वस्तुएँ विकुर्वित हुई।

राजकुमारी रत्नावती ने सहेली के मारफत माता से कहलाया कि वर प्राप्ति के लिए उपाय किया जाय। रानी के निवेदन पर राजा ने यह सोच कर पडह बजाने का विचार किया — कदाच कोई वर आ मिले। नगर में पडह बजवाया गया कि राजकुमारी की पूर्वभव कथा कहने वाले से कन्या का विवाह किया जायगा। राजसिंह और सुमतिकुमार ने पडह का स्पर्श किया। तलारक्षक ने उन्हें राजसभामें ले जाकर राजा सिंहरथ के समक्ष उपस्थित किया। नरेश्वर ने राजकुमारी को बुलाया उसने अपने पूर्वजन्म की कथा कागज पर लिख कर पिता को दी। राजसिंह ने भी पूर्व जन्म की कथा बतलाई जिसे सुनकर राजा अत्यन्त प्रमुदित हुवा और बडे भारी समारोहपूर्वक राजसिंह रत्नावती का विवाह कर दिया। करमोचन के समय राजा ने हाथी घोडा आभरण आदि प्रचुर परिमाण में दिये। राजसिंह और रत्नवती सुखपूर्वक रहने लगे।

एक दिन राजसिंह ने मन में विचार किया श्वसुरगृह में निवास करना मेरे लिए

किसी भी प्रकार उचित नहीं, इससे मेरे पिता का यश कलंकित होता है। उसने मित्र सुमतिकुमार के समक्ष अपने विचार प्रकट किये। इतने ही में रयणापुर का दूत आ कर उपस्थित हुवा और कुमार को नमस्कार कर नगरी की क्षेमकुशल वार्त्ता करते हुए महाराजा मृगाङ्क का लेख समर्पण किया। राजा ने उसमें लिखा था —

"हे प्रिय पुत्र, तुम हमारे कुलदीपक और वंश के अलंकार भूत हो। तुम्हारे विना सारा राज्य सूना लगता है। तुम्हारे वियोग में हम लोग दुखी हो रहे हैं और तुम्हें भी माता पिता को छोडकर स्वसुर कुल में निवास करना ठीक नहीं अतः अव शीघ्र यहां आकर हमें सुखी करो!"

पत्र में और भी बहुत सी बातें लिखी थी जिन्हें पढकर एवं दूत से मौखिक समाचार ज्ञातकर राजसिंह ने सुमतिकुमार से परामर्श किया, और फिर मित्र को सिंहरथ के पास भेजा। उसने कहा — हमारे नगर से राजसिंह कुमार के पितृ श्री मृगाङ्क नरेश्वर का दूत हमें बुलाने के लिए आया है अतः आप अब कुमार की ईच्छानुसार शीघ्र विदा करने की कृपा करें।

अपनी पुत्री और जमाई के विदा की बात सुन कर राजा मूर्छित हो गया। फिर होश में आकर उसने कहा — विदा के पश्चात् न मालूम कब मिलना होगा? सुमतिकुमार मन्त्री ने कहा — अभी तो विदा दीजिए, फिर आकर अवश्य मिलेंगे। यों समझा बुझा कर किसी तरह राजा से अनुमति प्राप्त कर रयणावती की ओर प्रयाण करने की तैयारी की। राजासिंहरथ और कमला रानी ने अपनी पुत्री को नाना प्रकार के बहुमूल्य आभूषण और वस्त्रादि दिए। रानी ने रत्नवती को नाना प्रकार से हित शिक्षा देकर स्नेहासिक्त नेत्रों से विदा दी। शुभमुहूर्त में प्रस्थान कर राजकुमार सब के साथ विदा हुए। राजा सिंहरथ अपने राज्य की सीमा पर्य्यन्त पहुंचाने आया। फिर चतुरंगिणी सेना के साथ राजकुमार राजसिंह, रत्नावति और सुमतीकुमार रयणापुर सकुशल पहुंचें। राजा मृगांक ने सम्मुख आकर पुत्र का स्वागत किया। सारा नगर ध्वजा पताका ों से सजाया गया नाना प्रकार के वाजित्र ध्वनि और पुष्प वृष्टि के बीच मोतियों से बधाते हुए राजसिंह — रत्नावति को राजमहलों में लाया गया।

राजा मृगांक ने कुमार राजसिंह को राज्याभिषेक कर सुमतिकुमार को मंत्रिपद दिया। और स्वयं अपने आत्म साधना के मार्ग में लगे। क्रमशः राज्यसुख भोगते हुए रानी रत्नावती को पद्मलोचन नामक पुत्र हुआ। राजा ने एक दिन विचार किया यह सब पूर्वपूण्य और नवकार मन्त्र का ही प्रभाव है। अतः हमें धर्म कार्य में विशेष रूप से लग जाना चाहिए। उसने जिन मन्दिरों के निर्माण द्वारा पृथ्वी को मण्डित किया और अन्त में कुमार पद्मलोचन को राज्याभिषेक कर स्वयं रत्नवती के साथ सद्गुरु के चरणों में उपस्थित हुआ। फिर अतिचार आलोयणा पूर्वक नवकार के ध्यान में तल्लीन हुए। अन्त समय में अनशन आराधना पूर्वक शुभध्यान से देह त्याग कर दोनों दम्पति ब्रह्म नामक पांचवे देव लोक में देव हुए। वहां से आयु पूर्ण कर मनुष्य भव

यों से परिवृत होकर वाटिका में गई। दैवयोग से ऐसा भयंकर तूफान आया कि हम लोग उस में उड कर भयानक अटवी में आ गिरी। फिर यत्र तत्र भ्रमण करती हुई आपकी किर्ती सुनकर साक्षात्कार करने के लिए यहां पहुंची है। आज हमारा धन्य दिवस है जो जिनेश्वर प्रभु के दर्शन हुए। अब आप से साक्षात्कार हुआ। रत्नावती ने कहा – मुझे भी आपकी सखि को देखकर हार्दिक उल्लास हुआ कृपा कर आप दोनों मेरे यहां पधारिये।

अब ये दोनों स्त्रीरूप धारी मित्र रत्नावती के साथ राजप्रासाद में आये। राजकुमारी ने उन दोनों को बडे सम्मान पूर्वक अपने यहां ठहराया। कुछ दिन बाद नारि रूपी सुमतिकुमार ने रत्नावती से बात ही बात में पूछा कि – सखि तुम्हारा क्यों विवाह नहीं होता? उसने कहा मेरा पूर्व भव का पति मिलने पर ही मैं विवाह करूंगी। मंत्रीपुत्र सुमतिकुमार ने कहा तुम्हारा पूर्वभव वृत्तान्त इस पत्र में लिखकर अपने हाथ में रखो। रत्नावती के ऐसा करने पर सुमतिकुमार ने स्त्रीरूपी राजकुमार को बुला कर रत्नावती का पूर्वभव वृत्तान्त कहने के लिए कहा। राजकुमार कहने लगा और रत्नावती ध्यानपूर्वक सुनने लगी। कुमार ने कहा —

एक भील दम्पति पर्वत की गुफा में निवास करते थे। एकदिन उन्होंने मुनिराज के दर्शन किये। उन्हें मुनिराज ने नवकार मंत्र सिखाया। जिसके स्मरण करने के प्रभाव से यह राजा की पुत्री रूप में अवतरित हुई। इस प्रकार अपना पूर्वभव श्रवण कर रत्नावती चित्त में अत्यन्त चमत्कृत हुई, दूसरे ही क्षण राजकुमार को स्त्रीरूप में देख कर उदास हो गई। मंत्रीपुत्र व राजकुमार ने तत्काल अपना पुरुष रूप धारण किया। राजकुमारी अपने पूर्वजन्म के पतिको पाकर अत्यन्त प्रमुदित हुई। अब ये दोनों मित्र पुनः स्त्रीरूप धारण कर राजमहलों से बाहर निकले। राजा सिंहरथ से मिलने के लिए राजसिंह और सुमतिकुमार ने चिन्तामणि रत्न के प्रभाव से सार्थवाह का रूप किया समस्त सार्थ और वस्तुएं विकुर्वित हुई।

राजकुमारी रत्नावती ने सहेली के मारफत माता से कहलाया कि वर प्राप्ति के लिए उपाय किया जाय। रानी के निवेदन पर राजा ने यह सोच कर पडह बजाने का विचार किया — कदाच कोई वर आ मिले। नगर में पडह बजवाया गया कि राजकुमारी की पूर्वभव कथा कहने वाले से कन्या का विवाह किया जायगा। राजसिंह और सुमतिकुमार ने पडह का स्पर्श किया। तत्पश्चात् उन्हें राजसभा में ले जाकर राजा सिंहरथ के समक्ष उपस्थित किया। नरेश्वर ने राजकुमारी को बुलाया उसने अपने पूर्वजन्म की कथा कागज पर लिख कर पिता को दी। राजसिंह ने भी पूर्व जन्म की कथा बतलाई जिसे सुनकर राजा अत्यन्त प्रमुदित हुआ और बडे भारी समारोहपूर्वक राजसिंह रत्नावती का विवाह कर दिया। करमोचन के समय राजा ने हाथी घोडा आभरण आदि प्रचुर परिमाण में दिये। राजसिंह और रत्नवती सुखपूर्वक रहने लगे।

एक दिन राजसिंह ने मन में विचार किया श्वसुरगृह में निवास करना मेरे लिए

संगीत और नाट्य की विशेषता

लेखक :— माधवलाल डाँगी

जिस प्रकार सुन्दर शरीर अलंकारों के धारण से और भी निखर उठता है, उसी प्रकार आत्मा भी संगीत रूपी अलंकार को धारण कर खिल-खिल उठती है। यदि यह कहें कि संगीत आत्मा की खुराक है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। संगीत की स्वरलहरी इस संसार की महानाट्यशाला को सदा अनुप्राणित करती रही है और करती रहेगी। संगीत और आत्मा का सम्बन्ध कोई नया नहीं है–प्रारंभ से ही है जो सनातन है। आत्मा और संगीत को विलग नहीं किया जा सकता। संगीत पर कई शास्त्रों की रचना हुई है और सभी मतमतान्तरों में संगीत को प्रमुख स्थान प्राप्त है।

जैन आगमों में भी संगीत और नाट्य की विशद् चर्चा है[1]। पार्श्वदेव रचित "संगीत सार," सुधाकलश का "संगीतोपनिषद्" तथा अनुयोग द्वार सूत्र में सप्त स्वरों आदि का अच्छा वर्णन है। 'प्रश्न व्याकरण' में अनेक वाद्यों के नाम तथा प्रकार मिलते हैं।

हजारों वर्ष के प्राचीन हमारे जिन–मन्दिरों में भगवान के सामने सभामंडप में बनी पुतलियाँ, हाथों में कई प्रकार के वाद्य लिये नृत्य-संगीत करती हुई जो दिखाई देती है–इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि हमारे यहाँ संगीत के लिये कितना बडा स्थान रहा होगा। आज भी जिन-मन्दिरों में नवपदादि विविध प्रकारी पूजायें जो पढ़ी जाती हैं वे गा बजा कर ही तो। हमारे पूर्वाचार्यों ने जिनकी अनेक राग में रचना की वे साक्षी रूप हैं कि संगीत हमारे साध्य के लिये कितना आवश्यक साधन समझा जाता रहा। इसके अतिरिक्त गंधर्व (एक विशेष जाति) के लोग नृत्य संगीत में श्रीपाल मैना सुन्दरी नाटकादि खेलते हैं वे हममें धार्मिक श्रद्धा को पुष्ट करने के लिये कितने सुन्दर साधन है।

संगीत मानव मात्र की आत्मा का एक ऐसा भोजन है जिसके अभाव में मानवोचित गुण फूल फल नहीं सकते–उनका विकास नहीं हो सकता। जिसे मानवता के विकास की उत्कट इच्छा है, उसे कोई भी धर्मगुरू चित्त की स्थिरता के लिये –मन को वश करने के लिये संगीत के आश्रय का ही आदेश देगा।

१–संगीत और नाट्य की चर्चा के लिये देखिये श्री अभिधान राजेंद्र कोष तीसरे भागमें "गीय" शब्द और चौथे भाग में "णट्ट" शब्द।

धारण कर निर्मल चरित्र की आराधना कर मोक्ष सुख को प्राप्त करेंगे।

उपर्युक्त कथाओ के अतिरिक्त और भी कई कथाएँ श्वेताम्बर साहित्य में नवकार मंत्र के महात्म्य पर लिखी गई प्राप्त है। दिगम्बर साहित्य में इन कथाओंको कहा तक अपनाया गया है एवं इनके अतिरिक्त और कौन कौनसी नवकार मन्त्र महात्म्य कथाएँ किन किन ग्रन्थों में पायी जाती है, इसकी जानकारी दिगम्बर विद्वानों से अपेक्षित है। दोनों सम्प्रदायों के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन किया जाना बहुत ही आवश्यक है। कई बातों में दोनों सम्प्रदायों का साहित्य एक दूसरे का पूरक है। कई बातो में मौलिकता भी है, कुछ बातों का उल्लेख किसी में अधिक तो किसी में कम। अत जहातक समभाव से उभय सम्प्रदायों के साहित्य का अध्ययन नहीं किया जायगा वहा तक जैन साहित्य का वास्तविक महात्म्य हम जैनी स्वय ही अनुभव नहीं कर सकेंगे तो दूसरों को बतलाने की बात ही कहा?

दिगम्बर समाज में व्रत कथाओं का साहित्य बहुत विशाल है और उनमें कई कथाएँ तो बडी रोचक हैं, कुछ लोक-कथाएं एव पौराणिक कथाएँ भी उनमें अपनायी गयी है। साधारण जनता को धर्म या मतमार्ग की ओर आकृष्ट करने के लिए इन माहात्म्य वर्णन करने वाली कथाओं का बडा ही महत्व है। इन कथाओं के सुफल सुन कर ही वैसे फल की प्राप्ति के लिए लोग लालायित होते है, अत इन प्रेरणादायक कथाओं को अधिकाधिक एव लोक रुचि के अनुकूल बना कर प्रकाश में लाना आवश्यक है।

भजन स्तवन हो तो निश्चित ही ऐसे संगीत गा बजा कर हम अपने गन्तव्य स्थान अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त करके अपनी आत्मा का कल्याण कर सकते हैं।

संगीत मनीषियों ने स्वरों के सात रूप बताये हैं जिन्हें हम सा, रे, ग, म, प, ध, नि के नाम से क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद के नाम से पहिचानते पुकारते हैं। मयूर की आवाज से षड्ज, चातक से ऋषभ, बकरे से गंधार, कौए से मध्यम, कोयल की आवाज से पंचम, मेंढक से धैवत और अंकुश द्वारा ताडित किये जाने पर हाथी की जो आवाज, होती है उससे निषाद स्वर को पहचाना। इन्हीं स्वरो के आधारभूत सात खंभों पर संगीत की विशाल इमारत खड़ी है। इन सात स्वरों को सात महासागर की उपमा भी दी गई है, जिसमें संगीत का अथाग जल भरा पड़ा है। गुणीजनों ने इनके अतिरिक्त दो स्वर षड्ज और पंचम को छोड़कर चार स्वरों को कोमल और एक को तीव्र बना कर बारह सुर मान लिये, जीन के आधार से छ राग और छत्तीस रागनियों की उत्पत्ती हुई जो छत्तीस राग रागनियों के नाम से प्रसिद्ध है। इनके भेद उपभेद तथा उनके गुण आदि देखना हो तो उपा० श्रीमद् यशोविजयजी कृत "श्रीपाल राजा नो रास" नामक ग्रन्थ में देख सकते हैं। उसमें विस्तार से इसका वर्णन देखने को मिलेगा।

यदि कोई संगीत तथा नृत्य के रूप को देखना चाहे, उसे समझना चाहे तो उसे दूर जाने की आवश्यकता नहीं! प्रकृति देवी की अनेक पुस्तक उसके लिये खुली पडी है। जैसे – मेघों की गडगडाहट व उसकी मंथरगति, पवन के सनसन करते हुए झोंके, सूर्य की किरणें, भ्रमर की गुंजार व उसकी उड़ान, मोर, कबुत्तर, चिड़ियाँ आदि की किलोलें व चहचहाट, तथा पशुओं में हिरन, बैल, घोडा, हाथी आदि की गतियाँ व बोलियाँ एवं नदी, झरनों का कलकल नाद इत्यादि ऐसी अनेक चीजें हैं जो नर्तक व संगीतकार में स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती हैं। सच्चा संगीतज्ञ व नृत्यकार साधक इन्हीं से सबकुछ सीखता है, अपने में उन्हीं भावों को उतारता है और अपने आप में लीन हो सुध बुध खो देता है। मानव शरीर ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण शक्तियों का लघु केन्द्र है। विश्वकी संगीत शक्ति का शरीर के माध्यम द्वारा आत्मा से संभोग कराना ही संगीत का वास्तविक अध्ययन है।

मुसलमान कवि गालिब ने कहा है—

"मय जो पीता हूँ इसलिये नहीं कि मुझे खुषी होती है।
मैं जो पीता हूँ बस वे खुदी के लिये"
—गालिब

एक लौ लगाये, अपने आप को भूल कर जो कलाकार साधक भक्ति भाव में डूब जाता है उसके सामने सर्व सिद्धियाँ हाथ बांधे खडी रहती हैं। स्वर (सुर) ही देवता और अस्वर (असुर) बेसुरा ही राक्षस है। अतः स्वरों की शुद्ध साधना करते

मन के एकाग्र हुए बिना कोई भी धर्म-क्रिया फलप्रद नहीं होती। वह तो एक ढोंग होगा, दिखावा होगा, निरर्थक होगा और फिजूल होगा। माला हाथ में लेकर नाम स्मरण, पूजा पाठ या और धर्म कृत्य करिये आप का मन तुरंत बाजारों की सैर करता किसी प्रकार का सौदा खरीदता मिलेगा। इसलिए मन को वश में करने के लिये याद रखिये संगीत ही एक ऐसा साधन है कि उस पर विजय पा सकता है। बिना चित्त स्थिर हुए संगीतज्ञ अपने गले से आऽऽऽऽऽ ऐसा शब्द भी उच्चारण नहीं कर सकता। अत हमें मानना पड़ेगा कि चित्त स्थिरता के लिये संगीत ही सब से सरल मार्ग है।

संगीत विश्वात्मा की परम सात्विक तथा विलक्षण आकर्षक चुम्बक शक्ति है। भूमंडल में ऐसा कोई स्थल नहीं जहाँ इसका अस्तित्व न हो। संगीत विद्या का कोई अंत नहीं संगीत वह ललित व दिव्य कला है। जिसके पास जाते ही परम आनन्द शाश्वत सुख की प्राप्ती सुगमता से कर लेना है। संगीत वह जादू है जिसको सुन कर मनुष्य ही नहीं वरन् पशु-पक्षी भी अपनी सुध बुध खो देते हैं। संगीत वह साधक है, जिन के जरिये मनुष्य सहज मोक्ष प्राप्त कर लेता है। प्रति वासुदेव रावण राजा ने अष्टपद पर्वत पर प्रभुआदिनाथ भगवान की स्तुति गायन-वादन द्वारा ही करके तीर्थंकर गौत्र का उपार्जन कर लिया था। आज भी इस युग में सिद्ध-संगीतज्ञ अपने संगीत के प्रभाव से कई असाध्य रोगों को दूर कर देते तथा कई हिंसक पशुओं को अपने वश में कर लेते देखे गये हैं। पागल आदमी संगीत की स्वरलहरी सुनाकर अच्छे किये जा रहे हैं। चाहिये एक सिद्ध सच्चा साधक। जिसका जादू जिसे हम कहते हैं वह संगीत ही तो है। जिस प्रकार मनुष्य की आत्मा परमात्मा की अनुभूति में एक आध्यात्मिक विश्राम की प्राप्ति के लिये व्याकुल रहती है उसी प्रकार चित्त और मस्तिष्क एक भौतिक सुख और सन्तोष पाने के लिये मानसिक विश्राम के विविध केन्द्रों की खोज में भटकता रहता है। वह अपनी आध्यात्मिक और मानसिक दोनों प्रकार की भूख मिटाना चाहता है। और इन दोनों प्रकार की भूख के लिए ललित कलाओं का आश्रय आवश्यक है। भूख को यदि पुष्टि दायक और शुद्ध भोजन न मिले तो वह हानिकारक और अशुद्ध भोजन से ही अपना पेट भर लेता है। ठीक इसी प्रकार आज का मानव सिनेमा संगीत के अश्लील और भद्दे गाने गुनगुना कर ही अपनी भूख इस प्रकार के अशुद्ध भोजन द्वारा मिटा रहा है। सच मानिये जिस तरह क आदि व्यन्जनों के साथ अ आदि स्वरों का जो सम्बन्ध है ठीक इसी तरह साहित्य और संगीत का सम्बंध है। इन दोनों का चोली-दामन का सा साथ है यदि वह एक दूसरे से अलग हो तो इनका कोई अस्तित्व नहीं। यदि संगीत के साथ सच्चे साहित्य का मेल हो जाय तो समझ लीजिये फिर पतन का गहरा गहर तैयार है। और संगीत के साथ यदि प्रभु-भक्ति भावों से ओत प्रोत हमारे पूर्वाचार्यों अनेक विद्वान साहित्य कारों व कवियों द्वारा शास्त्रीय राग रागनियों में तालबद्ध अवगुंठित किए हुए

भजन स्तवन हो तो निश्चित ही ऐसे संगीत गा बजा कर हम अपने गन्तव्य स्थान अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त करके अपनी आत्मा का कल्याण कर सकते हैं।

संगीत मनीषियों ने स्वरों के सात रूप बताये हैं जिन्हें हम सा, रे, ग, म, प, ध, नि के नाम से क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद के नाम से पहिचानने पुकारते हैं। मयूर की आवाज से षड्ज, चातक से ऋषभ, बकरे से गंधार, कौए से मध्यम, कोयल की आवाज से पंचम, मेंढक से धैवत और अंकुश द्वारा ताडित किये जाने पर हाथी की जो आवाज, होती है उससे निषाद स्वर को पहचाना। इन्हीं स्वरों के आधारभूत सात खंभों पर संगीत की विशाल इमारत खडी है। इन सात स्वरों को सात महासागर की उपमा भी दी गई है, जिसमें संगीत का अथाग जल भरा पडा है। गुणीजनों ने इनके अतिरिक्त दो स्वर षड्ज और पंचम को छोडकर चार स्वरों को कोमल और एक को तीव्र बना कर बारह सुर मान लिये, जीन के आधार से छ राग और छत्तीस रागनियों की उत्पत्ती हुई जो छत्तीस राग रागनियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके भेद उपभेद तथा उनके गुण आदि देखना हो तो उपा० श्रीमद् यशोविजयजी कृत "श्रीपाल राजा नो रास" नामक ग्रन्थ में देख सकते हैं। उसमें विस्तार से इसका वर्णन देखने को मिलेगा।

यदि कोई संगीत तथा नृत्य के रुप को देखना चाहे, उसे समझना चाहे तो उसे दूर जाने की आवश्यकता नहीं ! प्रकृति देवी की अनेक पुस्तक उसके लिये खुली पडी हैं। जैसे—मेघों की गडगडाहट व उसकी मंथरगति, पवन के सनसन करते हुए झोंके, सूर्य की किरणें, भ्रमर की गुँजार व उसकी उड़ान, मोर, कबुत्तर, चिड़ियाँ आदि की किलोलें व चहचहाट, तथा पशुओं में हिरन, बैल, घोडा, हाथी आदि की गतियाँ व बोलियाँ एवं नदी, झरनों का कलकल नाद इत्यादि ऐसी अनेक चीजें हैं जो नर्तक व संगीतकार में स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती हैं। सच्चा संगीतज्ञ व नृत्यकार साधक इन्हीं से सबकुछ सीखता है, अपने में उन्हीं भावों को उतारता है और अपने आप में लीन हो सुध बुध खो देता है। मानव शरीर ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण शक्तियों का लघु केन्द्र है। विश्वकी संगीत शक्ति का शरीर के माध्यम द्वारा आत्मा से संभोग कराना ही संगीत का वास्तविक अध्ययन है।

मुसलमान कवि गालिब ने कहा है—

"मय जो पीता हूँ इसलिये नहीं कि मुझे खुषी होती है।
मैं जो पीता हूँ बस वे खुदी के लिये"
—गालिब

एक लौ लकाये, अपने आप को भूल कर जो कलाकार साधक भक्ति भाव में डूब जाता है उसके सामने सर्व सिद्धियाँ हाथ बांधे खडी रहती हैं। स्वर (सुर) ही देवता और अस्वर (असुर) बेसुरा ही राक्षस है। अतः स्वरों की शुद्ध साधना करते

हुए अपने संगीत को उस पैमाने पे लाकर खड़ा कर दो जैसे कि हम एक सुई की नोक पर एक थाली को अधर टिका रहे हैं, अपने हाथ में तैल से लबालब भरा कटोरा लिये घूम रहे हैं उसमें से एक बूँद नीचे न गिरने पावे । इस प्रकार जब हमारा ध्यान संगीत स्तवना करते समय केन्द्रित होने लगे, रोम रोम में प्रभु गुण गान गूँजने लगे तब समझ लो मुक्ति हम से दूर नहीं ।

तो, हमारा जीवन संगीत मय हो, विश्व संगीत मय हो और संगीत की तन्मयता में हम सब आत्मविभोर हो उठे और ऐसे समाज का, विश्व का निर्माण हो जहां झूठ, कपट, हिंसा, घमंड आदि बातों का नामो निशान न हो ।

आदिकाल का हिन्दी जैन साहित्य और उसकी विशेषताएँ

लेखक — हरिशंकर शर्मा 'हरीश' रिसर्च स्कोलर (हिन्दी विभाग) इलाहाबाद युनिवर्सिटी

हिन्दी साहित्य का आदिकाल एक संक्राति-काल है। इसमें अनेक प्रकार का साहित्य मिलता है। इतिहासकारोंने कुछ वीरगाथात्मक रचनाओं के कारण इसे वीरगाथा-काल भी कहा है। पर जो सात-आठ रचनाएं वीरगाथाओं के नाम से उपलब्ध हुई थीं, उनमें से कोई भी रचना तत्कालीन प्रवृत्ति का सही प्रतिनिधित्व नहीं करती थीं। यों 'वीरगाथा' शब्द वीरगीतों या वीरपूजा आख्यानकों की वीरतामूलक प्रवृत्तियों के पोषक साहित्य के लिए रूढ हो जाता है; अतः इतर साहित्य का उस में समावेश कठिनाई से हो पाता था। आदिकाल नामकरण से अब स्थिति थोड़ी सुलझ भी गई है। वस्तुतः अब इस काल में वीरता से इतर तत्कालीन अनेक प्रवृत्तियों की पोषक रचनाओं का भी सरलता से समावेश किया जा सकता है।

आदिकाल में उपलब्ध होनेवाली सिद्धों और नाथों की अनेक रचनाएँ मिलती हैं, परन्तु उनकी प्रतिलिपियाँ एक तो बहुत ही बाद की मिलती हैं, और जो मिलती भी हैं उनकी प्रामाणिकता भी संदेह से मुक्त नहीं कही जा सकती। ऐसी स्थितिमें आदिकाल की भाषा और साहित्य को सुरक्षित रखनेवाला एक विशाल स्रोत तत्कालीन जैन साहित्य का है। शोध करने पर गुजरात, जैसलमेर, पाटण, अहमदाबाद, बीकानेर, आमेर और जयपुर आदि स्थानों के जैन भंडारों से यह आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य प्रचुर मात्रा में मिला है।

इस विशाल साहित्य को जन्म देने का श्रेय अपभ्रंश को है। प्राकृत से अपभ्रंश का उद्भव हुआ और अपभ्रंश से समस्त आधुनिक बोलियां या देश्यभाषाएँ बनी हैं। हिन्दी जैसी भाषा के उद्भव और विकास का श्रेय भी अपभ्रंश को ही है। अपभ्रंश की इसी विशालता पर प्रकाश डालते हुए श्री अगरचंद नाहटा लिखते हैं कि, "देश्य भाषाओं की समस्त क्रियायें एवं धातुरूप प्राकृतसंभूत अपभ्रंश में ढले हैं। इतना ही नहीं, हिन्दी को तो अपभ्रंश से कई वरदान व अमूल्य देन प्राप्त हुई हैं। हिन्दी भाषा के विकास के अध्ययन के लिए अपभ्रंश का साहित्य बहूपयोगी है। क्यों कि अपभ्रंश में प्राचीन अथवा आदि हिन्दी कहा जानेवाला स्वरूप यथावत् विद्यमान है, और अपभ्रंश में प्राचीन हिन्दी गद्य का मूल सुरक्षित है। हिन्दी के लिए अपभ्रंश की यह सेवा सुरक्षा की दृष्टि से कम महत्व की नहीं है।[१]"

---

१. देखिए श्रीमद् राजेन्द्रसूरि — स्मारक ग्रन्थ पृ. ६२० पर श्री अगरचन्द नाहटा और दौलत सिंह लोढ़ा 'अरविन्द' द्वारा लिखित — "हिन्दी जैन साहित्य" लेख।

अतः अपभ्रंश भाषा इन समस्त भाषाओं के वाङ्मय को जन्म देने में निधान कलश है, यह स्पष्ट हो जाता है। उत्तर भारत की ये समस्त विभाषाएँ अपभ्रंश से ही उद्भूत होकर विकास को प्राप्त हुई हैं। यवनों के आक्रमण से देश में एक भयानक संक्रांति हुई और इस विप्लव के सम्भ्रमण से राजस्थान, गुजरात और मध्य देश में अत्यन्त अधिक परिवर्तन हुए। उस समय से लेकर १७ वीं शताब्दी तक जैनेतर विद्वानों के साहित्यरचनाक्रम में एक शिथिलता आगई थी। अतः ऐसे समय में नगर-नगर घूम-घूम कर साहित्यरचना क्रम अव्याहत रखनेवालों का श्रेय इन जैनविद्वानों को है। उपदेश की भावना से लिखा हुआ यह साहित्य अत्यन्त विशाल है। विशेष रूप से राजस्थानी और गुजराती भाषाओं में इन जैन विद्वानों का यह योगदान वरदान के रूप में सिद्ध हुआ है। श्वेताम्बरी जैन साधुओं, कवियों और विद्वानों का क्षेत्र अधिकतर राजस्थान और गुजरात ही रहा और दिगम्बरी कवियों और साधुओं का क्षेत्र दक्षिण भारत और मध्यदेश रहा है। अतः दक्षिण का विभाषाओं में शोध होने पर इन दिगम्बरी विद्वानों का विशाल साहित्य मिलने की सम्भावना है। इन दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों की रचनाएँ जो विभिन्न विभाषाओं में प्रतिपादित हुई हिन्दी साहित्य के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। उपयोगी ही नहीं, वे स्वयं हिन्दी साहित्य का एक प्रमुख अंग भी हैं। राजस्थानी या गुजराती अनेक भाषाओं की ये रचनाएँ श्वेताम्बर मुनियों की ही अधिक हैं। जयपुर तथा आमेर के भंडारों से भी यह जैन साहित्य विशाल रूप में मिला है। परन्तु यह अधिकांश साहित्य मध्यकाल की सीमाओं में ही आता है। जहां तक आदिकाल के हिन्दी जैन साहित्य का प्रश्न है, इन भंडारों में अबतक यह प्रचुर प्रमाण में नहीं मिलता। यह भी सम्भव है कि अभीतक भंडारों की सम्यक् शोध नहीं हो पाई हो। अस्तु, प्राप्त रचनाओं के आधार पर ही इन रचनाओं का परिचय दिया जा सकता है। इन उपलब्ध रचनाओं को राजस्थान के विद्वान् प्राचीन-राजस्थानी और गुजरात के विद्वान् प्राचीन गुजराती या जूनी गुजराती भाषा की बतलाते हैं। पर ये रचनाएँ वास्तव में अपभ्रंश के उत्तरकाल की हैं। इन्हें आदिकाल में समाविष्ट करने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। एक ही साथ अनेक प्रवृत्तियों की उपलब्धि होने और उनकी पूर्ण शोध नहीं होने और निश्चित मन्तव्यों के नहीं मिलने से आदिकाल को श्री डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने "स्वतोव्याघातों" का काल कहा है।[१] परन्तु जैन साहित्य की इन अनेक रचनाओं की संदिग्धता तथा अप्रामाणिकता का निराकरण हो जाता है। अब तक आदिकाल का यह हिन्दी जैन साहित्य प्रकाश में नहीं आ पाया था। श्री अगरचंद नाहटा "हिन्दी भाषा का निखरा रूप १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हिन्दी अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त बनने लगती है" लिखते हैं।[२]

१४ वीं शताब्दी के पूर्व हमें गोरखनाथ आदि नाथों की रचनाएँ उपलब्ध

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल हजारीप्रसाद द्विवेदी

२ देखिए राजेन्द्रसूरि स्मारक-ग्रंथ, पृ ६२१

होती हैं, परन्तु उनके साहित्य की हस्तलिखित प्रतियाँ १७ वीं शताब्दी तक की ही मिलती हैं। अतः नाथों की रचनाओं के द्वारा उनकी भाषा के तत्कालीन स्वरूप की प्राचीनता १७ वीं शताब्दी से की हस्तलिखित प्रतियों के अभावमें सिद्ध नहीं हो पाती। नाथों से इतर साहित्य भी आदिकाल के साहित्य की प्राचीनता में अधिक योग नहीं देता। अतः जैन साहित्य ही शेष रह जाता है। लगभग ११ वीं से १६ वीं शताब्दी तक बोलियां या प्रान्तीय भाषाओं में लिखा हुआ यह साहित्य अनेक हस्त-लिखित प्रतियों के रूप सुरक्षित है। अस्तु, आदिकाल की तत्कालीन भाषा और साहित्य का स्वरूप इसी साहित्य की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। इनमें से अनेक कृतियां प्रकाशित भी हो चुकी हैं।[१]

हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में इस सामग्री का विवेचन नहीं किया है। क्यों कि एक तो उनकी दृष्टि में यह "धार्मिक सामग्री" मात्र थी। दूसरे उस समय शोध की कठिनाइयां थीं और ये रचनाएं उस समय उपलब्ध भी नहीं थीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने जैन भंडारों का निरीक्षण भी नहीं किया और "इसे केवल मात्र धार्मिक या उपदेश प्रधान साहित्य मानने की संभावना करके उन्होंने इस साहित्य का स्पर्श ही नहीं किया। इन अपभ्रंश रचनाओं की बात तो दूर रही, बहुत पहले स्वयं प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् और भाषाशास्त्री पिशेल को भी शोध की असुविधा से अपभ्रंश साहित्य के लिए भी यह कहना पड़ा था कि "अपभ्रंश का समृद्ध और विपुल साहित्य खो गया है"।[२] अतः उस समय इस आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य पर ध्यान जाता तो और भी कठिन या असाध्य कार्य था। इसके अतिरिक्त जिन जैन, अजैन लेखकों ने इस साहित्य पर प्रकाश डाला भी, तो इसके प्रति विद्वानों की दृष्टि उपेक्षित ही रही। ऐसा क्यों हुआ है? इसके कारण पर आगे प्रकाश डाला जायगा। यह कहा जा सकता है कि संभवतः या तो उनकी यह कल्पना रही हो कि यह साहित्य दुर्लभ साहित्य है। या वे जैन भन्डारों की यात्रा और शोध करना समय नष्ट करना ही समझते हों, या अन्य कोई कारण। परन्तु जहां तक इन कृतियों की साहित्यिकता, काव्यात्मकता और कलात्मकता का प्रश्न है, मैं पूर्ण दृढता से कह सकता हूं कि, न तो यह साहित्य एकदम धार्मिक ही है और न केवल उपदेश मात्र। यह तो जीवन के बहुत पास आकर झांकनेवाला यथार्थवादी सुन्दर साहित्य है। जिसके मूल में प्रेरणा देने के लिए धर्म व्यवहृत हुआ है। इस समय ऐसी अनूठी रचनाएं मिलती हैं, जो किसी भी भाषा के उत्तम साहित्य की श्रेणी में रखी जाने योग्य हैं। ११ वीं शताब्दी का धनपाल लिखित 'महावीर उत्साह' १२ वीं शताब्दी की 'जिनदत्त सूरि स्तुति' 'नवकार महात्म्य,' १३ वीं शताब्दी का शालिभद्र सूरि

१. देखिए लेखक का — "साहित्यकार" फरवरी सन् १९५८ में प्रकाशित "आदिकाल का प्रकाशित हिन्दी जैन साहित्य" लेख।

२. श्री राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ पृ. ६२१.

विरचित 'भरतेश्वर बाहुबली रास', धर्मविरचित 'स्थूलीभद्ररास', जम्बूस्वामिचरित', १४ वीं शताब्दी के 'समरारास,' 'कच्छूली रास,' 'जिनपद्मसूरि पट्टाभिषेक रास', धेल्ह रचित सं. १३७१ का 'चउवीसगीत' (दिगं०)[1] पद्मसमुधर और जिन पद्म सूरि विरचित 'नेमिनाथफागु' तथा १५ वीं शताब्दी में रचे गये अनेक ऐतिहासिक रास, फागु, गीतिकाव्य, खडकाव्य तथा प्रबंधकाव्य तथा — शालिभद्रसूरि विरचित 'पांचपाण्डवरास', मडलिक रचित 'पेथडरास', हीरानंद सूरि रचित 'कलिकाल रास' 'विद्याविलास पवाडो', जयशेखर सूरिकृत 'त्रिभुवन दीपक प्रबंध', विजयभद्ररचित 'हंसराज-वच्छराज-चउपई', तथा शालिसूरि विरचित 'विराटपर्व', तथा दयासागर रचित 'धर्मदत्त चरित'[2] (दिगं०), तथा सधार रचित 'प्रद्युम्न चरित' (दिगं.)[3] आदि अनेक उत्कृष्ट कोटि की रचनाएं उपलब्ध हैं, जिनकी साहित्यिकता पर कोई भी प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकता, जो साहित्य की अपूर्व निधि हैं। तथा जिनका पर्याप्त अध्ययन और विश्लेषण अनेक संदिग्ध तथ्यों, भ्रांत धारणाओं और त्रुटिपूर्ण स्थापनाओं का निराकरण करने में सक्षम है। इसके अतिरिक्त वीरगाथाकाल में वीरगाथात्मक कही जाने वाली लगभग सभी रचनाओं की अप्रामाणिकता भी सिद्ध हो चुकी है।[4] वस्तुतः उक्त सभी रचनाओं की प्राप्ति से पूर्व वीरगाथा काल सिर्फ वीरगाथाकाल ही बना रहा और पीछे वीरगाथाओं के साथ इस युग की अन्य प्राप्त कृतियों का सादृश्य नहीं होने से यह काल उल्टा "अंधकार काल"[5] कहा जाने लगा। अस्तु—

इस अंधकार में प्रकाश किरणों से आदिकाल को सुषमा प्रदान करने वाली अनेक हिन्दी जैन रचनाएं हैं। इन उपर्युक्त भंडारों में लगभग ५०० से भी अधिक हिन्दी जैन रचनाएं उपलब्ध हो चुकी हैं, जो निश्चित रूपसे हिन्दी साहित्य के आदिकाल की सम्पत्ति हैं। इन श्वेतांबर और दिगम्बर विद्वानों ने इन कृतियों के माध्यम से अनेक विषयों पर अनेक रूपों में प्रकाश डाला है। ये सब विषय मात्र धार्मिक ही नहीं, लोकोपकारक भी हैं। साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त इस आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य में व्याकरण, छंद, अलंकार, वैद्यक, गणित, ज्योतिष, नीति, ऐतिहासिक, सुभाषित, बुद्धिवर्धक, विनोदात्मक, कुव्यसननिवारक, शिक्षाप्रद, औपदेशिक, ऋतुकाव्य*

१ वही, पृ ६२४.

२. जैन गुर्जर कवियो — श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई, पृ. ४३०

३ देखिए "राजस्थान के जैन शास्त्र भन्डारों की ग्रन्थ-सूची, तृतीय भाग — प्रकाशक कुंथिचन्द गंगवाल पृ ५,१९ तथा हिन्दी अनुशीलन वर्ष ९, अंक १-४ में श्री अगरचन्द नाहटा का "सं. १४११ में रचित प्रद्युम्न चरित्रका कर्ता" लेख।

४ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४७ अंक ३-४ में श्री नाहटाजी द्वारा लिखित "वीरगाथा काल की रचनाओं पर विचार, लेख

५ देखिए — हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य ग्रन्थ: श्री पृथ्वीनाथ कुलश्रेष्ठ — प्रारंभिक अंश,

* श्री राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ पृ ७०७-१०

संवाद तथा लोकवार्तात्मक आदि अनेक प्रकार की रचनाएं उपलब्ध होती हैं। चाहे ये सब विषय आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य में नहीं आते हों; पर मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य की तो ये कृतियां सम्पति हैं ही। इनमें से कुछ विषयों पर आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य में भी आ जाते हैं। वस्तुतः इन रचनाओं का क्षेत्र बहुमुखी है। इन रचनाओं को मात्र धार्मिक मान लेना भी इनकी प्रगति में बाधक सिद्ध हुआ है। वास्तव में धर्म को साहित्य से अलग मानकर चलना, साहित्यिक तत्वों की उपेक्षा करना है। ऐसी मान्यताओं को बिल्कुल युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता है। इस तरह यदि धार्मिक साहित्य कह कर रचनाओं की उपेक्षा की जायगी तो सूर, तुलसी, कबीर, मीरां आदि के धार्मिक साहित्य से हमें एकदम वंचित हो हाथ धोना पड़ेगा। अतः रचनाओं की उपेक्षा का यह आधार एकदम निर्मूल ही लगता है। आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य की ये रचनाएं एकदम धार्मिक ही नहीं, अपितु साहित्यिक हैं। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ 'आदिकाल के प्रथम प्रवचन' में ही स्पष्ट कर दिया है कि—"उपदेशविषयक उन रचनाओंको जिनमें केवल सूखा धर्मोपदेश मात्र लिखा गया है, साहित्यिक विवेचना के योग्य नहीं समझना ही उचित है। परन्तु +++ कई रचनाएँ ऐसी भी हैं कि जो धार्मिक तो हैं, किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाये रखने का पूरा प्रयास है। धर्म वहां कवि को केवल प्रेरणा दे रहा है। जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हों, उससे वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न है। जिसमें धर्म-भावना प्रेरकशक्ति के रूप में काम कर रही हो, और साथ ही हमारी सामान्य मनुष्यता आंदोलित, मंथित और प्रभावित कर रही हो, इस दृष्टि से अपभ्रंश की कई रचनाएं जो मूलतः जैन धर्म-भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निःसंदेह उत्तम काव्य हैं। और 'विजयपाल रासो' और 'हम्मीर रासो' की भाँति ही साहित्यिक इतिहास के लिए स्वीकार हो सकती हैं। यही बात बौद्ध, सिद्धों की रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है। इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएं साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी-कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए। ++×× धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का यह 'रामचरित मानस' भी साहित्यक्षेत्र में आलोच्य हो जायगा, और जायसी का पद्मावत भी साहित्य-सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा। ××× केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रन्थों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदि काव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा। 'तुलसी रामायण' से भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पड़ेगा और जायसी को भी दूर से दण्डवत् करके विदा कर देना होगा। मध्ययुग के साहित्य की प्रधान प्रेरणा धर्म-साधना ही रही

है, जो भी पुस्तकें आज संयोग और सौभाग्य से बची रह गई हैं, उनके सुरक्षित रहने का कारण प्रधान रूप से धर्म बुद्धि ही रही है। काव्यरसकी भी वही पुस्तकें सुरक्षित रह सकी हैं, जिनमें किसी न किसी प्रकार धर्म भाव का संस्पर्श रहा है। ××× इस प्रकार मेरे विचार से सभी धार्मिक पुस्तकों को साहित्य के इतिहास में त्याज्य नहीं मानना चाहिए।"[१] वस्तुत आदिकालीन समस्त जैन हिन्दी कृतियाँ धार्मिक कहकर नहीं भुलाई जा सकतीं। धर्म और आध्यात्मिक के तत्त्व इनके मूल में प्रेरणा का कार्य करते हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन तो अपभ्रंश की कृतियों को भी दृढ़ता से पुरानी हिन्दी ही घोषित करते हैं।[२]

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि उपलब्ध साहित्य अपभ्रंश का परवर्ती साहित्य है जो पुरानी हिन्दी कहा जा सकता है। प्रसिद्ध विद्वान् श्री गुलेरीजीने 'पुरानी-हिन्दी' के अन्तर्गत आनेवाली परवर्ती अपभ्रंश की रचनाओं का विवेचन किया है। अत उनके विचार से भी ये सब रचनाएं हिन्दी की पूर्ववर्ती स्थिति के रूप की प्रतिलिपि ही हैं।[३] हेमचन्द्र के दोहे, भोज और मुंज के पद्य, प्रबंध चिंतामणि में वर्णित अनेक प्रसंग, तथा "कुवलयमाला" जैसे प्राकृत के ग्रन्थ में प्रासंगिक रूप में आये हुए अपभ्रंश गद्य ही इस साहित्य की पृष्ठभूमि के सबल परिणाम हैं। मुनिरामसिंह कृत पाहुड दोहा, स्वयंभू की रामायण, राजस्थानी साहित्य के आदिकाव्य 'ढोला मारू रा दूहा" दामोदर शर्मा द्वारा लिखित 'उ[illegible] ...की समस्त भाषाकृतियां हमारे आदिकालीन हिन्दी [illegible]
वाले अन्तरंग और बहिरंग प्रमाणों के [illegible]
बड़े सहायक हैं। अपभ्रंश भाषा के परिवार में राजस्थानी को विद्वानों ने 'अपभ्रंश की जेठी बेटी' कहा है। अत प्राचीन राजस्थानी की समस्त सामग्री प्राचीन हिन्दी की ही कही जायगी। परन्तु राजस्थानी भाषा के साहित्य का सम्बन्ध सिर्फ हिन्दी से ही नहीं है। एक ओर उसका अविच्छेद्य सम्बन्ध गुजराती से भी है। कभी कभी एक ही रचना को एक विद्वान् पुरानी राजस्थानी कहता है, तो दूसरा विद्वान् उसे जूनी गुजराती कह देता है। इस पुरानी राजस्थानी या जूनी गुजराती में दोनों ही प्रदेशों की भाषा के पूर्वरूप मिलते हैं। और प्राकृत और अपभ्रंश का रूप तो इनमें मिला ही रहता है। अनेक जैन कवियों ने इस प्रकार के साहित्य की रचना की है।[४] डॉ सुनीतिकुमार चटर्जी और डॉ एल पी टेस्सीटोरी ने १५ वीं शताब्दी के पूर्व की राजस्थानी और गुजराती भाषा को एक ही भाषा माना है।[५] और गुजराती का

१　देखिए हिन्दी साहित्य का आदिकाल　आचार्य डा हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ ११-१२

२　हिन्दी काव्य धारा　श्री राहुल सांकृत्यायन — भूमिका भाग

३　देखिए पुरानी हिन्दी — चन्द्रधर शर्मा गुलेरी — नागरीप्रचारिणी सभा संस्करण — पृ ३-४

४　हिन्दी साहित्य का आदिकाल. डा हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ ९

५　देखिए — राजस्थानी भाषा — श्री सुनीतिकुमार चटर्जी, तथा प्राचीन राजस्थानी श्री डॉ एल पी टेस्सीटोरी — अनुवादक — श्री नामवरसिंह

स्वतंत्र भाषा के रूप में अस्तित्व १६ वीं शताब्दी से ही स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त उपलब्ध रचनाओं के पाठ को देखने से भी इस तथ्य का पूर्ण स्पष्टीकरण हो जाता है। अतः यह स्पष्ट कहा जा सकता ह कि १५ वीं शताब्दी के पूर्व की जूनी गुजराती कही जानेवाली लगभग समस्त रचनाएं आदिकालीन हिन्दी साहित्य की ही सम्पत्ति हैं। यों राजस्थानी को तो हिन्दीसाहित्य के विद्वानों ने हिन्दी मान ही लिया है। मीरा के भजन, पृथ्वीराज रासो, कबीर के भजन, ढोला मारू का दूहा, बीसलदेव-रास आदि अनेक प्रसिद्ध कृतियां आज हिन्दी की सम्पत्ति कही जाती हैं। यह तथ्य सर्वमान्य है। अतः इस आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य को सुरक्षित रखने का श्रेय पुरानी राजस्थानी या जूनी गुजराती को ही दिया जायगा। यह पूर्णतया स्पष्ट है। इस विशाल साहित्य की मूलप्रवृत्तियां और अनेक विशेषताओं का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता हैं :—

१. साहित्यिक और लोकभाषामूलक :—

आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य साहित्यिक और लोक भाषा – दोनों में लिखा गया है। जैनी साधुओं और कवियों में कई तो स्वान्तः सुखाय लिखनेवाले थे, तथा कई ग्राम-ग्राम नगर-नगर घूम-घूम कर लोकोपकारक उपदेशप्रधान तथा आध्यात्मिकता से पूर्ण साहित्य लोकभाषा में निर्मित करते थे। अतः एक तरफ इसमें चोटी की साहित्यिक विधाओं और तत्वों का समावेश है, तो दूसरी ओर इसमें जनभाषा और बोलियों का स्वभाविक प्रवाह। अतः यह साहित्य श्रेष्ठ सांहित्यिक रचनाओं के साथ बोलचाल की रचनाओं का भी श्रेष्ठ कोष है।

२. प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण का प्रतिनिधि :—

इस उपलब्ध साहित्य की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि इस में बड़ी-बड़ी से लेकर छोटी-छोटी अनेक रचनाएं उपलब्ध होती हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यहां प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण की रचनाएं काफी अच्छी संख्या में मिलती हैं। तथा उस समय की हस्तलिखित प्रतियां भी पूर्ण सुरक्षित हैं। कुछ प्रतियां तो मूल लेखकों की भी कही जा सकती हैं। हरेक शताब्दी की अनेक रचनाएं एक ही साथ उपलब्ध होने से इनकी प्रामाणिकता में भी कोई संदेह नहीं रह जाता। अतः हिन्दी भाषा और साहित्य के क्रमिक विकास में योग देने के लिए ११ वीं से १५ वीं शताब्दी के हर चरण का ये रचनाएं प्रतिनिधित्व करती हैं।

३. विविध विषयक :—

इस विशाल साहित्य में सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक काव्यों के साथ-साथ लोक-आख्यानक काव्य भी मिलते हैं। रामायण, महाभारत सम्बन्धी

कथाओं को भी इन जैन कवियों ने अत्यन्त दक्षता से सवारा है। उदाहरणार्थ 'भरतेश्वर बाहुबली रास',[1] 'नेमिनाथ फागु' 'पचपाण्डव चरितरास', 'विराट पर्व', विद्याविलास पवाडो',[1] 'ज्ञानपचमी चौपाई', 'हसराज वच्छराज चौपाई' आदि प्रबंध काव्यों के अतिरिक्त 'स्थूलिभद्र फागु', 'नेमिनाथ चतुष्पदिका', जबूस्वामी चरित' जैसे मधुर खडकाव्य भी हैं। सैकडों की सख्या में नीति–उपदेशमूलक स्तोत्र तथा स्तवन–साहित्य मिलता है। अत इसका भडार अत्यन्त समृद्ध है। जहा तक सामाजिक विषयों से सम्बन्ध है, इन कृतियों में लगभग सभी प्रकार के विषय आ गये हैं। अत केवल मात्र धर्म पर ही लिखे हुये ये ग्रन्थ नहीं हैं।

■ विविध परपराओं का द्योतक —

ये कृतियाँ जैनियों के साहित्य और समाज की विविध परपरा में बधी होने के कारण ही पूर्णतया सुरक्षित रह सकी हैं। जिन परपराओं पर भी ये कृतियाँ प्रकाश डालती हैं उनका विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है —

प्रथम परपरा है — आगमों का स्वाध्याय, जैनेतर साहित्य का अनुशीलन, मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन। अत इन नियमों के कारण जैन साहित्य के अतिरिक्त जैनेतर विषय भी इन कवियों और विद्वानों के विषय बनाए जाते थे और उन विषयों का ये सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत करते थे।

द्वितीय परपरा है — ज्ञान के अनेक भडारों की स्थापना, सुरक्षा और उनका सम्यक प्रबध। अत इसी परपरा से इन जैन भडारों में जैन तथा जैनेतर कृतियाँ सुरक्षित रही है। तथा भडारों की व्यवस्था भी सतोषजनक मिलती है। अन्यथा अपतक इस साहित्य का अधिकाश साहित्य कभी का नष्ट हो गया होता।

तृतीय परपरा है — ग्रथ–लेखन और प्रतिलिपि–कार्य करना। अनेक लिपीकार भडारों के ग्रथों की प्रतिलिपियाँ करते थे। कई लिपिकारों की तो जीविका भी इसी कार्य से चलती थी। उदाहरणार्थ आज भी पाटण, अहमदाबाद, बीकानेर और नागौर में इस प्रकार के प्रतिलिपिकार (लेखक) हैं जो अपनी आजीविका प्रतियोंकी प्रतिलिपि करके ही कमाते हैं। जैन श्रावक, जैनी धनिक, तथा राजकीय पदप्राप्त जैनी स्वयं अपना प्रचार और धर्म–प्रचार आदि कार्यों के लिए इन कृतियों की प्रतिलिपि आदि करवाते थे। अत अनेक जैनेतर ग्रन्थों की प्रतिया और प्रतिलिपियाँ तथा प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियाँ भी यहा पर सुरक्षित हैं, तथा जैन लेखकों की तो है ही।

१ देखिए–भरतेश्वर बाहुबलीरास सपादक श्री लालचंद भगवानदास गांधी–प्रकाशक-प्राच्यविद्यामंदिर बडोदा विक्रम सवत १९९७

२ G O S Cxviii पृ ५५–७४

१ वही, पृ १–११०

यह भी संभव है कि ये प्रतियां विभिन्न शाखाओं की हों। अतः पाठविज्ञान जस विषय के लिए ये भंडार बहुत महत्त्व के हैं तथा यह लेखन-परंपरा भी मुख्यतः पाठालोचन के विद्यार्थी के लिए शोध की वस्तु है। उदाहरणार्थ 'वीसलदेव रास' जैसी कृतिकी समस्त प्रतियाँ जैन लेखकों की ही मिली हैं। अतः इन भंडारों का महत्व और भी बढ जाता है।

चतुर्थ परंपरा है :— साहित्यिक भाषा में रचना करने के साथ लोकभाषा ग्रहण करने की। अतः इन कृतियों में इसका सम्यक् निर्वाह है। इस प्रकार जनभाषा में लिखे जाना इस साहित्य की लोकप्रियता की सबसे बड़ी विशेषता है।

पंचम परंपरा है :— जैन धर्म का प्रचार तथा जैन दर्शन को छोटी-छोटी कथाओं के माध्यम से जनता में प्रचलित करना। ये कथाएं बड़ी ही मधुर और सरस हैं। तथा जैन दर्शन इनके द्वारा खूब मुखरित हुआ है। इन कथाओं की मुख्य गर्भवस्तु चरित्र-निर्माण, अहिंसा, कर्मवाद और आदर्शवाद हैं। अस्तु, उक्त परंपराओं ने इन कृतियों में जीवन डाल दिया है।

५. परवर्ती साहित्य पर इसका प्रभाव :—

एक प्रमुख विशेषता इन कृतियों की यह है कि, क्या रचना-प्रकार, क्या शैली, क्या वस्तु और क्या उद्देश्य आदि सब दृष्टियों से परवर्ती काव्य को प्रभावित करने के तत्त्व बीज रूप में इन में विद्यमान हैं। प्राकृत में किसी काव्य रूप का क्या स्वरूप था? अपभ्रंश में आकर वह क्या हुआ? और 'पुरानी हिन्दी' में क्या हुआ? और पुरानी हिन्दी या प्राचीन राजस्थानी अथवा जूनी गुजराती में इन काव्यरूप कथाओं अथवा वर्ण्य विषयों का क्या रूप रहा? परम्पराओं (cycles) में किस तरह परिवर्तन हुआ? आदि अनेक तथ्यों का स्पष्टिकरण इन कृतियों से होता है। अतः परवर्ती साहित्यकी पूर्ववर्ती स्थितियों का बीज रूप में अध्ययन करने के लिए यह साहित्य बड़ा उपयोगी है।

६. काव्यरूपों में वैविध्य :—

काव्यरूपों के क्षेत्र में भी इस साहित्य ने अपना वैविध्य प्रस्तुत किया है जिसमें रास, फागु, छप्पय, चतुष्पदिका, प्रबंध, गाथा, चच्चरी, गुर्वावली, गीत, वर्णन, दोहा, स्तुति, महात्म्य, उत्साह, अभिषेक, कळश, चैत्यपरिपाटी, संधिकडवक, धवळ, विवाहको, मंगल, वेळि, पर्व, आदि सैकडों प्रकार की रचनाएं[1] उपलब्ध हैं, जिनपर श्री अगरचंद नाहटाने विस्तार से प्रकाश डाला है। अपभ्रंश के काव्यरूपों को देखते हुए इस आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य की कृतियों का यदि तुलनात्मक विवेचन किया जाय

१. देखिए नागरी पत्रिका, वर्ष ५८, अंक ४, सं. २०१० में श्री अगरचंद नाहटा द्वारा लिखित—"प्राचीन भाषा काव्यों की विविध संज्ञाएँ" लेख पृ. ४१७—२६.

तो अधिकांश काव्य रूप ऐसे हैं जिनके उद्भव का श्रेय इसी साहित्य को है। ये इन्हीं कृतियों का मौलिक अनुदान है। उदाहरणार्थ 'रास' अपभ्रंश में भी १३ वीं शताब्दी से ही मिलता है। 'फागु' का महत्व भी अपने ही प्रकार का है। कवित्त, उपदेश, पर्व कुलक, धवलगीत आदि अनेक रचनाएं ऐसी हैं जिनका प्रारंभ अपभ्रंश में बादमें मिलता है। एक बात यह भी है कि काव्यरूपों के सम्बन्ध में अपभ्रंश का काल भी यही पड़ता है। अतः दोनों में कुछ साम्य है और कई काव्यरूपों में असाम्य है, जिन्हें आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्यकी अपनी ही देन कहा जाता है। विस्तार से इन काव्य रूपों का परिचय अप्रकाशित कुछ रचनाओं की सूची द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार यह साहित्य काव्य की विविधमुखी विषयक परंपराओं से गुथा हुआ है।

७ भाषाविज्ञान का एक प्रमुख अंग —

भाषाविज्ञान की दृष्टि से इन कृतियों का बड़ा महत्व है। आदिकाल रचतोभ्यापानों का काल होने से इस समय की भाषा सम्बन्धी संक्रांति को समझना भी अत्यावश्यक है। अपभ्रंश का हिन्दी के विकास में योग, अपभ्रंशेतर भाषा या पुरानी हिन्दी या प्राचीन राजस्थानी अथवा प्राचीन गुजराती के शब्दरूप और ध्वनियों का अध्ययन करने के लिए ये कृतियां बड़ी उपयोगी हैं। भाषाविज्ञान के विद्वानों का ध्यान मैं विनम्रता से इस ओर आकर्षित करना चाहता हूं, ताकि हिन्दी के जन्म, विकास आदि का अध्ययन प्रस्तुत किया जा सके। हिन्दी की लोकभाषा सम्बन्धी प्रवृत्तियों का अध्ययन करने में ये कृतियां बहुत सहायक सिद्ध होंगी। वि. सं. ११०० से १५०० तक के उपलब्ध साहित्य के अभाव में अब तक भाषा के विकास में जितनी अड़चनें अनुभव की जा रही थीं उनका निराकरण करने की क्षमता इन कृतियों में पूर्णतया विद्यमान हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि उनकी प्रामाणिकता में संदेह नहीं है।

८ प्राचीनता की दृष्टि से उनका महत्व —

उपलब्ध लेखन सामग्री में अत्यन्त पुरातन प्रतियां इस साहित्य के भंडारों में उपलब्ध हुई हैं। राजस्थान के जैन भंडारों में लाखों की संख्यामें हस्तलिखित प्रतियां सुरक्षित हैं। जिनमें जैसलमेर का भंडार ताडपत्रीयप्रतियां एवं ग्रंथों के संग्रह के रूप में विश्वविदित है। श्री नाहटाजी का कथन है कि "उस भंडार में ९।१० वीं शताब्दी की ताडपत्रीय और १३ वीं शताब्दी की कागज पर लिखित प्रतियां प्राप्त हैं।" उतनी प्राचीन ताडपत्रीय व कागज पर लिखी हुई प्रतियां भारतभर के किसी सुरक्षित जैन भंडार में उपलब्ध नहीं हैं।[1] कागज की एक प्रति खंभात भंडार में सं. १२×× की उल्लेखनीय है। जयपुर के जैन भंडार में भी सन् १२६२ का एक ग्रन्थ कागज पर लिखा हुआ सुरक्षित है।[2]

---

१ श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरि–स्मारक ग्रंथ पृ. ७०५–७०६।

२ राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों की ग्रन्थ सूची, भाग तीन, सम्पादक कस्तूरचन्द कासलीवाल पृ. २ प्रस्तावना।

अतः ये प्रतियां अपनी जैनेतर साहित्य-सिद्धों, नाथों तथा अन्यान्य साहित्य-की प्राप्त प्रतियों से अधिक प्रामाणिक व प्राचीनतम हैं।

९. वि+शुद्ध ऐतिहासिक रचनाएं —

आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य में सबसे बड़ी एक विशेषता यह है कि अनेक रचनाएं विशुद्ध ऐतिहासिक हैं जिनमें अनेक गीतिकाव्य हैं, खंडकाव्य हैं तथा अनेक गीति मुक्तक। इन ऐतिहासिक रचनाओं से तत्कालीन जैन कवियों और लेखकों के इतिहास से सम्बन्ध स्पष्ट होते हैं। साथ ही अनेक ऐतिहासिक स्थानों का विवेचन, तीर्थों, नगरों, मन्दिरों, शिलालेखों, आक्रमणों, जैन संघों, ऐतिहासिक यात्राओं तथा प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों के वर्णन मिलते हैं। उदाहरणार्थ—सत्यपुरीय महावीर उत्साह[1] संघपति समरा रास,[2] जिनकुशलसूरि पट्टाभिषेक रास,[3] पेथड़रास,[4] देवरत्नसूरि फाग[5] आदि अनेक ग्रंथ रचनाएं ऐसी हैं जिनमें तत्कालीन राजा, बादशाह तथा प्रसिद्ध जैन तीर्थों, महापुरुषों तथा ऐतिहासिक चरित्रनायकों के वर्णन-विवरण मिलते हैं।

कई स्थानों पर तो ऐसे वर्णन भी मिलते हैं जहां जैन कवि मुसलमान बादशाहों को प्रभावित करते देखे गये हैं तथा उनकी विद्वत्ता पर उनको राज्य की ओर से अनेक सम्मान दिए गये—यथा—सं. १३३५ में जिनप्रभसूरि ने दिल्ली में यवनपति मुहम्मदशाह से भेंट की थी और अपने व्याख्यान द्वारा उन्होंने सुल्तान का मन मोह लिया। सुल्तान ने उनकी बड़ी भक्ति की, फरमान निकाला और जुलूस निकाला तथा वसति-निर्माण कराई।+ जिनप्रभसूरि ने यवन-पति कुतुबुद्दीन को भी प्रसन्न कर लिया था।* अतः इन जैनों को राजकीय मंत्रित्व आदि कई अनेक पद मिलते थे। वाणिज्यमन्त्री तो अधिकतर जैन ही होते थे। पेथड़, समरसिंह आदि संबंधित पेथड़ और समरा रास× इसी प्रकार के हैं। इसी प्रकार वस्तुपाल तेजपाल का रास' तथा 'रेवंतगिरि रास'× आदि रचनाएं बड़ी महत्वपूर्ण हैं जो विशुद्ध ऐतिहासिक हैं।

---

१. जैन साहित्य संशोधक—खण्ड ३, अंक ३, पृ. २४१—२४३ संपादक मुनि जिनविजयजी सं. १९८४

२. जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संचय—मुनि जिनविजयजी पृ. २३८.

३. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह —श्री अगरचंद भंवरलाल नाहटा, पृ. १५.

४. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह—श्री सी. डी. दलाल — पृ. २४. परिशिष्ट १०. (AppendixX)

५. जै. ऐ. गु. का. सं. —मुनिजिनविजयजी, पृ. १५०.

\+ ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह—श्री. नाहटा बंधु पृ.. प्रस्तावना पृ. १६ द्वारा डॉ. हीरालाल जैन द्वारा लिखित.

* देखिए वही ग्रंथ—जिनप्रभसूरिगीत पृ. १२.

× देखिए प्रा. गु. का. सं. श्री. दलाल संपादित बड़ौदा संस्करण, सन्. १९२०, पृ. १—७.

१० गद्य की प्राचीनतम रचनाओं का साहित्य :—

अनेक पद्य रचनाओं के साथ-साथ इन कृतियों में गद्यरचनाएँ भी सुरक्षित हैं। ये रचनाएं हिन्दी की प्राचीनतम रचनाएं कही जा सकती हैं।[1] १४ वीं शताब्दी से ही गद्य की प्रामाणिक प्रतियां मिलती हैं। आराधना, अतिचार, बालशिक्षा, षडावश्यक, बाला वबोध, कल्याण मंदिर बाला०, भक्तामर स्तोत्र बाला०, श्रावक बृहदतिचार आदि अनेक रचनाएं १४ वीं व १५ वीं शताब्दी की ज्ञात-अज्ञात जैन लेखकों की उपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में कई गद्य की कृतियां को प्रकाशित भी की जा चुकी है।[2] इसके साथ हिन्दी साहित्य में गद्य के साथ-साथ 'गद्यकाव्य' की परम्परा को जन्म देने का श्रेय भी आदिकाल के हिन्दी जैन साहित्य को ही है। १५ वीं शताब्दी की श्री माणिक्यसुंदर सूरि लिखित 'पृथ्वीचंद्र वाग्विलास'[3] अब उपलब्ध गद्यकृतियों में गद्यकाव्य की परंपरा का उन्मेश करनेवाली प्राचीनतम पद शीर्ष की कृति है। ऐसी अनूठी कृति निस्संदेह उल्लेखनीय है। अतः हिन्दी साहित्य की प्रामाणिक प्राचीनतम गद्यरचनाओं के साथ साथ गद्यकाव्य का उद्भव भी इसी साहित्य से हुआ है।

११. सख्यामें सर्वाधिक रचनाएं —

इस साहित्य की रचनाओं की संख्या अद्यावधि प्राप्त आदिकालीन जैनेतर साहित्य से अधिक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वीरगाथाकाल नामकरण का आधार एक ही प्रवृत्ति की प्राप्त होनेवाली रचनाओं की सख्या को ही दिया है।[4] और उन्हें जो कुछ रचनाएँ वीरगाथाकालीन प्रवृत्ति की प्राप्त हुईं वे सब अप्रामाणिक सिद्ध हुई हैं। अतः इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो एक ही जैन धारा की प्रवृत्ति का उचित विश्लेषण व प्रतिनिधित्व करनेवाली हिन्दी जैन रचनाओं की सख्या लगभग ५०० है। सम्भवतः अन्य अनेक राजस्थानी, देहली, मेरठ, सहारनपुर, जयपुर, अजमेर, नागौर आदि भन्डारों की शोध होनेपर यह सख्या और अधिक बढ जाय। अतः रचनाओं की सख्या को ही नामकरण का आधार बनाया जाय तब तो आदिकाल को " हिन्दी जैनकाल या आदि हिन्दी जैन युग " या " अपभ्रंश युग " भी कहा जा सकता है। पर क्योंकि नामकरण के लोभ से हम जैनेतर कृतियों का महत्त्व भी कम नहीं करना चाहते। हमारा मन्तव्य तो यहां सिर्फ यही है कि यह साहित्य आदिकाल में अद्यावधि उपलब्ध अपभ्रंशेतर साहित्य से सख्या में सबसे अधिक है, विविध विषयक तथा बहुमुखी है। कुछ प्रकाशित कृतियों पर लेखक ने प्रकाश भी डाला है।[5] इसके

१ देखिए लेखक का "साहित्यकार जनवरी सन् १९५८ में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य की प्राचीनतम गद्यरचनाएं' लेख।

२ प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह—श्री दलाल सम्पादित पृ ८६–९२

३ वही ग्रन्थ — पृ ९२

४ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य शुक्ल — वीरगाथाकाल

५ देखिए साहित्यकार — फरवरी १९५८, में प्रकाशित लेखक का "आदिकाल का प्रकाशित हिं जै साहित्य" शीर्षक लेख

अतिरिक्त भी इस साहित्य की जो छोटी-मोटी अनेक विशेषताएँ और मुख्य प्रवृत्तियां हैं उनका विवेचन हम इस प्रकार कर सकते हैं :—

१२. विश्वसनीय साहित्य :—

ये प्रतियां विश्वसनीय तथा प्रामाणिक हैं। क्योंकि ये जैन भंडारों में पूर्णतया सुरक्षित थीं। तथा आक्रमणकारियों ने राजस्थान के जैन भंडारों को बहुत कम प्रभावित किया है। वे इन प्रच्छन्न भंडारों को, सच तो यह है कि, प्राप्त ही नहीं कर सके। हिन्दी प्रदेश के अन्य प्रान्तों में अनेक प्रतियां आक्रमणकारियों ने नष्ट करदीं। क्योंकि आदिकालीन प्रतियां अवधी, विदर्भ, भोजपुरी, व्रज आदि विभाषाओं में बिलकुल नहीं मिलती हैं। राजस्थान और गुजरात के भंडार ही इसे ज्यों का त्यों सुरक्षित रख सके हैं। जैनमुनियों का अध्ययन-अध्यापन, पठन-पाठन तथा लेखन ही व्यसन था। अतः ये प्रतियां प्रामाणिक और पूर्ण विश्वसनीय हैं। तथा इनकी हस्तलिखित प्रतियां भी तत्कालीन उपलब्ध जैनेतर साहित्य की प्रतियों और प्रतिलिपियों से प्राचीनतम हैं।

१३. तत्कालीन स्थितियों का इतिहास :—

इस साहित्य की कृतियां तत्कालीन समय का इतिहास प्रस्तुत कर सकती हैं। आदिकालीन आचारविचार, समाज, धर्म, राजनीति की सही स्थितियां पर प्रकाश डालने में ये कृतियां पूर्ण सक्षम हैं। ये प्रामाणिक तथ्य और घटनाओं के यथार्थ चित्रण में योग देती हैं। अतः इतिहासकारों को आदिकाल के इतिहास लिखने में भी ये पूर्ण सहायता करेंगी। और क्योंकि इनमें वर्णित साहित्य जनता का साहित्य है; अतः इसमें जीवन के स्वच्छ और यथार्थ दृष्टिकोण व चित्रण को अपनाया गया है। तत्कालीन विद्वानों की मान्यताएं और कविगत सत्यों का भी अध्ययन इन्हीं के माध्यम से किया जा सकता है।

१४. केवल धार्मिकता नहीं :—

इन रचनाओं में केवल धार्मिकता ही नहीं। इन में साहित्यिकता की अजस्र शैवालिनी सर्वत्र एक ही गति से प्रवहमान् है। इसमें चरितनायकों की स्तुतियों की संक्षिप्तता से लेकर प्रबंधकाव्यों तक का विस्तार है। उपलब्ध रचनाओं में अद्यावधि यद्यपि कोई महाकाव्य नहीं मिला है, तथापि प्राप्त प्रबंधकाव्यों में महाकाव्यों का भी वहन करने की अपार क्षमता है। यह संभव है कि कालान्तर में शोध करने पर कुछ महाकाव्य भी प्राप्त हों। क्योंकि जैनकवियों द्वारा लिखे अपभ्रंश में कई महाकाव्य उपलब्ध हुए हैं और ये कृतियां अपभ्रन्श की उत्तर स्थिति की उपज हैं।

१५ राज्याश्रय रहित जनता का साहित्य —

जैन कवि आत्मानन्द में मग्न रहनेवाले, भौतिक आडम्बरों से दूर रहनेवाले तथा समाजसेवी थे। धर्म, त्याग और संयम के कठोर बंधन में ही वे बंधे थे। अतः एक ओर उन्हें अपनी धार्मिक नियमबद्धता और गुरुओं की आज्ञापालन का कर्त्तव्य करना पड़ता था, तो दूसरी ओर जनता के भावों को कबीर की भांति जनता के ही विचारों में पहुचाना और प्रचार करना पड़ता था। अतः राज्याश्रय और कृत्रिम दबाव इन कवियों की आत्मा और काव्यानुभूति की तीव्रता और यथार्थ चित्रण को कलुषित नहीं कर पाया। अतः अनेक साहित्यिककवियों ने उच्चकोटि की स्वान्तः सुखाय रचनाएं लिखी हैं। जिनमें जीवन का चित्रण भी "आँखों का देखा" हुआ है—'कागज का लिखा' नहीं। अस्तु, आदिकालीन हिन्दी जैनकवियों के चित्रण में अतिरंजना को कहीं स्थान नहीं है।

१६ वर्णन के मूलतत्व धर्मप्रचार और उपदेशमूलकता —

इन कृतियों में अपने दैनिक जीवन की प्रभावोत्पादक घटनाओं, आध्यात्म के पोषक तत्वों चरितनायकों, शलाकापुरुषों, आदर्श श्रावकों तपस्वियों तथा पात्रों के जीवन-वर्णन हैं, हीनमानव और अतिमानव के गुणों का विश्लेषण है संयमित जीवन के स्रोतों का स्पष्टीकरण है, कर्म और नियतिवाद के तत्वों का प्रकाशन है। साथ ही इनमें श्रृंगारिक चित्रण, दान-वर्णन, संघ-वर्णन, यात्रा-वर्णन नगर-तीर्थ तथा प्रसिद्ध स्थानों के वर्णन पूजा की विधियों का वर्णन पवं धार्मिक जीवन और पवित्र श्रावकों और भक्तों के लिए नियमों का निर्धारण, अहिंसा, उपवास, शम दम, नियम, नीति आदि की गतिविधियों का विश्लेषण और जीवन के विविध मूल तत्वों का सही चित्रण हैं। उपदेशात्मकता इन कवियों की मुख्य प्रवृत्ति है जिनके मूल में इनकी धर्म में दृढ प्रवृत्ति और प्रचार है।

१७ असाम्प्रदायिक साहित्य —

धर्म का प्रचार और चरितनायकों के आख्यानमूलक साहित्य होने पर भी इन रचनाओं में कहीं भी साम्प्रदायिकता की गंध नहीं है। आज का अनिवार्य भावुक चाहे इनको वर्तमान जीवन के लिए अव्यावहारिक कहने की भूल कर सकता है, पर इनका तो मुख्य उद्देश्य लोकोपकारिता ही है। आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य की मुख्य दृष्टि चरित-निर्माण, उपकार, दया-दान-सत्य और शौच ही हैं। त्याग और शांति तो इसके मूल में ही हैं। अहिंसा और जनजागरण के अनूठे चित्रों के साथ निर्वेद या शम की भावना ही इस साहित्य का प्राण है। इतना सबकुछ होते हुए भी जैन कवि प्रश्न खड़ा करके नहीं चलते। ये उलझी और कठिन समस्याओं का हल अपने दैनिक जीवन में ही ढूंढ निकालते हैं। उनका साहित्य समस्या खड़ी नहीं करता—उसका हल प्रदान करता है। वह जीवन से दूर या अव्यावहारिक नहीं है। यह तो कदम-कदम पर जनजीवन से समझौता करके चलनेवाला है।

१८. लोकभाषाओं की सम्पन्नता :—

इस साहित्य का शृंगार है लोक-चित्रण, सेवा और दया। औदार्य इन कवियों का स्वाभाविक गुण था। विश्वशांति की वर्तमान ज्वलंत-समस्याएं (Burning Problems) की ओर ये प्रारंभ से ही उपदेश देते थे। लोक ही उनका क्षेत्र था। अतः उस साहित्य में लोकसंस्कृति, भाषा और साहित्य के उन्नयन के प्रमुख तत्व हैं। हिन्दी भाषा के उद्भव और विकास के इतिहास के उलझे प्रश्नों को भी उन कृतियों से सुलझाया जा सकता है। तथा विश्वजनीन जीवनमूल तत्वों का प्रेरक उस साहित्य को कहा जा सकता है।

१९. कथारूढियों और परंपराओं (cycles) की मौलिकता—

इन प्रतियों में उपलब्ध कथाओं की परपराएं और कथारुढियां भी अपने ही प्रकार से वर्णित हुई हैं। इन परंपराओं में भी प्राकृत, अपभ्रंश आदि से अलग अपने ही प्रकार की मौलिकता है। कथाओं और उनकी रुढियों में परंपरा का निर्वाह मिलते हुये भी उनके पात्रों, कथानकों, वर्णनपद्धतियों, उद्देश्यों आदि में एक अपने ही प्रकार का चित्रण है।

२०. रसराजः शान्त :—

अन्य रसों के वर्णन के साथ जैन कवियों ने शृंगार के स्थान पर शान्त को ही रसराज माना है। यद्यपि इस साहित्य में करुण, वीर, शृंगार आदि सभी रसों की सफल निस्पत्ति की है। उदाहरणार्थ 'भरतेश्वर बाहुबली रास' वीररस की सफलकृति है। और 'नेमिनाथ चतुस्पदिका' में राजुल के आंसू करुण रस की उत्कृष्ट निस्पत्ति के प्रतीक हैं। परन्तु फिर भी ये रस शांतकी क्रोड़ में ही पलते हैं। शांत या निर्वेद इन कृतियों की समाप्ति पर अपने साधारणीकरण की छाप पाठक और श्रोता सब पर छोड़ देता है। अधिकांशतः प्रधान रूप से इसी रस को इन काव्यकारों ने निष्पन्न किया है। अर्थात् जैन विद्वानों ने शृंगार के रसराजत्व को गौण और शांत के रसराजत्व को प्रमुख मान्यता दी है। विश्वशांति के उपायों का सुन्दर हल, मातृत्व, सौहार्द तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की सारी योजनाएं इनकी मुख्य संवेदना में देखी जा सकती हैं।

२१. शैलीगत मौलिकता :—

इन कृतियों के वर्णन में विचित्र एवं अपने ही प्रकार की शैली के दर्शन होते हैं। वर्णन में विशालता के साथ पर्याप्त वैज्ञानिकता दिखाई देती है। वर्णन कहीं भी शिथिल नहीं है। यहां तक की जहां कवि धर्म के सिद्धान्तों का उपदेश देता है वहां भी उसमें साहित्यिक सरसता बनी रहती है। लौकिक, अलौकिक आदि लगभग सभी क्षेत्रों को इन जैन कवियों ने अपना वर्ण्य विषय बनाया है और अपनी शैली में ढाला है।

२२. मानवता को संदेश—

छंदों तथा अलंकारों के साथ-साथ इन कृतियों की अनुभूतियां प्रौढ साहित्य की प्रतीक हैं। इन संदेशों पर मानव के जीवन-स्तरका उन्नयन कर, उसकी नैतिक निष्ठाओं का निर्माण करना है। अहिंसा, दान, शांति आदि के लिए ये लेखक और कवि सदैव से ही सतर्क रहे हैं। इन्हीं का पाठ पढाना इनका कर्त्तव्य रहा है। अस्तु, हिंसा से दूर, सुख, सौहार्द, एकता, त्याग और आनंद का मुख्य संभार लेकर ये काव्य विजयिनी मानवता के प्रति सुन्दर संदेश देते हैं। अतः आदिकालीन जैन साहित्य अपने में पूर्ण एवं सर्वांश सुन्दर है।

संक्षेप में हमने ऊपर इस साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियों और विशेषताओं का निरूपण किया है। एक आवश्यक तत्व का स्पष्टीकरण यहां कर देना उचित प्रतीत होता है की इतना सम्पन्न साहित्य होने हुए भी अबतक विद्वानों में इस साहित्य के प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण क्यों बना रहा!! इसका मूल कारण यह स्पष्ट होता है कि विद्वान् इनमें से अनेक कृतियों को गुजराती भाषा की समझते रहे, क्यों कि ये गुर्जर प्रदेश में लिखी गई थीं। गुजराती को स्वतंत्र और अलग भाषा मानने के कारण ही इन कृतियों पर विद्वानों ने ध्यान नहीं दिया। प्रेमीजी, डॉ. हीरालाल जैन, प्रभृति जैन, अजैन विद्वानों ने इस ओर लेख भी लिखे; परन्तु इन कृतियों पर फिर भी हमारी दृष्टि इस ओर नहीं गई। श्री अगरचंद नाहटा ने पिछले कुछ वर्षों से राजस्थानी और प्राचीन गुजराती की कृतियों का यह पारस्परिक संबंध स्पष्ट किया और विभिन्न कृतियों पर 'वीरगाथाकालीन भाषा साहित्य' पर नागरीप्रचारिणी आदि कई पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाश डाला। इसके पूर्व डॉ. सुनीतिकुमार, और डॉ. टेस्सीटोरी भी प्राचीन राजस्थानी और जूनी गुजराती का परस्पर एकत्व स्पष्ट कर चुके थे। पर राजस्थानी के इस आदिकालीन विशाल हिन्दीजैन साहित्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय राजस्थान के प्रसिद्ध विद्वान् श्री अगरचंद नाहटा को तथा गुजराती के प्रसिद्ध इतिहासकार और विद्वान् साधक स्वर्गीय श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई को है। श्री देसाई का ग्रंथ "जैन गुर्जर कवियो" के तीनों भाग आज आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य के लिए मीलस्तम या Mile Stone का कार्य करते हैं। इन कृतियों में कई रचनाएं तो राजस्थान में ही रची गईं जिन्हें विद्वान् गुजराती की ही समझते रहे, पर राजस्थानी तो हिन्दी की ही एक बोली है। अतः प्राचीन राजस्थानी और जूनी गुजराती के पृथक पृथक होने की इस भेदबुद्धिका अब निराकरण होजाता है। जूनी गुजराती नाम से कृतियों का समयनिर्धारण और स्थाननिर्धारण के विषय में अबतक हमारी जो धारणा थी वह अनेक विद्वानों के अध्ययन तथा शोधपूर्ण निबंधों से लगभग दूर हो चुकी है। अतः प्राचीन राजस्थानी और जूनी गुजराती की कही जानेवाली, सभी रचनाएं आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य की ही हैं-यह मत पूर्ण तथा असंदिग्ध है।

काव्यरूपों को आधार मानकर नीचे इन कृतियोंमें से कुछ कृतियों की एक

वर्गीकृत सूची प्रस्तुत की जा रही है। अज्ञात कवियों की अनेक कृतियों को इनमें नहीं लिया गया है, उनपर अन्यत्र विचार करेंगे। इनमें से अधिकांश रचनाएँ श्वेताम्बर विद्वानों की ही हैं। दिगम्बर विद्वानों की एक दो रचनाओं का ही इसमें समावेश किया गया है। क्योंकि दिगम्बर कृतियों की अभी पूरी शोध लेखक नहीं कर सका है। आंशिक रूप से इस वर्गीकरण में रचना-काल में भी क्रम रखनेका प्रयास किया गया है, पर प्रधानता काव्यरूपों को ही दी गई है। इन काव्यरूपों को देखते हुए हम इस साहित्य की विविधता का, बहुमुखी क्षेत्रका तथा संपन्नताका अनुमान सहज ही लगा सकेंगे। राजस्थानी, गुजराती, जैन, अजैन अनेक विद्वानों ने भी इस साहित्य की प्रचुरता, वैज्ञानिकता और विशालता पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। अतः यह साहित्य महत्त्वशाली सिद्ध हो जाता है। नीचे आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य की रचनाओं की एक वर्गीकृत सूची दी जा रही है। इस सम्बन्ध में एक लेख पहले भी प्रकाशित किया जा चुका है।[1]

शताब्दी	काव्यप्रकार	कृतिनाम	रचनाकाल	रचनाकार
११ वीं शताब्दी	उत्साह	* सत्यपुरीय महावीर उत्साह	संवत् १०८१ लगभग	धनपाल
१२ वीं शताब्दी	महात्म्य	* नवकार महात्म्य	सं. ११६७ लगभग	जिनवल्लभसूरि
'	स्तुति	* जिनदत्तसूरिस्तुति	सं. ११७०	पल्ह
,,	,,	* श्री मुनिचंद्रगुरुस्तुति	सं. १२०० लगभग	वादिदेवसूरि
१३ वीं शताब्दी	घोर	* भरतेश्वर बाहुबलीघोर	सं. १२२५	वज्रसेनसूरि
,,	रास	* भरतेश्वर बाहुबलीरास	सं. १२४१	शालिभद्रसूरि
,,		* बुद्धिरास	सं. ,, के आसपास	,,
,,		* चंदनबालारास	सं. १२५७	आसगु
,,		* जीवदयारास	सं. ,,	,,
,,		* स्थूलिभद्ररास	सं. १२५७ के बाद	धर्म
,,		* रेवंतगिरिरास	सं. १२८८	विजयसेनसूरि
,,		* आबूरास	सं. १२८९	राम (?)
,,		* नेमिनाथरास	सं. १२९०	सुमति गणि
,,	चरित	* जंबूस्वामीचरित	सं. १२६६	धर्म
,,	चतुष्पदिका	* सुभद्रासतीचतुष्पदिका	सं. १२६६ के लगभग	धर्म

१. देखिए लेखक का — "साहित्यकार" फरवरी, १९५८ में प्रकाशित "आदिकाल का प्रकाशित हिन्दी जैन साहित्य" लेख —

१३ वीं शताब्दी	गुणवर्णन	जिनवल्लभसूरि–गुणवर्णन	सं १२९१ के लगभग	नेमिचंद्र भंडारी
,,	धवलगीत	जिनपतिसूरि–धवलगीत	सं १२७८	शाहरयण
,,		जिनपतिसूरि धवलगीत	सं १२७८ के लगभग	भत्तउ
,,	दोहा	मातृका दोहा	सं १३०० के लगभग	पृथ्वीचंद
,,	संधि	भावना संधि	सं १३०० के लगभग	जयदेव
,,	वस्तु	जम्बूस्वामी सत्तवस्तु	सं १३०० के आसपास	अज्ञात ( )
१४ वीं शताब्दी	रास	* महावीररास	सं १३०७	अभयतिलक
,,		सप्तक्षेत्रीरास	सं. १३२७	अज्ञात (?)
,,		शांतिनाथदेवरास	सं १३१८	लक्ष्मीतिलक
,,		शालिभद्रमुनिवररास	सं १३३०	राजतिलकगणि
,,		जिनेश्वरसूरि–विवाहवर्णन रास	सं १३३१ के बाद	सोममूर्ति
,,		पारमतरास	सं १३३८	विनयचंद्रसूरि
,,		कच्छूलीरास	सं १३६३ के आसपास	प्रज्ञातिलक सूरिशिष्य
,,		बीस विहरमानरास	सं १३६८	वस्तिग
,,		श्रावकविधिरास	सं १३७१	गुणाकरसूरि
,,		समरारास	सं १३७१ आसपास	अम्बदेवसूरि
,,		जिनचंद्रसूरिवर्णनरास	सं १३७१ के लगभग	लखमसीहु श्रावक
,,		जिनकुशलसूरि पट्टाभिषेकरास	सं १३७७ के आसपास	धर्मकलश
,,		मयणरेहारास	सं १३८० आसपास	रयणु (?)
,,		जिनपद्मसूरिपट्टाभिषेक रास	सं १३९० आसपास	सारमूर्ति
,,	चतुष्पदिका	नेमिनाथचतुष्पदिका	सं १३२५	विनयसूरि
,,	चउपई	चतुर्विंशतिजिन–चतुष्पदिका	सं १४०० के पूर्व	मोरमंदिर

१४ वीं शताब्दी		सम्यकत्व माइ चउपई	सं. १३३१ के पहले	जगड्ड
,,		पद्मावतीदेवी चौपाई	सं. १३८० के आसपास	जिनप्रभसूरि
,,	संधि	आनंद प्रथमोपासक संधि	सं. १३५२ के पूर्व	विनयचंद्रसूरि
,,	छप्पय	उपदेशमाला कथानक छप्पय	सं. १४०० के आसपास	उदयधर्म
,,	फाग	नेमिनाथफागु	सं. १३५८ के लगभग	पद्म
,,		स्थूलिभद्रफागु	सं. १३९०	जिनपद्मसूरि
,,		नेमिनाथफागु	सं. १४३० के पूर्व	समुधर
,,		थूलिभद्रफागु	सं. ,,	राजवल्लभ
,,	चच्चरी	जिनप्रबोधसूरि चच्चरी	सं. १३३१ के बाद	सोममूर्ति
,,		चाचरी	सं. १३३१ के आसपास	जिनेश्वरसूरि
,,		जिनचंद्रसूरिचच्चरी	सं. १४०० के पूर्व	हेमभूषण
,,		चर्चरिका	सं. १४०० के आसपास	सोलणु
,,	गीत	चउवीसगीत (दिगं.)	सं. १३७१	घेल्ह
,,	तलहरा	अंबिकादेवीपूर्वभव-वर्णन तलहरा	सं. १३८० के आसपास	उदयऋद्ध (?)
,,	कलश	चन्द्रप्रभकलश	सं. १४०० के पूर्व	वीरप्रभ
,,	स्तवन	चउवीसजिनस्तवन	सं. ,,	राजकीर्ति
,,	चैत्यपरिपाठी	गुरावली	सं. १३७८ के पूर्व ,,	फेरु
	मातृका	दूहामातृका	सं. १३५८ के पूर्व	पद्म
	कक्क	सालीभद्र कक्क	सं. १३५८ के पूर्व	पद्म
	अभिषेक	महावीरजन्माभिषेक	सं. १३३१ के बाद	जिनेश्वरसूरि
१५ वीं शताब्दी	रास	पंचपांडवचरितरास	सं. १४१०	शालिभद्रसूरि
,,		गौतमस्वामीरास	सं. १४१२	विनयप्रभ
,,		त्रिविक्रमरास	सं. १४१५	जिनोदयसूरि
,,		श्रीजिनोदयसूरिपट्टाभिषेकरास	सं. १४१५	ज्ञानकलश
,,		देवसुन्दरसूरिरास	सं. १४४५	चाँप (?)
,,		शालिभद्ररास	सं. १४५५	साधुहंस
,,		वस्तुपाल तेजपालका रास	सं. १४८४	हीरानंदसूरि

”		दशार्णभद्ररास	स १४८४ बाद	हीरानंदसूरि
”		वयरस्वामीगुरुरास	स १४८९	जयसागर
”		गौतमरास	स १४९० के आसपास	जयसागर
”		* कलिकालरास	स १४८६	हीरानंदसूरि
”		ऋषभरास	स १४९२ पश्चात	गुणरत्नसूरि
”		सिद्धचक्र श्रीपालरास	सं १४९८	मॉडण
”		कमलावती सती का रास	स १५०० के पूर्व	विजयभद्र
”		प्रद्युम्नचरित्र (दिगंबर)	स. १४११	सधारु (दिग)
”		चैत्यप्रवाडीरास	स. १५०० के पूर्व	कर्ण सिंह
”		भरतबाहुबलीरास	सं ” ” ”	तेजवर्द्धन (?)
”		* पेथडरास	स ” ” ”	मडलिक
”		मत्स्योदरकुमार रास	स ” ” ”	साधुकिर्ति
”		विक्रमचरितकुमाररास	सं ” ” ”	”
”		शांतरास !	स ” ” ”	मुनिसुन्दरसूरि
”		जिनभद्रसूरि पट्टाभिषेक रास	सं ” ” ”	समयप्रभ
”		नलदमयंतीरास	स ” ” ”	चंप
”	फाग	* नेमिनाथफागु	सं १४०५	राजशेखरसूरि
”		* स्थूलिभद्रफागु	स १४०९	हल्राज
”		* प्रथम नेमिनाथफागु	सं १४२२	जयसिंहसूरि
”		* द्वितीय ” ”	स ” के लगभग	” ”
”		रावणि पार्श्वनाथ ”	स ” ” ”	प्रसन्नचन्द्रसूरि
”	फागु	* जीरापल्ली पार्श्वनाथफागु	सं १४३२	मेरुनंदन
”		* नेमिनाथफागु	सं १४६०	जयशेखर
”		* देवरत्नसूरिफागु	स १४९९	देवरत्नसूरिशिष्य
”		* नेमिनाथ नवरसफागु	सं १५०० के लगभग	रत्नमंडन गणि
”		* नेमिनाथफागु	” ” ” ”	समरा
”		* पुरुषोत्तम पंचपाण्डवफागु	” ” ” ”	(अज्ञात)
”		* वसंतफागु	” ” ” ”	गुणचंद्रसूरि
”		* नारीनिरासफागु	” ” ” ”	रत्नमंडन गणि

,,		* वसंत विलास	सं. १५०० के लगभग	(अज्ञात)
,,		* नेमिनाथ फागु	,, ,, ,, ,,	समधर
,,	स्तवन	वीस विहरमान जिन स्तवन	सं. १४११ के लगभग	तरुणप्रभसूरि
,,		तीर्थयात्रा स्तवन	सं. १४१२ के आसपास	विनयप्रभ
,,		अर्बुदालंकार श्री युगादि-देवस्तवन	सं. १४३० के पूर्व	जिनरत्नसूरि
,,		नेमिनाथ स्तवन	सं. १४३० के पूर्व	,, ,,
,,		सीमंधर स्तवन	सं. १४३३ के पूर्व	मेरुनंदन
,,		* अजितशांति स्तवन	सं. १४३३	,,
,,		नंदीस्वरस्थ प्रतिमा स्तवन	सं. १४५० के लगभग	मालदेव
,,		स्तवनो	सं. १४६० के वाद	जयशेखरसूरि
,,		अष्टमी स्तवन	सं. १४९० के आसपास	समरो
,,		नेमिनाथ नवभव स्तवन	सं. १४९० के वाद	सोमसुंदरसूरिशिष्य
,,		महावीर स्तवन	,, ,, ,, ,,	भावसुंदर ,,
,,		* तीर्थमाला स्तवन	सं. १४९९ पूर्व	मेघो (मेहो)
,,		राणकपुर स्तवन	सं. १४९९	,, ,,
,,		नवसारी स्तवन	सं. १४९९ के वाद	,, ,,
,,	वावनी	अष्टापदतीर्थ वावनी	सं. १४८९ के पश्चात्	जयसागर
,,	स्तोत्र या स्तवन	चउवीस जिनस्तोत्र	सं. १४८९ के वाद	जयसागर
,,		जिन स्तोत्र	सं. १४८९ से १५०० तक ये सब स्तोत्र, स्तवन मिलते हैं।	,,
,,		अजित स्तोत्र	,, ,, ,,	,,
,,		स्तंभन पार्श्व स्तवन	,, ,, ,,	,,
,,		महावीर स्तवन	,, ,, ,,	,,
,,		आदिनाथ स्तवन	,, ,, ,,	,,
,,		शांति स्तवन	,, ,, ,,	,,
,,	विवाहलउ	जिनोदयसूरि विवाहलउ	सं. १४३२	मेरुनंदन

१५ वीं शताब्दी -		जम्बूस्वामी को विवाहलो	स १४८५	हीरानंदसूरि
,,	धवलगीत	नेमिनाथधवल	स १४६० बाद	जयशेखरसूरि
,,		महावीरगीत	स १४७५ के बाद	जिनभद्रसूरि
,,	गुर्वावली	तपागच्छगुर्वावली	स. १४८२ से पूर्व	जिनवर्द्धमानगणि
,,	स्तुति नमस्कार	चतुर्विंशति जिनस्तुति	स १४९० के बाद	जयसागर
,,		चतुर्विंशति नमस्कार	स १५०० पूर्व	जिनशेखर
,,	तीर्थमाला	अष्टोत्तरी तीर्थमाला	स १५०० के पूर्व	मुनिप्रभसूरि
,,	प्रबंध (बंध)	त्रिभुवनदीपकप्रबंध	स १५०० पूर्व	जयशेखरसूरि
,,		भरत बाहुबली प्रबंध (पवाडो)	स ,, ,	गुणरत्नसूरि
,,		नेमिश्वर चरित फाग बंध	स १४७० आसपास	माणिक्यसुंदरसूरि
,,		विराट पर्व	स १४७८ पूर्व	शालिसूरि
,,	परिपाटी	चैत्यपरिपाटी	स १४८७	जयसागर
,,		नगर कोट महातीर्थ चैत्य परिपाटी	स १४८४ के आसपास	जयसागर
,,	पवाडो	विद्याविलास पवाडो	स १४७८ पूर्व	हीरानंदसूरि
,,	चतुष्पदिका या	जिनकुशलसूरि चतुष्पदिका	स १४८१	जयसागर
,,	चउपई	उत्तमा रिषि संघ स्मरणा चतुष्पदी	स १५०० पूर्व	देवसुंदर
,,		हंसराज वच्छराज चउपई	स १४११	विजयभद्र
,,		ज्ञानपंचमी चउपई	स १४२३	विद्धणु
,,		कारबंधि चउपई	स १४५०	देवसुंदरसूरिशिष्य
,,		शकुन चौपई	स १४९२ के आसपास	गुणसमुद्रसूरिशिष्य
,,		गौतमपृच्छा चौपई	स १५०० पूर्व	साधुहंस
,,		नंदीश्वर चौपई	स ,, ,,	मान्देव
,,		मंगलकलश चौपई	स ,, ,,	सर्वानंदसूरि
,,		चिहुंगति चौपई	स १४६२ पूर्व	वस्तिग (वस्तो)
	बारहमास	स्थूलिभद्र बारहमास	स १४८६ बाद	हीरानंदसूरि

१५ वीं शताब्दी		नेमिनाथ फाग		
		बारहमास	सं. १५०० पूर्व	कान्ह
,,	कवित्त	स्थूळिभद्र (कवित्त)	सं. १४८१	सोमसुंदरसूरि

उक्त सूची में कुछ कृतियों के काव्यरूपों का परिचय दिया गया है। प्रस्तुत सूची को तैयार करने में गुजराती विद्वान स्वर्गीय मोहनलालजी दलीचंद देसाई के ग्रंथ–जैन गुर्जर कवियों भाग १ और २ से पूरी सहायता मिली है। उक्त सूची में अनेक रचनाओं की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियां अथवा आधुनिक प्रति-लिपियाँ हिन्दी जैन साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान और शोधक श्री अगरचंद नाहटा ने अपने अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर में संग्रहीत की हैं। उनकी इस सामग्री तथा नाहटा जी के लेखों से बड़ी भारी सहायता मिली है। जिसके लिए लेखक उनका आभारी है।

अनेक स्थानों के जैन भंडारों की शोध अभी नहीं हो पाई है। दिल्ली, मेरठ बड़ौदा, नागौर, जयपुर, अजमेर आदि स्थानों के जैन भंडारों से खड़ी बोली का प्रारंभिक स्वरूप प्रदान करने वाली अनेक रचनाएं उपलब्ध होने की आशा है। अतः शोध होने पर उनपर भी यथासमय प्रकाश डाला जायगा।

जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि यह वाङ्मय विशाल है तथा जैन भंडारों में भरा पड़ा हैं, तथा इस का महत्व अत्यन्त असाधारण है। और यही आदिकालीन हिन्दी–जैन–साहित्य हिन्दी के आदिकाल की अनेक उलझी कड़ियों को सुलझाने में पूर्ण सक्षम है। आशा है प्रस्तुत लेख से आदिकालीन हिन्दी-जैन-साहित्य का कुछ परि-चय मिल सकेगा। यदि इस साहित्य के सम्बन्ध में अबतक बनी "धार्मिक साहित्य मात्र" जैसी भ्रांत धारणाओं का निराकरण हो सका और इन कृतियों के प्रति आलो-चना की एक निष्पक्ष दृष्टि या 'नीर क्षीर विवेक' को प्रश्रय मिल सका तो लेखक अपना प्रयास सफल समझेगा। कहना न होगा कि हिन्दी-जैन-साहित्य आदिकालीन साहित्य का एक अविभाज्य और असाधारण अंग है।

मंत्री मण्डन और उसका गौरवशाली वंश

दौलतसिंह लोढा, 'अरविंद'

इतिहासकारों के लिये वैसे अभी भारत का अधिकांश भाग अछूता रह रहा है ऐसा कहा जा सकता है। जिसमें जैन क्षेत्र तो अस्पर्शित सा ही है। मात्र मेरा प्राग्वाट-इतिहास लिखा है। वैसे तो उपकेशज्ञातीय 'ओसवाल-इतिहास' नाम का बृहद् पोथा भी प्रकाशित किया गया परन्तु उसके रचयिताओं का प्रमुख उद्देश्य श्रीमंतों से धन ऐंठना मात्र रहा और वह अधिकांश में धनदाताओं की कथा और चित्र पट्टिका ही बन कर रह गया, और इतिहासों में उसकी गणना नहीं हो सकी। इस लेख के द्वारा जावालीपुर (जालोर) के एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष और उसके वंश का यथाप्राप्त वर्णन देने का प्रयास कर रहा हूं।

ठक्कुर आभूशाह का जैन बनना —

राजस्थान के मरुधर-जोधपुर राज्य का प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर जावालीपुर (जालोर) स्वर्णगिरि नामक पर्वत की पौर्वात्य तलहटी में सुकड़ी नदी के पश्चिम तट पर अवस्थित है। स्वर्णगिरि पर १॥ मील लम्बा और एक मील चौड़ा पर्वतभाग घेर कर लगभग १२०० फीट की ऊंचाई पर प्राचीन सुदृढ दुर्ग विनिर्मित है। यह दुर्ग राजस्थान के अति इतिहासप्रसिद्ध दुर्गों मेंसे है। विक्रमीय ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य तक यहां परमारों का राज्य रहा। तत्पश्चात् यहां चौहान क्षत्रियोंका राज्य रहा। अलाउद्दीन खिल्जी के शासनकाल में यह यवनों के आधिपत्य में चला गया। राज्यपरिवर्त्तनों के विरोध में भी नगर की रमणीयता में एवं समृद्धि में न्यूनता नहीं आई। तेरहवीं शताब्दी पर्यंत इसकी समृद्धता जैसे-तैसे बनी रही। जैनियों का यहां सदा प्रभाव और प्रभुत्व रहा। प्राय राजकीय उच्च विभागों पर जैन ही नियुक्त हुआ करते थे और व्यापार भी जैनियों के करों में ही रहा। म मण्डन का मूल जैन पुरुष आभू था। आभू जैसा वीर था वह वैसा ही दयावान और ईश्वरभक्त भी था। वह सोनगरा चौहान था। वि स ११४२ में जालोर में अजितदेवसूरि पधारे। आभूने इन महाप्रभावक आचार्य के तेज एव व्याख्यान से प्रभावित हो कर जैनधर्म अङ्गीकृत किया। आचार्यश्री ने आभू को धर्म स्वीकार करवा कर उसको जैन वर्ग में सम्मिलित किया। आभू दृढ जैनधर्मी रहा।

आभू के पौत्र आवड का अजमेर सम्राट् सोमेश्वर का दण्डनायक बनना—

आभू का पुत्र धर्मात्मा, दयालु अभयदेव था। अभयदेव का पुत्र आवड था।

+ आभू प्राग्वाट, श्रीमाल, ओसवाल वर्गों में से किस वर्ग में सम्मिलित हुआ यह अभी विवादग्रस्त है।

आंबड़ बचपन से ही नटखट था और शस्त्रास्त्रों के अभ्यास एवं प्रयोगों में अधिक रुचि रखता था। वह १५-१६ वर्ष की वय में ही एक निपुण योद्धा गिना जाने लगा। राजस्थान में उसकी वीरता और रणकौशलता की चर्चा दूर-दूर फैलने लगी। जालोर में उस समय परमार वीशलदेव राज्य कर रहा था। अजमेरसम्राट् सोमेश्वर की राजसभा में भी आंबड की प्रसिद्धि पहुँची। सम्राट् सोमेश्वर ने जालोर से आंबड को निमंत्रित किया और उसकी वीरता पर एवं साहस पर मुग्ध होकर उसने उसको अपनी सैन्य में दण्डनायक के स्थान पर नियुक्त किया। कुछ कारणों पर परमार वीशलदेव और सम्राट् सोमेश्वर में विद्वेश उत्पन्न हो गया। फलस्वरूप सोमेश्वर ने जालोर पर आक्रमण किया। दण्डनायक आंबड भी इस युद्ध में सम्राट् के संग था। वीशलदेव पराजित हुआ। परन्तु वह लडा बडी वीरता से था और सत्य की दृष्टि से उसका अपराध भी कुछ नहीं था। युद्ध स्थगित हो जाने पर सोमेश्वर को प्रसन्न देखकर दण्डनायक आंबड ने उसके समक्ष वीशलदेव के गुण और वीरता की बड़ी प्रशंसा की। इस प्रकार आंबड के कहने पर सोमेश्वर ने जालोर राज्य पुनः वीशलदेव को लौटा दिया और वीशलदेव को अपने सामन्त-मण्डल में प्रमुख स्थान प्रदान किया।

आंबड़ द्वारा पुत्र सहणपाल को देशनिश्कासन का दण्ड—

आंबड के पाल्हा और सहणपाल नामक दो पुत्र थे। इन दोनों पुत्रों के साथ वह अजमेर में रहता था। दोनों पुत्र धनुर्विद्या सीखते थे। एक दिवस धनुर्विद्या के अभ्यास के समय सहणपाल का तीर सहसा एक निर्दोष मनुष्य को लग गया और वह विक्षत होकर गिर पड़ा। यह दुर्घटना-समाचार जब आंबड़ के कर्णों में पड़े; वह अत्यन्त क्रोधित हुआ और सहणपाल को बुलवा कर तुरंत उसको देशनिश्कासन का दंड दिया और अविलम्ब अजमेर छोड़ देने की आज्ञा दी। मित्र एवं परिचित व्यक्तियों ने आंबड का क्रोध शान्त करने और दण्ड को कम कराने का भरशक प्रयत्न किया, परन्तु कठोर हृदय आंबड द्रवित नहीं हुआ। यहां विचारना इतना ही है कि वह कितना न्यायी था कि अपने प्राणों से प्रिय पुत्र को भी अपराध पर भारी से भारी दण्ड दे सकता था। जिसका हृदय पुत्र के लिये भी द्रवित न हो वह रणाङ्गण में तो कैसा तेजस्वी वीर होगा यह सहज अनुमान किया जा सकता है।

सहणपाल का दिल्ली सम्राट् अल्तमस की सेना में सैनापति बनना—

पिता द्वारा तिरस्कृत होकर सहणपाल अजमेर का त्याग कर शीघ्र दिल्ली पहुँचा। दिल्ली के सिंहासन पर उस समय गुलामवंशीय सम्राट् अल्तमस था। वह वीरों का स्वागत करता था और उनको शाही सैन्य में योग्य स्थानों पर नियुक्त करता था। सहणपाल ने सम्राट् से भेंट की और अपने तिरस्कृत हो कर आने की सर्व कथा कह सुनाई। सम्राट् ने सहणपाल को निर्भीक योद्धा एवं सत्यभाषी समझकर उसको शाही सैन्य में एक सैनानायक का पद प्रदान किया। सहणपाल गुलामवंश के अन्तिम बादशाह कैकबाद के शासनकाल तक दिल्ली सम्राटों की सेवा करता रहा। अनेक युद्धों में उसने

भाग लिया और अपनी वीरता और रणकौशल पर अनेक बार बहुमान प्राप्त किये।

सहणपाल का पुत्र नाणा—

नाणा भी अपने पिता के सदृश ही वीर और नीतिज्ञ था। दिल्ली के सिंहासन पर बैकबाद के पश्चात् खिलजियों की सत्ता स्थापित हुई। प्रथम खिलजी सम्राट अल्लाउद्दीन के दोनों पिता-पुत्र विश्वासपात्र मंत्रियों में रहे। अल्लाउद्दीन के हाथों जब जलालुद्दीन मारा गया तो इस वंश-कलह से ये बड़ी दुखी हुये और राज्यसेवाओं से इन्होंने त्याग लेकर घर पर ही धार्मिक जीवन व्यतीत करना प्रारंभ किया। नाणा ने श्रीमद् जिनचन्द्रसूरि और विजयसेनसूरि की तत्त्वावधानता में श्री शत्रुञ्जय महातीर्थ की महान् संघयात्रा की और पूर्वजोंद्वारा अतुल द्रव्य का संघयात्रा एव तीर्थ में व्यय करके उसने अक्षुण्ण कीर्त्ति प्राप्त की।

दुसाजु का सम्राट् गयासुद्दीन तुगलक का मन्त्री बना—

नाणा का पुत्र दुसाजु था। दिल्ली में खिलजी वंश की सत्ता के पश्चात् तुगलक वंश की सत्ता स्थापित हुई। सम्राट् गयासुद्दीन ने दुसाजु को वीर, न्यायी एव प्रतिभा सम्पन्न समझ कर उसको अपने मुख्य एव विश्वासपात्र मंत्रियों में स्थान दिया। सम्राट दुसाजु से अति महत्व की मन्त्रणायें करता और उसकी सम्मति प्रायः मानता था। राजसभा में दुसाजु का अत्यन्त सम्मान था।

दुसाजु का वीर एव धर्मात्मा पुत्र वीका—

यह बड़ा वीर था और था बड़ा सज्जन। इसका अधिक समय जिनेश्वर देव की आराधना और धर्माचरण में व्यतीत होता था। वैसे यह रण में भी कभी-कभी भाग लेता था। सम्राट् गयासुद्दीन ने जब सपादलक्ष पर आक्रमण किया था, यह भी सम्राट् के संग था। रण में वीका बड़ी वीरता से लड़ा था। सपादलक्ष का राजा अपने सात मित्र राजाओं की सहायता से रणभूमि में दिल्ली सम्राट् के विरुद्ध उतरा था परन्तु वह अन्त में परास्त ही हुआ और उसने बादशाह की आधीनता स्वीकार की। वीका दुर्भिक्ष और अधकष्ट के समय निर्धन एवं अन्नहीनों को अन्न दिया करता था।

वीका का पुत्र झांझण का दिल्ली त्याग कर माण्डवगढ़ में मन्त्री बनना—

तुगलक वंश की सत्ता के अस्त होने पर दिल्ली और दिल्लीराज्य की दशा शोचनीय बनती गई। फलत दिल्ली से योग्य एवं श्रीमंत पुरुष और वंश धीरे-धीरे अन्यत्र चले गये। वीका का पुत्र झांझण भी दिल्ली का त्याग कर के राजस्थान में चला गया। उन दिनों में राजस्थान के मरुप्रदेश में नाडूलाई के राजा प्रसिद्ध और पराक्रमी माने जाते थे। झांझण नाडूलाई के राजा गोपीनाथ की सभा में उपस्थित हुआ और राजा का प्रमुख मन्त्री बना। दिल्ली का मन्त्री नाडूलाई जैसे सामन्तराज का मन्त्री कैसे बना रह सकता था। कुछ समय में ही गोपीनाथ और झांझण में अन-

धन प्रारम्भ हो गई। झांझण बड़ा स्वाभिमानी और योग्य मन्त्री था। वह नाड्डलाई का त्याग कर के माण्डवपुर की राजसभा में पहुँचा। माण्डवपुर के सम्राट् दिल्ली सम्राटों की समता रखते थे। राज्य और राजधानी समृद्धता, कला, साहित्य एवं संगीत में दिल्ली की स्पर्धा रखते थे। माण्डवपुर के तत्कालीन सम्राट् होशंगशाह ने झांझण शाह का बड़ा सम्मान किया और उसको अपना विश्वासपात्र मन्त्री बनाया। सम्राट् होशंग पूर्व से ही झांझण से परिचित था और अतः झांझण को राजसभा में योग्य स्थान प्राप्त करने में अधिक विलम्ब नहीं लगा। मांडव में रहकर मन्त्री झांझण ने प्रसिद्ध जैन तीर्थ शत्रुञ्जय, गिरनार और आबू आदि की संघयात्रायें कीं। और इन यात्राओं में उसने पुष्कल द्रव्य व्यय किया। संघयात्राओं में सम्मिलित होने वाले स्वधर्मी बन्धुओं को उत्तम वस्त्र, घोडे एवं मार्ग-व्यय आदि भेंट कर के अच्छी संघ भक्तियां कीं। झांझण मांडवपुर में अधिक काल जीवित नहीं रहा और वह वहां दीर्घकाल पर्यंत रहता तो वह राज और धर्म की अधिक उल्लेखनीय सेवायें करता।

झांझण के छः पुत्र और उनका परिचय —

(१) चाहड़-झांझण के छः पुत्र चाहड, बाहड़, देहड़, पद्मसिंह, आल्ह और पाल्ह थे। छः ही भ्राता बड़े धर्मात्मा और नीतिनिपुण थे। चाहड़ ने श्री जीरापल्लीतीर्थ और अर्बुदतीर्थ (आबू) की संघयात्रा की और प्रत्येक स्वधर्मी बंधु को बहुमूल्य वस्त्र और घोडा भेंट में दिया। इसके चन्द्र और खेमराज नामक दो पुत्र थे।

(२) बाहड़ — इसके समधर और मण्डन नामक दो पुत्र थे। इसने गिरिनार-तीर्थ की संघयात्रा करके विपुल द्रव्य व्यय किया था।

(३) देहड और उसका विद्वान् पुत्र धनराज-देहड ने भी श्री अर्बुदतीर्थ की संघ यात्रा की थी। इसके धनराज अथवा धनपति नामक अति सुयोग्य विद्वान् पुत्र था। धनराज ने भर्तृहरि की भांति 'नीति धनद,' 'शृङ्गार धनद' और 'वैराग्य धनद' नामक तीन ग्रंथ रचे थे। वैराग्य धनद वि. सं. १४९० में माण्डवपुर में समाप्त किया था। देहड की माता का नाम गंगादेवी था।

(४) पद्मसिंह — इसने श्री शंखेश्वर तीर्थ की भारी समारोह के साथ संघयात्रा की थी और संघपति का तिलक धारण किया था।

(५) आल्ह — इसने मंगलपुर और जीरापल्लीतीर्थ की संघयात्रायें की थीं। जीरापल्लीतीर्थ में इसने सभामण्डप की रचना करवाई।

(६) पाल्ह — इसने जिनचन्द्रसूरि की अध्यक्षता में श्री अर्बुद और जीरापल्ली-तीर्थ की संघयात्रायें करके अत्यन्त धनव्यय किया था।

उन दिनों संघयात्रा का निकालना कष्टसाध्य और विपुल धनसाध्य होता था। कारण कि मार्ग चोर और शत्रुराजाओं के उत्पातों से रिक्त नहीं थे। भारी संघों का

निशान्ना संघपति का प्रभावशाली, अत्यन्त धनपति और राजसम्मानित एवं अन्य राजाओं की राज्यसभाओं में मान-प्रतिष्ठाप्राप्त होना सहज सिद्ध होता है। सम्राट् होशंगशाह भी इन छः ही भ्राताओं का बड़ा मान रखता था। विशिष्ट कार्य एवं अवसरों पर इनकी वह सम्मतियां लेता था। इन छः भ्राताओं के प्रयत्नों से ही राजा खेमीदास, राणाहरिराज, राजा अमरदास और बराट, लूणार और दाहड़ नामक अति प्रसिद्ध एवं स्वाभिमानी ब्राह्मणों को सम्राट् होशंगशाह की कारागृह में से मुक्ति मिली थी।

विद्वान्वर्य्य मंत्री मण्डन—

यह झांझण का पौत्र और बाहड़ का पुत्र था। यह बड़ा प्रतिभासम्पन्न विद्वान् और राजनीतिज्ञ था। श्रीमन्तकुल में उत्पन्न होने के कारण इसमें लक्ष्मी और सरस्वती दोनों का अद्भुत एवं अभूतपूर्व मेल था। यह उदार और परम दयालु भी था। अल्प वय से ही यह बादशाह होशंग का कृपापात्र बन गया था और आगे जाकर यह बादशाह का प्रमुख मंत्री बना। सम्राट् इसकी विद्वत्ता पर भी बहुत मुग्ध था। मण्डन के प्रभाव से माण्डवपुर में विद्वानों का समागम बढ़ चला था और राजसभा में भी आयेदिन विद्वानों का सत्कार होता था। राजकार्य के उपरान्त बचे हुए समय को यह विद्वद् सभाओं में और विद्वद् गोष्ठियों में ही व्यय करता था। राजसभा में जाने के पूर्व प्रातः होते ही इसके महालय में कवियों एवं विद्वानों का मेला सा लगा रहता था। यह प्रत्येक विद्वान् और कवि का बड़ा सम्मान करता था और उनको भोजन, वस्त्र एवं योग्य पारितोषिक देकर उनका सम्मान करता और उनका उत्साह बढ़ाता था। यह संगीत का भी बड़ा प्रेमी था। रात्रि को निश्चित समय पर संगीत कार्यक्रम प्रस्तुत होता था। जिसमें स्थानीय और नवागन्तुक संगीतज्ञों का संगीत-प्रदर्शन और प्रतियोगितायें होती थीं। इसका संगीतप्रेम श्रवण करके गूर्जर, राजस्थान और अन्य प्रान्तों से भी संगीत कलाकार बड़ी लम्बी-लम्बी यात्रायें करके आते थे। यह भी उनका बड़े प्रेम से सत्कार एवं मूल्य करता था और उनको सम्मानित करके लौटाता था। मण्डन स्वयं भी कुशल संगीतज्ञ एवं वाद्यवादक था। बड़े २ संगीताचार्य इसकी संगीत में निपुणता देख कर अचम्भित रह जाते थे। संगीत के अतिरिक्त मण्डन ज्योतिष, छन्द, न्याय, व्याकरण आदि अन्य विद्याओं एवं कलाओं का भी मर्मज्ञ था। इसकी सभा में कभी २ धर्मवाद भी होते थे और प्रमुख का स्थान इसके लिये सुरक्षित रहता था। यह इसके निष्पक्ष एवं असाम्प्रदायिक भावनाओं का परिचायक है। सांख्य, बौद्ध, जैन, वैदिक वैशेषिक आदि विरोधी विचारधाराओं का एक स्थल पर यों शान्त विचार-विनिमय एवं शास्त्रार्थों का निर्वाह होते रहना निस्सन्देह मण्डन में अद्भुत ज्ञान, धैर्य, क्षमता-क्षमा और न्यायादि गुणों का होना सिद्ध करता है। मण्डन की विद्वद्-सभा में कई विद्वान् एवं कुशलकवि स्थायी रूप से रहते थे जिनका समस्त व्यय वह ही सहन करता था। मण्डन के द्वारा लिखे गये ग्रन्थों में अभी निम्नलिखित ग्रंथों का परिचय प्रकाश में आया है—

१ कादम्बरीदर्पण, २ चम्पूमण्डन, ३ चंन्द्रविजयप्रबंध, ४ अलंकार-मण्टन, ५ काव्य-मण्डन, ६ शृङ्गारमण्डन, ७ संगीतमण्डन, ८ उपसर्गमण्डन, ८ सारस्वतमण्डन, १० कविकल्पद्रुम.

उपरोक्त ग्रंथों में प्रथम छः ग्रंथ तो श्री हेमचन्द्राचार्य सभा, पाटण [गूर्जर] द्वारा प्रकाशित भी हो चुके हैं।

'कादम्बरी' की रचना मण्डन ने सम्राट् हौशंग के कहने पर की थी। हौशंगशाह को 'कादम्बरी' के श्रवण से बड़ा प्रेम था; परन्तु मूल 'कादम्बरी' ग्रंथ बड़ा होने के कारण बादशाह समयाभाव की स्थिति में पूर्णरूप से उसको अबाधगति सुन नहीं पा सकता था, फलतः बादशाह के आदेश पर मण्डन ने 'कादम्बरी का संक्षिप्तरूप 'कादम्बरीदर्पण' नाम से रचकर बादशाह को सुनाया था।

'चन्द्रविजय प्रबंध' की रचना का कारण भी अति ही मनोरञ्जक है। एक रात्रिको मण्डन के निवास पर प्रसिद्ध विद्वानों एवं कवियों का भारी समारोह लगा था। पूर्णिमा अथवा पूर्णिमा के लगभग की तिथि होने के कारण चन्द्र भी पूर्णकलाओं के साथ था। सभा समस्त रात्रि और द्वितीय दिवस संध्यापर्यंत जुड़ी रही। विद्वानों ने चन्द्रमा को अपनी समस्त कलाओं के सहित पूर्व में उदय होते देखा, फिर प्रातः रवि की किरणों से परास्त होकर पश्चिम में निस्तेज होकर विलीन होते अवलोकन किया, और पुनः अपनी समस्त कलाओं के सहित पूर्व में ही उदय होते देखकर इन्हीं भावों को लेकर एक काव्य की रचना करने का प्रस्ताव रखा कि जिसमें चन्द्र और सूर्य के मध्य संग्राम होने का वर्णन हो और अंत में अष्ट प्रहर के भयंकर संग्राम के पश्चात् चन्द्रमा विजयी हुआ हो। मण्डन ने इस आशय का काव्य रचने के प्रस्ताव को सर्व प्रथम स्वीकार किया। इस घटना पर 'चन्द्रविजय प्रबंध' नामक एक मौलिक काव्य की उत्पत्ति हुई।

संक्षेप में कि मण्डन आप स्वयं उद्भट विद्वान् था। विद्वानों का समादर करता था और सरस्वती का महात्म्य बढाना उसके निकट प्रथम कर्तव्य था। यही कारण था कि वह राजा न होकर भी राजाओं जैसा विद्वानों एवं कविकों को आश्रय देता था।

जैसा ऊपर वर्णित किया गया है मण्डन ने अनेक ग्रन्थों की रचना की और अनेक प्राचीन ग्रन्थों की प्रतियां लिखवाईं। ऐसा भी कहीं आभास मिलता है कि कुछ स्थानों पर उसने ज्ञान-भंडारों की स्थापना भी करवाई थी। कहीं पर उसने 'बृहद् सिद्धान्त कोष' नामक एक पुस्तकालय की स्थापना भी की थी। वह जैन विद्वान् जैन धर्मी होते हुए भी वेद और वेदज्ञ एवं इतर धर्म और धर्मात्माओं तथा विद्वानों का मुक्त हृदय से स्वागत करता था। इस अद्भुत गुण के कारण ही वह इतना लोक एवं राजप्रिय बन सका था। आज भी आधुनिक विद्वानों के निकट वह उतना ही समादर का पात्र बना हुआ है।

मण्डन के चार पुत्र थे जैसा 'भगवती सूत्र' की प्रशस्ति से, जो अभी पत्तन के ज्ञानभण्डार में है, विदित होता है। पूजा, जोगा संग्रामसिंह और श्रीमल्ल उनके आयु क्रम से नाम थे। मण्डन वि० पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक जीवित था।*
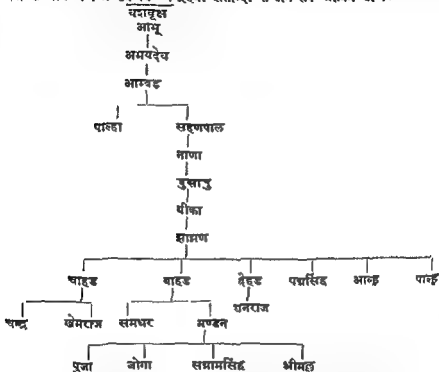
* (अ) मण्डन द्वारा लिखे एवं लिखवाये गये ग्रंथों की प्रतियों में प्राप्त प्रशस्तियों से ज्ञात होता है

(ब) जैन साहित्य का इतिहास पृ० २७५–४८६ में मण्डन को श्रीमाल ज्ञातीय वर्णित किया है।

जैन श्रमणों के गच्छों पर संक्षिप्त प्रकाश

लेखक—अगरचंद नाहटा

गच्छ शब्द का प्राचीन प्राकृत रूप 'गण' है। श्वे० जैनागमों के अनुसार भ० ऋषभदेव से लेकर भ० महावीर तक प्रत्येक तीर्थंकरों का विशाल श्रमण संघ शिष्योंकी पढाई, व्यवस्था आदि की सुविधा के लिये कई समुदायों में विभक्त रहता था और प्रत्येक समुदाय का नेता एकेक गणधर होता था, अतः जितने 'गण' होते थे उतने ही गणधर भी होते थे। जैसे भ० ऋषभदेव के श्रमणों के ८४ समुदायों में विभक्त होने पर उनके ८४ गण प्रसिद्ध हुएँ। प्रत्येक समुदाय का एक नेता होने से उनके गणधरों की संख्या भी ८४ थी। भ० पार्श्वनाथ तक तो यही क्रम चलता रहा। कल्पसूत्र की स्थिविरावली के अनुसार उनके ८ गण और ८ ही गणधर थे। पर भ० महावीर के गण एवं गणधरों की संख्या में अन्तर पाया जाता है, उनके गणधर ११ थे पर गण ९ ही बतलाये गये हैं। इसका कारण २-२ गणधरों की वाचना एक होना बतलायाहै।

स्थिविरावली में यह भी बतलाया गया है कि ९ गणधर तो भ० महावीर की विद्यमानता में ही मोक्ष पधार गये: केवल गौतमस्वामी व सुधर्मास्वामी दो ही विद्यमान रहे। उनमें भी गौतम स्वामी को वीर निर्वाण की रात्रि को केवलज्ञान होगया, अतः उनका गण सुधर्मास्वामी के सुपर्द होजाने से आज जो भी श्रमण समुदाय हैं वह श्री सुधर्मा स्वामी के ही परम्परा का है। उपकेश गच्छ को छोडकर श्वे० सभी गच्छों की पट्टावलियों में की परम्परा सुधर्मा स्वामी से सम्बंधित पाई जाती है। उपकेश (ओसवाल-पीछे से केवल संज्ञा प्राप्त) गच्छवालों ने अपनी परम्परा भ० पार्श्वनाथ से मिलाई है, पर वास्तव में देखा जाय तो भ० महावीर के समकालीन पार्श्व-परम्परानुयायी श्रमणों के प्रधान आचार्य केशी (उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें अध्ययन के अनुसार) गौतम गणधर से भ० पार्श्वनाथ एवं भ० महावीर की शासन भिन्नता के कारणों सम्बन्धी प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर पाकर उसके शासन में सम्मिलित हो गये थे। उस आगम सूत्र में ही है "पंच धम्ममहव्वय पडिवज्जइ भावओ" अर्थात् भ० महावीर के प्ररूपित ५ महाव्रतों का स्वीकार कर उनके संघ में सम्मिलित होगये थे। अतः उनकी परम्परा स्वतंत्र नहीं रह जाती।

जिस प्रकार जैन गृहस्थों की जातियां प्रधान तया स्थान, व्यक्ति व कार्यों के नाम से बढती ही चली गई एवं मध्यकाल में जैन जैनेतर जातियों की संख्या ८४ बतलाई जाती है। उसी प्रकार उन्हीं कारणों को लेकर श्वे० जैन श्रमणों के गच्छों की संख्या ८४ लिखी मिलती है। वास्तव में संख्या वा यह अंक ८४ अंक के महत्त्व का ही परि-

चायक है। न तो ८४ जातियां और न ८४ गच्छ ही एक साथ बने और न उनकी संख्या उतनी ही थी। न्यूनाधिक एवं भिन्न-भिन्न समय में स्थापित होने पर भी जातियों एवं गच्छों की संख्या को ८४ अंक की लोकप्रियता के कारण वैसी सूची बनादी गई है। ८४ संख्यावाली जातियों व गच्छादि की प्राप्त सूचियों में परस्पर भिन्नता पाई जाती है। उनमें के कई नामों का तो कोई महत्त्व नहीं है एवं अन्वेषण करने पर अन्य में कई नाम उस सूची में सम्मिलित करने योग्य प्राप्त होते हैं।

प्राचीन श्वे. गण, कुल, वंश व शाखायें —

कोई भी संघ ज्यों ज्यों संख्या में बढ़ता चला जाता है व्यवस्था की सुगमता एवं विचारभेद आदि के कारण वह अनेक भागों में विभक्त होता रहता है। भ. महावीर के पश्चात् जैन श्रमण संघ पर यही प्राकृतिक नियम लागू होता है। वास्तव में यह विभाजन कोई बुरा नहीं है, अपितु कई दृष्टियों से आवश्यक एवं उपयोगी भी है। पर इसमें खराबी का प्रारम्भ यहीं से आरंभ होता है जहां से व्यक्तिगत अहंभाव बढ़ने लगता है। इसी अहंभाव के बढ़ जाने से विचारभेद विरोधभाव तक पहुँच जाता है और विरोध के बढ़ते ही संघ की छिन्नभिन्नता व स्वच्छन्दता बढ़ने लगती है और यही उनके विनाश का मूल कारण है। एक ही माता के गर्भ से यावत् साथ ही दो उत्पन्न व्यक्तियों के विचार एक से नहीं होते तो हजारों-लाखों व्यक्तियों में विचारों की एकता होना असंभव प्राय है। पर इससे खास खराबी नहीं होती यदि वह विरोध का रूप धारण न कर मर्यादादि अनुशासन में रहता है। अतः संघव्यवस्था के लिये अनुशासनप्रियता आवश्यक गुण है पर होना चाहिये वह योग्य व्यक्ति का।

श्वे. जैन श्रमण परम्परा का प्राचीन इतिवृत्त कल्पसूत्र एवं नंदीसूत्र की स्थविरावली में पाया जाता है। इनमें से कल्पसूत्र की स्थविरावली विस्तृत होने से अधिक महत्व की है। प्राचीन श्रमण परम्परा में गण, कुल, वंश व उनकी शाखाओं का समय समय पर उद्भव कैसे व किनसे हुए? इसका यत्किंचित् विवरण इसी स्थविरावली में पाया जाता है।

कल्पसूत्र की स्थविरा के अनुसार भ. महावीर के शासन में आ. सुधर्मा की परम्परा में ५ वीं शती (वीरात् ९८०) तक के गण, शाखा, कुल, वंश के नाम इस प्रकार हैं—

गण —

(१) सुप्रसिद्ध आ. भद्रबाहु के शिष्य स्थविर गोदास से 'गोदासगण' प्रसिद्ध हुआ। इसकी ४ शाखाएं हुई १ तामलित्तिया, २ कोडी वरिसिया, ३ पट्ठ (पौंड) वद्धणिया ४ दासीखव्बडिया।

(२) आर्य महागिरि के शिष्य उत्तर बलिस्सह से 'उत्तरबलिस्सह गण' निकला। इसकी भी ४ शाखायें हुई।

१. कोसम्बिया, २. सोइतिया[1] (सुत्तिवतिआ) ३. कोडंवाणी[2], ४. चन्दनागरी.

(३) आर्य सुहस्ति के शिष्य आर्य रोहण से "उद्देहगण" निकला। उसकी ४ शाखायें व ६ कुल निम्नोक्त हुए—

शाखायें :—१. उदुंबरिज्जिया[3]. २ मासपूरिआ[4]. ३ मइपत्तिया[5]. ४ पुण्ण*. (पण्ण) पत्तिआ।

कुल—१. नागभूयं. २ सोमभूइ [सोमभूतिक]. ३ उल्लगच्छ+. ४ हत्थलिज्ज ५ नंदिज्ज. ६ * पारिहासय×।

(४) आर्य सुहस्ति के अन्य शिष्य श्रीगुप्त से "चारणा गण" प्रसिद्ध हुआ। इसकी ४ शाखायें व ७ कुल हैं—

शाखायें—१ हारियमालागारी २. संकासीआ ३. गवेधुर (ड) आ ४ वज्जनागरी
कुल १. वत्थलिज्ज[1] २. पीइधम्मिय ३. हालिज्ज ४. पूसमितिज्ज ५. मालिज्ज ६. अज्जवेडय[2] ७. कण्हह[3]।

(५) आर्य सुहस्ति के शिष्य भद्रजश (यशभद्र) से "उडुवाडिय[4] गण" निकला। इसकी ४ शाखायें व ३ कुल हुए।

शाखा — १. चंपिज्जिया २. भद्दिज्जिया ३. काकन्दिया ४. मेहालिज्जिया[5]

कुल — १. भद्दजसिय (जसित्र) २. भद्दगुत्तिय ३. जसभद्द

(६) आर्य सुहस्ति के शिष्य कामिड्ढी से "वेसवाडिय गण" निकला। इसकी ४ शाखायें व ४ कुल हुए।

शाखा — १. सावत्थिया २. रज्जपालिया ३. अन्तरिज्जिया ४. खेमलिज्जिया

कुल — १. गणिय २. मेहिय ३. कामड्ढिअ ४. इन्दपुरग

(७) आर्य सुहस्ति के शिष्य इसिगुप्त से "माणवगण" निकला। इसकी ४ शाखायें व ३ कुल हुए।

शाखायें—१. कासविज्जिया[1] २. गोयमिज्जिया[2] ३. वासिट्ठिया ४. सोरट्ठिया[3]

कुल —१. इसिगुत्तिय २. इसिदत्तिअ[4] ३. अभिजयन्त (जयंत)

गगदर सत्तरी में पाठान्तर :—

१ सोत्तिमंद, २ कोडिधाणी, ३ उडंबरिज्जया, ४ सोमपुरिसा, ५ महुरज्जी, * सोवन्नवत्तिया, + भवणेज्जयं, × नारिहज्जिय

१. वच्छ २. चेडग ३. कन्हमुह ४. उद्द ५. महिलज्जिया

(८) आर्य सुहस्ति के शिष्य सुस्थित सुप्रतिबुद्ध से "कोडिय गण' निकला, जो कोटिक गण आज भी प्रसिद्ध है। इसकी ४ शाखायें व ४ कुल हुए।

शाखा-१ उच्चानागरी २ विज्जाहरी ३ वईरी ४ मज्झिमिल्ला
कुल -१ बमलिज्ज[1] २ वत्थलिज्ज ३ वाणिज्ज ■ पण्हवाहणय

(९) उपर्युक्त कोटिक गण के सुस्थित सुप्रतिबुद्ध के शिष्य प्रियग्रन्थ एवं विद्याधर गोपाल से क्रमश मज्झिमा (मध्यम) एव विज्जाहारी (विद्याधरी) शाखा निकली।

(१०) आर्य दिन्न के शिष्य आर्य शांति श्रेणिक (सेन) से "उच्चानागरी' शाखा निकली।

(११) आर्य शांति श्रेणिक के निम्नोक्त ४ शिष्यों से ४ शाखायें निकलीं।

१ अज्जसेणिय से अज्जसेणिया
२ अज्जतापस से अज्जतापसी
३ अज्जकुबेर से अज्जकुबेरी
४ अज्जइसिपालिय से अज्जइसिपालिया

[१२] आर्य सिंहगिरी के शिष्य आर्य वज्र एव आर्यसमित से क्रमश वयरी विया व अज्जवइरी शाखा निकली।

[१३] आर्य वज्र के शिष्यों से निम्नोक्त ३ शाखायें निकलीं

१ आर्य वज्रसेन से अज्जनाइली
२ आर्य पद्म से अज्जपउमा
३ आर्य रथ+ से अज्जजयती

[स्थविरावली के प्रारम्भ में आर्य वज्रसेन के ४ शिष्यों में से १ आर्यनाईल से अज्जनाइला २ आर्यपोमिल से अज्जपोमिला ३ आर्यजयन्त से अज्जजयन्ती एव ४ आर्य तापस से अज्जतापसी]

[१४] नंदि स्थिरावली के अनुसार आर्य नागहस्ति से 'वाचक वंश प्रसिद्ध हुआ, जिसमें रेवती नक्षत्र, ब्रह्मद्वीपकेंद्रि स्कंदिलाचार्य आदि आचार्य हुए। तत्वार्थ

---

१ कमविज्ज २ सुत्तमित्तिआ ३ सोवीरी ४ मिरिगसिय ५ वंभणिज्ज

+ स्थिरावली के प्रारंभ में वज्र के वज्रसेन के शिष्य आयनाईल व आर्य जयन्त से जयंती शाखा निकलने का उल्लेख है और अंत में वज्रसेन व रथ से इन नामोंवाली शाखा निकलना लिखा ■। शाखा के नाम के अनुसार प्रारंभ का कथन ठीक लगता है।

१ मरहिज्ज

सूत्र के प्रणेता आ. उमास्वाति भी इसी वाचक वंश में हुए हैं।

[१५] नंदि स्थिरावली की १८ वीं गाथा में आ. भूतदिन्न के 'नाइलकुल' का भी उल्लेख है।

[१६] परम्परा व प्रभावकचरित्रादि के अनुसार वज्रसेनसूरि के शिष्य चन्द्रसूरि से 'चन्द्रकुल' प्रसिद्ध हुआ। विद्यमान सभी गच्छ 'चंद्रकुलीन' माने जाते हैं। इसी प्रकार नागेन्द्र, निवृत्ति व विद्याधर' कुल का प्रादुर्भाव भी उन नाम वाले आचार्यों से हुआ। वे सभी वज्रसेनसूरि के शिष्य थे।

छट्ठी शताब्दी के प्रारम्भ तक उपर्युक्त गण, शाखा व कुलों का पता चलता है, पर ये सब, समुदाय या गुरुपरम्परा विशेष से संबन्धित हैं। इनमें क्रिया, अनुष्ठानों [विधि-विधानों] में कोई भेद था, इसका उल्लेख नहीं पाया जाता। पर इसके पीछे जो गच्छों का भेद हुआ उन सब में कोई न कोई सैद्धान्तिक व विधि-विधान संबंधी मत-भेद अवश्य है। मेरे नम्र मतानुसार चैत्यवास का प्रारंभ पहले से होने पर भी उनका प्रभाव ६-७ वीं शती में ही अधिक रूप से बढा। इस समय आगमों की आम्नायों का तथाविध प्रचार व पठनपाठन न रहने से ह्रास होने लगा। साधारण विचार भेदों को महत्व देने से छिन्नभिन्नता आने लगी। अपने अपने चैत्यों की सार—संभाल—आमदनी बढाने व अनुयायियों को आकर्षित कर अपने सम्प्रदाय में रोके रहनेके स्वार्थ व अहम्मभाव का विस्तार इन गच्छों के प्रादुर्भाव में सहायक बना।

उपर्युक्त गण, शाखा व कुल की नामावली पर दृष्टिपात करते हुए आर्य सुहस्ति तक के आचार्यों की शिष्यसंतति को प्रसिद्ध आचार्य के नाम से सम्बोधित किया जाता, उसे 'कुल' एवं जिन-जिन स्थानों में जिस श्रमण समुदाय का विहार अधिकतर होता उन स्थानों के नाम से 'शाखायें' प्रसिद्धि में आई हैं। प्रधान आचार्य का विशाल समुदाय हो जाने पर उनके नाम से या अन्य कार्य विशेष के कारण प्रचलित नामों को 'गण' की संज्ञा दी गई। जिस प्रकार गोदास से गोदास 'गण' हुआ वह आचार्य के नाम से व कोटिक गण का नामकरण आचार्य सुस्थित सुप्रतिबुद्ध के करोड़ सूरिमंत्र के जप के कारण हुआ, कहा जाता है। पर पीछे

प्रभावकचरित्र पर्यालोचक में मुनि कल्याणविजयजी ने लिखा है कि कल्पसूत्र स्थिरावली में वज्रसेन के शिष्यों व उनके कुलों के नाम भिन्न बतलाये हैं; अतः विचारणीय है। ११ वीं शती तक तो नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति व विद्याधर ये कुलसंज्ञा से ही प्रसिद्ध थे। पर पीछे से इन्होंने गच्छोंका नाम धारण कर लिया। आचारांग के टीकाकार शीलांकाचार्य व उपमितिभव प्रपंचा के कर्ता सिद्धर्षि निवृत्तिकुलीन व आ० हरिभद्रसूरि विद्याधर कुल के थे। नागेंद्र एवं चन्द्रगच्छ स्वतंत्र रूप में पीछे तक प्रसिद्ध रहा है। जैन मत गच्छ प्रबंधादि में प्रभावकचरित्रानुसार आ० पादलिप्तसूरि को विद्याधर गच्छ का बतलाया है। पर मुनि कल्याणविजयजी की मान्यतानुसार वे विद्याधर गोपाल से निकली हुई विद्याधरी शाखा के होने संभव हैं, विद्याधर कुल के नहीं।

शाखायें भी आचार्यों के नाम से प्रसिद्ध हुई जो परम्परानुसार 'कुल' कहलाने चाहिये थे। बहुत वर्षों बाद तो कुल भी गच्छ के नाम से प्रसिद्धि में आगये।

गुजरात एवं राजपूताने [विशेषतः सीरोही व मारवाड़ राज्य] में क्रमशः जैनधर्म का प्रभाव बढने लगा और वहाँ के बहुत से स्थानों में चैत्यों का निर्माण हुआ व उनमें चैत्यवासी आचार्य स्थायी रूप से रहने लगे। तब से उन स्थानों के नाम से भी अनेक गच्छों का प्रादुर्भाव हुआ। जिनमें कुछेक गच्छों की परम्परा तो कई शताब्दियों तक चलती गई और उनमें अनेक विद्वान् व प्रभावक आचार्य हुए। कई गच्छ बहुत ही कम प्रसिद्धि में आये व शीघ्र ही नामशेष होगये।

जैन गच्छों के इतिवृत्त को जानने के मुख्य साधन उन-उन गच्छों की पट्टावलिया, ग्रन्थ-प्रशस्तियाँ व अभिलेख ही हैं। इनमें से पट्टावलिया तो बहुत थोड़े से गच्छों की ही मिलती हैं और उनमें कई तो आचार्यपरम्परा की नामावलि ही हैं। ग्रन्थप्रशस्तिया (ग्रन्थरचना व प्रतिलेखन) व अभिलेख अधिकांश तो साधारण होती हैं जिनमें ग्रन्थनिर्माता व प्रतिलिपिकर्त्ता की गुरु-परम्परा के २।४ नाम ही पाये जाते हैं।

जैन गच्छों का इतिहास जैन धर्म के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। पर अभी तक इस ओर बहुत ही कम कार्य हुआ है। श्री बुद्धिसागरसूरिजी ने ३२ वर्ष पूर्व 'जैन गच्छ मत प्रबंध' नामक ग्रन्थ आध्यात्म ग्रन्थ प्रसारक मंडल, पादरा से प्रकाशित किया था। उसके पश्चात् कई गच्छों की पट्टावलिया तो प्रकाश में आई हैं पर समस्त गच्छों का परिचयात्मक कोई लेख भी प्रकाशित हुआ, मेरी जानकारी में नहीं है। इसीलिये अधिकारी न होते हुए भी यत्किंचित परिचय प्रकाशित करने की मुझे अन्तःप्रेरणा हुई और उसीका मूर्त्तरूप प्रस्तुत निबंध है। इसमें गच्छों का विस्तृत इतिहास देना सम्भव नहीं है, पर उनके सम्बन्ध में जो कुछ जानकारी प्राप्त हुई है उसको निर्देश मात्र कर उपलब्ध साधनों का सार संक्षेप में पाठकों तक पहुँचा देना ही मेरा उद्देश्य है। जैन समाज में इतिहासप्रेमी विद्वान बहुत कम हैं और फिर अन्वेषणकार्य करने वाले तो १५ लाख में १५ व्यक्तियों का नाम भी मुश्किल से लिया जा सकता है। अतः मेरे इस प्रयास से प्रेरणा लेकर कोई विद्वान इस क्षेत्र में विशेष अनुसन्धान कर प्रकाश डालेंगे, ऐसी आशा तो कम है। फिर जिस प्रकार मैंने अपने अन्य लेखों में विविध विषयों की ओर ध्यान आकर्षित किया है इस लेखद्वारा उस सूची में और एक विषय की अभिवृद्धिभर कर देता हूँ। आशा है भावी इतिहास लेखकों को यह प्रयत्न कुछ सहायक हो सकेगा।

वैसे तो गच्छों की संख्या मुनि ज्ञानसुंदरजी (देवगुप्तसूरि) ने ३१० तक बतलाई है। पर उनमें कुछ तो शाखाभेद हैं, कुछ पाठान्तर से नामादि होंगे। अतः मैंने जो सूची करीब १२५।१५० नामों की तैयार की है वह प्रतिमालेखों और ग्रन्थों की रचना एवं लेखन-प्रशस्तियों में जिन गच्छों का नाम आता है उन्हीं के आधार से

तैयार की है। अकारादि क्रम से ज्ञातव्य जानकारी एवं साधननिर्देश के साथ उसे नीचे दी जा रही है—

[१] अंचलगच्छ — इसका अपर नाम विधिपक्ष है। इस नाम की स्थापना सं. ११६९ में उपाध्याय विजयचंद्र [आर्य रक्षितसूरि] से विधिमार्ग के पालन का पक्ष रखने से हुई। फिर श्रावकों के मुंहपति के स्थान पर वस्त्र का अंचल (छोर) से वंदनादि के विधान के कारण इसका नाम 'अंचल गच्छ' प्रसिद्ध हुआ। आज भी कई आचार्य व साधु इस गच्छ में विद्यमान हैं। कच्छ व काठियावाड (जामनगरादि) में इस गच्छ के श्रावकों के घर हैं। इस गच्छ के अनेक विद्वानों ने उपयोगी एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण किया व हजारों प्रतिमाएं उपदेश देकर श्रावकों से प्रतिष्ठित करवाई। इस गच्छ की मान्यताओं का पता शतपदी, प्रवचनपरीक्षा, अंचलमतखंडनादि से भली भाँति मिल जाता है। शतपदी में इस गच्छ का संक्षिप्त इतिहास भी पाया जाता है। विशेष जानने के लिए म्होटी पट्टावली [शा. सोमचंद्र धारशी, कच्छ अंजार से प्रकाशित] व जैन गुर्जर कविओं भा. २ के परिशिष्ट में प्रकाशित अंचलगच्छ पट्टावली का सार देखना चाहिये।

सं. १२९४ की शतपदी में कई गच्छों के सम्बन्ध में महत्व की सूचनाएं मिलने से उन्हें भी यहाँ दिया जाता है—

नाणक ग्राम के नाम से प्रसिद्ध नाणक गच्छ में [उद्योतनसूरि] चैत्यवासी आचार्य के लघुवय में ही दीक्षित सर्वदेवसूरि आगमों के अध्ययन से सुविहित मार्गानुयायी हुए। उन्हें गुरुश्री ने आबू के समीपवर्त्ती आबी और हरेली ग्रामों के मध्यवर्त्ती वड़ के नीचे छाणा के वासक्षेप से सूरिपद प्रदान किया। विशाल शिष्यसमुदाय व कई आचार्य होने से इनके समुदाय का नाम बृहद् या वड़गच्छ पड़ा।

सर्वदेवसूरि के सन्तानीय यशोदेव उपाध्याय के शिष्य जयसिंघसूरि ने चंद्रावती के वीर जिनालय में एक साथ ९ शिष्यों को सूरिपद दिया जिनमें से शांतिसूरि से पीपलीयागच्छ, देवेन्द्रसूरि से संगम खेडिया गच्छ, चंद्रप्रभसूरि, शीलगुणसूरि, पद्मदेवसूरि और भद्रेश्वरसूरि से पूनमीया गच्छ की ४ शाखायें चलीं। मुनिचंद्रसूरि के वादिदेवसूरि हुए, वुद्धि सागरसूरि से श्रीमालिया गच्छ, मलयचंद्रसूरि से आशापल्लीय गच्छ निकला। इन्हीं जयसिंहसूरि के शिष्य विजयचंद्र उपाध्याय थे, जिनसे 'विधिपक्ष' गच्छ निकला। पूनमीया शीलगुणसूरि इनके मामा थे। लघुशतपदी (सं. १४५० में मेरुतुंगसूरिरचित) के अनुसार उ. विजयचंद्र को उनके शीलगुणसूरिशिष्य जयसिंहसूरि ने सूरिपद देकर आर्य रक्षितसूरि नाम दिया व आ. हेमचंद्र व कुमारपाल के समय इस गच्छ का नाम अंचल गच्छ प्रसिद्ध हुआ।

अड्डालिजीय—संभवतः 'अडालिजा' स्थान के नाम से इसकी प्रसिद्धि हुई है। सं. ११२६ से १२७३ तक के ४ लेख प्राचीन लेख संग्रह भा. १ में प्रकाशित हैं।

आगमगच्छ—इसका अपर नाम त्रिस्तुतिक मत भी है। पूर्णिमागच्छीय शीलगुण सूरि व उनके शिष्य देवभद्रसूरि से 'जीवदयाण' तक का शक्रस्तव, ६७ अक्षरों का परमेष्ठि मंत्र, तीन स्तुति से देववंदन आदि आगम पक्ष के समर्थन से सं. १२१४ या १२५० में आगमिक गच्छ का प्रादुर्भाव हुवा। इसकी पट्टावलि मैंने जैन सत्य प्रकाश व. ६ अं. ४ में प्रकाशित की थी व देसाई के जैन गुर्जर कविओं भा. ३ के पृ. २२२४ में कुछ विस्तृत पट्टावलि प्रकाशित है। उसके अनुसार इस गच्छ की धुधंखिया व विडालंबिया शाखा का भी पता चलता है। ये दोनों शाखायें स्थान के नाम से प्रसिद्ध हुई। विडालंबिया शाखा में मंगलमाणेक [१७ वीं] अच्छे कवि हो गये हैं। दे. जै. गु. क. भा. १ पृ. २४७। धुधंखिया शाखा के कवि मतिसागर के लिये दे. जै. गु. क. भा. १ पृ. ४९६।

उत्तराध गच्छ—लोंकाशाह के अनुयायी रू. भाणा से जिन्होंने सं. १५३१ में स्वयं दीक्षा ली थी इस इच्छ की परंपरा पाई जाती है। उत्तर प्रान्त–पंजाब में लोंकामत के जिस समुदाय का विहार अधिक रहा, उस प्रान्त के नाम से ही उनके समुदाय का नाम 'उत्तराध गच्छ' प्रसिद्ध हुआ। हमारे संग्रह के एक पत्र में उसे उतरायी 'सरोया मती' लिखा है। इससे इसकी उत्पत्ति सरवर या सरोजा ऋषि से होकर संभवतः सं. १६०० के लगभग इसका नामकरण हुआ लगता है। डॉ. बनारसीदासजी ने 'आत्मानंद जन्म शताब्दी ग्रन्थ' के हिन्दी विभाग के पृ. १९६ में इस गच्छ के जट्टमल्ल से उत्तम ऋषि तक की नामावलि प्रकाशित की है। हमें २२ पद्यों का एक 'उतराध गच्छ परंपरा गीत' ऋषि जट्ट रचित मिला है जिससे निम्नोक्त ज्ञातव्य प्राप्त होता है—

सं. १५३१ में स्वयं दीक्षित रू. भूणा के शिष्य नूणा हुए, जो ओसवाल तोला सघई का भाई था व ४५ व्यक्ति उनके साथ [दीक्षित हुए] थे। उनके दीक्षित ओसवाल जातीय भीदा का शिष्य पल्लीवासी ओसवाल भीम हुआ। भीमा के नवरुडपुर वासी ओसवाल जगमाल व उनके दिल्लीवासी श्रीमाल सिधुर[१] गोत्रीय सरवर ऋषि हुए। सरोवर के शिष्य रायमल्ल के पट्टधर पोरवाड सदारंग हुए। उनके ओसवाल सिंघराज शिष्य हुए। सिंघराज के अग्रवालकुलीन जट्टमल पट्टधर हुए। उनके मनहर ऋषि हुए जिन्होंने अर्गलनगर में अणसण किया। उन्होंने सुंदरदास को पट्टधर बनाया। उनके ओसवाल जातीय सदानंद पट्टधर हुए।

इस गच्छ के कई आचार्यों व विद्वानों के रचित लिखित ग्रन्थ प्राप्त हैं।

उपकेश गच्छ—इसका अपर नाम ऊकेश, उएस, ओसवाल व कवला गच्छ भी है। एक मात्र यही गच्छ भ. पार्श्वनाथ से अपनी परम्परा जोड़ता है। वस्तुतः जोधपुर राज्य के ओसिया ग्राम से ही इसका उपकेश, उपश गच्छ नाम पड़ा है। यद्यपि ओसवालों एवं ओसियों की उत्पत्ति वीरात् ७० में रत्नप्रभसूरिजी से कही जाती है पर

१ प्र. जैनभारती १२।६

२ दखे श्रमण व. ४

इतिहासकारों के मत से यह ६ ठीं से ८ वीं सदी में हुई होगी।

इस गच्छ के सम्बन्ध में सब से प्राचीन साधन उपकेशगच्छ चरित्र (सं. १३९३ कक्कसूरिरचित) एवं नाभिनन्दनोद्धार प्रबंध नामक काव्य हैं। पीछे की पूर्त्ति अन्य संस्कृत एवं अन्य भाषा की पट्टावलियों से होती है। इस गच्छ की आचार्य-परम्परा वैसे बीकानेर के सिद्धसूरि से लोप हो गई थी, पर मुनि ज्ञानसुन्दरजी ने देवगुप्तसूरि नाम रख कर उसे पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने पार्श्वनाथ परम्परा का विस्तृत इतिहास दो भागों से प्रकाशित किया है। उपकेश गच्छ की एक पट्टावली मुनि जिनविजयजी ने जैन साहित्य संशोधक में प्रकाशित की थी व वही "पट्टावली समुच्चय" में उद्धृत की गई है। उक्त पट्टावली एवं उपकेश गच्छ चरित्र का ऐ. सार, स्व. देसाई ने जैन गुर्जर कवियो भा. ३ के परिशिष्ट में दिया है। ४० श्लोकों की १ गुर्वावली मुनि जिनविजयजी ने विविध गच्छीय पट्टावली में संग्रह में दी है। उसके अनुसार सं. १२६६ के चैत्र वैशाख में द्विवंदन आदि के मतभेद व आचरण से सिद्धसूरि से "द्विवंदनीक" शाखा निकली एवं सं. १३०८ त्रिशृंगमपुर के महीपाल राजा के समय 'खरतपा' विरुद प्राप्त होने से 'खरतपा' नामक दूसरी शाखा चली। द्विवन्दनीक गच्छ के प्रतिष्ठित प्रतिमा लेखों को मुनि ज्ञानसुंदरजी ने पार्श्वनाथ परम्परा के इतिहास के परिशिष्ट में संग्रहीत कर प्रकाशित किया है।

मुनिज्ञानसुंदरजी ने कोरंटकगच्छ को भी इस गच्छ की शाखा बतलाते हुए उसकी आचार्य-परम्परा-नामावली भी उक्त ग्रन्थ में दी है।

इसकी एक शाखा में मेंदुरीय का उल्लेख एक लेख में पाया जाता है।

उपढवेल्य (उढवगच्छ)—इस गच्छ के कमलचंद्रसूरि के प्रतिष्ठित सं. १४४६ का लेख प्राचीन लेख संग्रह (लेखांक ८९) में प्रकाशित है। हमारे लेख संग्रह में चिंतामणि भंडारस्थ सं. १३२१ के लेख में 'उवढवेल्यं' नाम आता है। संभवतः दोनों एक ही। लेखों के पढने व खोदने में अन्तर रह गया है।

कच्छोलीवाल (कछ)—१५ वीं शती के लेख में 'कछोइया गच्छ' नाम भी मिलता है। वास्तव में यह पूर्णिमा पक्ष की द्वितीय शाखा है एवं कच्छोली स्थान से सम्बन्धित प्रतीत होता है जो कि सीरोही राज्य में रोहीड़ा स्टेशन से नैर्ऋत्य दिशा में ३१ माइल पर अवस्थित है। प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह एवं पट्टावली समुच्चय भा २ में प्रकाशित कच्छूलीरास में आचार्य-परम्परा के कुछ नाम मिलते हैं।

कडुआमत—नडूलाई के, वीसानगर ज्ञातीय कड़वा शाह नामक श्रावक से सं. १५६२ में उसी के नाम से यह गच्छ या मत चला। इस गच्छ के मान्यताभेद व परम्परा के सम्बन्ध में अष्टम संवरी तेजपाल रचित कड़वा मत पट्टावली (सं. १६८५ पौ. सु. १५ रचित) एवं मुनि जिनविजयजी के जैन साहित्य संशोधक में प्रकाशित पट्टावली

दखनी चाहिये। इस मत के रचित साहित्य के सम्बन्ध में मेरा एक लेख जैन सत्य प्रकाश में प्रकाशित हो चुका है

चन्द्रसा गच्छ—पार्श्वनाथ परम्परा के इतिहास में पृ १५०४-५ में इसका उल्लेख है। पर पुण्यवर्धनसूरि का उल्लेख होने से उसी लेख के अनुसार इसका नाम भिन्न रहा सभव है। कई गच्छों के नाम अशुद्ध खुदे व पढे गये हैं।

कमलकलशगच्छ—वास्तव में यह तपागच्छ की ही एक शाखा है। कमलकलश नामक आचार्य से १६ वीं शती से यह शाखा अलग हुई। इसके श्री पूज्यजी विजय जिनेन्द्रसूरि धनारी (सीरोही राज्य) में विद्यमान हैं।

काम्पक गच्छ—निर्वाण कुलीन इस गच्छ के महेश्वरसूरि का स ११०० मा व. २ रवो का एक प्रशस्ति-लेख 'प्राचीन लेख सग्रह' के ५०१ में प्रकाशित है।

कुतरपुरा गच्छ—पाटण के निकटवर्ती कुतरपुर के नाम से आ इन्द्रनदि की परम्परा का यह नाम पडा। इस गच्छ के हर्षविनय से निगममत निकला। पट्टावली समुच्चय भा २ पृ २४३ वास्तव में यह तपागच्छ की ही शाखा है।

कासहद—सिरोही राज्य के वासिन्द्रा या कासद्रा स्थान के नाम से इसका नामकरण हुआ है, जो खिवराली स्टेशन से ४ माइल व आबूरोड से ईशान कोण में ८ मील पर है। इस गच्छ के १३ वीं शताब्दी के कई लेख मिलते हैं व इस गच्छ के नरचन्द्रसूरि ने ज्योतिष के कई उपयोगी ग्रन्थों का निर्माण किया है।

कुर्चपुरीय—सभवत नागौर के निकटवर्ती कूचेरा (कुर्चपुर) से इस गच्छ की उत्पत्ति हुई है। खरतर गच्छीय जिन वल्लभसूरिजी पहले इसी गच्छ के थे। फिर अभयदेवसूरि से अध्ययन कर उपसपदा ग्रहण की।

कूवडगच्छ—प्राचीन लेख सग्रह के ११० में स १४७१ का एक प्रतिमा लेख इस गच्छ के भाव शेखरसूरि का प्रतिष्ठित छपा है। सभव है हूंबड को कूबड अशुद्ध रूप में पढने स यह नाम प्रकाश में आया हो।

कृष्णर्षिगच्छ—आर्य सुहस्तिसूरि के शिष्य श्रीगुप्त के 'चारण लब्धिसम्पन्न होने से प्रसिद्ध चारण गण' की चौथी शाखा वज नागरी के विटप नामक द्वितीय कुल में ९ वीं शती में प्रभावक आचार्य कृष्ण ऋषि हुए। उन्हीं की सन्तान का प्रसिद्धि कृष्णर्षि गच्छ के नाम से हुई। इस गच्छ के विद्वानों के रचित कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्राप्त होते हैं जिनके सम्बन्ध में विशेष जानने के लिये प लालचद भ गाधी का कण्ह (कृष्ण) मुनि शीर्षक लेख देखना चाहिये जो जैन सत्यप्रकाश वर्ष ७ के दीपोत्सवी विशेषाक में प्रकाशित है। १६ वीं शती तक इसकी परम्परा के विद्यमानता का पता

१ देख धर्मोपदेशमाला वृत्ति एवं गणधरवाद की भूमिका

चलता है। इस गच्छ की तपा शाखा का उल्लेख नाहर लेखांक १२७८ में है। कृष्णर्षि के सम्बन्ध में उपकेशगच्छ चरित्र में भी ज्ञातव्य पाया जाता है।

कोरंटक गच्छ—कोरंटवद्न मारवाड़ के एरणपुरा स्टेशन से पश्चिम १३ मील पर अवस्थित 'कोरटा' ग्राम से यह गच्छ प्रसिद्धि में आया है। 'उपकेश गच्छ चरित्र' के अनुसार यह स्थान २॥ हजार वर्ष प्राचीन है। इसके सम्बन्ध में श्री यतींद्रसूरिजी का 'कोरटातीर्थ का इतिहास' देखना चाहिये। इस गच्छ को उपकेश गच्छ की शाखा ही समझिये। इसमें कनकप्रभ, सोमप्रभादि पहले नामवले फिर कक्कसूरि व सावदेवसूरि व नन्नसूरि ये तीन नामवाले ही आचार्य (पुनः २) हुए। इस गच्छ के आचार्यों की नामावलि मुनि ज्ञानसुन्दरजी ने 'पार्श्वनाथ परम्परा' के इतिहास के पृ. १४२१ में दी है एवं प्रतिमा-लेखों को भी संग्रह करके परिशिष्ट में प्रकाशित किये हैं जो कि सं. १२१२ से १६१२ तक के हैं। ज्ञानसुन्दरजी के निर्देशानुसार इस गच्छ के श्रीपूज्य सं. १९०० तक विद्यमान थे। सं. १५२५ के एक लेख में कोरंटक तपा नाम भी मिलता है। दे. प्रा. ले. सं. ले. ३८७।

खंडिलगच्छ—खंडिल स्थान या आचार्य के नाम से प्रसिद्ध में आया है। १२ वीं शती में वीरगणि व सं. १४१२ में पार्श्वनाथ चरित्र के रचयिता कालिकाचार्य संतानीय इसी गच्छ में हुए।

खंडेरक—संडेरक को ही कहीं खंडेरक नाम दिया है। दे. जै. सा. सं. इ. पृ - ३९० टिप्पणी।

खरतर—श्वे. समस्त गच्छों में तपागच्छ के बाद अधिक प्रभावशाली यही गच्छ रहा है। सं. १०८० के लगभग पाटण में दुर्लभराजा की सभा में चैत्यवासियों को शास्त्रार्थ में हराकर जिनेश्वरसूरि ने सुविहित - खरतर विरूद्ध प्राप्त किया। इस गच्छ का साहित्य एवं प्रतिमा-लेख प्रचुर हैं। 'युगप्रधानाचार्य गुर्वावली' इस गच्छ के ११ वीं से १४ वीं के अंत तक के इतिहास के लिये महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके पश्चात् विज्ञप्ति महालेख, विज्ञप्ति त्रिवेणी व अनेक पट्टावलियां, ऐ. रास, गीत आदि विशाल ऐ० सामग्री प्राप्त होती है। समुदाय बढने के साथ इसकी शाखायें भी बढती गईं। उनमें प्रमुख गच्छभेद इस प्रकार हैं—

१) मद्दुकरा (मधुकरा) – जिनवल्लभसूरि (सं. ११६७) के समय, इस शाखा के अलग होने का उल्लेख पट्टावलियों में मिलता है। इस गच्छ के कुछ प्रतिमा-लेख प्रकाशित हैं।

२) रुद्रपल्लीय—सं. १२०४ में जिनेश्वरसूरि से रुद्रपल्लीय स्थान के नाम से यह गच्छ भेद हुआ। इसमें बहुत से विद्वान् ग्रन्थकार हुए। १७ वीं सदी तक यह शाखा विद्यमान थी।

३) लघु खरतर—सं. १३३१ में सुप्रसिद्ध प्रभावक जिनप्रभसूरि के गुरु जिनसिंह

सूरि से यह शाखा भेद हुआ। इसके सम्बन्ध में हमारा 'शासन प्रभावक जिनप्रभ सूरि' निबंध देखना चाहिये।

४) वेगड़—सं १४२२ में जिनेश्वरसूरि से यह भेद हुआ।

५) पिप्पलक—सं १४७४ से जिनवर्द्धनसूरि से यह शाखा अलग हुई। पिप्पलक स्थान से संबंधित होने से पिप्पलक कहलाया।

६) आद्यपक्षीय—सं १५६४ में जिनदेवसूरि से यह शाखा अलग हुई। इसकी पाली में गद्दी थी जिसके श्रीपूज्य ५-७ वर्ष हुए कालधर्म को प्राप्त हुए हैं।

७) भावहर्षीया—सं १६२१ में भावहर्षसूरि से यह शाखा अलग हुई। इसकी गद्दी बालोतरा में है। अभी श्रीपूज्य नहीं हैं।

८) लघुआचार्य शाखा—सं १६८६ में जिनसागरसूरि से यह शाखा अलग हुई। उनकी गद्दी बीकानेर में है व श्रीपूज्य जिनचन्द्रसूरिजी के पट्टधर सोमप्रभसूरि विद्यमान हैं।

९) जिनरंगसूरि शाखा—सं १७०० में जिनरंगसूरिजी से यह शाखा चली। इनकी गद्दी लखनऊ में है व श्रीपूज्य विजयसूरि हैं।

१०) श्रीसारीय—सं १७०० के लगभग श्रीसार उपाध्याय से यह भेद पड़ा, पर इसकी परम्परा चली प्रतीत नहीं होती।

११) मंडोवरा—सं १८९२ में जिनमहेन्द्रसूरि से यह शाखा मंडोवर स्थान के नाम से मंडोवरा कहलाई। इसकी गद्दी जयपुर में है व श्रीपूज्यजी धरणेन्द्रसूरिजी हैं। इनमें से लघु आचार्य शाखा की पट्टावली मुनि जिनविजयजीसंपादित 'खरतरगच्छ पट्टावली संग्रह' में प्रकाशित हो चुकी है। वेगड़, पिप्पलक, जिनरंगसूरि शाखा आदि के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण हमारे ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह में प्रकाशित हैं। मूल जिनभद्रसूरि शाखा की भी अवान्तर शाखायें कई हुई जिनमें १ क्षेमधारी (क्षेमकीर्तिजी से) २. कीर्तिरत्नसूरि ३ सागरचन्द्रसूरि विशेष प्रसिद्ध हैं।

खरतर गच्छ के इतिहास के सम्बन्ध में हमने विशेष अन्वेषण किया है। समस्त खरतरगच्छीय साहित्य व प्रतिमा-लेखों की सूची व शाखाओं का इतिवृत्त तैयार किया गया है।

भट्टारक जिनभद्रसूरि शाखा की मूल गद्दी बीकानेर में है जिसके श्रीपूज्य विजयेंद्र सूरि विद्यमान हैं।

विशेष जानने के लिए 'खरतर गच्छ इतिहास' ग्रन्थ प्राप्त है।

खरतपा—यह उपकेशगच्छ की शाखा होने से उस गच्छ का परिचय देते हुए प्रकाश डाला जा चुका है। २-४ प्रतिमा-लेखों के अतिरिक्त इसका उल्लेखनीय कोई भी वृत्तान्त ज्ञात नहीं है।

गुंदउच्च शाखा — यह वड़गच्छ की एक शाखा है। पाली से दक्षिण १० मील पर गुन्दौच स्थान है। उससे यह निकली है। इसके कई प्रतिमा-लेख प्रकाशित हैं।

घोषपुरीय — मुनिजिनविजयजी संपादित 'जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह' में १४ वीं शताब्दी की नं. १९ की प्रशस्ति में इस गच्छ का नाम आता है। नाम पर विचार करने से यह घोषपुर नामक स्थान से सम्बन्धित प्रतीत होती है।

चंद्रगच्छ — संभवतः चन्द्रकुल ही पीछे से चंद्रगच्छ रूप में प्रसिद्धि में आगया हो। इस गच्छ के १३ से १५ वीं शताब्दी की प्रशस्तियां व अभिलेख प्राप्त होते हैं। तपागच्छ एवं खरतरगच्छ के लिए भी गुर्वावलि व प्रशस्ति में चंद्रगच्छ नाम लिखा मिलने से चंद्रकुल की एकता समर्थित है।

चंद्रप्रभाचार्यगच्छ — नाहरजी के जैनलेख संग्रह में सं. ११९७ का (ले. ४५६) इस गच्छ के उल्लेखवाला लेख है। नाम से यह चंद्रप्रभसूरि समुदाय ही ज्ञात होता है।

चैत्रवाल गच्छ — सुप्रसिद्ध तपागच्छ के मूल पुरुष जगचंद्रसूरि मूलतः इसी गच्छ के भुवनचन्द्रसूरि के शि. देवभद्र के शिष्य थे। अतः देवेन्द्रसूरि व क्षेमकिर्तिसूरि ने तपागच्छ की परम्परा इसीसे मिलाई है, पर पीछे से वह बृहद् गच्छ से मिला दी गई है। चैत्रपुर नामक स्थान से इसका नाम चैत्रगच्छ पड़ा ऐसा बृहत्कल्पवृत्ति एवं मुनिचन्द्रसूरि के गुर्वावलि (पद्यांक ६४) से स्पष्ट होता है। १३ वीं से १७ वीं शती तक के इस गच्छ के उल्लेख मिलते हैं। बुध्दिसागर सूरि के मतानुसार इसका उत्पत्ति स्थान चैत्रवाल नगर मारवाड़ में है।

प्राचीन लेख संग्रह से इस गच्छ की ३ शाखायें —

१. धारणपद्रीय, २. चांद्रसमीय, ३. सलखणपुरा का पता चलता है। प्राचीन जैन लेख संग्रह में इसकी चौथी 'सार्दूल शाखा' (१७ वीं शती) का भी नाम है।

राजगच्छ पट्टावलि के अनुसार वह इसी गच्छ से उत्पन्न हुआ व वीरगणि से इसकी कम्बोइया व अष्टापद शाखा प्रसिध्दि में आई।

छत्रपल्लीय — बुध्दिसागरसूरि के जैन धातु प्रतिमा लेख संग्रह भा. २ ले. १३३ में इस गच्छ के पद्मप्रभसूरि (सं. १२९४) का उल्लेख है। छत्रापल्ली नामक किसी स्थान से इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है।

छीतांबरगच्छ — आबू लेखांक ५१९ वें में सं. १२९० के लेख में यह नाम मिलता है। अन्य कोई उल्लेख नहीं मिला। श्वेताम्बर से छीतांबर अपभ्रंश नाम होना संभव है।

छहितेरा — नाहरजी के जैन लेख संग्रह ले. ११९४ में सं. १६१२ का इस गच्छ का एक लेख है। संभव है लेख खोदने व पढने में अशुध्दि के कारण यह नाम प्रसिध्दि में आया है।

जाखडीया—समाचारी शतक व सुधर्मगच्छ परीक्षा में उल्लेख है। आबू लेखांक ६५५ के अनुसार यह महाहड गच्छ की शाखा है।

जायडाण—नाहर ले० १२८८ मे सं० १५३४ के कमलचंद्रसूरि के लेख में यह नाम आता है पर यह अशुद्ध खोदा व पढा गया प्रतीत होता है।

जेरंड—धातु प्रतिमा लेख सग्रह में गच्छाचार्य सूची में नाम आता है।

जागेड—जैनगच्छ मत प्रबंध में इसका तथा नेरड दोनों का उल्लेख (पृ ४०) है।

जालिहर-जाल्योद्धर—स १२२६ से १४८३ तक के मोढ़ वश संबन्धित इस गच्छ के ४ अभिलेख व १ प्रशस्ति मिली हैं। जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास के पेरा ४९२ में जालिहर गच्छ के देवसूरि के स १२५४ में पद्मप्रभचरित्र रचने का उल्लेख है देशाइ ने इस ग्रन्थ के अंत की गाथा उद्धृत की है जिसमें जालिहर के साथ कासहर का भी नाम आता है। ये दोनों गच्छ एक साथ निकले थे।

जीरापली गच्छ—बृहद् (वड) गच्छ की पट्टावलि के अनुसार यह वड गच्छ की शाखा है। मढार से उत्तर १० मील व दणाडा से पश्चिम १४ मी पर 'जीरावल' नामक प्राचीन स्थान है जहा से जीरावल्ला पार्श्वनाथ की भी बहुत प्रसिद्धि हुई। उस स्थान से यह गच्छ निकला है। स १४०६ से १५१५ के कई प्रतिमा-लेख इस गच्छ के प्रकाशित हैं।

ज्ञानकीय—नाणकीय का संस्कृतीकरण लगता है।

तपागच्छ—विगत ७०० वर्षों से इसका प्रभाव दिनोंदिन बढता रहा व आज भी यह श्वे गच्छों में सबसे अधिक प्रभावशाली व समृद्ध गच्छ है। स १२८५ में (आघाट मेवाड) में जगच्चंद्रसूरि के उग्र तप करने से इसका नाम 'तपा' पडा। वे पहले वडगच्छीय थे। चित्रवाल गच्छ के देवभद्र के पास उपसम्पदा ग्रहण की थी। इस गच्छ के ऐतिहासिक साधन भी प्रचुर हैं जिनमें से कई पट्टावलिया व ऐ काव्य रासादि प्रकाशित हो चुके हैं। खरतरगच्छ की भांति इसकी भी कई शाखायें हैं। यथा—

(१) वृद्ध पौशालिक—तपागच्छस्थापक जगच्चंद्रसूरि के गुरुभ्राता विजयचंद्रसूरि से हुआ। इस गच्छ की पट्टावलि जिनविजयजीसंपादित विविध गच्छीय संक्षिप्त पट्टावलि संग्रह में व जैन गुर्जर कविओ भा २-३ के परिशिष्ट में इसका गुजराती में सार प्रकाशित है।

२) लघु पौशालिक—जगच्चंद्रसूरि के द्वितीय गुरु भ्राता देवेन्द्रसूरि का समुदाय लघुपौशालिक कहलाया। इसकी पट्टावलि भी उक्त दोनों ग्रन्थों में प्रकाशित है।

३) विजयाणंद या आणंदसूरिशाखा—यह विजयतिलकसूरि के पट्टधर, स १६७० में आचार्यपद प्राप्त विजयाणन्दसूरि से स १६८१ में निकली। इसकी पट्टावलि [illegible] जैन गुर्जरकविओ भा [illegible] के परिशिष्ट में प्रकाशित है।

४) विजयदेवसूरि-देवसूरिशाखा – सं. १६८१ में विजयदेवसूरि नाम से प्रसिद्ध हुई।

५) विमलशाखा—सं. १७४९ में ज्ञानविमलसूरि से यह शाखा चली।

६) सागरशाखा—सं. १६८१ के लगभग राजसागरसूरि से सागरशाखा निकली। अहमदाबाद के सेठ शांतिदास ने इसमें बहुत सहयोग दिया। परम्परा के लिये दे. जै. गु. क. भा. २ परिशिष्ट व जैन गच्छ मत प्रबन्ध।

७) रत्नशाखा—उपकेश की द्विवंदनीक शाखा के कक्कसूरि के शिष्य राजवल्लभ सूरि के शिष्य राजविजयसूरि से रत्नशाखा १७ वीं सदी में चालू हुई। इस शाखा के आचार्य व मुनियों के नाम रत्नांत होने से यह नाम प्रसिद्ध हुआ। इसकी संक्षिप्त पट्टावलि जैन गुर्जर कवियों भा. ३ के परिशिष्ट में प्रकाशित है।

८) कमलकलश शाखा — १६ वीं सदी के कमलकलशसूरि से यह शाखा निकली। इस शाखा की गद्दी अब भी धनारी में विद्यमान है व वर्त्तमान श्री पूज्य का नाम विजयजिनेन्द्रसूरि है।

९) कुतवपुरा—कुतवपुरा स्थान से इसका नामकरण हुआ है। इस शाखा के १६ वीं शती के उल्लेख नाहरजी के लेख संग्रह में प्रकाशित हैं। इन्द्रनंदिसूरि का समुदाय इस नाम से प्रसिद्ध हुआ।

१०) निगम—कुतवपुरा शाखा में से हर्षविनयसूरि [१६ वीं] ने निगममत निकाला। इसका अपर नाम भूकटीया मत भी है।

११) रत्नाकर गच्छ—१४ वीं शताब्दी के रत्नाकरसूरि से प्रसिद्ध हुआ। इसकी एक भृगुकच्छीय शाखा का भी उल्लेख मिलता है। विशेष जानने के लिए पट्टावलि समुच्चय भा. २ की पूरवणी देखें।

तालध्वजीयशाखा — प्रसिद्ध तलाजा नामक स्थान से इसका सम्बन्ध है। पीपल गच्छ की शाखा है। प्राचीन लेखसंग्रह ले. ४१६ में सं. १५२८ का लेख प्रकाशित है।

त्रिभवियागच्छ — वास्तव में यह पिपलगच्छ की शाखा है। इसके १५-१६ वीं शती के कई प्रतिमा-लेख प्रकाशित हैं। पिप्पलगच्छीय धर्मदेवसूरि ने सारंगरायको उसके तीन पूर्वभव बतलाये। इसी घटना को लेकर इसकी परम्परा का नाम 'त्रिभविया' पड़ा प्रतीत होता है।

थारापद्रीय — डीसा के पश्चिम ४० माइल पर थराद नामक ग्राम है। उसीसे यह गच्छ प्रसिद्धि में आया है। इसका ११ वीं शती का एक लेख प्राप्त है। उत्तराध्ययन की पाइय टीका व तिलकमंजरी टिप्पन के निर्माता शांतिसूरि (११ वीं,), संग्रहणी वृत्ति (सं. ११३९) के निर्माता शालिभद्रसूरि व उनके शिष्य काव्यालंकार व आवश्यक

जाखडीया—समाचारी शतक व सुधर्मगच्छ परीक्षा में उल्लेख है। आबू लेखांक ६५५ के अनुसार यह मडाहड़ गच्छ की शाखा है।

जायडाण—नाहर ले. १२८८ मे सं. १५३५ के कमलचंद्रसूरि के लेख में यह नाम आता है, पर यह अशुद्ध खोदा व पढ़ा गया प्रतीत होता है।

जेरंड—धातु प्रतिमा लेख संग्रह में गच्छाचार्य सूची में नाम आता है।

जांगेड—जैनगच्छ मत प्रबंध में इसका तथा जेरंड दोनों का उल्लेख (पृ. ५०) है।

जालिहर—जालयोद्धर—सं. १२२६ से १४२३ तक के मोढ वंश संबन्धित इस गच्छ के ४ अभिलेख व १ प्रशस्ति मिली हैं। जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास के पेरा ४९२ में जालिहर गच्छ के देवसूरि के सं. १२५४ में पद्मप्रभचरित्र रचने का उल्लेख है देशाई ने इस ग्रन्थ के अंत की गाथा उद्धृत की है जिसमें जालिहर के साथ कासहर का भी नाम आता है। ये दोनों गच्छ एक साथ निकले थे।

जीरापल्ली गच्छ—बृहद् (बड) गच्छ की पट्टावलि के अनुसार यह बड गच्छ की शाखा है। मंडार से उत्तर १० मील व इणाद्रा से पश्चिम १४ मी. पर 'जीरावल' नामक प्राचीन स्थान है जहां से जीरावला पार्श्वनाथ की भी बहुत प्रसिद्धि हुई। उस स्थान से यह गच्छ निकला है। सं. १४०६ से १५१५ के कई प्रतिमा-लेख इस गच्छ के प्रकाशित हैं।

ज्ञानकीय—नाणकीय का संस्कृतीकरण लगता है।

तपागच्छ—विगत ७०० वर्षों से इसका प्रभाव दिनोंदिन बढ़ता रहा व आज भी यह श्वे. गच्छों में सबसे अधिक प्रभावशाली व समृद्ध गच्छ है। सं. १२८५ में (आघाट मेवाड़) में जगचंद्रसूरि के उग्र तप करने से इसका नाम 'तपा' पड़ा। वे पहले वडगच्छीय थे। चित्रवाल गच्छ के देवभद्र के पास उपसम्पदा ग्रहण की थी। इस गच्छ के ऐतिहासिक साधन भी प्रचुर हैं जिनमें से कई पट्टावलियां व ऐ. काव्य रासादि प्रकाशित हो चुके हैं। खरतरगच्छ की भांति इसकी भी कई शाखायें हैं। यथा—

(१) वृद्ध पौशालिक—तपागच्छस्थापक जगचंद्रसूरि के गुरुभ्राता विजयचन्द्रसूरि से हुआ। इस गच्छ की पट्टावलि जिनविजयजीसंपादित विविध गच्छीय संक्षिप्त पट्टावलि संग्रह में व जैन गुर्जर कविओ भा. २-३ के परिशिष्ट में इसका गुजराती में सार प्रकाशित है।

२) लघु पौशालिक—जगचंद्रसूरि के द्वितीय गुरु भ्राता देवेन्द्रसूरि का समुदाय लघुपौशालिक कहलाया। इसकी पट्टावलि भी उक्त दोनों ग्रन्थों में प्रकाशित है।

३) विजयाणंद या आणंदसूरिशाखा—यह विजयतिलकसूरि के पट्टधर, सं. १६७० में आचार्यपद प्राप्त विजयाणन्दसूरि से सं. १६८१ में निकली। इसकी पट्टावलि का सार भी जैन गुर्जरकविओ भा. २ के परिशिष्ट में प्रकाशित है।

४) विजयदेवसूरि-देवसूरिशाखा—सं. १६८१ में विजयदेवसूरि नाम से प्रसिद्ध हुई।

५) विमलशाखा—सं. १७४९ में ज्ञानविमलसूरि से यह शाखा चली।

६) सागरशाखा—सं. १६८१ के लगभग राजसागरसूरि से सागरशाखा निकली। अहमदाबाद के सेठ शांतिदास ने इसमें बहुत सहयोग दिया। परम्परा के लिये दे. जै. गु. क. भा. २ परिशिष्ट व जैन गच्छ मत प्रबन्ध।

७) रत्नशाखा—उपकेश की द्विवंदनीक शाखा के कक्कसूरि के शिष्य राजवल्लभ सूरि के शिष्य राजविजयसूरि से रत्नशाखा १७ वीं सदी में चालू हुई। इस शाखा के आचार्य व मुनियों के नाम रत्नांत होने से यह नाम प्रसिद्ध हुआ। इसकी संक्षिप्त पट्टावलि जैन गुर्जर कवियों भा. ३ के परिशिष्ट में प्रकाशित है।

८) कमलकलश शाखा—१६ वीं सदी के कमलकलशसूरि से यह शाखा निकली। इस शाखा की गद्दी अब भी धनारी में विद्यमान है व वर्त्तमान श्री पूज्य का नाम विजयजिनेन्द्रसूरि है।

९) कुतबपुरा—कुतबपुरा स्थान से इसका नामकरण हुआ है। इस शाखा के १६ वीं शती के उल्लेख नाहरजी के लेख संग्रह में प्रकाशित हैं। इन्द्रनंदिसूरि का समुदाय इस नाम से प्रसिद्ध हुआ।

१०) निगम—कुतबपुरा शाखा में से हर्षविनयसूरि [१६ वीं] ने निगममत निकाला। इसका अपर नाम भूकटीया मत भी है।

११) रत्नाकर गच्छ—१४ वीं शताब्दी के रत्नाकरसूरि से प्रसिद्ध हुआ। इसकी एक भृगुकच्छीय शाखा का भी उल्लेख मिलता है। विशेष जानने के लिए पट्टावलि समुच्चय भा. २ की पूरवणी देखें।

तालध्वजीयशाखा—प्रसिद्ध तलाजा नामक स्थान से इसका सम्बन्ध है। पीपल गच्छ की शाखा है। प्राचीन लेखसंग्रह ले. ४१६ में सं. १५२८ का लेख प्रकाशित है।

त्रिभवियागच्छ—वास्तव में यह पिपलगच्छ की शाखा है। इसके १५-१६ वीं शती के कई प्रतिमा-लेख प्रकाशित हैं। पिप्पलगच्छीय धर्मदेवसूरि ने सारंगरायको उसके तीन पूर्वभव बतलाये। इसी घटना को लेकर इसकी परम्परा का नाम 'त्रिभविया' पड़ा प्रतीत होता है।

थारापद्रीय—डीसा के पश्चिम ४० माइल पर थराद नामक ग्राम है। उसीसे यह गच्छ प्रसिद्धि में आया है। इसका ११ वीं शती का एक लेख प्राप्त है। उत्तराध्ययन की पाइय टीका व तिलकमंजरी टिप्पन के निर्माता शांतिसूरि (११ वीं,), संग्रहणी वृत्ति (सं. ११३९) के निर्माता शालिभद्रसूरि व उनके शिष्य काव्यालंकार व आवश्यक

वृत्ति के रचयिता [सं. ११२२-२५] नमिसाधु इसी गच्छ में हुए हैं। इस गच्छ के १२ वीं से १४ वीं शताब्दी तक के कुछ अभिलेख प्रकाशित हैं। पट्टावलि समुच्चय भा. २ २२५ देखें.

रामसेण के सं. १०८४ के लेखानुसार इस गच्छ का आदि पुरुष यशेश्वराचार्य हैं। अतः मुनि कल्याणविजयजी ने इसकी उत्पत्ति ७ वीं शती मानी है।

देवाचार्यगच्छ—नाम से स्पष्ट है कि देवसूरि से इसकी प्रसिद्धि हुई। संभवतः ये देवाचार्य सं. ११५४ के लेखवाले हों (जि. ले. ३८२) जिनविजयजी के प्रा. जैन ले सं. ले. ४२२, १२४६ के लेख में इसका उल्लेख है व सं. १३८१ का लेख व प्रशस्ति में "देवसूरि गच्छ" नाम आता है।

देवसूरिगच्छ—तपागच्छ के विजयदेवसूरि से शाखा चली। यह देवसूरिगच्छ के नाम से भी प्रसिद्ध हुई।

देवानंदगच्छ (देवानंदित)—सं. ११९४ व १२०१ की ग्रंथ-लेखन प्रशस्ति में इसका नामः आता है। नाम से देवानंदसूरि से इसकी प्रसिद्ध हुई स्पष्ट है। इस गच्छ के महेश्वरसूरि शि. रचित चंपकसेनरास (स. १६३०) उपलब्ध है। उनसे करीब ५०० वर्ष तक यह परम्परा चलती रही सिद्ध है।

धर्मघोषगच्छ—१२ वीं शताब्दी में धर्मघोषसूरि से इस गच्छ का नामकरण हुआ। नागौर के महात्मा के पास इस गच्छ की परम्परा की विस्तृत नामावलि है जिससे इस गच्छ की १. उत्तिरवाल २. मंडोवरा ३. बुद्वापाल ४. वालोरियादि शाखाओं की आचार्य परम्परा की नामावलि प्राप्त होती है। हमारे संग्रह में उसकी संक्षिप्त नकल है।

धर्मघोषसूरि का जीवन "राजगच्छ पट्टावली" व धर्मघोषसूरि स्तुतिद्वय से प्राप्त होता है। सुराणा गोत्र से इसका विशेष सम्बन्ध है। ये उस गोत्र के प्रति बोधक थे।

नडीगच्छ—श्री अर्बुद प्राचीन जैन लेख संग्रह के लेखांक ५८१ में (सं १४२१) नडीगच्छ नाम आता है। इसे जयन्तविजयजी ने गुजरात के नडीआद से इसका पूरा नाम नडीआदगच्छ होने की संभावना की है।

नाइल (नायल) :—संभव है नाइल कुल से इसका संबंध हो। सं. १३०० का लेख प्राप्त है।

नागेन्द्र गच्छ :—संभवतः नागेंद्र कुल ही पीछे से नागेंद्र गच्छ के नाम से प्रसिध्द हुआ है। ९ वीं सदी से १६ वीं तक के आचार्यों की नामावलि मुनि जिन विजयजी संपादित प्राचीन लेख संग्रह में प्रकाशित है। अणहिल्ल पाटण के स्थापक वनराज चावडा के गुरु शीलगुणसूरि इसी गच्छ के थे। उनके शिष्य देवचन्द्रसूरि की मूर्ति पाटण में अब भी विद्यमान है। जैन शासन-प्रभावक, अद्वितीय कला के

उन्नायक महामना वस्तुपाल तेजपाल के गुरु विजयसेनसूरि भी इसी गच्छ के थे। वे एवं उनके शिष्य उदयप्रभ, वासुपूज्यचरित के रचयिता वर्द्धमानसूरि (सं. १२९९) मेरुतुंगसूरि प्रबंध चिन्तामणि (सं. १३५१) आदि कई विद्वानों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रतिमा-लेख भी बहुत से प्रकाशित हैं। चिन्तामणि भूमिगृहस्थ धातु प्रतिमा लेखों में श्रीदेवचन्द्राचार्य नागेंद्र गच्छीय का नाम है। सं. १४५५ के धातु प्रतिमा लेख में "पूर्वे नागेन्द्र गच्छे आदौकेशगच्छ सिदि कक" उल्लेख मिलने से १५ वीं शती में यह गच्छ उपकेश (उकेश) गच्छ में समागया प्रतीत होता है। परम्परा नामावलि के लिये देखें पट्टावलि समुच्चय भा. २ पृ. २३२.

नागपुरीय तपागच्छ :— सुप्रसिद्ध वादविजेता वादि देवसूरि के शिष्य पद्मप्रभसूरि ने नागौर में तप करने से सं. ११७४ या ७७ में नागौरी तपाबिरुद प्राप्त किया। उसके अनंतर १६ वीं शताब्दी में इसकी परम्परा में पार्श्वचंद्रसूरि नामक प्रसिद्ध विद्वान हुए जिनके नाम से इसका पार्श्वचंद्रगच्छ नाम प्रसिद्ध हुआ। इस गच्छ के श्रावक प्रधानतः बीकानेर, अहमदाबाद व कच्छ प्रान्त में हैं। बीकानेर के श्रीपूज्य देवचंद्रसूरि का स्वर्गवास कुछ वर्ष हुये होगया। अभी कतिपय साधु व यति हैं। इस गच्छ की संस्कृत पट्टावलि "विविध गच्छीय पट्टावली संग्रह" में एवं गु. भाषा में अहमदाबाद से व जैन गुर्जर कविओ भा. २ के परिशिष्ट में प्रकाशित है।

कई लोग इसे नामसाम्य पर प्रसिद्ध तपागच्छ की ही शाखा मानते हैं, पर वह सही नहीं है। वास्तव में यह उससे स्वतंत्र है। पट्टावलि के अनुसार तो यह नाम तपागच्छ से भी सौ वर्ष पुराना है पर जहाँ तक मुझे ज्ञात है "नागपुरीय तपागच्छ" नाम का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है और वह भी सं. १७ वीं के पहले का नजर नहीं आता।

नाणकीय—पींडवाडा से ईशान कोण में १०॥ माइल पर अवस्थित नाणा ग्राम से यह गच्छ निकला है। १२ वीं से १६ वीं तक के इस गच्छ के लेख प्राप्त होते हैं। इसका अपर नाम नाण, नाणावाल व ज्ञानकीय भी मिलता है।

निवृत्ति—संभवतः निवृत्ति कुल से ही पीछे से इस गच्छरूप में प्रसिद्ध हुआ हो। समरा शाह रास के कर्त्ता अंबदेवसूरि इसी गच्छ के थे। इस गच्छ के १०-१५-१६ वीं शती के कतिपय अभिलेख प्रकाशित हैं।

नागर गच्छ—धातु प्रतिमा लेखसंग्रह भा. २ ले. १३ में नाम आता है, पर नागेन्द्र को ही नागर पढा गया हो तो पता नहीं।

निंबजीयगच्छ—गच्छ मत प्रबन्ध के पृ, ४४ में इसका उल्लेख है।

पंचासरीय गच्छ—संभवतः पाटण के पंचासरा स्थान से इसका संबन्ध हो। नाहर ले. १८७३ में सं. ११२५ के लेख में इसका नाम? प्रश्नवाचक चिन्ह के साथ छपा है।

पल्लिकीय (पल्लीवाल)—जोधपुर राज्य के पाली शहर से इसका उद्भव हुआ है। इस गच्छ की एक पट्टावलि मैंने आत्मानंद जन्म शताब्दी ग्रन्थ में प्रकाशित की है। एक अन्य प्राकृत पट्टावलि भी प्राप्त है, पर उसकी प्रामाणिकता के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। श्रीयुत् देसाई ने जैन गुर्जर कविओ भा. ३ के परिशिष्ट में इन दोनों का सार दिया है।

पल्लीयगच्छ—ना. ले. ५१७ सं. १५०७ के लेख में यह नाम मिलता है, पर अशुद्ध ज्ञात होता है। आचार्य का नाम यशोदेव होने से मुझे शुद्ध नाम पल्लकीय होना जचता है।

पार्श्वचन्द्रगच्छ—दे. नागपुरीय तपागच्छ

पिप्पलगच्छ—इसका नामकरण पिप्पल स्थान या वृक्ष से हुआ संभव है। बृहद् गच्छ के मूलपुरुष सर्वदेवसूरि के शि० नेमिचन्द्रसूरि के शि० शांतिसूरि से सं. ११२२ में आठ (८) शाखावाला यह गच्छ निकला। पुण्यसागर के अजना रास से स. १६८९ तक इस गच्छ की शाखा साचोर में विद्यमान होना निश्चित है। हमारे संग्रह की 'गुरु स्तुति' व 'धूल धौल' में शांतिसूरि से पट्टानुक्रम इस प्रकार दिया है।

१) शांतिसूरि (पृथ्वीचन्द्र चरित्र रचयिता) इन्होंने नेमिचैत्य में ८ मुनियों को आचार्य-पद दिया। उनके नाम इस प्रकार हैं।
१ महेन्द्र २. विजयसिंह ३. देवेन्द्रचन्द्र ४. पद्मदेव ५. पूर्णचंद्र ६. जयदेव ७. हेमप्रभ ८. जिनेश्वर.

२) २ विजयसिंहसूरि स. १२०८, ३. देवभद्रसूरि, ४. धर्मघोषसूरि, ५. शीलभद्रसूरि, ६. पूर्णदेव, ७ विजयसेनसूरि, ८. धर्मदेवसूरि—इन्होंने देव के आदेश से सारंगराय व घुघल के तीन भव बतलाकर प्रतिबोधित किया। उनमें घुघल धाराराज का राणा हुआ और उसने सरस्वती मंडप बनवाया। ९. धर्मचन्द्रसूरि, १०. धर्मरत्नसूरि [१३८०], ११. धर्मतिलकसूरि [सं. १४२३], १२. धर्मसिंहसूरि (गुडियनगर में प्रासाद बनवाया), १३. धर्मप्रभसूरि (स. १४५६), १४. धर्मशेखरसूरि (सं. १४८३ स. १५०५), १५. धर्मसागरसूरि (सं. १५११), १६. धर्मवल्लभसूरि (सं. १५५२)। प्रतिमा-लेखों में इनसे भिन्न परंपरा के नाम मिलते हैं जो शाखा-भेद के सूचक हैं। १८ वीं शती तक के लेख इस गच्छ के प्राप्त हैं। प्राचीन लेख संग्रह से इसकी 'त्रिभविया' व तालध्वजीय शाखा का पता चलता है। इसमें त्रिभविया संभवतः उपरोक्त धर्मदेवसूरि के तीन भव कहने से पड़ा है और तालध्वजीय शाखा तलाजा स्थान के नाम से प्रसिद्ध हुई होगी।

पूर्णतल्लगच्छ—सुप्रसिद्ध हेमचंद्रसूरि इसी गच्छ में हुए हैं। उनके त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र की प्रशस्ति में उन्होंने अपना गच्छ पूर्णतल्ल लिखा है। विशेष विवरण देखें पट्टावलि समुच्चय भा. २ पृ. २२६

पूर्णिमा — पक्षी [पाक्षिकपर्व] चतुर्दशी को मानीजाय या पूर्णिमा को ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में पूर्णिमा का पक्ष ग्रहण करने के कारण इसका नाम पूर्णिमागच्छ पड़ा। इसका आविर्भाव सं. ११४९ या ५९ में चंद्रप्रभसूरि से हुआ। इस गच्छ की एक संस्कृत पट्टावलि विविध गच्छीय पट्टावलि संग्रह में व भाषापद्य की पट्टावलि जैन युग में प्रकाशित है जिसका सार जै. गु. भा. ३ के परिशिष्ट में दिया है। इस गच्छ की १. ढढेरीया, २. साधुपूर्णिमा (सं. १२३६ में निकली) ३. भीमपल्लीय, ४. वटप्रदीय, ५. बोरसिद्धिय, ६. भृगुकच्छीय, ७. छापरिया, ८. द्वि. कछोलीवाल आदि शाखाओं का पता चलता है।

बुद्धिसागरसूरि के गच्छमतप्रबंधानुसार इस गच्छ के श्रीपूज्य पाटण में व महात्मा कई स्थानों में विद्यमान हैं।

प्रद्योतनाचार्य गच्छ — पाली में सं. ११४४ व ५१ के दो लेख इस गच्छ के मिलते हैं। प्रद्योतनाचार्य से इस गच्छका यह नाम पड़ा है।

प्रभाकर गच्छ — इस गच्छ का सं. १५७२ का एक लेख ना. ले. ७६४ में प्रकाशित है, पर संभवतः नाम ठीक से नहीं पढ़ा गया।

माया गच्छ — ना. ले. १०४२ में श्री राम (?) प्राया गच्छ नाम छपा है, पर अशुद्ध है।

ब्रह्माणगच्छ — सीरोही राज्य के मंडार से उत्तर में १० मील पर व हणाद्रा से पश्चिम में १२ मील पर वरमाण नामक ग्राम है। उसीसे इस गच्छ का निकाश हुआ है। सं. ११२४ से १६ वीं शती तक के लेख इस गच्छ के प्रकाशित हैं। वास्तव में यह बृहद् गच्छ की एक शाखा है।

ब्राह्मीगच्छ — प्राचीन लेख संग्रह के ३८२ में सं. ११४४ के लेख में यह नाम आता है।

वाहड — ना. ले. २२२९ में सं. १४२१ के लेख में वाहड गच्छ छपा है। उसमें यशोभद्रसूरिसंतानीय ईश्वरसूरि का उल्लेख होने से वह संडेरक गच्छादि से सम्बन्धित लगता है।

वोकडिया गच्छ — इस गच्छ के कई प्रतिमा लेख ना. जैन लेख संग्रह में प्रकाशित हैं। वड़गछ पट्टावली के अनुसार यही उसीकी एक शाखा है। सं. १४३०-१५१८ के लेख में भी इसे बृहद गच्छ की शाखा ही दिया है।

बृहद गच्छ — नामानुरूप यह बहुत बड़ा समुदाय वाला गच्छ है। अनेक शाखा मूलतः इसकी शाखायें हैं। सं. ९९४ जेठ सु. ८ र. उद्योतनसूरिजी के शिष्य सर्वदेवसूरि ने ८ मुनियों को सूरिपद दिया। तभी से यह बृहद गच्छ कहा जाने लगा। मतान्तर से सं. ९९४ में सर्वदेवसूरि को नांदिया ग्राम के पास लडेकडिया? वृक्ष के नीचे उद्योतनसूरि ने आचार्यपद पर स्थापित किया। हमें इसकी भटनेर शाखा की

पल्लिकीय (पल्लीवाल) — जोधपुर राज्य के पाली शहर से इसका उद्भव हुआ है। इस गच्छ की एक पट्टावलि मैंने आत्मानंद जन्म शताब्दी ग्रन्थ में प्रकाशित की है। एक अन्य प्राकृत पट्टावलि भी प्राप्त है, पर उसकी प्रामाणिकता के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। श्रीयुत् देसाई ने जैन गुर्जर कविओ भा. ३ के परिशिष्ट में इन दोनों का सार दिया है।

पर्धीयगच्छ — ना. ले. ४१२ सं. १५०७ के लेख में यह नाम मिलता है, पर अशुद्ध ज्ञात होता है। आचार्य का नाम यशोदेव होने से मुझे शुद्ध नाम पल्लकीय होना जचता है।

पार्श्वचन्द्रगच्छ — दे. नागपुरीय तपागच्छ

पिप्पलगच्छ — इसका नामकरण पिपल स्थान या वृक्ष से हुआ संभव है। बृहद् गच्छ के मूलपुरुष सर्वदेवसूरि के शि० नेमिचन्द्रसूरि के शि० शांतिसूरि से सं. ११२२ में आठ (८) शाखावाला यह गच्छ निकला। पुण्यसागर के अजना रास से स. १६८९ तक इस गच्छ की शाखा साचोर में विद्यमान होना निश्चित है। हमारे संग्रह की 'गुरु स्तुति' व 'धूल धौल' में शांतिसूरि से पट्टानुक्रम इस प्रकार दिया है।

१) शांतिसूरि (पृथ्वीचन्द्र चरित्र रचयिता) इन्होंने नेमिचैत्य में ८ मुनियों को आचार्य-पद दिया। उनके नाम इस प्रकार हैं।
   १ महेंद्र २. विजयसिंह ३. देवेंद्रचन्द्र ४. पद्मदेव ५. पूर्णचंद्र ६. जयदेव ७. हेमप्रभ ८. जिनेश्वर.

२) २ विजयसिंहसूरि सं. १२०८, ३. देवभद्रसूरि, ४. धर्मघोषसूरि, ५. शीलभद्रसूरि, ६. पूर्णदेव, ७. विजयसेनसूरि, ८. धर्मदेवसूरि – इन्होंने देव के आदेश से सारंगराय व सुभट के तीन भव बतलाकर प्रतिबोधित किया। उनमें सुभट धारापद्र का राणा हुआ और उसने सरस्वती मंडप बनवाया। ९. धर्मचंद्रसूरि, १०. धर्मरत्नसूरि [१३८०], ११. धर्मतिलकसूरि [सं. १४२७], १२ धर्मसिंहसूरि (*गुंदियनगर में प्रासाद बनवाया*), १३. धर्मप्रभसूरि (सं. १४७६), १४. धर्मशेखरसूरि (सं. १४८४ सं. १५०५), १५. धर्मसागरसूरि (सं. १५३१), १६. धर्मवल्लभसूरि (सं. १५५३)। प्रतिमा-लेखों में इनसे भिन्न परंपरा के नाम मिलते हैं जो शाखा-भेद के सूचक हैं। १८ वीं शती तक के लेख इस गच्छ के प्राप्त हैं। प्राचीन लेख संग्रह से इसकी 'त्रिभविया' व तलध्वजीय शाखा का पता चलता है। इसमें त्रिभविया संभवतः उपरोक्त धर्मदेवसूरि के तीन भव कहने से पड़ा है और तलध्वजीय शाखा तलाजा स्थान के नाम से प्रसिद्ध हुई होगी।

पूर्णतल्लगच्छ — सुप्रसिद्ध हेमचंद्रसूरि इसी गच्छ में हुए हैं। उनके त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र की प्रशस्ति में उन्होंने अपना गच्छ पूर्णतल लिखा है। विशेष विवरण देखें पट्टावलि समुच्चय भा. २ पृ. २२६

पूर्णिमा — पक्षी [पाक्षिकपर्व] चतुर्दशी को मानीजाय या पूर्णिमा को? इस प्रश्न के सम्बन्ध में पूर्णिमा का पक्ष ग्रहण करने के कारण इसका नाम पूर्णिमागच्छ पड़ा। इसका आविर्भाव सं. ११४९ या ५९ में चंद्रप्रभसूरि से हुआ। इस गच्छ की एक संस्कृत पट्टावलि विविध गच्छीय पट्टावलि संग्रह में व भाषापद्य की पट्टावलि जैन युग में प्रकाशित है जिसका सार जै. गु. भा. ३ के परिशिष्ट में दिया है। इस गच्छ की १. ढढेरीया, २. साधुपूर्णिमा (सं. १२३६ में निकली) ३. भीमपल्लीय, ४. वटप्रदीय, ५. बोरसिद्धिय, ६. भृगुकच्छीय, ७. छापरिया, ८. द्वि. कछोलीवाल आदि शाखाओं का पता चलता है।

बुद्धिसागरसूरि के गच्छमतप्रबंधानुसार इस गच्छ के श्रीपूज्य पाटण में व महात्मा कई स्थानों में विद्यमान हैं।

प्रद्योतनाचार्य गच्छ — पाली में सं. ११४४ व ५१ के दो लेख इस गच्छ के मिलते हैं। प्रद्योतनाचार्य से इस गच्छका यह नाम पड़ा है।

प्रभाकर गच्छ — इस गच्छ का सं. १५७२ का एक लेख ना. ले. ७६४ में प्रकाशित है, पर संभवतः नाम ठीक से नहीं पढ़ा गया।

माया गच्छ — ना. ले. १०४२ में श्री राम (?) प्राया गच्छ नाम छपा है, पर अशुद्ध है।

ब्रह्माणगच्छ — सीरोही राज्य के मंडार से उत्तर में १० मील पर व हणाद्रा से पश्चिम में १२ मील पर वरमाण नामक ग्राम है। उसीसे इस गच्छ का निकाश हुआ है। सं. ११२४ से १६ वीं शती तक के लेख इस गच्छ के प्रकाशित हैं। वास्तव में यह बृहद् गच्छ की एक शाखा है।

ब्राह्मीगच्छ — प्राचीन लेख संग्रह के ३८२ में सं. ११४४ के लेख में यह नाम आता है।

वाहड — ना. ले. २२२९ में सं. १४२१ के लेख में वाहड गच्छ छपा है। उसमें यशोभद्रसूरिसंतानीय ईश्वरसूरि का उल्लेख होने से वह संडेरक गच्छादि से सम्बन्धित लगता है।

वोकडिया गच्छ — इस गच्छ के कई प्रतिमा लेख ना. जैन लेख संग्रह में प्रकाशित हैं। वड़गछ पट्टावली के अनुसार यही उसीकी एक शाखा है। सं. १४३०–१५१८ के लेख में भी इसे बृहद गच्छ की शाखा ही दिया है।

बृहद गच्छ — नामानुरूप यह बहुत बड़ा समुदाय वाला गच्छ है। अनेक शाखा मूलतः इसकी शाखायें हैं। सं. ९९४ जेठ सु. ८ र. उद्योतनसूरिजी के शिष्य सर्वदेवसूरि ने ८ मुनियों को सूरिपद दिया। तभी से यह बृहद गच्छ कहा जाने लगा। मतान्तर से सं. ९९४ में सर्वदेवसूरि को नांदिया ग्राम के पास लडेकडिया? वृक्ष के नीचे उद्योतनसूरि ने आचार्यपद पर स्थापित किया। हमें इसकी भटनेर शाखा की

पट्टावलि प्राप्त हुई है जिसका आवश्यकीय भाग विविध गच्छीय पट्टावली संग्रह में मुद्रित हुआ है। उसके अनुसार इस गच्छ की ८४ शाखायें हुई जिनमें से निम्नोक्त २५ शाखाओं के नाम उसमें दिये गये हैं—

१	साचोरा	९	मड्डाहडिया	१७	तपा
२	शेरडिया	१०	भयरुच्छा	१८	भीनमाला
३	अन्तपुरा	११	दासरुआ	१९	जालउरा
४	गूदाउआ	१२	जीरावला	२०	रामसेणा
५	ओढरिया	१३	मगाउडिया	२१	घोडडिया
६	डेयाइआ	१४	महापिया	२२	चितउडा
७	घोघवाडा	१५	मड्डाहडा	२३	गगेसरा
८	सावडउला	१६	पिप्पलीया	२४	कुचडिया
				२५	सिद्धान्ती

भर्तृपुरीय [भटेवरा]—ज पु प्र सं की स १३३२ की प्रशस्ति में इस गच्छ का नाम आता है। नामसे इसका निकास भर्तृपुर [मेवाड भटेवर ग्राम] से होना स्वयं सिद्ध है।

भावडार गच्छ—सुप्रसिद्ध कालिकाचार्य की संतान का यह नाम पजाब में पडा है। पजाब में अबभी ओसवालों को भावड़ा ही कहते हैं। इस गच्छ के कई प्रतिमा लेख आदि प्रकाशित हैं। मूलत यह खडिल गच्छ के कालिकाचार्यसंतानीय भावदेव सूरि से ११ वीं शती में प्रसिद्धि में आया। प्रभावक चरित्र के अनुसार वीराचार्य इस गच्छ के थे व पार्श्वनाथ चरित्र के कर्त्ताभावसूरि भी। भावदेव, विजयसिंह, वीर और जिनदेवसूरि ये चार नाम पुन २ इस गच्छ के पट्टधरों के मिलते हैं। १७ वीं शती तक यह चालू रहा।

भिन्नमाल गच्छ—प्रसिद्ध श्रीमाल नगर का नाम भिन्नमाल भी है। उसी स्थान के नाम से वहा जो समुदाय अधिक समय रहा उसका यह नाम पड गया। बड गच्छ पट्टावलि में इसे उस गच्छ की एक शाखा मानी है।

मधुकर गच्छ—खरतर गच्छ की शाखा है। दे खरतरगच्छ। इसके एक अभि लेख में 'चतुर्दशी पक्ष' विशेषण भी पाया जाता है।

महोकराचार्य—(स १४६६ गुणप्रभसूरि ले) संभवत मधुकर ही हो।

मड्डाहडीय—सीरोही राज्य के मडार स्थान से यह नाम पडा है। जो हणाद्रा से नैऋत्य में १८ मील, सीरोह से ४० मील व डीसा से ईशान कोण में २४ मील पर अवस्थित है। वडगच्छ की पट्टावलि के अनुसार यह उसीकी शाखा है। १७ वीं सदी में कवि सारंग इस गच्छ में हो गये हैं। रत्नपुरीय इस गच्छकी एक शाखा थी।

भीमपल्लीय गच्छ — डीसा से पश्चिम दिशा में ८ कोस पर भीलड़ी भीमपल्ली नामक स्थान से इस गच्छ का नाम पड़ा है। इस गच्छ के कतिपय प्रतिमा लेख प्रकाशित हैं। १६ वीं सदी के लेखों से यह पूर्णिमा गच्छ की शाखा ज्ञात होती है।

मल्लधारी इसका मूलनाम हर्षपुरीय गच्छ है जिसका सम्बन्ध हर्षपुर स्थान से है। इस गच्छ के अभयदेवसूरि को कर्ण राजा ने मलमलीन गात्र देख मलधारी कहा। ईसीसे यह गच्छ नाम पड़ा। विशेष जानने के लिये देखें—हर्षपुर गच्छ। इस गच्छ के लेख १३ वीं से १६ वीं तक के मिलते हैं। अभयदेवसूरि आदि कई बड़े बड़े विद्वान भी इस गच्छ में हुए। दे. अलंकार महोदधि की लालचंद गांधी लिखित प्रस्तावना।

मोढ़गच्छी (मोढेरक)—नाहर लेखांक १६९४ के सं. १२२७ के लेख में मोढगच्छे वाय भट्टि संताने जिनभद्राचार्य का प्रतिष्ठापक के रूप में उल्लेख है। गुजरातवर्त्ती मोढेरा नामक स्थान से इसकी प्रसिद्धि हुई है। वहीं से मोढनामक जाति भी प्रसिद्ध हुई।

भावसूरिगच्छ—भावसूरि आचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आबू लेख सन्दोह में एक लेख प्रकाशित है।

यशसूरिगच्छ—ना. ले. ५३० में सं. १२४२ के पंचतीर्थी के लेख में यशसूरिगच्छ का नाम आता है। नाम से यह यशसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुआ स्पष्ट है।

रुदुलगच्छ—ना. ले. १६२५ में पंचतीर्थी के सं १५७६ के लेख में यह नाम आता है। पर नाम अशुद्ध पढ़ा गया प्रतीत होता है।

रांकागच्छ — ना. ले. १७८० में सं. १३२० में महीचंद्रसूरि प्रतिष्ठित प्रतिमा के लेख में यह नाम मिलता है। ओसवालों में रांका गोत्र भी है।

राजगच्छ—मुनि विनयसागर से प्राप्त राजगच्छ पट्टावलि के अनुसार नन्नसूरि से राजगच्छ नाम प्रसिद्ध हुआ। पर प्रभावक चरित्र के अनुसार धनेश्वरसूरि के, त्रिभुवनगिरि के राजा कर्दम भूपति के पुत्र होने व राजमान्य होने से उनसे राजगच्छ नाम पड़ा लिखा है। वही ज्यादा ठीक प्रतीत होता है। इसी गच्छ के धर्मघोषसूरि से धर्मघोष गच्छ निकला। राजगच्छ की पट्टावली का सार जैन सत्य प्रकाश व. ११ अं. ८९ में प्रकाशित है। पट्टावली के अनुसार चैत्र गच्छ से इसका सम्बन्ध था। इस गच्छ के प्रतिमा लेख भी प्राप्त हैं।

रामसेनीय गच्छ—डीसा स वायव्य कोण में १० मील पर रामसेन नामक स्थान से यह गच्छ निकला है। इस गच्छ के कई प्रतिमा लेख प्रकाशित हैं। वडगच्छ पट्टावली के अनुसार यह उस गच्छ की एक शाखा है। सं. १४५४ के लेख से भी यही सिद्ध है।

रुद्रपल्लीय—सं. १२०४ में जिनशेखरसूरि से रुद्रपल्लीय स्थान के नाम से यह प्रसिद्ध हुआ है। इस गच्छ में कई विद्वान ग्रन्थकार हो गये। १७ वीं शताब्दी तक

पट्टावलि प्राप्त हुई है जिसका आवश्यकीय भाग विविध गच्छीय पट्टावली संग्रह में मुद्रित हुआ है। उसके अनुसार इस गच्छ की ८४ शाखायें हुईं जिनमें से निम्नोक्त २५ शाखाओं के नाम उसमें दिये गये हैं—

१. साचोरा	९. मदुडासिया	१७ तपा
२. खेरडिया	१०. मयरुच्छा	१८. भीनमाला
३. आनापुरा	११. दासरुआ	१९. जालउरा
४. गृढाउआ	१२. जीरावला	२०. रामसेणा
५ ओढनिया	१३ मगउडिया	२१ थोरडिया
६ डेवाइआ	१४. ब्रह्माणिया	२२. चित्तउडा
७. घोघराडा	१५. महाहडा	२३. गगेसरा
८. मानहडला	१६. पिप्पलीया	२४ धृचडिया
		२५. सिद्धान्ती

मतृपुरीय [भटेनरा]—ज. धु. प्र. सं. की सं. १३३२ की प्रशस्ति में इस गच्छ का नाम आता है। नामसे इसका निकास भर्तृपुर [मेवाड़-भटेवर ग्राम] से होना स्वयं सिद्ध है।

भावडार गच्छ—सुप्रसिद्ध कालिकाचार्य की संतान का यह नाम पंजाब में पड़ा है। पंजाब में अग्रभी ओसवालों को भावड़ा ही कहते हैं। इस गच्छ के कई प्रतिमा लेख आदि प्रकाशित हैं। मूलतः यह खंडिल गच्छ के कालिकाचार्यसंतानीय भावदेव सूरि से ११ वीं शती में प्रसिद्धि में आया। प्रभावक चरित्र के अनुसार वीराचार्य इस गच्छ के थे ■ पार्श्वनाथ चरित्र के कर्त्ताभावसूरि भी। भावदेव, विजयसिंह, वीर और जिनदेवसूरि ये चार नाम पुनः २ इस गच्छ के पट्टधरों के मिलते हैं। १७ वीं शती तक यह चालू रहा।

भिन्नमाल गच्छ—प्रसिद्ध श्रीमाल नगर का नाम भिन्नमाल भी है। उसी स्थान के नाम से वहा जो समुदाय अधिक समय रहा उसका यह नाम पड़ गया। बड़ गच्छ पट्टावलि में इसे उस गच्छ की एक शाखा मानी है।

मधुकर गच्छ—खरतर गच्छ की शाखा है। दे. खरतरगच्छ। इसके एक अभि लेख में 'चतुर्दशी पक्ष' विशेषण भी पाया जाता है।

महोकराचार्य—(स. १४६६ गुणप्रभसूरि ले.) संभवत मधुकर ही हो।

मडाहडीय—सीरोही राज्य के मडार स्थान से यह नाम पड़ा है। जो हणाद्रा से नैऋत्य में १८ मील, सीरोह से ४० मील व डीसा से ईशान कोण में २४ मील पर अवस्थित है। वड़गच्छ की पट्टावलि के अनुसार यह उसीकी शाखा है। १७ वीं सदी में कवि सारंग इस गच्छ में हो गये हैं। रत्नपुरीय इस गच्छकी एक शाखा थी।

भीमपल्लीय गच्छ — डीसा से पश्चिम दिशा में ८ कोस पर भीलड़ी भीमपल्ली नामक स्थान से इस गच्छ का नाम पड़ा है। इस गच्छ के कतिपय प्रतिमा लेख प्रकाशित हैं। १६ वीं सदी के लेखों से यह पूर्णिमा गच्छ की शाखा ज्ञात होती है।

मल्लधारी इसका मूलनाम हर्षपुरीय गच्छ है जिसका सम्बन्ध हर्षपुर स्थान से है। इस गच्छ के अभयदेवसूरि को कर्ण राजा ने मलमलीन गात्र देख मलधारी कहा। ईसीसे यह गच्छ नाम पड़ा। विशेष जानने के लिये देखें-हर्षपुर गच्छ। इस गच्छ के लेख १३ वीं से १६ वीं तक के मिलते हैं। अभयदेवसूरि आदि कई बड़े बड़े विद्वान भी इस गच्छ में हुए। दे. अलंकार महोदधि की लालचंद गांधी लिखित प्रस्तावना।

मोढ़गच्छी (मोढेरक)—नाहर लेखांक १६९४ के सं. १२२७ के लेख में मोढगच्छे बाय भट्टि संताने जिनभद्राचार्य का प्रतिष्ठायक के रूप में उल्लेख है। गुजरातवर्त्ती मोढेरा नामक स्थान से इसकी प्रसिद्धि हुई है। वहीं से मोढनामक जाति भी प्रसिद्ध हुई।

भावसूरिगच्छ—भावसूरि आचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आबू लेख सन्दोह में एक लेख प्रकाशित है।

यशसूरिगच्छ—ना. ले. ५३० में सं. १२४२ के पंचतीर्थी के लेख में यशसूरिगच्छ का नाम आता है। नाम से यह यशसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुआ स्पष्ट है।

रदुलगच्छ—ना. ले. १६२५ में पंचतीर्थी के सं १५७६ के लेख में यह नाम आता है। पर नाम अशुद्ध पढ़ा गया प्रतीत होता है।

रांकागच्छ—ना. ले. १७८० में सं. १३२० में महीचंद्रसूरि प्रतिष्ठित प्रतिमा के लेख में यह नाम मिलता है। ओसवालों में रांका गोत्र भी है।

राजगच्छ—मुनि विनयसागर से प्राप्त राजगच्छ पट्टावलि के अनुसार नन्नसूरि से राजगच्छ नाम प्रसिद्ध हुआ। पर प्रभावक चरित्र के अनुसार धनेश्वरसूरि के, त्रिभुवनगिरि के राजा कर्दम भूपति के पुत्र होने व राजमान्य होने से उनसे राजगच्छ नाम पड़ा लिखा है। वही ज्यादा ठीक प्रतीत होता है। इसी गच्छ के धर्मघोषसूरि से धर्मघोष गच्छ निकला। राजगच्छ की पट्टावली का सार जैन सत्य प्रकाश व. ११ अं. ८।९ में प्रकाशित है। पट्टावली के अनुसार चैत्र गच्छ से इसका सम्बन्ध था। इस गच्छ के प्रतिमा लेख भी प्राप्त हैं।

रामसेनीय गच्छ—डीसा स वायव्य कोण में १० मील पर रामसेन नामक स्थान से यह गच्छ निकला है। इस गच्छ के कई प्रतिमा लेख प्रकाशित हैं। वडगच्छ पट्टावली के अनुसार यह उस गच्छ की एक शाखा है। सं. १४५४ के लेख से भी यही सिद्ध है।

रुद्रपल्लीय—सं. १२०४ में जिनशेखरसूरि से रुद्रपल्लीय स्थान के नाम से यह प्रसिद्ध हुआ है। इस गच्छ में कई विद्वान ग्रन्थकार हो गये। १७ वीं शताब्दी तक

इसके यति विद्यमान थे। यह खरतर गच्छ की शाखा है।

लाटहद गच्छ—लाटहृद नामक स्थान के नाम से ही यह प्रसिद्धि में आया है। इस गच्छ के पूर्णभद्र का प्रतिष्ठित एक धातु प्रतिमा लेख हमारे बीकानेर जैनलेख संग्रह में संग्रहित है जो लिपि की दृष्टि से ९ वीं शती का प्रतीत होता है।

लुपक—लौंकागच्छ—सं. १५३० के लगभग लौंकाशाह नामक श्रावक से यह मत निकला। इसका मुख्य मतभेद जिन प्रतिमा की पूजा को न मानना है। लौंकाशाह स्वयं दीक्षित नहीं हुए। इस मत का प्रचार पारख लखमसी व ऋ० भाणा के द्वारा हुआ। थोड़े समय में ही यह कई शाखाओं में विभक्त हो गया। यथा—

१ पारखमती—लखमसी पारख से यह नाम पड़ने का उल्लेख मिलता है।

२ गुजराती गच्छ—सं. १५५२ में रूपा गुजराती से यह शाखा निकली। जिसकी गद्दी अब भी बड़ौदा में है। इस शाखा की पट्टावली देसाई ने जै. गु. क. भा. ३ के परिशिष्ट में संक्षेप से दी है।

३ उत्तराधी सरावामती—पूर्व परिचय दिया जा चुका है।

४ नागौरी—सं. १५८१ में नागौर के रूपचंद, हीरागर व सीचड़ गांधी से यह प्रसिद्ध हुआ। इसके दो उपासरे बीकानेर में हैं, श्रीपूज्य नहीं हैं। इस गच्छ की संस्कृत भाषा की पट्टावली हमारे संग्रह में है।

५ रामूमती	६ कउरउमती
७ सीहामती	८ मानिगमती
९ दरूगामती	१०. साकरमती
११ वीकामती	१२ पासामिती
१३ वीतामती	

हमारे संग्रह के १७ वीं के उत्तरार्द्ध में लिखित पत्र में इन १३ समुदायों का उल्लेख है। इनमें अधिकतर ऋषियों व कुछ स्थानों के नाम से प्रचलित हुई। विजय गच्छ भी वास्तव में इसी लौंका के समुदाय में से निकला है जिसका परिचय आगे दिया जायगा।

इसी मत में से सं. १७०० के लगभग लवजीऋषि से स्थानकवासी सम्प्रदाय निकला जोकि बहुत शीघ्र सर्वत्र फैल गया। संप्रदाय के प्रारंभ में २२ साधुओं का समुदाय होने से बाइसटोले कहलाये व शून्य-ढूंढे से स्थान में ठहरने से ढूंढिया कहलाये। क्रमशः संख्या बढ़ने के साथ इनमें से अनेक संघाडे हैं। अभी इस सम्प्रदाय के सैकड़ों साधु आर्यिकायें व लाखों श्रावक विद्यमान हैं। इनकी अनेक शाखा, सम्प्रदायों के विषय में ऐतिहासिक नोंध देखना चाहिये। मंदिर को माननेवाले

मंदिरमार्गी कहलाते हैं, उसी तरह इसमें उसके स्थान पर साधुमान्य होने से साधुमार्गी।

सं. १८१८ में रघुनाथजी के शिष्य भीखमजी से तेरापंथी सम्प्रदाय का जन्म हुआ। जिन प्रतिमा के अतिरिक्त दयादान सम्बन्ध में भी इनका अन्यों से मतभेद है। २०० वर्षों में इस सम्प्रदाय ने आशातीत सफलता प्राप्त की। आज ६५० करीब संत व सतियां व लक्षाधिक श्रावकादि इसके अनुयायी हैं। विशेष जानने के लिये तेरा पंथी पट्टावली, संतश्री भीखमजी व विवरण पत्रिका में प्रकाशित लेख देखने चाहिये। तेरापंथी साम्प्रदाय के नवम पट्टधर अभी आचार्य तुलसी हैं।

लोउअगच्छ — आबू लेख संदोह के ले. ५२२ में सं. १२९३ के लेख में यह नाम मिलता है।

वायडगच्छ — डीसा (जिल्ला पालणपुर) के पास वायड ग्राम है। किसी समय यह महास्थान था। उसीके नाम से वायड जाति व वायडगच्छ का नामकरण हुआ है। वायडगच्छ नाम संभवतः ६-७ शती में प्रसिद्धि में आया। इसके पट्टधरों के नाम जिनदत्तसूरि, राशिल्लसूरि, व जीवदेवसूरि ये तीन नाम ही पुनः २ आते हैं। विवेक विलास व शकनशास्त्र ग्रन्थ के रचयिता जिनदत्तसूरि व वालभारतकाव्य कल्पलता, पद्मानंद काव्यादि के रचयिता कविवर अमरचंद्रसूरि इसी गच्छ में हुए हैं।

वालमगच्छ — यह संडेर गच्छ का पूर्ववर्त्ती नाम होने का उल्लेख जिनविजय प्रकाशित जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह के प्रशस्ति नं. ९१ में पाया जाता है।

विधिपक्ष — दे. अंचलगच्छ।

विद्याधर गच्छ — संभवतः विद्याधर कुल ही पीछे से गच्छरूप में प्रसिध्दि में आया। इस गच्छ के कुछ प्रतिमा लेख प्रकाशित हैं।

वीजामती (विजयगच्छ) — लोंकाशाह की संतति में ऋषि वीजा (या विजय) से इसका नाम पड़ा है। यद्यपि वर्तमान श्रीपूज्य अपनी परम्परा भिन्न रूप से बतलाते हैं, पर वास्तव में सं. १५३२ से ४४ के बीचमें यह वीजा ऋषि से ही पृथक हुआ। कोटा में इस गच्छ के सुमतिसागर सूरि अब भी विद्यमान हैं।

संडेरगच्छ (षंडेरक) — जोधपुर राज्य के नाणा से उत्तर में १८ माइल पर सांडेराव नामक स्थान है। यह गच्छ उसी स्थान के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह की प्रशस्ति न. अनुसार इसका पूर्वनाम वालभगच्छ था। सं. ९६४ के लगभग के आ. यशोभद्रसूरि, शालिसूरि, सुमतिसूरि, शांतिसूरि, ईश्वरसूरि हुए। इस गच्छ में यशोभद्र, बलभद्र, व क्षमर्षि ये आचार्य बड़े प्रभावक होगये हैं। इनके सम्बन्ध में संस्कृत में प्रबन्ध व भाषा में लावण्यसमय रचित रास उपलब्ध हैं। १७ वीं शती तक के इस गच्छ के अभिलेख प्रकाशित हैं। विशेष जानने के लिये ऐ. रा. सं. भा. २.

इसके यति विद्यमान थे। यह खरतर गच्छ की शाखा है।

लाटह्रद गच्छ— लाटह्रद नामक स्थान के नाम से ही यह प्रसिद्धि में आया है। इस गच्छ के पूर्णभद्र का प्रतिष्ठित एक धातु प्रतिमा लेख हमारे बीकानेर जैनलेख संग्रह में संग्रहित है जो लिपि की दृष्टि से ९ वीं शती का प्रतीत होता है।

लुपक—लोंकागच्छ——सं. १५३० के लगभग लोंकाशाह नामक श्रावक से यह मत निकला। इसका मुख्य मतभेद जिन प्रतिमा की पूजा को न मानना है। लोंकाशाह स्वयं दीक्षित नहीं हुए। इस मत का प्रचार पारख लखमसी व ऋ० भाणा के द्वारा हुआ। थोड़े समय में ही यह कई शाखाओं में विभक्त हो गया। यथा—

१ पारखमती— लखमसी पारख से यह नाम पड़ने का उल्लेख मिलता है।

२ गुजरातीगच्छ — सं. १५५२ में रूपा गुजराती से यह शाखा निकली। जिनकी गद्दी अब भी बड़ौदा में है। इस शाखा की पट्टावली देशाई ने जै. गु. क. भा. ३ के परिशिष्ट में संक्षेप से दी है।

३ उत्तराधी—मरोटामती—पूर्व परिचय दिया जा चुका है।

४ नागौरी—सं. १५८१ में नागौर के रूपचंद, हीरागर व सीवह गाधी से यह प्रसिद्ध हुआ। इसके दो उपासरे बीकानेर में हैं, श्रीपूज्य नहीं हैं। इस गच्छ की संस्कृत भाषा की पट्टावली हमारे संग्रह में है।

५ रामूमती
६ कउरउमती
७ सीहामती
८ मानिगमती
९. दरुगामती
१०. सारूरमती
११ बीदामती
१२ पासामिती
१३ वीनामती

हमारे संग्रह के १७ वीं के उत्तरार्द्ध में लिखित पत्र में इन १३ समुदायों का उल्लेख है। इनमें अधिकतर ऋषियों व कुछ स्थानों के नाम से प्रचलित हुई। विजय गच्छ भी वास्तव में इसी लोंका के समुदाय में से निकला है जिसका परिचय आगे दिया जायगा।

इसी मत में से सं. १७०० के लगभग लवजीऋषि से स्थानकवासी सम्प्रदाय निकला जोकि बहुत शीघ्र सर्वत्र फैल गया। सम्प्रदाय के प्रारंभ में २२ साधुओं का समुदाय होने से बाइसटोले कहलाये व शून्य—ढूंढे से स्थान में ठहरने से ढूंढिया कहलाये। क्रमशः संख्या बढ़ने के साथ इनमें से अनेक सघाड़े हैं। अभी इस सम्प्रदाय के सैकड़ों साधु आर्यिकाएं व लाखों श्रावक विद्यमान हैं। इनकी अनेक शाखा, सम्प्रदायों के विषय में ऐतिहासिक नोंध देखना चाहिये। मंदिर को माननेवाले

मंदिरमार्गी कहलाते हैं, उसी तरह इसमें उसके स्थान पर साधुमान्य होने से साधुमार्गी।

सं. १८१८ में रघुनाथजी के शिष्य भीखमजी से तेरापंथी सम्प्रदाय का जन्म हुआ। जिन प्रतिमा के अतिरिक्त दयादान सम्बन्ध में भी इनका अन्यों से मतभेद है। २०० वर्षों में इस सम्प्रदाय ने आशातीत सफलता प्राप्त की। आज ६५० करीब संत व सतियां व लक्षाधिक श्रावकादि इसके अनुयायी हैं। विशेष जानने के लिये तेरा पंथी पट्टावली, संतश्री भीखमजी व विवरण पत्रिका में प्रकाशित लेख देखने चाहिये। तेरापंथी साम्प्रदाय के नवम पट्टधर अभी आचार्य तुलसी हैं।

लोडअगच्छ—आबू लेख संदोह के ले. ५२२ में सं. १२९३ के लेख में यह नाम मिलता है।

वायडगच्छ—डीसा (जिल्ला पालणपुर) के पास वायड ग्राम है। किसी समय यह महास्थान था। उसीके नाम से वायट जाति व वायडगच्छ का नामकरण हुआ है। वायडगच्छ नाम संभवतः ६-७ शती में प्रसिद्धि में आया। इसके पट्टधरों के नाम जिनदत्तसूरि, राशिल्लसूरि, व जीवदेवसूरि ये तीन नाम ही पुनः २ आते हैं। विवेक विलास व शकुनशास्त्र ग्रन्थ के रचयिता जिनदत्तसूरि व बालभारतकाव्य कल्पलता, पद्मानंद काव्यादि के रचयिता कविवर अमरचंद्रसूरि इसी गच्छ में हुए हैं।

वालभगच्छ—यह संडेर गच्छ का पूर्ववर्त्ती नाम होने का उल्लेख जिनविजय प्रकाशित जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह के प्रशस्ति नं. ९१ में पाया जाता है।

विधिपक्ष—दे. अंचलगच्छ।

विद्याधर गच्छ—संभवतः विद्याधर कुल ही पीछे से गच्छरूप में प्रसिद्धि में आया। इस गच्छ के कुछ प्रतिमा लेख प्रकाशित हैं।

बीजामती (विजयगच्छ)—लोंकाशाह की संतति में ऋषि बीजा (या विजय) से इसका नाम पड़ा है। यद्यपि वर्तमान श्रीपूज्य अपनी परम्परा भिन्न रूप से बतलाते हैं, पर वास्तव में सं. १५२२ से ४४ के बीचमें यह बीजा ऋषि से ही पृथक हुआ। कोटा में इस गच्छ के सुमतिसागर सूरि अब भी विद्यमान हैं।

संडेरगच्छ (षंडेरक)—जोधपुर राज्य के नाणा से उत्तर में १८ माइल पर सांडेराव नामक स्थान है। यह गच्छ उसी स्थान के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह की प्रशस्ति न. अनुसार इसका पूर्वनाम वालभगच्छ था। सं. ९६४ के लगभग के आ. यशोभद्रसूरि, शालिसूरि, सुमतिसूरि, शांतिसूरि, ईश्वरसूरि हुए। इस गच्छ में यशोभद्र, बलभद्र, व क्षमर्षि ये आचार्य बड़े प्रभावक होगये हैं। इनके सम्बन्ध में संस्कृत में प्रबन्ध व भाषा में लावण्यसमय रचित रास उपलब्ध हैं। १७ वीं शती तक के इस गच्छ के अभिलेख प्रकाशित हैं। विशेष जानने के लिये ऐ. रा. सं. भा. २.

इसके यति विद्यमान थे। यह खरतर गच्छ की शाखा है।

लाटहृद गच्छ—लाटहृद नामक स्थान के नाम से ही यह प्रसिद्धि में आया है। इस गच्छ के पूर्णभद्र का प्रतिष्ठित एक धातु प्रतिमा लेख हमारे बीकानेर जैनलेख संग्रह में संग्रहित है जो लिपि की दृष्टि से ९ वीं शती का प्रतीत होता है।

लुंपक—लोंकागच्छ—सं. १५३० के लगभग लोंकाशाह नामक श्रावक से यह मत निकला। इसका मुख्य मतभेद जिन प्रतिमा की पूजा को न मानना है। लोंकाशाह स्वयं दीक्षित नहीं हुए। इस मत का प्रचार पारख लखमसी व ऋ० भाणा के द्वारा हुआ। थोड़े समय में ही यह कई शाखाओं में विभक्त हो गया। यथा—

१ पारखमती—लखमसी पारख से यह नाम पड़ने का उल्लेख मिलता है।

२ गुजरातीगच्छ—सं. १५४२ में रूपा गुजराती से यह शाखा निकली। जिसकी गद्दी अब भी बड़ौदा में है। इस शाखा की पट्टावली देसाई ने जै. गु. क. भा. ३ के परिशिष्ट में संक्षेप से दी है।

३. उत्तरार्धी-नरायामती-पूर्व परिचय दिया जा चुका है।

४ नागौरी- सं. १५८१ में नागौर के रूपचंद, हीरागर व सीचड़ गांधी से यह प्रसिद्ध हुआ। इसके दो उपासरे बीकानेर में हैं, श्रीपूज्य नहीं हैं। इस गच्छ की संस्कृत भाषा की पट्टावली हमारे संग्रह में है।

५ रामूमती ६ कडउयमती
७ सीहामती ८ नानिगमती
९. वृकगामती १०. साकरमती
११ पीढामती १२ पासामिती
१३ दीनामती

हमारे संग्रह के १७ वीं के उत्तरार्द्ध में लिखित पत्र में इन १३ समुदायों का उल्लेख है। इनमें अधिकतर ऋषियों व कुछ स्थानों के नाम से प्रचलित हुई। विजय गच्छ भी वास्तव में इसी लोंका के समुदाय में से निकला है जिसका परिचय आगे दिया जायगा।

इसी मत में से सं. १७०० के लगभग लवजीऋषि से स्थानकवासी सम्प्रदाय निकला जोकि बहुत शीघ्र सर्वत्र फैल गया। सम्प्रदाय के प्रारंभ में २२ साधुओं का समुदाय होने से बाइसटोले कहलाये व शून्य-ढूंढे से स्थान में ठहरने से ढूंढिया कहलाये। क्रमशः संख्या बढ़ने के साथ इनमें से अनेक संघाड़े हैं। अभी इस सम्प्रदाय के सैकड़ों साधु आर्यिकाएं व लाखों श्रावक विद्यमान हैं। इनकी अनेक शाखा, सम्प्रदायों के विषय में ऐतिहासिक शोध देखना चाहिये। मंदिर को माननेवाले

मंदिरमार्गी कहलाते हैं, उसी तरह इसमें उसके स्थान पर साधुमान्य होने से साधुमार्गी।

सं. १८१८ में रघुनाथजी के शिष्य भीखमजी से तेरापंथी सम्प्रदाय का जन्म हुआ। जिन प्रतिमा के अतिरिक्त दयादान सम्बन्ध में भी इनका अन्यों से मतभेद है। २०० वर्षों में इस सम्प्रदाय ने आशातीत सफलता प्राप्त की। आज ६५० करीब संत व सतियां व लक्षाधिक श्रावकादि इसके अनुयायी हैं। विशेष जानने के लिये तेरा पंथी पट्टावली, संतश्री भीखमजी व विवरण पत्रिका में प्रकाशित लेख देखने चाहिये। तेरापंथी साम्प्रदाय के नवम पट्टधर अभी आचार्य तुलसी हैं।

लोउअगच्छ — आबू लेख संदोह के ले. ५२२ में सं. १२९३ के लेख में यह नाम मिलता है।

वायडगच्छ — डीसा (जिल्ला पालणपुर) के पास वायड ग्राम है। किसी समय यह महास्थान था। उसीके नाम से वायड जाति व वायडगच्छ का नामकरण हुआ है। वायडगच्छ नाम संभवतः ६-७ शती में प्रसिद्धि में आया। इसके पट्टधरों के नाम जिनदत्तसूरि, राशिल्लसूरि, व जीवदेवसूरि ये तीन नाम ही पुनः २ आते हैं। विवेक विलास व शकुनशास्त्र ग्रन्थ के रचयिता जिनदत्तसूरि व बालभारतकाव्य कल्पलता, पद्मानंद काव्यादि के रचयिता कविवर अमरचंद्रसूरि इसी गच्छ में हुए हैं।

वालभगच्छ — यह संडेर गच्छ का पूर्ववर्ती नाम होने का उल्लेख जिनविजय प्रकाशित जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह के प्रशस्ति नं. ९१ में पाया जाता है।

विधिपक्ष — दे. अंचलगच्छ।

विद्याधर गच्छ — संभवतः विद्याधर कुल ही पीछे से गच्छरूप में प्रसिद्धि में आया। इस गच्छ के कुछ प्रतिमा लेख प्रकाशित हैं।

बीजामती (विजयगच्छ) — लोंकाशाह की संतति में ऋषि बीजा (या विजय) से इसका नाम पड़ा है। यद्यपि वर्तमान श्रीपूज्य अपनी परम्परा भिन्न रूप से बतलाते हैं, पर वास्तव में सं. १५२२ से ४४ के बीचमें यह बीजा ऋषि से ही पृथक हुआ। कोटा में इस गच्छ के सुमतिसागर सूरि अब भी विद्यमान हैं।

संडेरगच्छ (षंडेरक) — जोधपुर राज्य के नाणा से उत्तर में १८ माइल पर सांडेराव नामक स्थान है। यह गच्छ उसी स्थान के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह की प्रशस्ति न. अनुसार इसका पूर्वनाम वालभगच्छ था। सं. ९६४ के लगभग के आ. यशोभद्रसूरि, शालिसूरि, सुमतिसूरि, शांतिसूरि, ईश्वरसूरि हुए। इस गच्छ में यशोभद्र, बलभद्र, व क्षमर्षि ये आचार्य बड़े प्रभावक होगये हैं। इनके सम्बन्ध में संस्कृत में प्रबन्ध व भाषा में लावण्यसमय रचित रास उपलब्ध हैं। १७ वीं शती तक के इस गच्छ के अभिलेख प्रकाशित हैं। विशेष जानने के लिये ऐ. रा. सं. भा. २.

इसके यति विद्यमान थे। यह खरतर गच्छ की शाखा है।

लाटह्रद गच्छ—लाटह्रद नामक स्थान के नाम से ही यह प्रसिद्धि में आया है। इस गच्छ के पूर्णभद्र का प्रतिष्ठित एक धातु प्रतिमा लेख हमारे बीकानेर जैनलेख संग्रह में संग्रहित है जो लिपि की दृष्टि से ९ वीं शती का प्रतीत होता है।

लुंपक—लोंकागच्छ——सं. १५३० के लगभग लोंकाशाह नामक श्रावक से यह मत निकला। इसका मुख्य मतभेद जिन प्रतिमा की पूजा को न मानना है। लोंकाशाह स्वयं दीक्षित नहीं हुए। इस मत का प्रचार पारख लखमसी व ऋ० भाणा के द्वारा हुआ। थोड़े समय में ही यह कई शाखाओं में विभक्त हो गया। यथा—

१ पारखमती—लखमसी पारख से यह नाम पडने का उल्लेख मिलता है।

२ गुजरातीगच्छ—सं. १५४२ में रूपा गुजराती से यह शाखा निकली। जिसकी गद्दी अब भी बडौदा में है। इस शाखा की पट्टावली देसाई ने जै. गु. क. भा. ३ के परिशिष्ठ में संक्षेप से दी है।

३ उत्तरार्धी-मरोत्तमती-पूर्व परिचय दिया जा चुका है।

४ नागौरी- सं. १५८१ में नागौर के रूपचंद, हीराचंद व सीचंद गांधी से यह प्रसिद्ध हुआ। इसके दो उपासरे बीकानेर में हैं, श्रीपूज्य नहीं हैं। इस गच्छ की संस्कृत भाषा की पट्टावली हमारे संग्रह में है।

५ रामूमती	६ कउरउमती
७ सीहामती	८ नानिगमती
९. दरूगामती	१०. साकरमती
११ वीवामती	१२ पासामिती
१३ दीनामती	

हमारे संग्रह के १७ वीं के उत्तरार्द्ध में लिखित पत्र में इन १३ समुदायों का उल्लेख है। इनमें अधिकतर ऋषियों व कुछ स्थानों के नाम से प्रचलित हुई। विजय गच्छ भी वास्तव में इसी लोंका के समुदाय में से निकला है जिसका परिचय आगे दिया जायगा।

इसी मत में से सं. १७०० के लगभग लवजीऋषि से स्थानकवासी सम्प्रदाय निकला जोकि बहुत शीघ्र सर्वत्र फैल गया। सम्प्रदाय के प्रारंभ में २२ साधुओं का समुदाय होने से बाइसटोले कहलाये व शून्य-ढूंढे से स्थान में ठहरने से ढूंढिया कहलाये। क्रमशः संख्या बढने के साथ इनमें से अनेक संघाड़े हैं। अभी इस सम्प्रदाय के सैकड़ों साधु आर्यिकाएं व लाखों श्रावक विद्यमान हैं। इनकी अनेक शाखा, सम्प्रदायों के विषय में ऐतिहासिक शोध देखना चाहिये। मंदिर को माननेवाले

काठियावाड) से ही इसका सम्बन्ध होने से यह नाम पड़ा है । शालीने ग्रन्थ मांगरोल में बनाये हैं । अतः वहां इस की गद्दी व प्रभुत्व होगया ।

हर्षपुरीय गच्छ — हर्षपुर से इस गच्छ का नाम पड़ा है जो कि संभवतः हरसोर नामक स्थान है । दर्शन दिक्ताजी आदि कई विद्वानों ने इसे अजमेर के निकटवर्त्ती हांसोट लिखा है पर मेरी राय में मकराने के पास का हरसोर है ।

कल्पसूत्र स्थविरा में कोटिक गण के प्रश्नवाहण कुल का उल्लेख मिलता है । यह गच्छ उसी कुल में से निकला है । इसी गच्छ के अभयदेवसूरि को जयसिंह या कर्ण राजा के मलधारी कहने से मलधारी गच्छ नाम पड़ा । इस गच्छ में अनेक विद्वान हुए जिनके सम्बन्ध में पाटण भंडार सूची व अलंकार महोदधिकी प्रस्तवना देखना चाहिये ।

हयकपुरीयगच्छ — चिन्तामणि भंडारस्थ धातु प्रतिमा लेख (सं. १२३७ का) इस गच्छ के नामोल्लेख वाला पाया जाता है ।

हस्तिकुंडी-हथुंडीगच्छ — जोधपुर राज्य के हथुंडी नामक ग्राम से सं. ९९६ व १०५३ के इस के शिलालेख प्राप्त हुए हैं। उसी स्थान के नाम से यह संडेरगच्छ में से बलभद्र (वासुदेवसूरि) से शाखा निकली । ये बलभद्राचार्य बड़े प्रभावक हुए । इनके उपदेश से विदग्धराज ने हस्तिकुंडी में सं. ९७३ में जैन मंदिर बनवाया । इनके सम्बन्ध में विशेष जानने के लिये देखें—संडेरगच्छ प्रबन्ध संग्रह व ऐ. रा. सं. भा. २ ।

हारीजगच्छ — पाटण और संखेश्वर के मध्यवर्त्ती हारीज नामक स्थान से यह गच्छ प्रसिद्ध में आया । इसके १४ वीं से १६ वीं शती तक के लेख प्रकाशित हैं । इस गच्छ के नेमिचंद्रसूरि ने तरंगवती कथा संक्षेप व ऋषभ पंचाशिका वृत्ति बनाई ।

हुंबडगच्छ — हुंबड स्थान से ही इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है जहाँ से हुंबड नामक जाति प्रसिद्धि में आई । इस गच्छ के १५ वीं शती के लेख प्रकाशित हैं ।

हीरापल्ली — इस गच्छ का एक लेख सं. १४२९ वीरचंदसूरिप्रतिष्ठित प्राचीन लेख संग्रह में प्रकाशित है । संभवतः जीरापल्ली को अशुद्ध पढ़े जाने के कारण ही यह नाम छपा है । यदि पाठ शुद्ध है तो हीरापल्ली नामक किसी स्थान से उत्पत्ति हुई है । बुद्धिसागरसूरिजी ने इसे बीजापुर के निकटवर्ती हीरपुर होने का अनुमान किया है । प्राचीन लेख संग्रह लेखांक ८० में हीरापल्ली नाम आया है ।

अब कतिपय शंकाशील गच्छ नामों का निर्देश भी यहां कर दिया जाता है—

१. विजयधर्मसूरि संग्रहित प्राचीन लेख संग्रह भा. १ में से —

a) उढव एवं कूवड गच्छों के नाम विचारणीय हैं । वे अशुद्ध नहीं पढ़े गये हो ।

b) ले. ४०० में खंडेरवाल नाम आता है । उसे गच्छ सूची में खंडेरवाल के

देखना चाहिये । माडेरयगच्छ की आचार्य-परम्परादिका परिचय पट्टावली समुच्चय भा २ पृ २ ३ में दिया है ।

आगे आनेवाला हस्तिकुडी—हथुंडी गच्छ भी इसी गच्छ की शाखा है।

सत्यपुरीय—बृहद्गच्छ की शाखा है। १४ वीं १५ वीं शतीके लेख प्राप्त हैं । मारवाड राज्य के साचौर (सत्यपुर) से इसकी प्रसिद्ध हुई ।

सुराणगच्छ—सम्भवत धर्मघोषसूरिजी ने सुराणों को प्रतिबोध दिया जिनके वंशज आज भी सुराणा कहलाते हैं। उसी गोत्र से इसका सम्बन्ध है ।

सरवालगच्छ—नाहरजी के जैन लेख संग्रह का प्रथम लेख स ११३० का इसी गच्छ का है। स ११७४ से १२१८ के ४ लेख जिनेश्वरसूरि स्मारक के प्राचीन लेख सग्रह में प्रकाशित हैं। पिंड निर्युक्ति वृत्ति (स ११६९) के रचयिता वीरगणि ने भी अपना चन्द्रगच्छ-सरवाल गच्छ बतलाया है।

सागरगच्छ—तपा गच्छ की शाखा है। देखें-तपागच्छ।

साधुपूर्णिमा—पूर्णिमा गच्छ की यह शाखा सं १२३६ में पृथक हुई । इसके बहुत से अभिलेख प्रकाशित हैं ।

सावदेवाचार्यगच्छ—सावदेव नामक आचार्य के नाम से निकला । धातु प्रतिमा लेख सग्रह भा २ ले १०८३ में स ११६८ के लेख में यह नाम आता है ।

सुधर्मगच्छ—पार्श्वचन्द्रसूरि के प्रशिष्य वहांपिविनयदेवसूरि ने अपना मत इस नाम से स १६०२ में चलाया। इस गच्छ के आचरणादि के लिए दे सुधर्मगच्छ परीक्षा ऐ रास सग्रह भा ३

सुधर्मबृहत्तपागच्छ—२० वीं शताब्दी में श्रीमद्राजेन्द्रसूरिजी ॥ ने इसे स्थापित किया है। इसको त्रिस्तुतिक (तीन थुई) गच्छ भी कहते हैं। इन्होंने श्री अभिधान राजेन्द्र कोशादि ६४ ग्रन्थों की रचना की है। वर्तमान में श्री यतीन्द्रसूरिजी इस गच्छ के आचार्य हैं। मारवाड, माल्वा-नेमाड और गुजरात में उनके अनेक श्रावक अनुयायी हैं ।

सुविहितगच्छ—धातु प्रतिमा लेख संग्रह में नाम है, पर लेख में गच्छ अक्षुण्ण होनेसे यह विशेषण ही लगता है ।

सैद्धान्तिक गच्छ (सैद्धान्तीय)—सैद्धान्तिक विषयों की प्रधानता से यह नाम पडा । वडगच्छ पट्टावलि के अनुसार यह उसीकी शाखा है । १५ वीं शती के लेख प्राप्त हैं ।

सोरठगच्छ—इस गच्छ के ज्ञानचंद्रसूरि के रचित कई रास, चौपई (स १५६८ से १६०९ में) का उल्लेख जै ॥ भा ३ पृ ५४३ में मिलता है । सोरठ देश (सौराष्ट्र

काठियावाड़) से ही इसका सम्बन्ध होने से यह नाम पड़ा है। शालीने ग्रन्थ मांगरोल में बनाये हैं। अतः वहां इस की गद्दी व प्रभुत्व होगया।

हर्षपुरीय गच्छ—हर्षपुर से इस गच्छ का नाम पड़ा है जो कि संभवतः हरसोर नामक स्थान है। दर्शन दिक्काजी आदि कई विद्वानों ने इसे अजमेर के निकटवर्त्ती हांसोट लिखा है पर मेरी राय में मकराने के पास का हरसोर है।

कल्पसूत्र स्थविरा में कोटिक गण के प्रश्नवाहण कुल का उल्लेख मिलता है। यह गच्छ उसी कुल में से निकला है। इसी गच्छ के अभयदेवसूरि को जयसिंह या कर्ण राजा के मलधारी कहने से मलधारी गच्छ नाम पड़ा। इस गच्छ में अनेक विद्वान हुए जिनके सम्बन्ध में पाटण भंडार सूची व अलंकार महोदधिकी प्रस्तवना देखना चाहिये।

हयकपुरीयगच्छ—चिन्तामणि भंडारस्थ धातु प्रतिमा लेख (सं. १२३७ का) इस गच्छ के नामोल्लेख वाला पाया जाता है।

हस्तिकुंडी-हथुंडीगच्छ—जोधपुर राज्य के हथुंडी नामक ग्राम से सं. ९९६ व १०५३ के इस के शिलालेख प्राप्त हुए हैं। उसी स्थान के नाम से यह संडेरगच्छ में से बलभद्र (वासुदेवसूरि) से शाखा निकली। ये बलभद्राचार्य बड़े प्रभावक हुए। इनके उपदेश से विदग्धराज ने हस्तिकुंडी में सं. ९७३ में जैन मंदिर बनवाया। इनके सम्बन्ध में विशेष जानने के लिये देखें—संडेरगच्छ प्रबन्ध संग्रह व ऐ. रा. सं. भा. २।

हारीजगच्छ—पाटण और संखेश्वर के मध्यवर्त्ती हारीज नामक स्थान से यह गच्छ प्रसिद्ध में आया। इसके १४ वीं से १६ वीं शती तक के लेख प्रकाशित हैं। इस गच्छ के नेमिचंद्रसूरि ने तरंगवती कथा संक्षेप व ऋषभ पंचाशिका वृत्ति बनाई।

हुंबडगच्छ—हुंबड स्थान से ही इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है जहाँ से हुंबड नामक जाति प्रसिद्धि में आई। इस गच्छ के १५ वीं शती के लेख प्रकाशित हैं।

हीरापल्ली—इस गच्छ का एक लेख सं. १४२९ वीरचंदसूरिप्रतिष्ठित प्राचीन लेख संग्रह में प्रकाशित है। संभवतः जीरापल्ली को अशुद्ध पढ़े जाने के कारण ही यह नाम छपा है। यदि पाठ शुद्ध है तो हीरापल्ली नामक किसी स्थान से उत्पत्ति हुई है। बुद्धिसागरसूरिजी ने इसे बीजापुर के निकटवर्ती हीरपुर होने का अनुमान किया है। प्राचीन लेख संग्रह लेखांक ८० में हीरापल्ली नाम आया है।

अब कतिपय शंकाशील गच्छ नामों का निर्देश भी यहां कर दिया जाता है—

१. विजयधर्मसूरि संग्रहित प्राचीन लेख संग्रह भा. १ में से—

a) उढव एवं कूबड गच्छों के नाम विचारणीय हैं। वे अशुद्ध नहीं पढ़े गये हो।

b) ले. ४०० में खंडेरवाल नाम आता है। उसे गच्छ सूची में खंडेरवाल के

देखना चाहिये। साडेरवगच्छ की आचार्य-परम्परादिका परिचय पट्टावली समुच्चय भा २ के पृ २ ३ में दिया है।

आगे आनेवाला हस्तिकुंडी—हथुंडी गच्छ भी इसी गच्छ की शाखा है।

सत्यपुरीय—बृहद्गच्छ की शाखा है। १४ वीं १५ वीं शतीके लेख प्राप्त हैं। मारवाड राज्य के साचौर (सत्यपुर) से इसकी प्रसिद्ध हुई।

सुराणगच्छ—संभवत धर्मघोषसूरिजी ने सुराणों को प्रतिबोध दिया जिनके वशज आज भी सुराणा कहलाते हैं। उसी गोत्र से इसका सम्बन्ध है।

सरवालगच्छ—नाहरजी के जैन लेख संग्रह का प्रथम लेख स ११९० का इसी गच्छ का है। स ११७४ से १२१८ के ४ लेख जिनेश्वरसूरि स्मारक के प्राचीन लेख संग्रह में प्रकाशित है। पिंड नियुक्ति वृत्ति (स ११६९) के रचयिता वीरगणि ने भी अपना चन्द्रगच्छ-सरवाल गच्छ बतलाया है।

सागरगच्छ—तपा गच्छ की शाखा है। देखें-तपागच्छ।

साधुपूर्णिमा—पूर्णिमा गच्छ की यह शाखा स १२३६ में पृथक हुई। इसके बहुत से अभिलेख प्रकाशित हैं।

सावदेवाचार्यगच्छ—सावदेव नामक आचार्य के नाम से निकला। धातु प्रतिमा लेख संग्रह भा २ ले १०८३ में स ११६८ के लेख में यह नाम आता है।

सुधर्मगच्छ—पार्श्वचन्द्रसूरि के प्रशिष्य ब्रह्मर्षिविनयदेवसूरि ने अपना मत इस नाम से स १६०२ में चलाया। इस गच्छ के आचरणादि के लिए दे सुधर्मगच्छ परीक्षा ऐ रास संग्रह भा ३

सुधर्मबृहत्तपागच्छ—२० वीं शताब्दी में श्रीमद्राजेन्द्रसूरिजी म ने इसे स्थापित किया है। इसको त्रिस्तुतिक (तीन थुई) गच्छ भी कहते हैं। इन्होंने श्री अभिधान राजेन्द्र कोषादि ६४ ग्रन्थों की रचना की है। वर्तमान में श्री यतीन्द्रसूरिजी इस गच्छ के आचार्य हैं। मारवाड, मालवा-नेमाड और गुजरात में उनके अनेक श्रावक अनुयायी हैं।

सुविहितगच्छ—धातु प्रतिमा लेख संग्रह में नाम है, पर लेख में गच्छ अक्षुण्ण होनेसे यह विशेषण ही लगता है।

सैद्धान्तिक गच्छ (सैद्धान्तीय)—सैद्धान्तिक विषयों की प्रधानता से यह नाम पडा। वडगच्छ पट्टावलि के अनुसार यह उसीकी शाखा है। १४ वीं शती के लेख प्राप्त हैं।

सोरठगच्छ—इस गच्छ के ज्ञानचन्द्रसूरि के रचित कई रास, चौपई (सं १५६८ से ११९० में) का उल्लेख जै गु भा ३ पृ ५४३ में मिलता है। सोरठ देश (सौराष्ट्र

१६. ले. २२३२ में वापटीय अशुद्ध छपा है, वायडीय होना चाहिये।

(४) धातुप्रतिमा लेख संग्रह से —

भा. १ के गच्छ व आचार्य नामसूची में,

पृ. ३८ में शशरे गच्छ छपा है, संडेर चाहिये।

पृ. ३९ में किन्नरस गच्छ छपा है। वह कृष्णर्षिगच्छ न हो!

पृ. ३९ में जेरंडगच्छ छपा है। वह अशुद्ध प्रतीत होता है।

पृ. ४० में नाणेद्र गच्छ छपा है। वहां नागेन्द्र चाहिये।

पृ. ४० में तिहुणा गच्छ छपा है। वह भी अशुद्ध है।

भा. २ ले. १३ में नागर (नागेन्द्र) छपा है। वह नागेन्द्र ही संभव है।

पृ. २४६ में गच्छ नाम सूची में सुविहित गच्छ छपा है, पर लेख में गच्छ शब्द नहीं है।

५) अहमदाबाद से प्रकाशित प्रशस्ति संग्रह में —

पृ. ६४ में भाकर गच्छ छपा है। वह अशुध्द है।

पृ. १०२ में भाव गच्छ „ „ „

६] जैन गच्छ मत प्रवन्ध में —

१. निवजियगच्छ – ८४ गच्छ नाम सूची से लिया है, पर उसका हाल कोई उल्लेख नहीं मिलता।

२. स्तनपक्ष गच्छ-किसी पट्टावलि के अनुसार १३ वीं में विद्यमान होना लिखा है, पर अन्य उल्लेख प्राप्त नहीं है।

३. वीशावल गच्छ – पृ. ६७ में जिनवल्लभसूरि के सार्ध शतक पर टीका के रचयिता धनेश्वरसूरि को वीशावल गच्छ का लिखा है; पर प्रशस्ति में केवल चन्द्रकांत का उल्लेख है। अतः यह नाम सही नहीं।

४. पुरंदर गच्छ (पृ. ६८) सं. १४९६ के राणपुर के लेख में इस गच्छ का नाम आता है लिखा है। पर वह लेख तपागच्छीय सोमसुंदरसूरि का ही है।

५. पृ. १०३ में वागड गच्छ के लेख का अंश दिया है। वह वायड संभव है।

६. पृ. १०७ सीदाघटीय गच्छ के प्रतिमा लेख का उल्लेख है, पर वह अशुद्ध है।

७. पृ. ४० जांगेड का नाम आता है। पर वह अशुद्ध ही प्रतीत होता है।

(७) चिन्तामणि भूमिगृहस्थ धातु प्रतिमा लेखों में—

१. सं. १०२० के लेख में सनपुरीय धर्मघोषसूरि है। रत्नपुरीय पाठ संभव है।

नाम से दिया गया है, पर वह प्रसिद्ध सडेरक गच्छ ही है।

c) गच्छ नाम सूची में जामाणकीय का नाम है, पर लेख में वहा गच्छ शब्द नहीं होनेसे ग्राम का नाम ही समझना चाहिये।

d) मिडानी को सिध्दान्ती होने का उल्लेख नोटो के पृ ३३ में कर ही दिया है।

e) लेखांक १२३ में "सेखुरगच्छ' का नाम है वह विचारणीय है।

f) लेखांक १२७ में ब्र स्याणी गच्छ नाम आता है, पर अशुध्द खुदा या पढा गया प्रतीत होता है।

(२) अर्बुदगिरि लेख सदोह में—

१ चतरुप्रगच्छ का नाम लेखांक १५२ में मिलता है वह समवतः अशुद्ध है।

(३) नाहरजी के जैन लेख सग्रह में—

१ थाहड (ले २०६९ में D छपा है वह सडेर सभव है।

२ ता (ज्ञा!) यकीय (ले ८६७) छपा है, वह ज्ञानकीय समव है।

३ व्ययलीह (ले १७०६) छपा है। यह वास्तव में अशुद्ध छपा है व गच्छ का नाम नहीं है।

४ पर्योय—(ले ४१८) में छपा है वह पल्लीय सभव है।

५ गच्छ नाम सूची में पार्श्वनाथगच्छ छपा है पर लेखों में पार्श्वचंद्रसूरि गच्छ नाम मिलता है अत भ्रमवश भूल हुई है।

६ ले ११५९ में थाणा चालगच्छ छपा है। वहाँ नाणावाल होना समव है। लेख अशुद्ध पढा गया प्रतीत होता है।

७ ले १२८८ में जापडाणगच्छ नाम आता है। वह भी प्राय अशुद्ध पढा गया प्रतीत होता है।

८ ले न १३४० में "नमदालगच्छ" छपा है। यहाँ ओसवाल गच्छ नाम समव है। खुदन व पढने में अशुद्धि रह गयी है।

९ ले १०७९ में निद्धति नाम अशुद्ध छपा है। शुद्धनाम निवृत्ति है।

१० ले १०४२ में "राम (!) प्रपागच्छ" अशुद्ध छपा है।

११ ले १६८० में वापदीय गच्छ छपा है, वायडीय चाहिये।

१२ ले १६२५ में खुल गच्छ भी अशुद्ध छपा है।

१४ ले २४६४ में थिराद्रा छपा है। यहा थिरापद्र पाठ होना संभव है।

१६. ले. २२३२ में घापटीय अशुद्ध छपा है, वायडीय होना चाहिये ।

(४) धातुप्रतिमा लेख संग्रह से —

भा. १ के गच्छ व आचार्य नामसूची में,

पृ. ३८ में शशरे गच्छ छपा है, संडेर चाहिये ।

पृ. ३९ में किन्नरस गच्छ छपा है। वह कृष्णर्षिगच्छ न हो !

पृ. ३९ में जेरंडगच्छ छपा है । वह अशुद्ध प्रतीत होता है ।

पृ. ४० में नाणेद्र गच्छ छपा है। वहां नागेन्द्र चाहिये ।

पृ. ४० में तिहुणा गच्छ छपा है। वह भी अशुद्ध है ।

भा. २ ले. १३ में नागर (नागेन्द्र) छपा है । वह नागेन्द्र ही संभव है ।

पृ. २४८ में गच्छ नाम सूची में सुविहित गच्छ छपा है, पर लेख में गच्छ शब्द नहीं है ।

५) अहमदाबाद से प्रकाशित प्रशस्ति संग्रह में —

पृ. ६४ में भाकर गच्छ छपा है। वह अशुध्द है।

पृ. १०२ में भाग्र गच्छ " " "

६] जैन गच्छ मत प्रवन्ध में --

१. नियजियगच्छ - ८४ गच्छ नाम सूची से लिया है, पर उसका हाल कोई उल्लेख नहीं मिलता ।

२. स्तनपक्ष गच्छ-किसी पट्टावलि के अनुसार १३ वीं में विद्यमान होना लिखा है, पर अन्य उल्लेख प्राप्त नहीं है ।

३. वीशावल गच्छ - पृ. ६७ में जिनवल्लभसूरि के सार्ध शतक पर टीका के रचयिता धनेश्वरसूरि को वीशावल गच्छ का लिखा है; पर प्रशस्ति में केवल चन्द्रकांत का उल्लेख है । अतः यह नाम सही नहीं ।

४. पुरंदर गच्छ (पृ. ६८) सं. १४९६ के राणपुर के लेख में इस गच्छ का नाम आता है लिखा है । पर वह लेख तपागच्छीय सोमसुंदरसूरि का ही है।

५. पृ. १०३ में वागड गच्छ के लेख का अंश दिया है। वह वायड संभव है।

६. पृ. १०७ सीदावटीय गच्छ के प्रतिमा लेख का उल्लेख है, पर वह अशुद्ध है।

७. पृ. ४० जांगेड का नाम आता है। पर वह अशुद्ध ही प्रतीत होता है ।

(७) चिन्तामणि भूमिगृहस्थ धातु प्रतिमा लेखों में —

१. सं. १०२० के लेख में सनपुरीय धर्मघोषसूरि है । रत्नपुरीय पाठ संभव है ।

नाम से दिया गया है, पर यह प्रसिद्ध सडेरक गच्छ ही है।

c) गच्छ नाम सूची में जामाणकीय का नाम है, पर लेख में वहा गच्छ शब्द नहीं होनेसे ग्राम का नाम ही समझना चाहिये।

d) सिद्धानी को सिध्दान्ती होने का उल्लेख नोटो के पृ ३४ में कर ही दिया है।

e) लेखाक १२३ में ' सेत्रुरगच्छ का नाम है वह विचारणीय है।

f) लेखाक १२७ में प्र स्याणी गच्छ नाम आता है, पर अशुध्द छुदा या पढा गया प्रतीत होता है।

(२) अर्बुदगिरि लेख सदोह में—

१ चतरूमगच्छ का नाम लेखाक १५२ में मिलता है वह सभवत अशुद्ध है।

(३) नाहरजी के जैन लेख सग्रह में—

१ ग्राहड (ले २९९९ में D छपा है वह सडेर सभव है।

२ ता (ज्ञा!) यकीय (ले ८६७) छपा है, वह ज्ञानकीय सभव है।

३ व्यवसीह (ले १७०६) छपा है। वह वास्तव में अशुद्ध छपा है व गच्छ का नाम नहीं है।

४ पर्वीय—(ले ४१२) में छपा है वह पर्व्हीय सभव है।

५ गच्छ नाम सूची में पार्श्वनाथगच्छ छपा है, पर लेखों में पार्श्वचद्रसूरि गच्छ नाम मिलता है अत भ्रमवश भूल हुई है।

६ ले ११५९ में चाणा चालगच्छ छपा है। वहाँ नाणावाल होना सभव है। लेख अशुद्ध पढा गया प्रतीत होता है।

७ ले १२८८ में जापडाणगच्छ नाम आता है। वह भी प्राय अशुद्ध पढा गया प्रतीत होता है।

८ ले न १३४० में "नमदालगच्छ छपा है। वहाँ ओसवाल गच्छ नाम सभव है। छुदने व पढने में अशुद्धि रह गयी है।

९ ले १०७९ में निद्वति नाम अशुद्ध छपा है। शुद्धनाम निवृत्ति है।

१० ले १०४२ में "राम (!) प्रम्पागच्छ ' अशुद्ध छपा है।

११ ले १६८९ में वापदीय गच्छ छपा है, वायडीय चाहिये।

१२ ले १६२५ में रदुल गच्छ भी अशुद्ध छपा है।

१४ ले २४६७ में थिराद्रा छपा है। वहाँ थिरापद्र पाठ होना सभव है।

हर्षपुरीगछे—श्री तिलकसूरि, राजशेखरसूरि, मुनिशेखरसूरि, मतिसागरसूरि विद्यासागरसूरि

बृहद्गछे—श्री मुनिचंद्रसूरि, देवसूरि, माणदेवसूरि, हरिभद्रसूरि, पूर्णभद्रसूरि, नेमिचंद्रसूरि, नथचंद्रसूरि, मुनिराजसूरि, मुनिशेखरसूरि, श्री तिलकसूरि, भद्रेश्वरसूरि, मुनीश्वरसूरि।

२. हेमप्रभसूरि, वयरसेनसूरि, रत्नशेखर, पुनचंद्रसूरि, हेमहंस सूरि, रत्नसागर।

३. श्री पूर्णभद्रसूरि, पद्मप्रभसूरि, अमरप्रभसूरि, ।

धर्मघोष गच्छे— प्रथम शाखायां—अमरप्रभसूरयः, ज्ञानचन्द्रसूरयः, सागरचंद्र सूरयः, मलयचंद्रसूरि, पद्मशेखरसूरि ।

द्वितीय शाखायां—धर्मदेवसूरि, श्री तिलकसूरि, श्री धर्मशेखरसूरि।

तृतीय शाखायां—सावदेवसूरि, सोमप्रभसूरि, गुणभद्रसूरि, सर्वाणंदसूरि, श्रीवीरभद्रसूरि, श्री पद्मचन्द्रसूरि ।

चतुर्थ शाखायां—यशोदेवसूरि, सोमप्रभसूरि, श्री पूर्णचन्द्रसूरि ।

अंचलगछे—आर्य रक्षित सूरि, सिंहतिलकसूरि, चन्द्रप्रभ, सोमचंद्र, सोमतिलक, मेरुतुंगसूरि ।

नाणकीय गछे श्री शांतिसूरि ।

(अवशेष खरतर शाखाएँ) [अभय जैन ग्रन्थ पत्र १९]

पार्श्वचंद्र के समय के गच्छ नाम—

"लघुशाखीय, बृहद्शाखी, भगुकच्छ, खरतर, आगमिक, पौणिमिक, विधिपक्ष, उकेश, मलधारी, कोरंटक, चित्रनाणक, पल्लिका, बृहद्गच्छ।

(उ. वला के पाक्षिक चर्चा से)

१ सर्व गछ शाखा नामानि लिख्यंते।

१. संडेरा। वरदत्त गणधरतः
२. ओसवाला। केसीकुमारतः
३. चिंतामणिया १ खंभाइतिया (ओसवाला थी पूर्वे ते निर्गताः)
४. कोरंटवाल। श्री रत्नप्रभसूरि
५. विवंदणीक, वारेजीया, सं. ११०९ खरतर-तपा इति पहवुं विरुद चिंतामणियां थी थयुं।
६. विवंदणीक टींवलिया
७. विवंदणीक खिरालूया
८. नाणवाल सं. १०१ वर्षे थया
९. ब्रह्माणिया, झिंझूवाडीया वंभ दीविया
१०. ब्रह्माणीया, पाटरीया
११. कोहरिया
१२. भावड हरा

२ स १०६८ के लेख में गच्छे श्रीपार्श्वसूरिणा
३ सं १३९१ „ „ उवढवेऽय श्रीमाणिक्य सूरिपट्टे श्रीजयर-सेणसूरिभि
४ सं १४०९ „ „ अग्रदपीय श्रीजयरसेणसूरिभि
५ स १४२० „ „ क्षेरेडीयक श्रीविजयचद्रसूरिभि
६ स १४२० „ „ श्रीगाल गच्छे श्री श्रीमल्ल
७ स
८ स १४२४/३० „ , दादासिरिचंद्रसूरि
९ स १२५८ „ „ भावदेवाचार्यगच्छ जिनदेवसूरि
१० स १३६८ , „ वादीन्द्रश्रीदेवसूरिगच्छे धर्मदेवसूरि
११ सं १४ „ „ ओंवश्रीगच्छे श्रीसूरिभि

२ कई गच्छों की आचार्य-परम्परा सम्बन्धी पेति नोंध –
(१५ वीं शताब्दी तक की)

नागेन्द्र गच्छे — विनयसेनसूरि, उदयप्रमसूरि, मल्लिषेणसूरि, प्रमाणदसूरि, शवर सूरि, श्री सागरचंद्रसूरि।

खंडेरगच्छे — यशोभद्रसूरि, शालिसूरि, सुमतिसूरि, ईश्वरसूरि, शालिसूरि पुन पुन।

थायडगच्छे — श्री जीवदेवसूरि, जिनदत्तसूरि, पंडित अमर, राशिलसूरि पुन पुन।

थारापद्रीय गच्छे — श्री शातिसूरि, श्री प्रसन्नचद्रसूरि, श्री सर्वदेवसूरि, विजय सिंहसूरि सूरय।

पूर्णतलगच्छे — श्री दत्तसूरि, यशोभद्रसूरि, प्रद्युम्नाचार्य, गुणसेनसूरि, श्री देव चद्रसूरि, श्री हेमसूरि, बालचद्रसूरि संताने माणिक्यसूरि, वज्रसेनसूरि, हरि भद्रसूरि, हरिप्रभसूरि।

भारडारगछे — श्री विजयसिंहसूरि, श्री वीरसूरि, भावदेवसूरि, जिनदेवसूरि, पुन पुन।

ओसवालगछे — देवगुप्तसूरि, सिद्धसूरि, कक्कसूरि, पुन पुन रत्नप्रभसूरि, यक्षदेवसूरि।

भाडारीगछे — शून्येव नामानि।

कोरंटावालगछे — श्री नन्नसूरि, कक्सूरि, सावदेवसूरि, पुनः २।

कृष्णर्षि गछे — श्री जयसिंहसूरि, प्रसन्नचद्रसूरि, महेन्द्रसूरि पुन पुन।

हर्षपुरीगछे—श्री तिलकसूरि, राजशेखरसूरि, मुनिशेखरसूरि, मतिसागरसूरि विद्यासागरसूरि

वृहद्गछे—श्री मुनिचंद्रसूरि, देवसूरि, माणदेवसूरि, हरिभद्रसूरि, पूर्णभद्रसूरि, नेमिचंद्रसूरि, नथचंद्रसूरि, मुनिराजसूरि, मुनिशेखरसूरि, श्री तिलकसूरि, भद्रेश्वरसूरि, मुनीश्वरसूरि।

२. हेमप्रभसूरि, वयरसेनसूरि, रत्नशेखर, पुनचंद्रसूरि, हेमहंस सूरि, रत्नसागर।

३. श्री पूर्णभद्रसूरि, पद्मप्रभसूरि, अमरप्रभसूरि, ।

धर्मघोष गच्छे — प्रथम शाखायां—अमरप्रभसूरयः, ज्ञानचन्द्रसूरयः, सागरचंद्र सूरयः, मलयचंद्रसूरि, पद्मशेखरसूरि ।

द्वितीय शाखायां — धर्मदेवसूरि, श्री तिलकसूरि, श्री धर्मशेखरसूरि ।

तृतीय शाखायां — सावदेवसूरि, सोमप्रभसूरि, गुणभद्रसूरि, सर्वाणंदसूरि, श्रीवीर-भद्रसूरि, श्री पद्मचन्द्रसूरि ।

चतुर्थ शाखायां — यशोदेवसूरि, सोमप्रभसूरि, श्री पूर्णचन्द्रसूरि ।

अंचलगछे — आर्य रक्षित सूरि, सिंहतिलकसूरि, चन्द्रप्रभ, सोमचंद्र, सोमतिलक, मेरुतुंगसूरि ।

नाणकीय गछे श्री शांतिसूरि ।

(अवशेष खरतर शाखाएँ) [अभय जैन ग्रन्थ पत्र १९]

पार्श्वचंद्र के समय के गच्छ नाम —

"लघुशाखीय, वृहद्शाखी, भगुकच्छ, खरतर, आगमिक, पौर्णिमिक, विधि-पक्ष, उकेश, मलधारी, कोरंटक, चित्रनाणक, पल्लिका, वृहद्गच्छ।

(उ. वला के पाक्षिक चर्चा से)

१ सर्व गछ शाखा नामानि लिख्यंते ।

१. संडेरा। वरदत्त गणधरतः
२. ओसवाला। केसीकुमारतः
३. चिंतामणिया १ खंभाइतिया (ओसवाला थी पूर्वे ते निर्गताः)
४. कोरंटवाल। श्री रत्नप्रभसूरि
५. विवंदणीक, वारेजीया, सं. ११०९ खरतर-तपा इति पहचुं विरुद चिंतामणियां थी थयुं।
६. विवंदणीक टींवलिया
७. विवंदणीक खिरालूया
८. नाणवाल सं. १०१ वर्षे थया
९. ब्रह्माणिया, झिंझूवाडीया वंभ दीविया
१०. ब्रह्माणीया, पाटरीया
११. कोहरिया
१२. भावड हरा

२. स. १०९८ के लेख में गच्छे श्रीपार्श्वसूरिणा
३ सं १३९१ „ „ उपकेश्य श्रीमाणिक्य सूरिपट्टे श्रीयर सेणसूरिभि
४ सं १४०९ „ „ अचदीय श्रीयरसेणसूरिभि
५ स. १४२० „ „ हेरेडीयक श्रीविजयचद्रसूरिभि
६ स १४२० „ „ श्रीगाल गच्छे श्री श्रीमल्ल
७ स
८ स १४२३/४० „ „ दादासिरिचद्रसूरि
९ स १२५८ „ „ भावदेवाचार्यगच्छ जिनदेवसूरि
१० स १३६८ „ „ वादीन्द्रश्रीदेवसूरिगच्छे धर्मदेवसूरि
११ स १४ „ „ भोंग्रश्रीगच्छे श्रीसूरिभि

२ कई गच्छों की आचार्य-परम्परा सम्बन्धी ऐति नोंध –
(१५ वीं शताब्दी तक की)

नागेन्द्र गच्छे — विजयसेनसूरि उदयप्रभसूरि, मल्लिषेणसूरि, प्रमाणदसूरि, शासर सूरि, श्री सागरचंद्रसूरि ।

खडेरगच्छे — यशोभद्रसूरि, शालिसूरि, सुमतिसूरि, ईश्वरसूरि, शालिसूरि पुन पुन ।

थायदगच्छे — श्री जीवदेवसूरि, जिनदत्तसूरि, पंडित अमर, रासिलसूरि पुन पुन ।

थारापद्रीय गच्छे — श्री शातिसूरि, श्री प्रसन्नचद्रसूरि, श्री सर्वदेवसूरि, विजय सिंहसूरि सूरय ।

पूर्णतल्लगच्छे — श्री दत्तसूरि, यशोभद्रसूरि, प्रद्युम्नाचार्य, गुणशेखरसूरि, श्री देव चद्रसूरि, श्री हेमसूरि, बालचद्रसूरि संताने माणिक्यसूरि, यज्ञसेनसूरि, हरि भद्रसूरि, हरिप्रभसूरि ।

भानडारगच्छे — श्री विजयसिंहसूरि, श्री वीरसूरि, भावदेवसूरि, जिनदेवसूरि, पुन पुन ।

ओसवालगच्छे — देवगुप्तसूरि, सिद्धसूरि, कक्कसूरि, पुन पुन रत्नप्रभसूरि, यक्षदेवसूरि ।

भाडारीगच्छे — मून्येव नामानि ।

कोरटागच्छे — श्री नन्नसूरि, कक्कसूरि, सावदेवसूरि, पुन २ ।

कृष्णर्षि गच्छे — श्री जयसिंहसूरि, प्रसन्नचद्रसूरि, महेन्द्रसूरि पुन पुन ।

६४. पुं. टंकेरनीया ४ | ६५. पु. साचपूनमीया म. शाखा ५
६६. पुनमीया लाढोलीया ६ | ६७. पु. फडेला ७
६८. पु. चडोईआ ८ | ६९. पु. मीगोठिया, फठोग्वाल शाखा ९
७०. पु. सोलनिया, मालेवाल शा. १० | ७१. पु. सूई ग्रामपि सं. १०८० खरतरगच्छः
७२. ख. मद्वारकीया भाणसोमिया १ | ७३. ख. आचार्य डीया २
७४. ख. पींपलिया ३ | ७५. ख. बेगड़ा ४
७६. ख. मधुखीकोटी ५ | ७७. ख. रुदेलीया नगर ६
७८. ख. छापरिया रुद्रलिया ७ | ७९. ख. भाव हरखीया ८

सं १२८५ तपागच्छ

८०. तपा वडीपोसालना १ | ८१. त. भरुडच्छा चैत्रवालाभ्यां
८२. त. मुंवर्लीया वडा पोसाल | ८३. त. पालणपुर लघुशाखा
८४. त. वमल कलशा लघु शा. | ८५. त. कनकपुरा लघुशाखा
८६. त. नीगमिया | ८७. त. आणंद विमलीया लघुशाखा सं. १५८२ वर्षे
८८. त. नागोरी | ८९. त. मं. नागोर थी सं. १५६८ वर्षे जाता पासचंद्रः
९०. आगमीया गांभूवा | ९१. आ. धूंधकीया
९२. आ. सरखेआ सं. १२१२ आंचलीया | ९३. पूर्णतलगच्छे श्री हेमाचार्य
९४. हलकुंडगच्छे खंड | ९५. गतनिवृति गच्छे आचारा त वृति ४
९६ | ९७. मंडोवर वालंपलिगा मत ५
९८. थावद्र गच्छे जिनदत्तसूरि ६ | ९९. सोलितवाल पल्लगणात् ७

१३. पल्लीवाल सं. १२० वर्षे जाता

१४ कासद्रावाली वर दत्तात् देवर्द्धिन सवत् १९८

१५. हीरेजा देवमूर्त्ति तो जाता

१६ नाग्रेन्द्रा मोरवीया। नाइला इत्यपि नाम।

१७ नागेंद्रा फाजरेचा

१८ नागेंद्रा खारी वारीया

१९. नागेंद्रा चतुर्थी शाखा गच्छे साद्य (भद्रा ?) एव वर्तेते, न साधव

२० मल्धारा, पूर्वे हरसउरा राम

२१ कदूरसा। सोपुरयान् वीरात् ७१९ आर्य सुहस्ति सूरि शिष्ये आर्य गुप्तसूरित स्थापना, चारण गच्छस्त शाखा यत्र नागरी तत्र कृष्ण गच्छ

२२. कन्दुरसा तथा नागपुरे

२३ माहलैया विद्याधरा

२४ धर्मघोषा मूढीवाल

२५. धर्मघोषा सूरीणा

२६ धर्मघोषा उच्चितवाल

२७ विमयाल विद्रोहिया

२८. विमनाल। सल्खणपुरा वड गच्छा ८४ गच्छ

२९. व सिद्धाती १

३० व माल्याडीया २

३१ व भिपातिनाडिया ३

३२ व पिंपलिया साचउरा ४

३३ व पि धिराद्रा ५

३४ व पि वडन्गीया ६

३५. व पि जंबूया ७

३६ व पि वानपूरा ८

३७ व पि ओर्गायाडिया ९

३८ व पि सेत्रपालिया १०

३९. व पि मडाहडा ११

४० व पि नीरोहिया १२

४१ व मी नडल्लाइया १३

४२. व मी जालवडीया, पूर्वे रतनपुरा १४

४३ व मं भटाणीया १५

४४ व मं अहम्मणीया १६

४५ व मं वोकडीया १७

४६ व म जीराहन्नीया १८

४७ व मं भीनमालीया १९

४८ व मं ब्रह्माणीया २०

४९. व मं धीन्नाडीया शडद्रडीयापूर्वे २१

५० व. मं कायद्रहेडीया २२

५१ व सेर्यत्रिया। पंचवहाडी शाखा २३

५२. व देवकपत्तने वंधे द्रुमरिजा २४

५३ व हमोदया गजप्रभना २५

५४ व साहोटीया धनप्रभना २६

५५ दिर्दीयाल धर्दीया २७

५६ वा हींडवणिय्या गूजरपल्लिगपुरा २८

२७ ५७ व ककर्दा कर्मगुरुसूरि २९

५८ व गुडीडया ३०

५९. व स्तोभरांदिया ३१

६० व धंमवाला ज्ञानसुंदरिसूरि ३२

६१ पुनमीया छागणीया सं ११५९ १

६२. पुं स्वाजदिया २

६३ पु आगडिया ३

६४. पुं. ढंढेरीया ४
६५. पु. साधपूनमीया प्र. शाखा ५
६६. पुनमीया लाढोहीया ६
६७. पु. काछेला ७
६८. पु. चडोद्रीहा ८
६९. पु. सीरोहिया, कठोरवाल शाखा ९
७०. पु. सोझतिया, साहलेवाल शा. १०
७१. पु. सूई ग्रामणि सं. १०८० खरतरगच्छः
७२. ख. भट्टारकीया भाणसोमिया १
७३. ख. आचार्य जीया २
७४. ख. पींपलिया ३
७५. ख. वेगड़ा ४
७६. ख. महुकरीकोटी ५
७७. ख. रुद्रेलीया नगर ६
७८. ख. छापरिया रुद्रेलिया ७
७९. ख. भाव हरखीया ८

सं ११८५ तपागच्छ

८०. तपा वर्डागोसालना १
८१. त. भरुउछा चैत्रवालाभ्यां
८२. त. सुंयलीया वडा पोसाल
८३. त. पाल्हणपुर लघुशाखा
८४. त. कमल कलशा लघु शा.
८५. त. कनकपुरा लघुशाखा
८६. त. नीगमिया
८७. त. आणंद विमलीया लघुशाखा सं. १५८२ वर्षे
८८. त. नागोरी
८९. त. मं. नागोर थी सं. १५६८ वर्षे जाता पासचंद्र:
९०. आगमीया गांभूवा
९१. आ. धूंधकीया
९२. आ. सरखेआ सं. ९१२ आंचलीया
९३. पूर्णतलगच्छे श्री हेमाचार्य
९४. हस्तकुंडगंच्छे संड
९५. गतनिवृति गच्छे आचारा त वृति ४
९६
९७. मंडोवर वालंपलिगा मत ५
९८. वायड गच्छे जिनदत्तसूरि ६
९९. सोझितवाल पल्लगणात् ७

अंग विज्जा

लेखकः—डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल

जैन साहित्य में अंगविज्जा नामक एक प्राचीन ग्रन्थ है। यह लगभग कुशाण गुप्त युग के संधिकाल का ज्ञात होता है, किन्तु अभी तक कहीं प्रकाशित नहीं हुआ। प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, नई दिल्ली की ओर से अब यह मूल्यवान् संग्रह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, जिसका सम्पादन मुनि श्री पुण्यविजयजी ने किया है।

अंगविद्या प्राचीनकाल की एक लोक–प्रचलित विद्या थी। शरीर के लक्षणों से अथवा अन्य प्रकार के निमित्त या चिह्नों से किसी के लिए शुभाशुभ फल का कथन इस विद्या का विषय था। पाणिनि ने ऋगयनादि गण में ४ ३. ७३ अंगविद्या, उत्पात, उत्पाद, संवत्सर, मुहूर्त, निमित्त आदि विषयों पर लिखे जाने वाले व्याख्यान–ग्रन्थों का उल्लेख किया है। ब्रह्मजाल सुत्त में निमित्त, उप्पाद और अंगविज्जा के अध्ययन को भिक्षुओं के लिए वर्जित माना है (दीर्घनिकाय)। किन्तु यह अंगविद्या क्या थी, इसके बताने वाला एक मात्र प्राचीन ग्रन्थ यही जैन साहित्य में "अंगविज्जा" नाम से बच गया है, जिसकी गणना आगम साहित्य के प्रकीर्णक ग्रन्थों में की जाती है। इसमें कहा है कि हरियाद नामक बारह वें अंग में अर्हत् वर्धमान महावीर ने निमित्त ज्ञान बताने वाले इस विषय का उपदेश किया था।

अंग, स्वर, लक्षण, व्यंजन, स्वप्न, छींक, भौम, अंतरिक्ष इस प्रकार निमित्त कथन के ये आठ आधार माने जाते थे। इन महानिमित्तों से अतीत और अनागत के भाव जानने का प्रयत्न किया जाता था। इनमें भी अंगविद्या सब निमित्तों में श्रेष्ठ समझी जाती थी। जैसे सूर्य सब रूपों को साफ दिखा देता है, ऐसे ही अंग से अन्य सब निमित्तों के बारे में बताया जा सकता है।

यहां इस ग्रन्थ के अंगज्ञान के विषय में लिखने का उद्देश्य नहीं है, वरन् इसमें जो ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व की शब्दावली है उसकी कुछ सूचियों की ओर ध्यान दिलाना उद्दिष्ट है। इस ग्रन्थ में तत्कालीन जीवन के अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित लम्बी–लम्बी शब्दसूचियां उपलब्ध होती हैं। ये सूचियां बौद्ध ग्रन्थ महाव्युत्पत्ति की सूचियों के समान अति महत्वपूर्ण है। इन दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक दृष्टि से सांस्कृतिक अध्ययन आवश्यक है।

ग्रन्थ में कुल साठ अध्याय हैं। कहीं-कहीं लम्बे अध्यायों में पटल नामक अवान्तर विभाग हैं, जैसे आठवें अध्याय में विविध विषय संबंधी तीस पटल और नौवें अध्याय में १८६८ कारिकाएं हैं जिनमें २७० विविध विषयों का निरूपण है।

आरम्भ के अध्यायों में अंगविद्या की उत्पत्ति, स्वरूप, शिष्य के गुण-दोष, अंगविद्या का माहात्म्य आदि प्रास्ताविक विषयों का विवेचन है। पहले अध्याय में अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु-इन्हें नमस्कार किया है। इस विद्या का उपदेश महापुरुष ने किया था और ये भगवान महावीर ही ज्ञात होते हैं। निमित्तों के आठ प्रकार हैं—अंग, स्वर, लक्षण, व्यञ्जन अर्थात् तिल आदि चिह्न, स्वप्न, छींक, भौम [पृथ्वी सम्बन्धी निमित्त] और अन्तरिक्ष। इन निमित्तों में अंग का विशेष महत्त्व है। यह विद्या बारहवें अंग दिट्ठिवाय के अंतर्गत मानी जाती थी जिसका भद्रबाहु के शिष्य स्थूलभद्र के समय से लोप हो गया। उसके बाद ग्रन्थ के साठ अध्यायों के नामों की सूची दी गई है।

दूसरे अध्याय में जिन भगवान् की स्तुति है। अध्याय तीसरे से पांचवें में शिष्य के चुनाव और शिक्षण के नियम बताये गये हैं। ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुल में वास करने वाले श्रद्धालु शिष्य को ही इस शास्त्र का उपदेश करना चाहिए। चौथे अध्याय में अंगविद्या की प्रशंसा की गई है। लेखक के अनुसार अंगविद्या के द्वारा जय-पराजय, आरोग्य, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, अनावृष्टि-सुवृष्टि, धनहानि, कालपरिमाण आदि बातों का ज्ञान हो सकता है। आठवां भूमिकर्म नामक अध्याय ३० पटलों में विभक्त है और उनमें महत्त्व की सामग्री है।

आसनों का उल्लेख करते हुए उनके कई प्रकार बताये गये हैं, जैसे सस्ते (समग्ध) महँगे (महग्ध) और औसत मूल्य के [तुल्लग्ध], टिकाऊ रूप से एक स्थान में जमाए हुए [एकट्ठान], इच्छानुसार कहीं भी रखे जाने वाले [चलित], दुर्बल और बली अर्थात् सुकुमार बने हुए या बहुत भारी या संगीन। आसनों के भेद गिनाते हुए कहा है-पर्यंक, फलक, काष्ठ, पीढिका या पीढिया, आसन्दक या कुर्सी, फलकी, भिसी या बृसी अर्थात् चटाई, चिफलक या वस्त्र विशेष का बना हुआ आसन, मंचक या माँचा, मसूरक अर्थात् कपडे या चमड़े का चपटा गोल आसन, भद्रासन अर्थात् पायेदार चौकी जिसमें पीठ भी लगी होती थी, पीढग या पीढा, काष्ठ खोड या लकड़ी का बना हुआ बड़ा पेटीनुमा आसन। इसके अतिरिक्त पुष्प, फल, बीज, शाखा, भूमि, तृण, लोहा, हाथीदांत से बने आसनों का भी उल्लेख है। उत्पल का अर्थ संभवतः पद्मासन था। एक विशेष प्रकार के आसन को नहट्ठिका लिखा है, जिसका अभिप्राय गेंडे, हाथी आदि के नख की हड्डियों से बनाया जाने वाला आसन था [पृष्ठ १५]। पृष्ठ १७ पर पुनः आसनों की एक सूची है, जिसमें आस्तरक या चादर, प्रवेणी या बिछावन और कम्बल के उल्लेख के अतिरिक्त खद्वा, फलकी, डिप्फर [अर्थ अज्ञात], खेड्डु खंड [संभवतः क्रीडा या खेल तमाशे के समय काम में आने वाला आसन], समंथणी [अर्थ अज्ञात] आदि का उल्लेख है।

कुशाणकालीन मूर्त्तियों में जो मथुरा से प्राप्त हुई हैं उनमें यक्ष, कुबेर, या साधु आदि अपनी टांग या पेट के चारों ओर वस्त्र बांधकर बैठे हुए दिखाए जाते हैं।

उसे उस समय की भाषा में पल्हत्थिया या पलौथी कहते थे। ये दो प्रकार की होती थीं। समग्र पल्हत्थिया या पुरी पल्थी और अर्ध पल्हत्थिया या आधी पल्थी। आधी पलथी दक्षिण और वाम अर्थात् दाहिना पैर या बाया पैर मोड़ने से दो प्रकार की होती थीं। मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित सी ३ संख्यक कुबेर की विशिष्ट मूर्त्ति वाम अर्ध पल्हत्थिया आसन में बैठी हुई है। पल्थी लगाने के लिए साटक, बाहु पट्ट, चर्मपट्ट, वल्कल पट्ट, सूत्र, रज्जु आदि से बंधन बांधा जाता था। मध्य कालीन कायबन्धन या पटकों की भांति ये पल्लत्थिकापट्ट रंगीन, चित्रित अथवा सुवर्णरत्न मणिमुक्ताखचित भी बनाए जाते थे [पृ १९]। केवल बाहुओं को टांगों के चारों ओर लपेटकर भी बाहुपल्हत्थिका नामक आसन लगाया जाता था।

नवमें पटल में अपस्सय या अपाश्रय का वर्णन है। इस शब्द का अर्थ आश्रय या आधार स्वरूप वस्तुओं से है। शय्या, आसन, यान, कुड्य, द्वार, खंभ, वृक्ष आदि अपाश्रयों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकरण में कई आसनों के नाम हैं, जैसे आसक, भद्रपीठ, डिप्फर, फलकी, वृसी, काष्ठमय पीढा, तृणपीढा, मिट्टी का पीढा छगण पीढग (गोबर से लिपा-पुता पीढा)। कहा है कि शयन-आसन, पलंग, मंच मासालक [मसालग], मंचिका, खट्वा, सेज-ये शयनसम्बन्धी अपाश्रय है। ऐसे ही सीया, आसंदणा, जाणक, थोल्लि, गल्लिका [मुंडा गाड़ी के लिए राजस्थानी में प्रचलित शब्द गल्ली], सगड, सगडी नामक यानसम्बन्धी अपाश्रय हैं। किडिका [खिड़की] दारकपाट [दरवाजा], हत्थावरण [छोटा पल्ला], लिपी हुई भींत, बिना लिपी हुई भींत, वस्त्र की भींत या पर्दा (चेलिम कुड्ड), फलकमय कुड्य [लकड़ी के तख्तों से बनी हुई भींत] अथवा जिसके केवल पार्श्व में तख्ते लगे हों और अन्दर गारे आदि का काम हो (फलकपासित कुड्ड) ये भींतसम्बन्धी अपाश्रय हैं। पत्थर का खम्भा (पाहाणखंभ), थंभी (गृहस्य धारिणी धरणी), प्लक्ष का खंभ (पिलक्खक थंभ), नाव का गुनरखा (णावाखम्भ), छायाखम्भ, झाड़फानूस (दीवरुक्ख या दीपवृक्ष) यष्टि (लट्ठि) उदकयष्टि (दगलट्ठि) ये स्तम्भसम्बन्धी अपाश्रय हैं। पिटार (पडल,) कोथली (कोथल पल,) मंजूषा, काष्ठभाजना ये भाजनसम्बन्धी अपाश्रय हैं (पृ २९)।

इसी प्रकरण में कई प्रकार की कुड्या या दिवारों का उल्लेख आया है। जैसे रगड़कर चिकनी दिवार (मट्ठ), चित्रयुक्त भित्ति (चित्त), चटाई से (कडिल), या फूस से बनी हुई दीवार (तण कुड्ड), या सरकंडे आदि की तीलिओं से बनी हुई दीवार (कणगपासित) जिसके पार्श्वभाग में कणग-या तीलियाँ लगी हुई हों। किन्तु इस प्रकार की भींते अच्छी नहीं समझी जाती थीं। मृष्ट, शुद्ध और दृढ दीवारों को प्रशस्त माना जाता था। घृत तेल रखने की बड़ी गोल केला=कयल्ला=अलिञ्जर मणि-मुक्ता-हिरण्यमंजूषा, वस्त्रमंजूषा, दधि, दुग्ध, गुड़, लवण आदि रखने के अनेक पात्र-ये सब नाना प्रकार के अपाश्रयों के भेद कह गये हैं (पृ० ३०)।

स्थित नामक दसमें पटल में अट्ठाईस प्रकार से खड़े रहने के भेद कहे गये हैं—आसन, शयन, यान, वस्त्र, आभूषण पुष्प, फल मूल, चतुष्पद, मनुष्य, उदक,

कर्दम, प्रासादतल, भूमि, वृक्ष आदि के सान्निध्य में खड़े होकर प्रश्न करने के फलाफल का निर्देश किया गया है। (पृ० ३१-३३)

ग्यारहवें पटल में नेत्रों की भिन्न २ स्थिति और उनके फलाफल का विचार है। (पृ० ३४)

बारहवें पटल में चौदह प्रकार के हसित या हँसने का निर्देश करते हुए उनके फल का कथन है। (पृष्ठ ३५-३६)

तेरहवें पटल में विस्तार से पूछनेवाले या प्रश्नकर्ता की शरीर-स्थिति और उससे संबंधित शुभाशुभ फल का विचार किया गया है। (पृ. ३६ - ३७)

चौदहवें पटल में वंदन करने की विधि को आधार मानकर इसी प्रकार का विचार है। (पृ. ३७ - ४०)

प्रश्नकर्ता व्यक्ति जिस प्रकार का संलाप करे उसे भी फलाफल का आधार बनाया जा सकता है—इस बात का पन्द्रहवें पटल में निर्देश है (पृ. ४० - ४१)

इस प्रकार के बीस संलाप कहे गये हैं जो अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष इन चारों भागों में बाँटे जा सकते हैं। पुष्प, फल, गन्ध, माल्य आदि मांगलिक वस्तुओं के संबंध की चर्चा अर्थसिद्धि की सूचक है। ऐसी ही अनेक प्रकार की कथा या बातचीत के फल का निर्देश किया गया है।

सोलहवें पटल में आगत अर्थात् आगमन के प्रकारों से शुभ-अशुभ फल सूचित किए गये हैं (पृ. ४१-४२)।

सत्रहवें पटल से तीसवें पटल तक रोने-धोने, लेटने, आने-जाने, जंभाई लेने, बोलने आदि से फलाफल का कथन है [पृ. ४२-५६]। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से इस अंश का विशेष महत्त्व नहीं है।

नौवें अध्याय की संज्ञा अंगमणि है। इसमें २७० विषयों का निरूपण है। पहले द्वार में शरीर संबंधी ७५ अंगों के नाम व उनके शुभाशुभ फल का कथन है। विभिन्न प्रकार के मनुष्य, देवयोनि, नक्षत्र, चतुष्पद, पक्षी, मत्स्य, वृक्ष, गुल्म, पुष्प, फल, वस्त्र, भूषण, भोजन, शयनासन, भाण्डोपकरण, धातु, मणि एवं सिक्कों के नामों की सूचियां हैं। वस्त्रों में पटशाटक, क्षौम, दुकूल, चीनांशुक, चीनपट्ट, प्रावार, शाटक, श्वेत शाट, कौशेय और नाना प्रकार के कम्बलों का उल्लेख है। पहनने के वस्त्रों में इनका उल्लेख है-उत्तरीय, उष्णीष, कंचुक, वारबाण [एक प्रकार का कंचुक], सन्नाहपट्ट [कोई विशेष प्रकार का कवच], विताणक और पच्छत [संभवतः पिछौडी जो पीठ पर डाल कर सामने की ओर छाती पर गठिया दी जाती थी जैसा मथुरा की कुछ मूर्त्तियों में देखा जाता है], मल्लसाटक [पहलवानों का लंगोट] [पृ० ६४]

आभूषणों के नामों की सूची अधिक रोचक है [पृ ६४-६५]। किरीट और मुकुट सिर पर पहनने के लिए विशेष रूप में काम में आते थे। सिंहभंडक वह आभूषण

कार्षापण और णाणक, मासक, अद्धमासक, काकणी और अट्ठभाग का उल्लेख है। सुवर्ण के साथ सुवर्णमासक और सुवर्ण-काकणी का नाम विशेष रूप से लिया गया है (पृ २१६)।

दूसरे द्वार में (पृ० ६६-७२) विवहत्तर स्त्री नामों की सूचियाँ हैं जिनमें मनुष्य, देवयोनि, चतुष्पद, पक्षी, जलचर, थलचर, वृक्ष, पुष्प, फल, भोजन, वस्त्र, आभूषण, शयनासन, यान, भाजन भाण्डोपकरण, और आयुधों के नाम हैं। स्त्रीजातीय मनुष्य नामों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—अमच्ची, वलभी, प्रतिहारी, भोगिनी, तल वर्री, रट्ठिनी (राष्ट्रिक नामक उच्च अधिकारी की पत्नी), सार्थवाही [सार्थवाह नामक व्यापारी की पत्नी], इम्भी [इभ्य नामक श्रेष्ठी की पत्नी।, देश के अनुसार लाटी, किराती, बब्बरी (बर्बर देश की), जोणिका (यवन देश की), शबरी, पुलिन्दी, आन्ध्री, दिमिलि (द्रमिल या द्राविड देश की स्त्री) पृ० ६८।

देवयोनि (पृ० ६९) के अन्तर्गत कुछ देवियों के नाम महत्त्वपूर्ण हैं, जैसे इन्द्रमहिषी, असुरमहिषी, अइरिका, भगवती। किन्तु इस सूची में कुछ विदेश की देवियों के नाम भी आगये हैं, उनमें अपला, अणादिता, अइराणि, सालि-मालिनी उल्लेखनीय हैं। अपला यूनानीदेवी पेलस-अर्थीनी और अणादिता ईरान की अनाहिता ज्ञात होती हैं। सालि-मालिनी की पहचान चन्द्रमा की यूनानीदेवी सेलिनी से संभवत की जा सकती है। तिधिणी या तिधणी संज्ञा स्पष्ट नहीं है। हो सकता है यह रोम की देवी डायना का भारतीय रूप हो। अइराणि नाम पृ० २०५ और २२३ पर भी आया है। इसकी पहचान निश्चित नहीं। किन्तु प्राचीन देवियों की सूची में अफोदिति का नाम इसके निकट तम है। यदि अइराणिसि का पाठ अइरादिसी रहा हो तो यह पहचान ठीक हो सकती है। रम्भत्ति मिस्सकेसित्ति का पाठ भी कुछ बदला हुआ ज्ञात पड़ता है, क्योंकि मिश्रकेशी का नाम पहले आचुका है। मोतीचन्द्र जी को प्राप्त एक प्रति में रम्भ तिमिस्सकेसित्ति पाठ मिला था। इनमें तिमिस्सकेनी अरतिमिस नामक यूनानी देवी ज्ञात पड़ती है और रम्भ की पहचान इस्तर से संभव है। जो प्राचीन जगत् में अत्यन्त विख्यात थी और जिसे शायी, रीया भी कहा जाता था।

स्त्री जातीय वस्त्रों के नामों में ये शब्द उल्लेखनीय हैं। पत्तोर्ण, प्रवेणी, सोमित्तिक (अर्थ शास्त्र की सौमित्रिका जिसकी पहचान श्री मोतीचन्द्र जी ने पेरिप्लस के सगमोलोजिन से की है), अर्धकौशेयिका (जिसमें आधा सूत और आधा रेशम हो), कौशे यिका (पूरे रेशमी धागेवाला), पिकानाश्रित (यह संभवत बहुत महीन अंशुक था जिसे स्त्रियां पिक नामक केशपाश सिर पर बनाते समय बालों के साथ गूथती थीं। पिक नामक केशपाश का उल्लेख अश्व घोष के सौन्दरनंद ७।७ में मुक्तागुणोद्ग्रथित नाम से एव पद्मप्राभृतक नामक भाण में कोकिल केशपाश नाम से आया है और उसका रूप मथुरा वेदिकास्तंभ संख्या जे० ५५ के अशोक दोहद दृश्य में अंकित हुआ है), वाउक या वायुक (बाफ्त हवा), वेलविका (वेलदार या बेलभांत से युक्त वस्त्र), माहिसिक (महिष जनपद या हैदराबाद के बुने हुए वस्त्र), इहि (कोमल या कृष्ण वर्ण के वस्त्र),

जामिलिक (बौद्ध संस्कृत में इसे ही यमली कहा गया है), दिव्यावदान २७६।११, पादताडितक नामक भाण में श्लोक ५३ में भी इसका उल्लेख हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि यह एक प्रकार का कायबंधन या पटका था जिसमें दो संभवतः भिन्न रंग के वस्त्रों को एक साथ बटकर कटि में बांधा जाता था। (समयुगल निवद्धमध्यदेशैः)। विशेषतः ये वस्त्र चिकने मोटे अच्छे बुने हुए सस्ते या महँगे होते थे। पृ. ७१।

स्त्री जातीय आभूषणों में ये नाम हैं—शिरीषमालिका, नलीयमालिका (नलकी के आकार के मनकों की माला), मकरिका (दो मगरमुखों को मिलाकर बनाया हुआ मस्तक का आभूषण), अवारिका या धनिस के आकार के दानों की माला, पुष्फितिका (पुष्पाकृतिका) गहना, मकण्णी (संभवतः लिपटकर बैठे हुए दो बंदरों के अलंकरण वाला आभूषण) लकड [कान में पहनने के चन्दन आदि काष्ठ के बुन्दे) वाली (कर्णवल्लिका), कर्णिका, कुण्डमालिका (कुंडल), सिद्धार्थिका (वह आभूषण जिस पर सरसों के दाने जैसे रवे उठाये गये हो), अंगुलिमुद्रिका, अक्षमालिका (रुद्राक्ष की आकृति के दानों की माला), पयुका (पदिक की आकृति से युक्तमाला), णितरिंगी (संभवतः लहरियेदार माला), कंटकमाला (नुकीले दानों की माला), वनपिच्छलिका (मोरपिच्छी की आकृति के दानों से बनी गूथी हुई माला), विकालिका (विकालिका या घटिका जैसे दानों की माला), एकावलिका (मोतियों की इकलड़ी माला जिसका कालिदास और बाण में उल्लेख आया है), पिप्पलमालिका (पीपली के आकार के दानों की माला जिसे मटरमाला भी कहते हैं), हारावली (एक में गूथे हुए कई हार), मुक्तावली (मोतियों की विशेष माला जिसके बीच में नीलम की गुरिया पड़ी रहती थी)।

कमर के आभूषणों में कांची, रशना, मेखला, जंबुका (जामुन की आकृति के बड़े दानों की करधनी, जैसी मथुरा कला में मिलती हैं), कंटिका (कंटीली जैसे दानों वाली) संपडिका (कमर में कसी या मिली हुई करधनी) के नाम हैं।

पैर के गहनों में पादमुद्रिका (पामुद्दिका), पादसूचिका, पादघट्टिका, किंकिणिका (छोटे घूंघरू वाला आभूषण) और वम्मिका (पैरों का ऐसा आभूषण जिसमें दीमक की आकृति के बिना बजने वाले घूंघरू के गुच्छे लगे रहते हैं, जिन्हें बाजरे के घूंघरू भी कहते हैं।) (पृ० ७१),

शयनासन और यानों में प्रायः पहले के ही नाम आये हैं। बर्तनों के नामों में ये विशेष हैं—करोडी (करोटिका–कटोरी), कांस्यपात्री, पालिका (पाली), सरिका, भृंगारिका, कंचणिका, कवचिका। बड़े बर्तनों (भांडोपकरण) के ये नाम उल्लेखनीय हैं—अलिन्दक (बड़ा पात्र), पात्री (तश्तरी), ओखली (थाली), कालंची, करकी (टोटीदार करवा), कुठारिका (कोष्ठागार का कोई पात्र), थाली, मंडी (मांड पसाने का बर्तन), घड़िया, दव्वी (डोई), केला (छोटा घड़ा), ऊष्ट्रिका (गगरी), माणिका (माणक नामक घडे का छोटा रूप), अणिसका (मिट्टी का सिलौटा), आयमणी (आचमणी या चमची) चुल्ली, फुमणाली (फुंकनी), समंद्दणी (पकडने का संडसी), मंजूषिका (छोटी

ज्ञात होता है जिसमें एक सिंह के मुख की आकृति बनी रहती थी और उसके मुख में से मोतियों के झुग्गे लटकते हुए दिखाए जाते थे। मथुरा की मूर्तियों में ये स्पष्ट मिलते हैं। गरुडक और मगरक ये दो नाम मथुराकला में पहचाने जा सकते हैं। मथुरा के कुछ मुकुटों में गरुड़ की आकृतिवाला आभूषण पाया जाता है। मगरक वही है जिसे बाणभट्ट और दूसरे लेखकों ने मकरिका या सीमन्त मकरिका कहा है। दो मकरमुखों की आकृतियों को मिलाकर यह आभूषण बनाया जाता था और दोनों के मुख से मुक्ताजाल लटकते हुए दिखाए जाते थे। इसी प्रकार बैल की आकृतिवाला वृषभक, हाथी की आकृतिवाला हत्थिक और चक्रवाक-मिथुन की आकृति से युक्त चक्कमिथुनक (चक्कक मिहुणग) नामक आभूषण होता था। हाथ के कड़े और पैरों के खडुये, णिडालमासक [माथे की गोल टिकुली], तिलक, मुह फलक [मुख फलक], विशेषक, कुंडल, तालपत्र, कर्णपीड, कर्णफूल कान की कील और कर्ण-लोढक नामक आभूषण रेंठ कुशाणकाल में व्यवहार में आते थे। इनमें से कर्णलोढक बिल्कुल वही आभूषण है जिसे अंग्रेजी में वोल्यूट [volute] कहते हैं और जो मथुरा की कुशाणकालीन स्त्री-मूर्तियों में तुरत पहचाना जा सकता है। यह आभूषण फिर गुप्तकाल में देखने में नहीं आता। केयूर, तलव, आमेढक, पारिहार्य (विशेष प्रकार का कड़ा), वलय, हस्त कलापक, कङ्कण ये भी हाथ के आभूषण थे। हस्तकलापक में बहुत सी पतली चूड़ियों को किसी तार से एक में बाँधकर पहना जाता था, जैसा मथुरा शिल्प में देखा जाता है। गले के आभूषणों में हार, अर्धहार, फलहार, वैकक्षक, ग्रैवेयक का उल्लेख है। सूत्रक और स्वर्णसूत्र स्वस्तिक और श्रीवत्स नामक आभूषण भी पहने जाते थे। किन्तु इन सब में महत्त्वपूर्ण और रोचक अष्टमंगल नाम का आभूषण है। बाण ने इस ही अष्टमंगलक माला कहा है और महा—व्युत्पत्ति की आभूषणसूची में भी इसका नाम आया है। इस प्रकार की माला में अष्टमांगलिक चिह्नों की आकृतियाँ रत्नजटित स्वर्ण की बनाकर पहनी जाती थीं और उसे विशेष रूप से सकट से रक्षा करने वाला माना जाता था। साँची के तोरण पर भी मांगलिक चिह्नों से बने हुए कटुले उत्कीर्ण मिले हैं। मथुरा के आयागपट्टों पर जो अष्ट मांगलिक चिह्न उत्कीर्ण हैं, वे ही इन मालाओं में बनाए जाते थे। श्रोणिसूत्र रत्नकलापक ये कटिभाग के आभूषण थे। गंडपक और खत्तियघम्मक पैरों के गहने थे। खत्तियघम्मक वर्तमान काल का गूजरी नामक आभूषण ज्ञात होता है, जो एक तरह का मोटा भारी पैरों से सटा हुआ कड़े के आकार का गहना है। पादढक [पादवेष्टक], पैरों के खडुवे, पादकलापक [लच्छे] पादमासक [सुतिया कड़ी जिसमें एक गोल टिकुली हो] और पादजाल [पायल]-ये पैरों के आभूषण थे। मोतियों के जाले आभरणों के साथ मिलाकर पहने जाते थे जिनमें बाहुजालक, उरुजालक और सरजालक [कटिभाग में पहरने का आभूषण जिसे गुजराती में सेर कहते हैं] का विशेष उल्लेख है।

बर्तनों (पृ० ६५) में थाल, तश्तरी (तट्टक), कुंडा (श्रीकुंड) का उल्लेख है।

एक विशेष प्रकार का वर्तन पणसक होता था जो कटहल की आकृति का बनाया जाता था। इस प्रकार के एक समूचे वर्तन का बहुत ही सुन्दर नमूना अहिच्छत्रा की खुदाई में मिला है। हस्तिनापुर और राजघाट की खुदाई में भी पणसक नामक पात्र के कुछ टुकड़े पाये गये हैं। यह पात्र दो प्रकार का बनाया जाता था। एक बाहर की ओर कई पत्तियों से ढंका हुआ और दूसरा बिना पत्तियों के हूबहू कटहल के फल के आकार का और लगभग उतना ही बड़ा। अर्धकपित्थ वह प्याला होना चाहिए जो आकृति में अति सुंदर बनाया जाता था और आधे कटे हुए कैथ के जैसा होता था। ऐसे प्याले भी अहिच्छत्रा की खुदाई में मिले हैं। सुपतिट्ठक या सुप्रतिष्ठित वह कटोरा या चषक होता था जिसके नीचे पैंदी लगी रहती थी और जिसे आज-कल की भाषा में गौडेदार कहा जाता है। पुष्करपत्रक, मुंडक, श्रीकंसक, जम्बूफलक, मल्लक, मूलक, करोटक, वर्धमानक ये अन्य वर्तनों के नाम थे। खोरा, खोरिया, वाटकी (वट्टक नामक छोटी कटोरियां) भी काम में आती थीं। शयनासनों का उल्लेख ऊपर आ चुका है। उनमें मसूरक उस तकिये को कहते थे जो गोल चपटा गाल के नीचे रखने को काम आता था, जिसे आज कल गलसूई कहा जाता है।

मिट्टी के [पृ. ६५] पात्रों में अलिंजर (बहुत बड़ा लंबोतरा घडा), अलिन्द, कुंडग (कुंडा नामक बड़ा घडा), माणक (ज्येष्ठ माट नाम का घड़ा) और छोटे पात्रों में वारक, कलश, मल्लक, पिठरक आदि का उल्लेख है।

इसी प्रकरण में धन का विवरण देते हुए कुछ सिक्कों के नाम आये हैं जैसे स्वर्णमासक, रजतमासक, दीनारमासक, णाणमासक, कार्षापण, काहापण, क्षत्रपक, पुराण और सतेरक। इनमें से दीनार कुशाणकालीन प्रसिद्ध सोने का सिक्का था जो गुप्तकाल में भी चालू था। णाण संभवतः कुशानसम्राटों का चलाया हुआ मोटा गोल बड़ी आकृति का तांबेका पैसा था। जिसके लाखों नमूने आज भी पाये गये हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि ननादेवी की आकृति सिक्कों पर कुशाणकाल में बनाई जाने लगी थी और इसीलिए चालू सिक्कों को नाणक कहा जाता था। पुराण शब्द महत्त्वपूर्ण है जो कुशाणकाल में चांदी की पुरानी आहत मुद्राओं के लिए (अंग्रेजी पंचमार्कड) के लिए प्रयुक्त होने लगा था, क्योंकि नये ढाले गये सिक्के की अपेक्षा वे उस समय पुराने समझे जाने लगे थे; यद्यपि उनका चलन बेरोकटोक जारी था। हुविष्क के पुण्यशाला लेख में ११०० पुराण सिक्कों के दान का उल्लेख आया है। खत्तपक संज्ञा चांदी के उन सिक्कों के लिए उस समय लोक में प्रचलित हुई थी जो उज्जैनी के शकवंशी महा-क्षत्रपों द्वारा चालू किये गये थे और लगभग पहली शती से चौथी शती तक जिनकी बहुत लम्बी शृंखला पायी गयी है। इन्हें ही आरम्भ में रुद्रदामक भी कहा जाता था। सतेरक यूनानी स्टेटर सिक्के का भारतीय नाम है। सतेरक का उल्लेख मध्यएशिया के लेखों में तथा वसुबन्धु के अभिधर्म कोशमें भी आया है।

पृष्ठ ७२ पर सुवर्ण-काकिणी, मासक-काकिणी, सुवर्ण-गुंजा और दीनार का उल्लेख हुआ है। पृष्ठ १८९ पर सुवर्ण और कार्षापण के नाम हैं। पृ. २१५-१६ पर

कार्षापण और पाणक, मासक, अर्द्धमासक, काकणी और अट्ठभाग का उल्लेख है। सुवर्ण के साथ सुवर्णमासक और सुवर्ण-काकणी का नाम विशेष रूप से लिखा गया है (पृ २१६)।

दूसरे द्वार में (पृ० ६६-७२) विस्तार स्त्री नामों की सूचियाँ हैं जिनमें मनुष्य, देवयोनि, चतुष्पद, पक्षी, जलचर, थलचर, वृक्ष, पुष्प, फल, भोजन, वस्त्र, आभूषण, शयनासन, यान, भाजन भाण्डोपकरण, और आयुधों के नाम हैं। स्त्रीजातीय मनुष्य नामों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—अमच्ची, वल्लभी, मतिहारी, भोगिनी, तल वरी, रट्ठिनी (राष्ट्रिक नामक उच्च अधिकारी की पत्नी), सार्थवाही [सार्थवाह नामक व्यापारी की पत्नी], इब्भी [इभ्य नामक श्रेष्ठी की पत्नी], देश के अनुसार लाटी किराती, बब्बरी (बर्बर देश की), जोणिका (यवन देश की), शबरी, पुलिन्दी, आन्ध्री दिमिलि (द्रमिल या द्राविड़ देश की स्त्री) पृ० ६८।

देवयोनि (पृ० ६९) के अन्तर्गत कुछ देवियों के नाम महत्त्वपूर्ण हैं, जैसे इन्द्रमहिषी, असुरमहिषी, अइरिका, भगवती। किन्तु इस सूची में कुछ विदेश की देवियों के नाम भी आगये हैं, उनमें अपला, अणादिता, अइराणि, सालि-मालिनी उल्लेखनीय हैं। अपला यूनानीदेवी पेलस-अथीनी और अणादित्ता ईरान की अनाहिता ज्ञात होती हैं। सालि-मालिनी की पहचान चन्द्रमा की यूनानीदेवी सेलिनी से सम्भवत की जा सकती है। तिथिणी या तिथणी सत्ता स्पष्ट नहीं है। हो सकता है यह रोम की देवी डायना का भारतीय रूप हो। अइराणि नाम पृ० २०५ और २२३ पर भी आया है। इसकी पहचान निश्चित नहीं। किन्तु प्राचीन देवियों की सूची में अफ्रोदिति का नाम इसके निकट तम है। यदि अइराणित्ति का पाठ अइरादित्ती रहा हो तो यह पहचान ठीक हो सकती है। रम्भत्ति मिस्सकेसित्ति का पाठ भी कुछ बदला हुआ ज्ञात पड़ता है, क्योंकि मिश्रकेशी का नाम पहले आचुका है। मोतीचन्द्र जी को प्राप्त एक प्रति में रम्भ तिमिस्सकेसित्ति पाठ मिला था। इनमें तिमिस्सकेसी अरतिमिस नामक यूनानी देवी जान पड़ती है और रम्भ की पहचान इसतर से सम्भव है। जो प्राचीन जगत् में अत्यन्त विख्यात थी और जिसे शर्वा रीया भी कहा जाता था।

स्त्री जातीय वस्त्रों के नामों में ये शब्द उल्लेखनीय हैं। पत्तोर्ण, प्रवेणी सोमित्तिक (अर्थ शास्त्र की सौमित्रिका जिसकी पहचान श्री मोतीचन्द्र जी ने पेरिप्लस के सगमोतोजिन से की है), अर्धकौशेयिका (जिसमें आधा सूत और आधा रेशम हो, कौशेयिका (पूरे रेशमी धागेवाला), पिकानदित (यह सम्भवत बहुत महीन अंशुक था जिसे स्त्रियां पिक नामक केशपाश सिर पर बनाते समय बालों के साथ गूथती थीं। पिक नामक केशपाश का उल्लेख अश्व घोष के सौन्दरनन्द ७।७ में मुक्ताशुकाइाल नाम से एवं पद्मप्राभृतक नामक भाण में कोकिल केशपाश नाम से आया है और उसका रूप मथुरा वेदिकास्तम्भ संख्या जे० ५५ के अशोक दोहद दृश्य में अंकित हुआ है) वाउक या वायुक (बाफ्त इया), वेल्लविका (वेलदार या वेलभात से युक्त वस्त्र) माहिस्तिक (महिष जनपद या हैदराबाद के बुने हुए वस्त्र), इलि (कोमल या कृष्ण वर्ण के वस्त्र),

जामिलिक (बौद्ध संस्कृत में इसे ही यमली कहा गया है), दिव्यावदान २७६।११, पाद्‌ताडितक नामक भाण में श्लोक ५३ में भी इसका उल्लेख हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि यह एक प्रकार का कायबंधन या पटका था जिसमें दो संभवतः भिन्न रंग के वस्त्रों को एक साथ बटकर कटि में बांधा जाता था। (समयुगल निवद्धमध्यदेशैः)। विशेषतः ये वस्त्र चिकने मोटे अच्छे बुने हुए सस्ते या महँगे होते थे। पृ. ७१।

स्त्री जातीय आभूषणों में ये नाम हैं—शिरीषमालिका, नलीयमालिका (नलकी के आकार के मनकों की माला), मकरिका (दो मगरमुखों को मिलाकर बनाया हुआ मस्तक का आभूषण), अवारिका या धनिस के आकार के दानों की माला, पुष्फितिका (पुष्पाकृतिका) गहना, मकण्णी (संभवतः लिपटकर बैठे हुए दो बंदरों के अलंकरण वाला आभूषण) लकड [कान में पहनने के चन्दन आदि काष्ठ के बुन्दे) वाली (कर्णवल्लिका), कर्णिका, कुण्डमालिका (कुंडल), सिद्धार्थिका (वह आभूषण जिस पर सरसों के दाने जैसे रवे उठाये गये हो), अंगुलिमुद्रिका, अक्षमालिका (रुद्राक्ष की आकृति के दानों की माला), पयुका (पदिक की आकृति से युक्तमाला), णितरिंगी (संभवतः लहरियेदार माला), कंटकमाला (नुकीले दानों की माला), वनपिच्छलिका (मोरपिच्छी की आकृति के दानों से घनी गूथी हुई माला), विकालिका (विकालिका या घटिका जैसे दानों की माला), एकावलिका (मोतियों की इकलड़ी माला जिसका कालिदास और बाण में उल्लेख आया है), पिप्पलमालिका (पीपली के आकार के दानों की माला जिसे मटरमाला भी कहते हैं), हारावली (एक में गूथे हुए कई हार), मुक्तावली (मोतियों की विशेष माला जिसके बीच में नीलम की गुरिया पड़ी रहती थी)।

कमर के आभूषणों में कांची, रशना, मेखला, जंबुका (जामुन की आकृति के बड़े दानों की करधनी, जैसी मथुरा कला में मिलती है), कंटिका (कंटीली जैसे दानों वाली) संपडिका (कमर में कसी या मिली हुई करधनी) के नाम हैं।

पैर के गहनों में पादमुद्रिका (पामुद्दिका), पादसूचिका, पादघट्टिका, किंकिणिका (छोटे घूंघरू वाला आभूषण) और वम्मिका (पैरों का ऐसा आभूषण जिसमें दीमक की आकृति के बिना बजने वाले घूंघरू के गुच्छे लगे रहते हैं, जिन्हें बाजरे के घूंघरू भी कहते हैं।) (पृ० ७१),

शयनासन और यानों में प्रायः पहले के ही नाम आये हैं। वर्तनों के नामों में ये विशेष हैं—करोडी (करोटिका—कटोरी), कांस्यपात्री, पालिका (पाली), सरिका, भृंगारिका, कंचणिका, कवचिका। बड़े वर्तनों (भांडोपकरण) के ये नाम उल्लेखनीय हैं—अलिन्दक (बड़ा पात्र), पात्री (तश्तरी), ओखली (थाली), कालंची, करकी (टोटीदार करवा), कुटारिका (कोष्ठागार का कोई पात्र), थाली, मंडी (मांड पसाने का वर्तन), घड़िया, दव्वी (डोई), केला (छोटा घड़ा), उदिदूका (गगरी), माणिका (माणक नामक घडे का छोटा रूप), अणिसका (मिट्टी का सिलौटा), आयमणी (आचमणी या चमची) चुल्ली, फुमणाली (फुंकनी), समंदणी (पकडने का संडसी), मंजूषिका (छोटी

मजूषा), मुद्रिका (ऐसा बर्तन जिसमें खान-पान की वस्तु मोहर लगाकर भेजी जाय) शलाकाञ्जनी (आंजन की सलाई), पेल्लिका (रस गाल्ने का कोई पात्र), धूतुल्लिका (कोई ऐसा पात्र जिसमें धूता या पुनगी बनी हो), पिंछोला (मुंह से बजाने का छोटा बाजा), फणिका (कंघा), द्रोणी पटलिका, पत्थरिका, कडाही (गुड बनाने का बडा कडाह) आदि (पृ ७०)।

तीसरे द्वार में नपुंसक जाति के अंगों का परिगणन है। चौथे द्वार में दाहिनी ओर के १७ अंगों के नाम हैं। पांचवें द्वार में १० बाईं ओर के अंग छठे द्वार में १९ मध्यवर्ती अंग, सातवें द्वार में २८ स्थान, आठवें द्वार में ८८ चल अंग और उनमें शुभाशुभ फलों का कथन है। नवें द्वार से लेकर २७० वें द्वार तक शरीर के भिन्न-भिन्न अंग और उनके नाना प्रकार के फलों का बहुत ही जटिल वर्णन है। इन लंबी देने वाली सूचियों से पार पाना इस विषय के विद्वानों के लिए भी दूभर काम रहा होगा। (पृ ७१-१२९)

दशवें अध्याय में प्रश्नकर्त्ता के आगमन और उसके रंग ढंग आसन आदि से फलाफल का विचार है। (पृ० १३०-१३५)

पुच्छिम नामक ग्यारहवें अध्याय में प्रश्नकर्त्ता की स्थिति एवं जिस स्थान में प्रश्न किया जाय उसके आधार पर फलाफल का कथन है। सांस्कृतिक दृष्टि से यह अध्याय महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें तत्कालीन स्थापत्यसंबंधी अनेक शब्दों का संग्रह आगया है, जैसे कोट्टक (कोष्ठक या कोण) अंगण (आंगन या अजिर) अरंजरमूल (जलगृह), गर्भगृह (अभ्यंतर गृह या अन्तःपुर), भत्तगिह (भोजनशाला), घयगिह (घर्षकुटी या मार्जनगृह), णकुड (संभवतः नगकूट या उद्यान), उदकगृह, अग्निगृह, भूमिगृह (भौंहरा), विमान, चत्वर, संधि (दो घरों की भीतों के बीच का प्रच्छन्न स्थान), समर (स्मरगृह या कामदेवगृह), कडिक तोरण (चटाई या फूँस से बनाया हुआ अस्थायी तोरण), प्राकार, चरिका (प्राकार के पीछे नगर की ओर की सड़क) वेती (संभवतः वेदिका), गयसाली (गजशाला), सकम (संक्रम या परिखा के ऊपर बनाया हुआ पुल), शयन (शयनागार), वल्भी (अट्टालिका), रत्था (कूंची), पंसु (धूल) णिद्धमण [पानी का निकास मार्ग, मोरी], णिकुट [संभवतः निष्कुट], फलिखा [परिखा], पाचीर [संभवतः मूल पाठ पाचीर=प्राचीर], पढिका [पटी या गद्दी] मोहणगिह [मदनगृह-रतशाला], ओसर [अपसरक-कमरे के सामने का दालान, गुजराती ओसरी हिन्दी ओसारा], अकड (निश्छिद्र अल्प अवकाशवाला स्थान), ओसधिगिह, अभ्यन्तर परिचरण (पाठान्तर परिचरण-भीतरी परिवेष्टन-परकोटा), बाहिरी द्वारशाला, गृहद्वार बाहा (गृहद्वार का पार्श्वभाग), उवट्ठाण जालगिह (वह उपस्थानशाला जहाँ गवाक्ष जाल बने हों यह प्रायः महल के ऊपरी भाग में बनी होती थी), अच्छणक (आसनगृह या विश्राम स्थान), शिल्पगृह, कर्मगृह रजतगृह (सोने, चादी से मांडा हुआ विशिष्ट गृह), ओयिगिह (पाठान्तर उवगिह=उपगृह), उप्पलगृह (कमलगृह), हिमगृह, आदंस

(आदर्शगृह,--शीश महल), तलगिह (भूमिगृह), आगमगिह (संभवतः आस्थायिका या आस्थानशाला), चतुक्कगिह (चौक), रक्खागिह (रक्षागृह), दन्तगिह (हाथी दांत से मंडित कमरा), कंसगिह (कांसे से मंडित कमरा), पडिकम्मगिह (प्रतिक्रमण या धार्मिक कृत्य करने का कमरा), कंकमाला (कंक=विशेष प्रकार का लोह-उससे बना हुआ कमरा), आतपगिह, पणियगिह (पण्यगृह), आसणगिह (आस्थान शाला), भोजनगृह, रसोतीगिह (रसवतीगृह, रसोई), हयगृह, रथगृह, गजगृह, पुप्फगृह, चूतगृह, पातवगिह (पादपगृह), खलिणगिह (वह कमरा-जहाँ घोड़े का साज सामान रखा जाता हो), बंधनगिह (कारागार), जाणगिह (यानगृह), पृ० १३६।

कुछ दूर बाद स्थापत्यसंबन्धी शब्दों की एक लम्बी सूची पुनः आती है। जिसमें बहुत से नाम तो ये ही हैं और कुछ नये हैं, जसे भग्गगिह (लिपा—पुता घर, भग्ग-देशीशब्द=लिपा-पुता, देशीनाममाला ६/९९), सिंघाडग (शृंगारक=सार्वजनिक चतुष्पथ), रायपथ (राजपथ), द्वार, क्षेत्र, अट्टालक, उदकपथ, वय (व्रज), वप्प (वप्र), फलिहा (परिख या अर्गला), पउली (प्रतोली, नगर द्वार), अस्समोहणक (अश्वशाला), मंचिका (प्राकारके साथ बने हुए ऊंचे बैठने के स्थान), सोपान, खम्भ, अभ्यंतर द्वार, बाहिर द्वार, द्वारशाला, चतुस्सलक (चतुष्क), महाणस गिह, जलगिह, रायणगिह (रत्नगृह, जिसे पहले रयनगिह या रजतगृह कहा है वह संभवतः रत्नगृह था), भांडगृह, ओसहि गिह (ओषधिगृह), चित्तगिह (चित्रगृह), लतागिह, दगकोट्टक (उदक कोष्ठक), कोसगिह (कोषगृह), पाणगिह (पानगृह), वत्थगिह (वस्त्रगृह. तोशाखाना), जूतसाला (द्यूतशाला), पाणवगिह (पण्यगृह या व्यवहारशाला), लेवण (आलेपन या सुगंधशाला), उज्जाणगिह (उद्यानशाला,) अएसण गिह [आदेशनगृह], मंडव (मंडप), वेसगिह (वेशगृह शृंगार स्थान), कोट्ठागार (कोठार), पवा (प्रपाशाला), सेतुकम्म (सेतुकर्म), जणक (संभवतः जाणक-यानक), ण्हाणगिह (स्नानगृह), आतुरगिह, संसरणगिह (स्मृतिगृह), सुंकशाला (शुल्कशाला), करणशाला (अधिष्ठान या सरकारी दफ्तर), परोहड (घर का पिछवाड़ा)। अन्त में कहा है कि और भी अनेक प्रकार के गृह या स्थान मनुष्यों के भेद से भिन्न-भिन्न होते हैं, जिनका परिचय लोक से प्राप्त किया जा सकता है (पृ० १३७—१३८)

बारहवें अध्याय में अनेक प्रकार की योनियों का वर्णन है। धर्मयोनि का संबन्ध धार्मिक जीवन और तत्संबंधी आचार-विचारों से है। अर्थयोनि का संबंध अनेक प्रकार के धनागम और अर्थोपार्जन में प्रवृत्त स्त्रीपुरुषों के जीवन से है। कामयोनि का संबंध स्त्री-पुरुषों के अनेक प्रकार के कामोपचारों से एवं गन्ध-माल्य, स्नानानुलेपन, आभरण आदि की प्रवृत्तियों और भोगों से है। सत्त्वों के पारस्परिक संगम और मिथुन भाव को संगमयोनि समझना चाहिए। इसके प्रतिकूल विप्पयोगयोनि वह है जिसमें दोनों प्रेमी अलग-अलग रहते हैं। मित्रों के मिलन और आनंदमय जीवन को मित्रयोनि समझना चाहिए। जहां आपस में अमैत्री, कलह आदि हों और दो व्यक्ति अहि-नकुल भाव से रहे वह विवाद-

योनि ह। जहा ग्राम, नगर, निगम जनपद, पत्तन, निवेश, स्कन्धावार, अटवी, पर्वत आदि प्रदेशों में मनुष्य दूत, सन्धिपाल या प्रवासी के रूप में आते जाते हों उस प्रसग को प्रावासिक योनि मानना चाहिए। ये ही लोग जब ठहरे हुए हों तो उसे पवुथ या गृहयोनि समझना चाहिए।

तेरहवें अध्याय में नाना प्रकार की योनियों के आधार पर शुभाशुभ फल का कथन है। सजीव, निर्जीव और सजीव – निर्जीव तीन प्रकार की योनि और तीन ही प्रकार के लक्षण हैं अर्थात् उदात्त, दीन और दीनोदात्त। (पृ १४०-१४४)

चौदहवें अध्याय में यह विचार किया गया है कि यदि प्रश्नकर्त्ता लाभ के सबध में प्रश्न करे तो कैसा उत्तर देना चाहिए। लाभसबधी प्रश्न सात प्रकार के हो सकते हैं – धनलाभ, प्रियजनसमागम, सतान या पुत्रप्राप्ति, आरोग्य, जीवित या आयुष्य, शिल्पकर्म, वृष्टि और विजय। इनका विवेचन चौदहवें से लेकर २१ वें अध्याय तक किया गया है। वृष्टिद्वार नामक बीसवें अध्याय में जलसम्बन्धी वस्तुओं का नाम देते हुए कोटिम्ब नामक विशेष प्रकार की नाव का उल्लेख आया है जिसका परिगणन पृष्ठ० १६६ पर नावों की सूची में पुन किया गया है। धनलाभ के सबध में फल कथन उत्तम वस्त्र, आभरण, मणि-मुक्ता, कचन प्रवाल, भाजन-शयन, भक्ष्य-भोजन आदि मूल्यवान वस्तुओं के आधार पर और प्रश्नकर्त्ता द्वारा उनके विषय में दर्शन या भाषण के आधार पर किया जाता था [पृष्ठ १४४]

पन्द्रहवें अध्याय में समागम के विषय में फल-कथन हस कुररी-चक्रवाक, कारण्डव, कादम्ब आदि पक्षियों की कामसबधी चेष्टाओं अथवा चतुष्पथ, तीर्थ, उद्यान, सागर, नदी, पत्तन आदि की वार्ताओं के आधार पर किया गया है। इसमें समोद, संप्रीति, मित्रसगम या विवाह आदि फलों का उल्लेख किया जाता था।

सोलहवें अध्याय में सतान के सबध में प्रश्न का उत्तर कहा गया है, जो बच्चों के खिलौनों या तत्सदृश वस्तुओं के आधार पर कहा जाता था।

सत्रहवें अध्याय में आरोग्यसबधी प्रश्न का उत्तर पुष्प, फल, आभूषण आदि के आधार पर अथवा हास्य, गीत आदि भावों के आधार पर करने का निर्देश है।

अठारहवें अध्याय में जीवन और मरणसबधी प्रश्नकथन का वर्णन है।

कर्मद्वार नामक उन्नीसवें अध्याय में राजोपजीवी शिल्पी एवं उनके उपकरणों के सबध में प्रश्नकथन का उल्लेख है।

वृष्टिद्वार नामक बीसवें अध्याय में उत्तम वृष्टि और सस्य – संपत्ति के विषय में फलकथन का निर्देश है जो नावा, कोटिम्ब, डआलुआ नामक नौका, पद्म उत्पल, पुष्प, फल, कन्दमूल, तैल, घृत, दुग्ध, मधुपान, वृष्टि, स्तनित, मेघगर्जन विद्युत् आदि के आधार पर किया जाता था।

विजयद्वार नामक इक्कीसवें अध्याय में जय-पराजय-सम्बन्धी कथन है। तालवृन्त, भृंगार, वैजयन्ती, जयविजय, पुस्समाणव, शिविका, रथ, मूल्यवान् वस्त्र, माल्य, आभरण आदि के अधार पर यह फल-कथन किया जाता था। उसमें पुस्स-माणव (पुष्यमाणव) शब्द का उल्लेख महाभाष्य ७।३।२३ में आया है (महीपालवचः श्रुत्वा जुघुपुः पुष्य माणवाः)। आगे पृ. १६० पर भी सूत मागध के बाद पुष्यमाणव का उल्लेख हुआ है? जिससे सूचित होता है कि ये राजा के वंदी मागध जैसे पार्श्वचर होते थे। इसी सूची में जयविजय विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता के अनुसार [अ. ४३, श्लोक ३९-४०] राज्य में सात प्रकार की ध्वजाएं शक्रकुमारी कहलाती थीं। उनमें सबसे बड़ी शक्रजनित्री या इन्द्रमाता, उससे छोटी दो वसुन्धरा, उनसे छोटी दो जया, विजया और उनसे छोटी दो नन्दा, उपनन्दा ४ कहलाती थीं [पृ. १४६]।

बाइसवाँ प्रशस्त नामक अध्याय है। इसमें उन उत्तम फलों की सूची है जिनका शुभ कथन किया जाता था। उनमें से कुछ विषय इस प्रकार थे-क्रय-विक्रय में लाभ, कर्मद्वारा प्राप्त लाभ, कीर्ति, वन्दना, मान, पूजा, उत्कृष्ट और कनिष्ठ शब्दों का श्रवण, सुन्दर केशविन्यास और मौलिबन्धन, केशाभिवर्धन, विवाह, विद्या, इक्षु, सस्यफल आदि का लाभ, खेती में सुभिक्ष, बन्धुजन-समागम, गेय काव्य, पादबन्ध (श्लोक-रचना), पाठ्य, काव्य, गौ आदि पशु एवं नर-नारी और स्वजनों की रक्षा, गन्ध-माल्य, भाजन-भूषण आदि का संजोना, यान, आसन, शयन, कमलवन, भ्रमर, विहग, द्रुम आदि का समागम, घात, वध, बन्ध एवं हास्य, परिमोदन आदि की प्राप्ति, ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त, वसन्त, शरद आदि ऋतुओं की प्राप्ति, घोड़े, शूकर आदि का पकड़ना, घंटिक (राजप्रासाद में घंटावादन करने वाले), चक्किक (चाक्रिक, घोषणा करनेवाला वंदीविशेष, अमरकोष २।८।९८) सत्थिक (स्वस्ति वाचन करने वाला), वैतालिक [प्रातःकाल स्तुतिपाठ द्वारा जागरण करानेवाला], मंगलवाचन, मूल्यावान रत्न आदि का ग्रहण, गन्ध, माल्य, आभरण, चिरप्रवास से सफल यात्रा या सिद्ध यात्रा के साथ लौटने पर स्वजन संबंधियों से समागम, भूताधिपत्य, पुण्य उत्पत्ति, चैत्यपूजा के महोत्सव में (महामहिक) तूर्य शब्दों का श्रवण, चोरी हुए भ्रष्ट और नष्ट धन की पुनः प्राप्ति, अष्ट-मांगलिक चिह्नों [चिन्धट्ठय] को सुवर्ण में बना कर उनका उच्छ्रित करना, छत्र, उपानह, भृंगार का संप्रदान, रक्षा और संपत्ति की प्राप्ति, इच्छानुकूल आनंद प्राप्त होना, किसी विशेष शिल्प के कारण संपूजन और अभिवंदन, स्वच्छ जल की उत्पत्ति और दर्शन, मन में उत्तम विचार की उत्पति, जल-पात्र या जलाशय का पूर्ण होना, जातकर्म आदि संस्कारों में प्रशस्त अग्नि का प्रज्वलित करना, आयुष्य, धन, अन्न, कनक, रत्न, भाजन, भूषण, परिधान, भवन आदि सुखकारी संपदा की प्राप्ति, ऋजु आर्जव युक्त साधुओं का पूजन, ज्येष्ठ और अनुज्येष्ठ की नियुक्ति, ज्योति, अग्नि, विद्युत, वज्र, मणि, रत्न आदिसे दृप्ति, जन्म आदि अवसरों पर होनेवाला मंडन या शोभा, आर्यजनों का संमान और पूजा, ध्यान की आराधना, पुरानी वस्तुओं

का नवीकरण, अध्यात्मगति विषयक दर्शन, किसी आढ्य पुरुष का योग, आभूषणों का प्रशस्त शब्द इत्यादि अनेक प्रकारके प्रशस्त या उत्तम भाव लोक में हैं । जहा मन की रुचि हो, जो इन्द्रियों को इष्ट जान पड़े, एव लोक जिसकी पूजा करता हो, उसे ही प्रशस्त जानना चाहिए । [पृ १४६-१४८]

तेइसवें अध्याय में अप्रशस्त वस्तुओं का उल्लेख है जिसमें रुदन, क्रोध, बुभुक्षा आदि नाना प्रकार के हीन और विनाशकारी भावों की सूची है (पृ० १४८)

२४ वें अध्याय की सज्ञा जातिविजय है । आर्य और म्लेच्छ दो प्रकार के मनुष्य हैं । आर्य के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की गणना है । म्लेच्छवर्ग की गिनती शूद्रों में है । यह कथन पतजलि के उस कथन से मिलता है जहा महाभाष्य में उन्होंने शक-यवनों का परिगणन शूद्रों में किया है । ज्ञात होता है कि भारतीय इतिहास के उस युग का यह सामाजिक तथ्य था जिसका उल्लेख अगविज्जा के लेखक ने भी किया है । इन जातियों में कुछ महाकाय [लम्बे शरीरवाले] कुछ मज्झिमकाय [मझले कदके] और कुछ छोटे कद के होते थे । कुछ लोग व्यवहारोपजीवी, कुछ शस्त्रोपजीवी और कुछ क्षेत्रोपजीवी या कृषि से जीविका करते थे । उनके रहने के स्थान नगर, अरण्य, द्वीप, पर्वत, उद्यान (निक्खुड-निष्कुट) आदि थे । पुरत्थिम देसीय, दक्खिण देसीय, पच्छिम देसीय, उत्तर देसीय—इस प्रकार से चार दिशाओं में रहनेवाले जन कहे हुए हैं । एक दूसरा विभाग आर्य देश और अनार्य देश निवासियों का था । (पृ० १४९)

पच्चीसवाँ अध्याय गोत्र नामक है। गोत्र दो प्रकार के थे, पहले गृहपतिक गोत्र और दूसरे द्विजातिय। इस वर्गीकरण में गृहपति शब्द का अर्थ ध्यान देने योग्य है। गृहपति उस वर्ग की सज्ञा थी जो बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायी थे। उन धर्मों में अनगारिक या गृहहीन व्यक्ति तो श्रमण या मुडक होते थे, और गृही या अगारिक सामान्य रूप से गृहपतिक कहलाते थे । उनमें, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का भेद उन धर्मों को मन पूत न था। किन्तु ब्राह्मण धर्मानुयायी गृहस्थ द्विजाति कहलाते थे। गृहपतियों के गोत्रों में माढ, गोल, हारिक, चन्डक, सक्ति [कसित] वासुल, वच्छ, कोच्छ, कोसिक, कुंड ये नाम हैं। [पृ० १४९]

ब्राह्मण गोत्र चार प्रकार के कहे गए हैं—१ सगोत्र [ऋषिगोत्र] २ सकज्जित गोत्र [इसका तात्पर्य लौकिक गोत्रों से ज्ञात होता है, जो ऋषि गोत्रों से अतिरिक्त थे] ३ बंभचारिक गोत्र (उन नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के गोत्र जिन्होंने ऊर्ध्वरेता होने के कारण गृहस्थ धर्म धारण नहीं किया और शान्तनु भीष्म के समान जिन्हें अन्य सब लोगों ने अपना मान लिया), (४) एव प्रवर गोत्र । इसी प्रसंग में कुछ गोत्रों के नाम भी दिये गये हैं, जैसे-मडव (माडव्य), सेट्ठिण, वासट्ठ, संडिल्ल [शाडिल्य], कुंभ, माहकी, कस्सव [काश्यप], गोतम अंगिरस, भग्गर (भार्गव), भागवत, सद्या, ओयम, हारित, लोकक्खी [लौगाक्षि], पचक्खी वारायण, पारायण,

अग्गिवेस (अग्निवेश) मोग्गलु (मौद्गल्य), अट्ठिसेण [आर्ष्टिषेण], पूरिमंस, गद्दभ, वराह, दोइल (काहल), कंडूसी, भागवाती, काकुरुडी, कण्ण [कर्ण] मज्झंदिण (माध्यान्दिन), चरक, मूलगोत्र, संख्यागोत्र, कढ [कठ], कलव [कलाप] वालंब [व्यालम्ब], सेतस्सतर श्वेताश्वतर तेत्तिरीक [तैत्तिरीय , मज्झरस, वज्झम्न [संभवतः वाध्र्य] छन्दोग [छान्दोग्य], मुञ्जायण [मौञ्जायन], कत्थलायण, गहिक, णेरित, धंमच्च, काप्पायण, कप्प, अग्गपसत्थभ, सालंकायण, यणाण, आमोसल, साकिज, उपवत्ति, डोम, थंभायण, जीवंतायण, दढक, धणजाय, संखेण, लोहिच्च, अंतभान, पियोभाग, संडिल्ल, पव्वयव, वावद्दारी, आपुरायण वग्घपद [व्याघ्रपाद], पिल [पैल] देवहच्च, वारिणील, सुघर। इसी सूची में स्पष्ट ही प्राचीन ऋषिगोत्रों के साथ-साथ बहुत से नये नाम भी हैं जो पाणिनीय परिभाषा के अनुसार गोत्रावयव या लौकिक गोत्र कहे जायेंगे। इस तरह के वांक या अल्ल समाज में हमेशा बनते रहते हैं, और उस समय के जो मुख्य अवटंक रहे होंगे उनमें से कुछ के नाम यहां आगए हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों और शास्त्रों के नाम भी आये हैं जैसे वैयाकरण, मीमांसक छन्दोग, पण्णायिक [प्रज्ञावादी दार्शनिक], ज्योतिष, इतिहास, श्रुतवेद [ऋग्वेद], सामवेद, यजुर्वेद, एकवेद, द्विवेद, त्रिवेद, सव्ववेद [संभवतः चतुर्वेदी], छलंगवी [षडंगवित्], सेणिक, वेदपुष्ट, श्रोत्रिय, अज्झायी [स्वाध्यायी], आचार्य, जावग, णगत्ति वामपार। (पृ० १५०)

छब्बीसवां अध्याय नामों के विषय में है। नाम स्वरादि या व्यंजनादि अथवा उष्मान्त, व्यंजनान्त या स्वरान्त होते थे। कुछ नाम समाक्षर और कुछ विषमाक्षर, कुछ जीवसंसृष्ट और कुछ अजीवसंसृष्ट थे। स्त्रीनाम, पुंनाम, नपुंसक यह विभाग भी नामों का है। आगत, वर्तमान और अनागत काल के नाम यह भी एक वर्गीकरण है। एक भाषा, दो भाषा या बहुत भाषाओं के शब्दों को मिलाकर बने हुए नाम भी हो सकते हैं। और भी नामों के अनेक भेद संभव हैं। जैसे नक्षत्र, ग्रह, तारे, चन्द्र, सूर्य, तीथियां, मंडल, दिशा, गगन, उल्का, परिवश, कूप, उद्यान, नदी, सागर, पुष्करिणी, नाग, वरुण, समुद्र, पट्टन, वारिचर, वृक्ष, अन्नपान, पुष्प, फल, देवता, नगर, धातु, सुर, असुर, मनुष्य, चतुष्पद, पक्षी, कीट, कृमि, इत्यादि पृथिवी पर जितने भी पदार्थ हैं। उन सबके नामोंके अनुसार मनुष्यों के नाम पाये जाते हैं। वस्त्र, भूषण, यान, आसन, शयन, पान, भोजन, आवरण, प्रहरण, इनके अनुसार भी नाम रखे जाते हैं। नरकवासी लोक, तिर्यक् योनि में उत्पन्न, मनुष्य, देव, असुर, पिशाच, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गन्धर्व, नाग, सुपर्ण इत्यादि जो देव-योनियाँ हैं उनके अनुसार भी मनुष्यों के नाम रखे जाते हैं। एक, तीन, पाँच, सात, नौ, ग्यारह अक्षरों के नाम होते हैं जो विषमाक्षर कहलाते हैं। अथवा दो, चार, आठ, दस, बारह अक्षरों के नाम समाक्षर कहलाते हैं। संकर्षण, मदन, शिव, वैश्रवण, वरुण, यम, चन्द्र, आदित्य, अग्नि, मरुत् देवों के अनुसार भी मनुष्य नाम होते हैं।

मनुष्य नाम पांच प्रकार के कहे गये हैं—[१] गोत्र नाम जिनके अन्तर्गत गृहपति और विजाति गोत्र दो कोटियां थीं जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। [२] अपनाम या अधनाम-जैसे उज्झितक, छड्डितक। इसके अन्तर्गत वे नाम

है जो हीन या अप्रशस्त अर्थ के सूचक होते हैं। प्रायः जिनके बच्चे जीवित नहीं रहते वे मातापिता अपने बच्चों के ऐसे नाम रखते हैं। [३] कर्मनाम [४] शरीरनाम जो प्रशस्त और अप्रशस्त होते हैं अर्थात् शरीर के अच्छे-बुरे लक्षणों के अनुसार रखे जाते हैं, जैसे सण्ड, विकड, खरड, खल्वाट आदि दोषयुक्त नामों की सूची में खडसी, काण, पिल्लक, कुब्ज, वामणक, खंज आदि नाम भी हैं। यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्राकृत भाषा में भी नाम रखे जाते हैं। उसमें प्रशस्त नाम वे हैं जो वर्णगुण या शरीर गुण के अनुसार हों—जैसे अवदातक और उसे ही प्राकृत भाषा में सेड या सेडिल, ऐसे ही श्याम को प्राकृत भाषा में सामल या सामक कहा जायगा, ऐसे ही कृष्ण का कालक या कालिक। ऐसे ही शरीरगुणों के अनुसार सुमुख, सुदंसण, सुरूप, सुजान, सुगत आदि नाम होते हैं। [५] करण नाम वे हैं जो अक्षर-संस्कार के विचार से रखे जाते हैं। इनमें एक अक्षर, द्वि अक्षर, त्रि अक्षर आदि कई तरह के नाम हैं। द्वि-अक्षर-दो अक्षरों वाले नाम तीन प्रकार के होते हैं—जिनके दोनों अक्षर गुरु हैं, जिनका पहला अक्षर लघु और बाद का अक्षर गुरु, इनके उदाहरणों में वे ही नाम हैं जो कुषाणकाल के शिलालेखों में मिलते हैं—जैसे त्रात, दत्त दिण्ण, देव, मित्त, गुत्त, भूत, पाल, पालित, सम्म, यास, रात, घोस, भाणु, विध्दि, नंदि, मद, मान और भी उत्तर, पालिन, रक्खिय, नंदन, नंदिक, नंदक ये नाम भी उस युग के नामों की याद दिलाते हैं जिन्हें हम कुषाण और पूर्वगुप्तकाल के शिलालेखों में देखते हैं।

इसके बाद वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर को लेकर विस्तृत ऊहापोह की गई है कि नामों में उनका उपयोग किस-किस प्रकार किया जा सकता है।

इस अध्याय के अन्त में मनुष्य नामों की कई सूचियाँ दी गई हैं जिनमें अधिकांश नाम कुषाणकालीन संस्कृति के प्रतिनिधि हैं। उस समय नक्षत्र-देवताओं के नाम से एवं नक्षत्रों के नाम से मनुष्य नाम रखने का रिवाज था। नक्षत्र-देवताओं के उदाहरणों में चद [चन्द्र], रुद्द [रुद्र], सप्प [सर्प], अज्ज [अर्यमा], तट्ठा [त्वष्टा], वायु, मित्त [मित्र], इन्द [इन्द्र], तोय, विस्से [विश्वदेव], अजा, बम्मा [ब्रह्मा], विण्हु [विष्णु], पुस्सा [पुष्य] हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि उस समय प्राकृत भाषा के माध्यम से नामों का जो रूप लोक में चालू था, उसे ज्यों का त्यों सूची में ला दिया है, जैसे अर्यमा के लिये अज्जो और विश्वदेव के लिये विस्से। नक्षत्र नामों में श्रद्धा, पुसो, हत्थो, चित्ता, साती, जेट्ठा, मूला, मघा—ये रूप हैं। दशार्ह या वृष्णियों के नाम भी मनुष्य नामों में चालू थे जैसे, कण्ह, राम, संव, पज्जुण्ण (प्रद्युम्न), भाणु। नामों के अन्त में जुड़ने वाले उत्तर पदों की सूची विशेष रूप से काम की है, क्योंकि गुप्त और कुषाणकाल के लेखों में अधिकांश उसका प्रयोग देखा जाता है, जैसे त्रात, दत्त, देव, मित्त, गुत्त, पाल, पालित, सम्म (शर्मन) सेन (सेन), रात (जैसे वसुरात), घोस भाग।

नामों के चार भेद कहे हैं—प्रथम अक्षर लघु, अन्तिम अक्षर गुरु, सर्व गुरु एवं अन्तिम अक्षर लघु। इनके उदाहरण ये हैं—अभिजि (अभिजित्) सवन (श्रवण), भरणी, अदिती, सविता, णिरिति (निर्ऋति), वरण। और भी कत्तिका, रोहिणी, आसिका,

मूसिका, वाणिज, मगधा, मधुरा, प्रातिका, फग्गुणी, रेवती, अस्सयौ (अश्वयुक), अज्जमा [अर्यमन्],अश्विनौ, विसाहा, आसाढ़ा, धणिट्ठा, ईदगिरि। सर्व गुरु नामों की सूची में रोहत्रात, पुस्सत्रात, फग्गुत्रात, हत्थत्रात, अस्सत्रात। उपान्त्य लघुनामों में रिघसिल (पाठा० रिपितिल) श्रवणिल, पृथिविल—इन नामों में स्पष्ट ही उत्तरपद का लोप करने के बाद इल प्रत्यय जोड़ा गया है जिसका विधान अष्टाध्यायी में आया है (घनिलचौ, ५।३।७९), इल वाले नाम सांची के लेखों में बहुत मिलते हैं। अगिल (अग्निदत्त), सातिल (स्वातिदत्त), नागिल [नागदत्त] यखिल [यक्षदत्त] बुधिल (बुद्धदत्त)। ससित्रात, पितृत्रात, भवत्रात, वसुत्रात, अजुत्रात, यमत्रात—ये प्रथमलघु अक्षरवाले नाम थे। शिवदत्त, पितृदत्त, भवदत्त, वसुदत्त, अजुदत्त, यमदत्त उपान्त्य गुरुनामों के उदाहरण हैं। अंगविज्जा के नामों का गुच्छा इस विषय की मूल्यवान् सामग्री प्रस्तुत करता है। आगे चलकर गुप्तकाल में जब शुद्ध संस्कृत भाषा का पुनः प्रचार हुआ तब मनुष्य नाम भी एकदम संस्कृत के सांचे में ढल गये। अंगविज्जा में उनकी बानगी नहीं मिलती। [पृ० १५८]

सत्ताइसवें अध्याय का नाम ठाणज्झाय है। इसमें ठाण अर्थात् स्थान या सरकारी अधिकारियों के पदों की सूची है। राज्याधिकारियों की यह सूची इस प्रकार है—राजा, अमच्च, नायक, आसनस्थ (संभवतः व्यवहारासन का अधिकारी), भांडागारिक, अभ्यागारिक [संभवतः अन्तःपुर का अधिकारी जिसे दौवारिक या गृहचिन्तक भी कहते थे], महाणसिक [प्रधान रसोइया], गजाध्यक्ष, मज्जघरिय, [मद्यगृहक], पाणीघरिय [जिसे बाण ने जलकर्मान्तिक लिखा है], णावाधिक्ख [नावाध्यक्ष], सुवर्णाध्यक्ष, हत्थिअधिगत, अस्सअधिगत, योग्गायरिय [योग्याचार्य अर्थात् योग्या या शास्त्राभ्यास कराने वाला], गोवयक्ख]गवाध्यक्ष], पडिहार (प्रतिहार) गणिकखंस (गणिकाओं के ऊपर वेश का अधिकारी), बलगणक [सेना में आर्थिक हिसाब रखने वाला], वरिसधर (वर्षधर या अंतःपुर में कार्य करने वाला], वत्थुपारिसद (वास्तुपार्षद), आरामपाल [उद्यानपाल], पच्चंतपाल [प्रत्यंत या सीमाप्रदेश का अधिकारी], दूत, सन्धिपाल [सान्धिविग्रहिक], सीसारक्ख [राजा का सब से निकट का अंगरक्षक], पतिआरक्ख [राजा का आरक्षक], सुंकसालिअ [शौल्कशालिक या चुंगीघर का अधिकारी], रज्जक, पधवावट (पथव्यापृत), अडविक [आटविक] णगराधिक्ख [नगराध्यक्ष] सुसाणवावट (श्मशानव्यापृत) सूणावावर, चारकपाल [गुप्तचर अधिकारी], फलाधियक्ख, पुप्फाधियक्ख, पुरोहित, आयुधाकारिक, सेणापति, कोट्ठागारिक [कोष्ठागारिक] [पृ० १५९]

अट्ठाईसवें अध्याय में उस समय के पेशेवर लोगों की लम्बी सूची आई है। आरंभ में पांच प्रकार के कर्म या पेशे कहे हैं जैसे रायपुरीस [राजपुरुष], ववहार (व्यापार वाणिज्य) कसिगोरक्ख [कृषि और गोरक्षा] कासकम्म [अपने हाथ से उद्योग-धन्धे करने वाले शिल्पी और पेशेवर लोग], भतिकम्म (मजदूरी पेशा। राजपुरुषों के ये नाम हैं-रायामच्च (राजामात्य), अस्सवारिक (अश्वाध्यक्ष जैसा उच्च

अधिकारी आसवारिय (घुड़सवार जैसा सामान्य अधिकारी जिसे पउम चरिय ६८७ में आसवार कहा गया है) णायक अब्भंतराचर अब्भागारिय (अभ्यागारिक) भाण्डागारिय सीमारक्ख पडिहारक, सूत महाणसिक मज्जघरिय पाणियघरिय हत्थाधियक्ख (हस्ताध्यक्ष) महामत्त (महामात्र) हत्थिमेंठ, अस्साधियक्ख, अस्सारोध, अस्सबन्धक द्वागालिक, गोपाल, महिसीपाल, उट्टपाल, मगलुद्धग (मृगलुब्धक), ओरब्भिक, (आरभ्रिक), अहितिंप (सम्भवत अहितुंडिक व या गारुडिक)। राजपुरुषों में विशेष रूप से इनका परिगणन है—अस्साधियक्ख, हत्थाधियक्ख, हत्थारोह (हस्त्यारोह), हत्थिमहामत्तो गोमसी (जिसे पाणिनि और महाभाष्य में गोसख्य कहा गया है), गजाधिपति भाण्डागारिक, कोररक्ख, सव्वाधिकत (सर्वाधिकृत), लेखक (सर्वलिपिओं का ज्ञाता) गणक पुरोहित संवच्छर (सावत्सरिक), द्वाराधिकत (द्वारपाल, दौवारिक), बलगणक सतापति, अब्भागारिक गणिकाक्खक, परिस्सचर, वत्थधिगत (वस्त्राधिगत, तोशाखाने का अध्यक्ष) णगरगुत्तिय, (नगरगुप्तिक, नगरगुप्ति या पुर–रक्षा का अधिकारी), दूत, जणाक (जविनक या जंघाकर जो सौ–सौ योजन तक संदेश पहुंचाने या पत्रवाहक का काम करते थे), पसेणकारक, पतिहारक तरपअट्ट (तार प्रवृत्त), णावाधिगत, तित्थपाल पाणियघरिय महाणघरिय, सुराधरित, कट्ठाधिकत (काष्ठाधिकृत) तणाधिकत (तृणाधिकृत) बीजपाल ओपसज्जिक (औपशायिक शय्यापाल राजा की शय्या का रक्षक), सीमारक्ख (मुख्य अगरक्षक) आरामाधिगत, नगररक्ख अब्भागारिय, असोकवणिकापाल, थाणाधिगत आभरणाधिगत। राज्य के अधिकारियों की इस सूची के कितने ही नाम पहले भी आचुके हैं। कुछ नये भी हैं। प्राचीन भारतीय शासन की दृष्टि से यह सामग्री अत्यन्त उपयोगी कही जा सकती है। प्राय ये ही अधिकारी राजमहलों में और शासन में बहुत बाद तक बने रहे।

इसके बाद सामान्य पशों की एक बड़ी सूची दी गई है जैसे ववहारि (व्यापारी) उदकवड्ढकि (नाव या जहाज बनानेवाला) मच्छबन्ध, नाविक, वाहुविक (डाँड चलानेवाले) सुवण्णकार अलिक्खकर (अलता बनानेवाला) रसरज्जक (लाल रंग की रगाई का विशेषज्ञ) देवड (देव प्रतिमा निर्माता), उण्णवाणिय, सुत्तवाणिय, जतुकार, चित्तकार (चित्रकार) चित्तजोगी (चित्रयोग जानने वाला) तट्टकार (ठठेरा), सुद्दरजक, लोहकार, सीत पेहक (संभवत दूध–दहि के माटों को बरफ में लपेट कर रखनेवाला) कुम्भकार मणिकार, सखकार, वम्मकार, पट्टकार (रेशमी वस्त्र बनाने वाला) दुस्सिक (दुष्य नामक वस्त्र बनाने वाला), रजक, कोसेज्ज [कौशेय या रेशमी वस्त्र बुननेवाला], वाग [वल्कल बनाने वाला], ओरब्भिक महिसघातक, उस्सणिकामत्त [ऊख पेरने वाले] छसकारक वत्थोपजीवी, फलवाणिय, मूलवाणिय धान्यवाणिय ओदनिक, मंसवाणिज्ज, कम्मासवाणिज्ज (कम्मास या घुघरी बेचनेवाला) तप्पणवाणिज्ज (जौ आदिके सत्तू बेचनेवाला अट्टप्पण (भुनियाके सत्तू बेचनेवाला) लोणवाणिज्ज, आपूपिक, खज्जकारक (खाजा बनानेवाला, इससे सूचित होता है, कि खाजा नामक मिठाई कुषाणकाल में भी बनने लगी थी), पण्णिक (हरी-साग-सब्जी बेचनेवाला) फलवाणियक, सिंगबेर या अदरक बेचनेवाला।

इसके अनन्तर राजपुरुष और पेशेवर लोगों की मिली-जुली सूची दी गई है। जिनमें से नये नाम ये हैं — छत्तधारक, पसाधक (प्रसाधक, प्रसाधन कार्य करनेवाला), हत्थिखंस (एक प्रति के अनुसार हत्थिसंख), अस्सखंस [एक प्रति के अनुसार अस्ससंख] संभवतः यही मूलरूप था जो उच्चारण में वर्णविपर्यय से खंस बन गया), अग्गि उपजीवी (आहिताग्नि) कुसीलक, रंगावचर (रंगमंच पर अभिनय करनेवाला), गांधिक, मालाकार, चुण्णिकार, (स्नानचूर्ण बनाने वाला जिसे चुण्णवाणिय भी कहते थे) सूत मागध, पुस्समाणव, पुरोहित, धम्मट्ठ (धर्मस्थ), महामंत (महामात्र) गणक, गंधिक-गायक, दप्पकार, बहुस्सुय (बहुश्रुत)। इस सूची के पुस्समाणव का उल्लेख पृ० १४६ पर भी आचुका है। और यह वही है जिसका पतंजलि ने 'महीपालवचः श्रुत्वा जुघुषुः पुष्यमाणवाः' इस श्लोकार्ध में उल्लेख किया है। ये पुष्यमाणव एक प्रकार के बन्दी जन या भाट ज्ञात होते हैं जो राजा की प्रशंसा में कुछ श्लोक पाठ करते या सार्वजनिक रूप से कुछ घोषणा करते थे। यहां 'महीपालवचः श्रुत्वा' यह उक्ति संभवतः पुष्यमित्र शुंग के लिए है। जब उसने सेना-प्रदर्शन के व्याज से उपस्थित अपने स्वामी अंतिम मौर्यराजा बृहद्रथ को मार डाला, तब उसके पक्षपाती पुष्यमाणवों ने सार्वजनिक रूप से उसके राजा बन जाने की घोषणा की। पतंजलिने यह वाक्य किसी काव्य से उद्धृत किया जान पड़ता है। अथवा यह उसके समय में स्फुट उक्ति ही बन गई हो। पुष्यमाणव शब्द द्वयर्थक जान पड़ता है। उसका दूसरा अर्थ पुष्य अर्थात् पुष्यमित्र के माणव या ब्राह्मण सैनिकों से था। (पृ० १६०)

दप्पकार का अर्थ स्पष्ट नहीं है। संभवतः दर्पकार का आशय अपने बल का घमंड करने वाले विशेष बलशाली व्यक्तियों से था। जिन्हें चंठ कहते थे और जो अपने भारी शरीर बल से शेर-हाथियों से लड़ाए जाते थे। गन्धिक-गायक भी नया शब्द है। उसका आशय संभवतः उस तरह के गवैयों से था जिनमें गानविद्या के ज्ञान की मगन्धता या कौशल अभिमान रहता था।

सूची को आगे बढ़ाते हुए मणिकार, स्वर्णकार, कोट्टाक (बढ़ई, यह शब्द आचारांग २।१।२ में भी आया है, तुलना — संस्कृत कोटक, मानियर विलियम्स), वट्टकी (संभवतः कटोरे बनाने वाला) वत्थु पाढ़क [वास्तुपाठक, वास्तुशास्त्र का अभ्यासी], वत्थुवापतिक (वास्तुव्यापृतक—वास्तुकर्म करनेवाला), मंत्रिक [मान्त्रिक], भंडवापत (भाण्डव्यापृत, पण्य या क्रय—विक्रय में लगा हुआ), तित्थवापत [घाट वगैरेह बनानेवाला], आरामवाद्ट (बाग, बगीचे का काम करनेवाला), रथकार, दारुक, महाणसिक, सूत, ओदनिक, सामेलक्ख [संभवतः संमली या कुट्टनिओं की देखरेख करने वाला विट], गणिकाखंस, हत्थारोह, अस्सारोह, दूत, प्रेष्य, चंदनागरिक, चोर-लोपहार [चोर एवं चोरी का माल पकडनेवाला], मूलक, खाणक, मूलिक, मूलकम्म, सव्व,सत्थक [सब शस्त्रों का व्यवहार करनेवाला, संभवतः अय-शूल उपायों से वर्तन वाले जिन्हें आयःशूलिक कहा जाता था]।

सारवान व्यक्तियो में हरण्णिक, सुवण्णिक, चन्दन के व्यापारी, दुस्सिक,

सजुकारक [मजु अर्थात् मञ्जा द्वारा माप-तौल या मोल-तोल करनेवाले जौहरी, जो कपड़े के नीचे हाथ रख कर रत्नों का दाम पक्का करते थे], देवड [देवपट अर्थात देवदूष्य बेचनेवाले सारवान व्यापारी] गोवज्झमतिकारक [गोवह्यभृतिकारक, बैलगाड़ी से भृति कमानेवाला, वज्झ स वह्य], ओयकार [ओकस्कार-घर बनानेवाला], ओड [खनन करनेवाली जाति]। गृह-निर्माणसंबंधी कार्य करने वालों में ये नाम भी हैं— मूलखाणक [नींव खोदनेवाले], कुंभकारिय (कुम्हार जो मिट्टी के खपरे आदि भी बनाते हैं), इट्टकार (सम्भवतः इट्टका, ईंटे पाथनेवाले) वालेपतुद (पाठान्तर छावेगतुद अर्थात् छापनेवाले, पलस्तर करने वाले), सुत्तवत्त (रस्सी बटने वाले, वत्ता-सूत्र वेष्टन यत्र, पाइयसद्दमहण्णवो), कसकारक [कसेरे जो मकान में जड़ने के लिए पीतल-काँसे का सामान बनाते थे], चित्तकारक (चितेरे जो चित्र लिखते थे), रूपक्खर (रूप मूर्त्ति का उपस्कार करनेवाले), कट्ठकारक (सम्भवत लकड़ी के तख्तों का काम करनेवाला), सीकाहारक और मट्टहारक इनका तात्पर्य बालू और मिट्टी ढोनेवालों से था, (सीक = सिकता, मट्ट = मृत्तिका)। कोसज्जवाय के (रेशमी वस्त्र बुनने वाले), दिगुंडकवलवायका (विशेष प्रकार के कम्बल बुनने वाले), कोलिका [वस्त्र बुननेवाले], वेज्ज [वैद्य], कायतेगिच्छका (कायचिकित्सक), सल्लकत्त (शल्यचिकित्सक), सालाकी (शालाक्य कर्म अर्थात् अक्षि, नासिका आदि की शल्यचिकित्सा करनेवाला) भूतविज्जिक (भूतविद्या या ग्रहचिकित्सा करनेवाला) कोमारभिच्च (कुमार या बालचिकित्सा करनेवाला), विसतितिच्छिक [विषवैद्य या गारुडिक], वैद्य, चर्मकार, ण्हाविय-नापित, ओरम्भिक (औरभ्रिक गडरिये), गोहातक [गोघातक या सूना कर्म करनेवाला], चोरघात [दण्डपाशिक, पुलिस अधिकारी] मायाकारक (जादूगर), गौरीपाठक (गौरी पाठक, सम्भवत गौरीव्रत या गौरीपूजा के अवसर पर पाठ करनेवाला), लखक [बास के ऊपर नाचने वाले], मुट्ठिक [मौष्टिक, पहलवान], लासक [रासक, रासगानेवाला], वेलबक [विडंबक, विदूषक], गडक [उद्घोषणा करनेवाला], घोसक (घोषणा करनेवाले) — इतने प्रकार के शिल्पियों का उल्लेख कर्म-योनि नामक प्रकरण में आया है। (पृ० १६०-१)

२९ वें अध्याय का नाम नगर विजय है। इस प्रकरण में प्राचीन भारतीय नगरों के विषय में कुछ सूचनाएं दी गई हैं। प्रधान नगर राजधानी कहलाता था। उसीसे सटा हुआ शाखानगर होता था। स्थायी नगर चिरनिविष्ट और अस्थायी रूप से बसे हुए अचिरनिविष्ट कहलाते थे। जल और वर्षा की दृष्टि से बहूदक या बहुवृष्टिक एवं अल्पोदक या अल्पवृष्टिक भेद थे। कुछ बस्तिओं को चोरवास कहा गया है। जैसे सौराष्ट्र के समुद्र तट पर वेरावल के पास अभी भी चोरवाड नामक नगर है। भले मनुष्यों की बस्ती आर्यवास थी। और भी कई दृष्टियों से नगरों के भेद किये जाते थे = जैसे परिमण्डल और चतुरस्र, काष्टप्राकार वाले नगर (जैसे प्राचीन पाटलिपुत्र था) और ईंट के प्राकार वाले नगर (इट्टिका पाकार), दक्षिणमुखी और वाममुखी नगर, पविट्ठ नगर (घनी बस्ती वाले), विस्तीर्ण नगर (फैलकर बसे

हुए), जंगली प्रदेश में बसे हुए गहणनिविट्ठ, उससे विपरीत आरामबहुल (बागबगीचों वाले अं. पार्कसिटी) नगर, ऊँचे पर वसे हुए उद्धनिविट्ठ, नीची भूमि में वसे हुए, निव्विगंदि (संभवतः विशेष गंध वाले), या पाणुप्पविट्ट (चांडालादि जातियों के वासस्थान; पाण=श्वपच चांडाल, देशीनाममाला ६।३८)। प्रसन्न या अतीक्ष्ण दंड और अप्रसन्न या वहुविग्रह, अल्प परिक्लेश और बहु परिक्लेश नगर भी कहे गये हैं। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर दिशाओं की दृष्टि से अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णों की दृष्टि से भी नगरों का विभाग होता था। बहुअन्नपान, अल्पअन्नपान, बहुवतक (बहुवात या प्रचंड वायु के उपद्रव वाले) बहुउण्ह (अधिक उष्ण) आलीपणकबहुल (बहु आदीपन या अग्निवाले), बहूदक बहुवृष्टिक, बहूदकवाहन नगर भी कहे गये हैं। (पृ० १६१–१६२)

तीसवाँ अध्याय आभूषणों के विषय में है। पृ० ६४।७१ और ११६ पर भी आभूषणों का वर्णन आ चुका है। आभूषण तीन प्रकार के होते हैं। (१) प्राणियों के शरीर के किसी भाग से बने हुए (पाणजोणिय), जैसे शंख-मुक्ता, हाथीदांत, जंगली भैंसे के सींग आदि, बाल, अस्थि के बने हुए; (२) मूलजोणिमय अर्थात् काष्ठ, पुष्प, फल, पत्र, आदि के बने हुए; (३) धातुयोनिगत जैसे–सुवर्ण, रूपा, तांबा, लोहा, त्रपु (रांगा), काललोह, आरकूड (फूल, कांसा), सर्वमणि, गोमेद, लोहिताक्ष, प्रवाल, रक्त क्षारमणि (तामड़ा), लोहितक आदि के बने हुए। श्वेत आभूषणों में चांदी, शंख, मुक्ता, स्फटिक, विमलक, सेतक्षार मणि के नाम हैं। काले पदार्थों में सीसा, काललोह, अंजन और कालक्षार मणि; नीले पदार्थों में सस्सक (मरकत) और नीलखार मणि; आग्नेय पदार्थों में सुवर्ण, रूपा, सर्वलोह, लोहिताक्ष, मसारकल्ल, क्षारमणि। धातुओं को पीटकर, क्षारमणि को उत्कीर्ण करके और रत्नों को तराशकर तथा चीर-कोर कर बनाते हैं। मोतिओं को रगड़कर चमकाया जाता है।

इसके बाद शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों के गहनों की सूचियाँ हैं। जैसे सिर के लिए ओचूलक (अवचूलक या चोटी में गूंथने का आभूषण, चोटीचक्र), णंदिविणद्धक (कोई मांगलिक आभूषण, संभवतः मछलियों की बनी हुई सुनहली पट्टी जो बालों में बाईं ओर सिर के बीच से गुद्दी तक खोंस कर पहनी जाती थी जैसे मथुरा की कुशाणकला में स्त्री-मस्तक पर मिली है), अपलोकणिका (यह मस्तक पर गवाक्षजाल या झरोखे जैसा आभूषण था जो कुषाण और गुप्तकालीन किरीटों में मिलता है। सीसोपक (सिर का बोर); कानों में तालपत्र, आवद्धक, पलिकामदुधनक (द्रुधण या मुंगरी की आकृति से मिलता हुआ कान का आभूषण), कुंडल, जणक, ओकासक (अवकाशक-कान में छेद बड़ा करने के लिए लोढ़े या डमरू के आकार का), कण्णेपुरक, कण्णुप्पीलक (कान के छेद में पहनने का आभूषण)–इन आभूषणों का उल्लेख है। आँखों के लिए अंजन, भौंहों के लिए मसी, गालों के लिये हरताल, हिंगुल और मैनसिल एवं ओठों के लिए अलक्तक राग का वर्णन है। गले के लिये आभूषणों की सूची में कुछ महत्त्वपूर्ण नाम हैं; जैसे वण्णसुत्तक (=सुवर्णसूत्र), तिपिसाचक (त्रिपिशाचक अर्थात् ऐसा आभूषण जिसके टिकरे में तीन पिशाच या यक्ष जैसी आकृतियां बनी हों).

विज्ञाधारक (विद्याधरों की आकृतियों से युक्त टिकरा) असीमालिका (ऐसी माला जिसकी गुरियों या दाने खड्ग की आकृतिवाले हों), पुंडलक (संभवत वह हार जिसे गोपुच्छ या गोस्तन कहा जाता है। देखिये अमरकोष-क्षीरस्वामी), आवलिका (संभवत जिसे एकावली भी कहते थे), मणिसोमाणक (विमानाकृति मनकों का बना हुआ ग्रैवेयक। सोमाणक पारिभाषिक शब्द था। लोकपुरुष के ग्रीवा भाग में तीन-तीन विमानों की तीन पंक्तियां होती हैं जिनमें से एक विमान समणस कहलाता है) अट्ठमंगलक (अष्ट मांगलिक चिन्हों की आकृति के टीकरों की बनी हुई माला जिसका उल्लेख हर्षचरित्र पर महानुसक्ति में आया है। इस प्रकार की माला संकट से रक्षा के लिये विशेष प्रभावशाली मानी जाती थी), पेसुका (पाठान्तर पेसु, संभवत वह कंठाभूषण जो पेशियों या टिक्करों का बना हुआ हो), वायुमुत्ता (विशेष प्रकार के मोतियों की माला), वुप्पसुत्त (संभवत ऐसा सूत्र जिसमें शेखर हों; वुप्प=शेखर). कट्ठेवट्टक (अज्ञात)। भुजाओं में अंगद और तुडिय (=टड्डे)। हाथों में हस्तकटक कटक, रुचक, सूची, अंगुलियों में अंगुलेयक, मुद्देयक, वेंटक (गुजराती वींटी=अंगूठी), कटी में कांचीकलाप, मेखला और पैरों में गुल्फ प्रदेश गहूपदक (गेंडोपदी भांति का पैर का आभूषण), नूपुर, परिहेरक (परिहार्यक-पैरों के कड़े) और खिंखणिक (किंकिणी-घूघरू), खत्तियधम्मक (संभवत वह आभूषण विशेष जिसे आज कल गूजरी कहते हैं) पादमुद्रिका, पादोपक इस प्रकार अंगविज्जा में आभूषणों की सामग्री बहुत से नये नामों से हमारा परिचय कराती है और सांस्कृतिक दृष्टि से भर चुकी है। पृ० १६२ ३

वत्थजोणी नामक एकतालीसवें अध्याय में वस्त्रों का वर्णन है। प्राणियों से प्राप्त सामग्री के अनुसार वस्त्र तीन प्रकार के होते हैं—कौशेय या रेशमी, पतुज्ज, पाठान्तर पउण्ण=पत्रोर्ण और आविक। आविक को चतुष्पद पशुओं से प्राप्त अर्थात् भेड़ वालों का बना हुआ कहा गया है। और कौशेय या पत्रोर्ण को कीड़ों से प्राप्त सामग्री के आधार पर बना हुआ बताया गया है। इसके अतिरिक्त क्षौम, दुकूल, चीनपट्ट, कार्पासिक ये भी वस्त्रों के भेद थे। धातुओं से बने वस्त्रों में लोहजालिका-लोहे की कड़ियों से बना हुआ कवच जिसे अंगरी कहा जाता है। सुवर्णपट्ट-सुनहले तारों से बना हुआ वस्त्र, सुवर्णखासित—सुनहले तारों से खचित या जरी का काम। और भी वस्त्रों के कई भेद कहे गये हैं जैसे परग्घ बहुत मूल्य का, जुतग्घ-बीच के मूल्य का समग्घ-सस्ते मूल्य का, स्थूल, अणुक या महीन, दीर्घ, ह्रस्व, पावारक-ओढने का दुशाला जैसे वस्त्र, कोतव रोंएदार कम्बल जिसको चपक भी कहते थे और जो संभवत कूचा या मध्य एशिया से आता था। उण्णिक (ऊनी), अत्थरक-आस्तरक या बिछौने का वस्त्र मलीन रोंएदार (तणुल्लोम), हस्सल्लोम, वधूवस्त्र, मृतक वस्त्र, आनवितक (अपने और पराये काम में आनेवाला), परक (पराया), निक्खित्त (फेंका हुआ), अपहित (चुराया हुआ), यामित वर (मांगा हुआ) इत्यादि।

रंगों की दृष्टि से श्वेत, कालक, रक्त, पीत सेवालक (सिवार के रंग का हरा), मयूरग्रीव (नील), करेणुयक (श्वेत-कृष्ण), पद्मरत्तक (पद्म रक्त अर्थात्

श्वेत रक्त), मेणसिल के रंग का-(रक्तपीत), मेचक (ताम्रकृष्ण) एवं उत्तम-मध्यम रंगों वाले अनेक प्रकार के वस्त्र होते थे। जातिपट्ट नामक वस्त्र भी होता था। मुख के ऊपर जाली भी डालते थे। उत्तरीय और अन्तरीय वस्त्र शरीर के ऊर्ध्व और अधर भाग में पहने जाते थे। बिछाने की दरी पच्चत्थरण और वितान या चंदोवा विताणक कहलाता था (पृ. १६३-४)

३२ वें अध्याय की संज्ञा धण्णयोनि (धान्ययोनि) है। इस प्रकरण में शालि, व्रीहि, कोद्रों, रालफ (धान्य विशेष एक प्रकार की कंगु), तिल, मूंग, उड़द, चने, कुल्थी, गेहूँ आदि धान्यों के नाम गिनाये हैं। और स्निग्ध, रूक्ष, श्वेत रक्त, मधुर, आम्ल, कषाय आदि दृष्टिओं से धान्यों का वर्गीकरण भी किया है। (पृ० १६४-५)

३३ वें जाणजोणि (यानयोगि) नामक अध्याय में नाना प्रकार के यानों का उल्लेख है। जैसे शिविका, महासन, पल्लंकसिका (पालकी), रथ, संदमाणिक (स्यंद-मानिका एक तरह की पालकी), गिल्ली (डोली), जुग्ग (विशेष प्रकार की शिविका जो गोल्ल या आन्ध्र देश में होती थी) गोलिंग, शकट, शकटी इनके नाम आये हैं। किन्तु जलीय वाहनों की सूची अधिक महत्त्वपूर्ण है-उनके नाम ये हैं-नाव, पोत, कोटिम्ब, सालिक, तप्पक, प्लव, पिण्डिका, कांडे, वेलु, तुम्ब, कुम्भ, दति (दृति)। इनमें नाव और पोत को महावकाश अर्थात् बड़ी आकृति वाले नाव जिनमें बहुत आदमियों के लिए अवकाश होता है। कोटिम्ब, सालिक, संघाड, प्लव और तप्पक बिचले आकार का है। उससे छोटे कट्ठ (कंड) और वेलु होते थे। और उनसे भी छोटे तुम्ब, कुम्भ और दति कहलाते थे। जैसा श्री मोतीचन्द्रजीने अंग्रेजी भूमिका में लिखा है। पेरिप्लस के अनुसार भरुकच्छ के बन्दरगाह में त्रप्पग और कोटिम्ब नामक बड़े जहाज सौराष्ट्र तक की यात्रा करते थे।

यही अंग विज्जा के कोटिम्भ और सप्पग हैं। पूर्वी समुद्र तट के जलयानों का उल्लेख करते हुए पेरिप्लस ने संगर नामक जहाजों का नामोल्लेख किया है जो कि बड़े-बड़े लट्ठों को जोड़ कर बनाये जाते थे। यही अंग विज्जा के संघाड (सः संघार) है। वेलु बासों का बजरा होना चाहिए। कांड और प्लव भी लकड़ी या लट्ठों को जोडकर बनाये हुए बजरे थे। तुम्बी और कुम्भ की सहायता से भी नदी पार करते थे। इनमें दति या दृति का उल्लेख बहुत रोचक है। इसे भी अष्टाध्यायी में भस्त्रा कहा गया है। भेड, बकरी या गाय-भैंसे की, हवा से फुलाई हुई, खालों को भस्त्रा कहा जाता था और इधर इस कारण भस्त्रा या दृति उस बजडे या नमडे के लिये भी प्रयुक्त होने लगा जो इस प्रकार की खालों को एक-दूसरे में बांधकर बनाये जाते थे। इन फुलाई हुई खालों के ऊपर बांस बांध कर या मछुओं का जाल फैलाकर यात्री उन्हीं पर बैठकर लगभग आठमील प्रति घन्टे की रफ्तार से मजेमें यात्रा कर लेते हैं। इस प्रकार के बजरे बहुत ही सुविधाजनक रहते हैं। ठीकाने पर पहुँच-कर मल्लाह खालों को झटक कर कन्धे पर डाल लेता है और पैदल चलकर नदी के ऊपरी किनारे पर लौट आता है। भारत, ईरान, अफगानिस्थान और तिब्बत की नदियों

में भस्त्रा या दृति का प्रयोग पाणिनि और दारा के समय से चला आया है'। ईरान में इन्हें मशक्त कहते थे। शालिका संभवतः उस प्रकार की नाव थी जिसमें शाला या बैठने-उठने के लिये मंदिर (केबिन) पाटातान के ऊपर बना हो। पिंडिरा वह गोल नाव थी जो वेतों की टोकरी को चमड़े से मढ़कर बनाई जाती थी। (पृ० १६५-६)

३४ वें मंलाप नामक अध्याय में बातचीत का अंगविज्जा की दृष्टि से विचार किया है जिसमें स्थान, समय एवं बातचीत करनेवाले की दृष्टि से फलाफलका विचार है।

३५ वें अध्याय का नाम पयाविसुद्धि (प्रजाविशुद्धि) है। इसमें प्रजा या संतान के सम्बन्ध में शुभाशुभ फल पर विचार किया गया है। छोटे बच्चे के लिए बच्छक, पुत्तक की तरह पिल्लक शब्द भी प्रयुक्त होने लगा था जोकि दक्षिणी भाषाओं से लिया हुआ शब्द ज्ञात होता है।

३६ वें अध्याय में दोहल (दोहद) के विषय में विचार किया गया है। दोहद अनेक प्रकार का हो सकता है। विशेष रूप से उसके पांच भेद किये गये हैं। शब्दगत, गंधगत, रूपगत, रसगत, स्पर्शगत। रूपगत दोहद के कई भेद हैं-जैसे पुष्पभेद, समुद्र, तडाग, वापी, पुष्पकरिणी, अरण्य, भूमि, नगर, स्कन्धावार, युद्ध, क्रीडा, मनुष्य, चतुष्पाद, पक्षी आदि के देखने की इच्छा होती हो तो उसे रूपगत दोहद कहेंगे। गन्धगत दोहद के अन्तर्गत स्नान, अनुलेपन, अधिवास, स्नानचूर्ण, धूप, माल्य, पुष्प, फल आदि के दर्शन या प्राप्ति की इच्छा समझनी चाहिये। रसगत दोहद में पान, भोजन, खाद्य, लेह्य और स्पर्शगत दोहद में आसन, शयन, वाहन, वस्त्र, आभरण आदि का दर्शन और प्राप्ति समझी जाती है।

३७ वें अध्याय की संज्ञा लक्षण अध्याय है। लक्षण बारह प्रकार के कहे गये हैं—वर्ण, स्वर, गति, संस्थान, आकुल सघयण (निर्माण), मान या लंबाई, उम्माण (तोल), सत्त्व, आणुक (मुखाकृति), पगति [प्रकृति], छाया, सार—इन बारहों भेदों की व्याख्या की गई है, जैसेः—वर्ण के अन्तर्गत ये नाम हैः-अंजन, हरिताल, मैनसील, हिंगुर, चाँदी, सोना, मूँगा, शंख, मणि, हीरा, शुक्ति [मोती], अगुरु, चन्दन, शबनासन, यान, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह, तारा, उल्का, विद्युत, मेघ, अग्नि, जल, कमल, पुष्प, फल, प्रवाल, पत्र, घृत, मंड, तेल, सुरा, प्रसन्ना, पद्म, उत्पल, पुंडरीक, चम्पक माल्याभरण आदि। फिर इनमें से प्रत्येक लक्षण का भी शुभाशुभ फल कहा गया है]पृ० १७३-४]।

३८ वें अध्याय में शरीर के व्यञ्जन या तिल, मसा जैसे चिन्हों के आधार पर शुभाशुभ का कथन है।

३९ वें अध्याय की संज्ञा कण्णावासण है। इसमें कन्या के विवाह एवं उसके जन्म के फलाफल एवं कर्मगति का विचार है कि वह अच्छी होगी या दुष्ट होगी— पृ० १७५-६

४० – भोजन नामक चालीसवें अध्याय में आहार के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया गया है। आहार तीन प्रकार का होता है:—प्राणयोनि, मूलयोनि, धातुयोनि। प्राणयोनि के अन्तर्गत–दूध, दही, मक्खन, तक्र, घृत, मधु आदि हैं। उसके भी संस्कृत, असंस्कृत, आग्नेय, अनाग्नेय भेद किये गये हैं।

कंद, मूल, फल, फूल, पत्र आदि से भी आहार उपलब्ध होता है। कितने ही धान्यों के नाम गिनाये गये हैं। उत्सवों के समय भोज किये जाते थे। उपनयन, यज्ञ, मृतक, अध्ययन के आदि-अन्त एवं गोष्ठी आदि के समय भोजों का प्रबन्ध होता था। भोजन अपने स्थान पर या मित्र आदि के स्थान पर किया जाता था। इक्षुरस, फलरस, धान्यरस आदि पानों का उल्लेख है। यवा, प्रसन्ना, अरिष्ट, श्वेतसुरा ये भक्ष थे। यवागू–दूध, घृत, तैल आदि से बनाई जाती थी। गुड़ और शक्कर के भेदों में शर्करा, मच्छंडिका, खज्जकगुल (खाद्यकगुड) और पिक्कास का उल्लेख है। समुद्र, सैन्धव, सौवर्चल, पांसुखार, यवाखार आदि नमक के भेद किये गये हैं। मिठाइयों में मोदक, पिंडिक, पप्पड, मुरेन्डक, साला कान्डिक, अम्बट्टिक, ओवलिक, वोक्किनक, ओव्वलफ, पपअड, सक्कुलिका, पूप, फेणक, अक्खयूप, अपदिहल, पविनल्लक (पोतलग) वेलानिक, पत्तभज्जिन, सिद्धस्थिका, दीयक, ओक्कारिका, भंद्दिल्लिका, दीहसक्कुलिका, खार वट्टिका, खोडक, दीवालिक [दीवलें] दसीरिका, मिसकण्टक, मन्थतक–तरह–तरह की मिठाइयाँ और खाद्यपदार्थ होते थे। अम्बट्टिक (आमरी या आम से बनी हुई मिठाई हो सकती है जिसे अवधी में गुलम्बा कहते हैं)। पोवालिक-पोली नाम की मीठी रोटी और मुरण्डक छेने का बना हुआ मुरंडा या तिलके लड्डू होने चाहिएँ। फेणक-फेणी के रूप में आज भी प्रसिद्ध है।

४१ वाँ वरियगंडिका अध्याय है। इसमें मूर्त्तियों के प्रकार, आभरण और अनेक प्रकार की रत-सुरत की क्रीडाओं के नामों का संग्रह है। सुरत क्रीडाओं के तीन प्रकार कहे गये हैं–दिव्य, तिर्यक् योनि और मानुषी। दिव्य क्रीडाओं में छत्र, भृंगार, जक्खोपायण (संभवतः यक्ष कर्दम नामक सुगंध की भेंट का प्रयोग होना है), मानुषी क्रीडा में-वस्त्र, आभूषण, यान, उपानह, माल्य, मुकुट, कंघी, स्नान, विशेषक, गन्ध, अनुलेपन, चूर्ण, भोजन, मुखवासक आदि का प्रयोग किया जाता है। (पृ० १८२–६)

४२ वें अध्याय (स्वप्नाध्याय) में दिट्ठ, अदिट्ठ और अवत्तदिट्ठ नामक स्वप्नों का वर्णन है। ये शुभ और अशुभ प्रकार के होते हैं। स्वप्नों के और भी भेद किये गये हैं। जैसे श्रुत जिसमें मेघगर्जन, आभूषणों का या सुवर्ण मुद्राओं का शब्द या गति आदिक सुनाई पडते हैं। गंध-स्वप्नों में सुगन्धित पदार्थ का अनुभव होता है। जैसे ही कुछ स्वप्नों में स्पर्शसुख, सुरत, जलचर, देव, पशु, पक्षी आदि का अनुभव होता है। अनेक सगे-सम्बन्धी भी स्वप्नों में दिखाई पडते हैं जोकि मानुषी स्वप्न कहलाते हैं। स्वप्नों में देव और देवियां भी दिखाई पडते हैं। सुवर्णक, रूप्य, काहापण नामक सिक्के भी स्वप्न में दिखाई पडते हैं। (पृ० १८६–९१)

४३ वें अध्याय में प्रवास या यात्रा का विचार हैं। यात्रा में उपानह, छत्र या सन्तू, कत्तरिया (छुरी), कुंडिका, ओखली आवश्यक है। यात्री मार्ग में प्रपा, नदी, पर्वत, तडाग, ग्राम, नगर, जनपद, पट्टन, सन्निवेश आदि में होता हुआ जाता था। विविध रूप-रस-गंध-स्पर्श के आधार पर यात्रा का शुभाशुभ कहा जाता था और लाभ-अलाभ, जीवन, मरण, सुख, दुःख, सुकाल, दुष्काल, भय, अभय आदि फल उपलब्ध होते हैं। (पृ० १९१-१९२)

४४ वें अध्याय में प्रवास के उचित समय, दिशा, अवधि और गन्तव्य स्थान आदि के सम्बन्ध में विचार है। (पृ० १९२—९३)

४५ वें प्रवेशाध्याय नाम प्रकरण में प्रवासी यात्री के घर लौटने का विचार है। शुक्ल, पीत स्थिति, कर्णतैल, अभ्यंग, हरिताल, हिंगुल, मैनसील, अंजन समालभण (विलेपन), अलत्तक, कलंजक, वण्णक, चुण्णक, अंगराग, उरस्सिंधण (सुंगधी सूंघना), मक्खण (म्रक्षण - मालिश), अप्पंग, उच्छन्दण (संभवतः आच्छादन), उव्वट्टण (उद्वर्तन उबटन), पघंस (प्रघर्षण द्वारा तैयार सामग्री), माल्य, सुरभिजोगसविधाणक [विविध गन्धयुक्त], आभरण और विविध भूषणों की संजोयणा [अर्थात् संजोना] एवं अलंकारों का मण्डन — इनके आधार पर प्रवासी के आगमन की आशा होती थी। इसी प्रकार शिविका, रथ, यान, जुग्ग, कट्ठमुह, गिल्ली, संदण [स्यंदन], सक्ड [शकट], शर्करी और विविध वाहन, हय, गज, बलीवर्द, करभ, अश्व नर, खर, अजा, एडा नर, मरत दिशा, ध्वज, प्रासाद, विमान, शयन आदि पर अधिरोहण, ध्वजा, तोरण, गोपुर, अट्टालक, पलासासमारोहण, उच्छूयण के आधार पर भी, विचार किया जाता था। दूध, दधि, घी, नवनीत, तेल, गुड, लवण, मधु आदि दिखाई दें तो आगमन होने की आशा थी। ऐसे ही पृथ्वी, उदक, अग्नि, वायु, पुष्प, धान्य, रत्न आदि से भी आगमन सूचित होता था। अंकुर, पुरोह, पत्र, किसलय, प्रवाल, तृण, काष्ठ एवं ओखली पिठर, दविउलंक (संभवतः द्रव्य का उदंचन) रस, दर्वी, छत्र, उपानह, पाउगा (पादुका) उप्पुभड [उर्ध्वभांड संभवतः कमण्डलु], उमिजण [अज्ञात] कणव [कंघा] पसाणग [प्रसाधनक] कुप्पट्ट [संभवतः कुप्पट्ट लंगोट], वणपेलिका (वर्णपेटिका-शृंगारदानी), विघट्टणग - अंजणी (सुरमेदानी और सलाई), आदंसग [दर्पण], सरगपरियोयण [मद्य-आहार], वाघुज्जोपकरण [वाघुक्कयन्विवाह - विवाह की सामग्री], माल्य — इन पदार्थों के आधार पर आगमन की संभावना सूचित होती थी। फिर इसी प्रसंग में यह बताया गया है कि कौन सा लक्षण होने पर फिर वस्तु का प्रवेश या आगमन सूचित होता है। जैसे चतुरस्र चित्र सारवंत वस्तु दिखाई पड़े तो कार्षापण, रक्त-पीत भारवान वस्तु के दर्शन से सुवर्ण, श्वेत सारवंत से चांदी, शुक्ल शीतल से मुक्ता, घन सारवंत और प्रभायुक्त वस्तु से मणि का आगमन सूचित होता है। ऐसे ही नाना भांति की स्त्रियों के आगमन के निमित्त बताये गये हैं — [पृ. १९३-४]।

४६ वें प्रवेसण अध्याय में गृहप्रवेश संबंधी शुभाशुभ का विचार किया गया है। अंगचिंतक को उचित है कि घर में प्रवेश करते समय जो शुभ, अशुभ वस्तु

दिखाई पड़े उनके आधार पर फल का कथन करें। जैसे—बलीवर्द, अश्व, ऊष्ट्र, गर्दभ, शुक, मदनशलाका या मैना, कपि, मोर ये द्वारकोष्ठक या अलिन्द में दिखाई पड़े तो शुभ समझकर घर में प्रवेश करना चाहिए ब्रह्मस्थल में [संभवतः देवस्थान–पूजास्थान], अरंजर या जहां जल का बड़ा पात्र रखा जाता हो,–उब्बर [धर्मस्थान या जहाँ चूल या भट्टी हो, उपस्थान शाला में बैठने पर, उलूखल शाला में या कपाट या द्वार के कोने में, आसन दिये जाने पर और अंजलिकर्म द्वारा स्वागत किये जाने पर और ऊपर महानस या रसोई घर में या मकान के निक्कुड अर्थात् उद्यान प्रदेश में यदि अंग-विद्याचार्य वस्तुओं को अस्त–व्यस्त या टूटी–फूटी या गिरी–पड़ी देखे तो बाहर से सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुओं की हानि बतानी चाहिए। रसोई घर में कंबा (करछूल या दर्वी) को गिरी पड़ी देखे और मल्लक या मिट्टी के शराव आदि की हंडी फैली हुई (आसखि=आकीर्ण) देखे तो कुल-भंग का फल कहना चाहिए। अथवा अपने दास कर्मकरों से अर्थों की अप्राप्ति या कष्टों की संभावना कहनी चाहिए। तुप, पासु, अंगार, भग्नवृक्ष से हानि और कुल-भंग सूचित होता है। लकड़ी का रोगन उखड़ गया हो और संधि या जोड़ यदि ढीले हो तो कुटुम्ब की हानि और अर्थ की अस्थिरता समझनी चाहिए। यदि द्वार की सन्धि शिथिल हो और उसकी सिरदल [उत्तरुंबर=उतरंगा: गुजराती में देहली या नीचे की लकड़ी को अभी तक उम्बर कहते हैं] भग्न हो तो इष्ट वस्तुकी हानि होगी। यदि द्वारकपाट खुला हुआ हो तो दुःख से अर्जित धन चला जाता है। द्वार के नीचे की देहली और ऊपर का उत्तरंगा (अधरुत्तसम्मिर) टूटे या निकले हुए हों तो घर में कलेश होगा। सिल, वेल्लब (वेलु या बांस) और वाक्—छाल में कोठे में रक्खे हुए जब खराब हो जाय या कीड़े दिखाई पड़े तो व्याधि समझनी चाहिए। कोठे में बांधा हुआ एलक–भेड़ा, अश्व, पक्षी यदि कुछ विपरीत निमित्त प्रकट करे तो उससे भी हानि सूचित होती है। यदि घर के भीतर बालक धरती में लोटते हुए मूत्र, पुरीस में सने दिखाई पड़े तो हानि और इसके विपरीत यदि वे अलंकृत दिखाई पड़े तो वृद्धि जाननी चाहिए। आंगन में लगे हुए पुष्प और फलों को आंगन में भीतर लाया जाता देखा जाय तो वृद्धि सूचित होती है। ऐसे ही आंगन में भाजन या बर्तनों को अखंड और परिपूर्ण देखा जाय तो आय—लाभ सिद्ध होता है। आंगन के आधार पर कई प्रकार के फलों का निर्देश किया गया है। आंगन में यदि पोत्ती (वस्त्र) और णतक (एक प्रकार का वस्त्र, पाइयसद्दमहण्णवो) बीखरे हुए दिखलाई पड़े और आसंदक (बैठने की चौकी) आदि भग्न हों तो हानि और रोग सूचित होता है। यदि आंगन में अलंकृत और हृष्ट नर–नारी दिखाई दे तो संप्रीति और लाभ, यदि क्रुद्ध दिखाई दे तो हानि सूचित होती है। यदि भरा हुआ अरंजर (जल का बड़ा घड़ा) अकारण टूट जाय, अथवा कौवे या कुत्ते उसे भ्रष्ट कर दें तो गृहस्वामी का नाश सूचित होता है। इसी प्रकार अलिंजर अर्थात् जल का घड़ा और उसकी घटमंचिका (पेंढिया) के नये-पुराने पन से भी विभिन्न विचार किया जाता है। श्रमण के प्रदत्त आसन, सिद्धि अन्न से भी निमित्त सूचित होते हैं। ओदन में कीट, केश, तृण आदि से भी अशुभ सूचित होता है। श्रमण के घर आने पर उससे जिस भाव और मुह से

कुशल प्रश्न (जयणीय) पूछा जाय उसके आधार पर वह सुख, दुःख का कथन करे। जैसे पराङ्मुख होकर पूछने से हानि और अभिमुख होकर पूछने से लाभ मिलेगा। रिक्तभाजन, उदकपूर्ण भाड, फल आदि जो–जो वस्तुएँ घर में दिखाई पड़े वे सब अंगविद् के लिए इष्ट और अनिष्ट फल के सूचक होते हैं (पृ० १९५—७)।

४७ वा यात्राध्याय है। इसमें राजाओं की सैनिक यात्रा के फलाफल का विचार किया गया है। उस सबंध में छत्र भृगार, व्यजन, ताम्बूल, शस्त्र-ग्रहण, आयुध, आभरण, चर्म कवच–इनके आधार पर यात्रा होगी या नहीं यह फलादेश बताया जा सकता है। यात्रा कई प्रकार की हो सकती हैं—विजयशालिनी (विजइका), आनन्ददायिनी (समोदी) निरर्थक, चिरकाल के लिये, थोड़े समय के लिए, महाफलदायी, बहुत क्लेशवाली, बहुत भयवती, प्रभूत अन्नपानवाली, बहुत स्वापतेय से युक्त, धनलाभ वाली, आयबहुला, जनपदलाभवाली, नगरलाभवाली, ग्राम, खेटलाभवाली, अरण्यगमन मुदिता, आराम, निम्नदेश आदि स्थानों में गमन युक्त–इत्यादि। यात्रा के समय प्रसन्नता क भाव से विजय और अप्रसन्न भाव से पराजय या विवाद सूचित होता है। यात्रा के समय नया भात दिखाई पड़े तो अपूर्व जय की प्राप्ति होगी। ऐसे ही वाहन लाभ, अर्थलाभ आदि के विषय में भी यात्राफल का कथन कहना चाहिए। किस दिशा में और किस ऋतु में किस निमित्त से यात्रा सफल होगी यह भी अंगविज्जा का विषय है [पृ० १८७—१९९]।

४८ वें जयनामक अध्याय में जय का विचार किया गया है। राजा, राजकुल गण, नगर, निगम, पट्टण, खेड, आकर ग्राम, सन्निवेश—इनके सम्बन्ध में कुछ उत्तम चर्चा हो तो जय समझनी चाहिए। ऐसे ही ऋतुकाल में अनुकूल वृक्ष गुल्म, लता वल्ली, पुष्प, फल, पत्र प्रवाल, प्ररोह आदि जय सूचित करते हैं। वस्त्र आभरण, भाजन, शयनासन यान, वाहन परिच्छेद आदि भी जय के सूचक हैं। छत्र भृगार, व्यजन, पेंखा, शिबिका, रथ, प्रासाद, अशन, पान, ग्राम, नगर, खेट, पट्टण, अन्तःपुर, गृहक्षेत्र, सन्निवेश, आपण आराम, तड़ाग, सर्वसेतु आदि के सम्बन्ध में उन शब्द या रूप का प्रादुर्भाव हो तो जानना चाहिए कि विजय होगी। इन्हीं के सम्बन्ध में यदि विपरीत भाव अथवा हीन-दीन शब्द रूप की प्रतीति हो तो पराजय सूचित होती है। विजय के भी कितने ही भेद कहे गये हैं। जैसे अपने पराक्रम से, पराये पराक्रम से, बिना पुरुषार्थ के सरलता से विजय, राज्य की विजय, राजधानी या नगर की विजय शत्रु के देश की विजय, आयबहुल विजय, महाविजय, जोणिबहुल विजय [जिसमें धन का लाभ न हो किन्तु प्राणियों का लाभ हो], शस्त्रनिपात द्वारा विजय, प्राणातिपातबहुल विजय अहिंसा द्वारा मुदित विजय आदि। [पृ० १९९ २००]

४९ वें अध्याय में इसी प्रकार के विपरीत चिह्नों से पराजय का विचार किया है—[पृ० २०१-२]।

५० वें उवद्दुत (उपद्रव) नामक अध्याय में शरीर के विविध दोष और रोग

आदि का विचार किया गया है। इसमें भी फलकथन का आधार वे ही वस्तु हैं जिनका यात्रा और जय के सम्बन्ध में परिगणन किया गया है। हाँ, शारीरिक दोषों और भोगों की अच्छी सूची इस प्रकरण में पायी जाती है। जैसे काण, अन्ध, कुष्ट (टोंटा), गंडीपाद (हत्थीपगा, फील्पाव), खंज, कुणीक (टेढ़े हाँथवाला), आजुर, पलित, खरड (सिर में रूक्षता या मैल की पपड़ी, गुजराती खोडो), तिलकालक, विपण्ण (विवर्णता), चम्मक्खील (मस्सा), किडिग (सीप या श्वेत दाग, संस्कृत–किटिभ) दद्दु (दग्ध देश), किलास (कुष्ठ), कट्ठ (संभवतः कुट्ठ या कुष्ठ), सिब्भ (सिम्भ या श्लेष्म) कुणिणह (कुनख या टेढे-मेढे नख), खस (क्षत) अरुव (अरूप), कायल (कामला), णच्छक (अप्रशस्त), पिलक (पिल्ल नामक मुख रोग), चम्मखील, गलुक (गल्गंड), गंड (गूलर के आकार की फुडिया), कोठ, कुट्टित (अस्थिभंग), वातंड (वात के कारण अणुवृद्धि), अम्हरि (अश्मरी पथरी), अरिस (अर्ष) भगंदर, कुच्छि-रोग (अतिसार, जलोदर आदि) वातगुहि (वातगुल्म), शूल, छड्डि (छादीवमन), हिक्क (हिचकी), अवायि (अपची नामक रोग=कंठमाला), गलगंड (गंधा या गिल्हड), कंठसालक (कंठशालुक), शलुक=कन्दकी जड, अंग्रेजी (टोन्सिलाईरिस), पट्ठिरोग (पृष्टिरोग), खण्डोट्ठ (खण्डौण्ठ–कटा हुआ ओष्ठ), गुरुमेढ़े (करल, करालदांत – टेढे-दांत), खण्ड दंत [टूटे हुए दांत], सामदंत [शाव दंत–दांतों का कालापन], ग्रीवा-रोग, हत्थछेज्ज [हस्तच्छेद], अंगुलीछेज्ज, पादछेज्ज, शीर्षव्याधि, वातिक, पैत्तिक, श्लेष्मिक, सान्निपातिक आदि।

५१ वें अध्याय का नाम देवताविजय है। इसमें अनेक देवी–देवताओं के नाम हैं जिनकी पूजा-उपासना उस युग में होती होगी। जैसे-यक्ष, गन्धर्व, पितर, प्रेत, वसु, आदित्य, अश्विणी, नक्षत्र, ग्रह, तारा, बलदेव, वासुदेव, शिव, वैस्समण (वैश्रवण), खंद (स्कंद), विसाह (विशाख), सागर, नदी, इन्द्र, अग्नि, ब्रह्मा, उपेन्द्र, यम, वरुण, सोम, रात्री, दिवस, सिरी [श्री] अइरा (अचिरा= इन्द्राणी) [देखिये पृ० ६९], पुढवी [पृथ्वी], एकणासा (संभवतः एकानंसा) नवभिगा [नवभिका], सुरादेवी, नागी, सुवर्ण, द्वीपकुमार, समुद्रकुमार, दिशाकुमार, अग्निकुमार, वायुकुमार, स्तनितकुमार, विद्युत्कुमार (द्वीपकुमार से लेकर ये भवनपतिदेवों के नाम हैं)।

लतादेवता, वासेदवता, नगरदेवता, श्मशानदेवता, वच्चदेवता [वर्चदेवता], उक्करुडिक देवता [कूड़ाकचरा फेंकने के स्थान के देवता]। देवताओं की उत्तम, मध्यम, अवर ये तीन कोटियां कही गईं। अथवा आर्य और मिलाक्ख या म्लेच्छ देवता ये तीन हैं [पृ० २०४–६]।

५२ वें अध्याय का नाम णक्खत विजय अध्याय है। इसमें इन्द्र-धनुप, विद्युत स्तविन, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा, उदय-अस्त, अमावास्या, पूर्णमासी, मंडल, वीथी, युग, संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, क्षण, लव, मुहूर्त, उल्कापात, दिशादाह आदि के निमित्तों से

फलकथन का वर्णन किया गया है। २७ नक्षत्र और उनसे होनेवाले शुभाशुभ फल का भी विस्तार से उल्लेख है (पृ २०६-९)।

५२ वें अध्याय की संज्ञा उप्पात अध्याय है। पाणिनि के ऋगयनादि गण (४३७३) में अंगविद्या, उत्पात, संवत्सर मुहूर्त और निमित्त का उल्लेख आया है। जो उस युग में अध्याय के पुटकर विषय थे। ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र, आदित्य, धूमकेतु, राहु के अप्राकृतिक लक्षणों को उत्पात मान कर उनके आधार पर शुभाशुभ फल का कथन किया जाता था। इनके कारण जिन जिन वस्तुओं पर विपरीत फल देखा जाता था उनका भी उल्लेख किया गया है—जैसे प्रासाद, गोपुर, इन्द्रध्वज, तोरण, कोष्ठागार आयुधागार, आयतन, चैत्य, यान, भाजन, वस्त्र, परिच्छेद, पर्यंक, अरजर, आभरण शस्त्र, नगर, अंत पुर, जनपद, आरण्य, आराम - इन सब पर उत्पात लक्षणों का प्रभाव बताया जाता था [पृ० २१०-२११]।

अध्याय ५४ वें में सार—असार वस्तुओं का कथन है। सार वस्तुएँ चार प्रकार की हैं—धनसार, मित्रसार, ऐश्वर्यसार और विद्यासार। इनमें भी उत्तम, मध्यम और अवर ये तीन कोटियां मानी गई हैं। धनसार के अन्तर्गत भूमि, क्षेत्र, आराम, ग्राम आदि के स्वामित्व की गणना की जाती है। शयनासन, पान भोजन, वस्त्र, आभरण की समृद्धि को गृहसार कहते थे। धनसार का एक भेद प्राणसार भी है। जो दो प्रकार का है मनुष्यसार या मनुष्य समृद्धि और तिर्यग्योनिसार अर्थात् पशु आदि की समृद्धि जैसे हाथी, घोड़े, गौ, महिष, अजा, एडक, खर, उष्ट्र आदि का बहुस्वामित्व। धनसार के और भी दो भेद हैं—अजीव और सजीव। अजीव के १२ भेद हैं—वित्तसार, स्वर्णसार रूप्यसार, मणिसार, मुक्तसार, वस्त्रसार, आभरणसार, शयनासनसार, भाजनसार, द्रव्योपकरण [नगदी] अभ्युपरक्ष सार [अभ्यवहार—खान-पान की सामग्री] और धान्य सार। बहुत प्रकार की सवारी की संपत्ति यानसार कहलाती थी।

मित्रसार या मित्रसमृद्धि पांच प्रकार की होती थी। संबंधी मित्र, वयस्क, स्त्री एवं भृत्य कर्मकरा। बाहर और भीतर के व्यवहारों में जिसके साथ साम या सख्यभाव हो धनमित्र और जिसके साथ सामान्य मित्रभाव हो वह वयस्क कहा जाता है।

ऐश्वर्यसार के कई भेद हैं—जैसे नायकत्व, अमात्यत्व, राजत्व, सेनापतित्व आदि।

विद्यासार का तात्पर्य सब प्रकार के बुद्धिकौशल, सर्वविद्या एवं सर्वशास्त्रों में कौशल या दक्षता से है। (पृ० २११—२१२)

५५ वें अध्याय में निधान या गढ़ी हुई धनराशि का वर्णन है। निधान संख्या या राशि की दृष्टि से कई प्रकार का हो सकता है—जैसे शतप्रमाण, सहस्रप्रमाण, शतसहस्रप्रमाण, कोटिप्रमाण अथवा इससे भी अधिक अपरमित प्रमाण। एक, तीन, पांच, सात, नौ, दस, तीस, पचास सत्तर, नब्बे, शत आदि भी निधान का प्रमाण हो सकता था। किस स्थान में निधान की प्राप्ति होगी इस विषय में भी अंगवित को

बताना पड़ता था - जैसे प्रासाद में, माल या ऊंचे स्थान में, पृष्ठवंश में, आलग्ग (आलग्न अर्थात् प्रासाद आदि से मिले हुए विशेष स्थान खिड़की, आले आदि), प्राकार, गोपुर, अट्टालक, वृक्ष, पर्वत, निर्गमपथ, देवतायतन, कूप, कूपिका, अरण्य, आराम, जनपद, क्षेत्र, गर्त, रथ्या, निवेशना, राजमार्ग, क्षुद्र रथ्या, निक्कुड रथ्या [गृहोद्यान मार्ग], आलग्ग [आलमारी या आला], कुड्या, णिव्व [नीव, छज्जा], प्रणालि कुपी, वर्चकुटी, गर्भगृह, आंगन, मकान का पिछवाड़ा [पच्छावत्थु]।

निधान बताते समय इसका भी संकेत किया जाता था कि किस प्रकार के पात्र में गड़ा हुआ धन मिलेगा - जैसे लोही [लोहे का बना हुआ गहरा डोलनुमा पात्र गुं० चरु], कड़ाह, अरंजर, कुंड, ओखली, वार, लोहीवार (लोहे का चौड़े मुँह का बर्तन)। इनमें से लोहा, कड़ाह और ऊष्ट्रिक (ऊष्ट्रिका नामक भाजनविशेष बहुत बड़े निधान के लिए काम में लाये जाते थे)। कुंड, ओखली, वार और लोहवार मध्यम आकृति के पात्र होते थे। छोटों में आचमनी, स्वस्ति आचमनी, चरुक और ककुलुडि (छोटी कुलंडिका या कुल्हाड़ी, कुल्हड़िया = घटिका, पाइयसद्दमहण्णवो)।

अंगवित को यह भी संकेत देना पड़ता था कि निधान भाजन में रखा हुआ मिलेगा या सीधे भूमि में गड़ा हुआ अथवा वह प्राप्य है या अप्राप्य। (पृ० २१३-२१४)

अध्याय ५६ की संज्ञा णिधिसुत्त या नीधिसूत्र है। पहले अध्याय में निधान के परिमाण, प्राप्तिस्थान और भाजन का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय में निधान-द्रव्य के भेदों की सूची है। वह तीन प्रकार का हो सकता है। प्राणयोनिगत, मूलयोनिगत और धातुयोनिगत। प्राणयोनिसंबंधित-उपलब्धि मोती, शंख, गवल (= सींग), वाल, दन्त, अस्थि आदि से बने हुए पात्रों के रूप में संभव है। मूलयोनि चार प्रकार की कही गई हैं - मूलगत, स्कन्धगत, पत्रगत, फलगत। धातुयोनि का संबंध सब प्रकार के धातु, रत्न, मणि आदि से है - जैसे लोहिताक्ष, पुलक, गोमेद, मसारगन्ध, खारमणि - इनकी गणना मणियों में होती है। घिसकर अर्थात् चीरकर और कोर करके बनाई हुई गुरियां और मणके मणि, शंख और प्रवाल से बनाये जाते थे। वे विद्ध और अविद्ध दो प्रकार के होते थे। उनमें से कुछ आभूषणों के काम में आते थे। गुरियां या मनके बनाने के लिये खड़-पत्थर भिन्न-भिन्न आकृति या परिमाण के लिये जाते थे - जैसे अंजण [रंगीन शिला], पाषाण, शर्करा, लट्ठुक [डला] ढेल्लिया [डली] मच्छक [पहलदार छोटे पत्थर], फल्ल [रवेदार संग या मनके]। इन्हें पहले चीरकर छोटे परिमाण का बनाते थे; फिर चिरे हुए टुकड़े को कोर कर [कोडिते] उस शकल का बनाया जाता था जिस शकल की गुरिया बनानी होती थी। कोरने के बाद उस गुरिया को खोडित अर्थात् घिसकर चिकना किया जाता था। कच्चे संग या मणियों के अतिरिक्त हाथीदंत और जंगली पशुओं के नख भी [दंतठान्हे] काम में लाये जाते थे। इन दोनों के कारीगरों को दंतलेखक और नखलेखक कहा गया है। बड़े टुकड़ों को चीरने या

फलकथन का वर्णन किया गया है। २७ नक्षत्र और उनसे होनेवाले शुभाशुभ फल का भी विस्तार से उल्लेख है (पृ २०६-९)।

५३ वें अध्याय की संज्ञा उत्पात अध्याय है। पाणिनि के ऋगयनादि गण (४३७३) में अंगविद्या, उत्पात, संवत्सर मुहूर्त और निमित्त का उल्लेख आया है। जो उस युग में अध्याय के फुटकर विषय थे। ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र, आदित्य, धूमकेतु, राहु के अप्राकृतिक लक्षणों को उत्पात मान कर उनके आधार पर शुभाशुभ फल का कथन किया जाता था। इनके कारण जिन-जिन वस्तुओं पर विपरीत फल देखा जाता था उनका भी उल्लेख किया गया है—जैसे प्रासाद, गोपुर, इन्द्रध्वज, तोरण, कोष्ठागार, आयुधागार, आयतन, चैत्य, यान, भाजन, वस्त्र, परिच्छेद, पर्यंक, अरजर, आभरण शस्त्र, नगर, अत पुर, जनपद, आरण्य, आराम - इन सब पर उत्पात लक्षणों का प्रभाव बताया जाता था [पृ० २१०-२११]।

अध्याय ५४ वें में सार-असार वस्तुओं का कथन है। सार वस्तुएँ चार प्रकार की हैं—धनसार, मित्रसार, ऐश्वर्यसार और विद्यासार। इनमें भी उत्तम, मध्यम और अधर ये तीन कोटिया मानी गई हैं। धनसार के अन्तर्गत भूमि, क्षेत्र, आराम, ग्राम आदि के स्वामित्व की गणना की जाती है। शयनासन, पान, भोजन, वस्त्र, आभरण की समृद्धि को गृहसार कहते थे। धनसार का एक भेद प्राणसार भी है। जो दो प्रकार का है मनुष्यसार या मनुष्य समृद्धि और तिर्यग्योनिसार अर्थात् पशु आदि की समृद्धि जैसे हाथी, घोड़े, गौ, महिष, अजा, एडक, खर, उष्ट्र आदि का बहुस्वामित्व। धनसार के और भी दो भेद हैं—अजीव और सजीव। अजीव के १२ भेद हैं—वित्तसार, स्वर्णसार रूप्यसार, मणिसार, मुक्तसार, वस्त्रसार, आभरणसार, शयनासनसार, भाजनसार, द्रव्योपकरण [नगदी] अभ्युपरज्ज सार [अभ्यवहार-खान पान की सामग्री] और धान्य सार। बहुत प्रकार की सवारी की सपत्ति यानसार कहलाती थी।

मित्रसार या मित्रसमृद्धि पाच प्रकार की होती थी। सबधी, मित्र, वयस्क, स्त्री एव भृत्य कर्मकरा। बाहर और भीतर के व्यवहारों में जिसके साथ साम या सख्यभाव हो धनमित्र और जिसके साथ सामान्य मित्रभाव हो वह वयस्क कहा जाता है]

ऐश्वर्यसार के कई भेद हैं—जैसे नायकत्व, अमात्यत्व, राजत्व, सेनापतित्व आदि।

विद्यासार का तात्पर्य सब प्रकार के बुद्धिकौशल, सर्वविद्या एव सर्वशास्त्रों में कौशल या दक्षता से है। (पृ० २११—२१३)

५५ वें अध्याय में निधान या गढ़ी हुई धनराशि का वर्णन है। निधान संख्या या राशि की दृष्टि से कई प्रकार का हो सकता है-जैसे शतप्रमाण, सहस्रप्रमाण शतसहस्रप्रमाण, कोटिप्रमाण अथवा इससे भी अधिक अपरमित प्रमाण। एक, तीन, पाच, सात, नौ, दस, तीस, पचास, सत्तर, नब्बे, शत आदि भी निधान का प्रमाण हो सकता था। किस स्थान में निधान की प्राप्ति होगी इस विषय में भी अगवित को

बताना पडता था- जैसे प्रासाद में, माल या ऊंचे स्थान में, पृष्ठवंश में, आलग्ग (आलम्ब अर्थात् प्रासाद आदि से मिले हुए विशेष स्थान खिड़की, आले आदि), प्राकार, गोपुर, अट्टालक, वृक्ष, पर्वत, निर्गमपथ, देवतायतन, कूप, कूपिका, अरण्य, आराम, जनपद, क्षेत्र, गर्त, रथ्या, निवेशना, राजमार्ग, क्षुद्र रथ्या, निष्कुट रथ्या [गृहोद्यान मार्ग], आलग्ग [आलमारी या आला], कुड्या, णिव्व [नीव, छज्जा], प्रणालि कुर्पी, वर्चकुटी, गर्भगृह, आंगन, मकान का पिछवाड़ा [पच्छावत्थु]।

निधान बताते समय इसका भी संकेत किया जाता था कि किस प्रकार के पात्र में गडा हुआ धन मिलेगा- जैसे लोही [लोहे का बना हुआ गहरा डोलनुमा पात्र गुं० चरु], कड़ाह, अरंजर, कुंड, ओखली, वार, लोहीवार (लोहे का चौड़े मुँह का वर्तन)। इनमें से लोहा, कड़ाह और ऊष्ट्रिक (ऊष्ट्रिका नामक भाजनविशेष बहुत बड़े निधान के लिए काम में लाये जाते थे)। कुंड, ओखली, वार और लोहवार मध्यम आकृति के पात्र होते थे। छोटों में आचमनी, स्वस्ति आचमनी, चरुक और ककुलुडि (छोटी कुलंडिका या कुल्हाड़ी, कुल्हड़िया = घटिका, पाइयसद्दमहण्णवो)।

अंगवित को यह भी संकेत देना पड़ता था कि निधान भाजन में रखा हुआ मिलेगा या सीधे भूमि में गड़ा हुआ अथवा वह प्राप्य है या अप्राप्य। (पृ० २१३-२१४)

अध्याय ५८ की संज्ञा णिधिसुत्त या नीधिसूत्र है। पहले अध्याय में निधान के परिमाण, प्राप्तिस्थान और भाजन का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय में निधान-द्रव्य के भेदों की सूची है। वह तीन प्रकार का हो सकता है। प्राणयोनिगत, मूलयोनिगत और धातुयोनिगत। प्राणयोनिसंबंधित-उपलब्धि मोती, शंख, गवल (=सींग), वाल, दन्त, अस्थि आदि से बने हुए पात्रों के रूप में संभव है। मूलयोनि चार प्रकार की कही गई हैं-मूलगत, स्कन्धगत, पत्रगत, फलगत। धातुयोनि का संबंध सब प्रकार के धातु, रत्न, मणि आदि से हैं - जैसे लोहिताक्ष, पुलक, गोमेद, मसारगल्ल, खारमणि—इनकी गणना मणियों में होती है। घिसकर अर्थात् चीरकर और कोर करके बनाई हुई गुरियां और मणके मणि, शंख और प्रवाल से बनाये जाते थे। वे विद्ध और अविद्ध दो प्रकार के होते थे। उनमें से कुछ आभूषणों के काम में आते थे। गुरियां या मनके बनाने के लिये खड़-पत्थर भिन्न-भिन्न आकृति या परिमाण के लिये जाते थे - जैसे अंजण [रंगीन शिला], पाषाण, शर्करा, लट्ठुक [डला] ढेल्लिया [डली] मच्छक [पहलदार छोटे पत्थर], फल्ल [रवेदार संग या मनके]। इन्हें पहले चीरकर छोटे परिमाण का बनाते थे; फिर चिरे हुए टुकड़े को कोर कर [कोडिते] उस शकल का बनाया जाता था जिस शकल की गुरिया बनानी होती थी। कोरने के बाद उस गुरिया को खोडित अर्थात् घिसकर चिकना किया जाता था। कड़े संग या मणियों के अतिरिक्त हाथीदंत और जंगली पशुओं के नख भी [दंतठान्हे] काम में लाये जाते थे। इन दोनों के कारीगरों को दंतलेखक और नखलेखक कहा गया है। बड़े टुकड़ों को चीरने या

तरासने में जो छोटे टुकड़े या रेजे बचते थे उन्हें चुण्ण कहा जाता था जिन्हें आजकल चुर्री कहते हैं। इन सबकी गणना धन में की जाती है।

इसके अतिरिक्त कुछ प्रचलित मुद्राओं के नाम भी हैं, जो उस युग का वास्तविक द्रव्य-धन था। जैसे कहावण (कार्षापण) और णाणक। कहावण या कार्षापण कई प्रकार के बताये गये हैं। जो पुराने समय से चले आते हुए मौर्य या शुंगकाल के चांदी के कार्षापण थे उन्हें इस युग में पुराण कहने लगे थे, जैसा कि अंगविज्जा के इस महत्त्वपूर्ण उल्लेख से (आदिमूलेसु पुराणे बूया) और कुषाण कालीन पुण्यशाला स्तम्भलेख से ज्ञात होता है (जिसमें ११०० पुराण मुद्राओं का उल्लेख है)। पृ० ६६ पर भी पुराण नामक कार्षापण का उल्लेख है। पुरानी कार्षापण मुद्राओं के अतिरिक्त नये कार्षापण भी ढाले जाने लगे थे। ये कई प्रकार के थे जैसे उत्तम कहावण, मज्झिम कहावण, जहण्ण [जघन्य] कहावण। अंगविज्जा के लेखक ने इन तीन प्रकार के कार्षापणों का और विवरण नहीं दिया। किन्तु ज्ञात होता है कि वे क्रमशः सोने, चांदी और तांबे के सिक्के रहे होंगे, जो उस समय कार्षापण कहलाते थे। सोने के कार्षापण अभी तक प्राप्त नहीं हुए, किन्तु पाणिनि सूत्र ४, ३, १५३ (जातरूपेभ्यः परिमाणे) पर हाटक कार्षापण यह उदाहरण काशिका में आया है। सूत्र ५।२।१२० [रूपादाहत प्रशंसयोर्यप्] के उदाहरणों में रूप्य दीनार, रूप्य केदार और रूप्य कार्षापण-इन तीन सिक्कों के नाम काशिका में आये हैं। ये तीनों सोने के सिक्के ज्ञात होते हैं। अंग विज्जा के लेखक ने मोटे तौर पर सिक्कों के पहले दो विभाग किए-कहावण और णाणक। इनमें से णाणक तो केवल तांबे के सिक्के थे और उनकी पहचान कुषाणकालीन उन मोटे पैसों से की जा सकती है जो लाखों की संख्या में वेमतक्षम, कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव आदि सम्राटों ने ढलवाये थे। णाणक का उल्लेख मृच्छकटिक में भी आया है। जहां टीकाकार ने उसका पर्याय शिवाङ्कटक लिखा है। यह नाम भी सूचित करता है कि णाणक कुषाणकालीन मोटे पैसे ही थे, क्योंकि उन में से अधिकांश पर नन्दीवृष के सहारे खड़े हुए नन्दिकेश्वर शिव की मूर्ति पाई जाती है। णाणक के अन्तर्गत तांबे के और भी छोटे सिक्के उस युग में चालू थे जिन्हें अंगविज्जा में मासक, अर्धमासक, काकणि और अट्ठा कहा गया है। ये चारों सिक्के पुराने समय के तांबे के कार्षापण से संबंधित थे जिसकी तौल सोलह माशे या अस्सी रत्ती के बराबर होती थी। उसी तौल-माप के अनुसार मासक सिक्का पांच रत्ती का, अर्धमासक ढाई रत्ती का, काकणि सवा रत्ती की और अट्ठा या अर्धकाकणि उससे भी आधी तौल की होती थी। इन्हीं चारों में अर्धकाकिणि पच्चवर (प्रत्यवर) या सबसे छोटा सिक्का था। कार्षापण सिक्कों को उत्तम, मध्यम और जघन्य इन तीन भेदों में बाँटा गया है। इसकी संगति यह ज्ञात होती है की उस युग में सोने, चांदी और तांबे के तीन प्रकार के नये कार्षापण सिक्के चालू हुए थे। इनमें से हाटक कार्षापण का उल्लेख काशिका के आधार पर कह चुके हैं। वे सिक्के वास्तविक थे या केवल गणित अर्थात हिसाब-किताब के लिए प्रयोजनीय थे इसका निश्चय करना संदिग्ध है क्योंकि

सुवर्ण कार्षापण अभीतक प्राप्त नहीं हुए। चांदी के कार्षापण भी दो प्रकार के थे। एक नये और दूसरे मौर्य-शुंगकाल के बत्तीस रत्तीवाले पुराण कार्षापण। चांदी के नये कार्षापण कौन से थे इसका निश्चय करना भी कठिन है। संभवतः यूनानी या शक-यवन राजाओं के ढलवाये हुए चांदी के सिक्के नये कार्षापण कहे जाते थे। सिक्कों के विषय में अंगविज्जा की सामग्री अपना विशेष महत्त्व रखती है। पहले की सूची में [पृ० ६६] खत्तपक और सतेरक इन दो विशिष्ट मुद्राओं के नाम भी आचुके हैं। मासक सिक्के भी चार प्रकार के कहे गये हैं। सुवर्ण मासक, रजत मासक, दीनारमासक और चौथा केवल मासक जो तांबे का था और जिसका संबंध णाणक नामक नये तांबे के सिक्के से था। दीनार मासक की पहचान भी कुछ निश्चय से की जा सकती है अर्थात् कुशाणयुग में जो दीनार नामक सोने का सिक्का चालू किया गया था और जो गुप्त-युग तक चालू रहा, उसीके तोल-मान से संबंधित छोटा सोने का सिक्का दीनार मासक कहा जाता रहा होगा। ऐसे सिक्के उस युग में चालू थे यह अंग विज्जा के प्रमाण से सूचित होता है। वास्तविक सिक्कों के जो नमूने मिले हैं उनमें सोने के पूरी तौल के सिक्कों के अष्टमांश भाग तक के छोटे सिक्के कुशान राजाओं की मुद्राओं में पाये गये हैं। (पंजाब संग्रहालय सूची संख्या ३४, ६७, १२३, १३५, २१२, २३७) किन्तु संभावना यह है कि षोडशांश तौल के सिक्के भी बनते थे। रजतमापक से तात्पर्य चांदी के रौप्यमापक से ही था। सुवर्ण मासक वह मुद्रा ज्ञात होती है जो अस्सी रत्ती के सुवर्ण कार्षापक के अनुपात से पांच रत्ती तौल कर बनाई जाती थी।

इसके बाद कार्षापण और णाणक इन दोनों के निधान की संख्या का कथन एक से लेकर हजार तक किन लक्षणों के आधार पर किया जाना चाहिए यह भी बताया गया है। यदि प्रश्नकर्त्ता यह जानना चाहे कि गड़ा हुआ धन किसमें बंधा हुआ मिलेगा तो भिन्न-भिन्न अंगों के लक्षणों से उत्तर देना चाहिए-थैली में (थविका), चमड़े की थैली में (चम्मकोस), कपड़े की पोटली में (पोट्टलिकागत) अथवा अट्टियगत (अंटी की तरह वस्त्र में लपेटकर), सुत्तवद्ध, चक्कवद्ध, हेत्तिवद्ध-ये पिछले तीन शब्द विभिन्न बन्धनों के प्रकार थे जिनका भेद अभी स्पष्ट नहीं है। कितना सुवर्ण मिलने की संभावना है इसके उत्तर में पांच प्रकार की सोने की तौल कही गई है अर्थात् एक सुवर्णभर, अष्टभाग सुवर्ण, सुवर्णमासक (सुवर्ण का सोहलवां भाग), सुवर्ण काकिणी [सुवर्ण का बत्तीसवां भाग] और पल [चार कर्ष के बराबर]।

५८ वें अध्याय का नाम णट्ठकोसय अध्याय है जिसमें कोश के नष्ट होने के सम्बन्ध में विचार किया गया है। नष्ट के तीन भेद हैं-नष्ट, प्रमृष्ट (जबरदस्ती छीन लिया गया) और हारित [जो चोरी हुआ हो]। पुनः नष्ट के दो भेद किए गये हैं-सजीव और अजीव। सजीव नष्ट दो प्रकार के हैं-मनुष्ययोनिगत और तिर्यक्-योनिगत। तिर्यक् योनि के भी तीन भेद हैं-पक्षी, चतुष्पद और सरिसर्प। सरिसर्पों में द्व्वीकर, मंडली और राजिल (राइण्ण) नामक सर्पों का उल्लेख किया गया

हैं। मनुष्यवर्ग में प्रेष्य, आर्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि का उल्लेख है। इनमें भी छोटे-बड़े अनेक भेद होते थे। सम्बन्ध की दृष्टि से भ्राता, वयस्य, भगिनी, स्याल, [illegible] पितृष्वसा आदि के नाम हैं।

मधु (सं० मद्य) परमाण्ण (परमान्न, खीर), दधिनाउ (छौंकी हुई दही या कढ़ी) नक्कादण (सर्वौदन) अतिकूरक (विशेष प्रकार का भात, पुलाव) इत्यादि मूल्योनिगत आहार की सूची में शाली, व्रीही, कोद्रव, कगू, रालक (एक प्रकार की कंगनी), वरक, जौ, गेहूँ, मास, मूँग अलसदक (धान्य विशेष) चना णिप्फावा (गुज० वाल, सेमका बीज), कुलत्था (कुल्थी), चणलिका (=चणकिका चने से मिलता हुआ अन्न, मारन चणइया, ठाणांग सूत्र ५३), मसूर, तिल, अलसी कुसुम्भ, सावां।

इस प्रकरण में कुछ प्राचीन मद्यों के नाम भी गिनाये हैं - जैसे पसण्णा (सं० प्रसन्ना नामक चावल से बना मद्य काशिका ५,४,१४ सम्भवतः श्वेत सुरा या अवदातिका) णिट्ठिता (=निष्ठिता, मद्यविशेष महंगी शराब, सम्भवत द्राक्षा से बनी हुई), मधुकर (मद्युवेकामद्य) आसव, जगल (ईख की मदिरा), मधुरमेरक (मधुरसेरक पाठान्तर अशुद्ध है। वस्तुत यह वही है जिसे संस्कृत में मधुमैरेय कहा गया है, काशिका ६।२।६०), अरिष्ट, अट्ठकालिक (इसका शुद्ध पाठ अरिट्ठकालिका था जैसा कुछ प्रतियों में है। कालिका एक प्रकार की सुरा होती है, काशिका ५।२।३, अर्थशास्त्र २।२५) आसवासव (पुराना तेज मद्य), सुरा, कुसुकुडी (एक प्रकार की श्वेत मधुर सुरा), जयकालिका।

धातु के बने आभरणों में सुवर्ण, रूप्य तांबा, हारकूट, त्रपु (रांगा), सीसा, काललोह, वट्टलोह, सेल, मत्तिका का उल्लेख है। धातु निर्मित वस्त्रों में सुवर्णपट्ट (किमखाब), सुवर्ण खचित (जरी का काम) और लौहजालिका (पृ० ७२१)। इसी प्रसंग में तीन सूचियां रोचक हैं — घर, नगर और नगर के बाहर के भाग के विभिन्न स्थानों की। घर के भीतर अरजर, उप्पिट्टका, पल्लु [सं० पल्य धान्य भरने का बड़ा कोठा], कुड्य, किञ्जर, ओखली, घड़, खड्डुमाणग (खोदकर गाड़ा हुआ पात्र), पेलिस (पेलिका सम्भवत पेटिका), माल (घर का ऊपरी तल), वातपाण [गवाक्ष], चर्मकोष (चमड़े का थैला), बिल, नाली, थम, अंतरिया (घर के कोने में बनी हुई कोठी या भड़रिया) पस्सतरिया (पार्श्वभाग में बनी हुई भड़रिया), कोट्ठागार, भत्तघर, वासघर, अरस्स (आदर्श भवन या सीसमहल), पडिक्कमघर (प्रतिक्रमणगृह), असोयवणिया [अशोक वनिका नामक गृहोद्यान], आपुच्छ, पणाली, उदकचार, वच्चाडक (वर्चस्थान) अरिट्ठा गहण (कोपगृह जैसा स्थान), चित्तगिह (चित्रगृह), सिरिगिह (श्रीगृह), अग्नि होत्रगृह, स्नानगृह, पुस्सघर, दासीघर, वेसण।

नगर के विभिन्न भागों की सूची इस प्रकार है — अंतःपुर या राजप्रासाद, भूमत्तर [भूम्यतर - संभवत भूमिगृह] सिंघाडग (शृंगाटक), चउक्क (चौक), राजपथ,

महारथ्या, उस्साहिया [अज्ञात, संभवतः परकोटे के पीछे की ऊंची सड़क], प्रासाद, गोपुर, अट्टालक, पकंठा (प्रकंठी नामक बुर्ज), तोरण, द्वार, पर्वत, पासरूल्ल (अज्ञात), थूभ [स्तूप] एलूय [एडूक], प्रणाली, प्रवात [= प्रपात गड्ढा], वप्प, तडाग, दहफलिहा (हृदयरेखा), वय [व्रज-गोकुल अथवा मार्ग या रास्ता)।

नगरबाह्य स्थानों की सूची इस प्रकार है—ध्वज, तोरण, देवागार, रुक्ख (वृक्ष), पर्वत, माल, थंभ, पलुग [द्वार की लड़की], पाली (तलाव का बांध), तडाग, चउक्क, वप्र, आराम, श्मशान, वच्चभूमि (वर्चभूमि), मंडलभूमि, प्रपा, नदी, देवायतन, दड्ढवण, (दग्धवन), उट्ठियपट्टण (ऊँचा स्थान), जण्णवाड़ (यज्ञवाटक), संगामभूमि (संग्रामभूमि)।

७८ वां चिन्तित अध्याय है। जैन धर्म में जीव-अजीव के विचार का विषय बहुत विस्तार से आता है। यहां धार्मिक दृष्टिकोण से उस संबंध में विचार न करके केवल कुछ सूचिओं की ओर ध्यान दिलाना इष्ट है। जीव, अजीव-इनमें जीव दो प्रकार का है-एक संसारी और दूसरा सिद्ध। संसारी जीव के सम्बन्ध में याचनविवृद्धि, भोग, चेष्टा, आचार-विचार, चूड़ाकर्म (चोल), उपनयन, तिथि (पर्व विशेष), उत्सव, समाज, यज्ञ आदि विशेष आयोजनों का उल्लेख है। संसार चार प्रकार के होते हैं —दिव्य, मानुष, तिर्यंच, नारकी। देवताओं की सूची में निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय हैं—वेश्रवण, विष्णु, रूद्र, शिव, कुमार, स्कंद, विशाख [इन तीन नामों का पृथक उल्लेख, कुशानकाल की मुद्राओं पर भी पाया जाता है]। ब्रह्मा, बलदेव, वासुदेव, प्रद्युम्न, पर्वत, नाग, सुपर्ण, नदी, अलणा [एक मातृ देवी], अज्जा, अइरानी (पृ० ६९, २०४ पर भी यह नाम आचुका है), माडपा [मातृका], सउणी (शकुनी, संभवतः सुपर्णी देवी), एकाणंसा [एकानंसा नामक देवी जो कृष्ण और बलराम की बहिन मानी जाती है]; सिरी [श्री लक्ष्मी], बुद्धी, मेधा, कित्ती [कीर्ति], सरस्वती, नाग, नागी, राक्षस-राक्षसी, असुर, असुरकन्या, गन्धर्व, गन्धर्वी, किंपुरुष-किंपुरुषकन्या, जक्ख—जक्खी, अप्सरा, गिरीकुमारी, समुद्र, समुद्रकुमारी, द्वीपकुमार-द्वीपकुमारी, चन्द्र, आदित्य, ग्रह, नक्षत्र, तारागण, वातकन्या, यम, वरुण, सोम, इंद्र, पृथ्वी, दिशाकुमारी, पुरदेवता, वास्तुदेवता, वर्चदेवता [दुर्गन्धित, स्थान के अधिष्ठातृ देवता], सुसाणदेवता [श्मशानदेवता]—पितृदेवता, चारण, विद्याधरी, विज्जादेवता, महर्षि आदि। इस सूची में कई बाते ध्यान देने योग्य हैं। एक तो देवताओं की यह सूची जैनधर्म की मान्यताओं की सीमा में संकुचित न रहकर लोक से संगृहीत की गई थी। अतएवं इसमें उन अनेक देव-देविओं के नाम आगये हैं जिनकी पूजा-परंपरा लोक में प्रचलित थी। इसमें एक ओर तो प्रायः वे सब नाम आगये हैं जिनकी मान्यता मह नामक उत्सवों के रूप में पूर्वकाल से चली आती थी जैसे वेस्समण मह, रुद्दमह, सिवमह, नदीमह, बलदेवमह, वासुदेवमह, नागमह, जक्खमह, पव्वनमह, समुद्रमह, चंद्रमह, आदित्यमह, इन्द्रमह आदि। दूसरे कुछ वैदिक देवता जैसे वरुण, सोम, यम, कुछ विशेष रूप से जैन देवता जैसे द्वीपकुमारी, दिशाकुमारी, अग्नि-

देवता के साथ अग्निघर और नागदेता के साथ नागघर का उल्लेख विशेष ध्यान देने योग्य है। नागघर या नागभवन या नागस्थान, नागदेवता के मन्दिर थे जिनकी मान्यता कुषाणकाल में विशेष रूप से प्रचलित थी। मथुरा के शिलालेखों में नाग देवता और उनके स्थानों का विशेष वर्णन आता है। एक प्रसिद्ध नागभवन राजगृह में मणियार नाग का स्थान था जिसकी खुदाई में मूर्ति और लेख प्राप्त हुए हैं। स्कंद, विशाख, कुमार और महासेन ये चार भाई कहलाते थे जो आगे चलकर एक में मिल गये और पर्यायवाची रूप में आने लगे; पर हुविष्क के सिक्कों पर एवं काश्यप संहिता में इनका अलग-अलग उल्लेख है, जैसा कि उनमें से तीन का यहाँ भी उल्लेख है। श्री-लक्ष्मी की पूजा तो शुंगकाल से बराबर चली आती थी और उनकी अनेक मूर्तियां भी पाई गई हैं। किन्तु मेधा और बुद्धी का देवता रूप में उल्लेख यहां नया है।

मनुष्य योनि के सम्बन्ध में पहले स्त्री, पुरुष और नपुंसक – इन तीन भेदों का विचार किया गया है और फिर पिता, माता आदि संबंधियों की सूची दी है। तदनन्तर पक्षी, चतुष्पद, परिसर्प, जलचर, कीट, पतंग, पुष्प, फल, लता, धान्य, तैल, वस्त्र, धातु, वर्ण, आभरण आदि की विस्तृत सूचियां दी गई हैं जिनसे तत्कालीन संस्कृति के विषय में उपयोगी सूचना प्राप्त होती है। जलचर जीवों में कुछ ऐसे नाम हैं जिनका अंकन मथुरा की जैन कला में विशेष रूप में पाया जाता है। इन्हें सामुद्रिक अभिप्राय (*marine matifs*) कहा जाता है। जैसे हत्थिमच्छा (हाथी का शरीर और मछली की पूछ मिली हुई, जिसे जलेभ या जलहस्ति भी कहा जाता है), मगमच्छा (मृगमत्स्य), गोमच्छा (गौमत्स्य), अस्समच्छा (आधी अश्व की, आधी मत्स्य की), नरमत्स्य (पूर्वकाय मनुष्य का और अध काय मत्स्य का) (अं० triton)। मछलियों की सूची में कुछ नाम विशेष ध्यान देने योग्य हैं। जैसे सकुचिका (सकुची मच्छ) चम्मिरा (चर्मज, मानसोल्लास), घोहणु, वइरमच्छ (वज्रमच्छ), तिमितिमिंगिल, वालीण, सुसुमार, कच्छभमगर, गद्दम कण्यमाणं (sharlk) रोहित, पिचक, (पिच्छक, मानसोल्लास), णलमीण (नलमीन, अं० eeL.), चम्मिराज, कल्लाडक, सीकुंडी, उप्पातिक, इंचिका, कुडुवालक, सिस मच्छक। (पृ० २२८)

वृक्षों की सूची में चार प्रकार के वृक्ष कहे गये हैं—पुप्फशाली, पुप्फफलशाली, फलशाली, न पुप्फशाली न फलशाली। पुप्फशाली तीन प्रकार के हैं—प्रत्येक पुष्प, गुलुक पुष्प, मजरी। एक-एक फल अलग लगे तो प्रत्येक पुष्प, फूलों के गुच्छे [illegible] तो गुलुकपुष्प और पुष्पों के लम्बे-लम्बे झुग्गे लगे तो मजरी कही जाती है। रंगों की दृष्टि से पुष्पों के पांच प्रकार हैं—श्वेत, रक्त, पीत, नील और कृष्ण पुष्प। गंध की दृष्टि से पुष्पों के तीन प्रकार हैं—सुगंध पुष्प, दुर्गन्ध पुष्प, अत्यतगंध पुष्प। फलदार वृक्ष फलों के परिमाण की दृष्टि से चार वर्गों में बांटे गये हैं—बहुत बड़े फलवाले [कयचंत फल,] जैसे कटहल, तुम्बी, कुष्मांड, झिमकाय (मझले आकार के फलवाले जैसे कैथ, बेल, बिचले (मज्झिमाणंतर) फलवाले जैसे आम, उदुम्बर

और छोटे फलवाले जैसे वड, पीपल, पीलू, चीरोजी, फालसा, वेर, करौंदा। वर्गीकरण की क्षमता का और विकास करते हुए कहा गया है कि भक्ष्य और अभक्ष्य दो प्रकार के फल होते हैं। पुनः वे तीन प्रकार के हैं—सुगंध, दुर्गंध और अत्यन्त सुगंध। रस या स्वाद की दृष्टि से फलों के पांच प्रकार और हैं—तीते, कडुवे, खट्टे, कसैले और मीठे। अशोक, सप्तपर्ण, तिलक ये पुष्पशाली वृक्षों के उदाहरण हैं। आम, नीम, वकुल, जामुन, दाड़िम ये ऐसे वृक्ष हैं जो पुष्प और फल दोनों दृष्टिओं से सुन्दर हैं। गंध की दृष्टि से वृक्षों के कई भेद हैं—जैसे मूल गंध (जिनकी जड़ में सुगंध हो), स्कंधगत गंध, त्वचगत गंध, सारगत गंध, [जिसके गूदे में गन्ध हो] निर्यासगत गंध [जिसके गोंद में सुगंध हो], पत्रगत गंध, फलगत गंध, पुष्पगत गंध, रसगत गंध। रसों में कुछ विशेष नाम उल्लेखयोग्य हैं—गुग्गुल विगत (गुग्गुल से बनाई गई कोई विकृति), सज्जलस (सर्ज वृक्ष का रस), इक्कास (संभवतः नीलोत्पल कमल से बनाया हुआ द्रव; देशीनाममाला १,७९ के अनुसार (इक्कस=नीलोत्पल या कमल), सिरिवेट्ठक (श्रीवेष्टक-देवदार वृक्ष का निर्यास), चंदन रस, तेलवण्णिकरस (तेलपर्णिक लोवान अथवा चंदन का रस), कालेयकरस (इस नाम के चन्दन का रस), सहकार रस (इसका उल्लेख वाण ने भी हर्षचरित में किया है), मातुलंग रस, कदमंदरस, सालफल रस,। उस समय भांति-भांति के तेल भी तैयार होते थे जिनकी एक सूची भी दी हुई है—जैसे कुसुम तेल्ल, अतसी तेल्ल, रुचिका तेल्ल [=एरंड तेल] करंज तेल्ल, उण्हिपुण्णामतेल्ल (पुन्नाग के साथ उबाला हुआ तेल], विल्ल तेल्ल (विल्व तेल], उसणी तेल्ल [उसणी नामक किसी ओषधिका तेल, संभवतः वैदिक उपाणा), वल्ली तेल्ल, सासव तेल्ल. [सरसों का तेल], पूतिकरंज तेल्ल, सिग्गुक तेल्ल (सोंजन का तेल], कपित्थ तेल्ल, तुरुक्क तेल [तुरुक्कनामक सुगंधी विशेष], मूलक तेल्ल, अतिमुत्तक तेल। नाना प्रकार के तेल वृक्ष, गुल्म, वल्ली, गुच्छ, वलय (झुग्गे) और फल आदि से बनाये जाते थे। बढिया-बढ़िया तेलों की दृष्टि से उनका वर्गीकरण भी बनाया गया है। तिल, अतसी, सरसों, कुसुम के तेल प्रत्यवर या नीची श्रेणी के; रेण—एरंग, इंगुदी, सोंजन के मज्झिमाणंतर वर्ग के; मोतिया और पधकली (अज्ञात) के तेल मध्यम वर्ग के और कुछ दूसरे तेल श्रेष्ठ जाति के होते हैं। चंपा और चांदनी [चंदणिका] के फूलों (पुस्स=पुष्प) से, जाही और जूही के तेल भी बनाये जाते थे। अनेक प्रकार के कुछ अन्नों के नाम भी गिनाये गये हैं। (पृ० २३२, पं० २७) वस्त्र, भाजन, आभरण और धातुओं के नाम भी गिनाये हैं। सुवर्ण, त्रपु, ताम्र, सीसक, काललोह, वट्टलोह, कंसलोह, हारकूट, (आरकूट), चांदी—ये कई प्राकार की धातुएं वर्तन बनाने के काम में आती थीं। इसके अतिरिक्त वैदूर्य, स्फटिक, मसारगल्ल, लोहिताक्ष, अंजनपुलक, गोमेद, सस्यक (पद्मा), सिलप्पवाल, प्रवाल, वज्र, मरकत और अनेक प्रकार की क्षारमणि-इनसे कीमती वर्तन बनाये जाते थे। कृष्णमृत्तिका, वर्णमृत्तिका, संगमृत्तिका, विपाणमृत्तिका, पांडुमृत्तिका, ताम्रभूमि मृत्तिका (हिरमिट्टी), मुरुम्ब (मोरम), इत्यादि कई प्रकार [६ मिट्टियां वर्तन बनाने और रंगने के काम में आती थीं।

इस प्रकार मृत्तिकामय, लोहमय, मणिमय, शैलमय — कई प्रकार के भोजन बनते थे।

वस्तुत इस अध्याय में दैनिक जीवन से संबंध रखने वाली मूल्यवान् सामग्री का संनिवेश पाया जाता है। (पृ० २२३-२३४)

५९ वें अध्याय का नाम काल अध्याय है। जिसमें २७ पटल हैं। पहले पटल में काल विभाग के नाम हैं। दूसरे में गुणों का विवेचन है। तीसरे पटल में उत्पात और चौथे में काल के सूक्ष्म विभागों का उल्लेख है। पांचवें पटल से २७ वें पटल तक जीव-अजीव पदार्थों और प्राणियों का काल के साथ संबंध कहा गया है। बारहवां पटल महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि इसमें वह ऋतु और बारह महीनों के क्रम से प्रकृति में होने वाले वृक्ष, वनस्पति, पुष्प, सस्य, ऋतु आदि के परिवर्तन गिनाये गये हैं। उदाहरण के लिये फाल्गुन महीने के सम्बन्ध में कहा है- फाल्गुन मास में नर-नारियों के मिथुन मिलकर उत्सव मनाते हैं और मुदित होते हैं। उस समय शीत हट जाता है और कुछ कुछ उष्णभाव आ जाता है। जिस समय आम्रमंजरी निकलती है और कोयल शब्द करती है उस समय गाने बजाने और हँसी खुशी के साथ स्त्रीपुरुष आपानक प्रमोद में मस्त होते हैं। जपा, इन्दीवर, श्यामाक के पुष्पों से आदोलित ऋतु का नाम वसंत है जिसमें मनुष्य मस्त होकर नाचने लगते हैं, घूमने लगते हैं। स्त्रीपुरुषों के मिथुन मैथुन कथा-प्रसंगों में लगे हुए नाना भांति से अपना मंडन करते हैं उसका नाम फाल्गुन मास है। इन ४२ श्लोकों को अपने साहित्य का सबसे प्राचीन बारामासा कहा जा सकता है। (पृ० २४३-४७)

सत्रहवें पटल में प्रातःकाल से लेकर सन्ध्याकाल तक के भिन्न भिन्न व्यवहार बताये गये हैं। जिसमें प्रातराश, मध्याह्न भोजन, उद्यान भोजन आदि हैं। बीसवें पटल में रामायण, भारत और पुराणों की कथाओं का भी उल्लेख है।

साठवें अध्याय में पूर्वभव अर्थात् देवभव, मनुष्यभव, तिर्यकभव और नैरयिकभव के जानने की युक्ति बताई गई है। इसीके उत्तरार्ध में उक्त भव के जानने की युक्ति का विचार है।

इस प्रकार यह अंग विद्या नामक प्राचीन शास्त्र सांस्कृतिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण सामग्री से परिपूर्ण है। निःसन्देह इसकी शब्दावली अनेक स्थलों में अस्पष्ट और गूढ है। इस ग्रन्थ की कोई भी प्राचीन या नवीन टीका उपलब्ध नहीं। प्राकृत कोष भी इन शब्दों के विषय में सहायता नहीं करते। वस्तुत तो स्वयं अंग विज्जा के आधार पर वर्तमान प्राकृत कोषों में अनेक नये शब्दों को जोड़ने की आवश्यकता है। इस ग्रन्थ पर विशेषरूप से स्वतंत्र अर्थ-अनुसंधान की आवश्यकता है। तुलनात्मक सामग्री के आधार पर एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से यह संभव हो सकेगा कि वस्त्र, भाजन, आभूषण, शयनासन, गृहवस्तु, फलफूल पुष्पवृक्ष, यान वाहन, पशु

पक्षी, धातु, रत्न, देवीदेवता, पर्व, उत्सव, व्यवहार आदि से संबंधित जो मूल्यवान् शब्दसूचियां इस ग्रन्थ में सुरक्षित रह गई हैं, उनकी यथार्थ व्याख्या की जा सके। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के बाद सांस्कृतिक इतिहास के विद्वान लेखक इस सामग्री का समुचित उपयोग कर सकेंगे। यहां हमने कुछ शब्दों पर विचार किया है, बहुत से अभी अस्पष्ट रह गये हैं। फिर भी जहाँ तक संभव हो सका है, सांस्कृतिक अर्थो की दृष्टि से अंगविद्या के अध्ययन को आगे बढ़ाने का कुछ प्रयत्न यहां किया गया है।

वसंतगढ की प्राचीन धातु प्रतिमायें

ले० डॉ उमाकान्त प्रेमानन्द शाह (प्राच्यविद्या-मंदिर, बरोडा)

भूतपूर्व सिरोही रियासतमें वासपरा (गढ) नामक ग्राम है। उसका प्राचीन नाम वसंतगढ था। अहमदाबाद – दिल्ली के रेल्वे रास्ते पर सज्जनरोड स्टेशन से करीब पांच मील दूर बस रास्ते से वसंतगढ (वासपरागढ) जा सकते हैं। आबूरोड स्टेशन से उत्तर में करीब २८ मील पर सज्जनरोड स्टेशन है।

करीब बीस चालीस वर्ष पूर्व वसंतगढ से एक प्राचीन शिलालेख मिला है। एपिग्राफीया इन्डिका वॉल्युम ९ पृ० १९१ से आगे में वह प्रतिकृतिमें शिलाछापसह प्रसिद्ध हुआ है। उस लेख के अनुसार (वि०) संवत् ६८२ में किसी सत्यदेव ने यमकूटी (वर्तमान गुजरात में यह देवी खिमेलमाता या क्षेमार्या कही जाती है)। माता का मन्दिर बनवाया था। लेख के अनुसार उस प्रदेश पर वर्मलात और उनके प्रादेशिक अधिकारी वज्जिल या वजिल का शासन था।

वर्मलात भिल्लमाल (वर्तमान भीनमाल) का राजा था। भीनमाल आबू के उत्तर-पश्चिम ८० मील दूर वर्तमान जालोर जिले में है। संस्कृत भाषा के महाकवि माघ के कथनानुसार उनके पितामह सुप्रभदेव वर्मलात के मन्त्री थे। यह वर्मलात वसंतगढ के उल्लेख वाला वर्मलात होगा। इस शिलालेख में वसंतगढ को वटाकर कहा गया है।

वि सं १०९९ का पूर्णपाल का एक शिलालेख जो वसंतगढ से मिला है उस में सूर्य और ब्रह्मा के मन्दिरों का उल्लेख है। अभी भी वसन्तगढ में इन मन्दिरों के अवशेष हैं[1]।

वसन्तगढ में मेवाड के राणा कुम्भाने किला बनवाया था जिसके अवशेष आज भी हैं। यहां एक प्राचीन सूर्यमंदिर था जिस के अवशेष डॉ देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर ने खोज कर अपने रीपोर्ट में प्रकाशित किये थे और जिसकी कला का एक चित्र, स्मिथ और कॉडिंग्टन के ग्रन्थ, हिस्टरि ऑफ फाइन आर्ट इन इन्डिआ एन्ड सीलोन, चित्र नं १९ सी, चित्रफलक ७८ बी में प्रकाशित हुआ है। ये सूर्यमन्दिर के अवशेष गुप्तोत्तर-कालीन कला (Post Gupta Art) के हैं। राजपूताना म्युझियम अजमेर में नं २९८ का शिल्प – ब्रह्माणि मातृका की प्रतिमा है जो वसन्तगढ से आई है और जो करीब ई० स० की ७-८ वीं सदी की कला का नमूना है।

---

१ वसंतगढ के प्राचीन मन्दिरों और वसन्तगढ के प्राचीन नाम वट या 'वटाकर' आदि की चर्चा के लिए देखो प्रोग्रेस रीपोर्ट ऑफ दी आरकयॉलोजिकल सर्वे ऑफ इन्डिआ, वेस्टर्न सर्कल, जुलाई १९०५ से मार्च १९०६, पृ ४९ से आगे

आकृति नं. १
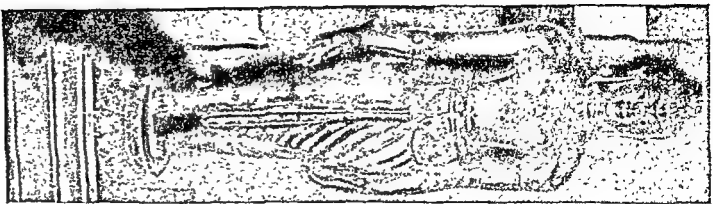
आकृति नं. २

आकृति नं. ३ (श्री ऋषभदेव प्रतिमा)

लेख आकृति नं. १ अ

ई. स. ७००-२५ वसंतगढ़-पींडवाडा (राज.)

आकृति ■ ५ ई. सन् ६०० लगभग झालरापाटन (राज.)
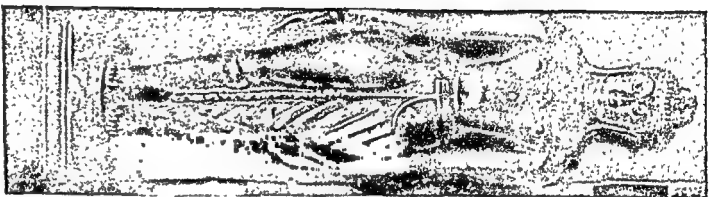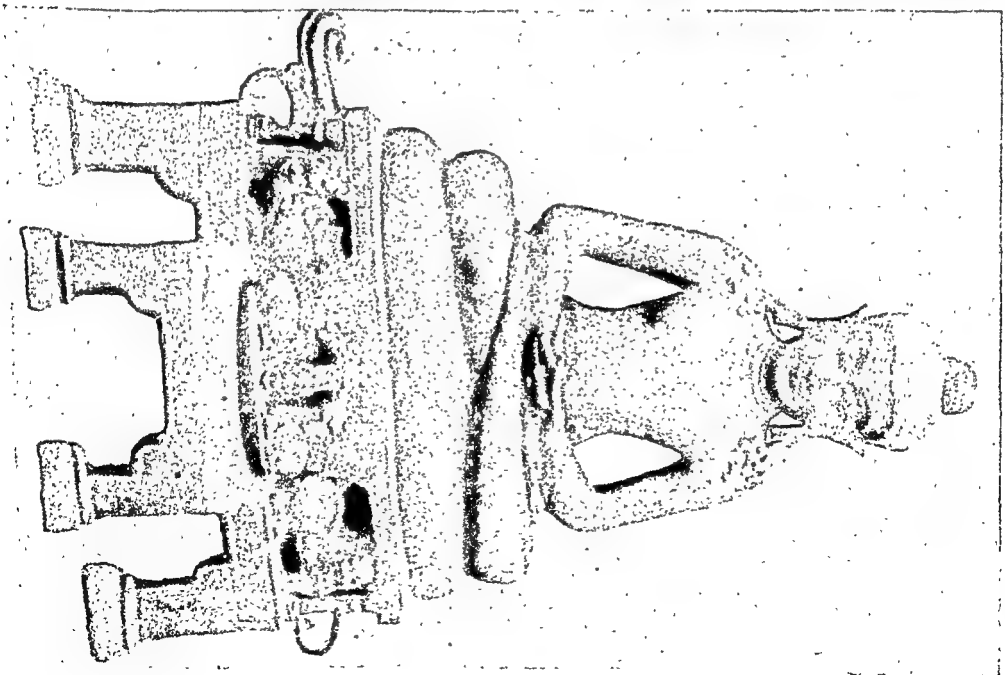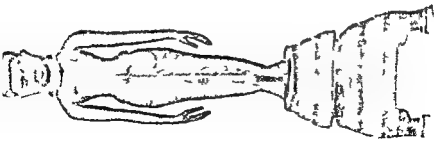
आज से करीब पचास या कुछ ज्यादा वर्ष पूर्व वसन्तगढ़ में श्री शान्तिनाथ जैन मन्दिर के भूगर्भकमरे से प्राचीन जैन धातुप्रतिमाओं का संग्रह मिला था। उस मन्दिर का अभी तो जीर्णोद्धार हो चुका है। इसी मन्दिर में शान्तिनाथजी की एक प्रतिमा पर वि. सं. १५०७ का लेख है। वसन्तगढ़ के पास एक दूसरा छोटा सा गांव है जहाँ एक शिलालेख में वि. सं. १६०० में दो जैन साधु वसन्तगढ़ के तीर्थकी यात्रा को गये थे ऐसा उल्लेख है। प्राचीन जैन कथाग्रन्थों में वसन्तगढ़ नामक नगर के उल्लेख आते हैं। यह ग्रन्थोक्त वसन्तगढ़ और यह वाँतपरागढ़–वटाकर–वसन्तगढ़ एक है ऐसा निश्चितरूप से तो हम नहीं कह सकते; मगर हो सकता है कि श्री हरिभद्रसूरि की सम्मराइच्च–कहा में वर्णित वसन्तगढ यही स्थान हो। श्री हरिभद्रसूरि का समय ई० स० ७ वीं शती का उत्तरार्द्ध है।

जब यह धातुप्रतिमासंग्रह मिला तब इस स्थान में पूजा आदि की योग्य व्यवस्था शायद न होने के कारण यह संग्रह वसन्तगढ से बाहिर चला गया और इसका मुख्य हिस्सा पिंडवाडा के जैन मन्दिर में रक्खा गया है। कुछ प्रतिमायें नजदीक के दूसरे स्थानों में भी चली गई होंगी; मगर इसकी हकीकत हमें मालूम नहीं। कोई जैन भाई अगर इनको खोज कर प्रकाशित कर सके तो अच्छा होगा।

सज्जनरोड स्टेशन से करीब दो मील दूर बस–सर्विस से पिंडवाडा जा सकते हैं। वहाँ के श्री महावीरस्वामी–मन्दिर में अभी इन प्रतिमाओं की पूजा हो रही है। ई० स० १९४० या १९४१ में मैं जब वहाँ गया था तब कुछ प्रतिमायें (आकृति नं. ४–५–६) दिवार के साथ जड़ी हुई; मगर पूजा में थीं और कुछ वैसी बिन जड़ी हुई पूजा में थीं। दो बड़ी कायोत्सर्ग–स्थित–जिन प्रतिमायें गर्भगृह के प्रवेशद्वार के पास दोनों बाजू पर एक-एक पूजा में थीं। किन्तु एक और कमरे में अपूजित, कुछ खण्डित ऐसी थोडी प्रतिमायें भी थीं जिन में से वहाँ के पूजारी ने थोड़ी सी लाकर मेरे को दिखाई थीं। इन के जो फोटो मैंने लिए थे उनमें से एक यहाँ आकृति नं. ३ रूपसे शामिल किया है।

इन धातुशिल्पों के विषय में इतिहास–प्रेमी मुनिश्री कल्याणविजयजी ने सब से प्रथम नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवा संस्करण, वर्ष जिल्द १८, अङ्क २ पृ० २२१–२३१ में एक लेख लिखा था। जिस में काउसग्गिया पर के लेख का अवतरण और कुछ प्रतिमाओं के विषय में थोड़ी चर्चा, वर्णन आदि दिये थे। श्री. साराभाई नवाब ने अपने प्राचीन जैन तीर्थों वाले पुस्तक में इस काउसग्गिया का फोटो और इस लेख का पाठ दिये थे। उमाकांत शाह कृत आइकॉनोग्राफी ऑफ दी जैन गॉडेस सरस्वती नामक लेख, जो ई. स. १९४१ में जर्नल ऑफ दी बॉम्बे युनिवर्सिटी में छपा था उस में इस संग्रह की एक मनोहर और कला तथा शिल्पशास्त्र की दृष्टि से महत्त्व की सरस्वती–प्रतिमा का फोटो दिया गया था। फिर उसी की कला की चर्चा वसन्तगढ़ की एक दूसरी प्रतिमा के चित्र के साथ और अकोटा की कुछ धातुप्रतिमाओं

के चित्र सहित बुलेटिन ऑफ दी प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युझिअम, बम्बई, वॉ १, अङ्क १ में A female chauri- bearer from Akota and the school of Ancient west लेख में मैंने दी थी । अभी ललितकला अकोडॅमी का वार्षिक, "ललितकला" नामक कलाविषयक सामयिक में Bronz- Hoard From Vasantgadh, पृ० ५४ ६५ में वसन्तगढ़ का धातुप्रतिमाओं की चित्रों सहित चर्चा इस लेखक ने का है । यहां उसका सार - भाग दिया जाता है ।

वसन्तगढ की इन धातुप्रतिमाओं में सबसे ज्यादा महत्त्व की दो प्रतिमायें हैं । दोनों एक आकर्षक काउसिग्गया हैं। धातु के बड़े पीठ पर विकसित द्विगुणित (double) निम्न-पद्म पर एक एक जिनकायोत्सर्गमुद्रामें ध्यान में खड़े हैं । दोनों शिल्प एक ही शिल्पी ने बनाये हैं ।

इनमें से आकृति २ वाली प्रतिमा श्री आदिनाथ या ऋषभदेव की है जो स्कन्ध पर फैले हुए केशान्त — hair locks — से सूचित होती है । ऋषभदेवजी ने चतुर्मुष्टि लोच किया था और शिर के पिछले भाग के केश जिनकी लटें स्कंधों को शोभा दे रही थीं उनका इन्द्र की विज्ञप्ति से ऋषभदेवजीने लोच करना छोड़ दिया था । यह प्रतिमा करीब ४२ इंच ऊँची है और पीठ (pedestal) १०×१४×१०५ इंच का है । दूसरी प्रतिमा [आकृति १] जो इसी शैली की बनी हुई एक शिल्पी की बनाई हुई है, कौन से तीर्थंकर की है वह निश्चित नहीं हो सकता । यह मूर्ति करीब ४० इंच ऊंची है । पीठ पर न कोई लाछन अङ्कित किया गया और न कोई अन्य साधन है जिससे हम इस प्रतिमा की पहिचान कर सकें । इसी प्रतिमा के पीठ पर एक लेख है [आकृति० १ अ] जो स्व. महामहोपाध्याय श्री गौरीशंकर ओझाजी ने पढ़ा था और मु. श्री कल्याणविजयजीने अपने लेख में प्रसिद्ध किया था । यह इस तरह है—

नीरागत्वादिभावेन सर्वज्ञत्वविभावक ।
ज्ञात्वा भगवता रूप जिनानामेव पावन ॥
द्रो (णो ? णे) यक (? यक ?) यशोदेव ।
दिद क्षेत्र यैन कारितमुत्तम ।
भवशतपरपर्जितगुरुकर्मत अर्जो
वरदर्शनाय शुद्धसद्ज्ञानलाभाय ॥

संवत् ७४४

साक्षात्पितामहेनेव सर्वरूपविधायिना ।
शिल्पिना शिवनागेन कृतमेतज्जिनद्वयम् ॥

इस लेख से स्पष्ट है कि दोनों काउसग्गियाप्रतिमायें ब्रह्मा जैसे सर्वरूपों के विधाता, शिल्पी शिवनाग ने सं० ७४४ (=ई० सं० ६८७) में बनाई थीं ।

इन दोनों शिल्प का बड़ा महत्व है । ईसा की सातवीं सदी के अन्त भाग में

स्पष्ट रूप से बने हुए ये दोनों शिल्प पश्चिम भारतीय कला के इतिहास के महत्व के सीमाचिह्न बन गये हैं। यह कला विशेषतः राजस्थान और गुजरात - सौराष्ट्र में फैली है। उसकी उत्पत्ति भी पश्चिमी भारत में इसी प्रदेश में हुई। मरुदेश के शृङ्गधर (शारंगधर होना चाहिये) नामक कलाकार ने इस शैली का सर्जन किया। शील नामक राजा के दरबार में आश्रय पा कर इस कलाकार ने देवदेवियों के रूपों का निर्माण किया और चिरंजीवी चित्रकारी भी की। मतलब की उसने भित्तिचित्रों (Frescoes and Murals) और धातु या पाषाण के शिल्प बनायें। यह उल्लेख बौद्ध लामा तारानाथ के बयान से हमें मिलता है।

आज तक इस प्राचीन पश्चिमी भारतीय कलाशैली (School & Ancient West) का अस्तित्व स्वीकृत नहीं हुआ था। क्योंकि इस शैली की कलाकृतियाँ पहिचानी नहीं गई थीं। गुप्तकला और गुप्तोत्तर कालीन पाल - शैली से हमारे कला-मर्मज्ञ सुपरिचित थे। किन्तु स्पष्ट समय देते हुए लेखयुक्त पश्चिमी भारत के शिल्पों से अज्ञात थे।

हम देख सकते हैं कि ये दोनों तीर्थंकर की प्रतिमायें न तो गुप्तशैली की या गुप्तकालीन हैं और न ये गुप्तोत्तर - कालीन सारनाथ की या नालन्दा, कुर्किहार आदि स्थानोंकी पाल - शैली की हैं। यह स्पष्ट है कि दोनों शिल्प उस विशिष्ट शैली के हैं जिससे मिलते - जुलते इनसे पहिले या पीछे बने हुए कई शिल्प सारे राजस्थान, गुजरात और मध्यभारत के पश्चिमी हिस्सों में आज भी उपलब्ध हैं।

पाल शैली का जन्म ईसा की आठवीं सदी के अन्तभाग में हुआ। ये दोनों शिल्प सातवीं सदी के अन्तभाग के हैं। मगर ये दोनों शिल्प पश्चिमी भारतीय कला के उद्भव के समय के नहीं हैं। किन्तु इनका समय निश्चित होने से हम कह सकते हैं कि इस कला का उद्गम ई. स. ६८७ से पूर्व किसी समय में हुआ।

वह समय कौन सा था? मरुदेश के इस कलाकार शारंगधर ने जिस के दरबार में आश्रय पाया वह शील राजा कौन था?

वह शिलादित्य हर्षवर्धन नहीं हो सकता। हर्षवर्द्धन की राजधानी थी कन्नौज। और वहाँ हर्ष के बाद हर्ष के साम्राज्य का अन्त हुआ। कनौज से जो कुछ इस शैली के शिल्प मिले हैं उनसे ज्यादा राजस्थान और गुजरात में मिले हैं। फिर हर्ष का समय ईसा की सातवीं सदी का पूर्वार्ध है। इस समय के पूर्व के और इसी के समकालीन ईसी कला के उत्कृष्ट नमूने गुजरात में बडोदा के पास अकोटा से मिले हैं। अतः हर्ष के पूर्व के किसी शील संज्ञक राजाने शारंगधर को आश्रय दिया-वह राजा हो सकता है वलभी का शिलादित्य प्रथम अपर नाम धर्मादित्य, जिसका समय है ई. स. की छठी सदी का अन्त भाग। हमारे विचार से इस समय में पश्चिम भारतीय प्राचीन कला का जन्म हुआ। इस अनुमान को कई और कई और कारण से एक पुष्टि मिलती है।

गुप्त-साम्राज्य को हूणों के आगमन से जो आघात लगा तो उस भारतीय विद्या और कलाविषयक प्रवृत्ति को भी थोड़ा सा आघात हुआ। उसके परिणामस्वरूप गुप्तों की राजधानी छोड़कर कुछ पण्डित और कलाकार गुप्तों के सामन्तों के पास या गुप्तों के दूरवर्ती-सीमावर्ती-प्रदेशों में चले गये। थोड़े ही समय में भारतीय पुनरुत्थान हुआ। गुप्त सम्राट् की पहिली समृद्धि तो न रही, किन्तु उनके प्रादेशिक अधिकारी, सामन्त आदि जो ज्यादा शक्तिशाली होने लगे, निश्चित रूपसे राज्यशासन और विद्या कलाके नये केंद्र बना सके। सौराष्ट्र में वलभी में ऐसा एक केन्द्र बना। मैत्रकों के शासन में वल्भीपुर एक बड़ा विद्या और कला का केंद्र बना। मैत्रकों के ताम्रपत्रों से हम देख सकते हैं कि बौद्ध आचार्य स्थिरमति जैसे महापंडित वलभी में थे। जैन आचार्य मल्लवादी भी वलभी में थे। कई बौद्ध विहारों को दान दिये गये का उल्लेख ताम्रपत्रों में मिलता है। और मैत्रकों का साम्राज्य करीब २००-२५० वर्ष तक चला। ऐसे केन्द्र में मरुदेश के कलाकार शार्ङ्गधर को राज्याश्रय मिलना ज्यादा समुचित लगता है।

प्राचीन पश्चिम भारतीय कला (School of Ancient West) के प्राचीन नमूनें अब हमें मिले हैं। अकोटा की जीवन्तस्वामी की धातुप्रतिमा जो करीब ई. स. ६०० या इससे कुछ पूर्व की (ई. स. ५५० आसपास की) है - इसी शैली की है। ऊँची दीवारवाली ईरानी अनहाक टोपी (पाघ) जैसा, किन्तु पत्र से अलङ्कृत, मुकुट युक्त इस प्रतिमा में महावीर स्वामी ने जो धोती पहनी है वह पश्चिमी भारत के शिल्पों में सबसे ज्यादा प्रचलित ढग की है और इस में पाटली का एक हिस्सा बायें उरु (जंघा) प्रदेश पर जाता है। ऐसे ढग से या तो धोती ही पहनी जाती है या एक अलग पर्यसत्क लगाया जाता है।

इसी कला का एक और मनोज्ञ धातुशिल्प है जो मीरपुर से मिली हुई ब्रह्मा की प्रतिमा है। अभी वह करांची के संग्रहालय में है (देखो, (Indian Metal Sculpture, by Chintamoni Car fig, 3)। यह शिल्प भी गुप्त कला की छायायुक्त होने पर भी इसी नयी शैली का है।

जयपुर प्रदेश में आबानेरी से मिले हुए सुन्दर शिल्प अभी lalit-Kala, no 1 में प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें Plate, Lxll, fig 7 में एक स्त्रीपुरुष की युगलमूर्त्ति है जो करीब ई० स० ६००-६५० की है। यहाँ स्त्री आकृति की वेशभूषा में वह पर्यसत्क स्पष्ट दिखाई देता है।

बाग की गुफाओंकी चित्रकारी, शिल्पकारी इसी शैली की है। इस कलाशैली में पाचवीं सदी की गुप्तकला की प्राधान्यतः छाया होने से सामान्यतः ऐसे चित्र और शिल्प गुप्तकला के नमूने माने गये थे, किन्तु उत्तरकालीन और पश्चिम भारतीय कलाकी विशेषताओं को देखकर अब ऐसे चित्र और शिल्प का फिर सूक्ष्म निरीक्षण कर के निर्णय करना चाहिये।

इस शैली की एक और कायोत्सर्गस्थित–जिनप्रतिमा वसन्तगढ़ से मिली है जो पीठ सहित करीव २२.७ इंच ऊँची है। वह भी अंदाज से ई. स. ७०० आसपास की ह (चित्र नं. ४)। यह शैली राजस्थान में विशेषतः प्रचलित थी। इस बात का प्रमाण हमें भिन्नमाल के एक जैन मन्दिर में सुरक्षित तीन काउसग्गिय प्रतिमाओं से मिलता है (देखो, ललितकला, अङ्क १, प्लेट १०, आकृति ३.) इन तीनों में धोती या अधोवस्त्र पहनने के तरीके और कमरवन्ध की (रेशमकी) रस्सी की गांठ और उसके दोनों छोरें (endr)] को अर्द्धचन्द्राकार कमान (arch) जैसे रखने का प्रचार और धोती के मध्यभाग को दोनों पाद के बीच में से ले कर बांयी जंघा पर ले जाने का ढंग (या तो मध्यभाग से अलग पर्यसत्क इस तरह ले जाले का ढंग) आदि का निरीक्षण करने से प्रतीक होगा कि भिन्नमाल की तीनों प्रतिमायें वसन्तगढ के तीनों काउसग्गियां से कुछ पीछे के समय की हैं और शायद ई० स० की आठवीं सदी की हैं।

वसन्तगढ से पद्मासनस्थ ऋषभदेव की एक और प्रतिमा मिली है [आकृति ३] उसके पीठ के ऊपर सिंहासन है जिसके मध्य में धर्मचक्र और हरिण–युगल हैं। यह प्रतिमा अनुमान से ई० स० ७००–७२५ आसपास की बनी होगी। इस के दोनों बाजू यक्ष, यक्षिणी होंगे जो अभी अलग हो गये हैं और उपलब्ध नहीं है; किन्तु सिंहासन की एक और विस्तारित धातुकी पट्टिका से यह अनुमान कर सकते हैं।

ई. स. ६४० के आसपास बनी हुई पार्श्वनाथ की तीनतीर्थी प्रतिमा अकोटा से मिली है। नागेंद्र कुल में सिद्धमहत्तर की शिष्या "खंभिल्यार्जिका" की (प्रतिष्ठित) यह प्रतिमा है-ऐसा इस के पीछे उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है। सिंहासन की बाजूमें यक्ष और यक्षिणी बैठे हैं और नीचे पीठ है। पीठ के ऊपर के भाग में आठ ग्रहों के शिर हैं। पार्श्वनाथ भगवान के दोनों बाजू कायोत्सर्गध्यान में खड़े एक-एक तीर्थंकर है जिन की धोती पर "बांधणी" की शैली का अलंकरण है। इस ढंग की तीर्थिक प्रतिमाओं का प्रचार पश्चिम भारत में इस समय में खूब बढा। वसन्तगढ से तीन ऐसी बडी प्रतिमायें मिली हैं। अकोटा की प्रतिमा (देखो, ललितकला अंक १ प्लेट ११ चित्र ८) से इन तीनों प्रतिमाओं (आकृति ४, ५, ६) की तुलना से स्पष्ट होता है कि वसन्तगढवाली तीनों प्रतिमायें अकोटा की तीनतीर्थी से पीछे के समय में बनी हैं। भृगुकच्छ में प्रतिष्ठित एक प्रतिमा जो शक सं. ९१० में (ई. स. ९८८ में) नागेंद्रकुल पार्श्विल्लगणि ने बनवाई थी, जिस का चित्र मैंने ललितकला, अङ्क १ में प्लेट ३, आकृति १०–११ में दिया है उससे पूर्वकालीन वसन्तगढ की तीनों प्रतिमायें हैं। मैंने ललितकला अङ्क १ में मेरे लेख में अनुमान किया था कि आकृति नं ६ वाली प्रतिमायें आठवीं सदी ई. स. के मध्य की होंगी। किन्तु उस समय इन में आकृति ४ के पीछे का लेख (आकृति नं. ४ अ) और आकृति नं ५ के पीछे का लेख (आकृति नं. ५ अ) का पता नहीं था। अभी श्री दौलतसिंहजी लोढ़ा मेरी विज्ञप्ति से पिंडवाड़ा जा कर इन दोनों लेखों के फोटो ले आये हैं। मैं जब पिंडवाड़ा गया था तब ये प्रतिमायें दीवार के साथ सीमन्टे से जड़ी हुई होन से इनके पीछे का लख

का पता लगाना अशक्य था। आकृति ४ करीब १८ इंच ऊँची है और आकृति ५ करीब १६ इंच ऊँची है। आकृति ४ के पीछे का लेख जो आकृति ४ अ में दिया गया है वह इस तरह है—

(१) ॐ देवधर्मोयं रथकसंनिवेसित देयद्रोण्णां द्रोणथावके—

(२) न सं ९२६ श्रावण शुदि ५ जीयटपुत्रे ण।

अतः यह प्रतिमा वि. सं. ९२६ (ई. स. ८६९-७०) में प्रतिष्ठित हुई। जीयटपुत्र ने आकृति न. ५ वाली दूसरी प्रतिमा भी बनवाई प्रतीत होती है (देखो लेख, आकृति न. ५ अ) ऐसा उसके लेख से प्रतीत होता है—

(१) ॐ द (दे) व धर्मोयं थकश्रावक जीयटपुत्रेण

(२) कारितोयंजिनत्रयः॥ सं० ९२६ श्रावण वदि ५

ये दोनों प्रतिमायें गुर्जर-प्रतीहार राजा मिहिर भोज के राज्यकाल की होने से इस प्रतापी राजा के समय की पश्चिम भारतीय कला का हमें विश्वसनीय अच्छा ख्याल आता है।

आकृति नं ६ वाली प्रतिमा भी करीब इसी समय की है। आकृति ७ वाली प्रतिमा छोटी है, मगर यह भी करीब सं० ८५० आसपास की हो सकती है।

एक छोटी सी धातुप्रतिमा जो श्री आदीश्वर की है (आकृति नं. ८) वह भी वसन्तगढ से मिली थी। उसकी पीठ (Pedestal) के मध्य में धर्मचक्र और दोनों बाजू पर एक-एक ऋषभ हैं। करीब ६-७ वीं सदी की प्रतिमाओं में धर्मचक्र के दोनों तरफ हरिणयुगल के बजाय तीर्थंकर के लांछन रक्खे गये देखने में आये हैं। इस प्रतिमा में भामंडल की रचना का प्रकार स्मरण में रखने योग्य है। यह प्रकार पीछे के समय में पश्चिम भारत में ज्यादा प्रचलित न रहा, किन्तु गोलाकृति या ईषत् लम्ब अण्ड जो हमें अकोटा की प्रतिमाओं से मिलता है वह प्रचलित रहा। यह बात स्पष्ट है कि यह प्रतिमा ई. स. ८५० की बड़ी प्रतिमाओं (आकृति० ४, ५, ६) से प्राचीन है। मुखाकृति, शरीर का प्रमाण और रचना आदि से यह भी स्पष्ट है कि यह पश्चिम भारतीय कलाशैली की है। इसका निर्माणकाल अनुमान से ई. स. ७००-७२५ या कुछ पूर्व हो सकता है-पीछे नहीं।

वसन्तगढ़ से एक सुन्दर प्रतिमा पिंडवाडा में आयी है जो करीब १५५ इंच ऊँची है। यह छोटी सी मनोज्ञ प्रतिमा श्रुतदेवता या सरस्वती (आकृति ९) की है। एक हाथ में पद्म और दूसरे में पुस्तक है। विकसित पद्म पर खड़ी देवी के दोनों तरफ पूर्णकलश हैं जो मथुरा की कुषाणकालीन सरस्वती की प्रतिमा में परिचारक के हाथ में देखे जाते हैं। प्रतिमाविधान या मूर्तिशास्त्र (*Iconography*) की दृष्टि से यह प्रतिमा प्राचीन रूढि का अनुसरण करती है। सरस्वती के ऐसे प्राचीन स्वरूप

श्री पार्श्वनाथ तीन तीर्थी–आकृति नं. ७
वि. सं. ८५० लगभग
वसंतगढ़–पींडवाड़ा (राज.)

वसंतगढ़–(राज.)
श्री आदीश्वर–प्रतिमा आकृति नं.
वि. सं. ७००–२५ के

श्री देवी प्रतिमा–आकृति नं. ९ ई. स. ७०० लगभग
वसंतगढ़–पींडवाड़ा (राज.)

आकृति नं ७

आकृति नं ६
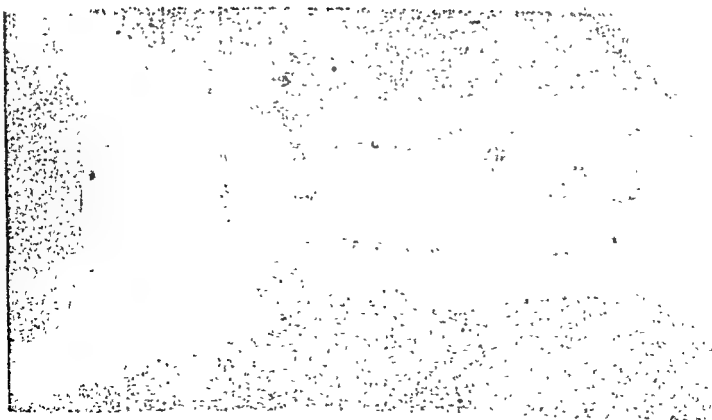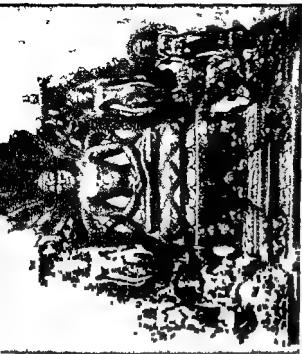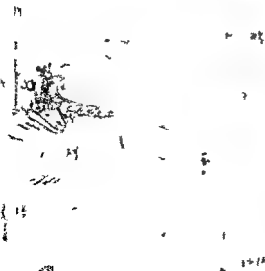
आकृति नं. १० ई. स. ९-१० वीं शती.
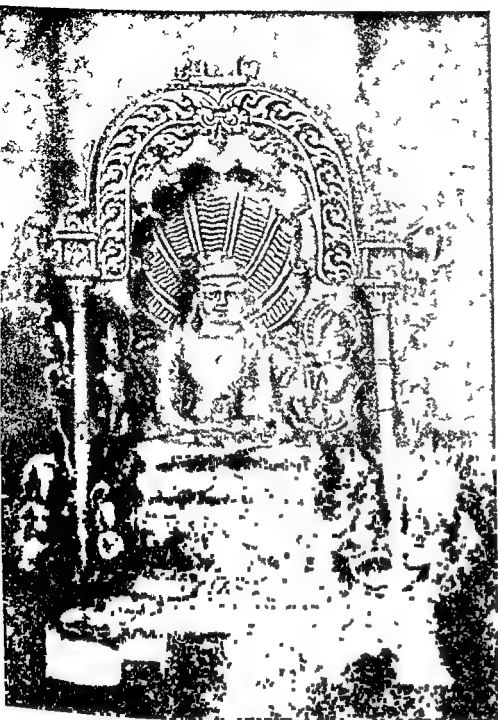
आकृति नं. ११
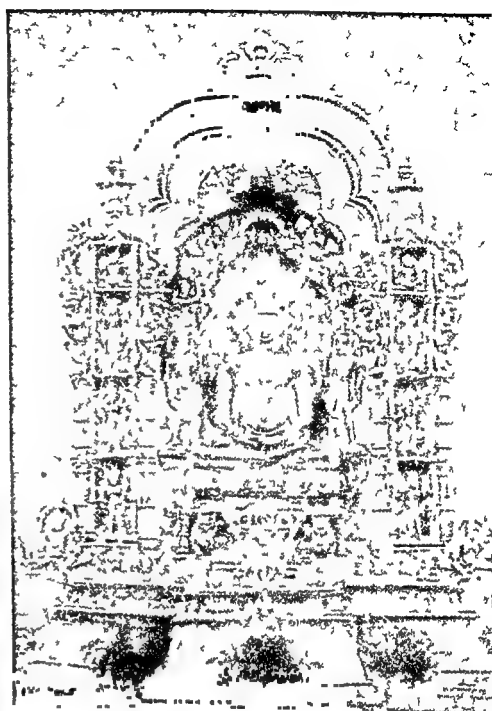
ेख आकृति नं. ११ (अ)

वसंतगढ़-पींडवा

आकृति न १३ सलेख

वसंतगढ पींडवाड़ा (राजस्थान)

आकृति न १२ सलेख
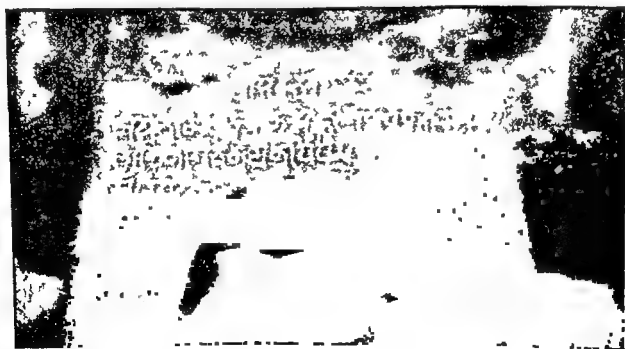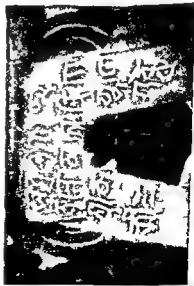
की चर्चा इस प्रतिमा के चित्र के साथ मैं ने Iconography of the Jaina Goddess Saraswati (Journal of the University of Bombay, September 1941) में की है। वसन्तगढ़ की इस प्रतिमा में मुकुट और देवी का वस्त्र का अलंकरण दर्शनीय हैं। प्राचीन पश्चिमी भारतीय कला का यह एक उत्कृष्ट नमूना है और ई. स. ७०० आसपास के समय में यह प्रतिमा बनी हो ऐसा अनुमान होता ह।

आकृति नं. १० में दर्शित पार्श्वनाथ-प्रतिमा करीब १३ इंच ऊँची है जो तोरणयुक्त है। दोनों स्तम्भ के ऊपर भाग में छोटी चत्य-कमान (Chaitya window ornament) और प्रतिमा के सबसे ऊपर के भाग पर भी ऐसी गवाक्ष-आकृति थी। इससे प्रतीत होता है कि यह प्रतिमा ई० स० ९ वीं सदी के अन्त या १० वीं सदी के आदि के भाग में बनी हो सकती है। भगवान् पार्श्वनाथ के दोनों बाजू में चामरधर खड़े हैं और पीठ से लगे हुए पद्मपर यक्ष-यक्षिणी है। सिंहासन और तोरणस्तम्भ के बीच में धरणेन्द्र और पद्मावती है। अभी उसमें पार्श्वनाथ की यक्षिणी अम्बिका रही है। ईसकी आकृति व शैली से भी लगता है कि यह प्रतिमा ई. स० ९००-९५० के पीछे की नहीं होगी। ई० स० १०३१-३२ की बनी हुई तोरण-युक्त पार्श्वनाथ की पट्-तीर्थिक एक प्रतिमा वसन्तगढ़ से मिली ह जिसको देखने से (आकृति ११) यह हमारा अनुमान युक्तियुक्त लगेगा। इस प्रतिमा के पीछे लेख है (आकृति ११ अ)—

संवत् १०८८

महत्तमेन चचेन सज्जनेन च कारितम्
श्यामनागतनयेन बिंबं पुण्याय श्रद्धया
कोरिंटक बृहच्चैत्ये श्रावकेण सुवासवा
सूर्यचन्द्रमसौ यावन्नंदतां जनपूजितम् ॥

अब इस के बाद की ई. स. १०९४-९५ की एक और प्रतिमा आकृति नं. १२ में देखिये। यह प्रतिमा करीब १९.२ ईंच ऊंची है, जब आकृति नं. ११ वाली प्रतिमा करीब १७.२ ईंच ऊंची है। आकृति १२ के पीछे का लेख (देखो आकृति १२ अ) इस तरह है—

संवत् ११५१ वीहिलतनुजश्राधः (तनुजः श्राद्धः) जसोवर्द्धन [संज्ञ] क: सोचीकर दिंम रुच्यं चतुव्विसति (विंशति) पटकं [पट्टकं]

हमारे लिए यह धातुशिल्प महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन पश्चिमी भारतीय कला के अन्त का और नयी प्रादेशिक मध्यकालीन शैलियों के उद्भव का संक्रांतिकाल का यह समय है। सं. १०८८ वाली प्रतिमा भी इसी सक्रान्तिकाल की है; किन्तु उसमें गूर्जर-प्रतीहारों के समय के प्राचीन शिल्पों की छाया विशेषतः है।

पाठकों की जानकारी के लिए इसी संक्रान्तिकाल की सं. ११०२=ई. स. १०४५-४६ की एक और प्रतिमा, उसके लेख सहित, आकृति १३ और १३ अ में दी गई है।

आबू-सिरोही के नजदीक के (पुरानी सिरोही रियासत के) कई गांवों में प्राचीन जैन धातुप्रतिमायें हैं। इनमें से एक अजारी से मिली हुई, सं. १०९२ [ई. स. १०३५-३६] की यहां आकृति १४ और १४ अ में प्रदर्शित की है।

ईसी अजारी के मंदिर में श्याम पाषाण की एक सरस्वती प्रतिमा है जो प्राभाविक मानी जाती है, सुप्रसिद्ध है। आकृति नं. १५ में प्रदर्शित यह प्रतिमा सं. १२६९ में श्री शान्तिसूरि के द्वारा प्रतिष्ठित की गई थी। मध्यकालीन कला और प्राचीन पश्चिमी भारतीय कला के बीच में जो अन्तर है वह पाठकों को इससे स्पष्ट प्रतीत होगा।

आकृति नं. १४

लेख-आकृति नं. १४ (अ) अजारी (सिरोही-राज.)

श्री सरस्वती प्रतिमा
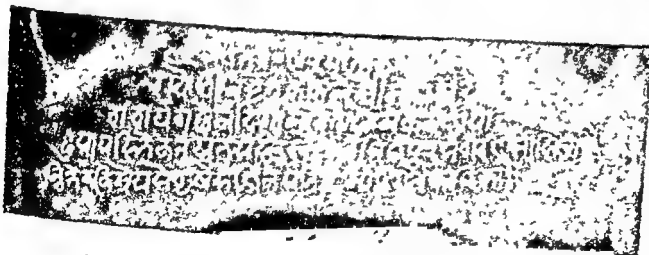
संस्कृत में जैनों का काव्यसाहित्य

लेखक डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी, एम. ए. पी. एच. डी.

संस्कृत-संस्कार की गई-परिष्कृत भाषा का नाम है। इसे अमरवाणी, देवभाषा आदि नाम से भी सम्मानित किया जाता है। इसमें युगों तक भारतीय संस्कृति और सभ्यता की अविच्छिन्न धारा बहती रही तथा इसने अपनी ज्ञान-विज्ञान की धारा से भारतीय पाण्डित्य को अनुप्राणित किया है। इस भाषा ने भारत वसुन्धरा पर ऐसे प्रखर मेधावी पण्डितों को पैदा किया है, जिनकी विद्वत्ता पर आज भी संसार मुग्ध है। इसके विशाल साहित्य की प्रतिद्वन्द्विता संसार की कोई भी भाषा नहीं कर सकती। इस भाषा के साहित्य की सेवा भारत के तीन प्रधान धर्मों-जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण-के विद्वानों ने समान रूप से की है। संस्कृत का प्रौढ ज्ञान उनकी विद्वत्ता की कसौटी समझा जाता था।

भारतीय मस्तिष्क संस्कृत वाङ्मय में विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ था; इस लिए वह सभी वर्ग के विद्वानों द्वारा समादृत था। भारतीय संस्कृति की दोनों धाराओं-श्रमण और ब्राह्मण-ने इसके साहित्य की समृद्धि में स्पर्धा से काम लिया। यद्यपि श्रमण-संस्कृति के उपासक विद्वानों की रुचि साधारणतः जनसामान्य की भाषा 'प्राकृत एवं अपभ्रंश' के प्रति तथा पीछे देशीय बोलियों के प्रति थी; क्योंकि उन्हें बहुजनहिताय अपने उपदेश जनता की भाषा में देने पड़ते थे। तो भी अपने उन सिद्धान्तों को दार्शनिक कसौटी में कसने के लिए; विद्वत्समाज-मान्यता प्राप्त करने के लिए एवं साहित्य के विविध अंगों की प्रतिस्पर्धा में अपने वर्ग के साहित्य का गौरव स्थापित करने के लिए, इन विद्वानों ने संस्कृत वाङ्मय के समृद्ध करने में बड़ा भारी योग दिया है। आज यही कारण है कि जैन विद्वानों की, सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, छन्द, अलंकार, काव्य, नाटक, चम्पू, कोष, वैद्यक, ज्योतिष, गणित, राजनीति, सुभाषित, कथा, पुराण और चरित आदि के क्षेत्र में बहुमूल्य रचनाएं उपलब्ध हैं।

जैन साहित्य की विशाल धारा ईसा की ५-६ वीं शती पूर्व से अब तक अनवरत बहती आ रही है। प्रारंभिक शताब्दियों में भले ही वह अर्धमागधी और अन्य प्राकृतों में लिखा गया हो, पर ईसा की ३ री शताब्दी से अब तक जैन विद्वानों ने प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के साथ संस्कृत में भी बड़ी तत्परता के साथ साहित्य-सृजन किया है। उपलब्ध संस्कृत साहित्य में तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्धपिच्छ उमास्वामी को सर्वप्रथम लेखक माना जाता है। इनके बाद समन्तभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपाद, अकलंक, हरिभद्र आदि सहस्रों विद्वान् आचार्यों ने अपने पवित्र ज्ञान से इसे पुनीत किया है।

मध्यकालीन भारत में जिस लगन और प्रेरणा के साथ जैन विद्वानों ने संस्कृत साहित्य की सेवा की है वह इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों से सदा अङ्कित रहेगा। इस युग में भारतीय ज्ञान-विज्ञान का ऐसा कोई अंग शेष नहीं रहा जिसमें कि जैन विद्वानों ने अपनी मौलिक कृतियां संस्कृत में न लिखी हों। और पीछे देश काल की परिस्थितियों के अनुरूप इन विद्वानों ने संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि में बराबर योगदान किया है।

नीचे लिखी पंक्तियों में हम जैनों के संस्कृत भाषा में लिखे गये विशाल काव्य साहित्य का दिग्दर्शन करेंगे। इसके प्रधान अंगभूत हैं - चरित एवं पुराण, कथा-साहित्य, प्रबन्ध-साहित्य, ललित साहित्य, दृश्य-श्रव्य काव्य, समस्यापूर्ति, स्तोत्र, सुभाषित एवं अभिलेख-साहित्य।

चरित एवं पुराण-साहित्य:–

जैनों के चरित और कथासाहित्य का मूल उद्गम आगम ग्रन्थ और उनके भाष्य, चूर्णि एवं टीकाएं ही हैं। इन्हीं के आधार पर तथा प्रचलित भारतीय साहित्य के आधार पर जैन कवियों ने संस्कृत में इस विशाल साहित्य की सृष्टि की है। चरित एवं पुराण शब्द से हमारा आशय उस विपुल साहित्य से है जिसमें प्रागैतिहासिक काल के पुरातन ६३ महापुरुषों (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण एवं ९ बलदेव) का वर्णन है। पुरातन पुरुषों के चरित के लिए दिग० सम्प्रदाय में पुराण एवं चरित ये दोनों शब्द बराबर प्रयुक्त हैं - जैसे हरिवंश–पुराण और हरिवंशचरित पद्मपुराण और [illegible] शब्द का प्रयोग दिखता है - [illegible] चरित आदि। चरित शब्द पु[illegible] है। इसमें महा पुरुषों के ग[illegible] और साधुओं के चरित भी [illegible] तन पुरुषों का चरित[1] ही।

ब्राह्मण साहित्य की भांति दिग जैन साहित्य में 'पुराण' शब्द का प्रयोग 'इतिहास शब्द' के साथ आता है तथा कभी-कभी पुराण और इतिहास समानार्थक माने गये हैं;[2] परन्तु आज जिस वैज्ञानिक पद्धति से इतिहास का निर्माण हो रहा है, उस कसौटी में ये पुराण इतिहास नहीं कहे जा सकते, भले ही इतिहास के निर्माण में इनका एकांश योग दान हो। ब्राह्मण सम्प्रदाय के साहित्य में पुराणों का अपने ढंग का विकास है। वहाँ १८ पुराण एवं १८ उपपुराण माने जाते हैं तथा इनके अतिरिक्त भी और पुराण हैं, परन्तु जैनियों का यह साहित्य उनसे भी निराला है। यहां संख्या तो

१ 'पुरातनं पुराणं स्यात्' महापुराण जिनसेन

२ दामनन्दि 'पुराणसारसंग्रह' शान्तिनाथचरित, श्लोक २

कोई नियत नहीं; पर २४ तीर्थंकरों के २४ चरितों या पुराणों को प्रधानता दी जाती है। किन्तु यहां भी रामायण के कथानक के समान पद्मपुराण एवं पउमचरिउ, महाभारत के समान अपने ही ढंग के हरिवंशपुराण एवं पाण्डवपुराण हैं। ब्राह्मण मान्यता के अनुसार पुराणों के वर्ण्य विषय हैं—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित। वैसे ही जैन पुराणों के प्रतिपाद्य विषय हैं:— १ क्षेत्र (तीनलोकों का वर्णन) २—काल (तीनों काल) ३ तीर्थ [सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र] ४- सत्पुरुष तथा ५- उनकी पाप से पुण्य की ओर प्रवृत्ति[1] आदि।

चरित एवं पुराण—लेखक, कवि सत्पुरुष को अपने वर्णन का विषय बनाकर उसके जीवन से सम्बंधित सभी नैतिक एवं धार्मिक भावनाओं का निरूपण करता है ताकि जन-साधारण उनसे लाभांवित हो सके और उसे अपना आदर्श बना कर अपने सामान्य स्तर से ऊपर उठ सके। हमें पुराणों से मालूम होता है कि एक साधारण स्तर का व्यक्ति किन उच्चादर्शों को पालकर कैसे त्याग और तपस्या के बल से उन्नत हो सका है। इसी लिए चरितग्रन्थों का मनुष्यों के चरित्र-निर्माण में बहुत बड़ा हाथ है और उनकी श्रद्धा भी उनके प्रति अगाध देखी जाती है।

इन ग्रन्थों में जैन धर्म के गंभीर से गंभीर तत्त्वों की चर्चा को दृष्टान्त, प्रतिदृष्टान्त देकर अनेक रोचक कथा—कहानियों से ऐसा प्रिय बनाया गया है कि ये जनसाधारण को शुष्क न मालूम हो सकें। इतना ही नहीं, इन पुराणों का महत्त्व एक और बात से बताया जा सकता है, वह यह कि एक ओर तो ये अतिप्राचीन, ऐतिहासिक एवं अर्ध ऐतिहासिक अनुश्रुतियों के भण्डार हैं तो दूसरी ओर अनेक जनप्रिय कथानकों के आकर भी। जैन श्रमणों ने बौद्ध श्रमणों की भांति ही अपने उपदेशों को प्रचलित कथा-कहानियों से सजाया तथा लौकिक महत्त्व की कहानियों को प्रामाणिक कहानियों के रूप में परिवर्तित किया। इस प्रकार भारतीय जनता के कथाओं और कहानियों के प्रति जन्मजात स्नेह का उपयोग जैन चरितकारों ने उन्हें अपने धर्म की ओर अधिक से अधिक आकर्षित करने में किया। एक और महत्व की बात यह है कि जैन पुराणों में भारतीय कथानक साहित्य के ऐसे बहुत से रत्न मिलते हैं कि जो दूसरी जगह अप्राप्य हैं। यहां अनेकों अनुश्रुतियों और कथाओं की प्राचीन रोचक परम्परायें भी सुरक्षित मिलती हैं; जैसे कि प्राचीन काल में प्रचलित कृष्ण मार्ग और राम मार्ग की एक धारा जैनों के 'हरिवंश पुराण' तथा 'पउमचरिउ' से ज्ञात होती है।

जैन चरितों एवं पुराणों में त्रेसठ महापुरुषों का जीवनचरित्र दिया गया है—यह बात ऊपर कह चुके हैं; परन्तु प्रायः ऐसा माना जाता है कि तीर्थंकर के नाम—परक पुराणों के बीच शेष—चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण आदि शलाका पुरुषों का भी

१. जिनसेन आदिपुराण, सर्ग २. श्लोक ३५

२. एम. विन्टरनित्स, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ. ४५४

वर्णन आ जाता है यत २४ तीर्थकरों के २४ पुराणों को ही प्रधानता दी गई है। तीर्थकरों के य चरितग्रन्थ बहुत तो स्वतंत्र रूप में और बहुत संग्रहरूप में मिलते हैं। स्वतंत्ररूप से लिखे गये चरितों की संख्या अनेक हैं। इनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभ देव सोलहवें शान्तिनाथ बावीसवें नेमिनाथ, तेवीसवें पार्श्वनाथ और चौवीसवें महावीर के चरितों पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, क्योंकि इनके जीवन चरित जैनों में बहुत प्रिय माने गये हैं। इस प्रकार के चरितों में कवि असग (१० वीं श) के 'शान्तिनाथ पुराण' और 'महावीर चरित, सूराचार्य (११ वीं श) का 'नेमिनाथ चरित' देवसूरि का 'शान्तिनाथ चरित' (स १२८२) भावदेव का 'पार्श्वनाथ चरित' (सन् १३५५) तथा भट्टारक सकलकीर्ति के अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। संग्रह रूप से रचित ग्रन्थों में कवि परमेष्ठी के वागर्थसंग्रह ग्रन्थ का नाम सुना जाता है जिसके आधार पर भगवज्जिनसेन और उनके सुयोग्य शिष्य गुणभद्र ने 'आदिपुराण' और 'उत्तरपुराण'[१] के रूप में 'महापुराण' नामक एक विशाल काव्य ग्रन्थ लिखा। इसमें ६३ महापुरुषोंका चरित दिया है। आचार्य मल्लिषण (स ११०४) ने भी संग्रह रूप में एक 'महापुराण' लिखा। इस प्रकार के ग्रन्थों में आ० हेमचन्द्र (१२ वीं शती) का 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पीछे अनकों जैनाचार्यों ने 'चतुर्विंशति पुराण' नाम से ग्रन्थों की रचना की तथा महत्त्वपूर्ण पुराणों के संक्षिप्त संस्करण करके संग्रहरूप में 'पुराणसारसंग्रह' नाम से अनेक ग्रन्थ लिखे[२]।

इन चरितों और पुराणों में हिन्दुओं के चिरपरिचित तथा जैनोंद्वारा शलाका पुरुष रूपसे मान्य ऋषभ, भरत, सगर, राम, लक्ष्मण, रावण, कृष्ण, बलराम, जरासिन्ध आदि का यथायोग्य चरित्र चित्रण मिलता है।

तीर्थंकरों के पुराणों के अतिरिक्त जैन विद्वानों ने भारतीय जनता की अतिशय प्रिय राम-कथा एवं महाभारत की कथाओं को महत्व देकर उन पर भी स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें रविषेण का 'पद्मपुराण'[३] या पद्मचरित सन् ६७९ ई में रचा गया था। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में इस कथा पर इससे पूर्व और समकालीन अन्य ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। पीछे संस्कृत में राम-कथा का वर्णन गुणभद्र अपने उत्तरपुराण' के ६५ वें पर्व में और आ० हेमचन्द्र ने 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित के ७ वें पर्व में किया है जिसका नामान्तर 'जैन रामायण' भी है।

पीछे १६ वीं शताब्दी में देवविजयगणि ने 'रामचरित' तथा १६-१७ वीं शताब्दी में भट्टारक सोमसेन भट्टारक धर्मकीर्ति और भट्टारक चन्द्रकीर्ति ने 'पद्मपुराण' नामक कई ग्रन्थों की रचना की। इसी तरह महाभारत की कथा पर पुन्नाटसंघीय जिनसेन ने

१ भारतीय ज्ञान पीठ बनारस से प्रकाशित
२ गुलाबचन्द्र चौधरी द्वारा सम्पादित पुराणसारसंग्रहकी भूमिका [भा ज्ञानपीठ बनारस]
३ माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित

सन् ७८३ ई. में 'हरिवंशपुराण' की ६६ सर्गों में रचना की। इसी तरह १५ वीं शताब्दी के लगभग भट्टारक सकलकीर्ति और उनके शिष्य जिनदास ने एक दूसरा 'हरिवंश' ३९ सर्गों में रचा। इसी कथानक को 'पाण्डव-चरित' नाम से १२ वीं शताब्दी के लगभग मलधारी देवप्रभसूरि ने तथा १५५१ ई. में भट्टारक शुभचन्द्र ने 'जैन महाभारत' नाम से ख्यात पाण्डवपुराणों की रचना की। अपभ्रंश भाषा में तो इस प्रकार की अनेकों रचनायें ८ वीं श० से १६ वीं श० तक की मिली हैं।

ये जैन चरित और पुराण ग्रन्थ न केवल सन्तों के जीवन, उनके सिद्धान्त और कथाओं की दृष्टि से महत्त्व के हैं, बल्कि इनसे समकालीन राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास एवं सभ्यता पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए हम पुन्नाट-संघीय वर्धमानपुर (काठ्यावाड़) के आचार्य जिनसेन के 'हरिवंशपुराण' को ही लें। इस पुराण में ग्रन्थकार ने न केवल अपने समय (सन ७८३ ई.) के प्रमुख राज्य और राजाओं का उल्लेख किया है; बल्कि भग० महावीर से लेकर आगे चलने वाली जैन आचार्यों की एक अविच्छिन्न परम्परा, अवन्ती की गद्दी पर आसीन होनेवाले राजवंश तथा रासभवंश (जिसमें कि प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य हुआ है) और और भग० महावीर के समय से लेकर गुप्तवंश एवं कल्की के समय तक मध्यदेश पर शासन करने वाले प्रमुख राजवंशों की परम्परा का उल्लेख किया है। इसी तरह जिनसेन का 'आदिपुराण' दि. जैनों के लिए एक विश्वकोश है जिसमें उन लोगों के लिए ज्ञातव्य प्रायः सभी बातों का वर्णन मिलता है। उसकी रचना एक महाकाव्य के रूप में की गई है। यह ब्राह्मण पुराणों के ढंग का ही एक महा-पुराण ह। इस ग्रन्थ में उन १६ संस्कारों का जैन रूपांतर दिया गया है जो कि जन्म से मृत्यु तक एक व्यक्ति के जीवन के साथ लगे हैं। इसमें अनेक प्रकार की बुझौवल पहेलिया, स्वप्नों की व्याख्या, नगरनिर्माण के सिद्धांत, अनेक भौगोलिक शब्द, राज्यतन्त्र का उद्गम, राज्याभिषेक, शासक के आवश्यक कर्तव्य और शिक्षा आदि पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाले गये हैं। इसी तरह रविषेण का 'पद्मपुराण' उन पुराणों में से है जो रामकथा की प्राचीन अनेक परम्पराओं में से एक का प्रतिनिधित्व करता है। आज रामकथा पर कम्बोडिया, मलाया, खोतान और तिब्बत से जो ग्रन्थ मिले हैं उनसे भी उक्त कथा की अनेक धाराओं का पता लगता है। अनुसंधान के विद्यार्थी के लिए उन सबका अध्ययन एक बड़ा ही रोचक विषय होगा। 'पद्म-पुराण' से रावण की लंका और कुछ प्राचीन जैन तीर्थों की स्थिति का भी परिज्ञान होता है। आचार्य हेमचन्द्र के 'त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित[1]' से तत्कालीन गुजरात सम्राट् जयसिंह सिद्धराज और उसके उत्तराधिकारी सम्राट् कुमारपाल के समय की सामाजिक स्थिति, नीति, आचार, धर्मरुचि, शासन-पद्धति, दण्ड, आर्थिकस्थिति, व्यापार और उसके मार्ग, सिक्के, शिल्प, चित्रकला आदि का ज्ञान होता है। इस ग्रन्थ के परिशिष्ट स्वरूप 'परिशिष्टपर्व' से नन्दों एवं मौर्यों के विषय में तथा चाणक्य एवं

१. जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर से प्रकाशित

२ बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता से प्रकाशित

शकटाल के सम्बन्ध में अनेकों महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य ज्ञात होते हैं ।

इसी तरह यदि अन्य पुराणों के अध्ययन प्रस्तुत किये जाय तो वे बड़े रुचिकर सिद्ध होंगे ।

कथासाहित्य :

पुराणों और चरित्रों के समान ही जैनों का कथासाहित्य अतिसमृद्ध है । जैन सन्त अच्छे कथाकार थे और उनका इन कहानियों से क्या अभिप्राय था इसके सम्बन्ध में कहा जा चुका है । विशेष बात यह है कि अन्य साहित्यिक अंगों की अपेक्षा इस साहित्य से हमें सामान्य जनजीवन की एक अच्छी झांकी मिलती है ।

जैनाचार्यों ने कथाओं के सामान्यतः चार मौलिक विभाग किये हैं —अर्थकथा, कामकथा धर्मकथा और सकीर्णकथा । इनमें धर्मकथा को उनने सर्वश्रेष्ठ और शेष को निकृष्ट माना है । धर्मकथा से उनका आशय उस कथा से है जिसमें क्षमा, मार्दव आदि १० आत्मधर्मों की साधना, अणुव्रत आदि १५ व्रतों का पालन तथा क्षुधा, तृषादि २२ परीषहों पर विजय आदि का वर्णन प्रधान हो । काव्यशास्त्र–विशारदों ने काव्यशास्त्र के नियमों के पालन पर तथा अर्थगाम्भीर्य एवं लौकिक सम्मत प्रसिद्धियों पर जोर देकर जिस कथानक रचना का विधान किया है उसे जैनाचार्यों ने सकीर्ण कथा कहा है तथा अभीष्ट नहीं माना ।

धर्मकथा के अन्तर्गत हमें अनेक प्रकार की कहानियां, आख्यान और चरित्र मिलते हैं जिनमें *श्रीपन्धर, यशोधर, श्रीपाल आदि धर्मवीरों की, व्रत–नियमों के* पालन में अपने समस्त जीवन को लगा देने वाले स्त्री पुरुष पात्रों की, पुराणों में वर्णित तप एवं व्रतों की तथा भव-भवांतरों में पुण्य–पाप कर्मों को अर्जित कर उनका फल भोगने वाले व्यक्तियों की कथायें पाते हैं । इन कथाओं का उद्देश्य जैन मान्यताओं का दृष्टांत के साथ प्रचार करना है तथा पाठकों एवं श्रोताओं के मन पर उक्त धर्म की विशालता और शक्ति का प्रभाव बैठा देना है । इस तरह जैन धर्मसम्मत धार्मिक एवं नैतिक आदर्शों की समाज के बीच स्थापना करना इन कथाओं का उद्देश्य है । ये कहानियां शुष्क सिद्धान्तों और आचार-नियमों की चर्चावस्तु मात्र ही नहीं हैं। प्रत्युत अनेक शिक्षाप्रद उपदेशों के समय वे यथार्थ में जनमनोरंजन के लिए भी बनायी गई हैं ।

जैन पुराणों और चरितों में उनके अन्तभूत यद्यपि अनेक कथायें मिलती हैं फिर भी पीछे कुछ का विकास कर उन पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे गये हैं । सुविधा की दृष्टिसे इन ग्रन्थों को दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं । प्रथम श्रेणी में आख्यायिकायें और काव्यात्मक ढंग से लिखे गये कथानक तथा दूसरी श्रेणी में कथाओंके संग्रहरूपमें रचे गये कथाकोष

आते हैं। प्रथम श्रेणी के उदाहरण स्वरूप जयनन्दि का 'वरांगचरित', सिद्धर्षि की 'उपमितिभवप्रपञ्चा कथा' तथा धनपाल की 'तिलकमंजरी' आदि कथाग्रन्थ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। 'वरांगचरित[१]' की रचना आ० जयसिंहनन्दि ने (ई. ७ वीं शताब्दी) काव्यात्मक शैली में ३१ सर्गो में की है। वराङ्ग एक पौराणिक व्यक्ति है और वह धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थों का विधिवत् पालन कर अन्त में मोक्ष जाता है। सिद्धर्षि की 'उपमितिभव[२]प्रपञ्चाकथा' (सन् ९०६ ई०) आठ प्रस्तावों में विभक्त एक साङ्गरूपक कथा है जो कि भारतीय साहित्य में अपने ढंगका निराला है। इसमें संसारी जीव अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए निकृष्ट अवस्था से उठकर क्रमशः क्रोध, मान, माया आदि पर विजय प्राप्तकर मोक्ष जाता है। कथा में मानसिक विकारों को रूपक देने के कारण इसमें तत्कालीन युग की अनेक मान्यतायें और विविध सामाजिक चित्रण मिलते हैं। 'तिलकमंजरी[३]' का हमने गद्यकाव्यों में वर्णन किया ह। अन्य कथानकों में 'उत्तम चरित कथानक' 'चम्पक श्रेष्ठि कथानक' (१५ वीं श०), 'मृगावती चरित' आदि आते हैं। इनमें कुछ कथानकों की संस्कृत देशीभाषाओं से प्रभावित है।

दूसरी श्रेणी के कथासाहित्य में कुछ ऐसे संग्रह मिले हैं जिनमें एक बड़ी कथा के अवान्तर अनेक छोटी कहानियां प्रसंगानुसार दी गई हैं। इस तरह के ग्रन्थों में नागदेव (इ. १४वीं) के दो ग्रन्थ 'सम्यक्त्व कौमुदी और मदनपराजय' तथा ज्ञानसूरि की 'रत्नचूडाकथा' (१५ वीं श०) मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी ग्रन्थ मिले हैं जिनमें स्वतन्त्र रूप से कथाओं का संकलन किया गया है जैसे हरिषेण का 'कथाकोष' (वि. सं. ९८९) प्रभाचन्द्र का 'कथाकोष' (११ वीं श०) देवप्रभसूरि का 'कथारत्नकोष' (वि. सं. ११५८) तथा अन्य ग्रन्थ पुण्याश्रव कथाकोष आदि[४]

कथासाहित्य में उपहासात्मक कहानियां तो जैन विद्वानों की अपनी देन हैं। प्राकृत में हरिभद्र का 'धूर्ताख्यान[५]' इस दिशा में पहला प्रयत्न है। संस्कृत में संघतिलक का 'धूर्ताख्यान' हरिषेण की धर्मपरीक्षा (सं. १०४४) तथा अमितगति की 'धर्मपरीक्षा (सं. १०७९) उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

इसके अतिरिक्त जैन विद्वानों ने भारतीय कथासाहित्य की रक्षा में भी पर्याप्त परिश्रम किया है। संस्कृत साहित्य के अद्वितीय कथाग्रन्थ 'पञ्चतन्त्र' का एक पाठान्तर जैनाचार्य पूर्णभद्रकृत 'पञ्चाख्यायिका' (सन् ११९९) नाम से तथा दूसरा ग्रन्थ 'पञ्चाख्यानोद्धार' (सन् १६६०) मिला है। इसी तरह 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' की एक

१ माणिकचन्द्र दिग. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रकाशित

२ बंगाल एशियाटिक सोसा० कलकत्ता से प्रकाशित

३ निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित

४ डा. आ. ने. उपाध्ये द्वारा लिखित, बृहत्कथाकोश की भूमिका देखें।

५ सिन्धी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित।

परम्परा जैन पाठान्तर में सुरक्षित मिली है। मुग्धकथाओं का भी एक बड़ा रोचक संग्रह अज्ञात जैन कर्तृक 'भरटकद्वात्रिंशिका' नाम से मिला है।

प्रबन्ध साहित्य —

चरित और कथा साहित्य से सम्बद्ध यह साहित्य विशेष रूप से पश्चिमी भारत के जैन विद्वानों द्वारा लिखा गया है। इसकी रचना प्रायः १२ वीं शताब्दी के बाद से ही प्रारम्भ होती है। इसे हम अर्ध ऐतिहासिक और अर्धकथात्मक रूप में देखते हैं। इस प्रकार के साहित्य का सूत्रपात तो आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'परिशिष्ट पर्व' के रूप में कर दिया था। जिसके पीछे पूरक रूप में प्रभाचन्द्र (१३ वीं शता०) ने 'प्रभावक चरित' की रचना की। मेरुतुंग का 'प्रबन्ध चिन्तामणि' (सन् १३०५ ई), राजशेखर सूरि का 'प्रबन्धकोश' (सन् १३४९ ई) तथा 'कुमारपालचरितसंग्रह' तथा कतिपय प्रबन्धों के संग्रह रूप में प्रकाशित 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' इस प्रकार के साहित्य में प्रमुख हैं[1]।

इन प्रबन्धों में हमें ऐतिहासिक महत्त्व के राजा, महाराजा, सेठ और मुनियों के सम्बन्ध में प्रचलित कथा-कहानियों का संग्रह मिलता है। साथ में कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों का भी वर्णन मिलता है जिनका कि अभिलेखों और अन्य साहित्यिक आधारों से भलीभांति समर्थन होता है। ये अपने समकालीन इतिहास पर अच्छी तरह प्रकाश डालते हैं। इस कोटिके ग्रंथों में जिनप्रभसूरिकृत 'विविधतीर्थकल्प' (सन् १३२६-३१) भी महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें अनेक प्राचीन जैन तीर्थों के ऐतिहासिक वर्णन के साथ उनके उद्धार करनेवाले राजाओं और सेठों का भी वर्णन दिया गया है। इन ग्रन्थों की संस्कृत भाषा प्राकृत और अपभ्रंश से प्रभावित है। मध्यकालीन भारत के धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास को समझने के लिए इन ग्रन्थों का बड़ा ही उपयोग है।

ललित साहित्य—मध्यकालीन जैनाचार्यों ने ललित साहित्य के विविध अंगों की भी बड़े उत्साह के साथ सेवा की है। ललित साहित्य को प्रमुखरूप से दृश्य एवं श्रव्य काव्य में विभक्त किया गया है। काव्य मनीषियों ने दृश्य काव्य को नाटक आदि दश भेदों में तथा नाटिका आदि १२ उपभेदों में विभक्त किया है। संस्कृत साहित्य में नाटकों को सबसे रमणीय माना जाता है 'काव्येषु नाटकं रम्यं'। दृश्य काव्य होने से इसके लेखक कवि को कथावस्तु के चुनाव, पात्रों के चरित चित्रण, संवादों तथा अलंकार एवं छन्दों की योजना में बड़ी सावधानी रखनी पड़ी है। जनता को तन्मय बना देना ही नाटककार की सफलता है।

नाटक यद्यपि जैन और बौद्ध सन्तों के लिए नृत्य, गीत, वाद्यत्र आदि देखना, सुनना वर्जित है इस लिए इन सबके समुदित रूप नाटक की कल्पना उनके लिए

१ ये सभी ग्रंथ सिंघी जैन ग्रन्थमाला भारतीय विद्याभवन बम्बई से प्रकाशित हैं।

नहीं हो सकती; फिर भी काव्य साहित्य के प्रेम से कुछ जैन विद्वानों ने नाटकों की रचना की है। उनमें से कुछ तो पौराणिक कथावस्तु को लेकर, कुछ मध्यवर्गीय जीवन को चित्रण करते हुए तथा कुछ अर्धैतिहासिक कथानकों पर और कुछ साङ्ग-रूपक के ढंग से रचे गये हैं। कामुकतावर्धक घोर शृंगारी नाटकों का जैन साहित्य में एकदम अभाव है; क्योंकि निकृष्ट प्रकार का शृंगार उनकी प्रकृति के प्रतिकूल है।

पौराणिक कथावस्तु को लेकर लिखे गये नाटकों में आचार्य हेमचन्द्र के प्रधान शिष्य रामचन्द्र सूरि के 'नलविलास', 'रघुविलास', 'यदुविलास', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'निर्भय भीमव्यायोग', 'राघवाभ्युदय', एवं 'वनमाला' नाटिका प्रसिद्ध हैं। इनमें 'नलविलास[1]' 'सत्यहरिश्चन्द्र[2]' और 'निर्भय भीमव्यायोग[3]' प्रकाशित हो चुके हैं। 'नलविलास' महाभारत की नलदमयन्ती कथा के आधार पर उसे नाटकीय वस्तु के अनुरूप परिवर्तित कर लिखा गया है। इसी तरह महाभारत की कथा को लेकर 'सत्य हरिश्चन्द्र' भी ६ अंकों में लिखा गया है। इस नाटक का सन् १९१३ में इटालियन अनुवाद भी हो चुका है। इन दोनों नाटकों में उक्त कवि द्वारा मान्य 'सुखदुखात्मक रसः' का अच्छा परिपाक हुआ है। 'निर्भय भीमव्यायोग' यह एक अंक का व्यायोग है जिसमें भीमद्वारा वक राक्षस के वध की कहानी है। इसी प्रकार सम्राट् कुमारपाल के समकालीन सिद्धपाल के पुत्र कवि विजयपाल ने द्रौपदी की कथा को लेकर २ अंकों में 'द्रौपदी स्वयम्वर' नाटक लिखा। इसमें कवि ने कई छन्दों को पदशः विभक्त कर अनेक पात्रों से कहलाया है। दक्षिणात्य कवि हस्तिमल्ल (सन् १२९० ई०) ने जैन पुराणों से कथावस्तु को लेकर जयकुमार और सुलोचना के स्वयंवर कथानक पर 'विक्रान्त कौरव' (जिसके नामान्तर मेघेश्वर नाटक एवं सुलोचना नाटक हैं) ६ अंकों में बनाया, सीता और राम के कथानक को लेकर ५ अंकों में 'मैथिली कल्याण नाटक' एवं हनुमान के माता-पिता अञ्जना, पवनञ्जय के कथानक पर 'अञ्जना पवनञ्जय' तथा चक्रवर्ती भरत की पट्टराणी सुभद्रा की कथा पर 'सुभद्रा नाटिका[4]' तथा अन्य कुछ नाटक लिखे। यद्यपि ये नाटक वर्णनात्मक हैं और इनमें नाटकीयतत्वों की न्यूनता है तथापि हस्ति-मल्ल के सरल एवं सुन्दर पद्य, विशेष कर प्रकृतिवर्णनवाले पद्य बड़े ही मनोहर हैं। इसी तरह हरिभद्रसूरि के शिष्य बालचन्द्र ने पौराणिक राजा शिवि की कथा को लेकर एक 'करुणा वज्रायुद्ध[5]' नाटक लिखा जिसमें वज्रायुध द्वारा बाजपक्षी के चङ्गुल से कबूतर को बचाने की घटना चित्रित है। यह १३५ छन्दों में एक

१. गायकवाड ओ. सिरीज, बडौदा से प्रकाशित।

२. निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

3. यशोविजय ग्रन्थ माला सं. १९.

४ माणिकचन्द्र दिग. जैन ग्रन्थमाला से ये चार नाटक प्रकाशित हो चुके हैं।

५ जैन आत्मानन्द ग्रन्थमाला, भावनगर से प्रकाशित

कराने वाली कल्पनायें, अनेक धर्मोपदेश आदि विशेषतायें हैं। तत्कालीन सांस्कृतिक चित्रण-नाना प्रकार के वाद्य, वस्त्र, भोजनगृहवर्णन, आकाश में उड़ने के यंत्र, कन्दुक क्रीड़ा आदि का बड़ा मनोहारी वर्णन मिलता है। आचार्य आर्यनन्दि का जीवन्धर को दिया गया उपदेश कादम्बरी में शुकनास द्वारा चन्द्रापीड को दिये उपदेश की याद दिलाता है। वादीभसिंह का दूसरा नाम ओडयदेव तथा गुरु का नाम पुष्पसेन था। इनका समय ११ वीं शता. का उत्तरार्ध एवं १२ वीं का पूर्वार्ध माना जाता है।

सिद्धसेन गणि की 'बन्धुमती' नामक 'आख्यायिका का भी गद्य काव्य के रूप में नाम सुना जाता है, पर वह अभी तक' उपलब्ध नहीं हुई है।

पद्य काव्यों में लघुकाव्य के रूप में जैन विद्वानों ने अनेक काव्य लिखे हैं जिनमें वादिराज का 'पार्श्वनाथ चरित' (१०२५ ई.) वादीभसिंह का 'क्षत्रचूडामणि' (१२ वीं शताब्दी), महासेन का 'प्रद्युम्नचरित' (१२ वीं शता०), मुनिचन्द्र का 'शांतिनाथ चरित' (१३ वीं शता०), अभयदेव का 'जयन्तविजय' काव्य' (स. १२७८), अर्हद्दास का 'मुनिसुव्रत' काव्य' (१३ वीं शता०) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। महाकाव्यों में वीरनन्दि का 'चन्द्रप्रभ* महाकाव्य' (१० वीं शता०), हरिश्चन्द्र का 'धर्मशर्माभ्युदय*' (१२ वी शता०), वाग्भट का 'नेमिनिर्वाण+ महाकाव्य' और वस्तुपाल का 'नरनारायणानन्द महाकाव्य' १३ वीं श०) उत्तम माने गये हैं। इनमें हरिश्चन्द्र का 'धर्मशर्माभ्युदय' माघ के शिशुपाल के अनुकरण पर बहुत सुन्दर काव्य है। इसमें सरसपदों की योजना, विविध छन्दों और अलंकारों की छटा दृष्टव्य है। 'नेमिनिर्वाण' और 'नरनारायणनन्द' की शैली और कवि-कल्पना अपूर्व हैं। इन काव्यों को जैनाचार्यों ने काव्यशास्त्रियों द्वारा सम्मत महाकाव्यों के गुणों से सम्पन्न बनाया हैं। इनमें विस्तृत रूप से ऋतुओं का वर्णन, संध्या, प्रात, चन्द्रोदय, रात्रि, सुरत एवं वनक्रीड़ा आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। इन काव्यों में नवों रसों का प्रदर्शन करते हुए अन्त में वैराग्य से शान्तरस द्वारा ग्रन्थसमाप्ति की गई है।

श्लेषमय चित्रकाव्यों में हमें दिग० जैन धनञ्जय (वि. ९ वीं श०) का अपूर्व काव्य 'द्विसंधान×' अपरनाम राघवपाण्डवीय मिलता है। १८ सर्गों के इस काव्य के प्रत्येक छन्द से रामकथा और पाण्डवों की कथा का अर्थ निकलता है। द्विसंधान का अर्थ है दो अर्थों का बोध करानेवाला। इसी कोटि की दूसरी रचना वृहद्गच्छ के आचार्य हेमचन्द्रसूरि की 'नाभेय नेमिकाव्य-' (१२ वीं शता०) है। इसके प्रत्येक छन्द से आदिनाथ और नेमिनाथ की कथा निकलती है।

---

१ वाणिविलास प्रेस, तंजोर। २ माणिकचन्द्र दिग जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
३ यशोविजय ग्रन्थमाला, बनारस। ४ निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।
५ जैन सिद्धान्त भवन, आरा। *—* निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।
+। गायकवाड ओरि सिरीज, बडोदा।
× निर्णयसागर प्रेस, बम्बई। — जिनरत्नकोश, भाग १ पृ २१०।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि उपलब्ध संस्कृत-साहित्य में श्लेपमय चित्र-काव्यों की रचना में जैन ही सर्वप्रथम थे और धनञ्जय की कृति इस कोटि के काव्यों में सर्वप्रथम रची गई है। पीछे १५ वीं शताब्दी से २० वीं शताब्दी तक जैन कवियों ने इस दिशा में अनेक रचनायें लिखीं। उनमें महोपाध्याय समयसुन्दर [सं. १६४९] द्वारा विरचित 'अष्टलक्षी' काव्य भारतीय साहित्य का ही नहीं, विश्वसाहित्य का अद्वितीय रत्न है। इस ग्रन्थ में 'राजा नो ददते सौख्यम्' इन आठ अक्षरों वाले वाक्य के १०२२४०७ अर्थ किये गये थे तथा ग्रन्थ बादशाह अकबर को समर्पण किया था। पीछे ग्रन्थकार ने केवल आठ लाख अर्थ रख शेष को स्थानपूर्ति के लिए छोड़ दिया है। यह ग्रन्थ जैन विद्वानों के बुद्धिवैभव का जीता जागता नमूना है और इस कोटि की अन्य रचनाओं में दिग० नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य पं० जगन्नाथ (सं० १६९९) की दो रचनायें 'सप्तसंधान' और 'चतुर्विंशतिसंधान' भी उल्लेखनीय हैं। पिछले ग्रन्थ में श्लेपमय एक ही श्लोक से २४ तीर्थंकरों का अर्थबोध होता है। इसी प्रकार उपाध्याय मेघविजय की रचना 'सप्तसंधान' (सं. १७६०) भी अनुपम है। यह काव्य ९ सर्गों में लिखा गया है। प्रत्येक श्लोक से ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व, वीर इन पांच तीर्थंकरों एवं राम और कृष्ण इस तरह ७ महापुरुषों के चरित्र का श्लेपमय वर्णन है। प्रत्येक श्लोक से ७-७ अर्थ निकलते हैं। इस श्रेणी के और भी ग्रन्थ जैन ग्रन्थ-सूचियों में मिलते हैं।

जैन साहित्य की विविध विशेषताओं में से पादपूर्ति काव्य भी एक है। ये काव्य बहुसंख्या में उपलब्ध हुए हैं। अजैन संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार का साहित्य नहीं के बराबर है। ऐसे काव्यों का निर्माण करना अति कठिन ही होता है। कवि लोक-व्यापी प्रभाववाले काव्य से प्रभावित हो उस मूल काव्य के रहस्य को हृदयङ्गम करता है और उसकी पद्यावलियों को, उनके मूल भाव, अर्थ और पदलालित्य आदि गुणों की रक्षा करते हुए, अपनी पद्यावलियों के बीच ढालना शुरू करता है और उन दोनों में तादात्म्य स्थापित कर देता है। जो कवि ऐसे कार्य में सहज प्राप्त होनेवाली क्लिष्टता और नीरसता आदि से अपने काव्य को बचा सके और जिसके काव्य पढ़ने में काव्य-मर्मज्ञ भी मौलिक काव्य जैसा आनन्द लेने लगे, वही कवि यथार्थ में सफल एवं गौरवान्वित समझा जाता है।

इस प्रकार की रचनाओं में जिनसेन (९ वीं शता०) का 'पार्श्वाभ्युदय' सर्व प्रथम काव्य है। यह ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तों का एक खण्डकाव्य है। इसके प्रत्येक छन्द में मेघदूत के पद्यों के चरणों को एक या दो करके समस्यापूर्ति के ढंग से अन्तर्गर्भित किया

१ जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ८ किरण १, पृष्ठ २५,

२ रावजी सखाराम दोशी, सोलापुर द्वारा प्रकाशित

३ जैन साहित्यवर्धक सभा, सूरत से प्रकाशित.

४ निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

अंक का वर्णनात्मक नाटक है जिसमें उक्त कथानक का जैन रूपान्तर प्रस्तुत किया गया है । कवि यशश्चन्द्र ने भी जैन पौराणिक कथावस्तु पर 'राजीमती प्रबोध नाटक' लिखा है ।

मध्यवर्गीय चरित्र को चित्रण करनेवाले जैन नाट्य ग्रन्थों में रामचन्द्रसूरि के 'मल्लिकामकरन्द' रौहिणीमृगाङ्क' एवं 'कौमुदीमित्रानन्द' उल्लेखनीय हैं । प्रका शित कौमुदीमित्रानन्द[1] मध्यवर्गीय कथा पर एक सुखान्त नाटक है । इसकी कथा वस्तु में अनेकों घटनाएं कहानियों जैसी जोड़दी गई हैं । मित्रानन्द अनेक चमत्कारिक घटनाओंके बाद अपनी प्रेयसी कौमुदी को पा लेता है । इस प्रकार के नाटकों में जिनप्रभसूरि के शिष्य रामभद्र (१३ वीं शता.) ने ६अकों में 'प्रबुध्द रौहिणेय' नाटक लिखा जिसमें रौहिणेय चोर की कथा दी गई है । इस श्रेणी के नाटकों में शाकम्भरीश के मन्त्री धनदेव के पौत्र यशश्चन्द्रकृत 'मुद्रित कुमुदचन्द्र[2] प्रकरण' भी आता है । इसमें गुजरात के प्रसिध्द सम्राट् जयसिंह सिद्धराज (सन् १०९४-११४२) के दरबार में दिग० कुमुदचन्द्र और श्वेतांबर मुनि देवसूरि के बीच वादविवाद को पांच अकों में वर्णन किया गया है । यद्यपि इसमें नाटकीय वस्तु न के बराबर है; परन्तु तर्क शैली के संवाद मनोहर हैं ।

ऐतिहासिक महत्त्व के नाटको में वीरसूरि के शिष्य जयसिंह सूरि द्वारा ५ अकों का 'हम्मीरमद[3] मर्दन' (१३ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) मिलता है । इससे मुसलमानों के प्रारम्भिक आक्रमण के समय गुजरात और उसके पड़ौस के राज्यों की दुर्दशा तथा उस समय महामात्य वस्तुपाल की बुद्धिचातुरी एवं राजनीतिक चतुरता का अच्छा परिचय मिलता है । इसी प्रकार दूसरा ग्रन्थ, कृष्णर्षि गच्छ के आचार्य प्रसन्नचन्द्र सूरि के शिष्य नयचंद्र सूरि (१४ वीं शता०) की 'रम्भामंजरी[5]' नाटिका है । इससे गाहडवाल वंश के राजा गोविन्दचन्द्र, विजयचन्द्र और जयचन्द्र के सम्बन्ध की कुछ ऐतिहासिक बातें मालूम होती हैं । इस नाटिका का नायक जयचन्द्र (जैत्रचंद्र) है ।

साङ्ग रूपक नाटकों में चौलुक्य नृपति अजयपाल (सन् १२२९-३२) के मन्त्री यशःपाल ने 'मोहपराजय' नामक महत्त्वपूर्ण नाटक लिखा । इसमें मोह, लोभ, दोष आदि दुर्गुणों और कृपा आदि सद्गुणों को पात्र बनाया गया है और कृपासुन्दरी द्वारा सम्राट् कुमारपाल के परिणय की कथा अर्थात् उसके जैन धर्म में दीक्षित होने की

१ जैन आत्मानन्द ग्रन्थमाला, भावनगर से प्रकाशित
२. जैन आत्मानन्द ग्रन्थमाला, भावनगर :।
३ यशोविजय ग्रन्थमाला, बनारस से प्रकाशित ।
४ गायकवाड ओरिएण्टल सिरीज, बड़ोदा से प्रकाशित
५ रामचन्द्र केशवराम शास्त्री बम्बई द्वारा प्रकाशित ।
x गायकवाड ओरिएण्टल सिरीज, नं ९.

वस्तुवर्णित की गई है। यह कृष्णमिश्र के नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय के' समान ही बड़ा रोचक है। इस कोटि के अन्य नाटकों में देवचन्द्रगणिकृत 'मानमुद्राभंजन' और जिन-समुद्रसुरिकृत 'तत्त्वप्रबोध नाटक' (सं. १७३०) भी उल्लेखनीय हैं।

दृश्य काव्य की अपेक्षा विशेष रूप से श्रव्य काव्यों की रचना में जैनाचार्य प्रवृत्त हुए हैं। इसके विविध अंगों की महत्त्वपूर्ण कृतियां संस्कृत साहित्य में उपलब्ध हुई हैं। इन कृतियों को गद्य, पद्य, लघुकाव्य तथा चम्पू में विभक्त किया गया हैं।

गद्यकाव्य—संस्कृत साहित्य में गद्य काव्यों की संख्या बहुत कम है। ई० की ६ वीं शता० से ८ वीं शता० तक गद्य-साहित्य के कुछ नमूने सुबन्धु की 'वासवदत्ता,' बाण की 'कादम्बरी' एवं 'हर्षचरित' तथा कवि दण्डी के 'दशकुमारचरित' के रूप में मिले हैं।

फिर दो शताब्दी के बाद धनपाल की 'तिलकमंजरी'[1] (१० वीं शता० और वादीभसिंह के 'गद्य चिन्तामणि' (१२ वीं शता०) के रूप में जैन गद्य काव्यों के दर्शन होते हैं। ये दोनों मान्य जैनाचार्य थे। 'तिलकमंजरी' एक गद्य आख्या-यिका है जिसमें तिलकमंजरी और समरकेतु के प्रेम सम्बन्ध की कहानी है। नायिका के नाम से इस ग्रन्थ का नाम रखा गया है। गद्यों के बीच कहीं-कहीं पद्य भी आ गये हैं जो कि लम्बे गद्यों को पढने वाले पाठकों के लिए विश्राम का काम देते हैं। यद्यपि कवि ने शैली और भावों में कहीं-कहीं बाण की कादंबरी का अनुकरण किया है तथापि वह अपने वर्णन-वैविध्य एवं वैचित्र्य के कारण बाण से आगे बढ़ गया है। ग्रन्थ के प्रारंभ में धारा के परमार राजाओं की वैरिसिंह से लेकर भोज तक वंशा-वलि दी गई है जो परमार वंश के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में सांस्कृतिक जीवन, राजाओं का वैभव, उनके विनोद के साधन, तत्कालीन गोष्ठियां, अनेक प्रकार के वस्त्रों के नाम, नाविक तंत्र, युध्दास्त्र आदि का जीता-जागता वर्णन मिलता है। कवि धनपाल अपने समय के मान्यकवि थे। ये परमार राजा मुन्ज की सभा के सदस्य थे तथा राजा द्वारा सरस्वतीपद से विभूषित किये गये थे। ये कवि प्राकृत के भी अच्छे पण्डित थे। उनने 'पाइयलच्छी' नामक प्राकृत कोश की रचना की है। ये प्रसिध्द मुनि शोभन के भाई थे

द्वितीय गद्य ग्रन्थ गद्यचित्राम'णि है। इसक लेखक आ० वादीभसिंह सरल से सरल और गद्य रूप में कठिन से कठिन संस्कृत लिखने में पटु थे। उन्हें जीवन्धर की कथा अतिप्रिय थी। इस कथा को लेकर उन्होंने सरल संस्कृत में ११ लम्बों में. अनेक नीतिवाक्यों से परिपूर्ण 'क्षत्रचूड़ामणि' नामक एक काव्य लिखा तथा इसी कथा पर प्रौढ़ संस्कृत में 'गद्यचिन्तामणि' लिखा जिसमें भी ११ लम्ब हैं। काव्य में पदलालित्य, श्रवणीय शब्दविन्यास, स्वच्छन्द वचन-विस्तार, सुगमरीति से कथाबोध, चित्त को विस्मय

१ काव्यमाला निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

२ वाणी विलास प्रेस, तंजोर द्वारा प्रकाशित

कराने वाली कल्पनायें, अनेक धर्मोपदेश आदि विशेषतायें हैं। तत्कालीन सांस्कृतिक चित्रण-नाना प्रकार के वाद्य, वस्त्र, भोजनगृहवर्णन, आकाश में उड़ने के यंत्र, कन्दुक क्रीडा आदि का बड़ा मनोहारी वर्णन मिलता है। आचार्य आर्यनन्दि का जीवन्धर को निष्क्रान्त उपदेश कादम्बरी में शुकनास द्वारा चन्द्रापीड को दिये उपदेश की याद दिलाता है। वादीभसिंह का दूसरा नाम ओडयदेव तथा गुरु का नाम पुष्पसेन था। इसका समय ११ वीं शता. का उत्तरार्ध एवं १२ वीं का पूर्वार्ध माना जाता है।

सिद्धसेन गणि की 'बन्धुमती' नामक 'आख्यायिका का भी गद्य काव्य के रूप में नाम सुना जाता है; पर वह अभी तक' उपलब्ध नहीं हुई है।

पद्य काव्यों में लघुकाव्य के रूप में जैन विद्वानों ने अनेक काव्य लिखे हैं जिनमें वादिराज का 'पार्श्वनाथ चरित' (१०२५ ई.) वादीभसिंह का 'क्षत्रचूडामणि' (१२ वीं शताब्दी), महासेन का 'प्रद्युम्नचरित'' (१२ वीं शता०), मुनिचन्द्र का 'शान्ति नाथ' चरित' (१३ वीं शता०), अभयदेव का 'जयन्तविजय' काव्य' (सं. १२७८), अर्हद्दास का 'मुनिसुव्रत' काव्य' (१३ वीं शता०) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। महाकाव्यों में वीरनन्दि का 'चन्द्रप्रभ* महाकाव्य' (१० वीं शता०), हरिश्चन्द्र का 'धर्मशर्माभ्युदय*' (१२ वीं शता०), वाग्भट का 'नेमिनिर्वाण+ महाकाव्य' और वस्तुपाल का 'नरनारायणानन्द महाकाव्य' १३ वीं श०) उत्तम माने गये हैं। इनमें हरिश्चन्द्र का 'धर्मशर्माभ्युदय' माघ के शिशुपाल के अनुकरण पर बहुत सुन्दर काव्य है। इसमें सरसपदों की योजना, विविध छन्दों और अलंकारों की छटा दर्शनीय है। 'नेमिनिर्वाण' और 'नरनारायणानन्द' की शैली और कवि-कल्पना अपूर्व हैं। इन काव्यों को जैनाचार्यों ने काव्यशास्त्रियों द्वारा सम्मत महाकाव्यों के गुणों से सम्पन्न बनाया है। इनमें विस्तृत रूप से ऋतुओं का वर्णन, सन्ध्या, प्रात, चन्द्रोदय, रात्रि, सुरत एवं जलक्रीडा आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। इन काव्यों में नवों रसों का प्रदर्शन करते हुए अन्त में वैराग्य से शान्तरस द्वारा ग्रन्थसमाप्ति की गई है।

श्लेषमय चित्रकाव्यों में हमें दिग० जैन धनञ्जय (वि. ९ वीं श०) का अपूर्व काव्य 'द्विसंधान×' अपरनाम राघवपाण्डवीय मिलता है। १८ सर्गों के इस काव्य के प्रत्येक छन्द से रामकथा और पाण्डवों की कथा का अर्थ निकलता है। द्विसंधान का अर्थ है दो अर्थों का बोध करानेवाला। इसी कोटि की दूसरी रचना दृष्टहरछ के आचार्य हेमचन्द्रसूरि की 'नाभेय नेमिकाव्य-' (१२ वीं शता०) है। इसके प्रत्येक छन्द से आदिनाथ और नेमिनाथ की कथा निकलती है।

---

१ वाणिविलास प्रेस, तंजोर। २ माणिकचन्द्र दिग जैन ग्रन्थमाला बम्बई।
३ यशोविजय ग्रन्थमाला, बनारस। ४ निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।
५. जैन सिध्दान्त भवन, आरा। * निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।
+ गायकवाड ओरि सिरीज, बडोदा।
×. निर्णयसागर प्रेस, बम्बई। - जिनरत्नकोश, भाग १, पृ २१०।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि उपलब्ध संस्कृत-साहित्य में श्लेषमय चित्र-काव्यों की रचना में जैन ही सर्वप्रथम थे और धनञ्जय की कृति इस कोटि के काव्यों में सर्वप्रथम रची गई है। पीछे १५ वीं शताब्दी से २० वीं शताब्दी तक जैन कवियों ने इस दिशा में अनेक रचनायें लिखीं। उनमें महोपाध्याय समयसुन्दर [सं. १६४९] द्वारा विरचित 'अष्टलक्षी' काव्य भारतीय साहित्य का ही नहीं, विश्वसाहित्य का अद्वितीय रत्न है। इस ग्रन्थ में 'राजा नो ददते सौख्यम्' इन आठ अक्षरों वाले वाक्य के १०२२४०७ अर्थ किये गये थे तथा ग्रन्थ बादशाह अकबर को समर्पण किया था। पीछे ग्रन्थकार ने केवल आठ लाख अर्थ रख शेष को स्थानपूर्ति के लिये छोड़ दिया है। यह ग्रन्थ जैन विद्वानों के बुद्धिवैभव का जीता जागता नमूना[1] है। इस कोटि की अन्य रचनाओं में दि० नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य पं० जगन्नाथ (सं० १६९९) की दो रचनायें 'सप्तसंधान' और 'चतुर्विंशतिसंधान'[2] भी उल्लेखनीय हैं। पिछले ग्रन्थ में श्लेषमय एक ही श्लोक से २४ तीर्थंकरों का अर्थबोध होता है। इसी प्रकार उपाध्याय मेघविजय की रचना 'सप्तसंधान'[3] (सं. १७६०) भी अनुपम है। यह काव्य ९ सर्गों में लिखा गया है। प्रत्येक श्लोक से ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व, वीर इन पांच तीर्थंकरों एवं राम और कृष्ण इस तरह ७ महापुरुषों के चरित्र का श्लेषमय वर्णन है। प्रत्येक श्लोक से ७-७ अर्थ निकलते हैं। इस श्रेणी के और भी ग्रन्थ जैन ग्रन्थ-सूचियों में मिलते हैं।

जैन साहित्य की विविध विशेषताओं में से पादपूर्ति काव्य भी एक है। ये काव्य बहुसंख्या में उपलब्ध हुए हैं। अजैन संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार का साहित्य नहीं के बराबर है। ऐसे काव्यों का निर्माण करना अति कठिन ही होता है। कवि लोकव्यापी प्रभाववाले काव्य से प्रभावित हो उस मूल काव्य के रहस्य को हृदयङ्गम करता है और उसकी पद्यावलियों को, उनके मूल भाव, अर्थ और पदलालित्य आदि गुणों की रक्षा करते हुए, अपनी पद्यावलियों के बीच ढालना शुरू करता है और उन दोनों में तादात्म्य स्थापित कर देता है। जो कवि ऐसे कार्य में सहज प्राप्त होनेवाली क्लिष्टता और नीरसता आदि से अपने काव्य को बचा सकें और जिसके काव्य पढ़ने में काव्य-मर्मज्ञ भी मौलिक काव्य जैसा आनन्द लेने लगें, वही कवि यथार्थ में सफल एवं गौरवान्वित समझा जाता है।

इस प्रकार की रचनाओं में जिनसेन (९ वीं शता०) का 'पार्श्वाभ्युदय'[4] सर्वप्रथम काव्य है। यह ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तों का एक खण्डकाव्य है। इसके प्रत्येक छन्द में मेघदूत के पद्यों के चरणों को एक या दो करके समस्यापूर्ति के ढंग से अन्तर्गर्भित किया

१ जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ८ किरण १, पृष्ठ २५,

२ रावजी सखाराम दोशी, सोलापुर द्वारा प्रकाशित

३ जैन साहित्यवर्धक सभा, सूरत से प्रकाशित.

४ निर्णय सागरप्रेस, बम्बई।

गया है। इस तरह सम्पूर्ण मेघदूत समाविष्ट किया गया है और शृंगाररसप्रधान काव्य को वैराग्य रस में परिवर्तित कर विद्वत्ता का चमत्कार दिखाया गया है। मेघदूत के विरही यक्ष की कथा में और पार्श्वनाथ चरित में थोड़ा भी साम्य नहीं है। पर कवि ने अपनी प्रतिभा द्वारा कल्पनावैषम्य आदि दोषों से बचकर रचना में ऐसा चित्र्य पैदा किया है कि पढने से स्वतंत्र काव्य जैसा आनंद आता है।

इस रचना के बाद कई शताब्दियों तक इस प्रकार के काव्य नहीं मिलते। पीछे १५ वीं से १८ वीं शता० तक इस प्रकार के साहित्य में उत्तरोत्तर विकास एवं वृद्धि हुई है। जिनमें मेघदूत, माघ का शिशुपालवध और नैषधीय काव्य के पद्यों को भी पादपूर्ति के रूप में अपनाया गया है। २० वीं शताब्दी में तो इस प्रकार के काव्य केवल गुरुस्तुति रूप में रचे गये हैं जिनमें अधिकांश भक्तामर और कल्याणमन्दिर स्तोत्रों के पद्यों को लेकर।

इसमें चरित्रसुन्दरगणि का 'शीलदूत' (स. १४८४) विक्रमकवि का 'नेमिदूत'[1] (१६ वीं शता०) विमलकीर्ति का 'चन्द्रदूत'[2] (स. १६८१) अज्ञातकविकृत 'चेतोदूत' मेघविजय का 'मेघदूत समस्यालेख' (सं. १७२७) ऐसे काव्य हैं जिनमें मेघदूत के प्रत्येक पद्य का अन्तिम चरण समाविष्ट किया गया है। महोपाध्याय मेघविजय ने अपने 'देवानन्दाभ्युदय' काव्य में माघकवि के शिशुपालवध के पद्यों को तथा 'शान्तिनाथ चरित्र' में नैषधकाव्य के पद्यों को समस्यापूर्ति के रूप में अपनाया हैं। कवि ने 'देवानन्दाभ्युदय' के ७ सर्गों में विजयदेवसूरि का जीवनवृत्त दिया है जिसके प्रत्येक पद्य का अन्तिम चरण माघ काव्य के प्रत्येक पद्य का ही अन्तिम चरण है। 'शान्तिनाथ चरित्र' में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कवि ने नैषधकाव्य के प्रथम सर्ग के सम्पूर्ण पद्यों के चरणों को लेकर प्रथम चरण को प्रथम चरण के स्थानपर और दूसरे को दूसरे के तथा तीसरे को तीसरे और चौथे को चौथे के स्थान में रखकर इस तरह विभिन्न पद्यों के चरणों को क्रमशः विभिन्न चरणों में समाविष्ट कर प्रथम सर्ग को काव्यसात् कर लिया है।

पादपूरण दूतकाव्यों के अतिरिक्त जैनों ने स्वतंत्र रूप से दूतकाव्य भी बनाये हैं। जैसे जिनविजयगणि का 'इन्दुदूत'[4] (१७ वीं शता०) अञ्चलगच्छ के मेरुतुंग का 'जैन मेघदूत*' (१५ वीं शता०) वादिचन्द्रसूरि का 'पवनदूत×' (१७ वीं शता०) और अज्ञात कवि कृत 'मनोदूत+'।

---

१ जैनागम प्रकाशक सुमति कार्यालय, कोटा।

२ श्री जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार, गोपीपुरा – सुरत।

३ सिंघी जैन ग्रंथमाला। ४ जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला नं ७ बनारस।

५ काव्यमाला गुच्छक १४, पृ ४०—६० । * जैन आत्माराम सभा, भावनगर।

× काव्यमाला गुच्छक १३, पृ ९—२४। + जिनरत्नकोश, भाग १, अकारादिक्रमसे

संस्कृत का दूतकाव्य प्रायः श्रृंगाररस पूर्ण है; पर इस काव्य को शान्तरस-प्रधान बनाने में जैनों का प्रयत्न अद्भुत है। इस प्रकार से कितने ही कवियों ने धार्मिक नियमों और तात्त्विक सिद्धान्तों का उपदेश भी दिया है। ये काव्यसाहित्य का आनन्द देने के सिवाय भारतवर्ष की तत्कालीन भौगोलिक स्थिति, नगर, ग्राम आदि का परिचय भी देते हैं।

दूतकाव्यों के ढंग पर जैनाचार्यों ने एक और महत्वपूर्ण साहित्य निर्माण किया जिसे हम 'विज्ञप्तिपत्र[1]' कहते हैं। ये विज्ञप्तिपत्र पर्यूषण पर्व के समय जैन साधुओं द्वारा उनके आचार्यों को लिखी गई चिट्ठियां हैं जो प्रायः दूतकाव्यों के ढंग पर रची गई हैं। इनमें कुछ तो काव्यों की आलंकारिक संस्कृत में और कुछ प्राकृत एवं अपभ्रंशमिश्रित संस्कृत में मिलते हैं। पश्चिमी भारत के जैन ग्रन्थ भण्डारों में इस प्रकार के अनेकों विज्ञप्तिपत्र मिलते हैं।

ऐतिहासिक महत्व के काव्यः—इस प्रकार के महत्वपूर्ण साहित्य की रचना में भी जैन विद्वानों ने अपनी निपुणता दिखलाई है। ये ग्रन्थ बाणभट्ट के हर्षचरित एवं बिल्हण के विक्रमांकदेवचरित के समान ही बड़े उपयोगी हैं। इन ग्रन्थों में आ० हेमचन्द्र का 'द्वयाश्रय काव्य[2]' (१२ वीं शता०) सबसे महत्वपूर्ण है। यह २८ सर्गों का एक बड़ा काव्य है जिसमें अणहिल पाटन के चौलुक्य राजाओं का आदि से कुमारपाल तक पूरा विवरण दिया गया है। इसके प्रारंभिक २० सर्ग संस्कृत में और ८ सर्ग प्राकृत में लिखे गये हैं। ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ को दो उद्देश्यों से बनाया था - एक तो चौलुक्यों का इतिहास लिखने के लिए और दूसरा अपने 'शब्दानुशासन' व्याकरण ग्रन्थ के प्रयोगों को उदाहृत करने के लिए। यह ग्रन्थ दो भाषाओं में निर्मित होने से तथा दो उद्देश्यों की सिद्धि के लिए बना होने से द्वयाश्रय काव्य कहलाता है। दूसरे ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं - अरसिंहका (१३ वीं शता.) 'सुकृतसंकीर्तन[3]', उदयप्रभ की 'सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी[4]' और 'धर्माभ्युदय काव्य[5]' (१३ वीं शता०) तथा बालचन्द्र सूरि का 'वसंतविलास महाकाव्य*' (सं. १२९७) ये वघेलानृप वीरधवल और उनके महामात्य वस्तुपाल तेजपाल के शासनकाल पर विशेष प्रकाश डालते हैं। इसी तरह नयचन्द्र सूरि (१४ वीं श०) का 'हम्मीर महाकाव्य×' शाकम्भरी के तथा रणथम्भौर के चौहानों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। यह राजा हम्मीर के नाम पर लिखा गया है। इस कोटी के अन्य ग्रन्थों में कुमारपालचरित नाम के अनेक ग्रन्थ जैनाचार्यों ने बनाये हैं उनमें जयसिंह सूरि का कुमारपाल चरित+ प्रामाणिक है।

---

१. एंसेन्ट विज्ञप्तिपत्राज (हीरानन्दशास्त्री), बड़ौदा।
२. बम्बई संस्कृत सिरीज, १९१५.
३. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर।
४. गायकवाड ओरि. सिरीज, बडौदा।
५. सिन्धी जैन ग्रन्थमाला।
*. गायकवाड ओरि. सिरीज, बडौदा।
×. नीलकण्ठ ज. कितने, बम्बई।
+. निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

आदिनाथ का चरित वर्णित है। रचना में अर्थगांभीर्य की अपेक्षा शब्दों के चयन में विशेष ध्यान दिया गया है। सर्वत्र अर्थालंकार की अपेक्षा शब्दालंकार अधिक दिखता है। ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ की रचना जिनसेन के महापुराण को सामने रखकर की गई है, क्योंकि ग्रन्थ में यत्र तत्र उक्त पुराण के कहीं तो पूरे पद्य और कहीं एक या दो चरण दिखाई देते हैं।

अन्य जैन काव्यों में मण्डन कवि का 'काव्यशृंगार मण्डन' और हर्षमण्डनगणि की 'मध्याह्न व्याख्या' चम्पू शैली पर लिखे गये काव्य हैं।

सुभाषित:—जैन विद्वानों ने सदाचार और लोकव्यवहार का उपदेश देने के लिए स्वतंत्र रूप से सुभाषित पद्यों का भी निर्माण किया है। इनमें प्रायः जैन धर्मसम्मत सदाचारों एवं विचारों से रंजित उपदेश प्रस्तुत किये गये हैं। वैसे तो जैन पुराणों और अन्य साहित्यिक रचनाओं में सुभाषित पद भरे पड़े हैं, पर केवल उनका ही अध्ययन करनेवालों को तथा विविध प्रसंगों पर दूसरों को सुनाने आदि के लिए उनकी स्वतंत्र रूप से रचना की गई है।

इस प्रकार के ग्रंथों में सोमदेवसूरि का 'नीतिवाक्यामृत'[1] उल्लेखनीय है। यद्यपि यह ग्रन्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों पर व्यवस्थित शासन-तंत्र के निरूपण के लिए बनाया गया है, पर इसमें दैनिक व्यवहार में लाने योग्य अनेक सुभाषित पड़े हैं। इन वाक्यों की प्रधानता के कारण ग्रन्थ का नाम नीतिवाक्यामृत रखा गया है। दूसरा ग्रन्थ अमितगति आचार्य का 'सुभाषित रत्नसंदोह'[2] (सं० १०५०) इस विषय का प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें सांसारिक विषय निराकरण, ममाहंकारत्याग, इन्द्रियनिग्रहोपदेश, स्त्रीगुणदोषविचार आदि बत्तीस प्रकरण हैं। तीसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आचार्य हेमचन्द्र का 'योगशास्त्र प्रकाश'[3] है। इसमें योग का अर्थ न तो ध्यान है और न ध्यान की पद्धति। ग्रन्थ में धर्मात्माओं के नित प्रति कर्तव्य के लिए धार्मिक उपदेश ही सुभाषित वाक्यों के रूप में दिये गये हैं।

इस कोटि में अन्य ग्रन्थों में विविध आचार्यकृत 'सूक्तमुक्तावली' नाम की अनेक रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं जिनमें सोमप्रभसूरि (१३ वीं श०) कृत १०० प्रकीर्णक सुभाषितों का संग्रह महत्वपूर्ण है। यह भर्तृहरि के नीतिशतक की शैली पर रचा गया है जिसमें अहिंसा, शील, सौजन्य आदि विषयों का संक्षिप्त एवं मर्मस्पर्शी विवेचन किया गया है। इसका प्रथम पद्य सिंदूर प्रकर से शुरू होता है जिससे इसे 'सिन्दूर प्रकर काव्य' कहते हैं। इस प्रकार के अन्य ग्रंथों में मल्लिषेण का 'सज्जन चित्तवल्लभ' (१२ वीं श०) हरिसेन का 'कर्पूरप्रकर' दर्शनविजयगणि का 'अन्योक्ति-

१ श्री हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली, नं. १७, पाटण।
२ माणिकचन्द्र दिग० जैनग्रन्थमाला, बम्बई। ३ निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।
४ जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर।

शतक' और हसविजय गणि का 'अन्योक्ति मुक्तावलि (स १६७९), राजशेखरसूरिकृत 'उपदेशचिंतामणि', सोमप्रभाचार्यकृत 'शृगारवैराग्यतरंगिणी' ग्रन्थ उल्लेखनीय है।[1]

स्तोत्र — सस्कृत में जैनों का भक्ति-काव्य बहुत ही विशाल है। इसे स्तुति, स्तोत्र या स्तव नाम से कहा जाता है। इन स्तोत्रों में कुछ तो विशिष्ट तीर्थंकर और मुनियों की स्तुति के रूप में तथा कुछ २४ तीर्थंकरों की तथा उनके शासनदेव-देवियों की स्तुति के रूप में है। इनमें कितने ही तो शब्दालकारों से पूर्ण तथा श्लेषमय भाषा में रचे गये है। बहुत से तो पादपूर्ति के रूप में और कितने ही तार्किक शैली में लिखे गये हैं।

जैन समाज में सबसे प्रिय दो स्तोत्र माने गये है — पहला तो आचार्य मानतुग का 'भक्तामर स्तोत्र' जो कि प्रथम तीर्थंकर की स्तुति के रूप में रचा गया है और दूसरा सिद्धसेन या कुमुदचन्द्र का 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' जिसमें पार्श्वनाथ की स्तुति की गई है। यह भक्तामर की अपेक्षा कुछ अलकारमय काव्य है। इसी तरह कवि धनञ्जय (९ वीं शता) का 'विषापहार स्तोत्र' और वादिराज सूरि (११ वीं शता) का 'एकीभाव स्तोत्र' भी समाज में प्रिय हैं। २४ तीर्थंकरों में ऋषभदेव, शीतलनाथ शान्तिनाथ नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के नाम पर अनेक स्तुतियां लिखी गई है। चौबीस तीर्थंकरों के समुदित रूप में समन्तभद्र का 'स्वयम्भूस्तोत्र' अति महत्त्व का है। बप्पभट्टिसूरि की चतुर्विंशतिका एव धनपाल के भ्राता शोभनमुनिकृत 'शोभनस्तुति'[2] अपरनाम चतुर्विंशति जिनस्तुति आदिस्तुतियां यमकालकारप्रधान हैं।

श्लेषमय स्तोत्रों में विवेकसागर रचित 'वीतरागस्तव' (३० अर्थ) नयचन्द्रसूरि (स १२५८) कृत 'स्तभपार्श्वस्तव' [१४ अर्थ] तथा सोमतिलकसूरि एव रत्न शखरसूरि रचित अनेकों स्तोत्र हैं। इसी तरह पादपूर्ति स्तोत्रों की सख्या भी बहुत बडी है। उसमें भक्तामर और कल्याणमन्दिर स्तोत्रों के छन्दों को लेकर समस्या पूर्ति के रूप में 'ऋषभ भक्तामर' (समयसुन्दरगणि) शान्ति भक्तामर (लक्ष्मी तिलक कृत) नेमिभक्तामर अपरनाम प्राणप्रियकाव्य (रत्नसिंहसूरिकृत) 'वीर भक्तामर' (धीधर्मवर्धन गणिकृत) 'नेमि भक्तामर' एव 'जैनधर्मवरस्तोत्र' अथवा अभिनव कल्याणमन्दिर स्तोत्र (भावप्रभसूरिकृत) आदि उल्लेखनीय हैं।

तार्किक शैली पर समन्तभद्र का 'आप्तमीमांसा स्तोत्र', सिद्धसेन की 'द्वात्रिंशिकाएं' और हेमचन्द्र के 'अयोग-व्यच्छेद एव 'अन्ययोग-व्यच्छेद' स्तोत्र हैं जिनपर अनेक टीकाएं लिखी गई हैं।

१ जिनरत्न भास्कर
२. काव्यमाला, सप्तमगुच्छक, निर्णयसागर प्रेस बम्बई
३. — ,, — — ,, —

अभिलेख साहित्यः—संस्कृत में जैनों का अभिलेख साहित्य भी बड़ा विशाल है। यह साहित्य हमारे देश के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से महत्त्वशाली होने के साथ-साथ उच्च कोटि के काव्यों का सुन्दर नमूना है। यह साहित्य हमें शिला-लेखों, ताम्र-पत्रों, और स्तम्भ-लेखों के रूप में जैन मन्दिरों तथा जैनेतर धार्मिक स्थानों से प्राप्त हुआ है। इन पर प्रकृति की परिवर्तनशील दृष्टि का बहुत कम असर हो सका है। जैन शिलालेख विशेषकर उत्तरपश्चिमी एवं दक्खिनी भारत में प्रचुरमात्रा में मिले हैं। इनमें सूराचार्य विरचित 'बीजापुर का शिलालेख' (सं. १०५३), विजयकीर्ति रचित 'दुबकुण्ड शिलालेख' (सं. ११४५), दिगम्बरार्क यशोदेव कृत 'सासवहू शिलालेख' (सं. ११५०), माथुरसंघीय गुणभद्रकृत बिजोलिया का शिलालेख (सं. १२२६) आदि उत्तर पश्चिमी भारत के लेख काव्यशास्त्र की दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं। दक्षिण भारत से श्रवणबेलगोला और अन्य अनेकों स्थानों से महत्त्वपूर्ण शिलालेख प्राप्त हुए हैं। जिनमें कदम्बराजाओं से सम्बन्धित जैन लेख और अइहोले प्रशस्ति (सन् ६३४ ई०) संस्कृत काव्यशास्त्र की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। दक्षिण भारत के अभिलेख प्रायः कन्नडमिश्रित संस्कृत में हैं—जब कि उत्तर भारत के विशुद्ध संस्कृत एवं प्राकृत में प्राप्त हैं। जैनाचार्यों द्वारा विरचित जैन और अजैन स्थानों से प्राप्त शिलालेखों को देखकर यह निष्कर्ष निकलता है कि जैन विद्वान् अपने क्षेत्र और युग के बड़े मान्य विद्वान् थे, इतिहास में उनकी बड़ी रुचि थी। उनकी विद्वत्ता से आकर्षित हो अन्य लोग भी उनसे शिलालेख के लिए काव्य लिखाकर ले जाते थे और उनसे अपने स्थान को सुशोभित करते थे[1]।

जैनाचार्यों ने ऐतिहासिक महत्व के तिथिक्रम को द्योतित करनेवाली पट्टावलियां और गुर्वावलियां भी बनाई हैं जिनमें भग. महावीर के बाद से उनके धर्म को चलाने वाले अनेकों आचार्यों की परम्परा के साथ—साथ कतिपय राजवंशों और श्रेष्ठिवंशों की परम्परा मिलती है। ये पट्टावलियां भी काव्य साहित्य के बड़े सुन्दर नमूने हैं। इस प्रकार की पट्टावलियों में श्रीसेनगणपट्टावली, शुभचन्द्राचार्य-पट्टावली, मूलसंघपट्टावली तथा काष्ठासंघगुर्वावली एवं तपागच्छगुर्वावली आदि प्रमुख हैं।

ऐतिहासिक साहित्य के रूप में जैन ग्रन्थों के प्रारम्भ की पुष्पिकाएँ और अन्त की प्रशस्तियां भी जैन संस्कृत साहित्य की बड़ी भारी निधि हैं। इनके महत्त्वपूर्ण संग्रह 'पुस्तक प्रशस्ति संग्रह' और 'प्रशस्ति संग्रह' नाम से प्रकाशित हुए हैं।

इस प्रकार जैन विद्वानों ने अपनी चतुर्मुखी प्रतिभा से संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया और अनेकों साहित्यिक अंगों के आविष्कार करने में, जो कि अजैन साहित्य में भी नहीं है, अपने बुद्धिवैभव का परिचय दिया है।

---

१ जैन सिद्धान्त भास्कर भाग, ८ किरण १.

२ डा. गुलाबचन्द्र चौधरी, प्रस्तावना, जैन शीलालेख संग्रह तृतीय (मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई)

विश्व-मैत्री और विश्व-शान्तिके सच्चे विधायक विश्व-वत्सल

भगवान महावीर

ले—पं लालचन्द्र भगवान्, वडौदा

चैत्रशुक्ल त्रयोदशीका पवित्र दिन भगवान महावीर के जन्म-कल्याणकसे पावन होकर चिरस्मरणीय हुआ है। आजसे २५५५ वर्ष पहिले इस धन्य मंगल दिन इस महापुरुषने पूर्वदेशके क्षत्रियकुण्ड में जन्म लेकर अपने जन्म से भारतदेशको गौरवशाली बनाया था - अपूर्व जन्म-महोत्सव मनाया गया था। सूर्य जैसे महावीरका उदय हुआ था। सच्ची अहिंसा, प्राणि-मात्रको अभयदान विश्व-मैत्री और विश्व-शांति के अमूल्य बोध-पाठ सीखानेवाले विश्व बन्धु प्रभु महावीर के जन्म से सर्वत्र अपूर्व उद्योत प्रकाश चमका था। जगत् में सुख शांतिका वातावरण फैल गया था। प्राणिमात्र में सुख, शांति, आनंद का सचार हुआ था।

भगवान् महावीर के पवित्र जीवन-चरित्र कई प्राचीन विद्वानोंने, कवियोंने, पूर्वाचार्यों ने प्राकृत और संस्कृत भाषामें हजारों गाथाओं और श्लोकों में विस्तार से रचे हैं, कई प्रकाशित हुए है। तथा भगवान महावीर का तत्वज्ञान मय सर्व जीव हितकर सदुपदेश भी कई ग्रन्थों में दर्शाया है। कल्याण चाहनेवाला कोई भी सज्जन उनके जीवन से और सदुपदेशों से बोध-पाठ सीख कर स्व-पर-कल्याण सिद्ध कर सकता है। यहाँ स्पष्ट संस्मरणरूप संक्षेप में सूचित किया जाता है।

मातृ—भक्ति

क्षत्रियाणी माता त्रिशलादेवी को आए हुए १४ महास्वप्नों से भगवान महावीर का जन्म सूचित हुआ था। माताकी कुक्षिमें रहते हुए भी भगवान ने मातृ-भक्ति दर्शाई थी। अपनी हलन-चलन से माताको कष्ट न हो, इस आशय से वे स्थिर—निश्चल बन गये थे। उधर माताको अमंगल शंका से उद्वेग—खिन्नता हुई थी। इसको लक्ष्य में लेकर महावीरने गर्भावस्था में सातवें महिने में ही ऐसा अभिग्रह ग्रहण किया था कि 'माता—पिताकी विद्यमानता में मैं प्रव्रज्या नहीं स्वीकारूंगा और उनकी जीवन्त अवस्था में मैं श्रमण नहीं होऊंगा।' माता—पिताको अपने विरहसे भविष्य में कोई अनिष्ट आपत्ति न हो इस हेतु से मति श्रुत, अवधिज्ञान नामक तीन ज्ञान धारण करनेवाले महावीर ने वैसी अभिग्रह—प्रतिज्ञा स्वीकारी थी। इस प्रसंग से मातृ पितृ-भक्तिका अमूल्य बोध—पाठ निज जीवन के प्रारम्भ में ही महावीरने जगत् को सीखाया था।

भगवान महावीर की जन्म—महिमा दिक्कुमारिकाओं ने तथा देवेन्द्रोंने सहपरिवार हर्षसे अलौकिक स्वरूप में की थी।

वर्धमान महावीर

महावीर जैसे सुपुत्रके गर्भ में आने से ही पिता ज्ञातक्षत्रिय महाराजा सिद्धार्थ का कुल, कुटुंब, राज्य सब प्रकार से उदयमान हुआ था। धन-धान्य से, ऋद्धि-समृध्दि से, जय-विजय से, मान-सन्मान आदि से वृध्दि पाया था। इस हेतु से वालक के जन्म होने के वाद माता-पिता ने दश दिन तक विशिष्ट उत्सव मना कर वारहवें दिन ज्ञाति-जनादि को भोजनादि सन्मान-सत्कार कर सर्वजनसमक्ष इस वालक का गुण-निष्पन्न 'वर्धमान' नाम प्रकट किया था। लेकिन उनके असाधारण वीरत्व-पराक्रम, गुण सोच-समझ कर लोकों ने पीछे से उनको 'भगवान् महावीर' नाम से उद्घोषित किया था।

धीर–वीरता

वाल्यवय में भी वर्धमान कुमार ने निर्भयता का एवं धीर-वीरता का केवल परिचय ही नहीं, समान-वयस्कों को जीवन-प्रगति का अमूल्य मंत्र सीखाया था। स्वयं विशिष्ट ज्ञानी होने पर भी असाधारण गंभीरता का अनुभव कराया था।

विवाह

युवावस्था में भी उचित शिष्ट आचरण आचरने में वे कभी चूके न थे। माता-पिताके वचन को मान दे कर उन्हों ने यशोदा नामक राजकुमारी का पाणि-ग्रहण किया था। २८ वर्ष की वय होने तक महावीर ने आदर्श गृहस्थाश्रम को विभूषित किया था। प्रियदर्शना पुत्री की प्राप्ति भी हुई थी।

भावसाधु

माता-पिता के स्वर्गवास होने पर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण होने से अनासक्त वैराग्य-वासित महावीर ने प्रव्रज्या (दीक्षा) स्वीकारने की अपनी इच्छा ज्येष्ठ वन्धु नन्दीवर्धन आदि के समक्ष प्रकट कर उनकी अनुमति चाही थी, वन्धुजनों ने विज्ञप्ति की कि— 'माता-पिता के तात्कालिक विरह-दुःख से दुःखी हम लोगों को आपके वियोग से और अधिक दुःखी न वनावें, दो वर्ष हमारे सान्निध्य में रह कर शांति दो' भगवान् महावीर वन्धु-जनों के वचन को मान दे कर दो वर्ष और संसार में वसे, लेकिन शील-संपन्न (ब्रह्मचारी) भावसाधु वन कर रहे थे।

सांवत्सरिक–दान

महावीर ने तीसवें वर्ष में निज धन-संपत्ति का सदुपयोग, सद्व्यय, विनियोग किया था। प्रकट उद्घोषणा-पूर्वक प्रति प्रभात सांवत्सरिक (वर्षतक) दान दिया था। करोड़ों सोनैये के अनर्गल दान से दीन, दुःखी, दरिद्र याचकों को संतुष्ट कर जगत् के दारिद्र्य को दूर किया था। दान-धर्म का स्वयं आचरण करके विश्व को दान-धर्म कर्तव्य रूप से सीखाया था। इस तरह राज्य-वैभव, ऋद्धि-समृद्धि और कौटुम्बिक मोह का परित्याग किया था।

प्रव्रज्या

संसार से निःस्पृह विरक्त बन कर महावीरने तीस वर्षकी भरयुवावस्थामें संयम के कठिन सन्मार्ग पर संचरण किया था। स्वयं पंचमुष्टि केश-लुचन कर के खड्ग की धार पर चलने जैसी दुष्कर प्रव्रज्या (दीक्षा) स्वीकारी थी। देवों, दानवों और मानवों के विशाल समूह के समक्ष जीवन-पर्यन्त सममावमय सामायिक में रहने की प्रतिज्ञा की थी। मन, वचन और काया से हिंसा आदि किसी प्रकार की पाप-प्रवृत्ति मैं स्वयं नहीं करूँगा, इतना ही नहीं, दूसरों से पापप्रवृत्ति नहीं कराऊँगा और ऐसी किसी भी पाप-प्रवृत्ति का अनुमोदन भी नहीं करूँगा - ऐसी अचल प्रतिज्ञा स्वीकारी थी। उसी समय महावीर को मन पर्याय नामक चतुर्थ ज्ञान की प्राप्ति हुई थी।

उत्कृष्ट साधक

अहिंसा, संयम और तप के ऐसे उत्कृष्ट मार्ग में प्रयाण करने में महावीर ने कष्टों-विघ्नों की तनिक भी परवा न की थी। भयकर उपद्रवों से, उपसर्गों से वे कभी न डरे-न डिगे, वे कभी हताश-निराश न हुए। अपने ध्येय से वे कभी चलित नहीं हुए। कई दुष्ट देव-दानवों ने उनको कष्ट पहुँचाने में लेश भी कमी नहीं रखी थी एवं अधम पामर मानवों ने और क्रूर हिंसक तिर्यंच जातिने भी उनको कष्ट पहुँचाने में किसी तरह की न्यूनता नहीं की थी, लेकिन मेरूपर्वत जैसे धीर महावीर ने सममावमें रह कर संपूर्ण सहिष्णुता का, अटल अडगवृत्तिका अनुपम उदाहरण दिखलाया था। भयकर में भयकर प्राणान्त कसौटी होने पर भी वे अद्भुत धैर्य से सच्चे वीर प्रतीत हुए, न कभी अनुकूल प्रलोभनों से भी ललचाए गए। भारत के निश्चयशाली सच्चे साधु, संत, क्षमाश्रमण, महात्मा कैसे होते थे ? और कैसे होने चाहीए ? आदर्श निःस्पृह योगीश्वर कैसे होते हैं ? - उनका असाधारण श्रेष्ठ दृष्टान्त भगवान् महावीर ने अपनी उत्तमोत्तम जीवन - चर्यासे दिखलाया है।

महान् तपस्वी

भगवान् महावीर जैसा उत्कृष्ट सहनशील - क्षमामूर्ति और महान् तपस्वी दूसरा कोई जगत में मिलता नहीं है। शायद ही मिल सके। महान् वीरने उच्च साधुताकी साधक-दशामें करीब साढे बारह वर्षों की उग्र तपस्या में केवल ३४५ ही पारणे किये थे। कभी छमासी, तो कभी चारमासी, कभी दोमासी तो कभी एक मासी जैसी निर्जल उपवास की तपस्या क्रमशः चालू रक्खी थी। ऐसे तपस्वी हो कर वे बहुधा एकान्त निर्जन वन आदि प्रदेश में खड़े पैर खड़े रहकर उत्तम ध्यानस्थ दशा में ही सदा लयलीन रहते थे, कभी प्रमाद नहीं करते थे। क्षुधा या तृषा, ठंडी, गरमी अथवा बारिस की परवा नहीं करते थे। दिन और रातमें भी अपने उच्च ध्यान में वे सदा मग्न रहते थे।

अद्भुत क्षमादि सद्गुण

चंड कौशिक जैसे भयंकर दृष्टिविष सर्पने दंश दिया था। भगवान् ने उसको भी

प्रतिबोध दे कर उपशान्त बनाया था। कई दुष्टों ने ध्यानस्थ महावीर के पैरों के बीच अग्नि प्रज्वलित कर खीर पकाई थी। अन्य गोवालोंने मारने की कोशीश की थी। कानों में सजड खीले भी भोंके थे। संगम नामक अधम असुर ने अत्यन्त असह्य प्राणान्त उपसर्गों से बहुत परेशान किया था। ऐसे कई भयंकर में भयंकर उपसर्गों के समय भी महावीर समभाव में रहे थे, ध्यानसे चलायमान नहीं हुए थे। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' क्षमा वीरका भूषण होता है—इस कथन को महावीर ने अपने दृष्टान्तसे चरितार्थ किया था। इस कारण सच्चे क्षमाश्रमण वे कहे जाते हैं। एक कविने इस प्रसंग पर कहा है कि—

" बलं जगद्—ध्वंसन—रक्षण—क्षमं, कृपा च सा संगम के कृतागसि।
इतीव संचिन्त्य विमुच्य मानसं, रुषेव रोषस्तव नाथ! निर्ययौ ॥ "

भावार्थ:— हे नाथ! महावीर! जगत् का ध्वंस और रक्षण करने में समर्थ ऐसा बल आप में होने पर भी, ऐसे अपराधी संगम जैसे तुच्छ देव पर जो आप ने कृपा दर्शाई मानो ऐसा सोच कर, क्रोध से तुम्हारे मनको छोडकर रोष नीकल गया मालूम होता है।

सर्वज्ञ महावीर

भगवान् महावीर ने अद्भुत क्षमा के साथ, मार्दव, आर्जव, निस्पृहता, इन्द्रिय-दमन, मनो—निग्रह आदि (संयमके—चारित्र के) इन उच्च आदर्श सद्गुणों से जीवन को उत्कृष्ट प्रकार से ओतप्रोत कर लिया था। राग, द्वेष, मोह आदि दुर्जन अहितकर आंतरिक अरियों पर विजय प्राप्त कर लिया था। ऐसी उच्च प्रकार की अद्भुत साधना के प्रभाव से महावीर ने ४२ वर्ष की वय में घातीकर्मों का विनाश कर केवल ज्ञान-परिपूर्णज्ञान प्राप्त किया था। जिससे जगत् का कोई भी भाव—रहस्य छिपा नहीं था। वर्तमान, भूत और भविष्य काल का लोकालोकका सर्व स्वरूप—ज्ञान उनको ज्ञात हुआ था—इससे वे सर्वज्ञ, जिन, अर्हन् नामों से प्रसिद्ध हुए थे। देवेन्द्रों, दानवेन्द्रों और मानवेन्द्रों के पूज्य हुए थे। आठ महाप्रातिहार्यों से विभूषित बने थे। देवोंने दिव्य-शक्ति से उनके अद्भुत व्याख्यान-पीठ की समवसरण की श्रेष्ठ रचना की थी।

अर्धमागधी भाषामें धर्मोपदेश

भगवान् महावीर ने परिपूर्ण ज्ञान पाने के बाद लोक-कल्याण के लिए लोक-भाषा प्राकृत—अर्धमागधी नाम से प्रसिद्ध भाषा द्वारा प्राणीमात्रको हितकर हो ऐसा धर्म-प्रवचन किया था। इस भाषा का संबंध प्राचीन अढ़ार देशभाषाओं से है। भारत की मुख्य देशभाषाओं का निकट सम्बन्ध इसमें प्रतीत होता है। इसी कारण से ही प्राचीन नाटकरूपकों में भी स्त्री, विदूषक आदि कई पात्रोंकी भाषा अर्धमागधी-प्राकृत प्रकारकी रक्खी जाती है। यह भारत—नाट्यशास्त्र आदि से भी सूचित है।

वाणी–प्रभाव

चौतीस अतिशय–विशिष्ट भगवान् महावीर पावापुरी में पधारे थे। उनकी वाणी अत्यन्त मधुर, आकर्षक, प्रभावक ३५ गुणों से उत्कृष्ट थी। एक योजन तक उनकी अवाज पहुँच सकती थी। इतनी मर्यादा में रहे हुए सब कोई उनकी वाणी सुन सकते थे। देव और दानव, आर्य और अनार्य, भिन्न भिन्न देशवासी भी अपनी अपनी भाषा में भगवान् महावीर की वाणी समझ सकते थे। यह उनका विशिष्ट प्रभाव था।

उस समय पावापुरी नाम से पहिचानी जाती अपापापुरी में यज्ञ–प्रसंग से कई ब्राह्मण विद्वद्वर्ग एकत्र हुआ था, जिस में वेद–वेदांगविद् उच्च कोटि के ११ विद्वान इन्द्रभूति गौतम आदि भी विशाल शिष्य–परिवार सहित वहाँ आए हुए थे।

गणधर–तीर्थ–स्थापना

अपने को सर्वज्ञ मानने–मनानेवाले उन उच्च ११ विद्वानों में भी जीव, कर्म, पुण्य पाप, बन्ध–मोक्ष आदि विषयों में संशय था। भगवान् महावीर ने सुमधुर वाणी से सप्रमाण युक्ति–प्रयुक्ति से उनके संशयों को दूर किया। परिणाम में वे सब भगवान महावीर के शिष्य हो गए प्रव्रज्या स्वीकार कर साधु बन गए। पांच सौ शिष्यों के गण परिवारवाले इन्द्रभूति गौतम आदि ११ प्रकाण्ड विद्वान महावीर के मुख्य गणधर–पट्टशिष्य हुए थे।

भगवान् महावीर के तत्त्वज्ञानमय सदुपदेश अर्थ–भाव को उन गणधरों ने बुद्धिमय पट से साक्षात् झेला और उस असाधारण प्रतिभा से सूत्र–सिद्धान्त रूप में ग्रन्थन किया। अर्धमागधी भाषा में ग्रथित वह जिन–प्रवचन द्वादशांगी–स्वरूप में विभक्त किया गया था। काल–क्रम से न्यूनरूप में आज भी वह विद्यमान है। भगवान् महावीर के प्रवचन का सच्चा हार्द समझने के लिए अर्धमागधी भाषा का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। भारत के मुख्य देशों की मातृभाषा का मूल उसमें है, लेकिन संस्कृत के पक्षपाती कई विद्वानों ने उसका गम्भीर तुलनात्मक मर्मस्पर्शी अभ्यास आगे नहीं बढने दिया। भाषा5Sर्थ तब कहे जा सकते हैं, जब भारत की इस प्राचीन अर्धमागधी भाषा का रहस्य पहिचानें और उसका प्रचार करें। परदेशी भाषाओं के अभ्यास का भी प्रबन्ध करनेवाली यहाँ की युनिवर्सीटियाँ निज देश–भारत की प्राचीन प्रधान भाषा–अर्धमागधी का अध्ययन–अध्यापन के लिए उचित आदर–प्रबन्ध नहीं कर सकी हैं–यह नितान्त सोचनीय है, लज्जास्पद बात है।

भगवान् महावीर ने गणधरकी और साधु, साध्वी श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध संघकी स्थापना की। इस तरह तीर्थकी स्थापना करने से वे २४ वें तीर्थंकर कहे जाते हैं। उनसे पूर्व में ऋषभदेव से पार्श्वनाथ तक २३ तीर्थंकर इस अवसर्पिणी काल में हो गए हैं।

अहिंसा का प्राधान्य

भगवान् महावीर के धर्म-प्रवचन में अहिंसा को प्रधान पद दिया गया है।

उसको लक्ष्य में रख कर सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतोंकी योजना है। सर्वथा पालन कर सके ऐसे साधु-साध्वियों के लिए महाव्रतों की और अंश से पालन कर सके ऐसे श्रावक-श्राविकाओं के लिए अणुव्रतों की व्यवस्थित योजना है। कई राजा-महाराजा, रानी-महारानी, राजकुमारों और राजकुमारिकाएँ, तथा अनेक मंत्री; श्रेष्ठी, सार्थवाह और अधिकारीगण एवं इतर जन-समूह भगवान् महावीर से प्रतिबुद्ध हो कर उसका अनुयायी बना था और निज शक्ति के अनुसार सदाचारमय व्रत-परिपालन करता था।

अहिंसा से सुख, शान्ति

जहाँ हिंसा है-वहां भय है, क्लेश है, अप्रीति है, अविश्वास है, उद्वेग है, दुःख है, अशान्ति है और अहिंसा है-वहाँ निर्भयता है, क्लेश—शमन है, वहाँ प्रीति है, विश्वास है, वहां सुख और शान्ति है। विश्वमैत्री से विश्व-शान्ति सुलभ हो सकती है। विश्व-शान्ति स्थापन करने में अहिंसा ही अमोघसफल-सबल उपाय है। भगवान् महावीर के उदार प्रवचन में अहिंसा को सिर्फ मानवों की रक्षा में ही मर्यादित, संकुचित नहीं मानी है, सचराचर-विश्व के समस्त प्राणी—गण निर्भय बनें, किसी को किसीसे भी भय—त्रास—क्लेश—कदर्थना न हो, सब कोई को शान्ति मिले, सब कोई का हित हो। सब जीव जीना चाहता है, सुख सबको प्रिय है—इष्ट है, दुःख सबको अप्रिय है-अनिष्ट है—ऐसा सोच-समझ कर, मन, वचन और काया से ऐसी प्रवृत्ति करें, करावे और अनुमति दें—जिससे किसी को भी क्लेश, दुःख न हो, सबको सुख-शान्ति प्राप्त हो। 'आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्' अर्थात अपने को जो प्रतिकूल—अनिष्ट—दुःखकर प्रतीत होते हैं, वैसे आचरण दूसरों के प्रति नहीं आचरने चाहिए—यही उपदेश का सारांश—तात्पर्य है। हिंसा सर्वदा सर्वथा त्याग करने योग्य और अहिंसा सदा आचरने योग्य समझाई है। विश्व-मैत्री का चाहक और विश्व-शान्ति का विधायक, विश्व—वत्सल, विश्व—बन्धु, जगद्—बन्धु नामसे विख्यात महापुरुष विश्व के किसी भी प्राणी का विनाश-विद्रोह कैसे कर सके? वैर-विरोध बढ़ानेवाली विनाशक विघातक प्रवृत्ति को वे कैसे अच्छी समझे? भगवान् महावीर के प्रवचन में ठौर-ठौर हिंसा को त्याग करने योग्य और अहिंसा को आचरने योग्य सविस्तार समझाई है। हिंसा को कटु विपाक और अहिंसा को शुभ विपाक दर्शाया है। दूसरोंको भय, त्रास, क्लेश, सन्ताप, दुःख देनेवाला खुद ही दुःख, कष्ट, सन्ताप पाता है और दूसरों को सुख, शान्ति देनेवाला सुख—शान्ति पाता है।

अन्तिम क्षण तक उपदेशामृत—धारा

भगवान् महावीर ने सर्वज्ञ होने के बाद तीस वर्षों तक भारत के भिन्न-भिन्न देशों में विहार कर जगत् को सुमधुर उपदेशामृत पीलाया था, जीवनकी अन्तिम क्षण तक वैसी सदुपदेशामृत धारा चालू रक्खी थी, लाखों भव्य—लोगोंमें उसका पान कराया था और तदनुसार आचरण कर वे अजरामर बने थे। गत अढ़ाई

हजार वर्षों में भगवान् महावीर के करोड़ों अनुयायी हुए और आज भी लाखों अनुयायी हैं।

भारत के महान् उपकारक, सच्चे महान् उपदेशक, सन्मार्ग-दर्शक भगवान् महावीर निज कर्तव्य बजाकर, ७२ वर्ष की आयुष्य पूर्ण कर पावापुरी में ही कार्तिक वदि (गुजराती आसोवदि) अमावास्या के दिन सब कर्मों से मुक्त हो गए—अजरामर हुए—जन्म-जरा-मरणादि दुःखों से मुक्त हो गए, सिद्ध, बुद्ध, निर्वृत बने। इस घटना को २४८३ वर्ष व्यतीत हो गए, २४८४ वां वर्ष चलता है। उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना प्रत्येक भारतवासीका उचित कर्तव्य है।

विश्व—मैत्री और विश्व—शांति के सच्चे विधायक, भारत की विरल विभूति, विश्व—वत्सल, विश्व—बन्धु भगवान् महावीर को सदा वन्दन हो। जय महावीर!

ॐ नमो सिद्धे भ्यः
कर्म और आत्मा का संयोग

लेखक—उपाध्याय पं. रत्न मुनि श्री आनंद ऋषिजी महाराज,

कर्म के कानून कुछ मानवकृत आज्ञाएं नहीं हैं। ये तो निश्चित कारणों से होने वाले परिणाम स्वयं दिखलाने वाला एक निश्चित नियम है। कर्मसत्ता पर साम्राज्य करनेवाले योगी महात्मा लोग ही निर्लेप जीवन वाले हो सकते हैं। राजा के समान कर्म प्राणियों को आज्ञा नहीं करता है तथा प्राणीवर्ग कुछ उसका गुलाम नहीं है। मानव निश्चय करे तो उसी क्षण में उस का क्षय कर सकता है। आत्मा का स्वभाव-परिणमन - वही मोक्ष है और स्वभाव - परभाव - परिणमन - वही बंध है। जितने अंश में परभाव से मुक्त हो सके उतने अंश में मोक्ष; सर्वांश से अर्थात् सर्वथा प्रकार परभाव से मुक्त होना—वही पूर्ण मोक्ष है। बंध और मोक्ष ये दोनों आत्मा की विशेष अवस्था हैं।

कर्म और आत्मा

द्रव्यकर्म और भावकर्म परस्पर कारणभूत हैं अर्थात् रागादि कषाय की उत्पत्ति में पूर्वोपार्जित द्रव्यकर्म निमित्तभूत हैं, और द्रव्यकर्म जिस समय फल देने के लिये उदय होते हैं, उस समय आत्मा में रागादि प्रवृत्त होते हैं और उस प्रवर्तन में द्रव्यकर्म निमित्त हैं और रागादि परिणमन यह पुनः भावकर्म हैं। और उस के द्वारा नवीन कर्मों से आत्मा आकर्षित करता है। इस तरह द्रव्यकर्म का उदयकाल भाव-कर्म में परिणमन और उस परिणमन से नवीन द्रव्यकर्म का उपार्जन, पुनः उस द्रव्य-कर्म का उदय और उस निमित्त से विभाव में परिणमन - इस प्रकार कारण - कार्य की शृंखलायें बढती ही जाती हैं। रागादि की उत्पत्ति यह पूर्वोपार्जित द्रव्यकर्म के निमित्त से ही होती है। यदि बगैर निमित्त ही वह उत्पन्न होवे तो उस रागादि को आत्मा का स्वभाव मानना पड़ेगा और उस से मुक्त आत्माओं में भी रागादिक का होना संभव होगा। जो कुछ बगैर निमित्त से होता है उसका नाम स्वभाव है।

सुवर्ण तथा चांदी को गला कर एक ही पात्र में ढालने में आवे तो भी सुवर्ण अपने स्वभाव से चांदी से पृथक् ही देखा जाता है और तेजाव की क्रिया से भिन्न हो सकता है। उसी प्रकार आत्मा और कर्म वर्तमान में एक रूप में ढला हुआ पड़ा है तथापि स्वभावतः उदयद्रव्य अपने २ स्वरूप में हैं।

आठ प्रकार के कर्म

अनंत वैचित्र्यपूर्ण इस संसार में एक भी आत्मस्थिति ऐसी नहीं कि जिस का समावेश इन आठ कर्मों में से किसी न किसी कर्म में न हुआ हो। मानवबुद्धि नवीन कर्म शोधने के लिये चाहे जितना प्रयत्न करे तो भी उसे निष्फलता मिलनेवाली है।

कर्म में निमित्त का बल

आत्मा के उपर कर्म बलात्कार नहीं करता, वह सिर्फ विभाव का निमित्त पूर्ण करता है और निर्बल आत्मा निमित्त की सत्ता से पराभव पाकर परभाव में परिणमन करता है। मोहनीय कर्म के उदयकाल में वह कर्म कषाय का निमित्त सामने लाता है, परन्तु उस में आत्मा को बलात्कार से किसी भी कषाय में जोड़ने की शक्ति नहीं है। सिर्फ बलहीन आत्माएं ही निमित्त के उदयकाल में तत्प्रायोग्य-विभाव में परिणमन करती हैं। नाट्यगृह, होटल, मिठाई की दुकान वगैरह जिस तरह रस्ते से चलने वालों के लिये नाटक देखने का, मिठाई खाने का निमित्त ही पूर्ण करती है, परंतु बलात्कार से उस निमित्त तत्प्रायोग कार्य में उन की योजना नहीं करती।

जो वीर्यवान् आत्मायें निमित्त की सत्ता के वश नहीं हैं, वे अल्प काल में परम पुरुषार्थ की सिद्धि कर सकती हैं। उदयमान कर्म बाल तथा पंडित उभय को समान भुगतने पड़ते हैं, परंतु उन दोनों की क्रिया में अंतर है।

मोहनीय कर्म अन्य कर्मों का जनक एवं पोषक है। उस के द्वारा ही अन्य कर्मों को पोषण मिलता है। बलवान् आत्मायें ऐसा मानती हैं कि उदयमान कर्म मेरे से ही प्रकट हुए हैं। पूर्व काल में मैंने ही अज्ञान दशा में इन की योजना की है।

कर्म का कर्ता

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय कर्मों के निमित्त से उपस्थित होनेवाले भावों के द्वारा जीव द्रव्यकर्मों को आकर्षित करता है। आत्मा के राग-द्वेष-संबंधी परिणाम भावकर्म कहलाते हैं।

पुद्गल का विकार-द्रव्यकर्म और वह राग-द्वेष रूपी भावों के द्वारा आकर्षित होकर आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह होता है। उपर्युक्त उभय कर्मों की आधार भूमि नो-कर्म है। द्रव्य तथा भाव कर्मों के परिणमन में शरीर उपकारक है और नो-कर्म शरीर इन्द्रियों के प्रवर्तन में मन उपकारक है। उस कारण से वह नो-इन्द्रिय एवं नो कर्म शरीर समझा जाता है।

जिस कर्म की वर्गणा में जो विशिष्ट स्वभाव हो, उस रूप में विशेष अंश में परिणमन होता है और बाकी की सात कर्मों की प्रकृतियों में न्यून अंशों में। जैसे बादाम में मस्तिष्क को पोषण देने का धर्म है, उस का खून तथा मांस अल्प बनता है।

कषाय-आत्मा का स्वरूप ज्ञानरूप सम्यक्त्व और स्वरूपाचरणरूप चारित्र है। जो सकल एवं यथाख्यात चारित्र का अवरोध करे, वह कषाय है। प्रकृतिबंध का कार्य कर्मवर्गणा को आत्मीय प्रदेश के साथ योजना करने का है। अनुभागबंध का कार्य कार्मणस्कंधों में रही हुई फलदानशक्ति विस्तार करने का है। तदनुसार

आत्मा को शुभाशुभ रसास्वाद करवाने का है। कषाय के अभाव में केवल योग प्रवृत्ति के समय प्रकृति और प्रदेशबंध फक्त शातावेदनीय कर्म ग्रहण करता है। वहां पर स्थिति और अनुभाग को अल्प अवकाश मिलता है।

जिस समय योग कषाय के साथ अनुरंजित होता है, उस समय स्थिति और अनुभाग बंधता है। अबाधा काल के समय अनुदय काल पर कर्म की प्रकृति में आत्मा न्यूनाधिक संक्रमण कर सकता है। एक समय के लिये भी यदि आत्मा कषायरहित हो जाय तो उसे केवलज्ञान प्राप्त हो जाय।

संपूर्ण जीवन में सेवन किये हुए शुभाशुभ भावों के तारतम्य अनुसार आयुष्य-कर्म बंधता है। कषायों की बहुलता द्वारा पाप प्रकृति की स्थिति का विशेष बंधन होता है और कषायों की अल्पता से देव-मनुष्य-सम्बन्धी दीर्घ आयुष्य की स्थिति बंधती है।

योग का चांचल्य और कषाय का अल्पत्व जहां पर हो वहां स्थिति और अनु-भाग अल्प होता है; परन्तु योग के द्वारा उपार्जित कर्मप्रकृति के प्रदेश बहुत विस्तार वाले होते हैं; क्यों कि प्रदेशों का नियामक योग है। जिस तरह टूटकर गिरने वाले सरीखे बादल में बिजली कड़कती है, वह सिर्फ कड़ककर रह जाती है। जिस तरह शीतल का रोग तमाम शरीर में व्याप्त होकर अनुभूत होता है, परन्तु उस की स्थिति क्षणिक और वेदना की अति मंदता होती है। उस से विपरीत कषाय की बहुलता और योगों की अल्पता-ऐसे संयोगों में फलप्रदानशक्ति तथा स्थिति विशेष होती है। वह छोटी सी भी तमाम शरीर को सड़ाकर तीव्र वेदना उत्पन्न करती है, वर्षों तक आराम होने नहीं देती। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि जैसी स्थिति ध्यान में आने सरीखी है।

आत्मा ध्यानारूढ होवे या दौड़ता होवे—आसन की कीमत नहीं है, सिर्फ उस के कषायवृत्ति की कीमत है। कषाय के स्वरूप का भान अपनी समाज को बहुत ही थोड़ा है। कषाय का ज्ञान न होने से समाज तद्भूत पाप से बच नहीं सकती है। योगों का संकोच करने में उसका लक्ष्य है, परन्तु कषायों का संकोच करने में सर्वथा प्रकार दुर्लक्ष है। कषायों से अनुभाग और स्थिति प्रबलता से बन्धती है। योग के स्थान में कषाय के लिये लक्ष देने में आवे तो मोक्ष नगर जितना दूर है उतनी नजदीक आता है।

शास्त्रों में स्थूल हिंसा से हृदयगत सूक्ष्म हिंसा (आत्म हिंसा) यह महान् पाप के हेतुरूप कही गई है। कषाय आत्मा के ऊपर का मल है। वह जितने प्रमाण में न्यून होता है उतनेही प्रमाण में आत्मा पवित्र बनता है। कर्म में कुछ बल नहीं है; परंतु आत्मा के द्वारा आरोपित राग—द्वेष में बल है। मंत्रवादी कंकर डाल कर सर्प का विष उतार देता है। वहां कंकर में कोई शक्ति नहीं है; परंतु फैंकने वाले की शक्ति असर करती है।

कर्मों का परिणमन कराने वाली भी अन्य कोई शक्ति नहीं होती; परंतु जिस समय वह कर्म आत्मा के साथ जुडता है उस समय ही कब-किस तरह-कैसा फल—ये सब नियामों का निश्चय हो जाता है।

सोमल खाने के पश्चात् जिस तरह प्रत्येक रंग में वह विष परिणमन होता है, उसी तरह कर्म भी स्वयं उस की प्रकृति के अनुसार परिणमन करता है। भिन्न २ औषधों में भिन्न २ गुण हैं, उसी तरह भिन्न २ कर्म भी पृथक २ भाव धारण करते हैं। कर्मों की शक्ति जबतक फलाभिमुख नहीं होती-वहां तक वह सत्ता में है। फलाभिमुख होने के पश्चात् वह अपना भाव प्रकट करती है।

सत्ताधीन कर्म कुंभकार के कच्चे पिंड के समान हैं। उन का चाहे जैसा आकार बन सकता है। परन्तु उदयाधीन कर्म तो परिपक्व पात्र के समान हैं। उन में परिवर्तन नहीं हो सकता। सत्ताधीन कर्म पर मेख मार सकते हैं, उदयाधीन पर कुछ नहीं हो सकता। विद्यार्थी परीक्षा के पेपर नहीं देवें वहां तक त्रुटि को सुधार सकता है। पेपर देने के पश्चात् वह भूल को सुधार नहीं सकता। इसी तरह उदय में आये हुए कर्म भुगतने पड़ते हैं।

उदयमान कर्म स्वयं कुछ नहीं कर सकते, परंतु अपनी प्रकृति के अनुसार सिर्फ कार्य होने का ये निमित्त बनाते हैं। कर्म का कार्य सिर्फ निमित्त बनाकर देने का है। अवशेष कार्य आत्मा के स्वाधीन हैं।

अपने स्वभाव के अनुरूप और अनुभाग की तीव्रता या मंदता के प्रमाण में बलवान या निर्बल कर्म सामना करने के पश्चात् सत्वहीन हो जाता है। यदि कर्म में निमित्त पूर्ण करने से अधिक सत्ता होती तो बलात्कार से आत्मा को सत्प्रयोग कर्तव्य में जोड़ने का उसमें सामर्थ्य होता और तब आत्मा को तीनों काल में मोक्ष प्राप्त होना असंभव ही रहता। निमित्त का लाभ लेना या नहीं, यह आत्मा के स्वाधीनता की बात है। यदि आत्मा अपनी सत्ता से कायम रहे तो कर्म की उदमान सत्ता उस को स्पर्श नहीं कर सकती।

निश्चय और व्यवहार

लेखक:—पं. जुहारमल न्याय-साहित्यतीर्थ,
पं. मिश्रीलाल बोहरा न्याय-साहित्यतीर्थ

व्यवहारं विना केचिन्नष्टाः केवल निश्चयात् ।
निश्चयेन विना केचित केवल व्यवहारतः ॥
द्वाभ्यां दृग्भ्यां विना न स्यात् सम्यग द्रव्यावलोकनम् ।
यथातथा नयाभ्यां चेत्युक्तं, स्याद्वादवादिभिः ॥

उभय नेत्रों के विना वस्तु का यथार्थ अवलोकन संभव नहीं है-ठीक वैसे ही युगल नयों के विना द्रव्यों का अवलोकन भी यथार्थ नहीं हो सकता। व्यवहारनय के विना केवल निश्चयनय से कतिपय जीव सन्मार्ग से पतित हो गये हैं तथा एकान्त व्यवहार नय से भी अनेक जीव पथभ्रष्ट हो चुके हैं—ऐसा श्री जिनेश्वर देव ने फरमाया है। व्यवहारनय और निश्चयनय को गौण-प्रधान रखकर प्रवृत्ति करते हुए वस्तुतत्त्व का यथार्थ बोध होता है। अर्थात् जब व्यवहार की प्रधानता हो तब निश्चय की गौणता होनी चाहिये और जिस समय निश्चय की प्रधानता हो तब व्यवहार की गौणता होनी चाहिये। इस भांति उभय दृष्टियों में जब जिसकी आवश्यका हो तब उसका उपयोग होना चाहिये; लेकिन अन्य दृष्टि का तिरस्कार किंवा अपमान नहीं होना चाहिए। तभी वस्तुतत्त्व का यथार्थ बोध होता है। जिसका अनुभव करना होता है उधर व्यवहारनय प्रवृत्ति कराता है और निश्चयनय ठेठ वस्तु तक पहुँचाकर स्पर्शज्ञान द्वारा अनुभव कराता है। मतलब यह है कि शुद्ध व्यवहारनय-यह कारणरूप है और शुद्ध निश्चयनय—यह कार्य की सिद्धिस्वरूप है।

जो व्यवहार निश्चयदृष्टि की तरफ नहीं ले जाता और निश्चय के अनुभव में सहायक नहीं है वह व्यवहार शुद्ध व्यवहार नहीं है। यदि व्यवहार को सूत्र (सूत) रूप कारण मानेंगे तो निश्चय को उससे बना हुआ कार्यरूप वस्त्र मानना होगा। तात्पर्य यह कि व्यवहार कारण और निश्चय कार्य है। एकान्तवाद व्यवहार तथा निश्चय कार्य के साधक नहीं बन सकते। कई प्राणी केवल व्यवहार में ही प्रवृत्ति कर रहे हैं और निश्चय क्या है? उसका उन्हें बोध ही नहीं है और उस तरफ उनका लक्ष भी कभी जाता ही नहीं है तो ऐसा लक्ष विना का निशाना स्वरूप व्यवहार कभी भी कार्यसाधक या फलदायक नहीं बन सकता। कई ऐसे भी प्राणी हैं जो सिर्फ निश्चय को ही पकड़ कर बैठे हैं और व्यवहार का तिरस्कार करते हैं—उनके हाथ में निश्चय आने का नहीं है। हाँ, केवल निश्चयदृष्टि का ज्ञान उनकी समझ में आ सकता है। परन्तु व्यवहार वर्तन या व्यवहार दृष्टि क

अभाव में उसकी वही दशा होगी जैसे जल में प्रवेशकर कितना भी कुशल तैराक हाथ पर नहीं हिलाये तो तिरने की कला का ज्ञान रखते हुए भी वह डूबकर प्राण खोदेगा। वैसे ही यदि तत्त्व का ज्ञान रखता हुआ व्यक्ति यदि उस तरफ प्रवृत्ति न करे तो वास्तविक निश्चय का अनुभव उसे कभी होने का ही नहीं। अत:व्यवहार की प्रवृत्ति के बिना निश्चयदृष्टि व्यर्थ है। श्री आनंदघनजीमहाराज सम्भव-जिनेश्वर की स्तुति में फरमाते हैं कि —" कारण जोगे हो कारजनीपजेरे ॥ एमां कोइ न वाद ॥ पण कारण विण कारज साधीयेरे ॥ ए निजमत उनमाद ॥ " कारण से ही कार्य बनता है। इसमें किसी को विवाद नहीं हो सकता; क्योंकि कारण—कार्य की व्याप्ति है। परन्तु हे सम्भवनाथ स्वामी! जो व्यक्ति कारण के बिना ही कार्य की निष्पत्ति चाहते हैं यानी परिश्रम के बिना या शुद्ध क्रिया किये बिना ही जो फल प्राप्त करना चाहते हैं यह उनकी मति का विभ्रम ही समझना चाहिए। मल की संगति से वस्त्र जैसे मलीन होता है वैसे ही कर्म के सम्बन्ध से आत्मा व्यावहारिक दृष्टि से अशुद्ध है। वही आत्मा निश्चयनय की अपेक्षा एवं आशय से शुद्ध है। अन्य द्रव्यों के सम्मिश्रण से व्यावहारिकतया सुवर्ण जैसे अशुद्ध समझा जाता है, परन्तु निश्चय दृष्टि से वही सुवर्ण शुद्ध है।

बाहर से आकर जो वस्तु रहती है उस तरफ लक्ष रखकर व्यवहारनय बोलता है, परन्तु निश्चयनय तो स्वकीय वस्तु की तरफ लक्ष देकर ही बात करता है। वस्त्र का रज या मल और सुवर्ण मिश्रित मृत्तिका के तरफ दृष्टि रखकर व्यवहार नय उसे अशुद्ध कहता है तो निश्चयनय कहता है कि अपनी वस्तु (वस्त्र और सुवर्ण) तो बराबर हैं। वस्त्र व सोना कहीं जानेवाले नहीं हैं। आभ्यन्तर वस्तु ही शुद्ध व सत्य है, बाह्य जो मल-मृत्तिका हैं वे उस वस्त्र व सुवर्ण के नहीं हैं, परकीय हैं। विशेष प्रयत्न से मल दूर किये जा सकते हैं। वैसे ही आत्मा अपना है, कर्म बाहर से आये हैं-अतएव परकीय हैं, हेय हैं, । एतदर्थ परकीय स्वभाव अर्थात् परभाव को दूर करने का सतत प्रयत्न करने का लक्ष होना ही निश्चय दृष्टि है।

श्रीमान यशोविजयजी महाराज फरमाते हैं कि:—

अलिप्तो निश्चयेनात्मा, लिप्तश्च व्यवहारतः ।

शुद्धयत्यलिप्तया ज्ञानी, क्रियावान् लिप्तया दृशा ॥

निश्चय से आत्मा निर्लिप्त है, शुद्ध है, परन्तु व्यवहारदृष्टि से यह आत्मा लेपायमान है। ज्ञानी पुरुष सदैव निश्चय दृष्टि से यह समझता है कि मैं सिद्ध भगवान् के समान कर्मों से निर्लिप्त हूँ। केवल व्यवहारिक दृष्टि से वह अपने को लेपायमान मानकर तदनुसार क्रिया में प्रवृत्ति कर शुद्ध और निर्लिप्त बन जाता है।

शुद्ध चिद्रूप के सद्ध्यान रूप पर्वत पर आरोहण करने के हेतु व्यवहारनय का अवलम्बन लेना चाहिये। और उस ध्यानरूप भूमिका में जहां तक स्थिर रहा जाय वहां तक व्यवहार के आलम्बन का त्याग करके निश्चय स्वरूप में प्रवेश करना

चाहिये और जब भी अस्थिरतावश अवरोहण का समय आवे तब तुरंतही व्यवहार का आलंबन करना चाहिये ।

जैसे राजप्रासाद पर चढ़ने के लिये लिफ्ट या सीढ़ी की आवश्यक्ता रहती है- यह व्यवहार रूप है। ऊपर जाकर लिफ्ट या सीढ़ी छोड़ देनी पड़ती है और वहां जो कार्य करने का है वह किया जाता है-वह निश्चय है । ठीक वैसे ही यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में पहुँचने के लिए आलंबन की सहायता से (मन) जब आत्मा में तल्लीन हो जाता है यानी आत्मोपयोग जब अन्य आलंबन को छोड़कर स्वस्वरूप में लय हो जाता है-वही निश्चय है; साध्य है, कार्य है । यहां व्यवहार रूप साधन की आवश्यक्ता नहीं है ।

जो मोक्ष को प्राप्त हो गये हैं, होते हैं और होंगे-वे सभी प्रथम व्यवहार नय का आश्रय लेकर पश्चात् निश्चय का आश्रय लेकर ही सिद्धि को प्राप्त कर सके हैं, करते हैं और करेंगे। जो शुद्ध आत्म-स्वरूप प्रगट करने में सहायक हो वही सच्चा व्यवहार है अन्यथा अशुद्ध व्यवहार है। अशुध्द व्यवहार त्याज्य है ।

जब आत्मस्थिरता प्राप्त हो वह दशा शुध्दनिश्चय की है और जब स्थिरता नहीं रह सकती हो तब व्यवहार का आलंबन लेना योग्य है ।

यह स्मरण रहे कि जितनी भी धार्मिक क्रियाएँ हैं या विधिनियोजित कार्य हैं वे सब व्यवहारदृष्टि की अपेक्षा से हैं। जहां तक आत्मानुभव न हो या आत्मतल्लीनता प्राप्त न हो वहां तक शुध्द व्यवहार की अपेक्षा से धार्मिक क्रियाएँ रुचि पूर्वक करनी चाहिए और व्यवहार नयका आदर करना चाहिए । सारांश यह कि- हमारे राग-द्वेष रूपी आत्ममल को दूर करना है। हम न तो निश्चय पर ही अनुराग करें, न व्यवहार से द्वेष ही करें, मध्यस्थ भाव से साध्य की प्राप्ति के लिये जुट जांय ताकि आगे कर्मबन्ध न हों और पूर्णकृत कर्मों का क्षय हो। इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया के विवाह के उपसंहार में दर्शनशास्त्र के सूक्ष्म विवेचक उपाध्याय यशोविजय जी अपने अध्यात्ममत परीक्षामें कहते हैं कि—

'तदुभयक्षयादेव मोक्षोत्पत्तिः इति सर्वेषां वादिनामभिमतं, तथा च तद्विजयो पाप एव प्रवर्तितव्यम्-ज्ञाननिष्ठतया, क्रियानिष्ठतया, तपोनिष्ठतया, एकाकितया, अनेकाकितयाकयेन येनोपायेन माध्यस्थ्य भावनया समुज्जीवति स स उपायःसेवनीयः नात्र विशेषा ग्रहो विधेयः इति अर्थात राग और द्वेष के सर्वथा विलय होने पर मोक्ष प्राप्त होता है- यह सब ही दर्शनों का सिध्दांत है। इस लिये राग, द्वेष को जीतने के उपायों का ही हमें आदर करना चाहिये। फिर वह भले ही ज्ञान हो, क्रिया हो, तप हो। अकेले होकर करें या कोई के साथ में रहकर करें-इन में विशेष आग्रह करने की कोई आवश्यकता नहीं—

उपाध्याय मेघ विजय जी एवं उनका देवानन्द महाकाव्य

ले—श्री दिवाकर शर्मा, M. A.

संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा में माघ का शिशुपालवध काव्य ह्रासोन्मुख काल के काव्यों का पथ-प्रदर्शक था। सर्वप्रथम माघ में ही कालीदास एवं अश्वघोष की काव्य-परम्परा से विच्छेद दिखाई पड़ता है और माघोत्तर काल के महाकाव्यों में यह व्यवच्छेद अधिक से अधिक बढ़ता गया। माघ की कृत्रिम और आलंकारिक शैली की ओर ही बाद के कवि अधिक आकृष्ट हुए। महाकाव्य शाब्दिक चमत्कार, विविध छन्द प्रयोग, आलंकारिक ज्ञान के प्रदर्शन और पाण्डित्य-प्रकाशन के क्षेत्र समझे जाने लगे। अतः माघ के पश्चात् उपलब्ध काव्यों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—। १ चित्रकाव्य २ चरितकाव्य।

चित्रकाव्य में विविध छन्द-प्रयोग एवं अलंकारों की भरमार रहती थी। अलंकारों में भी श्लेष एवं यमक पर अधिक ध्यान दिया जाता था। काव्यशास्त्री इस प्रकार के काव्यों को अच्छा नहीं समझते थे। इस प्रकार के चित्रकाव्यों में कविराज के "राघवपाण्डवीय" ने विशेष ख्याति प्राप्त की। चरितकाव्यों में किसी पौराणिक महापुरुष का, किसी राजा का अथवा अपने गुरु का चरित्र चित्रण किया जाता था। किन्तु इस समय आश्रयदाताओं के चरित को लेकर चरितकाव्य लिखने की ओर कवियों ने अधिक ध्यान दिया। प्रत्येक राजा के दरबार में कवि रहा करते थे। वे धन के लोभ में अपने आश्रयदाता के अच्छे कार्यों को बढ़ाचढ़ाकर लिखना ही अपना कर्तव्य समझते थे। इस प्रकार के महाकाव्यों में जयानक का लिखा "पृथ्वीराज विजय" विशेष उल्लेखनीय है। कुछ काव्य पौराणिक महापुरुषों एवं गुरुओं के चरित को लेकर लिखे गये। इनमें कुमारसम्भव, नैषध एवं शान्तिनाथचरित आदि प्रसिद्ध हैं। ये काव्य स्वान्त सुखाय लिखे जाते थे। इसी प्रकार के महाकाव्यों की परम्परा में हमारे कवि द्वारा विरचित देवानन्दमहाकाव्य आता है। जैनमुनि राजाओं के आश्रय में नहीं रहते थे। उनका जीवन तो अत्यन्त सादा होता था तथा वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर धर्मोपदेश देते हुए भ्रमण किया करते थे।

श्री मेघ विजय जी १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए हैं। उनके समय की प्रमुख प्रवृत्ति शृंगारमूलक थी। हिन्दी साहित्य में भी उस समय कृष्ण एवं राधा को लेकर शृंगाररसपूर्ण काव्य लिखे जा रहे थे। कवि लोग राधा के प्रत्येक अंग के वर्णन करने में ही अपने को कृतकृत्य समझते थे। राजदरबारों में पायलों की

झंकार सुनाई पड़ा करती थी। चारों ओर विलास का बोलबोला था। किन्तु ऐसे समय में होने वाले जैन कवि पर विलासिता का प्रभाव न पड़ा। इससे दूर रहने का एकमात्र कारण जैन धर्म का आचार-विचार है। क्योंकि जैन दर्शन स्वयं शृंगारमूलक नहीं है। वह पारलौकिक है और इस लोक के जीवन को महत्त्व नहीं देता है। यही कारण है कि जैन कवियों पर उस समय की राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का उतना प्रभाव नहीं पड़ा। विलासता का प्रभाव न पड़ने के कारण ही इनके इस महाकाव्य में सादगी का वातावरण है। संयमी गुरु का चरित्र होनेसे भी शृंगाररस की गुंजाइस फिर कहां?

श्री मेघ विजयजीने इस महाकाव्य को सं. १७२७ में मारवाड़ के सादडी नगर में लिखा था[1]। जो प्रति मिलती है वह तो मूलप्रति की प्रतिलिपि है। यह प्रतिलिपि सं. १७५५ में उन्हीं के शिष्य मेरुविजयजी के शिष्य श्री सुन्दरविजयजी ने करवाई थी। यह देवानन्द महाकाव्य की अन्तिम प्रशस्ति में लिखा है[2]। आधुनिक समय में तो इसका दो स्थानों से प्रकाशन हो चुका है[3]।

महाकवि की जीवनी

मेघविजयजी के जीवन के विषय में उनके स्वयं के काव्य मौन हैं। अतः उनके जन्मस्थान, मातापिता का नाम, उनका जन्म का नाम एवं कहां-कहां भ्रमण किया-यह कुछ भी ज्ञात नहीं। इस विषय में उनके ग्रन्थ एवं उनके समकालीन कवियों के ग्रन्थ भी मौन हैं। उनकी गुरुपरम्परा के विषय में उनके स्वयं के काव्यों में लिखा है।

मेघविजयजी श्री हीरविजयसूरिजी की शिष्य-परम्परा में थे। श्री हीरविजय जी की शिष्य-परम्परा इस प्रकार है :—
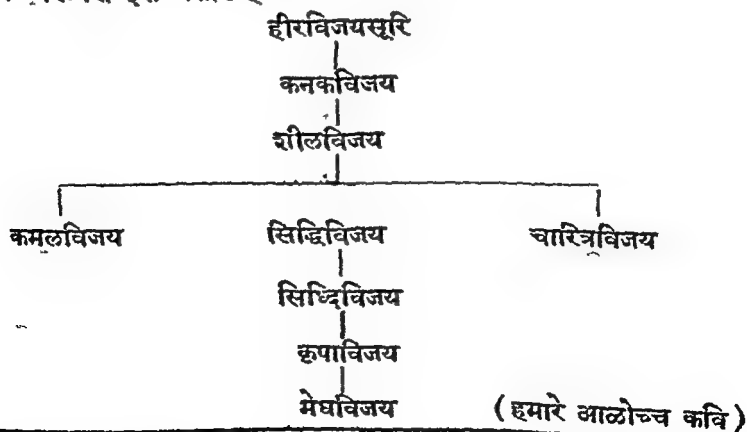
१. "मुनि नयनाश्वेन्दुमिते (१७२७) वर्षे हर्षेण सादडी नगरे। ग्रन्थ पूर्ण समजनि विजयदशम्यामितिश्रेय:" देवानन्द महाकाव्य, अंतिम प्रशस्ति।

२. देवानन्द महाकाव्य अंतिम प्रशस्ति।

ये श्वेताम्बर जैन सम्प्रदायानुसार तपागच्छ के यति थे। इनके दीक्षागुरु पण्डित कृपाविजयजी थे और श्री विजयदेवसूरि के पट्टधर श्री विजयप्रभसूरिजी ने उनको वाचक-पद दिया माने 'उपाध्याय' बनाया था। यह प्रत्येक ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में लिखा है।[1]

जयतु विजयलक्ष्म्या पार्श्वविश्वैकभास्वान् अभिमत सुरशाखी सैव शङ्खेश्वराचार्य. जयतु विजयदेव श्री गुरोः पट्टलक्ष्मीप्रभुरिह विजयादिः श्रीप्रभ· सूरिराजः

विजयप्रभसूरि, जिन्होंने इनको उपाध्याय बनाया था, उनके प्रति भी इन्होंने अपनी कृतज्ञता प्रकट की है[2]। ये प्रतिभाशाली कवि ही नहीं, अपितु दार्शनिक, वैय्याकरण, समयज्ञ, ज्योतिषी, आध्यात्मिक एवं आत्मज्ञानी भी थे। इन्होंने २४ ग्रन्थ लिखे हैं।

शिशुपालवध महाकाव्य की समस्यापूर्ति—

मेघविजयजी ने अपने इस महाकाव्य को माघ के शिशुपालवध के पद्यों की समस्यापूर्त्ति के रूप में लिखा है। समस्यापूर्ति या पादपूर्त्ति का स्वरूप इस प्रकार है। "अन्य कविरचित पद्यों का १–३ चरण लेकर बाकी के चरण अपनी प्रतिभा से पूर्ण करने को समस्यापूर्ति कहते हैं।"[3] "जिसका अभिप्राय भिन्नभिन्न है। ऐसे श्लोकादिक का अपनी या परकी कृति से सन्धान करना याने भिन्न-भिन्न अभिप्रायवाले अपूर्ण श्लोकों को अपने अभिप्राय से संगतरीति से पूरा करने का नाम समस्यापूर्त्ति या पादपूर्ति है"[4]। "मूलपदों के भावों के साथ अपने भावों का जितना अधिक सुन्दर समिश्रण कर सकता है और ऐसे कार्य में सहज प्राप्त होने वाली क्लिष्टता और नीरसता से अपने काव्य को बचा सकता है वह कवि (समस्यापूर्तिकार) उतनी ही अधिक मात्रा में सफल कहलाने का गौरव प्राप्त कर सकता है"[5]। देवानन्द महाकाव्य उक्त कसौटी पर पूर्णतया खरा उतरता है। मेघविजयजी ने माघ काव्य के सात सर्गों की समस्यापूर्त्ति की है। इस समस्यापूर्ति में उनके नवीन विचारों को स्थान मिला है। श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा प्रतिपादित एवं मतानुसार देवानन्द महाकाव्य में उतनी अधिक क्लिष्टता नहीं जितनी की माघकाव्य में है। मेघविजय जी की भाषा अत्यन्त सरल एवं स्वाभाविक है जबकी माघ में यह बात नहीं। माघ के काव्य में कहीं २ नीरसता भी आगई है। ये तो वर्णन करने में मस्त हो जाते हैं। फिर ये यह नहीं सोचते कि यहां पर किस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। किन्तु मेघविजय जी के काव्य में शब्दों का उचित प्रयोग किया

---

१ उदाहरणार्थ देखिए, देवानंद महाकाव्य की अंतिम प्रशस्ति.

२ देवानन्द, दिग्विजय महाकाव्य की अन्तिम प्रशस्ति.

३ देखिए, अमरकोष टीका प्रथम काण्ड, शब्दादि वर्ग श्लोक ७

४ माघवी शब्द कल्पद्रुम कोश

५ जैन पादपूर्ति काव्य साहित्य—अगरचन्द नाहटा, जैन सिद्धान्त भास्कर पृष्ठ ६६ भाग ३, किरण २

गया है। अर्थात् जिस प्रकार का वर्णन करना होता है उसी प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया गया है। शब्दों के चयन करने में महाकवि सिद्धहस्त हैं। इससे ज्ञात होता है कि महाकवि अत्यन्त प्रतिभाशाली थे। माघकाव्य एवं देवानन्दमहाकाव्य में अनेक समानताएं हैं। माघकाव्य के नायक वासुदेव श्री कृष्ण हैं तो देवानन्द महाकाव्य के नायक वासुदेवकुमार हैं जो कि पीछे से विजयदेवसूरि बन जाते हैं। वासुदेव श्री कृष्ण को कंस के दरबार में जाना पड़ा तो हमारे काव्य के नायक को भी जहांगीर के बुलावे पर राजदरबार में जाना पड़ा। वासुदेव कृष्ण रैवतक पर्वत पर गये थे एवं वासुदेवकुमार भी रैवतक पर्वत पर तीर्थयात्रा के लिये गये थे। इस प्रकार दोनों के नायकों में थोड़ा बहुत साम्य है। प्रस्तुत समस्यापूर्त्ति में माघकाव्य के सात सर्गों का प्रयोग किया गया है। अधिकतर माघकाव्य के प्रत्येक श्लोक के चतुर्थ चरण पर समस्यापूर्त्ति की है। कहीं-कहीं प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय चरण पर भी समस्यापूर्त्ति की है। समस्यापूर्त्ति भी पद्मबन्धादि की तरह एक प्रकार का चित्र-आश्चर्यकर काव्य है। इसीलिये समस्यापूर्त्ति करते हुए यदि कहीं पर अनुस्वार, विसर्ग आदि न लगाया जाय तो समस्यापूर्त्ति में किसी प्रकार की हानि नहीं होती। यदि कहीं माघ ने "ललना" या "दिवम्" लिखा हो और काव्यकारने उसे "ललना" "दिव" कर दिया हो तो उसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं। समस्यापूर्त्ति में पूरक चरण के शब्दों को न बदल कर अर्थ की पूर्त्ति करनी पडती है। यदि अर्थ की पूर्त्ति में विघ्न उपस्थित होजाय तो समस्यापूर्त्ति में आपत्ति हो जाती है; किन्तु ऐसा इस काव्य में कहीं नहीं हुआ। इतना सब कुछ होने पर भी कहीं २ शब्दों में हेरफेर दिखाई पड़ता है। जैसे स्तुति के स्थान पर च्युति, हव्यवह के स्थान पर हव्यभुज आदि। किन्तु यह बात अधिकारपूर्वक नहीं कही जा सकती कि यह हेरफेर कवि द्वारा किया गया है या माघ के पाठान्तर ही हैं और यदि सात सर्ग की पादपूर्त्ति में कहीं कवि द्वारा ही ऐसा होजाय तो वह भी क्षम्य है। समस्यापूर्त्ति की महत्वपूर्ण बात यह है कि कवि ने माघ के चरणों का नया ही अर्थ निकाल कर समस्यापूर्त्ति की है। जहाँ २ माघकाव्य में यमक का प्रयोग है वहाँ-वहाँ कवि ने भी यमक का प्रयोग पूर्ण सफलता से किया है। वही चमत्कार इस काव्य में भी है जो माघकाव्य में दिखाई पड़ता है। कवि का एक मात्र ध्येय अपने गुरु के प्रति भक्तिभाव प्रकट करना था। अतः उन्होंने गुरु के जीवन के मुख्य-मुख्य स्थलों पर ही सुन्दरता से प्रकाश डाला है जिससे उनकी प्रतिभा पर चार चाँद लग गये हैं। मेघविजयजी ने माघ की समस्यापूर्त्ति के अतिरिक्त अनेक अन्य काव्यों की भी समस्यापूर्त्ति की है जिनमें नैषध एवं मेघदूत की समस्यापूर्त्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है। नैषध की समस्यापूर्त्ति के आधार पर "शान्तिनाथचरित्र" की रचना की है और मेघदूत की समस्यापूर्त्ति के आधार पर "मेघदूत समस्या लेख" की रचना की है। यह रचना एक पत्र के रूप में है। कवि ने भाद्रपद सुदि पंचमी के बाद यह पत्र अपने आचार्य श्री विजयप्रभसूरि को, जो उस समय देवपाटण में स्थित थे, लिखा था।

कथासार—

देवानन्द महाकाव्य का सरल एवं संक्षिप्त सार इस प्रकार है। समस्त द्वीपों में जम्बूद्वीप अत्यन्त प्रसिद्ध द्वीप है। उसमें गंगानदी से सुशोभित भारतवर्ष में सर्वोत्तम गुजरात प्रदेश है। इसके समीप में ही रत्नाकर सुशोभित है। भूमि अत्यन्त उर्वरा है। ईख के खेत पक्ते हैं। गुजरात प्रदेश में पार्श्वनाथ का शंखेश्वर नामक तीर्थ है। ऐसे प्रदेश में पहाड़ की तलहटी में इलादुर्ग नामक श्रेष्ठ नगर है। उस नगर का राजा राठौड़वंशीय नारायण है। उस नगर में स्थिर नामक व्यापारी रहते थे। उनकी पत्नी का नाम रूपा था। रूपा अत्यन्त सुरुप एवं पतिव्रता थी। सम्वत् १६३४ में पौष शुक्ल त्रयोदशी रविवार के शुभदिन रूपा के एक अद्भुत पुत्र उत्पन्न हुआ[1]। अद्भुतता के कारण उसका नाम वासुदेव[2] रखा गया।

युवा होने पर इन्होंने जैन मुनि बनने की अभिलाषा प्रकट की, किन्तु इनके माता पिता एवं भाइयों ने ऐसा करने से उनको रोका। ये तो मुनि बनने के लिये दृढमतिज्ञ थे, अतः मातापिता को इस संसार की बुराइयाँ बताकर तथा परमार्थ की अच्छाइयाँ बताकर उनकी सम्मति प्राप्त करली। माता ने भी ज्ञान की बातें सुनकर दीक्षा लेली। दीक्षा से पूर्व वासुकुमार तीर्थयात्रा के लिये निकल पड़े। तीर्थयात्रा करते हुये अहमदाबाद पहुँचे। वहां पहुचने पर इनकी भेंट विजयसेन सूरि से हुई। विजयसेन सूरिजी से उपदेश सुनकर इन्होंने कहा, "हे गुरुजी! मुझको दीक्षा दीजिये"। यह सुनकर गुरुजी ने कहा कि हे वत्स! तुम्हें तुम्हारे नगर में ही दीक्षा दूंगा, किन्तु तेरे अत्याग्रह से तेरी दीक्षाविधि यहां पर भी करना अनुचित नहीं। वहीं पर श्री विजयसेन सूरिने बालक वासुदेव को सं. १६४३ में दीक्षा दी[3]। दीक्षित करके इनका नाम विद्याविजय रखा गया। पांच व्रतों को धारण कर उनका यथाशक्ति पालन किया और प्रयत्नपूर्वक ज्ञान एवं क्रिया दोनों मार्ग के पारगामी हुए।

एक समय की बात है कि अकबर ने श्री विजयसेनसूरि को अपने दरबार में बुलाया।[4] राधनपुर से विहार करते हुये वे लाहौर[5] पहुंचे और धर्म की चर्चा की। उस समय अनेक ब्राह्मणों ने बादशाह को कहा कि जैन लोग खुदा द्वारा निर्मित गंगा को नहीं मानते। इसके उत्तर में आचार्य ने कहा कि जैन लोग गंगाजी को अत्यन्त पवित्र मानते हैं और इसी कारण जैन मन्दिरों की प्रतिष्ठा में गंगाजल की आवश्यकता होती है। यह कहकर आचार्यजीने ब्राह्मणों को निरुत्तर कर दिया। इसके बाद वे धर्म का

१ "चतुस्त्रिंशत्तमे 'वर्षे षोडशस्य शतस्य हि। पौषे मासे सिते पक्षे त्रयोदश्यां दिने रवौ" विजयदेव सूरिमहात्म्य, सर्ग १ श्लोक १८

२ वासुकुमार विजयदेव० महाकाव्य

३ "राजनगर में अपने पुत्र को और अपनी पर को दीक्षित कराने के लिये स्थिर सेठ युत आया था और किराये के मकान में रहता था।" विजयदेवम०

४—५ विजयदेवमहात्म्य, सर्ग ६ श्लोक १३—२१

उपदेश करते हुए भूतल पर विचरण करने लगे। विचरण करते हुए आचार्यजी श्री मल्ल के आमन्त्रण पर खम्भात पहुंचे। वहां सम्वत् १६५७ वैशाख शुदि चौथ के दिन उन्होंने अपने प्रिय शिष्य विद्याविजय को आचार्यपद दिया और अपनी गद्दी का समर्पण किया। आचार्यपद प्राप्त होने पर इनका नाम विजयदेवसूरि पड़ा। आचार्य-प्रसंग में एक महान उत्सव किया गया। उस उत्सव का सारा खर्च श्रीमल्ल ने उठाया। कनकविजय एवं लावण्यविजय नामक इनके दो शिष्य थे। एक बार बादशाह जहांगीर ने इन्हें अपने दरबार में बुलाया। दरबार में जाकर धर्मचर्चा से बादशाह को प्रसन्न किया। बादशाह ने प्रसन्न होकर सूरिजी को " महातपा " का विरुद दिया।

ये महातपा का विरुद प्राप्तकर पुनः भ्रमण के लिये निकले और ईडर पहुंचे। ईडर का राजमन्त्री सहजू श्रेष्ठि सूरिजी का उपासक था और बड़ा धनाढ्य था। उसने सूरिजी से प्रार्थना की कि आपके किसी योग्य शिष्य को ईडर में अपना पट्टधर बनाकर ईडर नगर को विशेष धन्य कीजियेः क्योंकि आचार्यपद का उत्सव करने की मेरी बड़ी तीव्र भावना है। ईडर आने से पूर्व ही पाटण[1] में अपने शिष्य कनकविजय को उपाध्याय पद दे चुके थे। कनकविजयजी भी अत्यन्त प्रकाण्ड पण्डित थे। अतः उन्हें आचार्यपद प्रदान कर शाह सहजू की भावना का सत्कार किया। इसी समय सावली में अत्यन्त जीवहिंसा होती थी। अतः वहां जाकर जीवहिंसा को समाप्त करवाया। इसके उपरान्त गुरु एवं शिष्य सिरोही की ओर चले। सिरोही पहुंचने पर इनका आदर-सत्कार अच्छा हुआ। वहाँ से भी भ्रमण करते हुए देवपत्तन पहुंचे। देवपत्तन से सूरिजी गिरनार की यात्रा को गये।

सूरिजी ने अत्यन्त भक्ति से रैवतक के दर्शन किये। दर्शन कर दक्षिण की ओर जाने के विचार से सूरत पहुंचे। सूरत में वहां के राजभवन में सागरपक्षी लोगों के साथ शास्त्रार्थ किया एवं सफलता प्राप्त की। सफलता के उपलक्ष में एक स्मारक बना। सूरत से दक्षिण की ओर जाते हुए सूरिजी ने शाहपुर के उपवन में चातुर्मास किया। वहां से कलिकुंडपार्श्वनाथ और करहेड़पार्श्वनाथ तीर्थों के दर्शन किये।

तीर्थयात्रा कर सूरिजी गुजरात वापिस आए। मार्ग में अनेक स्थानों पर गौहत्या बन्द करवाई। बीजापुर के बादशाहने इनके धर्म के प्रभाव से समस्त बन्दीजनों को छोड़दिया।

इस प्रकार विहार करते-करते सूरिजी गन्धपुर बंदर पहुँचे। वहां अनेक स्थानों से दर्शन के लिए दर्शनार्थी आये। धनजीशाह और रतनजी शाह के आग्रह से सूरिजी वहां ठहर गये। साहिब पेतनय(?) ने और अखेशाह ने बड़ा उत्सव किया। यहीं पर अपने प्रिय शिष्य वीरविजय मुनि[2] को सं. १७१० वैसाख सुदि १० मी के दिन आचार्यपद

१. विजयदेवमहात्म्य, सर्ग ९

२. मेघदूतसमस्यालेख श्लो० १०६.

से विभूषित करके उनका नाम विजयप्रभसूरि प्रकट किया। इसके बाद वे सूरत को गये। सूरत से अहमदाबाद को गये।

धनजी शाह एवं उनकी पत्नी धनश्रीने बहुत बड़ा उत्सव किया। यहां से सूरिजी गुजरात की ओर चले और अहमदाबाद पहुंचे। वहां सूरिजी ने बीबीपुर नाम के अहमदाबाद के उपपुर में रहकर पर्युषण महापर्व की आराधना की। यहां से सूरिजी ने श्री शंखेश्वर-पार्श्वनाथ के दर्शन के लिए प्रस्थान किया।

देवानन्द महाकाव्य का कलापक्ष

मेघ विजयजी की शैली बहुत ही अलंकृत है। उसमें अलंकारों के प्रयोग में नवीनता, प्रसाद और निर्दोषता है। श्लेष में बड़ा परिश्रम किया गया है। यमक सौंदर्य और प्रभावशाली हैं। मेघ विजयजी की उपमायें निःसन्देह सुन्दर और मनोहर हैं। एक दो उदाहरण देखिये।:—

१. कपिकुल्येव सिद्धानाम् शुद्धवर्णा सरस्वती,
२. धर्मः पद्मइवोद्बुद्धः शुद्ध हंसाभिनन्दन :

इत्यादि उपमायें बड़ी सुन्दर और उपयुक्त बनी हैं। परन्तु सर्वत्र यह बात नहीं है। इनकी अनेक उपमायें माघ के समान ही कठिन और गूढ़ हैं। उपमाओं में कहीं कालीदास जैसी सरलता, रमणीयता, आकर्षकता और स्वाभाविकता भी मिलती है। जैसे-
'कपिकुल्येव सिद्धानाम् शुद्धवर्णा सरस्वती'

इनकी सभी उपमायें रस की पोषक हैं। श्लेष का प्रयोग उत्तम, किंतु क्लिष्ट है। मुग्धकारिणी उत्प्रेक्षा, रूपक, अर्थांतरन्यास का भी प्रचुर प्रयोग है।

रूपक :— हृदः स्थले ज्वलत्येवमसौ नरशिरोमणी।

उत्प्रेक्षा :— सुखमन्या वने जन्य पौरपेय वृता इव

अर्थांतरन्यास :— किं पुनर्यातिकैर्याच्ये : सुजयत् सर्वतो सुखम्,
तत्त्वमेव धर्तव्यायां प्रकृत्या मितभाषिण :

मेघविजयजी छंदों के प्रयोग में भी सिद्धहस्त हैं। देवानंद महाकाव्य में काव्य शास्त्र के नियमों का पालन किया गया है। एक सर्ग में एक ही छंद का प्रयोग किया गया है। सर्ग के अंत में विभिन्न छंदों का प्रयोग मिलता है। चतुर्थ सर्ग के मध्य में भी एक-दो स्थानों पर छन्द बदला गया है। किन्तु एक-दो श्लोकों में छन्द-परिवर्तन से महाकाव्य में कोई दोष नहीं आता। १७ वीं शताब्दी के काव्यों में छन्दों की बहुलता आगई थी। महाकाव्य के सातों सर्गों में क्रमशः निम्नलिखित छन्द हैं - वंशस्थ, अनुष्टुप, उपजाति, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित, पुष्पिताग्रा छन्दों का प्रयोग मिलता है। इनके अतिरिक्त प्रत्येक सर्ग के अन्तिम भाग में मिलने वाले छन्द निम्नलिखित ये हैं - द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, औपच्छन्दसिकम्, उपजाति, तोटकम, स्वागता, पुष्पिताग्रा

छन्दों के भी प्रयोग मिलते हैं। चतुर्थ सर्ग के २६ वें श्लोक में पुष्पिताग्रा छन्द है तथा २८ वें श्लोक में द्रुतविलम्बित छन्द है। छन्दों के प्रयोग में अत्यधिक सावधानी की दृष्टि रखी गई है।

मेघविजयजी का भाषा पर पूर्ण आधिपत्य है। भाषा सरल एवं रोचक है। यथास्थान समासों की बहुलता है। गाढ़बन्धों की ओजस्विनी मनोहरता की छटा है। शब्द और अर्थ की समता के उत्पादन में ये माघ से टक्कर लेते हैं। इनकी पदावलि पर माघ का प्रभाव स्पष्ट है। माघ के समान ही इन्हों ने भी व्याकरण के नियमों के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। गणादि[1] से शब्दों का निर्माण किया गया है जैसे:— कौबेरदिग्भागमपास्यमा गंमागस्त्यमुष्णांशुरिवावतीर्णः

इस पंक्ति के बेरदिग्भागम् को देखियें। 'वेरदिग्भागम्' उश्च आ च वा, ताभ्यां युक्ता इश्च लश्च, दश्च, इ–ल–दाः ते सन्ति अस्मिन् इति (वा+इलद+इन्–वेलदी) वेलदी स चासौ 'ग' गकारः, तेन भाति ईदृशः अः अकारः तम् गच्छति प्राप्नोति तत् वेलदिग्भागम्–इलादुगम – इत्यर्थः। पुनः किम्भूतम् (इलादुगमउ) गंम् 'रम्' रकारं गच्छति गंम्–इलादुर्गनाम्ना प्रतीतम्

इस प्रकार के उणादि शब्दों के प्रयोग अनेक मिलते हैं। इनकी संस्कृत भाषा पर उर्दू, फारसी का प्रभाव भी लक्षित होता है। भूभृत के लिये पातिशाह, धनिक के लिये शाह का प्रयोग मिलता है। पातिशाह शब्द में फारसी एवं संस्कृत का संमिश्रण है। पाति शब्द संस्कृत है - जिसका अर्थ है प्रजापालन और शाह शब्द फारसी है- जिसका अर्थ राजा। इस प्रकार के शब्दों की बहुलता नहीं। बन्दरगाह के लिये बन्दिरे शब्द का प्रयोग मिलता है। किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी काव्य की भाषा अत्यन्त सरल एवं रोचक है। वर्णनानुसार भाषा में क्लिष्टता एवं सरलता आती जाती है।

भाषा का प्रवाह अत्यन्त सुन्दर है। कालिदास की भाषा यदि मालवा की समतल भूमि के समान सीधीसाधी है तो हमारे आलोच्यकवि की भाषा अरावली पर्वत की तरह उबड़खाबड़, ऊँची—नीची है। इतना सब कुछ होते हुये भी कवि की क्षमता अपूर्व है। कवि के लिए अन्य कविरचित पद्यों की पादपूर्ति का प्रतिबंध था। अतः यदि काव्यसृजन में कुछ शिथिलता नजर आती है तो वह नगण्य है। यों जहां तक प्रतिभा और काव्यगत प्रौढता का प्रश्न है हम यह कहने का लोभ संवरण नहीं कर सकते कि मेघविजयजी विदग्ध विद्वान और प्रतिभाशाली कवि और आचार्य थे। मध्यकालीन जैन-संस्कृत साहित्य में उनका स्थान चिरस्थाई और अत्यन्त महत्वपूर्ण रहेगा। इस प्रकार मध्यकालीन संस्कृत जैन साहित्य का यह कवि एक अनूठा रत्न है।

" देवानन्द महाकाव्य का भावपक्ष "

मेघविजयजी मूलतः एक कवि हैं। भावपक्ष की दृष्टि से भवभूति के बाद मेघविजयजी का नाम विन

के सफल चित्रकार हैं। जहां ये करुणरस को अंकित करने में पटु हैं वहीं शृंगार वर्णन करने में भी कुशल हैं। किन्तु कवि का मन शांतरस की ओर अधिक आकृष्ट हुआ। इसका एक कारण भी है कि जैन मुनियों पर जैन दर्शन का प्रभाव पूर्णतया पड़ा। करुणरस का स्थायी भाव वैराग्य है। इसी वैराग्य की इस काव्य में प्रधानता है। विजयदेव सूरिजी स्थान स्थान पर इस संसार की निस्सारता को बताते हैं और राजा एवं प्रजा के लिये मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

मेघविजयजी की वर्णनशक्ति विलक्षण है। उनमें ग्रामीण सरलता एवं भद्दापन नहीं है। न ही वे अत्यधिक कृत्रिम कलात्मक रूप वाले हैं। उनमें मध्य मार्ग है। मेघविजयजी प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षक थे। इनका प्रकृति वर्णन अत्यन्त सुन्दर है। ये वर्णन परम अलंकृत रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। कालिदास की भांति इन्होंने भी षट् ऋतुओं का वर्णन किया है। इनके वर्णन भी कालिदास की भांति सजीव एवं सुन्दर बन पड़े हैं। कालिदास ने ग्रीष्म से प्रारम्भ कर वसन्त ऋतु तक का वर्णन किया है तो हमारे आलोच्य कवि ने भी षट् ऋतुओं का वर्णन किया है। कालिदास एवं मेघ विजयजी के ऋतु वर्णन में इतना ही अंतर है कि कालिदास ने षट् ऋतुओं का वर्णन अपनी प्रियतमा को सम्बोधन कर लिखा है जब की मेघविजयजी ने अपने गुरु की यात्रा के मध्य पड़नेवाली षड्ऋतुओं का वर्णन किया है। कालिदास ने ग्रीष्म की प्रचण्डता का वर्णन करते हुये ऋतुसंहार का आरम्भ किया। ग्रीष्म की प्रचण्डता का वर्णन अत्यंत सुन्दर है।

विशुष्ककण्ठाहृतसीकराम्भसो गभस्तिभिर्भानुमतोऽनुतापिता

प्रवृद्धतृष्णोपहता जलार्थिनो न दन्तिन। केसरिणोऽपि बिभ्यति

सूखे कंठ से सीकर जल को ग्रहण करते हुए, सूर्य की किरणों से तपाये हुए, बहुत ज्यादा प्यास से सताये हुये जल के इच्छुक हाथी शेर से भी नहीं डरते हैं।

दूसरी और हमारे आलोच्य कवि ने भी ग्रीष्म की प्रचण्डता का वर्णन किया है। इसे भी देखिये —

प्रहृतपुष्करहंस चिरस्थिति " हृतरसां सरसां प्रणयन् भुवम्।

तुल्यति स्म यतिसमयमेदम। स शरदं शरदन्तुरदिग्मुखाम्॥

आकाश में सूर्य बहुत समय तक स्थित रहता है, पृथ्वी के तड़ाग जल से शून्य हो गये, यतियों का अहंकार नष्ट हो गया है। इस श्लोक में यमक अलंकार है। अब इस श्लोक का एक दूसरा अर्थ भी निकलता है। यह दूसरा अर्थ शरद ऋतु का वर्णन है।

मेघविजय जी के वर्णनों में यमक अलंकार की सुन्दर छटा है। उनका वर्षा काल वियोगनियों को दु:ख देता एवं सुहागिनी नारियों को आनन्द देता हुआ आता

है। आकाश में काले-काले मेघ उमड़ आये हैं। सहसा ही बिजली चमक एवं गर्जन करती है। उसी समय कम्पित होती हुई स्त्रियाँ अपने पतियों का आश्रय प्राप्त करलेती हैं।

स्तनवतो नवतोय धराद् वधूर्तसहसा सहसा तडितांप्रियम्।

भृशमनाशमनाः स्वयमाश्रयत् न सहसा सहसा कृतवेपथुः॥

इसी तरह मेघविजयजी की शरद ऋतु भी इठलाती, झूमती आती है। शरद ऋतु रूपी लक्ष्मी हास्य से युक्त है। उसके हाथों में कमलों के सुन्दर कंगन हैं। वृक्षों के सुन्दर-सुन्दर पत्ते मानो लक्ष्मी के अधरों की मुस्कराहट है।

शरदभाद् रदमासिहसश्रिय धवलया वलयायित पंकजैः।

धृतरुचा तरुचारु सुपल्लवैर्मृदुतया दुतयाधरलेखया॥

देवानन्द महाकाव्य का प्रकृति-वर्णन अत्यन्त उच्च कोटी का बन पड़ा है। मेघविजयजी ने वनी को एक स्त्री के रूप में माना है। इस प्रकार अचेतन पर चेतन का आरोप किया है। प्रकृति का भी मानवीकरण कर दिया है।

शुचिरयादिनमण्यधितापयन् प्रथमतोऽप्य मतो न घनाद् भुवः।

इह वनी रतयेऽस्य शिरीषजां हरिवधूरिव धूलिमुदक्षिपत्॥

हरि की पत्नी के समान यह वनी इसके सुख के लिये शीतल एवं कोमल धूल को फैंक रही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेघविजयजी प्रकृति का चित्रण करने में अत्यन्त प्रवीण हैं। प्रकृति के अतिरिक्त उत्सवों का वर्णन भी उच्च कोटी का किया है।

परस्परं तत्क्षणवीक्षणार्थ-मिलद्वधूनां वदनेन्दुभासा।

शरीरिणा जैत्रशरेण यत्र स्मरेण रेमे रमणेषु कामम्॥

लीलावतीनां कलगीतनादं श्रुत्वान्तराऽऽस्वादविमुद्रिताक्षः।

नटेश्वरोऽभूत किमतस्तदानीं निःशङ्कमूपे मकरध्वजेन॥

चारों ओर आनन्द ही आनन्द है। नव वधुवें जिनके मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर हैं, उन्हें देखने के लिये तत्क्षण प्रयत्न कर रही हैं। चारों ओर सुन्दर गीत का नाद सुनाई पड़ रहा है।

उत्सवों की छटा निराली है। चारों ओर आनन्द है। ऐसे समय में ही चरितनायक रैवतक पर्वत पर यात्रा के लिये निकल पड़ते हैं। रैवतक पर्वत पर श्री नेमिनाथ जी का मन्दिर सुशोभित है। उसकी शोभा का वर्णन करते हुये मेघविजय जी लिखते हैं:—

अथ प्रभातप्रभया विभिन्न निशास्तमिस्रं प्रहतान्तिमिश्रम् ।
प्राप्याश्रित दुर्गमिवोच्चरत्नम् असौ गिरिं रैवतकं ददर्श ॥

शृङ्गैरभङ्गैः सुभग निशाङ्क-व्यालीनयंनिकुन (धर्मं) लतावलीनाम् ।
मा धर्मबाधास्त्विति सुरदमीन् पुन पुना रोद्धुमिवोच्चमद्रि ॥

शैल शिवाभूर्वि तीर्णकामो वितीर्णकामो भगवान् सदा यम ।
कृतालये कोमन्ताभिरामं लताभिरामन्वितषट्पदाभि ॥

श्री नेमिनाथं जिनमानिनंसुर् न मानिन सुरयशपि स शैलम् ।
समुच्चयौ सङ्कुलताभिरामं लताभिरामन्वितषट्पदाभि ॥

दूसरे दिन प्रात काल ही दुर्ग के समान इस रैवतक पर्वत को देखा । जिसके चारों ओर पड़ लतायें हैं जिनपर भंवरे गुंजार कर रहे हैं । ऐसे उस पर्वत पर श्री नेमिनाथ का मन्दिर सुशोभित होरहा था ।

अन्त में हम देखते हैं कि क्या रसप्रवणता, क्या आलंकारिक अप्रस्तुत विधान, क्या प्रकृतिवर्णन की सुन्दरता, क्या शैली की व्यञ्जनाप्रणाली तथा शब्दों की प्रसाद मयता सभी कलावादी दृष्टिकोण से मेघविजयजी की बराबरी कोई भी अन्य संस्कृत कवि नहीं कर पाता । संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में कालिदास के बाद दूसरा सशक्त व्यक्तित्व मेघविजयजी का है । कालिदास का काव्य शेक्सपीयर की भांति भाव प्रधान है, मेघविजयजी काव्य मिल्टन की भाँति अत्यधिक अलंकृत है । शैली के शब्दों में, जो मिल्टन के लिये प्रयुक्त किये हैं, मेघविजयजी को हम अलंकृतशब्दों का उद्भावक (Creator of ornate members) कह सकते हैं । मेघविजयजी का पद विन्यास और शैली संस्कृत कवियों में अपना सानी नहीं रखती । कालिदास की शैली सरल, स्वाभाविक और कोमल है तो मेघविजयजी की शैली धीर और गम्भीर है । मेघविजयजी की समासान्त पदावलि उनकी शैली को गम्भीरता और उदात्तता प्रदान करती है । छन्दों के प्रयोग में मेघविजयजी भारवी कालिदास से भी अधिक कलावादी हैं ।

देवानन्द महाकाव्य एक ऐतिहासिक काव्य है। किसी भी काव्य की ऐतिहासिकता प्रमाणित करने के लिये निम्नलिखित बातों में से कोई एक अवश्य होनी चाहिए।

१ किसी ऐतिहासिक महापुरुष, राजा, मंत्री एवं राजपुत्रों का चरित्र-चित्रण हो
२ किसी ऐतिहासिक युद्ध का वर्णन
३ किसी ऐतिहासिक मन्दिर का वर्णन
४ ऐतिहासिक गुरु अथवा आचार्य का वर्णन

यदि हम ऊपर लिखित कसौटी पर देवानन्द महाकाव्य को कसे तो यह खरा उतरेगा। इस काव्य के चरितनायक श्री विजयदेव सूरिजी एक ऐतिहासिक महापुरुष हैं जिन्होंने जहांगीर के दरबार में जाकर धर्म का उपदेश किया। आपको जहांगीर

ने स्वयं बुलाया था। दरबार के अतिरिक्त अनेक राज्यों में भ्रमण किया और राजाओं को धर्मोपदेश देकर हिंसा को रुकवाया। इस काव्य में चरित-काव्य की अपेक्षा यात्रा का वर्णन अधिक है। इतना सब कुछ होते हुये भी यह एक ऐतिहासिक कृति है और ऐतिहासिकता को कवि ने पद्य रूप में बहुत ही सुन्दर तरह से व्यक्त किया है।

अन्त में आदरणीय पं. बेचारदास जीवराज दोशी एवं श्री अगरचन्दजी नाहटा के प्रति अभार प्रकट करता हूँ। इनकी सामग्री का यथास्थान उपयोग किया है।

सम्राट अकबर का अहिंसा प्रेम

ले:—प्रतापमल सेठिया मंत्री—श्री. जिनदत्तसूरि सेवासंघ, बंबई

विक्रम संवत् १६४७ का समय था। एक दिन सम्राट् अकबर ने मन्त्री करमचन्द को कहा कि इस समय जैन में जो महान् विद्वान् प्रभावशाली साधु हो उनका मैं दर्शन करना चाहता हूँ, तुम उन्हें बुलाओ। करमचन्द की दृष्टी शीघ्र आचार्य महाराज श्री जिनचन्द्रसूरि जी की ओर गई। इनका जन्म सं. १५९५ में हुआ था और मात्र ९ वर्ष की अल्प आयु में ही आप ने वैराग्य प्राप्त कर दिक्षा ग्रहण करली थी। १७ वर्ष की आयु में तो संघ ने आपको आचार्यपद से विभूषित कर सर्व संघ के महान् उत्तरदायित्व का भार आप के सुपर्द कर दिया था। इस पद से ही आप इनकी विद्वत्ता का अनुमान कर सकते हैं।

इस समय आप पाटण में विराजते थे। मन्त्रीश्वर ने सम्राट् की इच्छा का कथन करते हुये आप को लाहौर पधारने का आग्रह किया। सूरिजी महाराज ने भी लाभ का कारण जानकर शीघ्र विहार कर १६४८ के फाल्गुण शुक्ल २ को ३१ साधुओं के साथ लाहौर में प्रवेश किया। सम्राट् आप से प्रतिदिन उपदेश सुनता था।

एक दिन किसी नवरंग खा नामक व्यक्ति ने द्वारका के जैन मन्दिरों को नष्ट कर दिया। यह खबर जब सूरिजी महाराज को हुई तो सूरिजी महाराज ने सम्राट् को मन्दिर और तीर्थ के महात्म्य को इस प्रकार समझाया कि शीघ्रही सम्राट्ने शाही सिक्के से एक फरमान प्रकाशित कर दिया। जिसमें लिखा था कि आज से समस्त जैन तीर्थ मन्त्रीश्वर के आधीन कर दिये गये हैं।

एक समय जब सम्राट् काश्मीर विजय करने को प्रस्थान कर रहा था सूरिजी ने जीवदया पर प्रभावशाली उपदेश दिया। उससे सम्राट् का हृदय दया से ओत-प्रोत हो गया और प्रति वर्ष आशाढ़ शुक्ल ८ से पूर्णीमा तक अपने १२ सूबों में समस्त जीवो को अभयदान देने का फरमान प्रकाशित करवाता था। इन फरमानों में से मुलतान के सूबा के नाम का फरमान खो जाने से दूसरा फरमान उस की पुनरावृत्तिमें सवत १६६० में लिखकर दिया जो आज भी लखनऊ में खरतर गच्छ के भन्डार में विद्यामान है। फरमान पारसी में है। उसकी नकल इस प्रकार है।

"सुबे मुलतान के बड़े-बड़े हाकिम जागिरदार करोडी और सब मुत्सद्दी कर्मचारी जानले कि हमारी यही मानसिक इच्छा है कि सारे मनुष्यो और जीवजन्तुओ को सुखमिले जिससे सब लोक अमन चेन में रहकर परमातमा कि आराधना में लगे रहे

इससे पहले शुभ चिन्तक तपस्वी जिनचन्द्रसूरि खरतर गच्छ हमारी सेवा मेरहना था। जब उसकी भगवद् भक्ति प्रकट हुइ तब हमने उसको अपनी बडी बाद-शाही की महेरबानीयों में मिला लिया उसने प्रार्थना की कि इससे पहले ही हीरविजय सूरि ने सेवा में उपस्थित होने का गौरव प्रापत किया है और हरसाल बारह दिन मांगे थे। जिनमें बादशाही मुल्को में कोई जीव मारा न जावे ओरकोइ आदमी किसी पक्षी मछली ओर उन जेसे जीवोको नस्ट न करे उसकी प्रार्थना स्वीकार हो गई थी अब मैं भी आशा करता हूँ कि एकस्प-ताहा का वेसाही हुवम इस शुभचिन्तक के लिये हो जाय इस लिये हमने अपनी आम दया से हुकम परमादिया कि आशाढ शुक्ल पक्ष कि नवमी से पूर्णमाशि तक शाल में कोई जीव मारा न जाय और न कोई आदमी किसी जीव को सतावे असल बात तो यह हे कि जब खुदा ने आदमी के वासते भांति भांति के पदार्थ उपजाये हे तब वह कभी किसी जानवर को दुःख न दे और अपने पेट को पशुओं कि क्बर न बनावे परन्तु कुछ हेतुओं से अगले बुद्धिमानों ने वेसी तजवीज की हे इनदिनों आचार्य जिन-सिंह सूरि उर्फ मानसिंह ने अर्ज कराइ के पहले जो उपर लिखे नुसार हुकम हुवा था। वह खो गया है इस लिये हमने उस परमान के अनुसार नया परमान इना-यत किया हैं। चाहिये कि जैसा लेख दिया गया है वैसाही इस आज्ञा का पालन किया जाय इस विषय में बहुत बडी कोसिस और ताकीद समज कर इसके नियमों में उलट पेर न होने दे ता. ३१ खुरदाद इलाही सन ४६"

उपरोक्त फरमान बतलाता है कि सम्राट् के हृदय में सुरिजी महाराज के उपदेश से कितना अहिंसा के प्रति प्रेम हो गया था। फरमान में जो शब्द पेटको क्बर बनाने बाबत हैं वे मांसाहारियों के लिये कितने शिक्षाप्रद व कितने उच्च विचारों को प्रगट करते हैं। इसके अतिरिक्त सुरिजी महाराज के शिष्यों के उपदेश से काश्मीर चढाई में रास्ते में जहां - जहां तलाव, नदी आई उसमें जलचर जीव न मारे जावें - ऐसे हुक्म करवाये गये हैं।

फरमान की असली नकल हमारे सामने नहीं है। ऐसा लगता है कि सेठिया जी के लेख में फरमान के शब्दों की नकल बराबर नहीं है —सम्पादक

पुनरुद्धारक श्रीमद् राजेन्द्रसूरि

लेखक—शाह इन्द्रमल भगवानजी थावरा (मारवाड़-राज०)

उन्नीसवीं सदी का आरंभिक काल भारतीय जन-जीवन का तम काल था। राष्ट्रीय एवं सामाजिक उत्थान के प्रमुख अंग-शिक्षा, संस्कृति, धार्मिक स्वातंत्र्य, अर्थव्यवस्था, निरापद आवागमन, जनसुरक्षा, न्याय आदि सभी क्षेत्रों में घोर ही अंधेर व्याप्त था। लोक-कल्याण का शाश्वत पंथ-धर्म भी इन तात्कालिक विकृतियों से बच न सका। शासक व विषयानुरक्त देवप्रतीक युग अन्य पंथ-धर्मों की बात तो दूर प्रशस्त राजमार्ग सा जिनधर्म भी कर्म-काण्ड व मंत्र-तंत्रों के भ्रामक आडंबर से अपने महत्तस्वरूप को खो बैठा। पीड़ित मानवता व दलित प्राणियों के आश्वासन का चिरंतन हिमायती जैन मार्ग अपना आदर्श भूल गया। वह सम्यक्त्व मणि-मुक्ताओं से विमुख हो कर कंकड़ ठीकरों की ओर बढ़ चला। धर्म-तरी अधर्म-तूफानों से डोलने लगी। देशव्यापी इन विकारों का जैनसमाज पर भी अत्यन्त घातक प्रभाव हुआ। समाज एवं धर्म के जाग्रत प्रहरी मुनिगण जिनका अद्यावधि इतिहास सर्वथा लोक कल्याण और आत्मचारित्र्य के विकास से देदिप्यमान रहा है वे अब तन्द्राग्रस्त और यह धूमिल प्राय हो चुका था।

यों तो चौथी शताब्दी के आरंभ में चैत्यवास के कारण मुनियों में शिथिलाचार बढ़ने लगा था जो कालांतर में इतना बढ़ गया था कि सुविहिताचारी मुनियों को उनसे संबंध विच्छेद करना पड़ा था। सुविहिताचारियों से विलग हो जाने के कारण अंततोगत्वा चैत्यवासियों में शिथिलाचार प्रबलतर रूप धारण कर गया। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उस समय शुद्धाचारी और सम्यक्त्वशील मुनियों का सर्वथा अभाव ही हो गया होगा। अथवा सारा जनसमुदाय उन्हीं का अनुयायी बन गया होगा। शुद्धाचरण का परिपालन करने वाले भी रहे होंगे। फिर भी वे विरल ही होंगे। जैसा पं. आशाधरजी ने कहा है —'खद्योतवद् सुपदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित्।'

मारवाड़ मालवा में चैत्यवास के कुफल के प्रमाण ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। श्री हरिभद्रसूरिजी के ग्रन्थ संबोधप्रकरण में चैत्यवास के उल्लेख पाये जाते हैं। श्री जिनवल्लभ सूरिजीकृत संघपट्टक की भूमिका में बताया है कि मारवाड़ में भी चैत्यवासियों का बहुत प्राबल्य था। उनके विरुद्ध सर्वाधिक प्रयत्न श्री जिनेश्वरसूरि के शिष्य जिनवल्लभ सूरि ने किया है। अपने संघपट्टक ग्रन्थ में श्री जिनवल्लभसूरि ने चैत्यवासियों के शिथिलाचार और उनकी सूत्रविरुद्ध प्रवृत्तियों का अच्छा निर्देशन किया है। श्री जिन दत्तसूरि और जिनपतिसूरिजी आदि अनेक युगपुरुषों ने शिथिलाचार को दूर करने के हेतु

समय-समय पर पुनरुद्धार किये; किन्तु कालान्तर में पुनः पुनः आचारशैथिल्य का प्रादुर्भाव होता गया।

श्री विजयक्षमासूरिजी के जीवनकाल में पुनः चैत्यवास उमड़ पड़ा। अत्यन्त आचार-शैथिल्य का वर्त्तन बढ़ने लगा। आचार्य श्रीपूज्य कहलाने लगे। समाज के नियंत्रण से स्वतंत्र होकर उल्टे वे समाज पर हावी हो गए। वे निःसंकोच पालखी में बैठ कर बड़े रसाले के साथ विचरते और अपनी लागें उगाहते। यतिगण जिन्होंने अब तक जैन शासन की बड़ी सेवाएँ की थीं और जिनका कट्टर आचार-पालन जन-विश्रुत था वे संयम और आचार को तिलांजलि देकर ज्योतिष, वैद्यक और तंत्र की दूकानें खोल बैठे। परिग्रहों की वृद्धि स्वाभाविक थी। वे जागीरें भी रखने लगे थे। जन-साधारण को मंत्र-जन्त्र के बल इस कदर आतंकित कर दिया था कि उनकी जिनाज्ञा प्रतिकूल प्रवृत्तियों की ओर अंगुली निर्देश करने का किसी में साहस ही न रहा था। अठारहवीं शताब्दी के अंत तक चैत्यवास ने उग्र रूप धारण कर लिया था। समाज का वातावरण दूषित हो चुका था।

समाज की पतनावस्था में उद्धारक अवश्य उत्पन्न होते हैं - ऐसा आप्त वचन है। भगवान् महावीर के पश्चात् जैन समाज में अनेक युगप्रभावक और पुनरुद्धारक युग युग में अवतीर्ण हुए। उन्होंने पतनोन्मुख समाज को सत्य का मार्ग दिखाया और उसमें मानवोचित गुणों का संचार किया। जिसके लिए भारत जैन समाज का ऋणी है।

उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी का समय समस्त भारत के हेतु आशीर्वाद स्वरूप हुआ। इस युग में अनेक पुनरुद्धारक उत्पन्न हुए और देश में अनेक सुधार हुए। रामकृष्ण परमहंस, राजाराम मोहनराय, स्वामी दयानन्द, श्रीमद् विजयानन्दसूरि, श्रीमद् राजेन्द्र सूरि आदि ख्यातनामा पुरुषों ने इसी समय में जन्म लिया। उन्हीं दिनों सती-प्रथा-निषेध कानून बना। देश में अंग्रेजी भाषा के पठन का आरंभ हुआ। उर्दू, फारसी भाषा के शिक्षण का प्रचार प्रचुर था, वह शनै-शनैः बंद होने लगा। अंग्रेजी भाषा और उसके साहित्य का पठन आरम्भ हो जाने से हमें लाभ अवश्य हुआ। इन्हीं दिनों हमारे साहित्य व इतिहास के उद्धार का श्रीगणेश हुआ।

जैन समाज के लिए श्री राजेन्द्र सूरिजी का अवतरण कई दृष्टिकोणों से बड़ा महत्त्वपूर्ण हुआ। आचार्य श्री प्रमोद सूरिजी ने आपको दीक्षित कराया और रत्नविजय नाम रखा। यति सागरचन्द्रजी अपने समय में अगाध पाण्डित्य के कारण बनारस तक विख्यात थे। उनके सान्निध्य में आपने शिक्षा ली तथा श्री देवेंद्रसूरिजी से आपने जैन शास्त्रों का अध्ययन किया। यतिधर्म का पालन आप कई वर्षों तक करते रहे। देवेन्द्रसूरिजी के स्वर्गवास के पश्चात् श्री धरणेन्द्र सूरि श्रीपूज्य हुए। धरणेन्द्रसूरि ने आपको 'दफ्तरी पद' देकर आपका बहुमान किया। राज्य-शासन में जो पद अमात्य का हुआ करता है वही पद दफ्तरी का

अपने यतिसमुदाय में हुआ करता था। श्रीपूज्य एवं उनके दफ्तरीजी की आज्ञा की अवगणना करने का दुस्साहस उन दिनों कौन कर सकता था ! श्री रत्नविजयजी की कार्य-कुशलता से धरणेन्द्रसूरि का अति प्रभाव बढ़ा था और उनकी हार्दिक इच्छा रहती थी कि रत्नविजयजी मेरे दफ्तरी का दायित्वपूर्ण पद बराबर सम्हाले रखे। धरणेन्द्रसूरि कई नृप एवं अमात्यों द्वारा मान्य थे। अत सेठ, साहूकार, राजकर्मचारी सभी इनके हुक्म को मानने में सम्मान समझते थे। स्वयं श्री पूज्यजी भी आपका यथोचित आदर करते थे।

श्री रत्नविजयजी दफ्तरी का कार्य तो करते थे; लेकिन उन्हें यह सब दम्भ चरण प्रतीत होता था। वे केवल साध्वाचार के सूत्र रटकर ही इति नहीं मानते थे। उन्होंने संस्कृत—प्राकृत के व्याकरण, कोश काव्य, कथा और आगम सूत्र, अंग उपांग आदि श्रुत वाङ्मय की प्रत्येक शाखा का उत्कृष्ट अध्ययन किया। उनमें ये भाव अंकुरित हुए कि क्या मिथ्याडम्बर केवल इसलिए ग्रहण किया जाय कि जिससे भद्रजनसमुदाय अंधेरे में रहे और हम राजभोग, ऐशो-आराम में पगे रहें, स्वयं त्याग मार्ग पर न चलें और जन-साधारण को त्यागमार्ग पर चलने का उपदेश दें यह ढ़कना नहीं तो क्या ? इसकी क्या सार्थकता ! जब श्रोताओं को घंटों तर्क वितर्क युक्त व्याख्यान सुनाने पर भी उपदेशक के भावों में परिवर्तन न हो, फिर ये चातुर्मास या स्थिरवास क्या होते हैं ? श्रावकों को खड़े पैर तैनात रहना पड़े कि कब श्री पूज्यजी का हुक्म हो और उसके परिपालन में विलंब होने पर कहीं सब को गुरु-क्रोध के अमंगल का भाजन तो नहीं होना पड़े ? "दयैरङ्ग गुरुआणा गुरौ रुष्टे न कश्चन" धर्मभीरू श्रावकों की इस विवशता पर उनका करुणार्द्र हृदय तड़प उठता था।

वे विचार करते कि व्याख्यान होते हैं, प्रभावनाएँ बँटती हैं, महा जयघोष होते हैं, धौंसे बजाये जाते हैं; पर सब व्यर्थ। कई बार वे अंतर्मुख हो कर हृदय टटोलते और उन्हें अपनी दिनचर्या और यति समाज के आचार-विचार पर बड़ा क्षोभ होता कि अनासक्त यति जीवन-रागसाओं में कितना लुब्ध हो गया है। उसके इस उन्माद का अन्त कहां होगा ? यह भी उन्हें समस्यामूलक प्रतीत होता। व्याख्यान के अंतर्गत अपरिग्रह और आत्मनिग्रह, चरित और संयम, त्याग और तप, कायक्लेप और कषायहीनता आदि विषयों पर विभिन्न पहलुओं से सुन्दर निरूपण करने वाले यतिओं की पतित जीवन-चर्या पर उन्हें मनस्ताप होता। वे उन गुरुओं में नहीं थे जो स्वयं बैंगन आरोग कर औरों को उपदेश दिया करें। उन्हें यह इतिहास अज्ञात नहीं था कि बौद्ध धर्म, जिसके विशाल साहित्य ने अधिकांश दुनिया को अभयक्ष भाव से प्रभावित किया था, धारिणी मन्त्रों और यन्त्रों का शिकार होकर जहां से उद्भूत हुआ था वहीं विलय भी हो गया !! जैन धर्म में अयती कषाय युक्त देव देवियों की उपासना ने अवांछनीय स्थान प्राप्त कर लिया था। उस घुन से अज्ञान एवं अंधश्रद्धा बढ़कर बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म के सर्वनाश का भी सृजन ही करेगी।

इस भांति इन दिनों में उनकी आत्मा को मानसिक विश्लेषणों ने झकझोर दिया। एक बड़े झंझावात ने युगों के धूमिल धूसरपन को जैसे धो डाला हो ऐसा उनके विचारों में उत्क्रांति का विद्युत कौंध उठा। पाखण्ड का पर्दाफाश करने के हेतु एवं धर्मद्रोह के प्रति विद्रोह करने को वे उद्यत हुए।

दशवैकालिक की आवृत्ति अब नए दृष्टिकोण से होने लगी। आचारांग सूत्र, आवश्यक सूत्र और चूर्णि—भाष्य आदि शास्त्रों का खूब मनन किया गया। साध्वाचार और श्रावकाचार पर प्रस्तुत भिन्न २ युगों के टिप्पण-संहिताओं का अनुशीलन किया गया। इनकी तलस्पर्शी गहराइयों में पैठ-पैठकर डुबकियां लगाई गईं। ज्यों-ज्यों वे इस दिशा में अधिक अन्वेषण करते गए, उन्हें श्रीपूज्यजी का सारा वैभव एक ढकोसला एवं बंधन प्रतीत होने लगा। उन्हें प्रतीति हो गई कि नवकार, पंचिन्दिय, वन्दित्ता और अतिचार सूत्रों के संदर्भों को भुलाया गया हैं। समकित और श्रद्धा की व्याख्याएँ ही बदल दी गई हैं। सांसारिक लालसाओं के वशवर्ती हो कर जिनदेव के बजाय अन्य देव-देवियां की आराधना-अर्चना को प्रधानता दी गई है। खेतला—मांमा, गोगा—भैरु की घर-घर स्थापना हुई है। पीर-औलिए और शीतला, भोपे तथा दसोंतरी और अगौरी तक पूजे जाने लगे हैं। देव—गुरु—धर्म की सुध ही न रहीं। शुद्ध दर्शन-भाव विलुप्त हुए। समकितवन्त आत्माओं को वंदन करके ही देवेंद्र तक सभा में सिंहासनारूढ हुआ करते हैं। 'सम्यक्त्व' की कितनी गरिमा? प्राप्त चिंतामणि से कौआ उड़ाने की कथा कौन नहीं जानता? बेचारा श्रावक समकितचिंतामणि को खो कर आज रीते हाथ बैठा था। मिथ्यात्त्व की भीत्ति पर धर्म की जो छिछालेदर हो रही थी उसने रत्न विजयजी की आत्मा को विकल कर दिया।

नीतिवचन है कि सांसारिक तृष्णाओं की इप्सा जितनी बलवती होगी उतनी ही फलप्राप्ति दूर भागती है। रोगी को सदैव अपथ्य ही रुचिकर प्रतीत होता ह। भयंकर पाण्डु से उत्पीडित रुग्ण को सबकुछ पिंगल ही पिंगल दृष्टिगोचर हुआ करता है। पर यह मर्म समझावे कौन? मृग-मरीचिका के वशीभूत होकर जैन मनिषी अज्ञात की अटवी में भटक रही थी। कुँए में भांग जो पड़ी थी। अविवेक का प्राबल्य पंडित और मूर्ख सभी को एक ताल पर नचा रहा था। गडरिया-प्रवाह था। मिथ्याचरण का सर्वत्र बोलबाला था। समाज के अज्ञान और एवं तज्जन्य - संभवित उसकी दुर्दशा पर आप अत्यन्त व्यथित थे। रात्रि की नीरव घड़ियों में इसी चिंतन को लेकर वे कई बार इतने खो जाते कि उन्हें नींद ही नहीं आती। समाज के अंधकारमय भविष्य से उन्हें बड़ी वेदना होती। अंधश्रद्धालु श्रावकों के अज्ञान और आचारभ्रष्ट यतिगणों के पाखण्ड ने उनके मस्तिष्क में प्रबल शूल उत्पन्न कर दिया था। निदान उनके स्मृतिपट पर 'संबोधप्रकरण' के गुर्वधिकार का वह प्रसंग उभर आया जिसमें आज से बराबर एक सहस्त्र वर्ष पूर्व भ्रष्ट—चरित्र चैत्यवासियों को लक्ष्य कर के सुप्रसिद्ध आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने अपनी आत्मवेदना व्यक्त की थी—

"थाला पयंति एव चेमो, तित्थंकराण पसो वि ।
धम्मणि ऽ जोधिड्डी अहो, सिरसूलक्कस्स पुक्करिमो" ॥ ७६ ॥

दशदश शताब्दियों के अनन्तर जैन समाज पुनः उन्हीं परिस्थितियों से गुजर रहा था । श्री रत्नविजयजी अपने सिर-शूल की पुकार किसके आगे करते ? समाजोत्थान के लिए सातत्य पर्यालोचन से उनकी सुप्त क्रान्ति जाग उठी । कृपतरीपन में अब उनका दम घुटने लगा । पथभ्रष्ट यतिगण और श्रावक समुदाय को पुनः शास्त्रोचित प्रशस्त मार्गपर आरूढ करने को वे लालायित हो उठे । अबतक आत्मवञ्चना का मार्ग उन्होंने जो अपना रखा था उसका उन्हें बहुत परिताप हुआ । इसके प्रायश्चित का उन्होंने सङ्कल्प किया । अशास्त्रोचित दफ्तरीपद के वैभव-विलास को तिलांजलि देकर पुनरुद्धार हेतु वे कटिबद्ध हो उठे । उन्होंने प्रण किया कि बढती हुई मिथ्यात्व की प्ररूपणा का खण्डन करना चाहिए । जिस के लिए जैसा श्री अभयदेव सूरिजीने साहमीवच्छल कुलक में फरमाया है :—

कसउया परो मा वा, विसं वा परियट्टउ ।
भासियव्वा हियाभासा, सपक्ख गुण कारिया ॥

लोक प्रसन्न हों या अप्रसन्न, भाषण ऐसा किया जाय जो आत्महितकर हो । पर्यूषण की उस पवित्र रात में उन्होंने पुनरुद्धार के परिष्कार की रूपरेखा को निश्चित किया । उन्हें एक नई, किंतु सही दिशा के दर्शन हुए । लंबी अनिद्रा से अल्साए आखों में एक दिव्य प्रकाश की झलक चमक उठी । सहसा उपाश्रय के पडोस में मन्दिर के घंट बजने का घोष हुआ । श्री रत्नविजयजीने खिडकी का पर्दा उठा कर देखा तो पूर्व दिशा में पौ फट रही थी और अंधकार का काला पट चीरकर प्रकाश प्राची को ज्योतिर्मय बना रहा था ।

घाणेराव (गोडवाड-मारवाड) के वर्षावास की यह बात है । पर्यूषण के दिन थे । सदैव की अपेक्षा पर्यूषणों में तपस्या की बडी धूम रहती है । साल भर में कभी भी 'पच्चक्खाण' न करने वालों में भी मन-कुमन से इन दिनों में प्रत्याख्यान करने की भावना जाग्रत हो उठती है । प्रच्छन्न वैभव-भोग और बन्धजन्य नाना प्रवृत्तियों में लिप्त रहने वाले लोग भी पर्यूषण अन्तर्गत कुछ न कुछ तप अवश्य करते पाए जाते हैं । श्री पूज्यजी का चातुर्मास ! तपस्या-सर छलाछल छलक रहा था । लोग ज्ञान-ध्यान, पूजा-व्रत में उल्लास से व्यस्त थे । व्याख्यानों की धूम थी । कल्प-सूत्र श्रवन का सुयोग भला कौन चूकता । भगवान् महावीर के दीक्षा-कल्याणक का व्याख्यान श्रीपूज्यजी के जय-घोष के साथ पूर्ण हुआ । व्याख्यान-रस से संतृप्त लोकसमूह स्वस्त होकर गुरु-चरण स्पर्श करने के लिये उमडा । परन्तु सहसा श्रीरत्नविजयजी व्याख्यान-पीठिका से उतर कर श्रीपूज्यजी के निकट चल पडे ।

श्री पूज्यजी का बैठक-कक्ष विविध रंग के चन्दुवें और पर्दे-तोरण तथा वन्दनवारों से सुसज्जित था । श्रावकों के घरों में से उत्कृष्ट शोभा-सामग्री उस

आयतन को सजाने के हेतु लाई गई थी। स्वच्छ मसनद पर नक्काशीदार बढिया गलीचा बिछा था। मसनद के निकट ही एक ओघा व मुहपत्ती कुछ-इस भांति रख छोड़े थे जैसे कोई शोभा की वस्तु हों। एक ओर ऊँची टेवल पर रजत-स्वर्णिम डंडिकाओं की झूमरदार स्थापनिका पर सलमे-सितारे के काम-युक्त पोषाक (रुमाल) के तले थी स्थापनाचार्यजी धरे थे। गहरे नीले रंग के किमती किनखाव के पृष्ठिका-पट पर रजत-तंतुओं से बनी मंगल—कलशाकृति चमचमा रही थी। उस कलशाकृति के गर्भ-गोलक में श्री नवपदमंडल का आलेखन किया गया था। जिसमें ॐ ह्रीं नमो अरिहंताणं, सिद्धाणं, आयरियाणं, उवज्झायाणं, सव्वसाहूणं और ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप मंत्राक्षरों के साथ भावाकृतियां भी अंकित की गई थीं।

इस कमरे में प्रविष्ट होते ही आगन्तुक की दृष्टि प्रथम उस पीठिका-पट्ट पर पड़ती और उसमें आलेखित मंगलकलश के दोनों विशाल चक्षुओं से चार आँख हो जाती! खचाखच वैभव की इस चकाचौंध में ढाकाई मलमल की उत्तम झीनी चद्दर पर मूल्यवान काश्मिरी दुशाला धारण किए श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरि एक साधारण ऊँचे सुखासन पर किंचित तिरछे लेटे थे। मुद्रिका-कंकण-वेष्ठित दाहिने हाथ में एक छोटी-खुली शीशी थी जिसे वे सूंघने का उपक्रम कर रहे थे। भलीभांति कंघी किए श्री पूज्यजी के मोहक-अर्धश्वेत केश की महक में शीशी के इत्र की सुगंध घुली जा रही थी। श्री रत्नविजयजी के प्रविष्ट होते ही श्रीपूज्यजी के निकट बैठे यतिगण और श्रावक उठ खडे हुए। श्रीपूज्यजी ने रत्नविजयजी की ओर शीशी बढाते हुए कुछ लोलुप-भाव से फरमाया, "लो यह श्रावकजी नामी इत्र भेंट करते हैं।" राज्यऋद्धि और उसके सुखोपभोग को तृणवत् त्याग कर भगवान् महावीर ने प्रव्रज्या ली—इस विषय पर अभी व्याख्यान हुआ था। रत्नविजयजी ने सोचा कि जैन मार्ग की अहिंसापरंपरा यथावत् प्रचलित रहने पर भी त्याग-परंपरा का इतना विनिपात क्यों? अपरिग्रहव्रत की इस उपहासजनक परिस्थिति से उन्हें बड़ा परिताप हुआ। उन्हें प्रतीत हुआ कि यह सब हमारे ही प्रमाद का परिणाम तो है? अन्यमनस्क भाव से उन्हों ने श्रीपूज्यजी को उत्तर दिया, "यह भेंट आपको ही मुबारक हो। आप यह क्यों भूल रहे हैं, 'विभूसा वत्तिअंभिक्खू, कम्मं बन्धइ चिक्कणं।'

"सुगंध—दुर्गन्ध हमारे लिए क्या? गधे के मूत्र से अधिक मैं इस इत्र को नहीं लेखता।" भक्तमण्डली के समक्ष अपनी बात का व्यंगयुक्त ऐसा कटाव श्रीपूज्यजी ने कभी नहीं सुना था। श्री पूज्य धरणेन्द्रसूरि के आत्मसम्मान को इससे बड़ी ठेस लगी। वे ओठ काट कर रह गये। गुरुता के स्थान ने उनके क्रोध के पारे को चढ़ा दिया। अधिकारपूर्ण भाव से उन्होंने रत्नविजयजी को कड़े शब्द सुनाए, "हमारे गुरु श्री देवेन्द्रसूरिजी के शब्दों का मान रखते हुए आपको दफ्तरीपद सौंपा गया है। और सदैव मेरे समान ही मैंने आपको माना है। व्यवहार में वन्दना—सुखशाता—पृच्छा

१. दसवैकालिक सूत्र अध्याय ६ गा. ६७,

की अपेक्षा मैंने तुमसे कभी नहीं रखी और एक विशिष्ट शिष्यमानोचित सुख-सुविधाओं का मैं तुम्हारे लिए सदैव सावधानीपूर्वक ध्यान रखता रहा। क्या उसका यही परिणाम है मुझे तुमसे ऐसी आशा नहीं थी।"

रत्नविजयजी का मन मौजूदा आचार व यति-धर्म की शिथिलताओं से परिक्षुब्ध तो था ही वे अब अधिक वक्तव्य सुनने को तैयार न थे। उनकी आत्मा तड़प उठी। जीभ कुछ प्रत्युत्तर देना चाहती थी, किन्तु ओठोंने उसे ऐसा करने नहीं दिया। श्रीपूज्य धरणेन्द्र सूरि बोलते गए, "मैं हूं जो निभाए जा रहा हूं। अन्यथा इस पद के लिए अनेक सुयोग्य शिष्य हर घड़ी हाथ बांधे चरणों में खड़े रहते हैं।" व्यंग्योक्तिपूर्ण कटाक्ष करते हुए वे और आगे बोलते गए, "श्रीपूज्यपद के स्वप्न तो दूर, अगर कहीं अन्यत्र दफ्तरीपद पर भी माल भर निभजाओ तो पता चले।" शिथिलाचारी यति-समाज के सुधार के लिए चिंतित रत्न विजयजी इस अप्रत्याशित आह्वान के लिए प्रस्तुत न थे। सुधार-संकल्प स्थगित रहा। अनिच्छा रहते हुए भी उन्होंने निश्चय किया कि मुझे श्रीपूज्य भी अवश्य बनना चाहिए और तब धनमुनिजी व प्रमोदरुचिजी नामक दो मुनियों को साथ लेकर वे तत्क्षण वहां से चल दिए।

घाणेराव से आहोर जाकर श्रीप्रमोदसूरिजी से सब बात निवेदित की। आचार्य देव ने आपको सब प्रकार से योग्य समझ कर आचार्यपद प्रदान किया। आहोर के ठाकूर ने भक्तिपूर्वक वन्दन सह छड़ी, चामर, पालखी आदि सब श्रीपूज्य योग्य उपकरण भेंट देकर अपने को धन्य माना।

आचार्यपदारूढ होने के पश्चात् आप मरु, मेवाड़ में विचरण कर मालव में पधारे। दिन-महिने, चातुर्मास-संवत्सर व्यतीत होते गए। परन्तु रत्नविजयजी के अलग हो जाने से धरणेन्द्रसूरिजी के समुदाय में जो सुव्यवस्था थी वह न रही। धरणेन्द्र सूरि जो अब तक रत्नविजयजी पर सारा उत्तरदायित्व छोड़कर कार्यभार से निश्चिन्त रहा करते थे अब सारा कार्य उन्हें स्वयं सम्हालना पड़ा। परात्र भरोसे कार्यभार छोड़ने वालों पर जब आ पड़ती है तब ऐसा ही हुआ करता है। उन्हें अपने आप पर क्षोभ हुआ। रत्नविजयजी का अभाव अब उन्हें खटकने लगा। धरणेन्द्र सूरिजी ने पश्चात्तापपूर्वक पत्र भेजकर रत्नविजयजी को जो अब श्री राजेन्द्र सूरि बन गए थे, अपने पास बुला भेजा। श्री राजेन्द्र सूरिजी को कहां अलग अखाड़े बनाने थे। उन्हें परम्परा का मनोमालिन्य भी पसन्द न था। वे इसी घड़ी की प्रतीक्षा में थे। दफ्तरीपद भी जब उन्हें भाररूप हो रहा था तो भला श्री पूज्य-पद में उनकी आत्मा कैसे सुख अनुभव करती? अंगूठी उतार कर बेड़ी पहनना कौन पसन्द करे? सिर्फ चुनौति-पूर्ति हेतु ही उन्हें यह रूपक रचना पड़ा था। उत्तर में श्री धरणेन्द्रसूरिजी को सविनय क्षमा-याचना करते हुए प्रचलित शिथिलाचार के निरसन हेतु उन्होंने नौ प्रतिबन्ध (शर्तें) लिख भेजीं और निर्दिष्ट किया कि परिग्रहमूलकजीवन मुनि के लिए कलंक है। बाह्य एवं आभ्यतर परिग्रह

का त्याग करने पर ही द्रव्य भाव उत्पन्न होता[1] है। तभी अणगार-अवस्था प्राप्त हो सकती है। फिर हम तो आचार्य हैं ! श्रीपूज्य हैं !! युग की मांग है कि हममें से शिथिलाचार दूर हो और हम अपने प्रकृत संविग्न-मार्ग की पुनः प्रतिष्ठा करें, ताकि उसका अनुसरण करते हुए सभी लोक-कल्याण और स्वात्म-कल्याण के मार्ग पर सहज अग्रसर हो सकें। शिष्यों से इन शर्तों का पालन दृढ़ता पूर्वक करवाना व स्वयं करना अनिवार्य है। बिना इन शर्तों के स्वीकृत किए आपसे मिलकर मैं क्या करूँगा ?

ये नव कलमें शिथिलाचारी यतिसमाज को संविग्न-साधु मार्ग में सुस्थिर करने का घोषणा[2]-पत्र थीं। इनको मान्य कर के इस विषम युग में भी अनेक मुनिगण कल्याण-पथ पर अग्रसर हो चले। तत्कालीन मुनिधर्म के आचार-शैथिल्य का से भली भांति पता चल सकता है। वैसेतो सुख-समृद्धि में राचने वाले श्री पूज्य धरणेन्द्र सूरि को ये नव कलमें स्वीकृत करने में प्रथम झिझक हुई; परंतु जावरा में श्रीपूज्यपन के सारे परिग्रहों का त्याग कर श्री राजेन्द्रसूरि क्रियोद्धार करलेनेवाले हैं ऐसा सुन कर श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरि को भी ये नव कलमें स्वीकृत करनी पड़ीं। बाद में श्री राजेन्द्रसूरिजी ने स्वयमेव शास्त्रानुसार क्रियोद्धार किया।

श्री राजेन्द्रसूरिजी एक परम गीतार्थ मुनि थे। अपने चारित्र्य को सबल बनाने में उन्होंने कोई कसर नहीं रखी। वे कहा करते थे कि जबतक अपने दोषों और शिथिलताओं पर हम काबू नहीं करते, हमारी वाणी-व्याख्यानों का श्रोताओं पर प्रभाव होगा-यह आशा करना ही व्यर्थ है। युग के शोचनीय प्रवाह में उन्हें जैन-शासन और मुनि के संवेग कीही चिंता सतत रहा करती थी। उन्हें किसी गच्छ या साधु से कोई विद्वेष थोड़ेही था? मात्र लगन थी मुनिधर्म के पुनरुध्दार की। युगों की कालिखको साफ कर जैनत्त्व को उज्वल बनाने की महत्त्वाकांक्षा ने उन्हें प्रथम आत्मोद्धार करने को प्रेरित किया। अंतर्मुख होकर उन्होंने अपनी एक-एक खामी का शोधन-परिशोधन किया और ऐसा त्यागमय जीवन बिताया कि लोग दिग्मूढ हो गए। विरोधी जो भर्तस्ना करते अघाते न थे उनके भी सिर झुकने लगे। वे आदर्श साधु का एक जीवन्त नमूना बन गए। ठीक ही है - चारित्र्य तभी वन्दनीय है जब वह ज्ञान - दर्शन से युक्त हो। *

आत्मा की अनंत शक्ति के प्रति उनमें बड़ा विश्वास था। आत्मा का शुद्ध सम्यक्त्व भावों द्वारा विकास कर कर्म-बन्धनों से किनारा किया जा सकता है।

१ दशवैकालिक सूत्र – छः जीवनिका अध्ययन

२ इन नव समाचारियों पर विशेष वर्णन के लिये श्री राजेन्द्रसूरि स्मारकग्रन्थ के जीवन खंड के "दिशापरिवर्तन" लेख को देखो —सम्पादक

* दर्शन पाहुड की प्रथम गाथा—दंसण मूलो धम्मो, उवइट्ठो जिणवरेहि सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसण हिणो ण वंदिव्वो ॥

जनसाधारण को अंध श्रद्धा के फंद से उबारने के लिए उन्होंने इस विषय पर खूब बल दिया। आत्मा का कर्मों से छुटकारा पाने और जागतिक-इच्छाओं की सतृप्ति के व्यवधान में किन्हीं देवी-देवताओं का दखल वे निस्सार कहां करते थे। मामा-खेतला, माई-माता, भोपा-भरडा आदि के अवांछनीय अर्चन का उन्होंने आजीवन प्रतिरोध किया। प्रतिक्रमण दरम्यान 'चार लाख देवता, चार लाख नारकी आदि उच्चारण कर भूल से किसी देव या नारकी के जीव की हत्या हुई होतो उसके निमित्त क्षमा चाहने वाले मानव को भला देवों से भयभीत होने की क्या जरूरत ? प्रतिक्रमण जैसे आत्मकल्याणार्थ विधानों में उन देवों से पुनः पुनः श्रेयस की प्रार्थना क्यों ? व्यक्ति की गरिमा और मानव की महत्ता पर देवों को हावी करने का क्या प्रयोजन ? कर्मों के झमेले में हम उलझे पड़े हैं तो देवोंने कर्मों से कहा किनारा किया है ? हम मानव कम से कम सम्यक्त्व-आराधन द्वारा जीवन-मुक्ति के मार्ग का अवलंबन तो ले सकते हैं। देवगण स्वर्ग से सीधे भव-मुक्त नहीं हो सकते। मर्त्यलोक में अवतरित हुए बिना उन्हें मोक्ष सम्भव नहीं। अतः आगम ग्रन्थों का निर्देश है कि जीवन सिद्धि प्राप्त करने के हेतु हमें देवी-देवताओं का मोहताज बनने की तनिक भी आवश्यकता नहीं। श्रमण भगवान् महावीर आदि तीर्थंकरगण, अनेक बहुश्रुत मुनिजन, युग प्रधान आचार्य एवं श्री सुदर्शन, श्रीपाल आदि श्रावकों की सेवा में अमरावती से देवराज को मर्त्यलोक में पधारना पड़ा - मात्र अकिंचन सेवक बन कर। बलिहारी है ऐसे तपाराधन की।

अज्ञान में डूबी भद्रजनता को देव-देवियों के नाम पर लुटती देखना उन्हें अनुचित लगा। उन्होंने डंके की चोट जाहिर किया, "धर्मक्रियाएँ करते हुये कषाय युक्त देवदेवियों की आराधना अनावश्यक है।" आत्मबल के प्रति मानव को विश्वस्त बनाने हेतु उस चिरंतन विचार को उन्होंने पुनः दोहराया कि प्रत्येक जीव अपनी सृष्टि का आप ही कर्त्ता है। तद्नुसार तात्विक दृष्टि से प्रत्येक जीव में ईश्वर भाव है जो कर्म-मल से रहित हो जाने की दशा में प्रकट होता है। वे कहा करते, सद्ज्ञान आत्मोत्कर्ष के हेतु जितना वरदान है उतनाही अज्ञान अभिशाप है !! अज्ञान जीवनगत वैषम्यों का मूल कारण है जिस को दूर करने से ही आत्मा की सम्यक् प्रतीति होती है। यह कार्य चारित्र्य का है जो संवर कहलाता है। मानव सद्बोध प्राप्त कर संवरभाव में सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र-तप का परमाराधन करते हुए ही अपनी जन्मांतरों की सञ्चित कर्मराशि को सहज भस्मीभूत कर लेता है। क्यों कि प्रयत्नपूर्वक शुद्धि को प्राप्त आत्मतत्त्व में राग-द्वेष प्रविष्ट होने में सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार मानव की स्वात्मात्मक जीत उसे जितेन्द्रीय बना देती है। तब मनुष्य स्वयको जीत कर यह दुनियां ही नहीं, संपूर्ण दृश्य, अदृश्य जगत को जयकर लेता हैं या वह स्वयं अपना न रहकर समस्त जगत का हो जाता है। आत्मनिधि जो कर्मों के आवरण में छिपी है वह शाश्वत विद्यमान है। उसे चर्मचक्षुओं द्वारा देखा नहीं जा सकता। लेकिन यह प्रयत्न - साध्य होने के कारण हर एक योग्य साधक पुरुषार्थ करके यदि उन आवरणों को हटा सके तो जीवन-सत्व निखर आता है। और उसे परमतत्त्व प्राप्त

होता है। फिर किन्हीं निधियों के लिए कहीं भटकने की उसे जरूरत नहीं रहती। प्रस्फुटित आत्म-तेज की चकाचौंध से चकित होकर तब ठेठ स्वर्ग लोक से देवराज भी उस परम मानव की शरण] आते हैं। ऐसा मूल्यवान है मानव-भव और उसकी जीवन-सिद्धि।" गुरुदेव ने खूब जोर देकर इस बात को लोकमानस में उतारने का प्रयास किया कि कोई जरूरत नहीं कि पार्थिव सुख-संपदा जो वास्तव में मिथ्या है और बिना योग उसकी प्राप्ति संभव नहीं: उसके लिए किसी के संमुख हाथ पसारते फिरो। किसी देवदेवी की मनौती मानो !! अपने स्वत्त्व का मूल्य समझो। मात्र लालसाओं की इप्सा करने से परिणाम दूर भागते हैं। आकांक्षाओं की मृगमरीचिका में छलने से स्वयंको बचाओ और कार्यरत रहो तो सफलता चरण चूमेगी। कहा भी है 'पर की आशा सदा निराशा।" तप-साधनारत भगवान् महावीरने इन्द्रदेव के सेवा में रहने के पुनः पुनः आग्रह को भी अस्वीकार किया था। महात्मा बुद्ध को भी जगत की वक्र गति से त्राण पाने के लिए देवों से सहायता लेना निस्सार प्रतीत हुआ था।

—कैसे परित्राण हम पावें, किन देवों को रोवें गावें ?
पहले अपना कुशल मनावें, वे सारे सुर-शक्र ॥
— घूम रहा है कैसा चक्र !

भगवान महावीर के छन्द में पन्यास विवेक विजयजी ने गाया है.........

जेह देवलां आपणी आशा राखे,
तेह पिंडने मन्नसुं लेय चाखे।
दीन हीन नी भीड ते केम भाँजे ? ....

त्रिस्तुतिक (तीन थुई) की मान्यता भी कुछ इसी आशय पर आश्रित है।

स्वमत व्यामोही या दृष्टिरागी भले कहें कि अनेक पंथों द्वारा विभक्त जैन सम्प्रदाय में त्रिस्तुतिक वाद को जन्म देकर श्री राजेन्द्र सूरिजी ने एक और नवीन मत की वृद्धि की है। पर वस्तुतः यह बात नहीं। किसी तत्त्वचिंतक के लोक-हितकारी यथार्थ विचारों की अवगणना या उपेक्षा न हो। प्रत्युत उनके ज्ञान-विचारों का संतुलन स्वीकार हो इसी में समाज-कल्याण का बीज निहित है। जो लोग चतुर्थ स्तुति एवं असमकिती देवों के आराधन में परम्परा से प्रभावित थे वे आरम्भ में त्रिस्तुतिक व्यवस्था से अधिक आकृष्ट न हो पाए; क्यों कि गतानुगतिकता के प्रवाह में न बह कर युक्ति और प्रमाणों से असिद्ध चतुर्थ स्तुति को मानने से इंकार कर देना कोई साधरण बात नहीं थी। फिर भी गुरुदेव की प्रतिपादन प्रणाली और उनके इस ओर अनवरत अध्ययनमूलक प्रयासों से उनके जीवन काल में ही लगभग डेढ़-दो लाख लोगों ने इस परम्परा का शरण लेकर सत्पथ का अनुसरण किया। कदाचित ही कोई विचारशील व्यक्ति इसकी सुदृढ एवं अस्खलित परम्परा तथा सम्यक्त्व हित इसकी सर्वोपरि उपादेयता से दो मत होगा!

कहावत है 'जैसे गुरु वैसे चेले।' इनका पदानुसरण कर अनेक शिष्य त्याग तप द्वारा सिद्धि-सोपान पर बढ चले। तीन थुई के त्याग-प्रधान और समकित व्रत समुदाय होने का प्रतिपक्षियों ने भी लोहा माना। इधर इन्होंने अप्रतिबद्ध विहार, शुद्ध वैराग्य और अपरिग्रह का वह आदर्श प्रस्तुत किया कि शिथिलाचारियों के पैर उखडने लगे। समाज की आँखें खुलीं। प्रकाश में उसने पहिचाना कि असलियत क्या है? झुकनेवालों की कमी नहीं, जगत को झुकाने वाला चाहिए। श्री राजेंद्रसूरिजीने उग्र विहार आरंभ किए। एक चातुर्मास मारवाडमें तो दूसरा मालवामें, तीसरा गुजरातमें तो चौथा मेवाडमें। इसप्रकार उन्होंने मालवा मेवाड, गुजरात सौराष्ट्र, गोडवाड, सिरोही आदि प्रदेशों को अपने अनवरत विहार से नाप लिया। इस दरम्यान अनेक गावोंके पारस्परिक वैमनस्य, तडबन्दियां और सामाजिक बुराइयां का निरसन कर कई जगह अव्यवस्थित जिन मंदिरों और देव द्रव्य की सुव्यवस्था करवाई। उपाश्रय एवं जिन मंदिरों को यतियों के अनुचित प्रभावसे मुक्त करवाया। सुव्यवस्था के अभाव में राज्यने जिन मंदिरोंका कब्जा लेकर उन्हें कचरागार कर रखा था उन्हें पुनः संघ के सुपुर्द करवा कर उनके उद्धार करवाए। समाज जो यतिवर्ग के आतंक से भयग्रस्त था उसके मुक्तश्वास लेनेके मार्ग को प्रशस्त किया। बहुतेरे यति यातो साधुसंस्थाओं में सम्मिलित हो गए या फिर सिर्फ वे ही बच सके जिन्होंने अपना सुधार संस्कार कर लिया। सर्वत्र एक क्रांति की झलक उमड पडी। शिथिलाचारी यतियोंके जमाने में जो अनेक विघातक तत्त्व प्रेमी आदि पथ पनप उठे थे उनके शुद्धिकरण हुए। जालोर, भीनमाल, निम्बाहेडा, रतलाम आदि ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जहां श्री राजेंद्र सूरिजी के पदार्पण से अनेक घर पुनः मंदिरमार्गी बने। जालोर सुवर्णगिरिके किले में स्थित प्राचीन जिन मंदिरों के आपने उद्धार करवाए। कोरटक, मांडवगढ़ आदि तीर्थक्षेत्रों की भी सुव्यवस्था करवाई। जगह जगह ग्राम, शहर के मंदिरों की दशा सुधरी।

मारवाड-मालवा के गावों में जैन मार्गी विशेष बसे थे और उन्हें नित दर्शन पूजन का योग न था। ऐसे मंदिर-उपाश्रय विहीन गावों में धार्मिक क्रियाएं सामुदायिक रूप से कैसे हो पाती? फलतः छोटे छोटे गावों की जनता प्रतिमा पूजन के महत्त्व को भूली जा रही थी। लोग मंदिरमार्ग से विमुख हो रहे थे। अज्ञान गर्तमें धंसते जनप्रवाह को रोकने के हेतु गुरुदेवने गांवगांव में विहार कर के उपदेश-वर्षा एवं धर्मव्याख्यानोंसे लोगों को खूब समझाया। जिन गावों में जिन प्रतिमाओं की अपेक्षा महसूस की गई उनकी व्यवस्थाहेतु आपने संवत् १९५५ वर्ष में आहोर मारवाड में एक महान् प्रतिष्ठा महोत्सव आयोजित करवाया। उसमें नौसौ एकावन जिन बिम्बों की अंजना की गई थी। ये प्रतिमाएं स्थानकप्रभावित क्षेत्रों के जिनालयों में स्थापित की गई जिससे सहस्रों श्रावक, परिवार मन्दिर-विरोधी होनेसे बचे। उक्त प्रतिष्ठा महोत्सव के सम्बन्ध में कहा

जाता है कि विगत दो तीन शताब्दियों में ऐसा वृहद् प्रतिष्ठामहोत्सव हुवा सुना नहीं गया। इतर क्षेत्रों में भी गुरुदेवके कर-कमलों से अनेकों प्रतिष्ठा-अंजन-शलाकाएं हुई और वे निर्विघ्न हुई। मरुधरोद्धारक या मारवाड़-सुधारकके विरुदसे भले आज किसी को नवाजा जा रहा हो; पर यदि वस्तुतः मारवाड़ में गत अंधकार युगसे जैन शासन को प्रकाश की ओर अग्रसर करनेका किसीने सर्वप्रथम प्रयत्न किया है तो उसका सारा श्रेय श्री राजेंद्रसूरिजी महाराज को है आपने ढकोसलों और अन्ध विश्वासों के विरुद्ध ऐसी आवाज उठाई कि सुप्त आत्माओं को उससे बड़ा बल मिला। नवसृजनका पुनः एक नया अध्याय खुला और अज्ञान से दबी आत्माओंको जिनके दम युगोंसे घुटते जा रहे थे तत्त्व-चिंतन सुरभित प्राणवायु मिला। आपके अथक परिश्रमसे अनेक लोगोंने शुद्ध समकित भावसे त्रिस्तुतिक परम्परा का शरण लिया। सुधार-आन्दोलन में आपको यति श्री बालचन्दजी, ढूंढक नंदरामजी उपाध्याय, संवेगी झवेर सागरजी, श्री विजयानन्द सूरिजी आदि कई समकालीन व्यक्तियों से चर्चायें करनी पड़ी थीं।

गुरुदेव का स्वभाव अत्यन्त सरल था। शास्त्रश्रवण-पठन और शंका-समाधान के लिए जिज्ञासु इन्हें अहर्निश घेरे रहते थे। इनके मधुर स्वभावसे आकर्षित हो छोटे-बड़े, साक्षर-अनपढ इनसे धर्म-श्रवण करने निर्भय आया करते थे। व्याख्यान देने की इनकी शैली अत्यन्त सादी और सुग्राह्य थी। कठिन और क्लिष्ट विषयों को भी वे सुगमतापूर्वक श्रोताओं को समझा दिया करते थे।— अप्रमत्त भाव से, विना उद्विग्न हुए वे हर जिज्ञासु की शंकाओं का समाधान अवश्य कर दिया करते थे और ऐसी धर्म चर्चाओं के करने में कभी-कभी वे रातमें घंटों जागते रहते थे।

गुरुदेव जैनदर्शन के प्रतिभाशाली प्रगल्भ प्रवक्ता थे। जैन आचार-विचार के आप एक जागरुक एवं दक्ष पुरस्कर्ता हुए। स्याद्वाद की नींव पर अधिष्ठित जैन आचार अंधविश्वास की लीक में उलझकर कहीं संकीर्ण न बन जाय या कर्मकांड में ही परिसीमित न हो जाय इस विषय में एक सचेत प्रहरी की भांति वे निरंतर सावधानी पूर्वक प्रयत्नशील रहे। एक वार जावरा में वहां के तत्कालीन नवाब मुहम्मद इस्माइल और वजीर आदि इनके व्याख्यान में पधारे। समभाव पर व्याख्यान हो रहा था। गुरुदेव की वक्तृत्वशैली की श्रेष्ठतम विशेषताओं से वे अत्यन्त मुग्ध हुए। उन्होंने गुरुदेव से साश्चर्य निवेदन किया, "जब आप समभाव को इस कदर मानते हैं तो फिर हमारे यहां से आप आहार ले सकते हैं?" गुरुदेव नवाब की चतुरता को जान गए। उन्होंने बतलाया, "मनुष्य तो क्या? जीवमात्र में आत्मभाव समान रूप से व्याप्त है। इस दृष्टि से सभी जीवधारी समान हैं। आहार-व्यवहार मात्र लौकाचार है। ये लौकिक क्रियाएँ हैं। आहार की अपेक्षा विचार से आत्म-भाव का अधिक संबन्ध है। यदि अंत्यज शुद्धक्रिया - कलाप में रहे तो वह उस सवर्ण से श्रेष्ठ है जो आचारविचार से पतित है। उस अंत्यज के घर का

आहार निषिद्ध नहीं माना जा सकता। आचार्य श्री सोमदेवसूरि ने अपने यशस्तिलक में लिखा है—ये सभी लौकिक क्रियाएँ जैनों के लिए मान्य हैं जिनमें सम्यक्त्व की हानि नहीं होती हो और व्रतों में कोई दोष नहीं लगता हो। * "व्याख्यान पूर्ण होते ही जब श्रोतागण चले गए तब वार्तालाप में वजीर ने अर्ज किया कि—'गरीबपरवर! अच्छे वस्त्राभूषण पहिनी सुन्दरियों के समक्ष विराजने और उनके सम्पर्क में आने पर क्या आपके मन में विकार नहीं होता?" गुरुदेव ने उत्तर दिया 'वजीर साहब! चंचल मन का दमन इसमें अनिवार्य है। फिर भी सूअर के मांस से बनी स्वादिष्ट रसोई किसी सच्चे मुसलमान के सामने लाने पर जिस प्रकार उसका रस—लोलुप मन भी उसे स्वीकृत करने में पुरस्सर नहीं हो सकता, ठीक यही स्थिति सुन्दरी के प्रति साधु की हुआ करती है। रमणी मात्र के प्रति मुनि के मनोभाव पुत्री या बहन के रूप में ही होते हैं।" इन स्वच्छ शब्दोंने सब को सन्तुष्ट कर दिया।

श्री राजेन्द्रसूरिजी महाराज कसौटी का जीवन जी रहे थे। वे खरे थे। अपने निकट के हर शिष्य को खरा देखना उन्हें पसन्द था। एक बार किसी सामान्य प्रमाद या स्खलना के कारण उन्होंने अपने घनिष्ट आत्मीय श्री धनचन्द्र सूरिजी तक को अपने समुदाय से अलग कर दिया था। परन्तु आलोयणा लेने के पश्चात् ही उन्हें अपने समुदाय में पुनः अपना लिया गया। नियम और मर्यादाओं का चुस्त पालन श्री राजेन्द्र सूरिजी में जैसा पाया गया वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। मात्र शिष्यगण बटोर कर एक खासा हजूम या जमघट निर्माण करने की उनकी कभी लालसा न रही। इनके वरद हस्त से कुल डाइसौ जन दीक्षित हुए थे। उनमें से कुछेक ही शुद्धाचरण का परिपालन करते हुए अपना दीक्षित जीवन धन्य कर सके। सामाजिक कुसंप और जाति—बहिष्कार प्रथा एवं तज्जन्य भयंकर दुष्परिणामों को आप समाज के लिए घातक समझते थे। अपने विहार के अन्तर्गत अनेक गांवों से आपने कुसंप को सदंतर निर्मूल कर दिया था। वर्षों के जाति—बहिष्कार कलह से मालवा के चिरोला गांव को उबारने का श्रेय आप ही को है।

आध्यात्मिक जीवन की उत्क्रान्ति आंतर चारित्र्य के विकासक्रम पर अवलंबित है। उसे जैन परम्परा में गुणस्थानक कहा जाता है। ध्यान-व्रत, नियम-तप आदि जो जो उपाय आन्तर चारित्र के पोषक हैं वे ही बाह्य चारित्र्य रूप से साधक के लिए उपादेय माने गये हैं। श्री राजेन्द्र सूरिजी ने अपने आध्यात्मिक स्तर को प्रशस्त बनाने के हेतु विशुद्ध स्वल्प आहार और तपश्चरण को बहुत महत्त्व दिया। संयमनिर्वाह के लिए यह परमावश्यक भी है। जीवन के अंतिम दिनों में श्री धनचन्द्र सूरिजी के साथ मारवाड़ के एकांत निर्जन—जंगलों में आपने कई दिन तक तप-ध्यान आदि किए थे।

* यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्।
सर्वमेव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः॥ — यशस्तिलक— आचार्य सोमदेव।

नासिक, सातारा के निकटवर्ती मांगीतुंगी पर्वत के वनों में आपके ऐसे ही तप किए जाने के उल्लेख मिलते हैं। आपका समाधियोग निर्मल एवं स्वरोदय ज्ञान प्रशस्त था। समाधियोग में आपको अप्रत्यक्ष कई बातों का साक्षातकार होता था ऐसा पाया गया है। मालवा के सुप्रसिद्ध नगर कूकसी के प्रलयंकारी अग्निप्रकोप, छप्पन के दुष्काल एवं अपने देहावसान संबन्धी आपने जो-जो पूर्व-वचन कह दिए थे वे अक्षरक्षः सत्य उतरे थे। दोषरहित आहार ही उन्हें ग्राह्य था। गोचरी लानेवाले उनके शिष्यगण इस विषय में अत्यन्त सावधान रहते थे। भले उन्हें खाली हाथ लौटना पड़ता। दिन में नींद लेना उन्हें बड़ा अप्रिय था। दिवा-निद्रा को वे एक प्रकार का ऐश मानते थे। और साधुत्व का ऐश से भला क्या संबंध? कर्म-रत मानव दिन में सो जाय तो फिर काम कब हो सके? सामने कार्यों का अपरिमित तांता लगा रहता था। एक योगी की भांति रातमें भी वे स्वल्प नींद लिया करते थे। अंधेरी रात में भी वे रोशनी में नहीं बैठते थे। दीपक के प्रकाश में बैठना वे साध्वाचार के प्रतिकूल मानते थे। इन्हीं सब आदर्शों का पालन गुरुदेव के शिष्यगण अविछिन्न रूप से किए जा रहे हैं। जो सत्य ही अनुकरणीय एवं वन्दनीय है।

गुरुदेव को प्रमाद तनिक भी पसन्द न था। वर्षावास संपूर्ण होते ही वे विहार आरंभ कर देते थे। और अकारण किसी स्थान में नहीं पड़े रहते थे। स्वावलंबन उन्हें प्रिय था। स्वल्प परिग्रही ही सुखपूर्वक स्वावलंबन मार्ग पर चल सकता है। और लोभ की तो थाह नहीं! इसी लिए उन्होंने परिग्रह का प्रबल विरोध किया था विहार में अपनी उपधियों को वे स्वयं उठालिया करते थे। उनके समय में वर्तमान की भांति साधुओं की अपनी उपधि—असबाब उठाए फिरने के लिए मजदूर तथ गाड़ियों की जरूरत न हुई थी। आज के हर साधु प्रायः चाकू—कैंची, सूई—दौरा, कार्ड, कवर, पैंसिल, निर्झरलेखनी, घड़ी, चश्मे आदि अपने पास रखना परिग्रहमूलक नहीं समझते हैं। किन्तु श्री राजेन्द्रसूरि और उनकी परंपरा के संबन्ध में कहा जाता है कि सूई-चाकू तो क्या? वे दावात, पैंसिल या फाउन्टेनपेन जैसे ज्ञानोपकरण भी परिग्रहमूलक समझते थे। श्री राजेन्द्रसूरि का विवेक स्याही में पड़े रहनेवाले जल के संबन्ध में भी इतना जाग्रत था कि वे दवात के बदले एक छोटी टोपारी (नारियल से गिरि निकाल लेने के पश्चात् अवशिष्ट कड़े छिलके की कटोरी नुमा टोपली) में गाढे रंग की स्यायी से सराबोर कपड़ा रखते थे। जिसे आवश्यकतानुसार तनिक पानी डाल कर बतौर स्याही के प्रयुक्त किया जाता था और सूर्यास्त पूर्व ही उसे सुखा दिया जाता था। गूँददानी भी सुखा दी जाती थी। गूँददानी और स्याही रात भर बिना सुखाए रखने पर उनमें जीवाणु पैदा हो जाते हैं। सचित्त-अचित्त का वे कहां तक विवेक रखा करते थे- यह इससे भली भांति प्रकट है।

धातु—पदार्थ का वे स्पर्श नहीं करते थे। निब का प्रचलन तो उन दिनों में था ही नहीं। कलम भी वे स्वयं न बना कर किसी श्रावक से बनवा लिया करते थे। आत्म-

शमन और मनोगुप्ति के गुण तो उनमें कूटकूट कर भरे थे ही। अपने हाथ पर भी उनका नियंत्रण आश्चर्य-जनक था। आज जब निर्झरलेखनी का व्यवहार खुले रूप से हो रहा है। सभी स्वच्छन्द मनमानी लिखावट घसीटे जा रहे हैं। अपना लेखन सुघड़ कैसे हो इसकी किसे पड़ी है ! किंतु श्री राजेंद्र सूरिजी के अक्षर बहुत सुघड़ हुआ करते थे। उनके हस्तलिखित ग्रन्थ अवलोकनीय हैं। उनका हस्तलाघव देख कर विस्मय होता है कि नाना प्रवृत्ति और विविध आचार-विधियों में निरंतर प्रवृत्त रहते हुए भी साधारण कलम, स्याही से इन वर्णमुक्तावलियों को गुरुदेव ने कब और कैसे संजो दिया होगा। इन हस्तलिखित प्रतियों में लेखन-सुघड़ता ही नहीं, अपितु सजावट हेतु उन्हीं के बनाए बेलबूटेदार परिक्रमण और शोभनचित्र आदि ऐसे दृश्य हैं कि दर्शन से बरबस प्रशंसा के शब्द निकल पड़ते हैं।

धार्मिक-सामाजिक जीवन में क्रांतिकारी सुधारों के उपरान्त आपने जैन साहित्य का भी बड़ा संवर्धन किया। आपने कोष-व्याकरण, कथा-काव्य, चौपाई-पूजा, चैत्य वन्दन-स्तुति, स्तवन—सज्झाय और आगम-सिद्धान्त तथा आचार—सूत्र एवं क्रिया विधि आदि पर गद्य-पद्य में लगभग ६१ पुस्तकों का निर्माण किया है। जिनका अवलोकन करने से साहित्य-दर्शन, व्याकरण-ज्योतिष, गणित-नीति और धर्म तथा आगम आदि विषयों पर और संस्कृत-प्राकृत भाषाओं पर आपका कितना अधिकार था यह भली भांति व्यक्त हो सकता है। व्याकरण के विद्यार्थियों को सहज कण्ठस्थ रहे इस हेतु आपने कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के सुप्रसिद्ध सिद्धहेम-प्राकृत-व्याकरण पर छन्दों में विवृत्ति १८०१ श्लोकप्रमाण लिखी है। लेकिन आपकी महती साहित्य-सेवा का सुफल है 'अभिधान राजेन्द्र' महाकोश। श्री अभिधान राजेन्द्र कोश नामक विराट ग्रन्थराज का निर्माण साहित्य-जगत को श्री राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज की अपूर्व देन है। जैन धर्म सम्बन्धी कदाचित यह सर्व प्रथम तैयार हुआ विश्व कोश है। इसमें जैन-धर्म-साहित्य से सम्बन्धित प्राकृत शब्दों के संस्कृत भाषा में प्रसंगादि सहित अतिविस्तार पूर्वक अर्थ दिए गए हैं। 'अहिंसा' आदि कुछ शब्दों के अर्थ इतने विशद रूप से दिए गए हैं कि वे अलग से प्रकाशित करने पर मजे से, सौ-डेढ़ सौ पृष्ठ की स्वतंत्र पुस्तिका बन जाय। जैनागमों का कोई भी विषय इसमें व्यवहृत होने से बच नहीं पाया। जैनों की प्रचलित सभी परंपराओं के ज्ञान-विचारों का इसमें विनियोग तो किया ही है, प्रत्युत जैनेतर बहुतेरे शब्दों एवं विषयों का भी इसमें व्यापक विवेचन किया गया है जिनकी प्रसंगादि में उपादेयता रही है। यह कोश सात भागों के बड़े आकार के सात वॉल्युमों में संपूर्ण हो सका है। यद्यपि इसका निर्माण आधुनिकतम शैली और परंपराओं के अनुसार ही हुआ है, तथापि यह हमारा दुर्भाग्य रहा कि उस समय हिन्दी भाषा का विकसित रूप स्थिर नहीं हो पाया था। वरन् यह ग्रन्थराज भारतीय दर्शन के [illegible] विद्यार्थी के लिए आज एक अनिवार्य ग्रंथ होता। तोभी भी क्या भारतीय और क्या विदेशी ? सभी प्रसिद्ध विद्वान् गुरुदेव के इस साहित्यिक महाकार्य का श्रद्धापूर्वक अभि

नन्दन करते हैं। 'श्री अभिधान राजेन्द्र' को संक्षिप्त कर एक 'शब्दांबुधि' नामक कोश की भी रचना गुरुदेव ने की है। इस लघुकोश में शब्दों पर विस्तृत व्याख्या नहीं है।

गुरुदेव की जन्म और देहविलय तिथि पौष शुक्ला सप्तमी ह।। आपका जन्म भरतपुर में संवत् १८८३ में और शरीरत्याग संवत् १९६३ में मालवदेशस्थ राजगढ़ में हुआ। इस प्रकार आप आठ दशक तक जीवित रहे। दो-दो दशक के चार पादों में आपके जीवनक्रम को विभक्त करने पर उनका संवत् क्रम निम्नवत् होगा जो असाधारण वस्तु है—

संवत् १८८३, आपका जन्म भरतपुर में हुआ।

संवत् १९०३, श्री हेमविजयजी के पास दीक्षा लेकर शास्त्रपठन किया।

संवत् १९२३, घाणेराव (मारवाड़) के चातुर्मास में शैथिल्याचार को चुनौती देकर आहोर (मारवाड़) में आचार्यपद लिया।

संवत् १९४३, धानेरा (गुजरात) के चातुर्मास में 'अभिधान राजेन्द्र' महाकोष के निर्माण की रूपरेखा तैयार की। जिसका अंतिमरूप सियाणा चातुर्मास में स्थिर किया गया। याने सियाणा के चातुर्मास में इसकी रचना प्रारंभ की जो १९६० में सूरत में समाप्त हुई।

संवत् १९६३, राजगढ़ (मालवा) में आपका स्वर्गवास हुआ।

गुरुदेव की परंपरा में उन्हीं से दीक्षित आचार्य श्री यतीन्द्रसूरिजी महाराज विद्यमान हैं; जो इनके उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर शोभित हैं।

खरवाटक भिणाय और श्री चवलेश्वर पार्श्वनाथ

ले:—दौलतसिंह लोढा, 'अरविंद' धामणिया (खरवाटक-खेराड़)

मेवाड़ विभाग के जहांजपुर, माण्डलगढ़, काछोला और कोटडी तहसीलों के लगभग पांच सौ ग्रामवाला एवं लगभग ६०० मील के क्षेत्रफल वाला यह भाग जो माण्डलगढ़ से श्री चवलेश्वर पार्श्वनाथ तीर्थ एवं जहांजपुर से कोटडी पर्यंत फैला हुआ है कभी इससे अधिक भी विस्तृत था—ऐसे प्रमाण अनेक स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। जहांजपुर से लगभग ४-५ मील के अन्तर पर ध्वंसितरूप में धौड़ (नायूण) नामक खण्डहरग्रस्त अत्यल्प रूप में एक अभी ग्राम है। वह लगभग आज से ६००-७०० वर्ष पूर्व अवश्य एक समृद्ध नगर था। कुमारपाल गूर्जरसम्राट् के समय का एक लेख वहां अवशेष रूप में बचे हुए एक शिवमन्दिर के स्तम्भ पर विद्यमान है। उसका अक्षरान्तर मैं ने भी किया है और मेवाड़ राज्य के समय में भी उसको लिया गया था। लेख से स्पष्ट है कि धौड़ का सामन्त अजमेर के राजा के आधीन था और लेख में गूर्जरसम्राट् कुमारपाल का उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि अजमेर का राजा गूर्जरसम्राट् का माण्डलिक राजा था। इसी लेख में 'खरवाटक' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रचलित भाषा में जहां खैर वृक्ष अधिक हों उस स्थल का नाम 'खैरवाड़' अर्थात् खरवाटक। आज भी इस भाग में खैर के वृक्ष बहुतायत रूप में हैं। इस लेख पर विचार कर के कहा जा सकता है कि 'खरवाटक' प्रदेश 'खर वाटक' के नाम से कुमारपाल से अर्थात् वि. १२-१३ शताब्दी पूर्व से प्रसिद्ध रहा है।

मेवाड़-राज्य में आनेसे बहुत पूर्व इस भाग पर किसी स्वतंत्र राजा का राज्य था और उसकी राज्यधानी भिणाय थी। भिणाय में स्वतंत्र राज्य लगभग एक सहस्र वर्षपूर्व रहा होगा—यह अनुमान किया जा सकता है। इसके कई आधार हैं। रियासतीयुग में भिणाय का भाग काछोला-प्रगणा में था। काछोला शाहपुरा-राज्य का तहसील-स्थान था। शाहपुराधीश को यह काछोला तहसील उदयपुर के राणाओं से भेंट में प्राप्त हुई थी। शाहपुरा-राज्य सम्राट् शाहजहाँ के शासनकाल में स्थापित हुआ था। शाहपुरा को जब काछोला-तहसील भेंट हुई थी, उस समय भिणाय वैसी ही खण्डित अवस्था में था जैसा आज तीन सौ वर्ष पश्चात् वह है। मेवाड़ के इतिहास में भी इस 'भिणाय' का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु जब भिणाय के खण्डहर और उसके समीप भागों को देखते हैं तो सहज समझ में आता है कि यह भाग कभी अवश्य समृद्ध और अत्यन्त फला-फूला रहा है। मेवाड़ राज्य लगभग एक सहस्र वर्षों से भी प्राचीन राज्य रहा है। एक सहस्र प्राचीन मेवाड़-राज्य के इतिहास में जब

भिणाय का उल्लेख नहीं मिलता है तो 'भिणाय' इससे भी प्राचीनता रखता है इसमें कोई वाद खड़ा नहीं हो सकता।

वैसे तो सम्पूर्ण खेराड़ (खरवाटक) पर्वतमयी एवं छोटे - बड़े जंगलोंवाला प्रदेश है। जिसमें 'भिणाय' का भाग तो समूचा पर्वतमयी है। इस पर्वत भाग को आज-कल 'कालीघाटी' नाम से बोलते हैं। 'भिणाय' की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिये इस समय पर्वत पर अवशिष्ट दुर्ग-खण्डहर, कावड़िया नाथूशाह वाव और श्री चवलेश्वर पार्श्वनाथतीर्थ एवं एक सरोवर जिसे 'भिणाय तालाव' कहते हैं, शेष बचरहे हैं।

लेखकने इस भागका कई वार निरीक्षण किया है। जिस स्थान पर 'भिणाय' नगर अवस्थित था या विद्यमान खण्डहरोंपर अवस्थित होना संभवित माना जा सकता है वह स्थल आज पद्मपुरा, उम्मेदपुरा, चैनपुरा आदि ५-७ अति छोटे २ अर्थात् ५-१०-२५ घरोंवाले गांवों में विभक्त है। इन गांवोंके सम्मिलित क्षेत्रपर एवं खण्डहरों की विस्तृत भूमिका पर विचार करके कह सकते हैं कि 'भिणाय' कभी ५ या ७ सहस्र अथवा अधिक घरोंवाला समृद्ध राजधानी नगर रहा है।

दुर्ग-भिणाय नामक वावसे लगता पर्वत है उस पर्वत पर खण्डित रुपमें दुर्ग की चार दिवारी अभी भी देखी जाती है। चार दिवारी के भीतर 'हाथीठाण' अर्थात् हस्तिस्थल एवं प्रासादोंके खण्डित भीत्ति भाग अच्छी प्रकार देख पड़ते हैं। दुर्ग भिणायवाव से लगभग ७००-८०० फुट ऊँचा है। दुर्गपर जाने के लिए एक राजमार्ग का स्थान भी देखने में आता है। इस दुर्गका निर्माण सहस्र वर्ष से भी प्राचीन होना संभवित है जो मेवाड़ राज्य की स्थापना से पूर्व का कहा जा सकता है।

भिणायवाव-इतनी सुन्दर, सुदृढ़ एवं गहरी है कि तीनों दृष्टियोंसे ऐसी वाव उदयपुर, कोटा, बूंदी, झालावाड, शाहपुरा, रामपुरा जैसे इतिहासप्रसिद्ध राजधानियों में भी नहीं। वाव की रचना यवनशैलीसे प्रभावित है और वाव पर उर्दू अथवा फारसी भाषा में एक शिलापर सुन्दराक्षरों में लेख भी उत्की-र्णित है। उस लेख में क्या लिखित है, लेखक उर्दू, फारसी से अनभिज्ञ होने के कारण उससे कुछ लाभ प्राप्त न कर सका। परन्तु वावकी विद्यमान स्थिति पर विचार कर के कहा जा सकता है कि वाव लगभग ५०० से ७०० वर्ष पूर्व की बनी होनी चाहिए। वाव स्वरूप से संकेत देती है कि 'भिणाय' कुछ न-कुछ रूपमें आजसे ५००-७०० वर्ष पूर्व विद्यमान रहा है। इस वाव के निर्माण की कथा भी बड़ी रोचक है। वह यों है—

भिणाय में नाथू कावड़िया नाम के एक निर्धन श्रेष्ठी रहते थे। कठिन श्रम कर के वे अपना निर्वाह चलाते थे। निर्धन होने पर भी वे आत्माढ्य थे और

जैन धर्म के अतिथिद्वालु थे। एक जैन यति की उनपर कृपा हो गई। जैनयति ने उनको एक कपड़े की घनी हुई थैली दी और कहा कि इस थैली में से जितना द्रव्य तुम निकालना चाहोगे, ले सकोगे। थैली औंधी कर देने पर द्रव्य देने की शक्ति लुप्त हो जायगी—यह ध्यान में रखना। नाथू श्रेष्ठी कुछ ही दिनों में अच्छे धनी हो गये और उनका सम्मान भी बढ़ चला। वर्तमान श्री चवलेश्वर पार्श्वनाथ तीर्थ उन्हींका बनवाया हुआ माना जाता है। येतद् संबंधी अभी तक कोई लेखतो प्राप्त नहीं हुआ है, परन्तु जैन-जैनेतर में नाथू कावडिया द्वारा तीर्थ का निर्माण होने की दंतकथा चली आ रही है। दंतकथाओं के विस्तार में मिश्रण माना जा सकता है, परन्तु उनके मूल में यथार्थांश ज्योंका त्यों सन्निहित रहता है। इसके प्रमाण में कोई एक स्तवन-पुस्तक में लेखक ने यही पढ़ा था कि इस तीर्थ का निर्माण नाथू कावड़िया श्रेष्ठी ने करवाया। यह तीर्थ श्वेताम्बर तीर्थों के साथ में उस स्तवन पुस्तिका में गाया गया है। बाव का निर्माण जब चल रहा था अथवा वह पूर्ण होने को था 'भिणाय' के सामन्त से किसी चुगलखोर ने जा कहा कि नाथू कावडिया को गड़ा हुआ अतुल धन प्राप्त हुआ है। तभी वह निर्धन से तुरंत श्रीमंत हो गया और लक्षों रुपया व्यय करके तीर्थ का निर्माण करवाया और अब अत्यन्त विशाल, दृढ और अति गहरी बाव बनवा रहा है। इस पर नाथू श्रेष्ठी एवं सामंत दोनों में तनाव उत्पन्न होगया। सामन्त से श्रेष्ठी की शक्ति एवं प्रभाव बढ़ा हुआ होने से वह उसका तुरत एवं सीधी हानि तो न कर सका, परन्तु भूमिपति की शक्ति सदा प्रबल ही होती है। अंत में श्रेष्ठी नाथू ने सामन्त से इसका रहस्य प्रजा के समक्ष उद्घटित कर देने का निश्चय प्रकट किया। रहस्योद्घाटन का स्थान बाव ही रखा गया। सामन्त एवं प्रजाजन के समक्ष श्रेष्ठी नाथू ने यति की दी हुई उस थैली को बाव में औंधी करते हुये उद्घोषित किया कि यह सर्व चमत्कार इस थैली में था और औंधी कर देने पर अब वह निर्गत होगया। इसमें कितना सत्य-मिथ्या है? इस विवेचन पर आना व्यर्थ है। श्रेष्ठी नाथू कावड़िया ने बाव और तीर्थ बनवाये—यही दंतकथा से सार ग्रहण करना उचित है।

श्री चवलेश्वर पार्श्वनाथ तीर्थ—इसकी प्राचीनता एवं इसके निर्माण तथा स्थल-विषय में उपर संकेत हो चुका है। यह तीर्थ लगभग १२००-१५०० फीट ऊँचा इस पर्वत भाग की सबसे ऊंची पहाडी पर बना है। मूल मंदिर बहुत छोटा है। उसमें केवल एक पूजक अथवा पूजारी के अन्य सुविधा से खड़ा नहीं रह सकता है। मूलमंदिर दक्षिणाभिमुख है। मंदिर में गंभारा, गूढ मंडप और शृंगार चौकी ये तीन अंग हैं। मंदिर चारों ओर से चार दिवारी से परिवेष्टित है। इस परिकोष्ठ में ठीक मंदिर के समक्ष श्वेताम्बर यति की चरण-पादुका छत्री है। उस पर चरणपादुका लेख विद्यमान है। यति के रहने का कक्ष एवं बैठने अथवा प्रवचन तथा भक्तों को दर्शनादि देने के लिये द्विमंजली एक छोटी बरशाल भी बनी हुई है। इस बरशाला में भी लेखसयुक्त पादुका संस्थापित है। इस मंदिर

की देखरेख पहिले कोटड़ी, पारोली श्वेतांवर जैन संघ करता रहा—इसके कतिपय प्रमाण वहां के संघों के आधीन विद्यमान हैं। आज कल इसकी व्यवस्थाका भार वागूंदार दि० जैन संघके आधीन है। इस संघका मंत्री अपने को श्वेतांवर और दिगंवर के मध्य प्रारंभ हुए एक अभियोगमें दोनों पक्षोंका मंत्री होना स्वीकार कर चुका है। तीर्थ को लेकर गत कई वर्षों से दोनों पक्षों में वरावर द्वंद्व चल रहा है। कई राजकीय निर्णय निकल चुके हैं और वे सर्व प्रायः श्वेताम्वर पक्षका अधिकार सिद्ध करते हैं। तीर्थ भले श्वेतांवर हो; पर उसको दोनों सम्प्रदाय वरावर मानते आ रहे हैं और दर्शन—पूजन का अधिकार दोनों का सर्व निर्णयों में अपनी २ आम्नाय अनुसार करनेका राज्यने स्वीकार किया है। पूर्व से चली आती प्रथा के अनुसार दोनों जहांतक चलते हैं वहां तक कोई विग्रह उत्पन्न नहीं होता; परन्तु ज्योंहि एक पक्ष कुछ अपनी लगाने लगता है कि वहां द्वन्द्व वढ़ जाता है और यह द्वन्द्व लगभग गत २५ वर्षों से तीव्रतर रहा है। अव तक कई निर्णय निकल चुके हैं और उनके आधारपर कई विवाद समाप्त भी हो चुके हैं। अधिकतर विवादों का प्रारम्भ दिगंवर भाइयों की ओरसे ही होता रहा है और उनके निर्णय श्वेतांवर पक्ष में प्रायः निकलते रहे हैं। इन निर्णयों की एक सूची-पुस्तक भी श्वेतांवर श्री चवलेश्वर पार्श्वनाथ तीर्थ कमेटी की ओर से कोई ३-४ वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुकी है।

तीर्थ की वर्तमान स्थिति एवं व्यवस्था पर भी इस लेख में कुछ लिख देना लाभ कर ही होगा।

(१) दोनों सम्प्रदायों का तीर्थ-भण्डार सम्मिलित रूप में है और वह श्री चवलेश्वर पार्श्वनाथ जैन तीर्थ भण्डार के नाम स विश्रुत । श्वे० अथवा दि. जैसा कोई सम्प्रदायवाची शब्द उसमें प्रयुक्त नहीं है।

(२) अव तक दोनों सम्प्रदाय इसको संमिलित तीर्थ के रूप में मानते रहे हैं और व्यय चाहे भण्डार से हो अथवा कोई अलग व्यक्ति द्वारा किया गया हो—वह एक पक्षीय नहीं माना जाता।

(३) प्रति वर्ष पौष कृष्णा ९ मी को श्री पार्श्वनाथ जन्मोत्सव मनाया जाता है। रात्रि को ठीक जन्म के समय मूर्त्ति का प्रक्षालन पुजारी करता है और दोनों सम्प्रदायों का मंदिर के भीतर, वाहर सामूहिक कीर्तन, स्तवन, भजन होते हैं। कभी अलग २ वैठकर भी करते हैं।

(४) आरती आदि संध्याकालीन स्तवनक्रियायें सम्मिलित होती हैं।

(५) दिन के ९ वजे दिगंवरभाई सेवापूजन से निवृत्त हो जाने चाहिए और तत्पश्चात् श्वेताम्वर भाई पूजन करते हैं। दर्शन, चैत्यवंदन तो एक-दूसरे के निश्चित समयावधियों में भी चालू रहते हैं।

(६) जन्मरात्रि को शृंगारचौकी में तीर्थ के मन्त्री को केसर बेचने के लिये राजकीय निर्णय के अनुसार बैठना पड़ता है।

(७) दोनों पक्षों के व्यक्ति एवं कुल अपनी भावनानुसार भण्डार में रकम देते हैं और यह जमा होती है।

(८) श्वेताम्बर पक्ष की ओर से भगवान् के जन्मोत्सव के उपलक्ष में कई व्यक्ति थैलियां बांटते हैं और यह दान आगन्तुक सेवक लोगों को व्यक्तिवार दिया जाता है।

(९) मन्दिर का पूजारी एक सेवक-कुल है जो कई पीढ़ियों से सेवा करता आ रहा है। मेले के दिन की नैवेद्य रूप में आई हुई आय का यह पूजारी और चैनपुरा के भोमिया दोनों अधिकारी हैं। भोमिया तीर्थ का पीढ़ियों से रक्षक रहा है। इन दोनों का तीर्थ से सम्बन्ध निर्णयों में भी स्पष्ट होता रहा है।

(१०) मेलों के दिन राजकीय प्रबन्ध रहता है। मेला मात्र एक रात्रि और दिन का होता है। समय समाप्त होते ही राजकीय नियमानुसार मेला बन्द हो जाता है।

(११) मन्दिर में प्रतिमा के ऊपर भण्डार का चन्द्रवा और पीछे श्वेताम्बर पक्ष की पछवाई लगती है।

(१२) श्वेताम्बर पक्ष की ओर से जन्म-कल्याणक के समय प्रतिमा को मुकुट और कुण्डल धारण करवाये जाते हैं। कोई भी पक्ष पूजन-दर्शन करें ये अलंकरण उतारे नहीं जाते।

धीरे २ ज्यों श्वेताम्बर पक्ष ने तीर्थ पर जाना कम किया, उधर सत्वस्थापना जाग्रत हुई और अन्त में ये झगड़ों के रूप में प्रकाशित हुए। पहिले ऐसा होता था कि मेलों के दिन शृंगारचौकी की दोनों भुजाओं पर शाहपुरा श्वे० संघ और माण्डलगढ श्वे० संघ के प्रतिनिधि बैठा करते थे और उनकी समझता में सर्व-कार्य एक पद्धतिरूप होता था। जब से इन संघों ने अपने प्रतिनिधि भेजने में आलस्य अपनाया अनियन्त्रण बट चला और जिसका बल चला उसने अपना कुछ लगाना चाहा। अब तो प्रायः अधिकांश झगड़े कानूननिर्णीत हो चुके हैं।

मन्दिर पर, संक्षेप में यह कहा जा सकता है, दोनों सम्प्रदायों का अधिकार है और रहेगा। संगठन के युग में उन्हें संमिलितरूप जो कुछ सुधार, उद्धार, नवीन निर्माण करना हो, करना चाहिए। इसी में जैन शासन की उन्नति, शोभा और चिरंजीवन है।

तीर्थ पर रात्रिवास करने के लिये दोनों पक्षों के सम्मिलित द्रव्य से धर्मशालायें बनी हुई हैं। तीर्थ बहुत ऊँचा है; परन्तु कादीसाणा के श्री लालजी गोखरूने

पर्वत पर शाहपुरा की ओर के चढाव पर जब से सुदृढ सीढियां वनवादी हैं—चढाव में होनेवाला श्रम कम हो गया है। तीर्थ अत्यन्त रमणीय स्थान में आया है। चातुर्मास में तो इसकी शोभा दर्शनीय एवं रमणीय हो जाती है।

* पार्श्वनाथ प्रतिमा वैसे तो इतनी खण्डित है कि वह अपूज्य कही जा सकती है; परन्तु दो संप्रदायों का विवाद नहीं तो उस पर लेप करने देता और नहीं नवीन मूर्ति की स्थापना के सुझाव में सहाय करता है।

* पार्श्वनाथ प्रतिमा के लगालग नहीं, परन्तु दायी दिवार के सहारे एक दिगंबर प्रतिमापट्ट है जो कुछ ही वर्षों पहिले स्वसत्त्व-स्थापना की भावना से पीछे से बैठा दिया गया है।

भिणाय तलाब—यह तालाब भिणायवाच और तीर्थ के ठीक मध्य में मैदान में आया है। इस समय तालाब में उसके शुष्क हो जाने पर गेहूँ आदि की कृषि होती है। तालाब पर पाल बनी है। इस पाल में लगे पत्थर मंदिर और घरों के खण्डहरों से लाये गये और लगाये गये प्रतीत होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि तालाब

*पार्श्वनाथ-प्रतिमा—इस प्रतिमा के संबंध में इधर एक यह दंतकथा प्रचलित है कि बनास नदी में एक गौ किसी स्थल पर दूध झार कर नित्य अपने गोपाल के घर आती थी। गौ से गोपाल को जब कई दिन बराबर दूध नहीं मिला तो उसने इस रहस्य को जान लेने का एक दिन प्रयत्न किया। उस दिन गोपाल की दृष्टि उस गौ पर समस्त दिन भर रही। वह देखता क्या है कि गौ गौसमूह में से अलग होकर एक ओर नदी में जारही है। वह भी उसके पीछे हो चला। निदान गौ एक स्थान पर पहुँच कर स्थल से दूध झारने लगी। गोपाल बड़ा समझदार था। वह यह सर्व कौतुक देखकर चकित भी हुआ और हर्षित भी हुआ। गौ का यों दूध झारने का क्रम बराबर कई मास चालू रहा। कहते हैं श्री नाथू सेठी को एक रात्रि को स्वप्न हुआ। उसमें भगवान की अधिष्ठायिका देवी ने उसको कहा कि बनास नदी में अमुक स्थल पर भगवान् पार्श्वनाथ की बालुनिर्मित प्रतिमा तैयार हो गई है। तू उसको वहां से निकाल कर महोत्सव कर और उसको इस चूलवत पर्वतकी शृङ्ग पर मंदिर बनाकर स्थापित कर। मेरे मतानुसार यह कथा ही भ्रामक है। प्रतिमा को बालु-विनिर्मित देखकर ऐसी कथा किसीने चालू कर दी और वह अब तक चल रही है। ऐसी कथायें बालुनिर्मित प्रतिमाओं के संबंध में अन्यत्र भी सुनने में आई हैं।

नाथू कावडिया श्रेष्ठी के संबंध में इधर एक दंतकथा यह भी प्रचलित है कि एक समय किसी दिल्लीसम्राट् ने नौ-नौ हाथ लम्बे नौ स्वर्ण पाटों की 'शाह' पद धरानेवाले व्यापारीवणिक वर्ग से मांग की। न देने पर 'शाह' पद छीन लेने की धमकी दी। इस पर दिल्ली के कई शाह एकत्रित हो कर भारत के कोने २ में उक्त प्रकार के पाटों की प्राप्तिहित विचरे। कहते हैं कि उनकी उक्त आवश्यकता की पूर्ति इस नाथू शाह ने नौ स्वर्ण पाट नौ-नौ हाथ लम्बे दे कर की थी। परन्तु यह कथा सर्वथा मिथ्या है। यवनकाल में भिणाय ऐसा प्रसिद्ध रहा होता तो यवनकालभर प्रसिद्ध एवं गौरवान्वित रहा मेवाड़-राज्य के राणाओं का ध्यान उसकी ओर अवश्य जाता और भिणाय का कुछ इतिहास भी मिलता। मेरे मतानुसार तो भिणाय यवनकाल में एक छोटा कस्बा रहा होगा। और उसकी प्रसिद्धि खरवाटक भर रही होगी। यवनकाल में इस प्रान्त के दुर्ग माण्डलगढ़ और जहाजपुर अधिक प्रसिद्ध रहे हैं।

भिणाय नगर समूल नष्ट हो जाने पर अथवा अल्प होजाने पर बना है अथवा छोटे २ उद्भूत हुये गामों के निवासियों ने वर्षा के पानी को रोक देने के लिए उन पत्थरों की एक पाल बना दी है। क्योंकि तालाब का निर्माण व्यवस्थित ढग से हुआ हो ऐसा यहा कोई सकेत उपलब्ध नहीं है।

ये सर्व भिणाय-खण्डहर बनास नदी के दक्षिणतट पर आगये हैं। नदी कुछ ही फर्लांग के अन्तर पर है। नदी का सामीप्य, पर्वतों का परस्पर गुथन एव तीर्थ की उन्नत शृग पर अवस्थिति एक अत्यन्त ही रमणीय दृश्य उत्पन्न करती है। तीर्थ के कारण यह भाग आज भी आवागमन का स्थान बना हुआ। बाव देखने के लिये भी वर्षों में कोई पुरातत्त्वप्रेमी चला जाता होगा। गोपालवाल तो इस बाव पर प्रति दिन बैठने, विश्राम लेते हैं

पुरातत्त्व विभाग इस ओर अगर ध्यान दे तो खोद-कार्य प्रारंभ करने पर मेवाड़-राज्य से भी प्राचीन इतिहास और पुरातत्व विषयक बातों का पता लग सकता है।

नगटी काकी का मन्दिर—कादीसाणा के लालजी मोखरू द्वारा विनिर्मित पर्वत की सीढियों के ठीक सामने से कुछ बायीं ओर हट कर एक लघु पहाड़ी है। उस पर यह मन्दिर खण्डित अवस्था में विद्यमान है। उसमें एक जिनेश्वर प्रतिमा भी है और वह भी खण्डित ही है। प्रतिमा श्याम पाषाण की एवं कोई लगभग दो फुट से ऊंची है। उस पर लेख देखने में नहीं आया।

सिंहद्वार—बाव से ऊपर और पर्वत की जड़ में लेखक ने कोई ७ वर्ष पूर्व एक विशाल एव उन्नत द्वार देखा था जैसा परिकोटों में प्राय हुआ करते हैं। यह मेहराब में खण्डित था। एक ओर का स्तंभ गिर चुका था और दूसरी भुजा अर्धगिरी हुई थी। यह द्वार या तो दुर्ग से आनेवाले राजमार्ग का नगर में खुलता द्वार था या नगर का प्रवेशद्वार था। जो कुछ हो परन्तु द्वार की विशालता में एवं उसकी दीर्घकाय भित्तियों में और स्थानस्थिति में नगर की लुप्त समृद्धता का एक जीवन्त सकेत था।

नगर क्यों उजड़ हुआ? इस पर निश्चित रूप से प्रमाणों के अभाव में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह इतना भी जो कुछ लिखा गया है वह लेखक का जन्मप्राप्त होने से, यहा पुनः २ गमनागमन रहने से, बचे हुए खण्डहरों पर, बाव, द्वार, चवलेश्वर तीर्थ की जैसी-तैसी विद्यमान स्थिति पर एवं स्थल की प्रकृति पर अनुमान लगा कर लिखा गया है। प्रमाणों के मिलने पर जो निश्चित और सिद्ध होगा वह प्रामाणिक होगा। पुरातत्व एव इतिहासप्रेमियों की यह दृष्टि में आवे— मात्र यही उद्देश्य रख कर यह लेख दिया गया है। फिर भी इतना अनुमान लगाकर कहा जा सकता है कि कभी बनास नदी का भयंकर प्रकोप उठा हो और नगर उजड़ गया हो। नदी यहा से थोड़े अन्तर पर ही बहती है।

खरवाटक और जैन धर्म

"दादा, बाबा डूंगरां, भाईजण वनराय ।
चू-बेद्यारी खेजड्यां, नद्यां जामणमाय ॥
'तू' कारै मांटीमरै, 'जी' कारेनै सांप ।
फणविध फण सूँ बोलणूं, जण-जण कालोसाप ॥
मक्की माणक, जो रतन; कांदा रोकड़ दाम ।
सोनी चारो धापिया, ऊवासी आराम ॥

'खरवाटक भिणाय एवं चवलेश्वर' लेख के प्रसंग में खरवाटक और जैनधर्म संबंधी कुछ परिचय दे देना भी अप्रासांगिक नहीं कहा जा सकता । वर्त्तमान में खरवाटक के प्रमुख ग्रामों में माण्डलगढ़, जहांजपुर, नंदराय, कोटडी, धामणिया, अममरढ़, आमल्दा, बागूंदार, पारोली, काछोला, सुआ, मानपुरा, खटवाड़ा, बीगोद हैं । दोनों सम्प्रदायों के घर इनमें और अन्य ग्रामों में लगभग ८०० और ९०० के मध्य है । उपरोक्त एक या दो ग्रामों को छोड़कर प्रायः सभी ग्रामों में जैन मंदिर भी हैं । यह प्रदेश आज से ५० वर्ष पूर्व चौर्यकर्म के लिये ही विख्यात् रहा है । जैनेतर ज्ञातियों का जिनमें भील, मीणे आदि प्रमुख हैं उनका चौरी करके उदर भरना ही मुख्य था । ऐसे विकट प्रदेश में भी जैनधर्म आज से ८००-९०० वर्ष पूर्व से चला आ रहा है और इस प्रान्त के जैन मंदिर इस बात की साक्षी देते हैं कि जैनकुलों का यहां प्रभाव रहा । इधर के श्वेताम्बरकुल प्राय राजक्षेत्र में कार्य करते रहे हैं । व्यापार में भी वे आगे रहे हैं । माण्डलगढ़ के महताकुल का इतिहास मेवाड़ के राणाकुल के साथ कई गत शताब्दियों से जुड़ा हुआ रहा है । नन्दराय के चौधरियों का कुल भी मुसद्दी रहा है । धामणिया के लोढ़ा, बीगोद के पगारिया और माण्डलगढ़ के लोढ़ा अन्न और नाणा के लेनदेन में अग्रणी रहे हैं । जहांजपुर, नन्दराय, बीगोद, माण्डलगढ, पारोली, अमरगढ, कोटड़ी में जो श्वेताम्बर मंदिर हैं उनमें प्रतिमायें अधिकांशतः पाषाण की हैं और वे प्रायः १४ वीं १५ वीं शताब्दी के आसपास और पीछे की हैं । लेखक ने इन सर्व प्रतिमाओं के लेखों का संग्रह करने का कुछ वर्ष पूर्व प्रयास प्रारम्भ किया था; लेकिन प्राग्वाट इतिहास और फिर राजेन्द्र-स्मारक ग्रन्थ और भयंकर रुग्णता का क्रमशः क्रम बंधा रहने से वह कार्य अपूर्ण ही रहा। उपरोक्त तीन दोहों से प्रान्त की विकटता, उसके निवासियों की वर्वर रुचिका स्पष्ट परिचय मिल जाता है । ऐसे प्रान्त में भी जैनधर्म और उसके अनुयायी अपना प्रमुत्व स्थापित रख सके हैं । खरवाटक के इतिहास में जैन इतिहास ही प्रमुख अध्याय और अधिक भाग है । मेरी भावना है कि मैं 'ओसवाल इतिहास' भी लिखूं अगर यह गुरुकृपा हो गया तो खरवाटक का इतिहास 'ओसवाल इतिहास' का एक पठनीय अध्याय होगा ।

'श्री चवलेश्वर तीर्थ' इस प्रान्त का प्रमुख तीर्थ है और सर्व सम्प्रदायों को वह मान्य है । अस्तु ।

जैन गीतां री रसधारा

(ले:— श्री रावत सारस्वत)

जैन धरम की भांत-भांत की अणगणित जैन पोथ्यां को महत्व अबार कोई छिपी बात रही कोनी। संस्कृत, मागधी, अपभ्रंस अर आजरी प्रादेशिक बोलियां म्हँ जैन साहित्य का ग्रन्थ हजारां की गिणती में मिले हैं। वखत के धक्के सूं जैन भंडारां का बरसां सूं जड़योड़ा किंवाड़ खुलता ही ग्यान की दुनियाँ म्हें धकै सागे सै'स दीया जुपगा, सैंचन्नण होगी। आज दुनियां का इतिहासग्य अर भासावैग्यानिक या बात मानण लाग गया कि जैन ग्रंथ हजारां बरस पहलां रै इतिहासका नै भासा की जाणकारी का घणा अच्छा साधन हैं। इण बडाई को कई कारण है? भगवान महावीर के वखत सूं ही जैन धरम के आचारजांरी या रीत रहती आयी है कि वे लोक-भासा म्हें ही उपदेश देवे नै उणी म्हें रचना पण करे। लोक-गीतां की धुना पर बणायोड़ा हजारां भगती-गीत इण बात का प्रमाण हैं कि धरम-प्रचार म्हें लोक भासा को महत्व उणा की द्रस्टि में कितरो बड़ो-चड़ो थो। पचासों साधू अर सत्यां आचारजां रै आदेस सूं एक ठोड़ सूं दूजी ठोड़ जावतां, सैकड़ा कोस धरती पगां सूं नापता, गांव-गांव म्हें डेरा नै सरावकां नै उणां री बोली म्हें उपदेश देय नै समझावतां। इण खातर वणां मै लोक-भासा में लिख-पढ़णा रो घणो महावरो होतो। हजारां कोसा लग फैली भारत-भोम रै कूणै-कूणै सूं भगत लोग आचारजां रै चौमासे रै नै विहार री ठोड़ आ जुड़ता। भांत-भांत रा उपदेशां सूं लोगां नै पढ़ण-लिखण री घणी परेरणा मिलती। आप-आप री रचनानै दिखायनै चेला पण आचारज रै आसीरवाद री कामना करता। अस्या सांस्क्रतिक मेळांम्हें घणी पोथ्यां रो परिचय मळतो। लोगां नै पढ़ण रो चाव बढ़तो। पोथ्यां री नकल करण री नै करावारी घणी चाह रेती। इणी खातर नित कई पानां री नकल करणो भी धरम रो [illegible] एक काम बणगो। अनेक कवियां, लेखकां, इतिहासकारांनै अनेक भांत रा साहित्य री रचनां करी जिणांरी अनेक नकलां सूं आज रा भंडार ठसाठस भरयोड़ा हैं।

भासा अर इतिहास री द्रस्टि सूं जैन ग्रंथा रो महत्व घणा विद्वान जाणे। काव्य-ग्रंथांरी जाणकारी भी लोगां नैं कम कोनी। पण भगती-गीतां रै बारै म्हें भोत थोड़ा मिनखां नै ठा' हैला। सूर, तुलसी, कबीर, मीरां, दादू, रैदास वगैरै संत कवियांनै जिसा पद अर गीत बणाया हैं उणां सूं किणी दरजै न घटता, घणा फूटरा गीत जैन कवियां भी रच्या हैं। धरमावतारां री प्रसंसा म्हें उणां री लीलां रो घणो सरस वरणण इण गीतां म्हें मिलेहै। जिणेसर पारसनाथ, विमळनाथ, नेमीनाथ, रिखमनाथ,

पदमपरभु, स्थूलभद्र वगैरै घणां आराध्य देवां रा अणगिणत गीत जैन कवियांनै साचै भगतां रै भावां सूं मारमिक सुरां म्हैं गाया हैं। गीतकारां म्हैं लावण्यसमय, समयसुन्दर, कनकसोम, जैसराज, महिमराज, पद्मराज, चिदानंद, भुवन कीरती, ग्यान-कीरती, उदयरतन, धरमसी नै बीजां अनेक कवियांनै इण धारा नै घणी धार लहरायी है। या कीती अचरज री बात कि हाल ताई कोई काव्य रो, संगीत रो रसियों, कोई भगती रो पारखी इण रस धारां रो मिठास चाख्यो नहीं। मिनखां रै वास सूं दूर, अणछेडी वणराय रै आंचल म्हैं जाणै कोई एकलो रस रो झरणो झर-झर करतो वहै तिण भांत ही जैन गीतां री या रसधार है। इण बात री घणी जरूरत है कि साहित्य रा आलोचक आज रा काव्यरसियां नै भी उण गीतां रा मिठास री बानगी चखावै।

भगती काव्य रै गीतां री तरियां इण गीतां रो भी अनेक भांत हैं। विविध रागां म्हैं, विविध छन्दां म्हैं, आराध्य देवां रा जनम, बालपणै री करिडा, देवां रा सा चरितर, उणां रो परेम, विरह आदि नै ब्यान, उपदेस अर भगती-भाव रो चितरण घणो सरस नै सरल भासा म्हैं इण गीतां म्हैं मिलै है। गीतकारां म्हैं समयसुन्दर जिसा महारथी नै चौफेरी परतिभा वाला कवि इण धारावां रा धणी हैं। जिणां री विद्वता री धाक आखै जमाने म्हैं हुती। इण खातर जैन गीतां रै मांयला भाव, कल्पना, उपमा, भासा नै बिजा काव्य रा आभूसण उण पिटी-पिटाई परिपाटी रा नहीं। इण सारी चीज़ा में कवियां रै जुग री नै उणां री रसमरम री छाप है, जिण सूं वै भेड़ा भेली भेड़ नहीं हुवै।

भारतीय परेमकाव्य रै विछड्या परेमियां रा जाणीता संदेसवाहक 'चांद' रै हाथ भेजो जिको भगत रो सनेसो।

सुणो—चांदलिया! संदेसड़ो जी कहिजे सीमंधर साम।

राय नैं वाल्हा घोड़लाजी, वेपारी नैं वाल्हा दाम।
अम्हनैं वाल्हा सीमंधर सामी, जिम सीता नैं राम॥

सनेसै रै सब्दां रै मिठास नै छोड़ बिचलै जुगारी ओपमावां री मौलिकता नै देखण री जरुरत है। भारतीय दामपत्य जीवन रै आदर्श नैं गीतकार विसारया नहीं। राम अर सीता रो सनातन नै चिरनवो परेम भगता रै परेम रो पण आदर्स है।

आराध्य देव नैं ओपमां देतां-देतां अघाई जो ग्या जणा महाकवि समयसुंदर सगलै रद्द कर'र छोड़ दिया। सूर एकर स्याम नैं ओपमां देतां वखत घणां उपमानां नैं बेकाम किया, पण आखर यां नै अेक ओपमा जंची; पण समयसुन्दर रै एक भी ओपमा गलै न उतरी। भावा रै वेग म्हैं उणां गायो—

अहो मेरै जिण कूं कूण ओपमा कहूं
कास्ट कल्प, चिन्तामणि पाथर, काम गवी पसुदोस ग्रहूं।

चन्द्र कलंकी, समदजल खारउ, सूरज ताप न सहूं ।
जलदाता पण स्याम बदन घण, तउ हुं किम सहऊं ।
कोमल कवल पण नाल कटक नित, सख कुटिलता थई ।
—समय सुन्दर कहई अणत तीर्थंकर, तुम मह दोस न लहूं ।

— वैसणव गीता सूं न्यारी एक खास बात अणा भगता रै विरह री तीवरता है। इण तीवरता नैं जैन कविया घणे मीठे नै हिरदे छूता सबदां म्हें दरसायी है। राजुल रो विरह इणा गीता री मोटी धरोहर है। नेमिनाथजी रै विरह म्हें राजुल रो इटपटेस इण बोला म्हें देखो —

उण तजी मोकू मैं न तजूगी करूगी इकतार ।
ताकी चरणचेरी होय रहूंली जाऊंगी गिरनार ॥

पुरस पर अविसवास रो लाछन लगाणारो नारी रै हिरदे रो यो कडु सत्य राजुल रै मुख सूं भी निकल्यो है जिकै रो, जिकर अगरेजी कवि शेक्सपियर आप रै अेक नाटक में करयो—

"राजल नारी इम कहई पुरष नउ नहीय विसास" राजुल रै विरह रा छन्द काव्य री मस्ती म्हें अणमणी विरहणो कह्यो—

फागण आयो फूटरो फूली सब वणराय ।
पिउडो मेंह मुझ मंदिरे खेले मोरी बलाय
या तो परियतम री बाट घणे चाव सूं देखती होती—
चलीचली जोऊं वाटडी लिख ऊं निसदिन लेख ।
सूनी बैठी सोचऊं भेऊ लेख अलेख ॥

पीरमिलण री आस म्हें जैन गीता री विरहणी नैं आखी परकरती उण री हरिया ही नजर आवे—

'कोयलडी टहुका करे तुम्हं मिलया अभिलाख' आखर परियतम सूं मिल्नै विरहणी सजोगणी हुई—

आज भले दिन ऊगियो वधीय मनोरथ बेल ।
निजरे सयण निहालिया करिस्यां मनरथ केल ॥
वीछडिया वाल्हा तणे मिलवा रो मन कोडि ।
विकसे गात चलावली हुल्से होडा होड ॥

इस विध सजोग सुख सूं घणी रलियाइत हो परियतमा गायो—

भी थे मधुकर, म्हे मालती; थे मोती म्हे लाल ।
भी थे देवल, म्हे देवठा; थे तरवर, म्हे डाल ।
भी म्हे कचन की मूंदडी थे लालीणा नग ।
भी थे घरा म्हे चादणी; थे सायर, म्हे गंग ॥
भी थे हसा म्हे हंसणी; भी थे मंदिर, म्हे जींव ।
भी म्हे पकज थे रवि निसा; भी म्हे काया, थे जीव ॥

इण भावां रै जोड़ रा भाव अंगरेजी महाकवि सैली नै हिंदी रा महाकवि निरालाजी रै गीतां म्हैं मिलै। फरक इतरोहीज है कि यै गीत आज सूं तीन सो बरस पहला लिख्या गया हैं। अण खातर तो फेर इणां रै भावां रो मान घणो चाहीजै।

अेकलो राजुल रो विरह जैन गीत काव्य में इतणो विसाल रूप घर नै छा गयो है कि उण विरह रो मीठो मीठो दरद सारै गीतां म्हैं समायो है। इसै मिठास रा पद जैन काव्य में मोकळा मिलै। स्त्री सुलभ सुभाव सूं राजुल रा मीठा बोल कितणा आछा लागै— बहिण सामलियउ सुहावइ रे, बीजउ कोई दाय न आवइ रे

आली री मिल रे ल्याजो नेमिकुमार

नेमि राजुल री भांत ही स्थुलभदर-कोशा रा गीतां म्हैं भी या ही रसधार है। समयसुंदर रै सबदां म्हैं स्थूलभदर-कोशा रो एक गीत देखो—

राति न तो नावे व्हाला नींदड़ी रे, दिवस न लागै भूख।
अन्न नैं पाणी मुझ नैं नावि रुचे रे, दिन दिन दुरबळ दूख॥
मन ना मनोरथ साणि मन मां रह्यारे, कहियै केहनैरे साथ।
कागळिया लिखतां तो भीजै आंसुआं रे, चढियो हो दुरजन नाथ॥
नदियां तणा व्हाला रेळा चालहारे, ओछां तणां सनेह।
वहता बहै वाल्हा उतावळा रे, झटकि दिखावे छेह॥
सारसड़ी मोती चुगै रे, चुगै तो निगसै कांइ।
साचा सदगुरु जो आणि मिलै रे, मिले तो विछड़ै कांइ॥

परेम नैं विरह रै गीतां रै अलावा शांतरस रा, वराग रा, भगती रा, ग्यान रा नै बीजे घणै उपदेस रा गीत भी इण गीतां भेला हैं। काया जीव सझाय, कामणी विसवास, निवारण सझाय, खट सास्त्र संवाद, वैपम्य नै घृणा प्रसंग, स्थूलभद्र सझाय वगै रै पोथ्यां म्हैं इण गीतां री भरमार है। संसार रै जलम-मरण रै खेल रो अरथ समझण री कवि री जिग्यासा 'करतार सझाय' म्हैं देखों—

"मन मान्या माणस जे मेलै, तो कि विछोड़ा पाड़ै रे"
"पुरुस रत्न घड़ि घड़ि किम भां जै"

नै आतमा री परमातमां सूं मिलण री अभिलाखा री झलक इण कड़ियां म्हैं देखों—

रूडा पंखीडा, पंखीडा मुन्है मैल्ही नेम जाय।
धुर थी प्रीत करी मैं तोसूं, तुझ विण खिण न रहाय॥

इण प्रकार इण गीतां म्हैं जैन भगती रो आद सूं अंत तांई सगलो आ गयो है। उण रो विस्तार सूं वरणण करण खातर घणो समै नैं घणी जगां चाहीजै। साहित्य-पारखियां नैं काव्यरसिकां नैं जैन भगती गीतां रो अध्ययन वेगा सूं वेगो करणो चाहीजै नै उणां री रसधारां सूं काव्य परेमियां नैं छका देणा चाहीजै।

PRAKRIT

By Dr A N UPADYAYA

India presents a picturesque complex of linguistic evolution and interaction The range of time and extent of region over which Indian civilization, with its distinctions of religion, caste, clan, and race has spread make the problems of language study all the more entangled

The Indo Aryan speech has flowed in two beds Samskrta and Prākrta (spelt hereafter as Sanskrit and Prākrit), which have constantly influenced each other at different stages. The term Prākrta, meaning 'natural, 'common,' primarily indicates uncultivated popular dialects, existing side by side with Samskrta, the 'accurately made,' 'polished, refined speech The Prakrits are thus the dialects of the unlettered masses, used in their day-to-day life, while Sanskrit is the language of the intellectual aristocrat, the priest pundit, or prince, who used it for religious and learned purposes The language of everyday conversation of even these people must have been nearer the popular Prākrits than the literary Sanskrit The former is a natural acquisition the latter, the principal literary form of speech, requires training in grammatical and phonetic niceties

Contemporary with the Vēdic language, which is an artistic speech employed by the priest in his religious songs, there were popular dialects probably due to tribal groups and social strata The Vedic literature gives some glimpses of popular tongues but no literature in them has come down to us In the 6th c b c, Mahavira and Buddha preached in the local Prākrits of Eastern India, and the great Emperor Asoka (3rd c b c) and a century later King Kharavela addressed their subjects in Prākrit Inscriptions are all in Prākrit up to about the 1st a d It is held by some scholars that the early secular literature was in Prākrit In the drama, different characters speak different languages in the same play and the earliest known plays, of Aśvaghosa (ca 100 a d),

works; and there is seen the influence of linguistic tendencies well-known in Mahārāstri which was evolving as a literary language in the early centuries of the Christian era. Such a modernization was inevitable in course of oral transmission, especially because the Svētāmbara monks were already using the Prākrit not only as a language of religous scripture but also as a vehicle of literary expression. In the verses common to both, the Digamber texts soften. In the verses common to both, the Digambara texts soften the intervocalic consonants, while those of the Svōtāmbaras lose them, leaving the vowel.

Prior to the Patalipura Council, at the time of Candragupta Maurya, a body of Jain monks, on the advent of a famine migrated to the South under Bhadrabahu. To satisfy the religious needs of the community they began jotting down the memory notes, which have survived to us in the forms of many Prākrit texts that deserve to be called the Pro-Cannon of the Jainas. The earliest of these are the Saṭkarma and Kasāya – prabhrta, which are the remnants of the Draṭivāda. The commentaries of Virasōna–Jinasōna (816 a.d.) incorporate earlier commentaries in Prākrit; and they indicate what an amount of traditional details was associated with the original sutras. They deal with the highly technical and elaborate dectorine of karman which is a unique feature of Jainism. Among the works of pro–cannon, the Mulācāra of Vattakara and the Ārādhanā of Sivarāya give elaborate details about the monastic life, its rules and regulations. The Prākrit Bhakṭis are a sort of devotional composition of daily recitation.

A large number of work is attributed to Kunḍakunḍa, but only a few of them have come down to us. His pancasṭikāya and pravacana-sāra are systematic expositions of Jain entology and epistemology; and his Samayasāra is full of spiritual fervour. Yativrsabha's Tilōyapannaṭṭi covers wide range of topics. The compilation of all these works might be assigned to the early centuries of the Christian era.

A good deal of Prākrit literature has grown round the canon itself by way of explanation, detailed exposition, illustrations through tales and topical systematisation. On some canonical texts there are the Niryukṭis, a sort of metrical commentaries which explain the topics by instituting various enquiries. They

are attributed to Bhadrabahu, and are undoubtedly prior to Devarddhi's council Some of them in turn on account of their systematic exposition, accuracy of details, and solidity of arguments became the object of learned labours of great scholars For instance, Jinabhadra Ksamaśramana (609 A D) wrote a highly elaborate Bhasya in prakrit on the Āvaśyaka Niryukti, around which has grown a little world of literature Bhasya and Curni commentaries are found on some works. Bhasya is an elaborate exposition, at times incorporating and supplinobting the Niryukti verses, of the text in Prakrit, while Curni is a prose gloss written in a bewildering admixture of Prakrit and Sanskrit Jinadasa Mahattara wrote his Nandi Curni in 676 A. D.

The popular gatha had already found its way not only into the Pali canon but also into that unconventional drama, the Mrcchakatikam of Sudraka, and with its melodious ring & sentimental setting it is successfully handled by Kalidas especially in the mouths of his heroines A large body of popular lyric songs in Prākrit, especially in Maharastri, appears to have grown a couple of centuries or earlier than Kalidas A collection of some 700 gathās, the Sattasai, attributed to Hala, has come down to us He is in reality its editor a literary artist of some eminence, he has collected these verses along with a few of his own composition, from a large mass of popular songs, and presented them in a literary style with special attention to the choice of setting, themes and sentiment Hala's collection is important not only for its artistic grace and poetic flourish but also as an evidence of the existance of a large mass of early secular Prakrit literature, in the formation of which women, too, took active part

Its themes are primarily drawn from the rural life, but the presentation is rarely repugnant to the cultured test. The seasonal settings, the countryside the village folk, the flora and fauna-all these have remarkably contributed to the realistic sketches which these poets draw in one or two stanzas. The chief sentiment is erotic, at times openly put, and the turn of love, with their peculiar Indian ceremonies and conventions, are depicted in a vivid

and touching manner. Pāssionate longings, pangs of separation, devotion of attachment, sly humour, cupid's mischiefs and the like, are often described with a frankness rare in conventional poetry. Some of the scenes are full of pathos or flavour. A lovely maiden pours water for a thirsty traveller who lets it trinpckle through his fingures; in her turn she lessens the stream of water from the pitcher; thus both extend the period of feasting their eyes on the other. There is very little of religious setting, though Iśvara and Pārvati, Visṇu, Laksmi, are casually mentioned. The name of Hāla stands for Sāṭavāhana, one of the Āndhrabhṛtya kings whose partiality for Prākrits is well knon. In all probability the compilation is of the 2nd or 3rd C. A. D. It has been intimated in Sanskrit and Hindi; but the original stands unrivalled.

Another Prākrit anothology, close in spirit to Hāla's work, but planned topically, is the Vajjalaggain of Jayavallabha, of uncertain date. There are different recensions; the number of gāthās wavers about 700. Perhaps the major portion is composed by Jayavallabha, who of course included verses from Hāla & others. The verses are grouped according to subjects, which embrace three human ends; righteousness (dharma); wealth (artha), and love (kāma) almost half of them being devoted to the last. The range of topics is quite wide; poetry, friendship, fate, poverty, service, hunter, elephant, Swan, bee. The good man is likened to a mirror and the wicked man, liked seda, only adds a polish to his virtues. The author reports the camel for yearning for the desert when it can not be had. The erotic sentiment has often a touch of righteousness and heroism about it. The author is a Jaina, but here is nothing of sectarianism in his collection. His gāthās in Mahārāstri contain many Apabharamśa elements; and the spirit of some of the stanzas is similar to that in Hemchandra's quotations in his Prākrit grammer. The Sanskrit writers on poetic and rhetoric quote many Prākrit verses; of some, the sources are not traced; they presuppose a good many compositions or compilations like the above.

Allied to the anthologies in form, but having more religious leaning and bearing individual authorship, are some of the Jaina

didactic poems in Prakrit The Niryuktis, besides their explanatory and expository remarks, contain many didactic instructions and illustrations, as well as the gnomic poetry common in anthologies. Wealth and Love are mentioned with indifference if not disparagement, and the religious tone rules supreme

The Ucaesamālā is a didactic poem containing instructions on the duties of monks and laymen, in 540 stanzas, it is by Dharmadās who, according to tradition, was not only a contemporary of Mahāvira but also before his renunciation, a king, he addressed the work to his son, prince Ranasimha It was of considerable popularity with commentaries as early as the 9th C. In addition to moral instructions, it contains in dogmatical details and references to illustrative stories of great men of yore, Equally religious and didactic in outlook but more conventional in the treatment of topics, mnemonic and mechanical in presentation, unintelligible without an exhaustive commentry, full of significant details which can be grasped only by the well read, is the Upadeśapada, in more than 1000 gathās of Haribhadra, an outstanding author of the 8th C A D It is more a learned source book than a literary composition The Upadesamala of Hemachandra of Maladhari–gaccha contains more than 500 gathas and gives instructions on some 20 religious topics, such as compassion to living beings. The author is not only a preacher but also a poet, commanding an ornate style with poetic embellishments. He was a contemporary of Jayasimha Siddharaja of Gujarat (1094–1143), whom *he persuaded to extend greater patronage to Jainism* The Vivekamanjari (A D 1191) of Asada in 140 stanzas, is a discourse on religious awakening. Its major portion is moulded in a mechanical manner, quoting the examples of holy persons. Many other authors have followed earlier models and produced religio-didatic works in Prakrit from the 13th to the 17th C More than their literary qualities what strikes one is the earnestness with which they have reflected on their themes.

A number of hymns in Prakrit are addressed as prayers to the Divinity Some of them are composed by eminent authors, Bhadrabahu,

bear evidence to the antiquity of this practice. The kings and heroes speak Sanskrit; the ladies, in general, Saurasēnī; the lower characters, Māgadhi.

The Prākrit grammarians give us a sketchy description of various Prākrit dialects; Mahārāstrī, Saurasēnī, Māgadhī, Paiśāci, Apabhramśa. Pāli and Ardhamāgadhī are also Prākrits used in the Buddhist and Jain canons. The Inscriptional Prākrits, Pāli and Paiśāci, form an earlier group; Saurasēnī and Māgadhi come next, one central and the other an eastern dialect; Ardhamāgadhi is nearer Pāli with regard to its Vocabulary, Syntax and style, but phonologically later in age; Mahārāstrī has proved an elastic medium for learned epics and lyrical poetry of popular subjects. These were gradually stereotyped, with scant deference to their local colour, by the grammarians. By that time the popular speeches had already advanced, and the gap between the literary Prākrits and the contemporary popular speech went on increasing. By about the 5th c. a. d. Sanskrit and Prākrit were equally stereotyped as literary forms of expression; and once more an effort was made to raise the then popular speech to literary stage, represented by Apabhramśa.

The Prākrits and Apabhramśa represent the middle Indo-Aryan stage. Mahārāstrī and Apabhramśa appear to have been first developed for their songs and couplets; it is through those channels that they were admitted into literature.

Sudraka admits Mahārāstri verses in the Mrcchakatikam; Kaliḍas (c.400 a. d.) employs Apabhramśa songs in his Vikramōrvaśiyam; and Viḍyāpaṭi (c. 1400 a. d.) uses Maithili verses in his Sanskrit–Prākrit dramas.

Some of the Prākrit inscriptions deserve to be classed as literature on account of their form and style, as well as their noble instructions of abding value. The imperial Mauryan State was diplomatically, militarily, and culturally at least on a par with the contemporary Helienic state. The Asokan inscriptions, more than 30 in number, are the earlies dated documents among Indian literary records. They are incised on rocks, boulders, pillars, and cave-walls; and their localities

mark the boundaries, principalities and places of pilgrimage of the Kingdom The 14 rock edicts, in 7 recensions are simple, concise and forceful, and the appeal full of personal feeling, is as though the mighty monarch Asoka is himself earnestly speaking to his subjects Not only do they give a fine picture of the state, but they also reveal the personality of the ruler in touching colours The 13th rock-edict is a remarkable document. Asoka had won a decisive victory in the Kalinga war, but the miseries of the people brought such remorse that he expressed his anguish frankly and vividly

The Hathigumpha inscription (1st or 2nd c b c) of the Cheti dynasty gives a record of the first 13 years of the reign of Kharavela It is badly preserved, it shows greater fluency of expression than Asoka's records, and it gives us a good glimpse into the early life and training of Indian princes in the 2nd c b. c Among the manifold inscriptions of western India, the Nasik cave inscription of Vasishputṭa Pulumavi of the 2nd c. a. d expresses the spirit of a royal panegyrist steeped in epico-Puranic mythology and religion, and anticipates the later embellished style, so common in Kayyas and Çampus

In the early Indian drama it is difficult to evaluate the Prākrit passages as a continuous stretch of literary composition The playwrights have used Prakrits according to the conventions of dramatic theory, but the composition of most of them has very little popular life The Prākrit passages in the drama have, on the whole, become a specimen of artificial and prosaic composition mechanically converting into Prakrit a sence first conceived in Sanskrit. The convention of their use had such a grip on the orthodax mind that it is only very lately that Prākrit lost its hold on the drama, and the author of Hanumānnātaka (after 1200 a d.) plainly says that it is not prākrit, but Sanskrit alone that is worthy of an audience of the devotees of Visnu. For lyrical song in the drama however, Prakrit is quite popular with Sudraka, Kalidas VisaKhadatta and others, and some of their gathas are genuine pieces of poetry delineating softer sentiments. With Sudraka and others, Prākrit has worderfully served as the medium of homely conversation Innocent intriguing, light jokes and toothless humour are seen in the Saurasēni speech of Vidušāka who figures in

various dramas. Sudṛaka is a unique character, quite unsurpassed. His songs and speeches in Māgadhi are well known for their puns and jokes. Rāksaśa and his wife in the Vēnīsamhāra give us a description of the battle field in Māgadhī. But the stylistic basis of dramatic Prākrits is essentially Sanskritic; and the Desi elements are not freely admitted.

One type of drama, the Saṭṭaka, is composed entirely in Prākrit; it resembles the Sanskrit Nātikā. The Karpurmanjarī of Rājaśēkhara (ca 900 a. d.) is a love intrigue, closing happily in the marriage of Canḍpāla and Karpuramanjari who is brought to the palace miraculously by the magician, Bhairavānanḍa. Though accepted as one of the best comedies in the Indian literaure, it is more remarkable for its style and language than for its plot and characters, which are of the time-honoured mould. Rājaśōkhara is master of literary expression and matrical forms. His verses have a rhythmic ring anb liquied flow. His descriptions of nature are inlaid with vivid colour, and grace. His proverbs, varnacularisms, allusions to customs etc, have a special interest. Ruḍraḍāsa, who was patronized by the zamorin of Cālīcut (17 C.) wrote the Çanḍralōkhā Saṭṭaka which celebrates the marriage of Manavēda and canḍralōkhā. His style is forceful but often with unwieldly compounds. Ghanaśyāma, a court poet of King Tulājaji of Tanjora mid 18th c. i, wrote the Anandasunḍarī Saṭṭaka. In the Rambhāmanjari of Nayacandra (ca. 15th C.), which deals with the story of King Jaiṭra Simha of Benāras and Rambhā, the daughter of Māḍavavarman of Gujarāt, is also a Saṭṭaka which uses not only Prākrit but also Sanskrit. The Karpuramanjarī has been a source of inspiration and a model for all subsequent Saṭṭakas.

The Jain canonical works constitute an important section of Prākrit literature. Jainism admits, in this era, 24 ṭirthankarās, who are responsible for the promulgation of the religion or dharma. The 22nd was Nāminātha, the cousin of Krsṇa; the 23rd was Pārśvanātha whose historicity is accepted; the last was Mahāvīra (599–527 B. C.) whom Buddhist texts mention as Nigantha Nāṭapuṭṭa. He was a senior contemporary of Buddha (563–483 B. C.); he came from a ruling clan; and he was related to the royal families of Magadha. The preachings

of Mahavira and his disciples have come down to us in the Jaina Āgama or the canon in Arddhamagadhi Exigencies of time, and especially a famine, required its first systemetisation by the Pataliputra Council, some time in the 4th c b c The canon, as it is available today, was systematised, rearranged, red, acted and committed to writing by the Valabhi Council under Devarddhi in the middle of the 5th ▪ a. d Its contents are quite varied, the books cover almost every branch of human knowledge as it was conceived of in those days The texts like *Ācarānga, Dasavaikālika, give detailed account of monachism as then* practised in Eatern India, Jivabhigama and other works fully discuss the Jina ideas about living beings, Upasakadasah, Praśna vyakaranāni, set forth the ideals and regulations of a householder's life, Jnatadharmakathah, Vipakasruta and Nirayavaliyao give many holy legends didactic in purpose, Suryaprajnapti discusses Jaina cosmology, Sutrakrtanga, Uttaradhyayana, contain brilliant moral exhortations, Philosopnical discourses and amusing legends and some of their sections are fine specimens of ancient Indian ascetic poetry, Nandi gives details of Jain espistemology, texts like the Bhagavati are encyclopaedic.

The canon comprises works of different origin and age, naturally, it is difficult to estimate its literary character The red action has brought together distinctly disparate parts of works, some prose, some verse The prose of the Ācarnga contains metrical pieces The old prose works are diffuse in style with endless, mechanical repetitions some works contain pithy remarks pregnant with meaning, the didactions present vigorous exposition in a fluent style, the standardized descriptions obviously aiming at literary effect, are heavy in construction, with irregular compound expression the rules of monastic life are full of details and the dogmatic lessons show a good deal of systematic exposition There are narratives containg parables and similes of symbolic significance there are exemplary stories of ascetic heroes, there are debates on dogmatic topics

Mahavira is said to have preached in Ardhamagadhi which, therefore, ▪ the name of the canonical language The older portions preserve archaic forms of language and style These gradually disappear in latter

Mānatunga, Dhanapāla (972 A.D.), Abhayadēva. The Ksimandala-stotra is a chronical of monks, and the Dvādaśāngapramāṇa is a description of the Aradhamāgadhi canon. Sōmasundara (15th C) wrote a few prayers almost as exercises in different Prākrit dialects.

Narrative literature in Prākrit, especially in Jain Mahārāstri and Apabhramśa, is extensive and varied. It includes, besides the Brahaṭkathā, thū lives of Slākā purusas, i.e. the celebrities of Jainism, of ascetic heroes and holy men of eminence; legendary tales of didactic motives, illustrative fables, semi historical narrations, popular romances. The Brahaṭkathā was composed by Gunādhya in Paiśāci. It is lost beyond recovery. We posses, however, three Sanskrit epitomes of it belonging to the middle ages. They indicate that the original work was of great dignity and magnitude, worthy of being ranked with Mahābhāraṭ and Rāmāyana. It has supplied themes and motifs to many authors; and it is respectfully referred to by Dandin, Subandhu, Bāṇa, and others. Gunādhya's personality is shrouded in myths. Perhaps he is earlier than Bhāsa, and may be assigned to the early centuries of Christian era.

Vimala, he himself declares, composed his Purānic epic, the Paumacariya, in 4 A. D. It gives the Jain version of Rāma legend. It is acquainted with Valmiki's Rāmāyan, but contains special details that have nothing to do with the Jain outlook and consequently are of great value in studying the basic Rāma legend, which has been worked out by different authors in different ways. Rāvaṇa is not a monster, nor Maruti a monkey, but they are Vidyādharas, a class of semi-divine persons. Vimala's religious sermons have a lofty didactic tone; and he tells many an episode of remantic and legendary interest. His gāthās and elegant metres testify to his poetic ability and his style is almost uniformly fluent and forceful. The dialect also is interesting because of the age of the work and Apabhramśa traces seen in it.

Pādaliptạ, of the early centuries of the Christian era, wrote a now lost religious novel in Prākrit, Tarangavai. It was a love story concluded with sermon. We possess a later epitome of it in Prākrit,. the Tarangalola which testifies to its engrossing

literary qualities. The Vasudevahindi of Samghadasa and Dharmadāsa (before 66 A D) is a voluminous prose tale, elaborately recording the wanderings of Vasudeva of Harivamsa and including a good deal of extraneous matter in the form of sub-stories, legends and fables

Silacarya wrote his Mahapurusacarita, dealing with the lives of Salakapurusas, in 868 A D of about the 10th C. the Kalakācaryakathānaka narrates the story of how the saint Kālaka went to the Saka Satrapas called Sahis and with their help overthrew Gardabhilla, a king of Ujjaina, who had kidnapped his sister Sarasvati The author shows poetic skill and observation Dhanesvara's Surisundaricariya (1038 A D.) is a *lengthy romance in 16* cantos, which narrates the love story of Vidyādhara chief who passes through hope and despair The story within a story technique is handled successfully, the narration of events is quite smooth, the descriptions are worthy of a poet. The Pancamikahā of Mahesvarasuri (before the mid 11th C) celebrates, through illustrative stories, the importance of the observance of Sruta-pancami. In simple and narrative style, the life of Vijayacandra Kevalni, in 1063 gathās, was composed (1070 A D.) to illustrate the merits resulting from eight-fold worship Vardhamāna pupil of Abhayadēva wrote two works, the Manōramācarita (1083 A D), a romance of religious learning, and the Ādināthacarita (1103 A D) a Puranic epic dealing with the life of the first Tirthakara The Supāsanāhacariya (1143 A D) is a bulky work giving the life of the 7th Tirthakara from his earlier births to liberation It is full of religious preachings, all of them conveyed with suitable stories of the type common in Jain works The author has a remarkable command over the language. Just 11 years after the death of king Kumārapāla-pratibōdha (1195), a lengthy tale of the conversion of the king to Jainism, with many stories to illustrate its principles. *Some sections are written in Sanskrit. In addition* to their literary interest, such narratives are rich in pictures of the life of their times.

With the narrative work in Apabhramśa, we feel we are

entering a new world. The language shows remarkable traits; the metres are different; and the presentation has a melodious music about it. Apabhramśa forms were gradually admitted into Prākrit compositions from the early centuries of the Christian era; Kālidās introduced Apabhramśa songs in his Vikramōrvaśiyam. Every language has its favourite metres; Sanskrit has the ślōka, Prākrit has the gāthā, and Apabhramśa, the dōhā. Many dōhās are quoted by Hēmacandra in his grammer. The Apabhramśa metres, with their rhymes and ghatta, have such a fascinating ring about them, that many authors used these metres in Prākrit and Sanskrit also.

Caturmukha is one of the early Apabhramśa poets, but none of his works has come down to us. He has been praised for his choice of words; and perhaps he was responsible for popularising the paddhadiya metre. Of Svayambhu (8th C. A. D.) we know a good deal through his son Tribhuvana Svayambhu, who brought to completion his father's Paumacariu and Harivainśapurāṇa, huge epics covering the subject matter of the Rama legend and the Bharata episode. As a rule, Apabhramśa poet gives us a good picture of themselves. Svayambhu tells us that he was very slender and had scattered teeth. His son speaks about him thus: "The mad elephant of Apabhramśa wanders about at will only so long as the restraining hook of the grammer of Svayambhu does not fall. Victorious be the lion Svayambhu with his long tusks of good words, terrible to look at on account of his claws, his metres and figures of speech, and with ample mane, his grammer.

The most important Apabhramśa poet, whose three works–Mahāpurāṇu, Jasaharacariu and Nayakumāracariu–have been well edited and about whom we know a great deal, is Puspadanta, of the mid 10C. He wandered, forlorn, to Manyakheta, where ruled Krsnarāja 111 of the Rāstrakuta dynasty; these under the patronage of minister Bharata, his poetic genius fruitfully flowered. He wrote an Apabhramśa, his language is brisk and fluid; metres are varied,; descriptions are elegant, the flow of sentiment is well regulated, and the poetic embellishments are profusely used.

Kanakamara describes himself, but his place and date are still unsettled His Karakandacariu, in 10 cantos, gives the life of Karakandu, one of the Pratyeka Budhhas, in a comperatively lucid style His Reference to Tera caves is of great interest Dhanapāla of the Dhakkada family (ca 10th C) wrote the Bhavisattakaha wherein the here is depicted as triumphing despite great misfortune, through his outstanding virtues The Neminahacariu (ca 1159) of Haribhadra contains beautiful descriptions, it is composed in Radda metre The Kirtilata of Vidyapati (14th c) is a specimen of post Apabhramśa language of eastern India; the subject matter is historical; it is in both prose and verse, and it is presented in conversation

A large body of Apabhramśa literature is still lying in mss, and every year there are new finds Dhavala's Harivamśa (ca 9th c) a lengthy text, gives considerable information about earlier authors Hatisena's Dharmapariksa (999 A D) is not earlier than Amitagati's Sanskrit works, but records also a still earlier works of Jayarama in gathās The Kathakośa of Sricandra (late 11th c) gives the stories referred to the gathās of the Ārahdana of Sivaraya

The ornate and stylistic kavyās (poetic tales) and prose romances in Sanskrit have a corresponding range in Prākrit. The Setubandha or Dahamuhāvaha of Pravarasena deals with the building of the setu or bridge accross the ocean by monkeys, an incident from the Ramayana, The author is well equipped in metrics and poetics, his poem possesses all the traits of a Mahākāvya Despite its pompous style, the work has poetic flavour flowing through fine expressions charming imagery, attractive thoughts, melodious alliteration It is but natural that Bāna and Dandin refer with compliments to such an outstanding work.

The Gaudavaho of Vākpatirāja, a court poet of king Yaśovarman (ca 733 A D) celebrates the slaying of the Gauda king The story element in the poem however, is scanty & its structure rather loose. The major portion of the work, as it stands today, is covered by highly ornate descriptions full of imagination and

learned allusion; those of the countryside are remarkably realistic. Whatever topic he touches, Vākpati invests with fresh life and beauty.

Haribhadra is an eminent logician and a famous author of the 8th C. He calls himself Yākini-mahattara sunu. His Samaraiccakahā is a Prākrit campu which delineats the inimical behaviour of two souls through nine births. He is a close student of human life and behaviour of men under varying conditions. He is a master of artistic style, specially in his description of towns, lakes, ungles. and temples, interwoven with dogmatical teachings and didactic episodes of religious flavour. At times his style is simple and conversational. Another Prākrit work of his is the Dhurtākhyāna, a unique satire in Indian literature. Here five rogues, four men and one woman, narrate their personal experiences. Their fantastic and absurd tales are confirmed by the others, with parallel legends from the epics and Purāṇas; the Purānic legends are satirised. As a literary product, the work is for ahead of its times.

The Kuvalayamālō (779 A. D.) of Uddyōtana, a pupil of Haribhadra, though resembling the Samaraiccakahā in its aim, uses Paiśāci and Apabhramśa for popular passage, besides the usual Jain Mahārāstri. The religiodidactic tone is apparent throughout the work; the background of Jain ideology is not concealed, but on the whole it is a literary performance. The author's glowing references to earlier authors and works, and to the yavana king Tōramāṇa, supply such fresh material to the literary and political historian.

The Lilāvati of Kutukala, earlier than Bhoja, is a stylistic, romantic Kāvya, with considerable racy narration. It tells the love story of king Sātavāhan and Lilāvati, a princess from Simhaladvipa. The threads of the story are a bit complicated but the scenes are attractively sketched, and the sentiments are served with freshness and flavour. In all probability Hēmacandra knew this poem, and used it for his grammer.

In ornamental Jain Mahārāstri prose and verse (with a few passages in Apabhramśa) Gunacandra composed his Mahāviracariya

(1082 A D) giving a traditional account of Mahavira's life, half of the work being devoted to his earlier births The language shows remarkable regularity of grammer, and is quite chaste, almost like classical Sanskrit by the models of which Gunacandra's expressions & ideas are influenced It is a studied performance, a scholar's achievement full of long compounds and poetic devices It is a charming Kavya, a dish for the learned

Hemacandra (1089–1172 A D) is a dominent literary figure of medival India Not only did he make Jainism great in Gujarat by winning her kings into its fold, but he also opened almost a new era in literature through his manifold contributions to different branches of learning Tradition says that he brought the Goddess of Learning from Kashmir to Gujarat. He laid a sound foundation of Prakrit philosophy by his grammer and lexicon, his Kumārapāla is purely grammatical in purpose. As a concluding portion of his Dvyaśrayakavya it illustrates, like the Bhattikāvya, the rules of his Prākrit grammer The work reveals, notheless, some poetic flashes and capable handling of language

The stylistic Prakrit was cultivated in the extreme south through the study of grammer of Vararuci and other tongues as late as the 18th C Krsnalilasuka (ca 13th C.) wrote the Siricimdhakavvam in 12 cantos, dealing with the life of Krsna, to illustrate the rules of Prākrit grammer, of Vararuci and Trivikrama The Sericaritta of Srikantha (15th or 17th C) is a Yamaka Kāvya, the eight mantras in two metrical feet having identical sound but different sence. Before the mid 18th C Rama Panivada wrote two short poems, Kainsavaho and Usāniruddham, charming in conception and scholarly in execution, the first deals with the slaying of Kamsa by the boy Krśna, the second is concerned with the story of love and marriage of Usā and Aniruddha

Jainism possesses a highly elaborate and technical Karma doctrine for the elucidation of which many works have been written in Prākrit This subject matter, it is said, was originally included in the lost Purvās, the remnants of which lie at the basis of the

Sutras of Dhavala, Jayadhavala, and Mahādhavala commentaries. There are other works, more or less compiling the traditional matter, like the Kammapayadi of Sivasarmān, Pancasaingraha of Candrarsi, Gommataśara of Nēmicandra. On these works huge and learned commentaries have been written in Sanskrit. The Savayapannaṭṭi of Umāsvāti, in some 400 gāthās, is a succinct compendium of the Jaincode of morals, with its metaphysical background.

Many legends are current about Siddhasena Divākara (6th or 7th C. A. D.), in whom we have a first rate poet and outstanding logician. His hymns in Sanskrit testify to his poetic fire. His Sanmaṭiṭarka in Prākrit is a brilliant treatise, elucidating the Jain epistemology and doctrines of Nayas and Anēkānṭavāda. The Dharmasaimgrahani of Haribhadra is an exhaustive treatise on different aspects of Jain dogmatics. The Kattigeyanuppekkha of Kumar mainly deals with twelve-fold reflection, but incidentlly forms a good expositon of fundamental Jain dogmas. Dēvasena deals with different dogmatic topics of Jainism in his Bhavasamgraha, Ardhanasāra and Taṭṭvasāra, his Dars'nasāra (933 A. D.) which records the traditional account of different Sanghas, is of historical importance. There are certain Apabhramśa texts dealing with mysticism on a background of Jain and Buddhistic dogmatics; the Paramappapayasu and Yogasāra of Joindu (ca. 6th C. A. D.); the Dohākōśā of Kanha and Saraha.

Though certain quotations indicate the existance of Prākrit grammers written in Prākrit, all these that are available today are written in Sanskrit. In lexicography, Dhanapāla wrote his Paiyalacchināmamāla (972-973 A. D.) presenting a list of Prākrit synonyms for his younger sister, Sundari. The Deśināmamālā of Hēmachandra has the specialized aim of giving Desi words, i. e. words that can not be traced to Sanskrit, with qnotations to illustrate their usage. He refers by name to more than a dozen of his predecessors in the field, but their works have not come down to us. A work of poetics attributed to Hari is lost; we have Alāinkāradappaṇa of an unknown author. Prākrit has its special metres in the gāthā, but most of the classical writers have used the

longer syllabic metres current in Sanskrit. The Apabhramśa works, however, disclose altogether new paths in metrics. Nanditadhya fully discusses the varieties of gātha in his Gathālaksana The Svyambhu cchanda of Svayambhu not only discusses various metres but also gives many quotations mentioning the names of their authors, The Vrttajatisamuccaya is also an exhaustive treatise The Kavidarpana, Chandahkośa of Ratnasekhara and the Prakrta Paingala, also give us abundent details about Prakrit metres. Sanskrit texts like the Vrttaratnakara include Prākrit metres as well, but the Chandonuśasana of Hemacandra is of special value for Prākrit metres, Prof Velankar has given us a systematic exposition of Apabhramśa metres

Of cosmological and astronomical contents, we have the Jambuddiva pahhatti samgaha of Paumanandi[10] The Jonipahuda is a lost medicotantric text, its contents appear to have been included in the Jagatsundari yogamalā, with which are associated two authors, Herisena and Yasahkirti (co 12 C A D) The Haramekhala (ca 830 A D) of Mahuka is a medical treatise covering a wide range of topics, a talisman for all living beings The Ritthasamuccaya of Durgadeva (11th C A D) with omens and the like

Prākrit literature has a many sided achievement to its credit. it records the noble thoughts of one of the greatest kings of the world, and it embodies the ideology of a religion most realistic in philosophy, ascetic in morals, humanitarian in outlook It presents a valuable, though complicated picture of linguistic and metrical evolution in the last two thousand years, and the society depicted therein is more popular than aristocrātic, Prakrit literature helps us to add important and significant details in the picture of Indian culture and civilization

This being the first survey of Prakrit literature as a unit, its material is scattered in many works & tongues Only a suggestion, of the most valuable works, can be given R Pischel, Grammatik der Prakrit Sprachen (Steassburg), 199, M Winternitz A Hist of Indian Lit (Calcutta) 1933 W Schubring Die Lehre der Jainas

(Berlin and Leipzig), 1935; A. N. Upādhye, Pravacanaśara, Introduction (Bombay), 1935; A. M. Ghatage, Narrative Literature in Jaina; Mahārastri, in Annals of the Bhandarkar O. R. Institute (Poona), 1935; A Brief Sketch of Prākrit Studies, in Progress of Indic Studies (Poona), 1942; Nitti-Dolci, Les grammairiens Prākrits (Paris), 1938; H. L. Jaina, Apabhramśa Literature in Allahabad University Journal, I; S. K. Chatterji, Indo-Arayan and Hindi (Ahmedabad), 1942.

બહુશ્રુત પૂજા

(લેખક—પં લાલચંદ ભગવાન ગાંધી)

જૈન આગમ-સાહિત્યમા બહુશ્રુત તેને કહેવામા આવે છે, જે આગમ વૃદ્ધ યુગ-પ્રધાન હોય, જેમનામા આભ્યન્તર શ્રુત એટલે અંગપ્રવિષ્ટ શ્રુત અને બાહ્યશ્રુત (અંગ-બાહ્ય શ્રુત) બહુ હોય એટલુ જ નહિ, એ સાથે વિશુદ્ધિ કરનાર ચારિત્ર પણ બહુ શ્રેષ્ઠ હોય, જે શાસ્ત્રાર્થના પારગામી હોય, સૂત્રથી અને અર્થથી શ્રુત જેને બહુ પ્રાપ્ત થયેલ હોય બહુશ્રુત ત્રણ પ્રકારના મનાય છે, (૧) ઉત્કૃષ્ટ બહુશ્રુત-દશ પૂર્વધર અથવા નવ પૂર્વધર, (૨) મધ્યમ બહુશ્રુત-કલ્પ વ્યવહારધર અને (૩) જઘન્ય બહુશ્રુત-આચાર પ્રકલ્પ (નિશીથ)ને ધારણ કરનાર મનાય છે નીચે જણાવેલી પ્રાચીન પ્રાકૃત ગાથાઓમા એનુ પ્રતિપાદન છે—

"बहुस्सुए जुगप्पहाणे, भिंतर बाहिर सुय बहुहा
होंति चसद्दग्गहणा, चारित्त पि सुयबहुय पि ॥,,

"तिविहो बहुस्सुओ खलु, जहन्नओ मज्झिमो य उक्कोसो ।
आयारपकप्पे कप्पे, णयम-दसमे य उक्कोसो ॥,,

૨ એવા બહુશ્રુતોની પૂજાને ઉચિત પ્રતિપત્તિને-સન્માન-સત્કાર-ગૌરવને જૈન શાસનમા આવશ્યક સમજાવવામા આવેલ છે જૈન આગમમા ઉત્તરાધ્યયનસૂત્ર ચરણ કરણ ઉપદેશોથી ભરપૂર છે, જેના ઉપર નિર્યુક્તિ અને પ્રાકૃત સંસ્કૃત ગદ્ય-પદ્ય કથામય અનેક વ્યાખ્યાઓ પ્રસિદ્ધ છે, તેનું ૧૧ મું અધ્યયન બહુશ્રુતનુ સ્વરૂપ અને તેનુ ગભીર મહત્ત્વ સૂચિત કરે છે, તે ખાસ સમજવા જેવુ છે તેની બત્રીશ ગાથાઓમા ઘણુ રહસ્ય સમજાવ્યુ છે

તેની પ્રથમ ગાથામા સૂચન કર્યું છે કે "સંયોગથી વિપ્રમુક્ત અનગાર ભિક્ષુના આચારને (ઉચિત ક્રિયા વિનય-બહુશ્રુત-પૂજનને) હુ પ્રગટ કરીશ, તેને તમે અનુક્રમે સાભળો ૧

બહુશ્રુતનુ સ્વરૂપ સમજાવવુ સુગમ થાય એ માટે તેનાથી વિપરીત અબહુશ્રુતનુ સ્વરૂપ બીજી ગાથાદ્વારા દર્શાવ્યુ છે કે—

"જે કોઇ નિર્વિદ્ય હોય અર્થાત્ સમ્યક્ શાસ્ત્ર જ્ઞાનરૂપ વિદ્યાથી રહિત હોય તે, અથવા વિદ્યાવાન્ પણ જે સ્તબ્ધ (અહંકારી) હોય, લુબ્ધ હોય (રસ વિગેરેમા આસક્તિવાળો હોય), ઇંદ્રિય નિગ્રહ વગેરે નિગ્રહ વિનાનો હોય, તથા અસંબદ્ધ ભાષણ

વગેરે દ્વારા બહુ ઉદ્ધત્ય-પ્રલાપ કરનારો અને અવિનીત (વિનય-રહિત) હોય, તે અબહુ-શ્રુત કહેવાય (વિદ્યાવાન્ હોવા છતાં, બહુશ્રુતપણાના ફલનો અભાવ હોવાથી, તે પણ અબહુશ્રુત લેખાય)." ૨

બહુશ્રુતપણું ન પ્રાપ્ત થાય, તેનાં ૫ કારણો

એવાં પાંચ સ્થાનો (કારણો) છે, જેના વડે [ગ્રહણ-આસેવન રૂપ] શિક્ષા પ્રાપ્ત ન કરી શકાય-(૧) સ્તંભથી (માન-અહંકારથી) (૨) ક્રોધથી (કોપથી), (૩) પ્રમાદથી (મદ્ય, વિષય આદિથી), (૪) રોગથી અને (૫) આલસ્યથી (અનુત્સાહથી) એ પાંચ હેતુઓથી શિક્ષા પ્રાપ્ત થઈ શકે નહિ. ૩

બહુશ્રુતપણું પ્રાપ્ત કરી શકાય, તે ૮ હેતુઓ

આગળ દર્શાવવામાં આવે છે, તે આઠ સ્થાનો (હેતુઓ) વડે 'શિક્ષાશીલ' (શિક્ષામાં જેને શીલ-સ્વભાવ હોય તે, અથવા શિક્ષાનું શીલન-અભ્યાસ કરનાર) એમ કહેવાય છે [તીર્થંકર, ગણધરો વિગેરે દ્વારા].

[૧] જે અહસનશીલ હોય-હેતુ-પૂર્વક કે વિના હેતુ જે સદા હસતો રહેતો ન હોય.

[૨] જે દાન્ત હોય-ઇંદ્રિયો અને મનને દમન કરનાર હોય.

[૩] જે મર્મ વચન બોલતો ન હોય-બીજાની અપભ્રાજના કરે તેવું કુત્સિત જાતિ વગેરે ન ઉચ્ચારે-ન ઉઘાડે તેવો હોય.

[૪] જે અશીલ (શીલ-રહિત) ન હોય-સર્વથા વિનષ્ટ ચારિત્ર ધર્મવાળો ન હોય.

[૫] જે વિશીળ (વિરૂપશીલ અર્થાત્ અતિચારોથી વ્રતોને કલુષિત કરનાર) નહોય

[૬] જે અતિલોલુપ (અત્યંત રસ-લંપટ) ન હોય.

[૭] જે અક્રોધન હોય અપરાધી અથવા નિરપરાધી પ્રત્યે ક્રોધ ન કરતો હોય

[૮] જે સત્યમાં રત હોય-અવિતથ ભાષણમાં આસક્ત હોય.

એવો ગુણવાન્ 'શિક્ષાશીલ' (બહુશ્રુત) કહેવાય છે. ૪-૫

અબહુશ્રુત પણામાં અવિનય મૂલકારણ અને બહુશ્રુતપણામાં મૂલકારણ વિનય હોવાથી તેના ૧૫ સ્થાનો કહેવામાં આવ્યાં છે. આગળ દર્શાવવામાં આવે છે, તે પંદર સ્થાનો વડે 'સુવિનીત, (વિનયથી સારી રીતે શોભતો) કહેવાય.

[૧] નીચવૃત્તિ (નમ્રવૃત્તિ) નમ્રતાથી અનુદ્ધતપણે વર્તનાર, નીચાં સ્થાનો, નીચી શય્યા, નીચુ આસન વગેરેમાં વર્તનાર, ગુરુજનો પ્રત્યે નમ્રતાથી વર્તનાર! વિનીત શિષ્યનાં

વક્ષ્યોંમાં અન્યત્ર દર્શાવ્યા છે કે " નીચી શય્યા, નીચી ગતિ, નીચુ સ્થાન, નીચા આસનો, તથા નીચા નમી પાદોને વદન કરે, અને નીચે નમી અજલિ કરે

[૨] અચપલ-જે આરભ કરેલા કાર્ય પ્રત્યે અસ્થિર ન હોય, અથવા ગતિ, સ્થાન, ભાષા અને ભાવ એ ચાર પ્રકારથી ચપલ ન હોય

(૧) ગતિ ચપલ જલ્દી જલ્દી ચાલનાર

(૨) સ્થાન -ચપલ એક સ્થાને રહેવા છતા હાથ વગેરે દ્વારા જે ચાલતો જ રહે

(૩) ભાષા ચપલ ચાર પ્રકારનો કહેવાય

[૧] અસત્-પ્રલાપી વિદ્યમાન ન હોય, તેનો પ્રલાપ કરનાર

[૨] અસભ્ય-પ્રલાપી-ખર, પુરૂષ (કઠોર) આદિ અનુચિત પ્રલાપ કરનારા સ્વભાવવાળો

[૩] અસમીક્ષ્ય-પ્રલાપી (વિચાર્યા વિના પ્રલાપ કરવાના સ્વભાવવાળો

[૪] અદેશ કાલ-પ્રલાપી-જે કાર્ય થઈ ગયા પછી એમ બોલે કે, તે દેશ અથવા કાલમા કાર્ય કર્યું હોત તો સુદર થાત હોત

(૪) ભાવ-ચપલ-એક સૂત્ર અથવા અર્થ સમાપ્ત થયા વિના જ જે બીજુ ગ્રહણ કરે તે

[૩] અમાયી-માયા વિનાનો (મનોજ્ઞ આહાર વગેરે મેળવીને ગુરુ વગેરેની વચના ન કરનાર)

[૪] અકુતુહલ-કુહુક (જાદુગરી), ઇન્દ્રજાળ વગેરેને ન જોનાર

[૫] અલ્પ અધિક્ષેપ કરનાર-કહેવાનો આશય એ છે કે મુખ્ય વૃત્તિ કે કોઈનો પણ અધિક્ષેપ તિરસ્કાર નજ કરે, અથવા કોઈક જેવા કે ઇકને ધર્મ પ્રત્યે પ્રેરતા થોડોઘણો અધિક્ષેપ કરે અથવા અહિ અલ્પશબ્દ અભાવવાચી છે વૃદ્ધોએ અલ્પશબ્દને થોડા અને અભાવ એ બન્ને અર્થમા જણાવેલ છે એ રીતે કોઈનો પણ અધિક્ષેપ (તિરસ્કાર) ન કરનાર

[૬] પ્રબન્ધ ન કરનાર ઉપરના કારણે જે પ્રબન્ધ (પ્રકૃષ્ટ કર્મ બન્ધ) કરતો નથી

[૭] મિત્રતા પાળનાર મિત્ર તરીકે ઇચ્છાતો જે બીજાપર ઉપકાર કરે છે પરંતુ પ્રત્યુપકાર કરવામા અસમર્થ કે કૃતઘ્ન બનતો નથી

[૮] શ્રુતને પ્રાપ્ત કરી જે મદમત્ત બનતો નથી, પરંતુ મદના દોષના પરિજ્ઞાનથી જે અત્યન્ત નમ્ર થાય છે

[૯] પાપનો પરિક્ષેપ કરનાર પાપને ધિક્કારનાર

[૧૦] મિત્રો પ્રત્યે કોપ ન કરનાર-કોઇ પ્રકારે મિત્રનો અપરાધ થયો હોય છતાં પણ કૃતજ્ઞતાથી મિત્ર પર કોપ ન કરે તેવો.

[૧૧] અપ્રિય મિત્રનું એકાંતમાં પણ કલ્યાણ બોલનાર-કહેવાનો આશય એ છે કે-જેને મિત્ર તરીકે સ્વીકાર્યો, તે કદાચ સેંકડો અપકારોને કરે, તો પણ તેના એક પણ સુકૃતને સંભરતો જે એકાન્તમાં પણ તેના દોષને પ્રગટ કરતો નથી. કહ્યું છે કે-

"એક સુકૃત વડે જેઓ સેંકડો દુષ્કૃતોને નષ્ઠ કરે છે, તેઓ ધન્ય છે; કે જેમને એક દોષથી ઉત્પન્ન થયેલો કોપ હોતો નથી; કોપ કરનાર કૃતઘ્ન છે."

[૧૨] કલહ-ડમર-વર્જક-વાચિક વિગ્રહ-કલહ અને પ્રાણીઘાત વગેરે દ્વારા થતો ડમર-તે બંનેને વર્જનાર.

[૧૩] બુદ્ધ અભીજાતિગ-બુદ્ધિમાન્ (જાણકાર) ઉપાડેલા ભારનો નીર્વાહ કરવો એ વગેરે દ્વારા અભિજાતિ-કુલીનતા તરફ જનાર.

(૧૪) હ્રીમાન્ (લજ્જાવાન્)-કોઇ પણ રીતે કલુષિત અધ્યવસાય થઈ જાય, તો પણ જે અકાર્ય (ન કરવા યોગ્ય) આચરતાં શરમાય તેવો.

(૧૫) પ્રતિસંલીન-ગુરૂ પાસે, અથવા બીજે પણ જે, જેતે પ્રકારથી ચેષ્ટા ન કરે તેવો.

—ઉપર જણાવ્યા પ્રમાણે ૧૫ ગુણોવાળો ગુણવાન્ હોય તે 'સુવિનીત' કહેવાય. 'સુવિનીત' શબ્દ દ્વારા કથન કરવા યોગ્ય તે કહી શકાય. ૧૦-૧૩

એવો વિનીત શિક્ષા પામવા યોગ્ય (શિક્ષણ માટે લાયક) ગણાય. એવો સુવિનીત (શિષ્ય) યોગવાન્ અને ઉપધાનવાન્ થઇ, પ્રિયંકર અને પ્રિયવાદી થઈ નિત્ય ગુરુકુલમાં વસે, તે શિક્ષા પ્રાપ્ત કરવા યોગ્ય થાય છે.

ગુરુકુલ-શબ્દ દ્વારા અહિં ગુરુઓનું (આચાર્ય વગેરેનું) કુલ (અન્વય ગચ્છ) સમજવું જોઇએ. ઉપલક્ષણથી તેણે સદા-યાવજ્જીવ ગુરુની આજ્ઞામાં રહેવું જોઈએ. એ રીતે વર્તનાર જ્ઞાનનો ભાગી બને છે.

યોગવાન્-ધર્મગત યોગ (વ્યાપાર)વાળો, અથવા યોગ સમાધિવાળો,

ઉપધાનવાન્-અંગ અને અંગબાહ્ય અધ્યયનની આદિમાં યથાયોગ કરાતા આયંબિલ વગેરે તપને ઉપધાન કહે છે, તે ઉપધાનવાળો, જેનું જે ઉપધાન કહ્યું છે, તેને કષ્ટ-ભીરૂતાથી તજીને અથવા બીજી રીતે અધ્યયન શ્રવણાદિ ન કરનાર.

પ્રિયંકર-પ્રિય (અનુકૂલ) કરનાર-કોઈના વડે, કોઇપણ પ્રકારે અપકાર

હોય, તો પણ તેનુ પ્રતિકૂલ આચરણ ન આચરનાર, 'મારા જ કર્મોનો આ દોષ છે' એવો નિશ્ચય કરતો છતો અપ્રિય કરનાર તરફ પણ પ્રિય ચેષ્ટા કરનાર અથવા આચાર્ય વગેરેને ઈષ્ટ આહારાદિદ્વારા અનુકૂલ કરનાર

પ્રિયવાની–કોઈ વડે અપ્રિય કહેવાયો હોય, તે પણ પ્રિયજ બોલવાના સ્વભાવવાળો અથવા આચાર્યના અભિપ્રાયને અનુસરીને બોલનાર

—એવો ગુણવાન્ શાસ્ત્ર અર્થ ગ્રહણ કરવા રૂપ શિક્ષા પ્રાપ્ત કરવા યોગ્ય થાય છે અર્થાત્ એનાથી વિપરીત ગુણવાળો અવિનીત, શિક્ષા પ્રાપ્ત કરવા યોગ્ય થતો નથી જે શિક્ષાને પ્રાપ્ત કરે છે, તે બહુશ્રુત થાય છે (૧૪)

બહુશ્રુતની પ્રશંસા

શંખની ઉપમા

જેમ શંખમા સ્થાપન કરેલુ દૂધ, બંને પ્રકારે શોભે છે, તેમ બહુશ્રુત ભિક્ષુમા સ્થાપન થયેલ ધર્મ, કીર્તિ (પ્રશંસા) પામે છે, તેમ શ્રુત પણ શોભે છે

શંખમા સ્થાપન કરેલ દૂધ, માત્ર શુદ્ધતા વગેરે પોતાના ગુણ વડે જ નહિ, પરંતુ પોતાના અને આશ્રયના બંને પ્રકારના ગુણો વડે શોભે છે અર્થાત્ તેમા તે કલુષ થતુ નથી (બગડી જતુ નથી કે ખાટુ થઈ જતુ નથી) કે ઝરી જતુ નથી (નીકળી જતુ નથી), તેમ ભિક્ષુ (તપસ્વી)મા ધર્મ (યતિધર્મ), કીર્તિ (શ્લાઘા) અને શ્રુત (આગમ) શોભે છે કહેવાનો આશય એ છે કે–ધર્મ, કીર્તિ અને શ્રુત નિરૂપલેપતા વગેરે ગુણવડે પોતે જાતે જ શોભે છે, તો પણ મિથ્યાત્વ વગેરે કલુષતા જવાથી, નિર્મલતા વગેરે ગુણવડે, બહુશ્રુતમા રહેલા તે, આશ્રયના ગુણવડે વિશેષ પ્રકારે શોભે છે તે (ધર્મ, કીર્તિ અને શ્રુત) બહુશ્રુતમા કદાપિ માલિન્ય (અન્યથાભાવ કે હાનિ) પામતા નથી (બીજે તો જૂદા પાત્રમા રહેલ દૂધની જેમ અન્ય પ્રકારને પણ પામે),

વૃદ્ધોની વ્યાખ્યા 'યથા ઔપમ્યમા' છે–જેમ શંખમા સ્થાપેલુ દૂધ, તે શંખ અને દૂધ અથવા સ્થાપનાર અને દૂધ, શંખમાથી ઝરી જતુ નથી કે ખાટુ થઈ જતુ નથી, શોભે છે એવી રીતે બહુશ્રુત (સૂત્રાર્થ–વિશારદ–જાણકાર) શોભે છે

એવી રીતે ભિક્ષુરૂપ ભાજન (પાત્ર)મા આપનારને ધર્મ થાય છે, કીર્તિ (યશ) થાય છે, તથા શ્રુત આરાધિત થાય છે (અપાત્રમા આપનારનુ અશ્રુત જ થાય ■)

અથવા પાત્રમા આપનાર આ લોક અને પરલોકમા શોભે છે અથવા એવો ગુણ જાતિમાન ભિક્ષુ બહુશ્રુત થાય ■ ધર્મ કીર્તિ અને યશ થાય છે તેનુ શ્રુત આરાધિત થાય અથવા આ લોકમા અને પરલોકમા તે શોભે છે, અથવા તે શીલવડે અનેશ્રુત વડે શોભે ■ ૧૫

(શ્રેષ્ઠ અશ્વની ઉપમા)

જેમ બધી જાતિના કાંબોજ (કંબોજ દેશના ઘોડાઓ)મા કંથક અશ્વ એ શીઘ્ર

વગેરે ગુણો વડે આકીર્ણ (ભરપૂર) હોઈ વેગવડે પ્રવર હોય છે. એવી રીતે બીજા વ્રતધરો-શ્રુતધરોમાં બહુશ્રુત પ્રવર-શ્રેષ્ઠ હોય છે.

કંથક અશ્વ. પત્થરોના ખંડોથી ભરેલ પત્ર પડ૨.ની ધ્વનિથી ત્રાસ પામતો નથી (ભયભીત થતો નથી).

જિનધર્મ સ્વીકારનારા વ્રતીઓ કાંબોજ અશ્વ જેવ કહેવાય. તેઓમાં જાતિ, જવ (વેગ) વગેરે ગુણોવડે કંથક પ્રવર હોય છે. તેમ ધાર્મિકોની અપેક્ષાએ શ્રુત, શીલ વગેરે ગુણોવડે બહુશ્રુત શ્રેષ્ઠ ગણાય. ૧૬

જેમ આકીર્ણ (જાતિ વગેરે ગુણોથી યુક્ત ઘોડા) પર સારી રીતે ચઢેલ, દૃઢ પરાક્રમી શૂર પુરૂષ બંને બાજૂથી (જમણી અને ડાબી અથવા આગળથી અને પાછળથી) નંદિ-ઘોષ (બાર પ્રકારના વાજિંત્રોના નાદ અને બન્દી-કોલાહલ આશીર્વાદ)થી યુક્ત થાય છે; બહુશ્રુત પણ એવો થાય છે.

જેમ એવો શૂર કોઈના વડે પરાભવ પામતો નથી. તેમ જ એનો આશ્રિત પણ તેમ જિન-પ્રવચન રૂપી અશ્વનો આશ્રિત બહુશ્રુત પણ ગર્વિષ્ઠ પરવાદીઓને જોવા છતાં પણ કોઈ રીતે ત્રાસ (ભય) ન પામતાં તેના વિજયમાં સમર્થ થાય છે. બને તરફના દિવસ અને રાત્રિના અથવા સ્વપક્ષના અને પરપક્ષના સ્વાધ્યાયના ઘોષવડે, અથવા 'આ બહુશ્રુત ચિરકાળ જીવો, જેમણે પ્રવચનને ઉત્કૃષ્ઠ પ્રકારે દીપાવ્યું' એવા આશીવાદરૂપ નાંદી-ઘોષથી યુક્ત થાય છે. મદમત્ત પરમત-વાદીઓવડે પણ તે (બહુશ્રુત) પરાભવ પમાડી શકાતો નથી, એટલું જ નહિ, એવા પ્રતાપી બહુશ્રુત તપતાં (વિદ્યમાન્) છતાં, તેનો આશ્રિત અન્ય પણ કોઈ પ્રકારે જિતી શકાતો નથી. ૧૭

(કુંજરની ઉપમા)

જેમ હાથણીઓથી પરવરેલો, સાઠ વર્ષ સુધીનો કુંજર બલવાન્ (શરીર-સામર્થ્યવાન) હોઈ અપ્રતિહત હોય છે-બીજા મદમત્ત હાથીઓ વડે પણ તે પરાભવ પમાડી શકાતો નથી, તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે. કારણ કે તે બીજાઓના પ્રસરને અટકાવનારી હાથણીઓ જેવી ઔત્પત્તિકી વગેરે બુદ્ધિઓ વડે અને વિવિધ વિદ્યાઓ વડે યુક્ત હોય છે અને તે સાઠ વર્ષના હોઇ અત્યંત સ્થિરમતિ હોય છે, તથા તે બલવાન હોઈ અપ્રતિહત (પરાભવ ન પમાડી શકાય તેવા) હોય છે. દર્શનનો ઉપઘાત કરનારા બહુ જનો વડે પણ તે પ્રતિહત કરી શકાયા નથી. ૧૮

[વૃષભની ઉપમા]

જેમ તીક્ષ્ણ શૃંગવાળો, અત્યંત પુષ્ટ સ્કંધવાળો (ઉપલક્ષણથી સમસ્ત પુષ્ટ અંગોપાંગ) યૂથાધિપતિ (ગાય-બલદોના જૂથનો સ્વામી) વૃષભ શોભે છે, તેમ બહુશ્રુત પણ એવો હોય છે.

જેમ વૃષભ, તીક્ષ્ણ શૃંગો વડે પર-પક્ષનો ભેદક હોય છે, તેમ બહુશ્રુત, સ્વ શાસ્ત્ર, પર-શાસ્ત્રરૂપી શૃંગો વડે યુક્ત હોઈ પર-પક્ષના ભેદક હોય છે. ગચ્છ-ગુરૂના કાર્યની ધુરા ધારણ કરવામાં તે વૃષભ જેવા સમર્થ હોઈ તેમને જાતસ્કન્ધ વિશેષણ ઘટે છે તેવા યૂથાધિપતિ, સાધુ વિગેરે સમૂહના અધિપતિ હોઈ આચાર્ય-પદવીને પામ્યા છતા વિશેષ પ્રકારે શોભે છે. ૧૯

[સિંહની ઉપમા]

જેમ તીક્ષ્ણ દાઢવાળો, ઉદગ્ર (ઉત્કટ) સિંહ, (અરણ્યવાસી પ્રાણીઓમાં) બીજાઓથી દુષ્પ્રધર્ષ (પરાભવ ન પમાડી શકાય તેવો) મૃગોમાં પ્રવર હોય છે, તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે

બહુશ્રુત પણ પર-પક્ષ-ભેદક હોય છે, તે તીક્ષ્ણ દાઢ જેવા નૈગમ વગેરે નયો અને પ્રતિભા વગેરે ગુણોથી ઉદગ્ર (ઉત્કટ પ્રચંડ) હોઇ અન્ય મતાન્તરીય વાદીઓથી પરાભવ ન પમાડી શકાય તેવા, અન્ય તીર્થોમાં પ્રવર શ્રેષ્ઠ હોય છે. ૨૦

[વાસુદેવની ઉપમા]

જેમ વાસુદેવ (વિષ્ણુ) શંખ (પાંચજન્ય), ચક્ર (સુદર્શન) અને ગદા (કૌમોદકી) ધરનાર હોઇને અપ્રતિહત બળવાળો (બીજાઓથી અસ્ખલિત સામર્થ્યવાળો) હોય છે, તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે જેમ વાસુદેવ સહજ-સામર્થ્યવાળો અને બીજા યોધાઓથી યુક્ત યોધો (સુભટ) હોય છે, તેમ બહુશ્રુત પણ સ્વાભાવિક પ્રતિભા પ્રાગલ્ભ્યવાળા અને શંખ, ચક્ર, ગદા જેવાં સમ્યગ્ દર્શન, જ્ઞાન અને ચારિત્રવડે યુક્ત હોય છે અને કર્મરૂપી વૈરીઓનો પરાભવ કરવામાં યોધા (સુભટ) જેવા હોઈ અપ્રતિહત બળવાળા (અસ્ખલિત સામર્થ્યવાળા) હોય છે. ૨૧

[ચક્રવર્તીની ઉપમા]

જેમ મહર્ધિક, ચૌદ રત્નોનો અધિપતિ ચતુરન્ત ચક્રવર્તી હોય છે, તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે

ચારે દિશાના અંત (એક દિશામાં હિમાલય અને ત્રણ દિશામાં સમુદ્રો) જેને હોય છે, અથવા ઘોડા, હાથી, રથ, નરોરૂપી ચતુરંગી સેના વડે જેણે શત્રુઓનો અંત કર્યો છે, એથી જે ચતુરન્ત, તથા છ ખંડ ભરતના અધિપતિ હોઇ જે ચક્રવર્તી કહેવાય છે મોટી ઋધ્ધિ દિવ્ય લક્ષ્મી મળવાથી જે મહર્ધિક કહેવાય છે ૧ સેનાપતિ, ૨ ગૃહપતિ, ૩ પુરોહિત, ૪ ગજ, ૫ તુરંગ (અશ્વ), ૬ વર્ધકી ૭ સ્ત્રી, ૮ ચક્ર, ૯ છત્ર, ૧૦ ચર્મ, ૧૧ મણી, ૧૨ કાકણિ, ૧૩ ખડ્ગ અને ૧૪ દંડ એ ચૌદ રત્નોના અધિપતિ હોય છે, તેવી રીતે બહુશ્રુત પણ હોય છે

—તે સમુદ્ર-પર્યન્ત મહી-મંડળમાં પ્રખ્યાત કીર્તિવાળા હોય છે-ત્રણે દિશા

ઓમાં અને અન્યત્ર વિદ્યાધરો મંગલ-પાઠક બનેલા હોવાથી ચારે દિશામાં તેમની કીર્તિ ફેલાયેલી હોવાથી ચતુરન્ત કહેવાય, અથવા દાન, શીલ, તપ ભાવ એ ચાર પ્રકારના ધર્મોવડે જેના કર્મરૂપી વૈરીઓને વિનાશ થયેલ હોવાથી તે ચતુરન્ત કહેવાય. આમર્શ ઔષધિ વગેરે ઋદ્ધિઓ અને 'ચક્રવર્તી સાથે મહાયુદ્ધ કરી શકે' એવી પુલાક લબ્ધિ વગેરે મોટી ઋદ્ધિઓ પ્રાપ્ત થવાથી તે મહર્દ્ધિક કહેવાય. તેમજ બહુશ્રુતને ચૌદ રત્નો જેવાં, સકળ અતિશયોનાં નિધાન ચૌદપૂર્વો પ્રાપ્ત થયાં હોય છે-એથી એમને ચક્રવર્તી-તુલ્ય કેમ ન કહી શકાય ? ૨૨.

શક્રની ઉપમા

જેમ સહસાક્ષ વજ્રપાણિ પુરંદર શક્ર દેવોનો અધિપ ત હોય છે, તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે.

ઇંદ્રને સહસ્રાક્ષ (હજાર આંખોવાળો) એથી કહેવામાં આવે છે, કે તેને પાંચસો મંત્રીઓ હોય છે, તેમની હજાર આંખોવડે તે વિક્રમ કરે છે, અથવા હજાર આંખોવડે જે જોઈ શકાય, તે, તે (ઇંદ્ર) બે આંખોવડે જ વિશિષ્ટ પ્રકારે જુએ છે. વજ્ર હથિયાર હાથમાં હોવાથી તે વજ્રપાણિ કહેવાય છે. લોકોક્તિ પ્રમાણે પુરને દારણ કરવાથી તે પુરંદર કહેવાય છે. તે શક્ર દેવોનો અધિપતિ (સ્વામી) હોય છે, તેવો બહુશ્રુત હોય છે. હજાર આંખો જેવા સમસ્ત અતિશયવાળા રત્ન નિધાન જેવા શ્રુતજ્ઞાનવડે તે જાણે છે. એવા મહાપુરુષના હાથમાં વજ્ર (લક્ષણ) હોવા સંભવ છે, એથી તે વજ્રપાણિ કહી શકાય. પુર-શબ્દવડે શરીર કહેવાય, તેને તે વિકૃષ્ટ તપોઽનુષ્ઠાનથી જાણે દારણ કરતા હોય તેવા હોવાથી તે પણ પુરંદર કહી શકાય. ધર્મમાં અત્યંત નિશ્ચલ હોવાથી શક્રની જેમ દેવોવડે પણ તે પૂજાય છે, એથી દેવોના અધિપતિ પણ કહેવાય. કહ્યું છે કે-

"देवा वि तं नमंसन्ति, जस्स धम्मे सया मणो।"

અર્થાત્ દેવો પણ તેને નમે છે, જેનું મન સદા ધર્મમાં હોય છે. ૨૩

સૂર્યની ઉપમા

જેમ તેજથી ઝળહળતો સૂર્ય અંધકારનો વિધ્વંસ કરનાર હોય છે, તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે.

અંધકારનો વિધ્વંસ કરનાર ઊગતો સૂર્ય આકાશમાં ચડતાં અત્યંત તેજસ્વિતા ધારણ કરે છે અથવા ઊગતી વખતે (ઉદય પામતાં) એ તીવ્ર હોતો નથી, પછી તેજ વડે જ્વાલાને મૂકતો હોય તેવો જણાય છે. બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે- તે અજ્ઞાનરૂપ અંધકારને દૂર કરનાર અને સંયમનાં સ્થાનોમાં વિશુદ્ધ વિશુદ્ધતર અધ્યવસાયથી ઉંચે ચડતાં અને તપ-તેજવડે જળહળતા હોય છે. ૨૪

ચંદ્રની ઉપમા

જેમ ઉડુપતિ (નક્ષત્રોનો સ્વામી) ચંદ્ર, નક્ષત્ર (અને ગ્રહો, તારાઓ) વડે પરિવારવાળો

જેમ વૃષભ, તીક્ષ્ણ શૃંગો વડે પર-પક્ષનો ભેદક હોય છે, તેમ બહુશ્રુત, સ્વ શાસ્ત્ર, પર-શાસ્ત્રરૂપી શૃંગો વડે યુક્ત હોઈ પર-પક્ષના ભેદક હોય છે. ગચ્છ-ગુરુના કાર્યની ધુરા ધારણ કરવામાં તે વૃષભ જેવા સમર્થ હોઈ તેમને જાતસ્કન્ધ વિશેષણ ઘટે છે તેવા યૂથાધિપતિ, સાધુ વિગેરે સમૂહના અધિપતિ હોઇ આચાર્ય-પદવીને પામ્યા છતા વિશેષ પ્રકારે શોભે છે ૧૯

[સિંહની ઉપમા]

જેમ તીક્ષ્ણ દાઢવાળો, ઉદગ્ર (ઉત્કટ) સિંહ, (અરણ્યવાસી પ્રાણીઓમાં) બીજાઓથી દુષ્પ્રધર્ષ (પરાભવ ન પમાડી શકાય તેવો) મૃગોમાં પ્રવર હોય છે, તેમ બહુશ્રુત પણ એવો હોય છે

બહુશ્રુત પણ પર-પક્ષ-ભેદક હોય છે, તે તીક્ષ્ણ દાઢ જેવા નૈગમ વગેરે નયો અને પ્રતિભા વગેરે ગુણોથી ઉદગ્ર (ઉત્કટ પ્રચંડ) હોઇ અન્ય મતાન્તરીય વાદીઓથી પરાભવ ન પમાડી શકાય તેવા, અન્ય તીર્થીમા પ્રવર શ્રેષ્ઠ હોય છે. ૨૦

[વાસુદેવની ઉપમા]

જેમ વાસુદેવ (વિષ્ણુ) શંખ (પાંચજન્ય), ચક્ર (સુદર્શન) અને ગદા (કૌમોદકી) ધરનાર હોઈને અપ્રતિહત બલવાળો (બીજાઓથી અસ્ખલિત સામર્થ્યવાળો) હોય છે, તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે જેમ વાસુદેવ સહજ-સામર્થ્યવાળો અને બીજા યોધાઓથી યુક્ત યોધો (સુભટ) હોય છે, તેમ બહુશ્રુત પણ સ્વાભાવિક પ્રતિભા પ્રાગલ્ભ્યવાળા અને શંખ, ચક્ર, ગદા જેવાં સમ્યગ્ દર્શન, જ્ઞાન અને ચારિત્રવડે યુક્ત હોય છે અને કર્મરૂપી વૈરીઓનો પરાભવ કરવામા યોધા (સુભટ) જેવા હોઈ અપ્રતિહત બલવાળા (અસ્ખલિત સામર્થ્યવાળા) હોય છે. ૨૧

[ચક્રવર્તીની ઉપમા]

જેમ મહર્ધિક, ચૌદ રત્નોનો અધિપતિ ચતુરન્ત ચક્રવર્તી હોય છે, તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે

ચારે દિશાના અંત (એક દિશામાં હિમાલય અને ત્રણ દિશામાં સમુદ્રો) જેને હોય છે, અથવા ઘોડા, હાથી, રથ, નરોરૂપી ચતુરંગી સેના વડે જેણે શત્રુઓનો અંત કર્યો છે, એથી જે ચતુરન્ત, તથા છ ખંડ ભરતના અધિપતિ હોઈ જે ચક્રવર્તી કહેવાય છે મોટી ઋધ્ધિ દિવ્ય લક્ષ્મી મળવાથી જે મહર્ધિક કહેવાય છે ૧ સેનાપતિ, ૨ ગૃહપતિ, ૩ પુરોહિત, ૪ ગજ, ૫ તુરંગ (અશ્વ), ૬ વર્ધકી ૭ સ્ત્રી, ૮ ચક્ર, ૯ છત્ર, ૧૦ ચર્મ, ૧૧ મણી, ૧૨ કાકણિ, ૧૩ ખડ્ગ અને ૧૪ દંડ એ ચૌદ રત્નોના અધિપતિ હોય છે, તેવી રીતે બહુશ્રુત પણ હોય છે

—તે સમુદ્ર-પર્યન્ત મહી-મંડલમા પ્રખ્યાત કીર્તિવાળા હોય છે-ત્રણે દિશા

વિવેકીને વાંછા હોતી નથી, તેથી તેઓની જેમ તેમનું જન્મ વચ્ચે અવસ્થામાં કેમ થાય? નીલવાનની જેવા ઉંચામાં ઉંચા મહાકુલથી જ એમની ઉત્પત્તિ ઘટે છે. એમ ન હોય તો તેમાં એવા પ્રકારની યોગ્યતાનો સંભવ કેવી રીતે હો શકે.- ૨૮.

મંદરગિરિની ઉપમા

જેમ પર્વતોમાં પ્રવર (અતિપ્રધાન) અત્યંત મહાન (અતિશય ગુરૂ અત્યુચ્ચ) મંદરનામનો ગિરિ છે. તે વિવિધ ઔષધિઓ (અનેક પ્રકારના વિશિષ્ઠ મહાત્મ્યવાળી વનસ્પતિઓ) વડે પ્રજ્વલિત (પ્રદીપ્ત) હોય છે, એવી રીતે બહુશ્રુત પણ તેવા હોય છે. શ્રુતના મહાત્મ્યવડે તે અત્યન્ત સ્થિર હોય છે. બીજા પર્વત સમાન બીજા સ્થિર સાધુઓની અપેક્ષાએ પ્રવરજ હોય છે. તથા અંધકારમાં પ્રકાશન શક્તિથી યુક્ત આમર્શ ઔષધિ વગેરે તે બહુશ્રુતમાં અત્યન્ત પ્રતીતજ છે. ૨૯.

સ્વયંભૂરમણ સમુદ્રની ઉપમા

બહુ કહેવાથી શું? જેમ સ્વયંભૂરમણ નામનો સમુદ્ર અક્ષય (અખૂટ) પાણી વાળો હોય છે; તથા વિવિધ પ્રકારનાં રત્નો (મરકત વગેરે) વડે તે પ્રતિપૂર્ણ હોય છે. તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે. તે અક્ષય સમ્યગ્જ્ઞાનરૂપ પાણીવાળા, તથા વિવિધ અતિશયરૂપી રત્નોવાળા હોય છે, અથવા અક્ષત ઉદય (પ્રાદુર્ભાવ) વાળા હોય છે. ૩૦

બહુશ્રુતોની ઉત્તમગતિ (મુક્તિ)

ગાંભીર્ય ગુણવડે સમુદ્ર સમાન, અભિભવની બુદ્ધિવડે દુઃખે પ્રાપ્ત કરી શકાય, દુઃખે આશ્રય કરી શકાય તેવા, કોઇ પરિષહ વગેરેથી ત્રાસ ન પમાડી શકાય તેવા, પરપ્રવાદીવડે પ્રધર્ષ-પરાભવ ન પમાડી શકાય તેવા, વિપુલ (અંગ અનંગ વગેરે ભેદથી વિસ્તાર વાળા) શ્રુતવડે (આગમ વડે) પૂર્ણ એવા રક્ષણ કરનારા પૂજ્ય બહુશ્રુતો (જ્ઞાનાવરણાદિ) કર્મ (ભૂતકાળમાં) ખપાવીને (વિનષ્ઠ કરીને) ઉત્તમ ગતિ (મુક્તિ) ને પામ્યા છે, વર્તમાનમાં પામે છે અને અને ભવિષ્યમાં પામશે. ૩૧

એવી રીતે બહુશ્રુતની ગુંહા વર્ણનવાળી પૂજાનું કથન કરી અંતમાં શિષ્યને ઉપદેશ આપતાં ત્યાં સૂત્રકારે કહ્યું છે કે.

એવી રીતે બહુશ્રુતના ગુણ મુક્તિ-ગમન-ફળ પરિણામવાળા છે. તેથી ઉત્તમ અર્થના (મોક્ષના) ગવેષકે શ્રુત (આગમ) નો અધ્યયન, શ્રવણ, ચિન્તન વગેરે દ્વારા આશ્રય કરવો જોઈએ. જેથી (શ્રુતના આશ્રયવડે) તે પોતાને અને પરને (બીજા તપસ્વી વગેરેને) સિદ્ધિએ અવશ્ય પહોંચાડે પદે એમાં સંદેહ નથી. ૩૨.

જૈન શાસનમાં એવા બહુશ્રુતો બહુ પ્રકાશે. બહુશ્રુતોને સદા વંદન હો. તેમનું સંન્માન-પૂજન યોગ્ય ગણાય.

અને પૂર્ણિમાએ પ્રતિપૂર્ણ (સમસ્ત કળાઓથી યુક્ત) હોય છે તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે તે નક્ષત્રો જેવા અનેક સાધુઓના અધિપતિ તથા તેવા પરિવારથી યુક્ત હોય છે અને સકળ કળાઓથી યુક્ત હોઇને પ્રતિપૂર્ણ હોય છે ૨૫

કોઠારની ઉપમા

જેમ સામાજિક લોકાનો કોઠાર, વિવિધ ધાન્યોથી પરિપૂર્ણ અને સુરક્ષિત હોય છે તેમ બહુશ્રુત એવા હોય છે

રયમા (અતસી) વગેરે ધાન્યોનો કોઠો તે અગાર, ઘણા ધાન્યોનુ સ્થાન હોય છે અગ્નિ વગેરેના ભયથી જ્યાં ધાન્યોના કાઠા કરાય છે તે કોઠાર કહેવાય છે તે પહેરેગીર વગેરે દ્વારા રક્ષિત હોય છે ચોરો ઉંદરો વગેરેથી પણ સુરક્ષિત હોય છે શાલિ (ચોખા) મગ વગેરે વિવિધ ધાન્યોથી પ્રતિપૂર્ણ હોય છે એવી રીતે બહુશ્રુત સામાજીક લોકોની જેમ ગચ્છવાસીઓને ઉપયોગી વિવિધ ધાન્યો જેવા અંગ ઉપાંગો, પ્રકીર્ણકો વગેરે પ્રકારના શ્રુતજ્ઞાન વિશેષવડે પ્રતિપૂર્ણ હોય છે પ્રવચનના આધારભૂત હોવાથી સુરક્ષિત હોવા ઘટે છે જેથી કહ્યુ છે કે જેને આધીન કુલ છે, તે પુરૂષની તમે આદરથી રક્ષા કરો ૨૬

જંબૂવૃક્ષની ઉપમા

જેમ બધા વૃક્ષોમા જંબૂ નામનુ વૃક્ષ પ્રવર (પ્રધાન શ્રેષ્ઠ), સુદર્શન (દર્શન કરવા યોગ્ય) હોય છે કારણકે એ અમૃત જેવા ફળવાળુ અને દેવો વગેરેના આશ્રય વાળુ હોય છે તેવુ બીજુ વૃક્ષ નથી જંબૂનુ વૃક્ષપણુ અને ફલ-વ્યવહાર તેની પ્રતિરૂપ હોવાથી કહાય છે વાસ્તવિકરીતે પ્રથિવ કહેલ છે તેના મૂળ વગેરેને વજ્રમય વૈડુર્યમય વગેરે પ્રકારના ત્યાં ત્યાં કહ્યા છે એ જંબૂ અનાદત નામના દેવનુ (જંબૂદ્વીપના અધિપતિ વ્યંતર સુરના આશ્રયવડે એના સબંધવાળુ) સમજવુ તેમ બહુશ્રુત એવા હોય છે તે અમૃતની ઉપમા આપી શકાય તેવા ફળ જેવા શ્રુતથી યુક્ત હોય છે અને દેવો વગેરેના પણ પૂજ્ય હોવાથી અભિગમન કરવા યોગ્ય હોય છે તથા બીજા વૃક્ષો જેવા સાધુઓમા પ્રધાન હોય છે ૨૭

શીતા નદીની ઉપમા

જેમ, નદીઓમા પ્રવર (પ્રધાન) શીતા નદી શ્રેષ્ઠ, વિમલ સલિલવાળી હોય છે, તે સાગર તરફ ગમન કરનારી તથા તે નીલવાન (મેરૂની ઉત્તર દિશામા રહેલા વર્ષધર પર્વત) થી ઉત્પત્તિવાળી અથવા પ્રવાહવાળી હોય છે બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે તે બહુશ્રુતિ નદીઓ જેવા અન્ય સાધુઓમા અથવા સમસ્ત શ્રુતજ્ઞાનિઓમા પ્રધાન હોય છે અને વિમલ જલ સમાન શ્રુત જ્ઞાનથી યુક્ત હોય છે, તથા તે સાગર જેવા મુક્તિ સ્થાનમાજ જાય છે કારણકે મુક્તિને ઉચિત અનુષ્ઠાનમાજ તેમની પ્રવૃત્તિ હોય છે બીજા દર્શની (મતાંતરીય) જનોની જેમ દેવ વિગેરેના ભવમાજ એ

વિવેકીને વાંછા હોતી નથી, તેથી તેઓની જેમ તેમનું [illegible]
નીલવાનની જેવા ઉંચામાં ઉંચા મહાકુલથી જ [illegible]
તો તેમાં એવા પ્રકારની યોગ્યતાનો સંભવ કેવી રીતે [illegible] ૨૯.

મંદરગિરિની ઉપમા

જેમ પર્વતોમાં પ્રવર (અતિપ્રધાન) અત્યંત [illegible] ([illegible])
મંદરનામનો ગિરિ છે. તે વિવિધ ઔષધિઓ (અનેક પ્રકારના [illegible] [illegible])
વનસ્પતિઓ) વડે પ્રજ્વલિત (પ્રદીપ્ત) હોય છે, એવી રીતે બહુશ્રુત [illegible]
છે. શ્રુતના મહાત્મ્યવડે તે અત્યન્ત સ્થિર હોય છે. બીજા [illegible] સમાન [illegible]
સાધુઓની અપેક્ષાએ પ્રવરજ હોય છે. તથા અંધકારમાં પ્રકાશન [illegible]
આમર્શ ઔષધિ વગેરે તે બહુશ્રુતમાં અત્યન્ત પ્રસીતજ છે. ૨૯.

સ્વયંભરમણ સમુદ્રની ઉપમા

બહુ કહેવાથી શું ? જેમ સ્વયંભૂરમણ નામનો સમુદ્ર અક્ષય ([illegible]) પાણી
વાળો હોય છે, તથા વિવિધ પ્રકારનાં રત્નો (મરકત વગેરે) વડે તે પ્રતિપૂર્ણ હોય છે,
તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે. તે અક્ષય સમ્યગ્જ્ઞાનરૂપ પાણીવાળા, તથા વિવિધ
અતિશયરૂપી રત્નોવાળા હોય છે, અથવા અક્ષત ઉદય (પ્રાદુર્ભાવ) વાળા હોય છે. ૩૦.

બહુશ્રૂતોની ઉત્તમગતિ (મુક્તિ)

ગાંભીર્ય ગુણવડે સમુદ્ર સમાન, અભિભવની બુદ્ધિવડે દુઃખે પ્રાપ્ત કરી શકાય,
દુઃખે આશ્રય કરી શકાય તેવા, કોઇ પરિષહ વગેરેથી ત્રાસ ન પમાડી શકાય તેવા, પર-
પ્રવાદીવડે પ્રધર્ષ–પરાભવ ન પમાડી શકાય તેવા, વિપુલ (અંગ અનંગ વગેરે ભેદથી વિસ્તાર
વાળા) શ્રુતવડે (આગમ વડે) પૂર્ણ એવા રક્ષણ કરનારા પૂજ્ય બહુશ્રુતો (જ્ઞાનાવરણાદિ
કર્મ (ભૂતકાળમાં) ખપાવીને (વિનષ્ટ કરીને) ઉત્તમ ગતિ (મુક્તિ) ને પામ્યા છે, વર્તમાનમાં
પામે છે અને અને ભવિષ્યમાં પામશે. ૩૧

એવી રીતે બહુશ્રુતની ગુણ વર્ણનવાળી પૂજાનું કથન કરી અંતમાં શિષ્યને
ઉપદેશ આપતાં ત્યાં સૂત્રકારે કહ્યું છે કે.

એવી રીતે બહુશ્રુતના ગુણ મુક્તિ–ગમન–ફળ પરિણામવાળા છે. તેથી ઉત્તમ
અર્થના (મોક્ષના) ગવેષકે શ્રુત (આગમ) નો અધ્યયન, શ્રવણ, ચિન્તન વગેરે દ્વારા આશ્રય
કરવો જોઈએ. જેથી (શ્રુતના આશ્રયવડે) તે પોતાને અને પરને (બીજા તપસ્વી વગેરેને)
સિદ્ધિએ અવશ્ય પહોંચાડે પદે એમાં સંદેહ નથી. ૩૨.

જૈન શાસનમાં એવા બહુશ્રુતો બહુ પ્રકાશે. બહુશ્રુતોને સદા વંદન હો. તેમનું
સન્માન–પૂજન યોગ્ય ગણાય.

જૈન ધર્મની અતિ વિશાલતા

લેખક શતાવધાની પંડિત ધીરજલાલ ટોકરશી શાહ

જૈન ધર્મ અતિ વિશાળ છે, એમ કહેવામા જરા પણ અત્યુકિત નથી, કારણ ભકિતયોગની ભવ્યતા જોવી હોય તો એમા જોઇ શકાય છે, જ્ઞાનયોગનુ ગૌરવ દેખવુ હોય તો એમા દેખી શકાય છે, કર્મયોગની કઠિનતા નિહાળવી હોય તો એમા નિહાળી શકાય છે અને અધ્યાત્મનો અનેરો પ્રકાશ અવલોકવો હોય તો એમા અવલોકી શકાય ▮ વળી તત્વજ્ઞાનની તલસ્પર્શિતા કે દર્શન શાસ્ત્રની દિવ્યતા, કલાની કમનીયતા કે સાહિત્યની સૌંદર્યધારા દષ્ટિ ગોચર કરવી હોય તો પણ એના ઘણીજ સરલતાથી દષ્ટિ ગોચર કરી શકાય છે આ વિષયમા એક નાનકડો પ્રસગ અહીં રજુ કરવા માગુ છુ

આજથી ત્રણ વર્ષ પહેલા શ્રીનમસ્કાર મહામત્રના સાહિત્ય-સશોધન અગે કલકત્તા જવાનુ થયુ, ત્યારે એક સુપ્રસિદ્ધ વિદ્વાને મને પૂછયુ કે 'જૈન ધર્મમા બધુ છે, પણ તત્રનો સગ્રહ છે ખરો?

મે તેજ વખતે તેમને મારી પાસેની નાના મોટા ૫૦૦ તત્રની યાદી બતાવી એટલે તેમના આશ્ચર્યનો પાર રહ્યો નહિ તેઓ તરત જ બોલી ઉઠયા શુ અધ્યાત્મ વાદી જૈનોએ તત્રશાસ્ત્રમા પણ આટલી બધી પ્રગતિ કરીછે? હુ બે વર્ષ પહેલા સૌરાષ્ટ્રના પ્રવાસે આવ્યો, ત્યારે તમારા બે ત્રણ આગેવાનો સાથે મુલાકાત થઈ હતી તેમને મે આ વિષયમા પૂછયુ, ત્યારે એવો ઉત્તર મળ્યો હતો કે અમારામા એવુ કઈ છે નહિ તત્ર-યત્ર જોડે અમારે શુ લેવા દેવા? અમે તો અધ્યાત્મના ઉપાસક એટલે અમારી પાસે ઘણુભાગે અધ્યાત્મના જ ગ્રથો હોય'

મે કહ્યુ ઉત્તર ઉપરથી લાગે છે કે એ આગેવાનો શ્રીમત વેપારીઓ હશે કે જેમને સાહિત્ય સાથે મોટા ભાગે બારમો ચદ્રમા ચાલે છે કોઈ વાર વિદ્વાનો કે પંડિતોને નોતરી તેમની સાથે સાહિત્ય-સર્જન, સાહિત્ય-પ્રચાર કે ▮ગોરવ અગ વાત ચીત કે ચર્ચા કરે તો ખબર પડે ને કે તેમા શુ ખજાનો ભરેલો છે! આ વિષયમા મારે એટલુ જ કહેવાનુ છે કે જૈન ધર્મનુ દષ્ટિબિદુ અતિ વિશાળ ▮ તે દરેક શાસ્ત્રને જ્ઞાનનુ એક અગ માની તેનો પોતાની અદર સમાવેશ કરે છે જૈન શાસ્ત્રના પ્રણેતા ગણધર ભગવતોએ બારમા દષ્ટિવાદ અગની રચના કરતા ચૌદ પૂર્વોની રચના કરી અને તેમા વિદ્યાપ્રવાદ નામનુ દશમુ પૂર્વ નિર્માણ કર્યું કે જેમા જગતની તમામ ગૂઢ વિદ્યાઓનો સમાવેશ થાય છે તેમાથી જૈનોએ તાત્રિક વિકાસ સાધ્યો છે

તેમને મારી આ વાતમા ખૂબ જ રસ પડ્યો, એટલે એક વિશેષ પ્રશ્ન રજૂ કર્યો 'શુ જૈનતત્રમા આકાશગામિની વિદ્યા સબધી કઇ લખેલુ છે?

મે કહ્યુ અમારા સાહિત્યમા શ્રીપાદલિપ્તસૂરિની જીવનકથા પ્રસિદ્ધ છે, તેમા સ્પષ્ટ જણાવ્યુ છે કે તેઓ અમુક પ્રકારની ઔષધિઓનો પગ ઉપર લેપ કરી તેના

બળથી આકાશમાર્ગે ગમન કરતા હતા અને અષ્ટાપદાદિ અતિ દૂર રહેલાં તીર્થોની યાત્રા ક્ષણમાત્રમાં કરીને પાછા આવી જતા હતા. નાગાર્જુન નામના પ્રસિદ્ધ રસશાસ્ત્રીએ તેમની પાસેથી એ વિદ્યા ગ્રહણ કરવા માટે કેવા-કેવા પ્રયત્નો કર્યા અને આખરે તેને ગુરુકૃપાથી એ વિદ્યા કેવી રીતે સિદ્ધ થઈ, તેનું વિશદ વર્ણન આ વિષયમાં, જૈન તાંત્રિકોએ કેવી અદ્ભુત પ્રગતિ કરી હતી, તેનું પુષ્ટ પ્રમાણ પૂરું પાડે છે.

આવી બપુટાચાર્ય અને તેમના સુશિષ્ય મહેન્દ્રસુનિએ પણ આ વિષયમાં સારી પ્રગતિ કરી હતી, એમ પ્રબંધકારો જણાવે છે અને તેનાં સમર્થનમાં કેટલાક દાખલાઓ પણ ટાંકે છે. વળી 'વિવિધ તીર્થ-કલ્પના'ના રચયિતા શ્રી જિનપ્રભસૂરિએ શ્રી બપ્પભટ્ટસૂરિજીની આ ચમત્કારિક મહાન્ શક્તિનો ઉલ્લેખ કરતાં મથુરા કલ્પમાં જણાવ્યું છે કે 'सित्तुंजे रिसहं, गिरिनारेनेमिं, भरुअच्छे मुणिसुव्वयं, मोढरए वीरं, महुराए सुपास-पासं घडिआ दुग-भंतरे नमित्ता, सोरट्ठे ढुंढणं विहरित्ता, गोवालगिरिंमि जो भुंजेइ तेण आमराय-सेविअ कमलकमेण सिरिबप्पहट्टि-सूरिणा अट्ठसयछव्वीसे (८२६) विक्कम संवच्छरे सिरिवीरबिंबं महुराए ठविअं ॥ અર્થાત્ શત્રુંજય પર શ્રી ઋષભદેવને, ગિરનારમાં શ્રીનેમનાથને, ભરૂચમાં શ્રીમુનિસુવ્રતસ્વામીને, મોઢેરામાં શ્રીવીરભગવાન્‌ને અને મથુરામાં શ્રીસુપાર્શ્વનાથ તથા શ્રીપાર્શ્વનાથને બે ઘડીમાં નમસ્કાર કરીને (એવીરીતે) સોરઠમાં ઢુંઢણ તરફ વિચરીને જે ગોપાલગિરિ (આધુનિક ગ્વાલિયર) માં જઈને ભોજન કરતા હતા, આમ રાજાએ જેમનાં ચરણ કમલોની સેવા કરી હતી, એ બપ્પભટ્ટસૂરિએ વિક્રમ સંવત ૮૨૬ માં મથુરામાં શ્રી વીર જિનેશ્વરનું બિંબ સ્થાપિત કર્યું હતું. એટલે જૈન તંત્રવિશારદોમાં આ વિદ્યા પરંપરાગત ઉતરી આવી હતી અને ઘણા લાંબા કાળ સુધી ચાલી હતી, એ નિર્વિવાદ છે.

શ્રીપાદલિપ્તસૂરિએ શ્રીશત્રુંજયગિરિ ઉપર નીચેની બે ગાથાઓ વડે શ્રી વીર પ્રભુની સ્તુતિ કરી હતી, તેમાં આકાશગામિની વિદ્યા તથા સુવર્ણસિદ્ધિ છુપાવેલી છે, એવો પ્રવાદ છે :—

सुकुमालधीरसोमा रत्तळसिणपंडुरा सिरिनिकेया।
सीयंकुसगहभीरू जलथलनहमंडणा तिन्नि ॥ १ ॥
न चयंति वीरलीलं हाउं जे सुरहिमत्तपडियुन्ना।
पंकय गइंदचंदा लोयणचंकमियमुहाणं ॥ २ ॥

ગુરુગમ વિના આવી ગૂઢ ગાથાઓનો અર્થ ઉકેલવો એ ઘણું કપરું કામ છે, આમ છતાં તંત્ર-મંત્રવિશારદ શ્રીજિનપ્રભસૂરિજીએ વિ. સં. ૧૩૮૦ માં તેનાપર એક અવચૂરિ રચીને અર્થ પર પ્રકાશ પાડવા પ્રયત્ન કર્યો છે, તે આ વિષયમાં રસ ધરાવનારાઓએ જરૂર જોવા જેવો છે. પ્રસ્તુત અવચૂરિ મુંબઈની ફાર્બસ સભા તરફથી પ્રકાશિત થયેલા શ્રી ચતુર્વિંશતિ પ્રબંધના ગુજરાતી અનુવાદમાં પ્રકટ થયેલી છે.

જંઘાચારણ અને વિદ્યાચરણ મુનિઓ આકાશમાં વિચરવાનો ઉલ્લેખ જૈન

જૈન ધર્મની અતિ વિશાલતા

લેખક શતાવધાની પંડિત ધીરજલાલ ટોકરશી શાહ

જૈન ધર્મ અતિ વિશાળ છે, એમ કહેવામા જરા પણ અત્યુક્તિ નથી, કારણ ભક્તિયોગની ભવ્યતા જોવી હોય તો એમા જોઈ શકાય છે, જ્ઞાનયોગનુ ગૌરવ દેખવુ હોય તો એમા દેખી શકાય છે, કર્મયોગની કઠિનતા નિહાળવી હોય તો એમા નિહાળી શકાય છે અને અધ્યાત્મનો અનેરો પ્રકાશ અવલોકવો હોય તો એમા અવલોકી શકાય છે વળી તત્ત્વજ્ઞાનની તલસ્પર્શિતા કે દર્શન શાસ્ત્રની દિવ્યતા, કલાની કમનીયતા કે સાહિત્યની સૌંદર્યધારા દૃષ્ટિ ગોચર કરવી હોય તો પણ એમા ઘણીજ સરલતાથી દૃષ્ટિ ગોચર કરી શકાય છે આ વિષયમા એક નાનકડો પ્રસંગ અહીં રજુ કરવા માગુ છુ

આજથી ત્રણ વર્ષ પહેલા શ્રીનમસ્કાર મહામંત્રના સાહિત્ય સંશોધન અંગે કલકત્તા જવાનુ થયુ, ત્યારે એક સુપ્રસિદ્ધ વિદ્વાને મને પૂછ્યુ કે 'જૈન ધર્મમા બધુ છે, પણ તંત્રનો સંગ્રહ છે ખરો?'

મે તેજ વખતે તેમને મારી પાસેની નાના મોટા ૫૦૦ તંત્રની યાદી બતાવી એટલે તેમના આશ્ચર્યનો પાર રહ્યો નહિ તેઓ તરત જ બોલી ઉઠયા શુ અધ્યાત્મવાદી જૈનોએ તંત્રશાસ્ત્રમા પણ આટલી બધી પ્રગતિ કરીછે? હુ બે વર્ષ પહેલા સૌરાષ્ટ્રના પ્રવાસે આવ્યો, ત્યારે તમારા બે ત્રણ આગેવાનો સાથે મુલાકાત થઈ હતી તેમને મે આ વિષયમા પૂછ્યુ, ત્યારે એવો ઉત્તર મળ્યો હતો કે અમારામા એવુ કઈ છે નહિ તંત્ર-મંત્ર જોડે અમારે શુ લેવા-દેવા? અમે તો અધ્યાત્મના ઉપાસક એટલે અમારી પાસે ઘણાભાગે અધ્યાત્મના જ ગ્રથો હોય'

મે કહ્યુ ઉત્તર ઉપરથી લાગે છે કે એ આગેવાનો શ્રીમંત વેપારીઓ હશે કે જેમને સાહિત્ય સાથ મોટા ભાગે આભડછેટ ચાલે છે કોઈ વાર વિદ્વાનો કે પંડિતોને નોતરી તેમની સાથ સાહિત્ય-સર્જન, સાહિત્ય પ્રચાર કે સંશોધન અંગ વાતચીત કે ચર્ચા કરે તો ખબર પડે ને કે તેમા ગ્રથ ખજાનો ભરેલો છે' આ વિષયમા મારે એટલુ જ કહેવાનુ છે કે જૈન ધર્મનુ દૃષ્ટિબિંદુ અતિ વિશાળ છે તે દરેક શાસ્ત્રને જ્ઞાનનુ એક અંગ માની તેનો પોતાની અંદર સમાવેશ કરે છે જૈન શાસ્ત્રના મૂળ પ્રણેતા ગણધર ભગવંતોએ બારમા દૃષ્ટિવાદ અંગની રચના કરતા ચૌદ પૂર્વોની રચના કરી અને તેમા વિદ્યાપ્રવાદ નામનુ દશમુ પૂર્વ નિર્માણ કર્યું કે જેમા જગતની તમામ ગૂઢ વિદ્યાઓનો સમાવેશ થાય છે તેમાથી જૈનોએ તાંત્રિક વિજ્ઞાન સાચવ્યો છે

તેમને મારી આ વાતમા ખૂબ જ રસ પડ્યો, એટલે એક વિશેષ પ્રશ્ન રજૂ કર્યો 'શુ જૈનતંત્રમા આકાશગામિની વિદ્યા સંબધી કઈ લખેલુ છે?

મે કહ્યુ અમારા સાહિત્યમા શ્રીપાદલિપ્તસૂરિની જીવનકથા પ્રસિદ્ધ છે, તેમા સ્પષ્ટ જણાવ્યુ છે કે તેઓ અમુક પ્રકારની ઔષધિઓનો પગ ઉપર લેપ કરી તેના

બળથી આકાશમાર્ગે ગમન કરતા હતા અને અષ્ટાપદાદિ અતિ દૂર રહેલાં તીર્થોની યાત્રા ક્ષણમાત્રમાં કરીને પાછા આવી જતા હતા. નાગાર્જુન નામના પ્રસિદ્ધ રસશાસ્ત્રીએ તેમની પાસેથી એ વિદ્યા ગ્રહણ કરવા માટે કેવા-કેવા પ્રયત્નો કર્યા અને આખરે તેને ગુરુકૃપાથી એ વિદ્યા કેવી રીતે સિદ્ધ થઈ, તેનું વિશદ વર્ણન આ વિષયમાં, જૈન તાંત્રિકોએ કેવી અદ્ભુત પ્રગતિ કરી હતી, તેનું પુષ્ટ પ્રમાણ પૂરું પાડે છે.

આવી ખપુટાચાર્ય અને તેમના સુશિષ્ય મહેંદ્રમુનિએ પણ આ વિષયમાં સારી પ્રગતિ કરી હતી, એમ પ્રબંધકારો જણાવે છે અને તેનાં સમર્થનમાં કેટલાક દાખલાઓ પણ ટાંકે છે. વળી 'વિવિધ તીર્થ-કલ્પના'ના રચયિતા શ્રી જિનપ્રભસૂરિએ શ્રી બપ્પભટ્ટસૂરિજીની આ ચમત્કારિક મહાન્ શક્તિનો ઉલ્લેખ કરતાં મથુરા કલ્પમાં જણાવ્યું છે કે ' सित्तुंजे रिसहं, गिरिनारेनेमिं, भरुअच्छे मुणिसुव्वयं, मोढरए वीरं, महुराए सुपास-पासं घडिआ दुग-ब्भंतरे नमित्ता, सोरट्ठे ढुंढणं विहरित्ता, गोवालगिरिंमि जो भुंजेइ तेण आमराय-सेविअ कमलकमेण सिरिबप्पहट्टि-सूरिणा अट्ठसयछव्वीसे (८२६) विक्कम संवच्छरे सिरिवीरविंबं महुराए ठविअं ॥ અર્થાત્ શત્રુંજય પર શ્રી ઋષભદેવને, ગિરનારમાં શ્રીનેમનાથને, ભરૂચમાં શ્રીમુનિસુવ્રતસ્વામીને, મોઢેરામાં શ્રીવીરભગવાન્‌ને અને મથુરામાં શ્રીસુપાર્શ્વનાથ તથા શ્રીપાર્શ્વનાથને બે ઘડીમાં નમસ્કાર કરીને (એવીરીતે) સોરઠમાં ઢુંઢણ તરફ વિચરીને જે ગોપાલગિરિ (આધુનિક ગ્વાલિયર) માં જઈને ભોજન કરતા હતા, આમ રાજાએ જેમનાં ચરણ કમલોની સેવા કરી હતી, એ બપ્પભટ્ટસૂરિએ વિક્રમ સંવત ૮૨૬ માં મથુરામાં શ્રી વીર જિનેશ્વરનું બિંબ સ્થાપિત કર્યું હતું. એટલે જૈન તંત્રવિશારદોમાં આ વિદ્યા પરંપરાગત ઉતરી આવી હતી અને ઘણા લાંબા કાળ સુધી ચાલી હતી, એ નિર્વિવાદ છે.

શ્રીપાદલિપ્તસૂરિએ શ્રીશત્રુંજયગિરિ ઉપર નીચેની બે ગાથાઓ વડે શ્રી વીર પ્રભુની સ્તુતિ કરી હતી, તેમાં આકાશગામિની વિદ્યા તથા સુવર્ણસિદ્ધિ છુપાવેલી છે, એવો પ્રવાદ છે :—

सुकुमालधीरसोमा रत्तळसिणपंडुरा सिरिनिकेया ।
सीयंकुसगहभीरू जलथलनहमंडणा तिन्नि ॥ १ ॥
न चयंति वीरलीलं हाउं जे सुरहिमत्तपडियुन्ना ।
पंकय गईदचंदा लोयणवंकमियमुहाणं ॥ २ ॥

ગુરુગમ વિના આવી ગૂઢ ગાથાઓનો અર્થ ઉકેલવો એ ઘણું કપરું કામ છે, આમ છતાં તંત્ર-મંત્રવિશારદ શ્રીજિનપ્રભસૂરિજીએ વિ. સં. ૧૩૮૦ માં તેનાપર એક અવચૂરિ રચીને અર્થ પર પ્રકાશ પાડવા પ્રયત્ન કર્યો છે, તે આ વિષયમાં રસ ધરાવનારાઓએ જરૂર જોવા જેવો છે. પ્રસ્તુત અવચૂરિ મુંબઈની ફાર્બસ સભા તરફથી પ્રકાશિત થયેલા શ્રી ચતુર્વિંશતિ પ્રબંધના ગુજરાતી અનુવાદમાં પ્રકટ થયેલી છે.

જૈન

શાસ્ત્રોમાં અનેક સ્થળે થયેલો છે, પરંતુ એ વિષય તપોબલથી ઉત્પન્ન થતી લબ્ધિનો હોવાથી અહીં પ્રસ્તુત નથી. તેજ રીતે યંત્ર બળે આકાશ ગમન થતું કે જેની હકીકત કલાધર કોકાશ વગેરેનાં કથાનકોમાંથી પ્રાપ્ત થાય છે, પરંતુ તે વિષય શુદ્ધ યંત્રકલાનો હોવાથી અહીં ચર્ચવાની આવશ્યકતા નથી.

મારા આ લંબાણુ ખુલાસાથી ખુબ ખુશી થયેલા એ વિદ્વાન મિત્રે થોડા વધુ પ્રશ્નો પૂછવાની જિજ્ઞાસા પ્રકટ કરી અને તેના યથાશક્તિ ઉત્તર આપવાનો મેં સહર્ષ સ્વીકાર કર્યો, એટલે તેમણે પુછયુંઃ ઉપરની બે ગાથાઓમાં સુવર્ણ સિદ્ધિ છુપાયેલી હોવાનો પ્રવાદ તમે રજૂ કર્યો, પણ તે અંગે કોઈ સ્વતંત્ર કલ્પની રચના થયેલી જોઈ છે?

મેં કહ્યું: 'શ્રી સિદ્ધસેન દિવાકર, શ્રી દેવચંદ્રસૂરિ આદિ અનેક જૈનાચાર્યો સુવર્ણસિદ્ધિના જાણકાર હતાં, એટલે તે સંબંધી સ્વતંત્ર કલ્પોની રચના અવશ્ય થઈ હશે, પણ હજી સુધી મારા જોવામાં આવ્યાં નથી. મહેસૂરના પ્રવાસ દરમિયાન શાસ્ત્રી સોમનાથજીએ મને જણાવ્યું હતું કે આ પ્રદેશમાં આવી સામગ્રી પુષ્કળ પડેલી છે અને મેં નાગાર્જુન વિરચિત સુવર્ણકલ્પ જોયેલો છે, કે જે હાલ એક બ્રાહ્મણ જૈન બંધુના કબજામાં છે. તેમણે મને એ સુવર્ણકલ્પનું મંગલાચરણ પણ સંભળાવ્યું હતું. બેંગલોરના એક જૈન તંત્રવિશારદની પાસે પણ આવો કલ્પ હોવાની માહિતી મને મળેલી છે, એટલુ જ નહિ પણ તેઓ આ વિષયમાં પુષ્કળ ધનવ્યય કરીને પ્રયોગો કરી રહ્યા છે, એમ પણ મેં જાણ્યું છે.'

આ ઉત્તર સાંભળીને તે વિદ્વાન મિત્રે કહ્યું કે તમારી કોઈ પણ સંસ્થાએ, આ બધાં સાહિત્યનો સંગ્રહ કરવો જોઈએ, તેનું વ્યવસ્થિત સંશોધન કરાવવું જોઈએ અને તેને એક ગ્રંથમાળાનાં રૂપમાં પ્રગટ કરવું જોઈએ, જેથી તે વિષયમાં રસ ધરાવનારાઓને પૂરતી સામગ્રી મળી રહે અને અમારા જેવાઓને અભ્યાસમાં અનુકૂળતા થાય.

મેં કહ્યું: 'મહારાજ! આમારું કલેવર ઉજળું લાગે છે, પણ આંતરિક સ્થિતિ ઘણી જ કથળી ગયેલી છે. સંપ, સહકાર અને દીર્ઘદૃષ્ટિના અભાવે અમે આજ સુધી એવી કોઈ મોટી સંસ્થા ઉભી કરી શક્યા નથી કે જે આ જાતનું કામ ઉપાડી શકે. અલબત્ત, અમારામાં સાહિત્ય પ્રકાશનનું કામ કરતી કેટલીક સંસ્થાઓ અસ્તિત્વ ધરાવે છે. કેટલીક તો માત્ર મરવાનાં વાંકે જ જીવે છે, જ્યાં સમાજના અગ્રણીઓને આંતરિક રસ જ ન હોય ત્યાં બીજું અને પણ શું?

તેમણે કહ્યું: 'હું તો આજ સુધી એમ જ સમજતો હતો કે આ વિષયમાં તમારા સમાજની સ્થિતિ ઘણી સંગીન છે, પણ તમારા મુખેથી આ શબ્દો સાંભળ્યા પછી મને લાગે છે કે વાત બહુ વિચારવા જેવી છે જે સમાજના પુર્વગામીઓએ વિદ્યાભ્યાસ માટે કોડો રૂપિયાનો ખર્ચ કર્યો અને પુરુષાર્થ અજમાવવામાં કોઈ જાતની કચાશ રાખી નહિ, તેની આજે આ હાલત? વારુ, આપણે મૂળ વિષય ઉપર આવીએ. તમારામાં આજે કોઈ એવો ગ્રંથ વિદ્યમાન છે કે જેમાં જૈન તંત્રની તમામ આરાધનાઓ કે આમ્નાઓનો સંગ્રહ થયેલો હોય?'

મેં કહ્યું : 'એવા ત્રણ ગ્રંથો વિદ્યમાન છે, પરંતુ તેમાંના એકનું અવલોકન કરવાનો પુણ્ય પ્રસંગ પ્રાપ્ત થયેલો છે. આ ગ્રંથનું નામ છે વિદ્યાનુવાદ, ચૌદમી સદી સુધીની પ્રચલિત આરાધનાઓ અને આમ્નાયો તેમાં સંગ્રહિત થયેલી છે. અને વિશેષ આનંદની વાત તો એ છે કે તેમાં આ વિષયને લગતાં સંખ્યાબંધ ચિત્રો સફાઈથી દોરેલાં છે, એટલે વિષય સમજવામાં ઘણી સરલતા પડે છે.'

તેમણે કહ્યું : 'અમે તો અમાંનું કંઈજ જણાતા નથી. પણ એ તો કહો કે વર્ણમાલા અંગે જૈન તાંત્રિકોએ કોઈ મહત્વપૂર્ણ રચના કરી છે કે કેમ ?'

મેં કહ્યું : 'જ્યાં સરોવર શીતળ જળથી છલોછલ ભરેલું હોય ત્યાં ખોબો પાણીની ખામી રહે ખરી ? શ્રી સોમતિલકસૂરિ(?) શ્રી સેમતભદ્રાચાર્યે મંત્રવ્યાકરણ બનાવ્યું છે, તેમાં ૧૬ સ્વરો અને ૩૩ વ્યંજનોની અગાધ શક્તિનું વર્ણન કરેલું છે અને તેનાં વાહન વગેરેની પણ પ્રચુર માહિતી આપેલી છે.'

તેમણે કહ્યું : 'જ્યાં આવી સુંદર રચનાઓ થયેલી હોય ત્યાં મંત્રના બીજકોષ કે નિઘંટુ રચાયા વિના કેમ રહે ? જો કે મેં હજી સુધી એવી કોઈ કૃતિનું નામ સાંભળ્યું નથી.'

મેં કહ્યું : 'આપની કલ્પના સાચી છે, પરંતુ આપને હજી સુધી એવી કોઈ કૃતિનું નામ મળી શક્યું નહિ, એ અમારી સાહિત્ય પ્રકાશન અંગેની ઉપેક્ષાનું પરિણામ છે. તે માટે અમને માફ કરો. આપ જે કૃતિનું નામ જણવા ચાહો છો તે છે બ્રહ્મવિદ્યા વિધિ ઉર્ફે મંત્રસાર સમુચ્ચય. તેમાં આપ જૈન તંત્રોમાં વપરાતા તમામ બીજની ઉત્પત્તિ અને તેના પર્યાય વાચક શબ્દો જોઈ શકશો.'

અમારો આ વાર્તાલાપ પૂરો થયો, ત્યારે તેમનાં મનમાં જૈન ધર્મની અતિ વિશાળતા ઉતરી ચૂકી હતી અને હું તેમના અભ્યાસ માટે જોઈતી સામગ્રી પૂરી પાડવાનું વચન આપી ચૂક્યો હતો.

નવપદો અને તેનું સ્વરૂપ

લેખક ત્રીવદ ઝવેરભાઈ, મુંબઈ ૨

જૈન દર્શનકથિત નવપદો અરિહંત, સિદ્ધ, આચાર્ય, ઉપાધ્યાય, સાધુ, દર્શન, જ્ઞાન ચારિત્ર અને તપનું આરાધન મુક્તિરૂપ સાધ્ય (પ્રાપ્ત) કરવા માટે પુષ્ટાવલંબન રૂપ છે શ્રીમદ્ યશોવિજયજી ઉપાધ્યાય કહે છે કે —

' યોગ અસંખ્ય છે જિન કહ્યા, નવ પદ મુખ્ય તે જાણો રે '

આ વાક્યનો ફલિતાર્થ એ છે કે આત્માને કર્મથી મુક્ત થવામાં અસંખ્ય નિમિત્તો છે પણ તેમ બળવાન નિમિત્ત કોઈ પણ હોય તો એ છે નવપદનું આરાધન

આ આરાધન દ્રવ્ય અને ભાવથી બે રીતે થઈ શકે છે, છ ઓળીઓમાં ચૈત્ર અને આસો માસની બે ઓળી શાશ્વતી છે, તે વખતે શ્રી નંદીશ્વર દ્વીપમાં દેવો અવશ્ય ઉત્સવ માટે જાય છે ઉત્સવ ઉજવે છે દરેક વરસમાં બે વખત નવ નવ દિવસની આયંબિલો રૂપ ઓળી, પ્રતિક્રમણ, દેવપૂજન, નવકારવાળી ગુણું વિગેરે ક્રિયાઓથી દ્રવ્ય રૂપે આરાધન થઈ શકે છે અને નવપદોનું રહસ્ય સમજી તેના ધ્યાનમાં તલ્લીન થવા રૂપ તેમજ આત્મા સાથે તેનું ઐક્ય કરવા રૂપ જે કાર્ય કરાય તેને ભાવ આરાધન કહેવામાં આવે છે

પિંડસ્થ, પદસ્થ, રૂપસ્થ અને રૂપાતીત એ ધ્યાનના ચાર પ્રકાર છે નવપદોનું ધ્યાન એ પદસ્થ ધ્યાન છે શ્રીમદ્ હેમચંદ્રાચાર્યે યોગશાસ્ત્રમાં ફરમાવેલું છે એ રીતે મન, વચન, કાયાના યોગો સ્થિર કરીને પ્રત્યેક પદની આત્માના ગુણ ગુણી રૂપ વિચારણા (ચિંતવન) કરતા પદોના ધ્યાનથી સફળતા થાય ધ્યાતા, ધ્યેય અને ધ્યાનની એકતા થતા આત્મા અંતરાત્મ સ્વરૂપ મારફતે ક્રમે ક્રમે પરમાત્મ સ્વરૂપ બની જાય છે અને કરે છે સાધ્યની સિદ્ધિ

આ નવપદના ધ્યાનના અધિકારી છેલ્લા પુદ્ગલ પરાવર્તમાં આત્મા પ્રવેશ કરે ત્યાર પછી ચરમ કરણ (નિવૃત્તિ કરણ) વાળા આત્માઓ થઈ શકે છે પૂર્વ કર્મની કોટાકોટીઓ ક્ષય થયા પછી જ આટલા વિકાશ ક્રમ પર આત્મા પહોંચે છે નવપદના પ્રથમ પાંચ પદો ગુણીના છે અને પછીના ચાર પદો ગુણ છે પ્રથમના બે પદો દેવતત્વ પછીના ત્રણ પદો ગુરુતત્વ અને છેલ્લા ચાર પદો ધર્મતત્વ છે આ રીતે નવપદોમાં દેવ, ગુરુ અને ધર્મ એ ત્રણેય તત્વોનો સમાવેશ થાય છે

નવ એ અખંડ આંક નવપદજીનો આકાર પણ હાથની ચૂડી જેવો ગોળાકાર અને અખંડ છે તેની શરૂઆત પણ નથી અને અંત પણ નથી અર્થાત્ અનાદિ-અનંત છે, સત્ય અને નિર્મળ ધર્મ સ્વાભાવિક રીતે જ આદિઅંતવાળો હોતો નથી શાશ્વત હોય છે, આ અખંડ તત્વને આરાધનાર અખંડ સુખનો ભોક્તા ક્રમે ક્રમે થાય

અરિહંત પદ ધ્યાતો થકો, દવ્વહ ગુણ પજ્જાયરે,
ભેદ છેદ કરી આતમા, અરિહંત રૂપી થાય રે.

શ્રીમદ્ ઉ. શ્રીયશોવિજયજી, રચિત પૂજાની છેલ્લી ઢાળો છે અને તે નિશ્ચય નયની છે; વ્યવહાર નયથી નવપદજીની આરાધના ક્રિયા રૂપ છે. અને નિશ્ચય નયથી આત્મા પોતે જ 'અરિહંત' કેમ થઇ શકે? આત્મા પોતે જ પોતાના પુરુષાર્થથી સિદ્ધ કેમ થઇ શકે? આચાર્ય, ઉપાધ્યાય અને સાધુ અવસ્થા વાળો આત્મા કયારે કહેવાય? સમ્યગ્ દર્શન, સમ્યગ્ જ્ઞાન, સમ્યગ્ ચારિત્ર અને સમ્યગ્ તપ ગુણો વાળો આત્મા પોતે જ તે તે ગુણોમાં કેવી રીતે ભળી જાય? પોતાનો વિકાશ કેમ સાધી શકે? એ નિશ્ચય દૃષ્ટિએ જાણવું અતિ અગત્યનું છે; સર્વ ક્રિયાઓ સાધ્ય મેળવવા માટે જ છે. અશુભ ક્રિયાઓમાંથી હટી જઇ શુભ ક્રિયાઓ કરતાં કરતાં, શુદ્ધ ક્રિયા નિર્જરા રૂપ થવા માંડે છે. અરિહંત ભગવાન પણ પહેલાં આપણા જેવા બહિરાત્મા હતા. પરંતુ તેમણે આત્મ જાગૃતિ કરી સમ્યગ્ દર્શનની પ્રાપ્તિ સાથે શુભ સંસ્કારો એકઠા કરી આત્માના અનેક ગુણોને વીકસાવી પુરુષાર્થ પૂર્વક વીશ સ્થાનક કે એમાંના કોઇપણ એક સ્થાનકનું આરાધન કરી તીર્થંકર નામકર્મ બાંધ્યું. અને ચાર ઘાતી કર્મોને પ્રચંડ પુરુષાર્થ પૂર્વક અલગ કરી ભાવતીર્થંકરપણું પ્રાપ્ત કર્યું અને પોતાના આત્મ-રૂપ દ્રવ્યમાં કેવળજ્ઞાન-દર્શનાદિ ગુણો સંપૂર્ણપણે પ્રગટાવ્યા. તે અનુસારે વર્તન કરતાં આપણી અને તેમની વચ્ચે ભેદનો વેદ થતાં આપણે પણ અરિહંત રૂપ થઇ શકીએ છીએ. આ રીતે તમામ પદોમાં દ્રવ્ય ગુણ અને પર્યાય સ્વરૂપ વિચારી નવપદના આરાધનમાં ભાવ પૂર્વક પ્રગતિ કરવા માટે આપણને મળ્યો છે આ અમૂલ્ય માનવ જન્મ; આત્મા પોતે દ્રવ્ય છે. દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્ર અને તપ એ છે આત્માના ગુણો, અને આત્મામાં થતી જુદી, જુદી અવસ્થાઓ છે પર્યાય.

શ્રદ્ધાબળ, જ્ઞાનબળ, વિશુદ્ધાચરણબળ, ઇંદ્રિય સંયમબળ, અને વિલાશોપરના અંકુશનુંબળ—આ બળો આત્મા ઉપર જબરજસ્ત અસર કરે છે. અને તેને આત્મા ફેરવે છે. દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્ર અને તપના અનેક પ્રકારો-પર્યાયો રૂપે જે જે સાધનો વડે આત્મા પોતાના કાર્યની સફળતા મેળવી શકે તે તે પર્યાયો પોતાના પ્રયોગમાં વાપરી શકે છે.

આ રીતે આત્મા દ્રવ્યગુણ પર્યાયના ચિંતનદ્વારા અને નવપદજી તરફની ભક્તિ રૂપ શુભ પ્રવૃત્તિ દ્વારા પોતાના અનેક ગુણોનો વિકાશ કરે છે. "જ્ઞાનસ્ય ફલં વિરતિ:" એટલે વિશુદ્ધ ચારિત્રબળ સંપાદન કરે છે. પુરુષાર્થથી સફળતા મેળવતાં 'જિન સ્વરૂપ થઇ જિન આરાધે, તે અહી જિનવર હોવે રે' એ શ્રીમદ્ આનંદઘનજીના વચનાનુસાર સાધક આત્મા નવપદો સાથે શ્રીપાળ મહારાજાની જેમ તન્મયતા સાધી ભવિષ્યમાં નવપદો સાથે આત્માનો અભેદ સંબંધ પ્રગટાવે છે.

નવપદોમાંના ચાર ગુણપદોમાં સમ્યગ્ દર્શનની મૂખ્યતા છે, જ્યાં સુધી તે ગુણનો વિકાશ થયો નથી ત્યાં સુધી આત્મા બહિરાત્મા કહેવાય છે. સમ્યગ્ દર્શનનો ગુણ આત્મા જ્યારે શુદ્ધ દેવ, ગુરુ, ધર્મની શ્રદ્ધા પૂર્વક પુરુષાર્થથી અનંતાનુબંધી

ચાર કષાયો મિથ્યાત્વ મિશ્ર અને સમ્યગ્ મોહનીય રૂપ સાત પ્રકૃતિનો ક્ષય-ઉપશમ કે ક્ષયોપશમ કરે છે ત્યારે જ પ્રગટે છે અને ત્યારે જ આત્મા અંતરાત્મા કહેવાય છે હવે તે પરમાત્મ-પદ તરફ પગલા માંડે છે આત્માની આ સ્થિતિને ચતુર્થ ગુણ સ્થાનક કહેવાય છે આ ગુણ સ્થાનકે શમ, સંવેગ, નિર્વેદ, અનુકંપા અને આસ્તિક્ય ગુણો આત્મામા દાખલ થાય છે અને પછીથી તે નવપદ આરાધનાનો અધિકારી બને છે

સમ્યગ દર્શનથી મનુષ્ય પછીથી કર્મયોગી બને છે સંસારમા જે જે કાર્યો કરતો હોય ત્યા તેની દૃષ્ટિ આત્માભિમુખ હોય છે તે અહિંસાનુવ્રત ધારણ કરતા ઓછામા ઓછી સવા વસો દયા પાળી શકે છે તે અનીતિ સામે યુદ્ધ કરે છે તે આધ્યાત્મિક દૃષ્ટિએ નફો વધારે હોય અને નુકસાન ઓછુ એવા કાર્યો સંસારના કરે છે મન વચન અને કર્મથી ધીરતા ધારણ કરે છે શુભ કાર્યો કરવા તરફ તેની પ્રગતિ ચાલુ હોય છે તે માત-પિતાની-દેવગુરુની અને વડીલોની ભક્તિ કરે છે સામાયિક-પ્રતિક્રમણ પૂજા તપ-પરોપકાર વિગેરે કરે છે આત્માભિમુખ દૃષ્ટિથી સંસારિક કાર્યો ગૃહસ્થ તરીકે કરે છે પરંતુ આમ હોવા છતા પણ એ સાધ્ય બિંદુ ચૂકતો નથી આ માટે પૂ ઉપાધ્યાય યશોવિજયજી મહારાજે કહ્યુ છે કે —

નિશ્ચય દૃષ્ટિ હૃદય ધરીજે, પાળે જે વ્યવહાર,
પુણ્યવંત તે પામશેજી—ભવ-સમુદ્રનો પાર

આ વચનને અમલમા મૂકી માનવ જન્મ-સાર્થક કરે છે આ માનવ-જન્મ જે પૂર્વ પુણ્યના સંસ્કારોથી પ્રાપ્ત થયેલો છે તેની સફળતા તેને યોગ્ય સાધનોની પસંદગીમા છે પ્રત્યેક સિદ્ધિમા નિમિત્ત અને ઉપાદાન બંને કારણો છે જ્ઞાન મેળવ્યુ, ભક્તિ, વૈરાગ્ય, પરોપદેશ વિગેરે નિમિત્ત કારણો છે આત્માના ગુણોનો વિકાસ એ ઉપાદાન કારણ છે નિમિત્ત-ઉપાદાનની મુખ્યતા-ગૌણતા હોઇ શકે છે

આ નવપદનુ માહાત્મ્ય શ્રી મહાવીર પ્રભુના પટ્ટ શિષ્ય શ્રી ગૌતમસ્વામીજીએ મગધાધિપ શ્રેણિક મહારાજા પાસે નિવેદન કર્યું વિદ્યાપ્રવાદ નામના દશમા પૂર્વમા શ્રી સુધર્માસ્વામીજીએ ગ્રથિત કર્યું તેમાથી ઉધ્ધરીને શ્રી રત્નશેખર સૂરીજીએ સિરિવાલ કહ રૂપ માગધી ભાષાનો ગ્રંથ રચી દાખલ કર્યું આ આચાર્યશ્રી વિક્રમના ચૌદમા સૈકાની શરૂઆતમા થયેલા છે તેઓશ્રી વજ્રસેન સૂરિના પટ્ટધર અને શ્રી હેમતિલકસૂરિના શિષ્ય હતા, આ ગ્રંથમા લગભગ ૧૩૪૨ માગધી ભાષાના શ્લોકો છે સંસ્કૃત 'શ્રીપાલ ચરિત્ર ત્યાર પછી બન્યુ, હાલમા નવપદજી સંબંધમા મૂળ ગ્રંથ તરીકે 'સિરિવાલ કહા ગણી શકાય

ઉપરોક્ત ગ્રંથ ઉપરથી શ્રી વિનયવિજયજીએ શ્રીપાલ રાજાનો રાસ રચ્યો અને તે રાસના ત્રીજા ખંડની પાચમી ઢાળમાની ૨૧ ગાથા સુધી કુલ ૭૫૦ ગાથા પર્યંત પૂર્ણ કર્યો એટલામા આયુષ્ય પૂર્ણ થવાથી સ્વર્ગવાસી થયા શ્લોક પ્રકાશ કલ્પસૂત્ર ટીકા અને અન્ય ગુજરાતી ભાષાના સ્તવનો છંદો તથા પદો વિ ના રચનાર આ મહારાજશ્રી હતા શ્રીપાળ રાસના બાકીના ચાર ખંડો, બાર ઢાળો સાથે પૂ ઉપા શ્રી

યશોવિજયજી મહારાજે પૂર્ણ કર્યા: શ્રી રત્નશેખર સૂરિની 'સિરિવાલ કહા'ના શ્લોક ૧૨૧૮ થી ૧૨૯૮ સુધીના આધારે પ્રસ્તુત રાસમાં નવપદજીની પૂજા (શ્રીપાલ રાસના છેલ્લા વિભાગ તરીકે) ગુજરાતી ભાષામાં બનાવેલી છે. નવપદજીને અંતરાત્મા સાથે ઘટાવતી છેલ્લી ઢાળો પણ ૧૩૨૭ થી ૧૩૫૩ શ્લોકોમાંથી ઉધરેલી છે. આ મહાત્મા સં. ૧૭૪૫ માં ડભોઇમાં સ્વર્ગવાસી થયા. શ્રીમદ્ દેવચંદ્રજી મહારાજકે જેઓ ૧૮ મા સૈકાની આખરમાં વિદ્યમાન હતા તેમની નવપદજીની દરેક પૂજામાં ....દેશીઓ તથા છેલ્લો કલશ–એ કૃતિઓ છે. ૧૮ મા સૈકામાં થયેલા શ્રી જ્ઞાનવિમળસૂરિના નવપદજીની પૂજામાં ભુજંગ પ્રપાત વૃતો અને માલિની વૃતો બનાવેલા છે. આ તમામ મહાત્માઓનો સાહિત્યકાળ નવપદજીની પૂજામાં છે.

આ નવપદજીના કુલ મળીને ૧૦૮ ગુણોની નવકારવાળી ગણવાની હોય છે. અરિહંત પદનો શ્વેત, સિધ્ધપદનો લાલ, આચાર્યપદનો પીત (પીળો), ઉપાધ્યાય પદનો નીલ (ઉદો) સાધુ પદનો શ્યામ અને દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્ર, તપ એ પદોનો શ્વેત રંગ ધ્યાન માટે કલ્પેલો છે. થીઓસોફીના મૂળ પ્રણેતા પ્રો. લેડવીટરે Man Visible invisible;'તથા Thought of arms નાં પુસ્તકોમાં માનસિક વર્ણો–ધ્યાન અને તેના આકારની કલ્પના કરતાં રંગોનો વિકાશક્રમ બતાવેલો છે. તે લગભગ જૈન દર્શનના સિધ્ધાન્તને મળતાજ આવે છે. ઓળી–આયંબિલનો તપ શારીરિક, માનસિક અને આધ્યાત્મિક આરોગ્ય આપે છે. શ્રીપાલ રાજાનો કોઢ રોગ પણ નવપદના આરાધનથી ગયેલો છે. હાલમાં અનેક સ્થળે નવપદયંત્રની આરાધના પૂ. મુનિ પ્રવરો મારફત થાય છે તે પ્રશસ્ત છે.

નવપદ યંત્રમાં, ૯ પદો, ૧૬ સ્વરો, ૨૮ વ્યંજનો, ૪૮ લબ્ધિપદો. ૮ ગુરુપાદુકાઓ ૮ જયા વિગેરે દેવીઓ ૪ જંભા વિગેરે દેવીઓ, ૨૪ શાસન દેવીઓ, ૧૬ વિદ્યા દેવીઓ, ૪ વીરો, ૯ ગ્રહો, ૪ પ્રતિહારો, ૧૦ દિગ્પાળ, ૯ નિધાનો, ૧ ક્ષેત્રપાળ દેવ, ૧ વિમળેશ્વર દેવ, ૧ ચક્રેશ્વરી દેવી તથા ॐ ह्रीं ह्रां સ્વાહા વિગેરે મંત્ર બીજો છે. આ નવપદો અને યંત્રની સ્થાપના દ્રવ્ય અને ભાવ સમજી સાત નયોનું સ્વરૂપ તેમાં ઉતારી જ્ઞાન મેળવવાનું છે. તે પૂ. શ્રી જ્ઞાન વિમલ સૂરિજીએ સિધ્ધ કરવા કહેલું છે કે:—

ईयनवपय सिद्धः सिद्ध चक्कं नमामि

શ્રીપાલ મહારાજા અને મયણા સુંદરીએ આ સિધ્ધ ચક્ર યંત્રનું આરાધન મન વચન અને કાયાથી કર્યું ત્યારે નવમા દેવલોકે ગયા અને નવમા ભવમાં સિધ્ધ પદને પામશે. આ રીતે નવપદનો સંબંધ આપણા અંતરાત્મા સાથે મેળવી દ્રવ્ય અને ભાવથી નવપદનું આ અમુલ્ય માનવ જીવનમાં આરાધન કરવું એ આ લેખનું રહસ્ય છે. અને એટલેજ 'સિરિવાલ કહા' ના રચયિતા પૂ. શ્રી રત્નશેખર સૂરિના' નવપદ મહાત્મ્યવાળો મંગળ ૩૫ શ્લોક છેલ્લે છેલ્લે લખી વીરમું છું.

एयं चपर यतनं परम रहस्सं परममं तं च ।
परमथ्थ परमपयं, पन्नतं परम पुरिसेहिं ॥

રાગદ્વેષ રહિત ભાવનાની જે મંગળ ભૂમિકા હોવી જોઈએ, તે શું આજે આપણે જાળવી શક્યા છીએ?

આ પ્રશ્નનો ખૂબજ પ્રમાણિક ભાવે ઉત્તર આપવાનો રહેતો હોય તો તે એક જ છે કે ના.

'ના' શા માટે?

એના કારણો શોધવાં જવાં પડે તેમ નથી. આપણા જીવનની આસપાસ, આપણા સ્વાર્થોની આસપાસ, આપણા પરિવારોની આસપાસ અને આપણા સમાજની વચ્ચે ખૂબ-ખૂબ પડેલાં છે.

ઘણીવારતો એમ જ લાગે છે કે આપણે જૈન હોવાનો ગર્વ લેવા જેટલાયે સશક્ત રહ્યા નથી.

આપણા બાળકો સીનેમા, નટનટીઓ અને એવાં જ ભૌતિક આકર્ષણો પાછળ જેટલો રસ લેતાં હોય છે, તેટલો રસ આપણા મહાન તત્વજ્ઞાન પ્રત્યે કદી લેતાં નથી. અને આ દોષ બાળકોનો પણ નથી. દોષ આપણો પોતાનો છે. આપણે જ બાળકોને આવા વિલાસ-પ્રમોદના રાહે જતાં અટકાવવાનો કોઇ પ્રયત્ન કરતા નથી, બલ્કે એની વૃત્તિને વધારે વેગ આપતા હોઇએ છીએ.

અને આપણે પણ કાં તો સ્વાર્થ પાછળ, કાં જીવનની ભૌતિક લાલસાઓ પાછળ, કાં આજની વિષાક્ત હવા પાછળ દોડતા હોઇએ છીએ.

અને તેથી જ આપણે 'જૈન' હોવાનો ગર્વ લઈ શકીએ એટલા સ્વચ્છ રહી શક્યા નથી.

જૈન દર્શને વહાવેલી તત્વચિંતનની જે સરીતા પ્રાણિમાત્રને શાંતિ અને શાશ્વત સુખ આપે એવી છે, તે સરીતાના કાંઠે ઉભા રહીને આપણે એની સામે દૃષ્ટિ કરવા જેટલીયે મહેનત લેતા નથી.

કારણ કે જડવાદની માયાવી ચમક આજ સારાયે જૈન સમાજની આંખો પર છવાઇ ચુકી છે.

અને આત્મદર્શનના ઉપાસકો ગણાતા આપણે આજ જડદર્શનની ઉપાસના પાછળ આપણું સર્વસ્વ ગુમાવવા ખડે પગે તૈયાર થઇ ગયા છીએ.

શું આપણે સાચા રાહે નહિં આવી શકીએ? શું આપણી હોજરી જૈનત્વને પચાવવા જેટલી તંદુરસ્ત નહિં બની શકે? શું જૈન હોવાનો ગર્વ લેવા જેટલું બળ આપણે નહિં પ્રાપ્ત કરી શકીએ!

આ માત્ર સવાલો નથી.

આજની વેદનાની એક છબી છે અને આ છબીની જો આપણે ઉપેક્ષા કરશું તો આવતી કાલ કેવી હશે, એની કલ્પના પણ કંપાવનારી જણાય છે

આજે એવી પળ છે કે જૈન સમાજના આગેવાનોએ અને નાનામોટા માનવીએ પણ સંશોધનની ભાવનાએ, શુદ્ધિની ભાવનાએ અને પુનરુત્થાનની ભાવનાએ ઉભા થવું જ પડશે

નહિ તો

આજની વેદનાની છબી આવતી કાલે આપણા સર્વનાશની વિષભરી હવા બની જશે

અવશ્ય બની જશે..

અને આવતીકાલનો ઇતિહાસકાર જગતની એક સર્વશ્રેષ્ઠ સંસ્કૃતિ પર આંસુ સારતો-સારતો આજની પેઢીને જ દોષ દેશે

ત્રિવેણી—સ્નાન

લેખક : શ્રી મોહનલાલ દીપચંદ ચોકશી.

લૌકિક દર્શનો કરતાં જૈન દર્શનની પ્રણાલિકા કેટલીક દૃષ્ટિયે જુદી હોવા પાછળ જે મુખ્ય કારણ છે, તે આત્મિક શ્રેય પ્રતિ લક્ષ્યને અવલંબીને છે. વૈદિક ધર્માવલંબીઓ સરિતા સ્નાનમાં ધર્મ માને છે અને કુંભમેળા ટાણે તો લાખોની સંખ્યા એકઠી થાય છે. એમાં પણ પ્રયાગરાજ આગળનું સ્નાન અતિ પવિત્ર મનાય છે; કેમ કે ત્યાં ભારતવર્ષની મોટી નદીઓ-ગંગા અને યમુનાનું સરસ્વતી સાથે સંગમ સ્થાન ગણાય છે.

લોકોત્તર એવા જૈન દર્શનમાં ત્રિવેણી સ્નાન દર્શાવેલ છે પણ પૂર્વે જણાવ્યુ તેમ એ દહેને આશ્રયી નથી, પણ આત્માને અશ્રયી કેહવામાં આવેલ છે. આત્મ કલ્યાણનો પિપાસુ આત્મા એ પ્રકારના તત્ત્વત્રયનો આશ્રય લઈ જલ્દીથી પોતાને પવિત્ર બનાવી શકે છે. એને ચૌદપૂર્વી એવા શ્રીશય્યંભવ સૂરિયે ઉત્કૃષ્ટ મંગળ રૂપ કહેલ છે.

એ અંગેના સ્વરૂપમાં ઉંડા ઉતરતાં પૂર્વે, એ પાછળની ભૂમિકા અવધારી લઈએ તો એ અસ્થાને નહીં લેખાય. સૂરિ મહારાજે દશ વૈકાલિક નામા સુત્રની રચના કરતાં જે ત્રણ પદને સૌ પ્રથમ સ્થાન આપ્યું હતું તેજ આપણા માટે, અને અત્યારન વિષમ કાળે, ત્રિવેણીના સ્નાન સમાન છે. પોતાના પુત્રનું અલ્પાયુષ્ય નિરખી, એ આત્મકલ્યાણથી વિમુખ ન રહે તેવા આશયથી એનું સર્જન કરાયેલ છે, છતાં એક રીતે કહીયે તો એ સુત્રમાં 'ગાગરમાં સાગર' સમાવેલો છે. થોડા કાળમાં જૈન ધર્મ યાને અનેકાંત દર્શનનો તાગ પામવા માટે ઉત્કૃષ્ટ મંગળરૂપ મનાતા એ ત્રણ પદમાં સમજપુર્વક અવગાહન કરવું પર્યાપ્ત છે.

શ્રી શય્યંભવસુરિ દ્વિજ હોવા છતાં ક્ષાત્રતેજથી અલંકૃત હતા. સત્યના કામી ને સાહસિક હતા. ज्ञानस्य फलं विरतिः જેવા વચનમાં શ્રદ્ધાવાળા હતા. જાણ્યું તો જીવી જાણવું એવા દૃઢમનોબળિ હોવાથી જ્યાં 'अहो कष्टम् अहो कष्टम् तत्त्वं न ज्ञायते परम' જેવા વચનો. શ્રમણમુખે સાંભળ્યા કે ઉઠીને ઉભા થયા—

હાથમાંની તલવાર યજ્ઞ કરાવનાર આચાર્ય સામે ધરી, ગર્જી ઉઠ્યા કે—

'ગુરૂજી ! તત્વ હોય તે સત્વર કહી દો. અહાંથી પસાર થતાં શ્રમણ યુગલે જે વચનો ઉચ્ચાર્યાં તે અસત્ય નજ હોય શકે, જરાપણ ગલ્લા ગલ્લા વાળ્યા તો તો સમજી લેજો કે શીરથી ધડ જૂદુ કરી દઈશ. આ પ્રકારની જિજ્ઞાસા યુકત તેજસ્વી વાણીએ યજ્ઞકૂપ હેઠળ રખાયેલી શ્રી શાન્તિનાથ પ્રભુની મૂર્તિના દર્શનનો યોગ સાધી આપ્યો. વીતરાગ પ્રતિમા એટલે પ્રશમ રસ નિમગ્ન પદમાસનસ્થ મૂર્તિને જોતાંજ આ સાહસ. વીરે, તલવાર ફેંકી દીધી, અને શ્રમણ વસતીનો રાહ લીધો. ઘેર ગર્ભિણી પત્નિ હતી, અને આસન્ન પ્રસવા હતી, એ વિચાર તેમને થંભાવી શકયો નહીં ! कम्मे शूरा धम्मे शूरा એ વચણ ટંકશાળી છે.

જીવોને અભય આપવાના શપથ પ્રથમ મહાવ્રત ઉચ્ચરતાં લ્યે છે. અને એ દિવસથી દરેક કરણી જયણાપૂર્વક કરતો હોવાથી એને થનારો લાભ પુરેપુરો સોળઆના રુપ લેખાય છે. ગૃહસ્થ માટે એવા પચ્ચક્ખાણુ શકય નથી. એટલે એના વ્રતને અણુવ્રત નામ અપાયેલ છે. એમાં જુદા જુદા કારણુ આશ્રયી, આરંભ–સમારંભને નજર સામે રાખી, છૂટો રખાયેલી છે; તેથી એની દયા એક આના તુલ્ય રહેવા પામે છે. સહિત્યના પાને નોંધાયેલ છે કે મુનિની દયા વીસવસાની હોય છે જ્યારે સંસારીની સવાવસાની. આમ છતાં ઉભય માર્ગો ભગવંત શ્રી મહાવીરદેવે દર્શાવેલ હોઈ, એમાં યથાશકિત, દત્તચિત્તથી પ્રગતિ સાધનારને મુકિત સમિપ લઇ જવાની તાકાત રહેલી છે. પ્રત્યેક આત્માએ આંગ્લ ઉકિત–Slow but study wins the race યાદ રાખવાની છે. અર્થાત્ ધીમીગતિએ છતાં મક્કમતાથી આગળ વધનાર શરત જીતી જાય છે. અહિંસાના પાલનવેળા 'જીવો અને જીવવાદો' એ ટંકશાળી વચન ચક્ષુ સામે રાખી, દરેક કરણી કરવી ઘટે. એ વેળા આત્માના અંતરમાં 'आत्मवत् सर्व भूतेषु यः पश्यति सः पश्यति એ સૂત્ર રમણુ થવું જરૂરી છે. એટલે કે જેવો પોતાનો આત્મા છે તેવોજ સામે દેખાતા ભૂતમાત્રમાં પણુ છે જ. જે કાર્યથી મને દુઃખ થાય છે અગર તો જે કામ મને ગમતું નથી, તે કાર્ય કે કામ તેને પણુ ન જ ગમે. વધુ ન બને તો આટલી સામાન્ય શિક્ષા રોજની પ્રવૃત્તિમાં નજર સામે રાખનાર આત્મા ઘણા કર્મોથી બચી જાય છે અને એનું ભવભ્રમણુ અવશ્ય ટુંકાય છે.

સંયમને શાસ્ત્રકારોએ એ સત્તર પ્રકારે દર્શાવેલ છે. છતાં મૂખ્ય રીતે ઈંદ્રિય અને કષાય એ બન્ને પર જો અંકુશ આવી જાય તો બેડો પાર થઈ જાય. એ માટે હીંદી કહેવત 'કમખાના ઔર ગમખાના' યાદ રાખવા જેવી છે. એનો અભ્યાસ પાડનાર વ્યકિત મન પર અને દેહ પર સહજ કાબુ મેળવી શકે છે. એથી આંગ્લ કહેવત–'Think before you speak and Look before you leap' એના જીવનમાં તાણુા–વાણુા માફક વણાઈ જાય છે. ઓછુ બોલવાની ટેવ સધાય છે અને બોલવાની અગત્યટાણે એ તોળીને શબ્દો ઉચ્ચારે છે. વળી કોઇ કામ રતીસ્મૃતિથી એ કરતો નથી. આ જાતના અભ્યાસી આગળ પાંચ ઈંદ્રિયોના વિકારો કે ચારકષાયના ફૂંકારા જોર પકડી શકતા નથી. જ્યારે એ નામશેષ થયા કે સંસારનો અંત સહજ છે. જ્ઞાની ભગવંતોનુ વચન છે કે कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव ।

તપને એના બાહ્ય અને અભ્યંતર એવા બે મુખ્ય ભેદ છે અને એ દરેકના છ પ્રકારો ગણતાં બારનો અંક થાય છે. એ અહર્નિશ યાદ રહે એટલા માટે રોજની આવશ્યકક્રિયામાં (પ્રતિક્રમણુમાં) એને પાંચ આચાર અંગેના અતિચાર વેળા સ્મરણુ કરાય છે.

અનશન આદિ જેમ બાહ્યતપમાં લેખાય છે તેમ પ્રાયશ્ચિત વિ. અભ્યંતરમાં સમાય છે. અહિંસા, અને સંયમની સાધના પછી જે કર્મો આત્મા સાથે ઘણા જુના સમયથી ખાણુમાં જેમ સુવર્ણ સાથે માટી જોડાયેલી હોય છે તેમ જોડાયેલા છે એનો કાયમી છેદ ઉડાડવા સારૂ ઉપર વર્ણાવ્યા તપ વિના અન્ય કોઇ જલ્લદ સાધન નથી. એ

બાર પ્રકારનુ સ્વરૂપ અવધારતા સહજ જણાય તેમ છે કે એમા આબાલવૃદ્ધ સૌ કોઇ છૂટથી ભાગ લઇ શકે છે જેમ બળી ગયેલા બીજમાથી ફરીથી અકુરો ઉગતા નથી, તેમ કર્મરૂપીબીજ આ તપદ્વારા સપૂર્ણપણે બાળી નાખવામા આવે તો જીવભ્રમણરૂપ અકુરો ઉગવાનો લેશમાત્ર સભવ નથી વળી તપ તો નિકાચિતકર્મોને પણ તપાવનાર કહ્યુ છે આવા ઉત્કૃષ્ટ મગળની સાધનામા દરેક આત્મા ઉદ્યુક્ત થાય એજ અભ્યર્થના!

સમાજમાં ધર્મનું સ્થાન

લેખકઃ— શ્રી ચંદુલાલ એમ, શાહ મુંબઇ,

સમાજમાં કેટલાયે પ્રસંગો અમર આદર્શો અને અમૃતભરી કલ્પનાઓ બની જાય છે. તે સર્વેમાં ધર્મ સાથે સંકળાયેલા પ્રસંગો શ્રેષ્ટ સ્થાન જમાવી જાય છે—દ્રષ્ટિબિન્દુ બની જાય છે.

ધર્મ માણસને અવળા માર્ગે જતો, કૂકર્મો કરતો અને હિંસા તેમજ અનિચ્છનીય કાર્ય કરતો અટકાવી શકે છે. ધર્મમાં જે સામર્થ્ય છે તે કોઈપણ કાયદામાં, કાયદાના ઘડનારાઓમાં કે આસુરી શક્તિમાં પણ નથી. માનવીએ ગુન્હાઓ, હિંસા અને એક બીજા પ્રત્યેની દ્વેષ બુદ્ધિને ટાળવા માટે ધર્મને જીવનમાં મહત્વનું સ્થાન આપ્યું છે. ગુન્હા કરનારાઓ કાયદાની ચુંગાળોમાંથી છટકી શકે છે પણ ધર્મની ચુંગાળમાંથી છટકી શકતાં નથી.

સમાજના સ્વચ્છ વાતાવરણનો, ન્યાય, નીતિ અને પ્રેમનો તેમજ આરોગ્યતાનો સમાવેશ ધર્મમાં થઇ જાય છે.

ગઈ કાલનો નકશો આજે ફરી જાય છે. આજનો સત્તાધિશ કાલનો સામાન્ય માનવી બની જાય છે અને આજની ભવ્ય નગરી કાલે ભસ્મીભૂત બનીને હતી ન હતી થઇ જાય છે. એવી સર્જન અને સંહારની અકળ લીલા આજે પૃથ્વી પર ખેલાઈ રહેલી હોવા છતાં ધર્મને કોઇપણ પ્રકારે આંચ આવતી નથી કે આવી પણ નથી. કાલના કેટલાયે સિદ્ધાંતો આજે પામર બની ગયા છે અને આજે ઉત્થાન પામેલા આદર્શોનું આગળ જતાં અધઃપતન પણ થઇ જશે. છતાં ધર્મની મહત્તા તો દિન પ્રતિદિન વધતી જ રહેવાની.

ધર્મના મૂળભૂત સિદ્ધાંતો દરેક દેશના અને દરેક કોમના સરખાજ હોય છે. પરંતુ માનવી પોતાની ઘેલછાઓને વશ બનીને તેનો અર્થ મન ફાવે તેમ કરી લે છે. કોઇ પણ ધર્મમાં હિંસા, અનીતિ કે ચોરી કરવાનું જણાવ્યું હોતું નથી. છતાં માનવી પોતાની લાલસાઓને પહોંચી વળવા માટે અર્થના અનર્થ કરે છે. લોકોને અવળા માર્ગે દોરે છે અને પોતાની માનવતા ગૂમાવીને બીજા ધર્મને નિંદતો થઇ જાય છે.

માનવીમાં જો માનવધર્મ ન હોય, પ્રેમધર્મ ન હોય તો તે જે કોઇપણ પ્રકારનો ધર્મ કરે—પછી તે દાન હોય, અહિંસા હોય કે જન કલ્યાણનાં કાર્યો હોય—તે સાચા હ્રદયનો ન જ હોઇ શકે.

જેનામાં પ્રેમ ભાવ નથી તેનું કોઈપણ કાર્ય નિઃસ્વાર્થી કે હાર્દિક ભાવનાવાળું ન હોઇ શકે.

જ્યાં ધર્મ અને પ્રેમની ભાવના નથી ત્યાં અંદરો અંદરના ઝગડા અને સંહારના કારણે સૌર્ય લય પામી જાય છે, યુદ્ધ, વિનાશ, ઈર્ષ્યા, અસૂયા, અહંકાર અને મદાંધતા શોણિતની નદીઓ વહાવે છે. કુટુંબ જીવનમાંથી ભક્તિ અને ભાવના જાય છે. નગરોમાંથી ઉદારતા, શીલ અને સૌંદર્ય જાય છે, શૂરવીરોમાંથી પરાક્રમ જાય છે

ओओमाथी सहन शीलता, क्षमा अने वात्सल्य जाय छे व्यक्तिगत वैभवनो अमानुषी आन" मानव जीवननी आजु बाजु जाय कर रीते वींटळाई वळे छे अने जीवन निस्तेज तेमज निर्जीव बनी जाय छे

मानवी महान शक्तिशाळी व्यक्ति छे सिंह जेवा क्रूर प्राणीने वश करवानी तेनामा ताकात छे हाथी जेवा महान प्राणीने काबूमा लई शके ▯ तो निर्दोष अक्रूर गणाता अन्य मानवीओने ते अहिंसक रीते–प्रेमथी वश शा माटे करी न शके? ज्या प्रेमथी देवपण वश थई शके छे, त्या सामान्य मानवीनु शु गजु? परंतु मानवी जो पोतामा रहेलु प्रेमतत्व ज गुमावी बेसे तो?

मानवी गमे तेवु दुष्कृत्य करवा तैयार थयो अगर थयो हशे, छता तेनो आत्मा, तनी धर्मभावना तेनो जरूर विरोध करती हशे धर्मने ते भूली गयो होतो नथी धर्म तेन पण भूली शकतो नथी दरेक कार्यमा बन्नेनु संघर्षण थतु ज होय छे

सामर्थ्य, शील अने सौम्यता, ए बधु ज मानव जीवनमा समायेलु होय छे ते बध पर अधिपत्य धर्मनु ज होय ▯

नास्तिकपणानो डोळ करनार मानवीना अंतर भागमा–भले बाह्य रीते कबूल करतो न होवा छता धर्म छुपायेलो होय छे वाणीमा के कर्ममा तेनी छाया सरखी ये न आववा देवानी तेनी इच्छा होवा छता ए ते तेना सामर्थ्यनी बहार होय छे

धर्मना नामे केटलाये गुन्हाओ थता अटके ▯ ज्यारे ज्यारे हिंसा अने युद्धो पाप अने अनाचार वधी जता होय छे त्यारे त्यारे महा पुरुषो धर्मनो झंडो आगळ धरीने सद्बोध आपवा माटे नीकळी पडे छे धर्मनी महत्ता समजावे छे तेनाथी थता फायदा समजावे छे ते वखतनी तेमनी मीठी वाणी गमे तेवा दुराचारीने, हिंसावादीने अने नास्तिकने पण धर्मवादी बनावी मूके छे

ज्यारे ज्यारे मानवी संकटोना वादळोथी घेराई जाय ▯ त्यारे त्यारे ते धर्मनु चिंतन करवा लागे छे सुख समयमा धर्मने भूली जनार अगर ते तरफ दुर्लक्ष करनार मानवी आपत्ति वखत तेनोज आशरो शोधे छे

धर्म मार्गदर्शक, प्रेरणाप्रद अने कल्याणकारक छे तेना आशरे गयेलाने शांतिज मळवानी ते समये उच्च नीचना भेद दूर थई जाय छे श्रीमंत के गरीबनो भेद रहेतो नथी ज्या ज्या धर्म छे, धर्मनी छाया सरखीये ▯ त्या त्या शांति, सत्य अने अहिंसाज होवाना

विश्वने आगणे गमे तेवा उत्सवो मंडाता हशे, पण धार्मिक उत्सव जेवो महान उत्सव कोईज नहि होय ते उत्सव समये कोईना चहेरापर, कोईना अंतरमा निराशा के विषाद जोवामा आवता नथी त्या आनंद होय छे, प्रेरणा होय छे अने अमृत भरी ऊर्मिओ होय छे त्या मानवीओ सुख दुःख भूली जईने आत्मकल्याणनी भावना केळववा लागी जाय छे

અનંત કાળથી ચાલતું આવતું તેનું અસ્તિત્વ-એના પ્રભાવનાં તેજ કિરણો-દરેકના જીવનમાં છિદ્રે છિદ્રે પ્રવેશે છે, અણુએ અણુમાં પ્રકાશ પાથરે છે.

ગિરિશૃંગ સમી ઉંચી અને આકાશને આરપાર વીંધી નાંખતી જેની દૃષ્ટિ છે, પાતાળના અંતરતલે જેનાં મૂળ પહોંચ્યાં છે અને આખાય વિશ્વમાં જેની વિસ્તૃતતા વ્યાપક છે, એવા ધર્મના એક બીંદુ માત્રનું પણ શરણ સ્વીકારવામાં આવે તો ભવો ભવના ક્લેશ મટી જાય. માનવી માનવી મટીને દેવ બની જાય.

સમાજમાં ધર્મનું સ્થાન અનોખું છે. ધર્મ માટે અનેક મહાન પુરુષોએ પોતાના પ્રાણ ચોછાવર કર્યા છે. પોતાનાં કુટુબોનાં બલિદાન આપ્યાં છે.

એવો ધર્મ-ધર્મની ભાવના આજસુધી પોતાનું ગૌરવ વધરતી આવી છે અને વધાર્યાજ કરશે. જે જે લોકોએ ધર્મનો વિરોધ કરવાનું વિચાર્યું છે. તે તે લોકોનો અંતે નાશ જ થયો છે. તેમની કોઇપણ મનોકામના પૂરી થઇ નથી અને થઈ પણ શકશે નહિ.

આત્મ સંયમ

લેખક — શતાવધાની કવિવર્ય શ્રી જયંતમુનિ

વર્તમાનમા નવી નવી કલ્પનાઓ રજુ કરવાનો ઘણાને મોહ થાય છે, તેના પાછળ ફક્ત પોતાના પાંડિત્યનુ પ્રદર્શન કરવાનો જ હેતુ હોય છે આવા મનુષ્યો આચારને અધિક મહત્વ આપતા નથી તેઓ કહે છે કે પ્રભુભક્તિ, મંત્રજપ, [illegible]વાસ, પૂજા આદિ પ્રકારના આચાર એ તો ગૃહસ્થાશ્રમીઓના માટે સામાન્યધર્મરૂપ છે તેથી તેઓ સદાચારી બને, તેનુ પાલન કરે તે ઠીક છે પરંતુ એ કઈ મોક્ષપ્રાપ્તિનો માર્ગ નથી મુમુક્ષુએ તો આત્મજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરવુ જોઈએ, આત્માને ઓળખવો જોઈએ, અને પછી આત્માને કેવી રીતે ઓળખી શકાય તેનો માર્ગ પોતાની સમ્યગ્ દૃષ્ટિથી દર્શાવવામા આવે છે

આધુનિક વિદ્વાનો વાણી ચાતુર્યતાથીને પોતાના કથનને પ્રભાવિત કરનારી દલીલોથી શ્રોતાને ક્ષણભર મુગ્ધ બનાવી દે છે પરંતુ એમા એકંદરે વાણી વિલાસ સિવાય કશુ જ હોતુ નથી

આત્માને આત્મા પોતે જ પિછાને એમ કહેવુ એ કેટલુ હાસ્યાસ્પદ લાગે છે? દેહના આશ્રયે રહેલો આત્મા તેના કર્મોવડે બંધાયેલો હોય છે તે પોતે સુકર્મોને જોર આપી, કુકર્મોથી મુક્તિ મેળવે અને એમ કરતા ધીમે ધીમે તમામ કર્મોને ખપાવી દે છે ત્યારે જ તે આત્મા મુક્તાત્મા બને છે

પરંતુ મનુષ્ય આત્માને ઓળખવાનો, તેની શક્તિને પિછાનવાનો યત્ન કેવી રીતે કરે? શું તે તમામ પ્રકારના આચારથી પર બની જાય? એ કર્મસત્તા આગળ પામર બની ગયેલ મનુષ્ય માટે તો અશક્ય જ છે

ભગવાન મહાવીર જેવા સમર્થ વીતરાગી કેવલીપદને પામેલા ત્રિકાલજ્ઞાની પણ જીવનકાળ દરમ્યાન પોતાને યોગ્ય એવા આચાર પાલનને ખાસ મહત્વ આપતા હતા તેમણે માસખમણ આદિ વિવિધવ્રતની તપશ્ચર્યા કરેલી અને ત્યાગી જીવનને યોગ્ય આચારોનુ વિધિવિધાન પૂર્વક પાલન કર્યુ હતુ તેમજ તેમની પાસે ઉપદેશ બોધ માટે આવતા શ્રાવક શ્રાવિકાઓને પણ આચારના પાલનનો સન્માર્ગ દર્શાવતા,

અને એથી જ કહેવાયુ કે—

"આચાર: પ્રથમો ધર્મ

હા, કોઈ નાસ્તિક માનવી હોય, જેને પોતાના આત્મતત્વ ઉપર શ્રદ્ધા ન હોય, સમગ્ર બ્રહ્માંડને જડ માનતો હોય અને તેના સંચાલનમા 'મેટર' નામનુ કોઈ તત્ત્વ કાર્ય કરી રહ્યુ છે એમ માનતો અને કહેતો હોય એવા માનવીને જીવ અને જડનો ભેદ દર્શાવવા માટે આત્મતત્વનુ રહસ્ય સમજાવવાની જરૂર અવશ્ય છે

આત્મા અનાદિ અને અનંત છે તેમજ દરેક આત્મા સ્વતંત્ર [illegible] એની પ્રતીતિ એક સાધુ શ્રોતાઓને કરવતા હતા તે પ્રસંગે જીવ અને જડનો પ્રસંગ નીકળ્યો,

જીવમાં ચૈતન્ય છે, તે અનાદિ અને અનંત છે, એથી જ તેને 'સત્' કહેવામાં આવે છે, ચૈતન્યયુકત, હોવાથી તેને 'ચિત્' કહેલ છે એ રીતે 'સચ્ચિત' છે; તેમજ તેનાં તમામ કર્મો ખપી જાય છે. તે કર્મબન્ધથી મુકત બનીને મોક્ષની પ્રાપ્તિ કરે છે.

એ રીતે સાધુમહારાજ શ્રોતાઓને આત્મા વિષેનું જ્ઞાન આપી રહ્યા હતા. તેમાં જીવ અને જડની સમજણુ આપતાં જેમાં જીવન એટલે કે આત્મતત્વ હોતું નથી તેને માટે જડ "ચૈતન્યહીન" શબ્દની યોજના કરેલી હોવાનું બતાવ્યું. એ વખતે એક શ્રોતાએ ખભા ઉપરથી અંચળો ઉતારીને પ્રશ્ન કર્યો મહારાજ આ અંચળો તો જડ જ છે ને?

મહારાજે કહ્યું: હા, જેનામાં જીવ નથી, ચૈતન્ય નથી તેને જડ જ કહી શકાય.

'ત્યારે જુઓ' એમ કહીને તેણે અંચળાને બે હાથે વળ ચડાવ્યો, તેને બેવડો કરીને પુનઃ વળ ચડાવીને મહારાજ સમક્ષ તેણે મૂકી દીધો, તરતજ ચડેલો વળ ઉકલવા લાગ્યો, અંચળો ગતિમાન થતો દેખાયો. એ ક્રિયા પૂરી થયા પછી એ માણસ બોલ્યો:– 'અંચળો તો જડ છે, તેમાં જીવ નથી એમ આપ કહો છો તો પછી તે આપ મેળે કેવી રીતે ઉકલી ગયો?

અન્ય શ્રોતાઓને પણુ આશ્ચર્ય થયું; પરંતુ મહારાજ શાન્ત હતા. તેમણે મંદ મંદ સ્મિત કરતાં કહ્યું:–બંધુ તમે તો આત્મરૂપ છો ને! એ આત્મશકિતએ અંચળાને વળ ચડાવ્યો તેથી જ તે આપો આપ ઉતરી ગયો. જો તમે પોતે તેને વળ દીધો ન હોત તો ઉકલવાનો પ્રશ્ન જ ન રહેત!

મહારાજને ઉતારી પાડવાની ઇચ્છા રાખનાર પોતે જ મૌન બની ગયો. એ આત્મામાં રહેલી શકિત પંચેન્દ્રિયો વડે જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરે છે. અને ક્રિયા પણુ કરે છે. કર્મબન્ધનના કારણે તેનામાં રહેલા દોષોને દૂર કરવાના અર્થે સર્વોત્તમ માર્ગ આત્મ સંયમનો છે. આત્મા પોતાને સંયમિત બનાવે, પોતાની જાત ઉપર, મન ઉપર, દેહ ઉપર અંકુશ રાખે, તો આપોઆપ તેનું જીવન સદાચાર યુકત બની જાય છે.

આત્મસંયમ કોઈ પણ ધર્મનો અનુયાયી યથાવત આચાર વિચારનું પાલન કરી સિધ્ધ કરી શકે છે. તેનાં તમામ કાર્યો સદ્ગુણોની સુવાસને સર્વત્ર પ્રસરાવે છે. આત્મસંયમ આત્મશકિતનો પણુ વિકાસ કરે છે. તેની વૃત્તિઓ કોઇ પણુ પાપ–દોષથી પૂર્ણપણે મુકત રહે છે. તેનું મન ચલવિચલ થયા વગર તે પૂર્ણપણે નિડર અને હિંમતવાન રહે છે.

આમ જેને સામાન્ય કહી શકાય તેવો નાનામાં નાનો માનવી પણુ આત્મસંયમી બની શકે છે. તેનો આત્મસંયમ કૌટુમ્બિક જીવનમાંથી તમામ પ્રકારના કલહ કંકાસને દૂર કરે છે, પડોશીઓ અને તેથી આગળ વધીને સમૂહ જીવનમાં પણુ આત્મસંયમ અનેરો ચમત્કાર દર્શાવે છે.

એમાં સફળતા પ્રાપ્ત કરવા માટે જૈન ધર્મશાસ્ત્રકારોએ સરળ માર્ગ સૂચવ્યો છે. જો આમાં શ્રદ્ધાપૂર્વક મંત્ર જપ અને દૃઢ નિયમપૂર્વક 'સામાયિક'નું નિયમિત પાલન કરવામાં આવે તો આત્મા અધિકાધિક સંયમિત બનતો જાય છે.

આજે કેટલાક માનવીઓ એવી ફરિયાદ કરે છે કે"આ મારાથી સહન થઇ શકતું નથી? તેઓ દેહના કોઇ રોગને સહન ન કરી શકે. પોતાના વિચાર અને કથનનો વિરોધ કરનારી દલીલથી એકદમ ઉકળી ઉઠે. પોતે ઇચ્છતા હોય એથી કોઇ વિરુદ્ધ વર્તન જુએ તો એ માટે તેમનો બબડાટ શરૂ થઇ જાય. એ રીતે તેમની અસહિષ્ણુતાની માત્રા ઉગ્રતિઉગ્ર બની રહે છે, તેમનું મન એથી સ્વાભાવિક રીતે જ વહેમી અને શંકાશીલ રહ્યા કરે છે પરિણામે તે સદાય ડરપોક રહે છે. તેની હિમ્મત તૂટી જાય છે, તેઓ ધૈર્ય ગુમાવી દે છે. આ પ્રકારની અસહિષ્ણુતા તેમના તન, મનને સદૈવ અસંતુષ્ટ અને દુખી રાખ્યા કરે છે, તેમની મનોદશા પામર બની જાય છે. પરિણામે પોતાના કરતા સુખી માનવીને જોઇને તેમના મનમાં ઇર્ષ્યા જાગે છે અને પોતાના યત્નો નિષ્ફળ જતા આસજન, દેવ, ગુરૂ અને ધર્મ ઉપરની સાચી શ્રદ્ધા તેઓ ગુમાવી બેસે છે, વિશ્વાસ તો તેમને કોઇનો રહેતો જ નથી.

આવા માનવીઓનું જીવન અન્યના માટે ભારરૂપ બને છે અને ઉત્તરોત્તર પારલૌકિક જીવન પણ દુ:ખની પરાકાષ્ઠાનું જ દર્શન કરાવે છે. તેમના માનસની જ નહિ પરંતુ આત્માની પણ અધોગતિ જ થાય છે.

આવા માનવીઓ માટે આત્મસંયમ અદ્ભુત ઇલાજ છે. પ્રયત્ન પૂર્વક તેઓ પોતાની જાત ઉપર, મન ઉપર અંકુશ રાખવા ધારે તો તેમાં એમને જરૂર સફળતા મળી શકે. પરંતુ તેમની અસહિષ્ણુતાએ તેમના દિલમાં તૃષ્ણાનો એટલો બધો વિકાશ કરી દીધો હોય છે કે એ તૃષ્ણા સયમને સ્થિર થવા દેતી નથી, અને ફલસ્વરૂપે તેમનુ જીવન નીતિ ન્યાયના માર્ગમા પણ નીચે ઉતરતું જાય છે. તેઓ જો તૃષ્ણા અને તેનાથી ઉદ્ભવતા અભિમાનનો ત્યાગ કરે, પોતાને મહત્તા ન આપે તો ધીમે ધીમે સહિષ્ણુતા વધતી જાય છે અને તેમનો સંયમ પણ દૃઢ બનતો જાય છે.

આત્મસંયમનો એક લાભ તો પ્રત્યક્ષ છે, તે આત્મશ્રદ્ધાને જાગૃત કરે છે, આત્મ વિશ્વાસને દૃઢ કરે છે. અને ગમે તેવું મુશ્કેલ મુંઝવનારૂ કે અશકય લાગતું કાર્ય સિધ્ધ કરવા માટે માર્ગદર્શન મળી રહે છે.

શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યનું રાજકારણ

લેખકઃ—શ્રી નાગકુમાર મકાતી, B.A.L.L.B
વડોદરા.

એ સર્વમાન્ય હકીકત છે કે વિક્રમની બારમી સદીના ઉત્તરાર્ધમાં અને તેરમી સદીના પૂર્વાર્ધમાં શ્રીમદ્ હેમચંદ્રાચાર્યે ગુજરાતના રાજકારણમાં મહત્વનો ભાગ ભજવેલો છે. ગુજરાત તે વખતે એક વિકાસ પામતું સામ્રાજ્ય હતું, અને ગુજરાતની સીમાઓ દૂર દૂર સુધી વીસ્તરેલી હતી. સિદ્ધરાજ જયસિંહ ગુજરાતને મહાન બનાવવાનાં સ્વપ્નો સેવતો હતો. તેવામાં તે શ્રી હેમચન્દ્રાચાર્યના પરિચયમાં આવ્યો.

કુમુદચંદ્ર અને વાદિદેવસૂરિના વિક્રમ સંવત ૧૧૮૧ માં થયેલા વાદ–પ્રસંગથીજ તે હેમચંદ્રાચાર્યની તેજસ્વી બુદ્ધિનો પ્રશંસક બન્યો હતો. માલવાના વિજય પછી ભોજદેવકૃત 'સરસ્વતી કંઠાભરણ' વ્યાકરણ જોતાં સિદ્ધરાજનું આત્મગૌરવ હણાયું. ગુજરાતનો ભલે માલવા ઉપર રાજકીય વિજય થયો, વિદ્વતામાં તો ગુજરાત માલવાથી હારેલું જ છે. આ સંસ્કાર–પરાભાવના કલંકમાંથી બચવા, ગુજરાતની સાહિત્યદરિદ્રતા દૂર કરવા, 'સરસ્વતી–કંઠાભરણ'ને ટપી જાય તેવું નવું વ્યાકરણ રચવા, તેણે શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યને વિનંતિ કરી. તેમની વિશિષ્ટ શકિતઓનું પ્રદર્શન અને ગુજરાતના ઘડતરમાં સક્રિય હિસ્સો આપવાનો પ્રારંભ આ પ્રસંગથી થયો.

વ્યાકરણ તૈયાર થયે જે બહુમાનપૂર્વક પોતાના ખાસ હાથી ઉપર પધરાવી તેને રાજમહેલમાં લાવવામાં આવ્યું. તે ઉપર શ્રી હેમચંદ્રાચાર્ય વિષે સિદ્ધરાજને કેટલું માન હતું તેની પ્રતિતી થતી હતી. હેમચંદ્રાચાર્યની પ્રતીભાની અસર તળે તે ધીમે ધીમે આવતો જતો હતો. પરન્તુ વ્યાકરણની સમાપ્તિ પછી ત્રણચાર વર્ષના ગાળામાંજ વિ. સં. ૧૧૯૯ માં તેનું અવસાન થયું અને શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યની જામતી જતી અસર થોડો વખત ખોળંબે પડી.

કુમારપાળ ગુજરાતના સિંહાસને આવ્યો અને શરૂઆતનાં થોડાં વર્ષો બાદ ગુજરાત પુનઃ શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યની અસર નીચે આવવા લાગ્યું અને વિ. સં. ૧૯૧૬ થી ૧૯૩૦ સુધી તેમના સો એ સો ટકા પ્રભાવ નીચે રહ્યું.

હેમચન્દ્રાચાર્યનો પોતાનો, રાજા અને રાજ્ય બાબત, વિશિષ્ટ આદર્શ હતો. કુમારપાળની પોતાના પ્રત્યેની અપૂર્વ શ્રદ્ધાનો તેમણે તે આદર્શ સિદ્ધ કરવા પ્રયત્ન કર્યો.

રાજકારણ ઉપર જબ્બર પ્રભાવ છતાં તેઓ મેલી રાજરમતમાં કદી પડયા નથી. સ્વભાવ, સંયોગો અને સંયમપૂર્ણ જીવનને લીધે તેમ કરવાની તેમને આવશ્યકતા નહોતી. તેઓ સંસારથી વિરકત અને ત્યાગી હોઇ તેમનામાં અંગત સ્વાર્થનો તદ્દન અભાવ હતો. સંયમી જીવનમાં કાવાદાવાને સ્થાન નહોતું. આથી કુમારપાળને તેમનામાં સંપૂર્ણ શ્રધ્ધા હતી.

તેમનુ રાજકારણ, અનન્ય ધર્મભાવનાના સંમિશ્રણવાળું હતુ પરંતુ તે વહન લોકહિતાર્થે હતુ તે તેમની નીચેની સિધ્ધિઓથી ખાત્રી થશે

૧. ગુજરાતનું દૃષ્ટિ પરિવર્તન :—અહિંસાના સિધ્ધાન્તનો પ્રચાર કરીને ગુજરાતના રાજકીય અને સાંસ્કૃતિક જીવનમા તેમણે જબ્બર ક્રાન્તિ કરી છે હિંસા એ મનુષ્ય સ્વભાવની વિરુધ્ધની વસ્તુ છે અને માનવતાની દૃષ્ટિએ ત્યાજ્ય છે ધર્મ કે માનવતાથી દૃષ્ટિએ તેનો કોઇ રીતે બચાવ થઈ શકે તેમ નથી આ મહાન સંદેશથી તેમણે સમસ્ત ગુજરાતનું દૃષ્ટિ પરિવર્તન કરી નાખ્યુ આજે પણ જૈન ધર્મની અહિંસાની વધુમા વધુ છાયા ગુજરાત ઉપર દેખાય છે યજ્ઞ-પાત્રોમાથી પણ મોટા ભાગે હિંસા ચાલી ગઇ આહાર વિહારમા પણ ગુજરાત જેટલો બીજો કોઇ પ્રદેશ ભાગ્યે જ નિરામિષાહારી હશે

૨. લોકજીવનની શુધ્ધિ :—શ્રી હેમચન્દ્રાચાર્યે લોકજીવનની શુદ્ધિ અને સાફસૂફી કરી તેમના જીવન ધોરણ ઉંચા લાવવા પ્રખર પ્રયાસો કર્યા હતા મદિરા, જુગાર, માંસભક્ષણ આદિ પ્રજાજીવનમાં ઘર કરી બેઠેલા અનેક અનિષ્ટોને મૂળમાથી કાઢવા તેમણે સખત આંદોલનો ગતિમાન કર્યા હતા. રાજ્ય મારફતે પણ આ અનિષ્ટો ઉપર પ્રતિબંધો મૂકવામાં આવ્યા હતા

૩ આદર્શ રાજા—સુખી પ્રજા જીવનની ચાવી વ્યસન રહિત અને આદર્શ રાજામા રહેલી છે તે પોતે સંયમી અને ચારિત્ર્યશીલ હોય તો જ પ્રજાજીવનનો ઉધ્ધાર શક્ય છે કુમારપાળને પોતાના આદર્શો પ્રમાણે ઘડી ગુજરાતને તેમણે એક સંસ્કાર મૂર્તિ રાજા અને તેમનો આદર્શ સદાને માટે આપ્યા છે ગુજરાતના રાજકીય જીવનને ઉચ્ચ બનાવનાર મહાન શક્તિ તરીકેનુ તેમનુ સ્થાન અદ્વિતીય છે

૪ સ્ત્રી સ્વાતંત્ર્ય—આજથી આઠસો વર્ષ પૂર્વે સ્ત્રી સ્વાતંત્ર્ય અને તેમના વારસાના હક્કો સ્વીકારાવી તેમની આર્થિક અસમાનતા દૂર કરાવવાનો યશ તેમને ફાળે જાય છે સ્ત્રીઓના આર્થિક સમાનતાના સિધ્ધાંતનો તેમણે ગુજરાતને આપેલો વારસો અમૂલ્ય છે. તેમના સમય સુધી કોઇપણ માણસ અપુત્ર મરણ પામે તો તેનું તમામ ધન રાજ્યની તિજોરીમા જતુ. હેમચન્દ્રાચાર્યે આ બંધ કરાવી અપુત્રિયાનું ધન તેની વિધવા કે પુત્રીને મળે તેવો ધારો ઘડાવ્યો અને તેમ કરી સ્ત્રીઓના વારસા હક્કનો સૌથી પ્રથમ સ્વીકાર કરાવ્યો આ કાયદાથી બોતેર લાખની આવક કુમારપાળના રાજ્ય તીજોરીમા આવતી બંધ થઇ. પરંતુ અપુત્રિયાનુ ધન રાજ્ય લઈ લે એ હડહડતો અન્યાય છે એમ તેમણે કુમારપાળને દસાવ્યુ અને કુમારપાળે તે વાત માથે ચડાવી.

૫ અસ્મિતા—ગુજરાતની અસ્મિતા તેમના સમયમાજ જન્મી એમ કહીએ તો ચાલે રાજા ભોજદેવ કૃત વ્યાકરણ જોઇ સિધ્ધરાજ ગુજરાતની ગૌરવહીનતા અનુભવવા ૧૧૯૮ ત્યારે હેમચન્દ્રાચાર્યે ગુજરાતી અસ્મિતાનો દીપક સૌથી પ્રથમ પ્રકટાવ્યો અને ત્યારપછી અનેક સ્વરૂપે તેનો પ્રકાશ ગુજરાતને ઘેર ઘેર ફરી વળેલા આપણે આજે પ જોઇ શકીએ છીએ

ઉપરના મૂખ્ય તારણુ ઉપરથી જોઇ શકાશે કે શ્રીમદ્ હેમચંદ્રાચાર્ય માત્ર જૈન સમાજના જ નહોતા. તેઓ સમસ્ત ગુજરાતના ભારતવર્ષના બલ્કે સારીયે માનવ જાતના હતા. તેમણે ધર્મના ભેદભાવ સિવાય સારીયે માનવ જાતના કલ્યાણ માટે કાર્ય કર્યું છે. તેમના જેવી વિભૂતિઓ કોઇપણ એક પંથની રહી શકતી જ નથી. તેમની વિશિષ્ટ શક્તિઓ અને સમદૃષ્ટિ તેમને સારાયે રાષ્ટ્રની માનવ જાતની મિલ્કત બનાવે છે. એક મહાન ધર્માચાર્ય અને સાહિત્ય સ્વામિ ઉપરાંત એક પ્રખર રાષ્ટ્ર અને સમાજ સુધારક તરીકે તેમનું નામ ચિરંજીવ રહેશે. તેમની સર્વ શકિતઓ પ્રજાની આબાદી પાછળ જ ખર્ચાઇ છે.

તેમનું જીવન સમસ્ત પ્રજાને માટેજ ખર્ચાયું હતું. સદેહે તેઓ સમાજના હતા વિદેહ છતાં તેમનો અક્ષરદેહ આજેય સમાજ માટેજ છે અને ભવિષ્યમાં પણ રહેશે.

હેમચંદ્રાચાર્ય રાજકારણના તકતા ઉપર આવ્યા તે પહેલાંથીજ જૈનોની લાગવગ ગુર્જરેશ્વરના દરબારમાં હતી, મુંજાલ મહેતા, ઉદયન, શાન્તુ મહેતા, સજ્જનમંત્રી અને બીજા અનેક જૈનો રાજકારણમાં વર્ચસ્વ ભોગવતા હતા. પરંતુ હેમચંદ્રાચાર્યના પ્રવેશ પછી સ્વાભાવિક રીતેજ જૈનોનાં સત્તા, પ્રભાવ અને લાગવગ વધ્યાં. તેમના ઉત્કર્ષ માટે તેઓ કારણભૂત બન્યા.

જૈન ધર્માવલંબી છતાં હેમચંદ્રાચાર્ય આર્ય સંસ્કૃતિના પ્રતિનિધિ હતા. ધર્મના પાયાનાં મુળભૂત તત્વો ઉપર જૈન અને વૈદિક આદર્શોમાં ભાગ્યેજ અથડામણ હતી. તેથી સિદ્ધરાજને ઉદ્દેશીને શ્રી કનૈયાલાલ મુનશી "ગુજરાત એન્ડ ઇટસ લીટરેચર" પૃષ્ટ ૪૧ ઉપર કહે છે તેમ "He was building an empire, and people of Gujarāta were acquiring the proud conciousness of being a great people. Jaina valour and wealth had great share in this achievement. Jaina Sādhus, therefore, definitely cass their lot with this province and decided to make Gujarāta their holyland. Hemchandra gave up even the peregrinations enjoined by his religious vows; and with masterly skill and statesmanship, he concentrated his intellectual powers upon leaving a great literary heritage to Gujarāta. He assiduously fosfered a pride in the greatness of the cālukyas kings, who had identified themselves with its glory. In his Dvyāśrayamahakāvya, he described the glories of the Cālukyas in the orthodox literary style, and invested the king of Paṭaṇa with the dignity which classical poets had reseserved for the ancient royal houses of the Sun and the Moon. Gujarāta Bhumi became a great country Paṭaṇa rivalled the glories of ancient Pātliputra and Ayodhyā."

આ ઉપરથી જણાશે કે તે વખતના ગુજરાતના રાષ્ટ્ર ઘડતરમાં હેમચંદ્રાચાર્યનું વર્ચસ્વ કેટલું બધું હતું. ધર્મ પ્રચાર તેમને મન સર્વોદ્ધાર mass upliftનું સાધન હતું અને રાજકારણમાં ભાગ લઇ આ ધ્યેયની સિદ્ધિ અર્થેજ તેમણે પ્રયત્ન કર્યો છે.

કુમારપાલના રાજા તરીકેના ફરમાનોમા શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યનો પ્રભાવ દ્રષ્ટિગોચર થાય છે તે પ્રભાવ સ્વાર્થપ્રેરીત નથી પણ જનસમાજની કલ્યાણની ભાવના અને તેમના સયમ રગથી રગાયેલો છે તેમનુ રાજકારણ રાજખટપટથી તદન અલિપ્ત ઉચ્ચ કોટિનુ અને સામાન્ય રાજકારણથી તદ્દન નિરાળા પ્રકારનુ હતુ ચાણક્યસમી તેજસ્વી બુદ્ધીની દોરવણીવાળુ છતા તે ચાણક્યની રાજરમતથી મુક્ત હતુ તેમના રાજકારણને ધર્મનો અવિહડ રગ લાગેલો છે રાજ્યસૂત્ર ધર્મસિદ્ધાન્તોથી દોરવાયેલુ હોવુ જોઇએ એમ તેઓ માને છે ધર્મરાજ્ય એજ રાજ્યધર્મ, એજ રાજ્યાદર્શ ગુજરાતમા એ ધર્મરાજ્ય ઉતારવા પુરતુ જ તેમનુ રાજકારણ હતુ

જ્યા સત્તાની પ્રાપ્તિ માટે ખેચતાણ ચાલતી હોય, સત્તાના સ્થાનો કબજે કરવાની હરિફાઇઓ થતી હોય ત્યા રાજકારણનુ ગદુ સ્વરૂપ દેખા દે છે શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યને સત્તાનો મોહ નહોતો તેમની રાજનીતિ સ્પષ્ટ અને ખુલ્લી હતી તેમને કશુ છૂપાવવાપણું નહોતુ સત્ય અને અહિંસા ઉપરજ તેમની રાજ્યનીતિનુ બધારણ થયેલુ હતુ સત્યને ભોગે નહિ પણ સત્યને માટે તેમનુ રાજકારણ હતુ. અહિંસાને ભોગે નહિ પણ અહિંસાને માટે તેમનો પ્રયત્ન હતો જૂઠા પ્રપચ, કુટિલતા રાજ્યમાથી દૂર કરવા તેમની શક્તિઓ ખર્ચાઇ હતી તેમના રાજકારણથી ગુજરાત હતું તે કરતા વધુ સમૃદ્ધ, વ્યસનોથી મુક્ત અને વધુ તેજસ્વી બન્યુ હતુ ગુજરાતે તે પહેલા અને પછી કદિ ન જોયેલા એવા સુવર્ણયુગના દર્શન કર્યા હતા

કુમારપાલ અને હેમચંદ્રાચાર્યે આરભેલી રાષ્ટ્ર ઘડતરની સત્ય અને અહિંસાની, પ્રજાના ઉત્કર્ષની નીતિ ચાલુ રહે તે માટે હેમચંદ્રાચાર્યે કુમારપાળની હયાતીમા તેને યોગ્ય સુચનાઓ આપેલી કુમારપાળને પુત્ર નહોતો તેના મૃત્યુ પછી તેના ભાઇનો પુત્ર અજયપાળ અને પોતાની પુત્રી પ્રતાપમાળાનો પુત્ર પ્રતાપમલ્લ એમ બે જણ રાજ્યગાદી ઉપર દાવો રાખતા હતા અજયપાળ ખુલ્લી રીતે કુમારપાળની રાજ્યનીતિનો વિરોધી હતો, તુચ્છ મનોવિકારને આધીન હતો અને હેમચંદ્ર દ્વેષી હોઇ તેમની પ્રેરણાથી પોતાના કાકા કુમારપાળે ઘડેલા તમામ કાયદાઓ બાજુએ મૂકી દે તેવો હતો પ્રતાપ મલ્લ લોકપ્રિય અને ધર્મશ્રદ્ધાવાળો હતો તેની લાયકાત જોઇ હેમચંદ્રાચાર્યની સલાહમશ ઉપરથી કુમારપાળે પોતાના ગાદી વારસ તરીકે પ્રતાપમલ્લને જાહેર કર્યો આ ઉપરથી અજયપાળે દ્વેષ રાખી કુમારપાળને ઝેર આપ્યુ અને તેની અસર દૂર થાય તેમ નહિ હોવાથી કુમારપાળ જૈન વિધિ મુજબ અનશન કરી આહાર પાણીનો સર્વથા ત્યાગ કરી શુદ્ધિ ભાવનાપૂર્વક મરણ પામ્યો

કુમારપાળના મરણ પછી અજયપાળ બ્રાહ્મણપક્ષના અને હેમચંદ્રાચાર્યના એક શિષ્ય બાલચન્દ્રના ટેકાથી ગાદીએ બેઠો તેણે કુમારપાળે શરૂ કરેલી નીતિનો સર્વથા ત્યાગ કરી જૈનો સામે સખત જેહાદ જગાડી પ્રતાપમલ્લનો પક્ષ લેતા હેમચંદ્રાચાર્યના પટ્ટશિષ્ય મહા કવિ રામચંદ્રસૂરિને તપાવેલા લોઢાના આસન ઉપર બેસાડી તેમનો ઘાત કર્યો, કેટલાય જૈન મંદિરોનો નાશ કરાવ્યો

શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યે શરૂ કરેલી રાષ્ટ્ર વિધાનની નીતિને કુમારપાળના મૃત્યુ પછી જબરો પ્રત્યાઘાત નડયો, અને ત્યારથી સોલંકીઓની અવનતિના પાયા શ્રી ગણેશ

ભોજનું કીર્તિશિખર

લેખક:—
શ્રી ચુનીલાલ વર્ધમાન શાહ
"અમદાવાદ"

વિક્રમના અગીઆરમા શતકની મધ્યમાં જે વખતે માળવામાં ધારાપતિ ભોજ રાજાનું કીર્તિશિખર ઊંચું ને ઊંચું ચડયે જતું હતું, તે વખતે થોડાં વર્ષ અગાઉ જીવી ગયેલા બે રાજાઓનાં યશ-પરાક્રમ ભારતમાં સારી પેઠે ગવાઇ રહ્યાં હતાં. એક હતો ડાહલ દેશનો (ચેદિનો-બુંદેલ ખંડનો) હૈહય વંશનો રાજા ગાંગેય દેવ અને બીજો હતો તૈલંગણમાં માન્યખેટનો ચાલુક્ય વંશીય રાજા તૈલપદેવ.

ભોજ અને ગાંગેયનો સંસ્કૃત પ્રબંધ ભોજનાં કીર્તિગાન સાંભળીને ઇર્ષ્યાથી બળતા ગાંગેયનું ચિત્ર દોરી આપે છે. ભોજ અને ગાંગેય વચ્ચે કોઇ વૈર-વિરોધનું રાજ પ્રકરણી કારણ ન હોવા છતાં ગાંગેય ૧૪૦૦ હાથી, પાંચ લાખ ઘોડા અને ૨૧ લાખ પાયદળ સાથે ભોજની સામે ચડે છે અને ગોદાવરીને તીરે પડાવ નાંખે છે. ભોજ પણ વળતો જવાબ આપવા પ્રમાણમાં પોતાનું નાનું સરખું લશ્કર લઇને જાય છે. ગાંગેય પોતાના પંડિત પરિમલને ભોજને ડરાવવા અને પોતાનાં મોટાં લશ્કરનો ખ્યાલ આપવા મોકલે છે, ત્યારે ભોજ પોતાના મંત્રી છિત્તિપને ગાંગેય પાસે સંધિ કરવા મોકલે છે. ગાંગેય છિત્તિપ પાસે પોતાના જંગી સેનાની ગર્વપૂર્વક વાતો કરે છે. છિત્તિપ એને નમ્રતાથી સમજાવવા અને સૈન્યનો ગર્વ છોડી દેવા વિનંતિ કરે છે. એવામાં ગાંગેયની છાવણીમાં એક વિચિત્ર બનાવ બને છે. એક ગાંડો થયેલો હાથી છાવણીમાં દોડાદોડી કરી રહ્યો છે, સૈનિકોને કચડી રહ્યો છે, તંબૂ રાવટી વગેરેનો નાશ કરી રહ્યો છે. અને તેથી ચોમેર કોલાહલ પ્રસરી રહ્યો છે. ગાંગેય કોલાહલનું કારણ પૂછે છે ત્યારે તેને કહેવામાં આવે છે કે ગાંડો હાથી છાવણીનો ઘાણ કાઢતો ઘુમી રહ્યો છે, તુરત ગાંગેય પોતાની જાનની સલામતી માટે લાકડાના મોટા પિંજરામાં પેસી જાય છે અને પિંજરની અર્ગલા બંધ કરી દેવામાં આવે છે.

આ તક જોઇને છિત્તિપ પોતાના એક માણસને તેના પગરખા પર છુપો સંદેશો લખી આપીને ભોજ પાસે મોકલે છે, ભોજ એ સંદેશો વાંચી ગાંગેયના સૈન્ય પર ઓચિંતો તૂટી પડે છે, અને કાષ્ટ પિંજરમાં પુરાયેલા ગાંગેયને પકડી લઇ સોનાની બેડી પહેરાવી ધારામાં લઇ જાય છે. એ વખતે પંડિત પરિમલ એક શ્લોક કહી ભોજને પ્રસન્ન કરે છે અને તેની વિનંતિથી ગાંગેયને છોડીને સહીસલામત રીતે તેના દેશમાં જવા દેવામાં આવે છે. ગાંગેયદેવની રાજધાનીનું નગર એ કાળે સુપ્રસિદ્ધ તીર્થક્ષેત્ર કાશીનગરી હતું.

ગાંગેયના મૃત્યુ પછી એનો ગર્વ એના પુત્ર કર્ણદેવમાં ઉતર્યો હતો. પિતાની કીર્તિ સુવાસ ભોજના કીર્તિ શિખરને જમીનદોસ્ત કરી ન શકી તેનું તેના મનમાં વૈર વસ્યું હતું. તે ભોજની પેઠે પોતાના દરબારમાં પંડિતો રાખતો, એ પંડિતોની સભા ભરતો, કાવ્યશાસ્ત્ર વિનોદ ચલાવતો, દાનો આપતો અને પોતે નામે કર્ણ હતો

તેથી કુન્તાસુત કર્ણના જેવો પોતાને દાનેશ્વરી કહાવતો તેની પરાયણતાના તેના કવિઓએ રચેલા શ્લોકો મળી પણ આવે છે પદ્માકર, શુક્લાબર અને કાત્યાયન નામના ત્રણ વિદ્વાનોને કર્ણે ભોજની સભામા વિવાદ ચલાવી ભોજના પંડિતોને હરાવવા મોકલેલા પણ [illegible]ટા તેઓને હારીને ઘેર પાછા ફરવુ પડેલુ એ હારેલા પંડિતોને પણ ભોજે મોટા દાનો આપી પોતાની દાન પરાયણતા તથા સૌજન્યની સીમાનુ દર્શન કરાવ્યુ હતુ

આથી નરશીપાય થયેલા કર્ણે ભોજરાજાનુ કીર્તિશિખર તોડી પાડવા બીજો યત્ન કર્યો તેણે ભોજને આહ્વાન કર્યું, કે તમે ધારામા અને હુ કાશીમા એક સરખા મંદિરો બાધીએ અને જેનુ મંદિર વહેલુ પૂરૂ થાય તેને મોડુ પૂરૂ કરનાર છત્ર-ચામર મોકલી સન્માને ભોજે શરત માન્ય કરીને મંદિર બંધાવવા માડયુ પરંતુ તે પૂરૂ થાય તે પહેલા કર્ણનુ મંદિર પૂરૂ થઈ ગયુ હતુ, તેથી કર્ણની ગર્વોક્તિ સાર્થક થવા પામી ઇતિહાસ એમ પણ કહે છે કે ગુજરાતના ભીમ અને ચંદીના કર્ણે મળી જઇને માળવા પર આક્રમણ કરી ભોજને હરાવ્યો હતો અને દડમા તેની રત્નજડિત મંડપિકા કબજે લીધી હતી આ સંયુક્ત યત્નથીયે ભોજનુ કીર્તિશિખર તૂટવા પામ્યુ નહતુ

ભોજની કીર્તિ તેના ધનવૈભવને આભારી નહોતી તેની વિદ્યા પ્રીતિ, પાંડિત્ય અને દાન રંગ યજનાને આભારી હતી એ કીર્તિની સુવાસે ગાંગેય અને કર્ણ જેવા રાજાઓને ઇર્ષ્યાળુ બનાવ્યા હતા

એ કાળે એવો જ બીજો મહાન રાજા તૈલગણનો ચાલુક્યવંશી રાજા તૈલપદેવ હતો માન્યખેટ (માલખેડ) મા તેની રાજધાની હતી તૈલપ પરાક્રમી રાજા હતો મૂળરાજ સોલંકી જ્યારે ગુજરાતની ગાદી પર હતો ત્યારે તૈલપે તૈલગણના રાઠોડ રાજાને હરાવીને ત્યા ચાલુક્યવંશનુ રાજ્ય સ્થાપ્યુ હતુ લાટનો બારપ જેને મૂળરાજના યુવરાજ ચામુંડે હરાવીને માર્યો હતો તે એ તૈલપનોજ લાટમાનો સામંત હતો તૈલપ માળવા સાથે લાબો વિગ્રહ ચલાવેલો અને તેમા તેણે સારી પેઠે પરાભવો અનુભવેલા, પણ છેવટે તેણે માળવાના મુંજને હરાવી તેને કેદ કરેલો અને પછી તેનો વધ કરેલો એ મુંજની પછી ભોજ માળવાનો રાજા થયેલો પણ તૈલપ અને ભોજ વચ્ચે કોઇ યુદ્ધનો સંભવજ નહોતો કારણકે ભોજ ગાદી પર આવ્યો ત્યારે તે કુમાર વયનો હતો, અને એ અરસામાજ તૈલપનું મૃત્યુ થયેલું માળવા જીત્યુ ત્યારથી તૈલપની મહત્તાની કીર્તિ તે કાળે પ્રસરેલી હતી અને પરાક્રમી રાજાઓમા તેની ગણના થવા લાગી હતી

પણ ભોજની કીર્તિ તો અનેરી હતી તેણે વિજેતા તરીકેની કીર્તિ માટે યુદ્ધો કર્યા નહોતા, કે રાજ્યની સીમા વધારવાની લોલુપતા ધરાવી નહોતી યોગ્ય લાગ્યુ ત્યારે યુદ્ધ ટાળવાને શત્રુઓને ધનથી પણ તેણે સંતોષી લીધા હતા અને પ્રજા પરની આપત્તિને ટાળી હતી તેનો પ્રાતસ્મરણનો શ્લોક હતો

अयमवसर सरस्ते सलिलैरुपकर्तुमर्थिना मनिशम् ।
इदमपि सुलभम् चाम्भोभवति पुरा जलधराभ्युदये ॥

અર્થાત:-હે સરોવર! અત્યારે તું જળથી ભરપૂર છે, એટલે જળવડે તૃષાતુરોની તૃષા સંતોષવાનો તારે માટે આજ અવસર છે. ભવિષ્યમાં આટલું બધું જળ તો ત્યારેજ મળવા પામે કે જ્યારે વાદળાં વરસે. (અને ન વરસે તો તને જળનું દાન કરવાનો અવસર નજ મળવા પામે). તાત્પર્ય એ છે કે ધનનો સંગ્રહ કરવાનું તેને કદાપિ મન થતું નહિ. ભવિષ્યમાં સંકટને સમયે ધન જોઇએ તેટલા માટે તેનો સંગ્રહ કરવાનો એકવાર તેના પ્રધાને તેને ઉપદેશ આપેલો, ત્યારે તેણે જવાબ આપેલો કે દુર્દૈવ આવે છે ત્યારે સંગ્રહેલું ધન પણ ઉપયોગમાં આવવાને બદલે નાશ પામે છે, માટે તેનો તો સ્વહસ્તે ઉપયોગ કરવો ઘટિત છે.

ભોજે વિદ્યાને ઘટતું મહત્વ અને ઉત્તેજન આપ્યું, જાતે વિદ્યા સંસ્કાર ગ્રહણ કરીને સાહિત્ય નિર્માણ કર્યું ધન એ સંગ્રહવાની નહિ પણ ત્યજવાની વસ્તુ છે એ સત્યને તેણે આખા જીવન દર્મિયાન આચરી બતાવ્યુ અને પ્રજામાં સંસ્કારધન સિંચવાને અંત સુધી મંથન કર્યું. એ ચાર વસ્તુઓના ચતુષ્કોણીય મંદિર ઉપર ભોજનું કીર્તિ-શિખર ઉભું છે, અને એજ કાળની એક કિંવદન્તીની સજીવતાથી આજસુધી રક્ષાતું રહ્યું છે. એ કિંવદતી છે "કયાં રાજા ભોજ અને કયાં ગાંગેય-તઈલ."

આ કિંવદન્તી અનેક ભ્રષ્ટ રૂપાંતરોદ્વારા પણ આજ સુધી સજીવ-પ્રવાહિત રહી છે. તે એટલે સુધી કે ભોજનો લોહનો વિજયસ્તંભ જે ધારામાં રાજપ્રાસાદની સામે ઉભો કરવામાં આવ્યો હતો. અને જે આજે જુમા મસ્જીદ પાસે ભાંગેલી હાલતમાં પડયો છે તેને લોકો 'ગાંગલી ઘાંચણના ત્રાજવાની દાંડી' કહે છે, અને મુળ કિંવદન્તી ને 'કયાં રાજા ભોજ ને કયાં ગાંગો તેલી' અથવા 'ગાંગલી ઘાંચણ' એવા વિકૃત સ્વરૂપમાં ઉચ્ચારે છે. જુદા જુદા પ્રાંતોમાં એજ કિંવદન્તીનાં જુદાં જુદાં વિકૃત સ્વરૂપો પ્રચલિત છે. મહારાષ્ટ્રમાં કહેવાય છેઃ 'કોઠે રાજા ભોજ આણિ કોઠે ગંગા તેલી' માળવામાં 'કહાં રાજા ભોજ ઔર કહાં ગાંગલી તેલણ' પ્રચલિત છે. ઉત્તર પ્રદેશમાં 'કહાં રાજા ભોજ ઔર કહાં ભજવા તેલી' એવું કહેવત ઘડાયું છે. બુંદેલખંડમાં 'કહાં રાજા ભોજ ઔર કહાં ટૂટા તેલી' એમ બોલાય છે. બંગાળ-બિહારમાં 'કહાં ગાંગિયા તેલિની' એમ બોલાય છે. પંચમહાલમાં પ્રચલિત કહેવત "કહાં રાજા ભોજ અને કહાં ગાંગો તેલી: કયાં સોનામહોર અને કયાં અધેલી" એ તો પૂરી રીતે ગાંગેય અને તઈલનું સાચું મૂલ્યાંકન કરી તત્કાલીન રાજાઓમાં ભોજરાજાના કીર્તિશિખર પર સોનાનો કળશ ચઢાવે છે.

તેથી કુન્તાસુત કર્ણના જેવો પોતાને દાનેશ્વરી કહાવતો તેની પરાયણતના તેના કવિઓએ રચેલા શ્લોકો મળી પણ આવે છે પદ્માકર, શુકલાંબર અને કાત્યાયન નામના ત્રણ વિદ્વાનોને કર્ણે ભોજની સભામા વિવાદ ચલાવી ભોજના પંડિતોને હરાવવા મોકલેલા પણ ઉંટા તેઓને હારીને ઘેર પાછા ફરવુ પડેલુ એ હારેલા પંડિતોને પણ ભોજે મોટા દાનો આપી પોતાની દાન પરાયણતા તથા સૌજન્યની સીમાનુ દર્શન કરાવ્યુ હતુ

આથી નરશીપામ થયેલા કર્ણે ભોજરાજાનુ કીર્તિશિખર તોડી પાડવા બીજો યત્ન કર્યો તેણે ભોજને આહ્વાન કર્યું, કે તમે ધારામા અને હુ કાશીમા એક સરખા મંદિરો બાંધીએ અને જેનુ મંદિર વહેલુ પૂરૂ થાય તેને મોડુ પૂરૂ કરનાર છત્ર-ચામર મોકલી સન્માને ભોજે શરત માન્ય કરીને મંદિર બંધાવવા માડયુ પરંતુ તે પૂરૂ થાય તે પહેલા કર્ણનુ મંદિર પૂરૂ થઈ ગયુ હતુ, તેથી કર્ણની ગર્વોક્તિ સાર્થક થવા પામી ઇતિહાસ એમ પણ કહે છે કે ગુજરાતના ભીમ અને ચંદીના કર્ણે મળી જઇને માળવા પર આક્રમણ કરી ભોજને હરાવ્યો હતો અને દંડમા તેની રત્નજડિત મંડપિકા કબજે લીધી હતી આ સંયુક્ત યત્નથીયે ભોજનુ કીર્તિશિખર તૂટવા પામ્યુ નહતુ

ભોજની કીર્તિ તેના ધનવૈભવને આભારી નહોતી તેની વિદ્યાપ્રીતિ પાંડિત્ય અને દાનરસ પાત્રન આભારી હતો એ કીર્તિની સુવાસે ગાંગેય અને કર્ણ જેવા રાજાઓને ઇર્ષ્યાળુ બનાવ્યા હતા

એ કાળે એવો જ બીજો મહાન રાજા તૈલંગણનો ચાલુકયવંશી રાજા તૈલપદેવ હતો માન્યખેટ (માલખેડ) મા તેની રાજધાની હતી તૈલપ પરાક્રમી રાજા હતો મૂળરાજ સોલંકી જ્યારે ગુજરાતની ગાદી પર હતો ત્યારે તૈલપે તૈલંગણના રાઠોડ રાજાને હરાવીને ત્યા ચાલુકયવંશનુ રાજ્ય સ્થાપ્યુ હતુ લાટનો બારપ જેને મૂળરાજના યુવરાજ ચામુંડે હરાવીને માર્યો હતો તે એ તૈલપનોજ લાટમાનો સામંત હતો તૈલપે માળવા સાથે લાંબો વિગ્રહ ચલાવેલો અને તેમા તેણે સારી પેઠે પરાભવો અનુભવેલા, પણ છેવટે તેણે માળવાના મુંજને હરાવી તેને કેદ કરેલો અને પછી તેનો વધ કરેલો એ મુંજની પછી ભોજ માળવાનો રાજા થયેલો પણ તૈલપ અને ભોજ વચ્ચે કોઇ યુદ્ધનો સંભવજ નહોતો કારણકે ભોજ ગાદી પર આવ્યો ત્યારે તે કુમાર વયનો હતો, અને એ અરસામાજ તૈલપનુ મૃત્યુ થયેલુ માળવા જીત્યુ ત્યારથી તૈલપની મહત્તાની કીર્તિ તે કાળે પ્રસરેલી હતી અને પરાક્રમી રાજાઓમા તેની ગણના થવા લાગી હતી

પણ ભોજની કીર્તિ તો અનેરી હતી તેણે વિજેતા તરીકેની કીર્તિ માટે યુધ્ધો કર્યા નહોતા કે રાજ્યની સીમા વધારવાની લોલુપતા ધરાવી નહોતી યોગ્ય લાગ્યુ ત્યારે યુધ્ધ ટાળવાને શત્રુઓને ધનથી પણ તેણે સંતોષી લીધા હતા અને પ્રજા પરની આપત્તિને ટાળી હતી તેનો પ્રાતઃસ્મરણનો શ્લોક હતો

अयमवसर सरस्ते सलिलैरुपकर्तुमर्थिना मनिशम् ।
इदमपि सुलभम् चाम्भोमवति पुरा जलधराभ्युदये ॥

માં આવ્યું, ત્યારથી જ અહિં મોગલશાહીના પગરણ મંડાયાં, મોગલ સામ્રાજ્યમાં ધર્માંધ ઔરંગઝેબે અવશિષ્ટ ગગનસ્પર્શી પ્રાસાદોને તોડાવ્યાં અને તે પત્થરથી મસ્જીદ, મહેલ, મિનારા અને મકબરા કરાવ્યા. આવા આપત્તિમય સમયમાં જૈન ધર્માવલંબીઓએ પોતાના ઇષ્ટદેવની મૂર્તિઓ ભૂગર્ભમાં મૂકીને તેમની સુરક્ષા કરી, જેના પ્રમાણ રૂપમાં આજ અનેક જગ્યાએથી નાના મોટા જિનબિંબો મળી આવે છે.

પ્રાચીન તીર્થ લક્ષ્મણીઃ—

અહિં આપણે જે તીર્થનું વર્ણન કરવાનું છે તે લક્ષ્મણી તીર્થ વિક્રમની સોળમી સદીમાં આબાદ અને સમૃદ્ધ હતું, આ તીર્થની પ્રાચીનતા ઓછામાં ઓછા ૨૦૦૦ વર્ષથી પણ વધુ પૂર્વકાળની સિદ્ધ થાય છે, જેને આગળ દેવામાં આવેલા લેખો અને પ્રમાણોથી જાણી શકીશું.

જ્યારે માંડવગઢ યવન લોકોનું સમરાંગણ બન્યું ત્યારે આ બ્રહદ્તીર્થ ઉપર પણ તેમણે આક્રમણ કર્યું અને મંદિરાદિ ધર્મસ્થાનો તોડયાં, ત્યારથી જ આ તીર્થની વિધ્વંશતાનાં પગરણ મંડાયાં અને વિક્રમની ઓગણીશમી સદીમાં આનું કેવળ 'લખમણી' નામ માત્ર જ અસ્તિત્વમાં રહી ગયું, જ્યાં ભીલ ભીલાલા લોકોના ૨૦-૨૫ ઝૂંપડાં જ દ્રષ્ટિપથમાં આવવા લાગ્યાં.

એક સમયની વાત છે, એક ખેડૂત પોતાના ખેતરમાં વાવેતર કરવા માટે ખેડી રહ્યો હતો, થોડીવારમાં અચાનક તેનું હળ અટકી પડયું. તેણે બે ત્રણ હાથ ઉંડી જમીન ખોદી તો તેમાંથી સર્વાંગ સુંદર ૧૧ જિન પ્રતિમાઓ નીકળી આવી, ખેડૂતે બીજે દિવસે પ્રાતઃકાળ થતાં જ આલીરાજપુર મૂર્તિપૂજક જૈન સંઘ તથા નરેશને સમાચાર દીધા, સપરિવાર નરેશ અને જૈન જૈનેતર માનવ મહેરામણ લક્ષ્મણી બાજુ ઉમટયો, ભગવાનના દર્શન કરી બધાય પોતાને ભાગ્યશાળી માનવા લાગ્યા. થોડા દિવસો વ્યતિત થયા પછી જે જગ્યાએથી ૧૧ જિન પ્રતિમાઓ મળી હતી ત્યાંથી બે ત્રણ હાથ છેટેથી જ બે પ્રતિમાઓ ફરી મળી અને એક પ્રતિમાજી પહેલેથી જ નિકળેલા હતા. જેને ભીલાલા લોકો પોતના ઇષ્ટદેવ માનીને તેલ સિંદુરથી પૂજતા હતા. ભૂગર્ભમાંથી નિકળેલા ૧૪ જિનબિંબોના નામ તથા લેખ આ પ્રમાણે છે.

નં.	નામ	ઈંચ	નં.	નામ	ઇંચ
૧	શ્રી પદ્મપ્રભ સ્વામી	૩૭	૮	શ્રી ઋષભદેવજી	૧૩
૨	શ્રી આદિનાથજી	૨૭	૯	શ્રી સંવનાથજી	૧૦॥
૩	શ્રી મહાવીર સ્વામીજી	૩૨	૧૦	શ્રી ચંદ્રપ્રભ સ્વામીજી	૧૩॥
૪	શ્રી મલ્લીનાથજી	૨૬	૧૧	શ્રી અનંતનાથજી	૧૩॥
૫	શ્રી નમિનાથજી	૨૬	૧૨	શ્રી ચૌમુખજી	૧૫
૬	શ્રી ઋષભદેવજી	૧૩	૧૩	શ્રી અભિનંદન સ્વામીજી (ખં.)	૯॥
૭	શ્રી અજિતનાથજી	૧૫	૧૪	શ્રી મહાવીર સ્વામીજી (ખં.)	૧૦

જેને આજના ઇતિહાસકારો પણ ભૂલી ગયા

પ્રાચીન તીર્થક્ષેત્ર શ્રી લક્ષ્મણીજી

લે૦—લક્ષ્મણીતીર્થોદ્ધારક જૈનાચાર્ય શ્રી મદ્વિજય યતીન્દ્રસૂરિ શિષ્ય
મુનિ જયંતવિજય, ખાચરોદ

પ્રકૃતિ અને પરિવર્તન

પ્રકૃતિનુ ચક્કર પોતાના ઉન્નતિ અને અવનતિના નિયમ પ્રમાણે અસ્ખલિત ગતિથી ચાલતું આવ્યું અને ચાલી રહ્યુ છે જે પ્રગતિના પથ ઉપર પ્રયાણ કરી જાય છે તેને પણ બીજી પળે અધોગતિને અનુરૂપ બની જવુ પડે છે એક સમય જે અતુલ વૈભવશીલ અને ગૌરવવાન મનાય છે તેને બીજી ક્ષણે પ્રકૃતિના પરિવર્તનશીલ સ્વભાવનો શિકાર થવુ પડે છે

પરમ પવિત્ર ભારત વસુધરા ઉપર હુણ અને યવનલોકોના અનેક આક્રમણો થયા એ વિદેશી લોકોએ ભારતીય સંસ્કૃતિના આધારસમા કીર્તિસ્તંભો અને ભારતીયજનોના હૃદયાધારસમા ધર્મસ્થાનો તોડવાનુ કાર્ય આરંભ્યુ ભારતભૂમિને તે વખતે સમરાંગણ બનવુ પડયુ ! યવન ઔરંગઝેબના શાસન કાળમાં ધર્માંધતાની એટલી જબ્બર ભૂતાવળ ચાલી કે પ્રત્યેક વ્યક્તિને સંસ્કૃતિ અને સાહિત્યના સંરક્ષણની ચિંતા થઇ પડી યવન લોકોએ એ આક્રમણો દરમિયાન આપણા ગગનચુંબી દેવાલયો તોડીને ભૂમિગ્રસ્ત કર્યાં, એ મન્દિરોના પત્થરથી મસ્જિદો બનાવવામા આવી, જેના એક નાહિ પણ ઘણા પ્રમાણો પ્રત્યક્ષ છે

મેદપાટ (મેવાડ) દેશીય રાજનગર ગામની પૂર્વ દિશાએ એક ટેકરી ઉપર મેવાડ રાણા રાજસિંહના મંત્રી શ્રેષ્ઠિવર્ય દયાલશાહે શ્રીયુગાદિદેવનુ ભવ્ય પ્રાસાદ કરાવ્યુ ટેકરીની તળેટીમા રાણા રાજસિંહે ગજસમુદ્ર નામક એક મોટુ સરોવર બંધાવ્યુ, જે હાલ પણ વિદ્યમાન છે, કહેવાય છે કે આ મંદિર પૂર્વકાળમા નવ માળનુ હતુ, યવન લોકોએ તોપો અને અન્ય હથિયારોદ્વારા એ મંદિરના સાત માળ તોડી તેના પત્થરથી પાસેની ટેકરી ઉપર જ પોતાની મસ્જિદ બંધાવી

રાજસ્થાન પ્રાંતીય સ્વર્ણગિરિ (જાલોર દુર્ગ) નુ નામ ચારે બાજુ પ્રખ્યાત છે અહિ પણ જૈન મંદિરો વિશાળ પ્રમાણમા હતા, યવન લોકોએ આ મંદિરો તોડીને ધરાશયી કર્યાં અને તેના જ પત્થરથી પોતાની મસ્જિદો બનાવી

માલવભૂમિના પ્રસિદ્ધતીર્થ માંડવગઢ (માંડુ) મા પૂર્વકાળમા જૈનોના ૭૦૦ મંદિરો હતા ચૌદમી શતાબ્દિમા જ્યારે આ નગર અલાઉદ્દીન ખીલજીના આધિપત્ય

लक्खातिय सहस विपणसय, पण महस्स सग सया,
सय इगवीस दुसहसि सयल, दुन्नि सहस कणय मया।
गाम गामि भत्ति परायणा, धम्माधम्म सुजाणगा,
मुणि जयाणंद निरक्खिया, सबल समणो वासगा ॥ २॥

મંડપાચલ (માંડવગઢ)માં ૭૦૦ જિન મંદિર અને ૩ લાખ જૈનોના ઘર, તારાપુરમાં ૫ જિન મંદિર અને ૫૦૦૦ શ્રાવકોના ઘર, તારણપુરમાં ૨૧ જિન મંદિર અને ૭૦૦ જૈન ધર્માવલમ્બીઓનાં ઘર, હસ્તિનીપત્તનમાં ૭ મંદિર, ૨૦૦૦ શ્રાવકોનાં ઘર, અને લક્ષ્મણીમાં ૧૦૧ જિન મંદિર તથા ૨૦૦૦ જૈન ધર્માનુયાયીઓનાં ઘર, ધન, ધાન્યથી સંપન્ન, ધર્મના મર્મ સમજવાવાળા ભક્તિપરાયણ દેખ્યા, આત્મામાં પ્રસન્નતા થઈ.

આ ઉપરથી પણ લક્ષ્મણીની વૈભવશીલતાનો ખ્યાલ થઈ આવે છે. આ તીર્થનાં લક્ષ્મણીપુર, લક્ષ્મણપુર, લક્ષ્મણી આદિ પ્રાચીન નામ છે જે અહિં અસ્ત વ્યસ્ત પડેલા પત્થરોથી જાણી શકાય છે.

લક્ષ્મણીજીનો પુનરૂધ્ધાર અને પ્રસિધ્ધિ.

પૂર્વે લખેલ પૃષ્ટ પંક્તિઓથી એ તો સારી પેઠે સમજાઇ ગયું કે અહિં ભીલાલાના ખેતરમાંથી ૧૪ જિન પ્રતિમાઓ નીકળી હતી. પછી એ પ્રતિમાઓ આલી રાજપુર નરેશે તત્રસ્થ શ્રી જૈન શ્વેતામ્બર મૂર્તિપૂજક સંઘને આપી દીધી. શ્રી સંઘનો એ વિચાર હતો કે આ જિન બિંબોને આલીરાજપુર લાવવામાં આવે પરંતુ નરેશના અભિપ્રાયથી સંઘે ત્યાં જ મંદિર બનાવરાવીને મૂર્તિઓને સ્થાપિત કરવાનો વિચાર રાખ્યો, જેથી એ સ્થાનનું ઐતિહાસિક મહત્વ પ્રસિધ્ધિમાં આવે.

તે વખતે શ્રીમદુપાધ્યાયજી શ્રી યતીન્દ્ર વિજયજી (વર્તમાન આચાર્યશ્રી) ત્યાં બિરાજમાન હતા. પૂ. ઉપાધ્યાજીના પ્રભાવશાળી ઉપદેશથી નરેશે શ્રી લક્ષ્મણીજીના માટે (મંદિર, કૂવા, બાગ, બગીચા, ખેતર આદિ બનાવવા, માટે) પુર્વ પશ્ચિમ ૫૧૧ ફૂટ, ઉત્તર દક્ષિણ ૬૧૧ ફૂટ જમીનની શ્રી સંઘને અમૂલ્ય ભેટ દીધી અને આજીવન પર્યંત મંદિરના ખર્ચ માટે ૭૧) રૂપિયા પ્રતિવર્ષ આપવાનું પણ કહ્યું.

મહારાજશ્રીનો સદુપદેશ, નરેશની પ્રભુભક્તિ અને શ્રી સંઘનો ઉત્સાહ આમ ત્રિવેણી સંગમ થતાં થોડા દિવસમાં જ ભવ્ય ત્રિશિખરી પ્રાસાદ બનીને તૈયાર થયું. આલિરાજપુર, બાગ, કુક્ષી, ટાંડા આદિ આજુબાજુના ગામોમાં રહેતા સદ્‌ગૃહસ્થોએ લક્ષ્મીનો સદ્‌વ્યય કરી વિશાળ ધર્મશાળા, ઉપાશ્રય, ઓફિસ, કૂવા, વાવડી આદિ બનાવ્યાં, સાથે જ ત્યાંની સુંદરતા વિશેષ વિકસિત કરવા એક બાગ બનાવી તેમાં ગુલાબ, મોગરો, ચંપા, આંબા આદિના ઝાડ લગાવવામાં આવ્યા.

જે એક સમય અદ્રશ્ય તીર્થ હતું તે પુનઃ ઉદ્ધરિત થઇને જગતમાં પ્રસિદ્ધ થયું.

ચરમતીર્થાધિપતિ શ્રી મહાવીરસ્વામીજીની ૩૨ ઇંચ મોટી પ્રતિમા સર્વાંગ સુંદર અને શ્વેતવર્ણી છે, તેના ઉપર લેખ નથી છતાં તે ઉપર રહેલા પ્રતિકો સૂચિત કરે છે કે આ પ્રતિમાજી મહારાજા સમ્રાટ સંપ્રતિના સમયની પ્રતિષ્ઠિત હોવી જોઇએ.

શ્રી અજીતનાથ પ્રભુની ૧૫ ઇંચ પ્રતિમા વેણુ રેતીની બનાવેલ છે, જે દર્શનીય અને પ્રાચીન દેખાય છે.

શ્રી પદ્મપ્રભુજીની પ્રતિમા ૩૭ ઇંચ મોટી શ્વેતવર્ણી પરિપૂર્ણાંગ અને ભવ્ય છે. તેના ઉપરનો લેખ ઝાંખો પડી જવાથી 'संवत १०१३ वर्षे वैशाख सुदी सप्तम्यां' માત્ર આટલુંજ વચાય છે શ્રી મહાનાથજી અને શ્યામ શ્રી નમિનાથજી, બન્ને પ્રતિમા ૨૬, ૨૬ ઇંચ મોટી અને તે પણ તેજ સમયે પ્રતિષ્ઠિત થઇ હોય તેવો આભાસ થાય છે. આમ આ લેખ ઉપરથી ત્રણે પ્રતિમાઓ એક હજાર વર્ષની પ્રાચીન છે

શ્રી આદિનાથજીની ૨૭ ઇંચી અને શ્રી ઋષભદેવજીની ૧૩/૧૩ ઇંચી બદામી વર્ણની પ્રતિમાઓ પણ ઓછામા ઓછી ૭૦૦ વર્ષની પ્રાચીન છે, અને આ ત્રણે પ્રતિમાઓ એક જ સમયની બનેલ હોય તેવી પ્રતીતિ થાય છે.

શ્રી આદિનાથ સ્વામિની પ્રતિમા ઉપર લેખ આ પ્રમાણે છે.—

'संवत १३१० वर्षे माघ सुदि ५ सोमदिने प्राग्वाटज्ञातीय मंत्री गोसल तस्य चि. मंत्री आलिमदेव, तस्यपुत्र गंगदेव, तस्यपत्नी गांगदेवी, तस्यापुत्र मंत्री पदम तस्य भार्या मांगल्या प्र ॥

શેષ પાષાણ પ્રતિમાઓ ઉપરના લેખ બહુ જ ઝાંખા પડી ગયા છે. પરંતુ તેમની બનાવટથી જાણી શકાય છે કે એ ૧૨૦૦ વર્ષોપરાંતની પ્રાચીન છે. ઉપરોક્ત પ્રતિમાઓ ભુગર્ભમાંથી પ્રાપ્ત થયા પછી શ્રી પાર્શ્વનાથ સ્વામીજીની એક નાની ચાર આગળ પ્રમાણની ધાતુ પ્રતિમા નિકળી, જેના પૃષ્ઠ ભાગ પર લખેલ છે કે सं. ११०१ आ. [illegible] ॥ लक्ष्मि सा' તેથી આ બિંબ પણ ૭૦૦ વર્ષ પ્રાચીન છે

વિક્રમ સંવત્સર ૧૪૨૭ના માગશર માસમાં "જયનંદ" નામક જૈન મુનિરાજ પોતાના ગુરૂદેવના સાથે નેમાડ પ્રાંતીય તીર્થક્ષેત્રોની યાત્રાર્થે પધાર્યા, તેની યાદગિરિમાં તેમણે એ છંદોમા વિભક્ત 'નેમાડ પ્રવાસ ગીતિકા' બનાવી. તે છંદો ઉપરથી પણ જાણી શકાય છે કે તે સમયમાં નેમાડ પ્રદેશ કેટલો સમૃદ્ધિશાળી હતો અને લક્ષમણી તીર્થ કેટલુ વૈભવશીલ હતું.

मांडव नगोवरी मग मया, पंच ताराउर भग,
धिस-इग सिंगारी-तारण, नदुर्गा द्वादश पग।
हेरिधर्णी मग लक्ष्मणी उर, इक्वसय गृह जिणहर
मेटिया अणुवजणयण, मुनि जयाणंद पवर ॥२॥

ચડતી પડતીના નિયમાનુસાર લક્ષ્મણીતીર્થનો ફરી ઉદ્ધાર થયો અને તેની પ્રસિદ્ધિ થઇ. આ તીર્થના ઉદ્ધારનો સંપૂર્ણ શ્રેય આચાર્યપ્રવર શ્રીમદ્વિજય યતીન્દ્રસુરીશ્વરજી મહારાજને જ છે, કારણ તેઓશ્રીએ સંઘને તીર્થોદ્ધારનું મહત્ત્વ સમજાવીને આ તીર્થના માટે પોતાની પીયૂષવાહિની દેશનાનો પ્રવાહ ચાલુ રાખ્યો હતો, શ્રી સંઘ પણ અતીવ ધન્યવાદને પાત્ર છે કે જેણે તીર્થોદ્ધારના મહત્વને સમજી પોતાના તન; મન, ધનથી પૂર્ણતઃ સહયોગ આપ્યો.

વર્તમાનમાં આ તીર્થની સ્થિતિ બહુ જ સારી છે, દર્શનાર્થે જવા ઈચ્છનારાઓને દાહોદ સ્ટેશનથી મોટર મારફત આલિરાજપુર આવવું પડે છે. ત્યાં યાત્રીઓને દરેક જાતની વ્યવસ્થા મળી જાય છે, બળદગાડી અથવા મોટરદ્વારા લક્ષ્મણી જઇ શકાય છે, તીર્થ પર મુનીમજી રહે છે, યાત્રીઓ માટે રહેવા ઓરડીઓ, રસોઈ બનાવવા વાસણો અને સુવા બેસવા માટે પથારી આદિની વ્યવસ્થા પેઢી તરફથી ફ્રી આપવામાં આવે છે.

શ્રી લક્ષ્મણીજી તીર્થનો ઉધ્ધાર પૂ. આચાર્ય શ્રીમદ્‌વિજય યતીન્દ્ર સૂરિશ્વરજી મહારાજના સદુપદેશથી સંપૂર્ણ સફળતાને પામ્યો અને તીર્થોધ્ધારનું એક મહાન કાર્ય થયું જે આપણા ઈતિહાસના પાને સૂવર્ણાક્ષરે લખાવું જોઇએ. છતાં આપણા ઈતિહાસકારો કે જેઓ જૈન સાહિત્ય અને જૈન તીર્થ વિષે સઘળી માહીતિ એકઠી કરવા પ્રયત્નશીલ રહ્યા કરે છે તેઓને આ એક અતિ મહત્વની વાત જાણમાં પણ નથી. અને એટલેજ અમારે અહીં પ્રકાશિત કરવી પડી છે કે અજાણ વિદ્વાનો જાણકાર થાય.

માટીના ટેકરાઓ ખોદાવ્યા તો તેમાંથી પ્રાચીન ઐતિહાસિક સામગ્રી પ્રાપ્ત થઈ જેમાં પ્રાચીન સમયના વાસણો આદિ છે બગીચાના નિકટવર્તી ખેતરમાંથી ૪, ૫ મંદિરોના પબાસણ પણ નિકળી આવ્યા, અસ્તુ

પ્રતિષ્ઠા કાર્ય.

વર્તમાન આચાર્ય શ્રી મદ્વિજય યતીન્દ્રસૂરીશ્વરજીએ (જે તે વખતે ઉપાધ્યાયજી હતા) વિ સં ૧૯૯૪ માગશર સુદિ ૧૦ના રોજ અષ્ટાન્હિકા મહોત્સવના સાથે ખુબ જ હર્ષોલ્લાસથી શુભ લગ્નાંશમાં નવનિર્મિત મંદિરની પ્રતિષ્ઠા કરી તીર્થાધિપતિ શ્રી પદ્મપ્રભુ સ્વામિજીને ગાદીનશીન કર્યા અને અન્ય પ્રભુ પ્રતિમાઓ પણ યથાસ્થાન બિરાજમાન કરવામાં આવી, ધ્વજદંડ, કલશ આરોપણ કરવામાં આવ્યા પ્રતિષ્ઠાના દિવસે નરેશે ૨૦૦૧) રૂપિયા રોકડાથી એક ચાંદીનો થાળ ભરીને ચઢાવ્યો અને મંદિર રક્ષાની જવાબદારી પોતાના ઉપર લીધી ખરેખર સર પ્રતાપસિંહજી નરેશની પ્રભુ ભક્તિ અને તીર્થ પ્રેમ પ્રશંસનીય છે

પ્રતિષ્ઠાના સમયે મંદિરના મુખ્યદ્વાર ગભારાની જમણી બાજુએ એક શીલાલેખ સંગેમરમર પર કોતરાવીને લગાવવામાં આવ્યો જે નીચે પ્રમાણે છે —

श्री लक्ष्मणीतीर्थ प्रतिष्ठा — प्रशस्ति

तीर्थाधिप श्रीपद्मप्रभस्वामि जिनेश्वरेभ्यो नम ।

"श्रीविक्रमीयनिधि वसुनन्देन्दुतमे वत्सरे कार्तिक ऽसिता ऽमावास्याया शनिवासरे ऽति प्राचीने श्रीलक्ष्मणी जन महातीर्थे वालुकिरातस्य क्षेत्रत श्रीपद्म प्रभजिनादि तीर्थेश्वराणामनुपम प्रभावशालिन्यो ऽति सुन्दरतमाश्चतुर्दश प्रतिमा प्रादुरभवन् । तत्पूजार्थं प्रतिवर्षमेक सप्तति रूप्यक प्रदान युत श्रीजिनालय धर्मशाला ऽऽरामादि निर्माणार्थं श्वेताम्बर जैन श्रीसघस्या ऽऽलीराजपुराधिपतिना राष्ट्रकूट वशीयेन के, सी आई, ई, इत्युपाधिधारिणा सर् प्रतापसिंह बहादुर भूपतिना पूर्व पश्चिमे ५११ दक्षिणोत्तर ६११ फूट् परिमित भूमि समर्पण व्याधायि, तीर्थरक्षार्थमेक सुभट (पुलिस) नियोजितश्च ।

तत्राऽलीराजपुर निवासिना श्वेताम्बर जैन सघेन धर्मशाला ऽऽराम कूप द्वय समन्वित पुरातमत्रिशिखरि जिनालयस्य जिर्णोद्धारमकार यत् । प्रतिष्ठा चास्य वेदनिधि नन्देन्दु तमे विक्रमादित्यवत्सरे मार्गशीर्षे शुक्ल दशम्यां चन्द्रवासरे ऽतिवल्लवसरे शुभलग्न नवांशे ऽष्टाह्निक महोत्सवे सहा ऽऽलीराजपुर जैन श्रीसंघेनैव सूरिदाश्च चक्र तिलकायमानानां श्रीसौधर्म बृहत्तपोगच्छावत सकाना विश्वपूज्यनामाबाल्यब्रह्मचारिणा प्रभुश्री मद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वराणामन्तेवासिना व्याख्यान वाचस्पति महोपाध्याय विरुदधारिणां श्रीमद् यतीन्द्रविजय मुनिपुङ्गवाना करकमलेना कारयत् ।

કરવો અને બધાં વિશ્વના માનવી એક કુટુંબી છીએ. એવી ભાવનાઓ જાગ્રત રાખવી એ અહિંસાનું રૂપ છે. અહિંસાનો પાઠ છે.

ભગવાન મહાવીરે કહ્યું છે કે અહિંસાના હાર્દને સમજે, માનવ થઈ જવાથી આત્મ કલ્યાણ નથી થઈ જવાનું, પણ માનવતાના ગુણો જીવનમાં વણી લેવા પડશે. માનવ માનવ વચ્ચેના મોહો મટશે, અને માનવમાં સાચી માનવતા પ્રગટશે, ત્યારે તો તે તલવારોના ટુકડા કરી ફેંકી દેશે, યજ્ઞોનું વિસર્જન કરી દેશે, તે કોઈના પેટ પર પગ મૂકીને ચાલશે નહિ, અનીતિ અને અનાધિકાર તરફ કદમ પણ નહિ ઉઠાવે, જગતના પ્રાણી માત્ર તરફ પ્રેમભાવથી જોશે, અને તોજ જગતમાં શાંતિ સ્થપાસે.

અહિંસાજ જીવન સુધારની કુંચી છે. એટલુંજ નહિ તે વ્યક્તિના વિકાસ સાથે સમાજ, ગામ, શહેર, દેશ રાષ્ટ્ર કે જગતની સાચી સમુન્નતિ સાધે છે.

જૈન ધર્મે તો અહિંસાનો મહામૂલો સંદેશ જગતને હજારો વર્ષ પહેલાં આપ્યો છે.

જૈન સૂત્રના શાંતિપાઠમાં વિશ્વના પ્રાણી માત્ર માટેની શાંતિભાવના કેવી ઉદાત્ત છે.

- શ્રી શ્રમણ સંઘની શાંતિ થાઓ.
- મહાન રાજાઓની શાંતિ થાઓ.
- નિવાસસ્થાનોમાં શાંતિ થાઓ.
- ધર્મસભાના લોકોને શાંતિ થાઓ.
- સમસ્ત જીવલોકને શાંતિ થાઓ.
- દેશની શાંતિ થાઓ
- રાજાઓના ઉપદેશ સ્થાપકોને વિષે શાંતિ થાઓ.
- શહેરના લોકોને શાંતિ થાઓ.
- સર્વ જગતનું કલ્યાણ થાઓ.

આપણે તો આ અહિંસાની અમોઘ શકિતના સાક્ષી છીએ કે જે મહાત્માજીને જગત ધુની કહેતા હતા તે પંદર ઓગસ્ટ ૧૯૪૭ના દિવસે તે જગતના લાખો લોકોનું મસ્તક મહાત્માજી અને ભારતીય અહિંસા પ્રત્યે નમી પડયું. સંસારના રાષ્ટ્રે રાષ્ટ્ર તો આ ચમત્કાર જોઈને ચકિત થઈ ગયાં. જગતના ઇતિહાસમાં જે કદી બન્યું નથી તે અહિંસાદ્વારા મહાત્મા ગાંધીજીએ કરી બતાવ્યું. લોહીનું એક પણ ટીપું પડયું નહિ, ન મ્યાનમાંથી તલવાર નીકળી, ન શસ્ત્રાસ્ત્રોની જરૂર પડી, બોમ્બગોળા નાકામીયાબ બન્યા અને માત્ર અહિંસાની શક્તિદ્વારા લાખો જાગી ગયાં એજ ચાલીસ કરોડ માનવો ૨૦૦ વર્ષની ગુલામીમાંથી મુકત થઈ ગયાં.

આજે તો જગતનું રાષ્ટ્રે રાષ્ટ્ર, પ્રજાએ પ્રજા અને દેશે દેશ અહિંસા, પંચશીલ અને સહઅસ્તિત્વદ્વારા વિશ્વશાંતી તરફ પગલાં માંડી રહેલ છે. આજે નહિ તો આવતી કાલે જગતને સ્વીકારવું પડશે કે મનુષ્ય જાતિનો સાચો ઉત્કર્ષ અહિંસાને વ્યવહારિક રૂપ આપ્યા વિના શકય નથી.

અહિંસા અને વિશ્વશાંતિ

ફુલચંદ હરીચંદ દોશી " મહુવાકર "

એક વીર તો એ ગણાય છે જે તલવારના બળ પર શાસન કરે છે અને સામ્રાજ્યો મેળવે છે તલવારના બળ પર એ દુષ્ટ મનાતા હજારો લાખોનો વિગ્રહ કરે છે આ જાતની વીરતા તો હજારો વર્ષોથી ચાલી આવે છે આજે તો હવે વિજ્ઞાનની વિવિધ શોધોએ સંહારક શસ્ત્રોમા હાઇડ્રોજન બોમ્બ શોધી કાઢયો છે અને જગતનો નહાર કરવાના શસ્ત્રોની શોધ પણ ચાલી રહી છે, પણ એ તલવારની ધારાને બુઠ્ઠી બનાવવા અને હાઇડ્રોજન બોમ્બ જેવા કાતિલ શસ્ત્રોને નાકામીયાબ બનાવવા કોઇ મહાવીર બુદ્ધ કે ગાંધી ઉત્પન્ન થાય છે તે શસ્ત્રોને નકામા ઠરાવેછે અને પ્રાકૃતિક શસ્ત્ર અહિંસા દ્વારા દુષ્ટોનો વિગ્રહ નહિ પણ અનુગ્રહ કરે છે અને ઉજ્જડ થઈ ગયેલી જગતની ફુલવાડીમા શાતિ સુધા વરસાવી એ ગુલશનને હર્યોભર્યો બનાવે છે

આજથી ૨૫૦૦ વર્ષ પહેલા ભગવાન મહાવીરે અહિંસામય આચરણદ્વારા આત્મ પ્રકાશ મેળવીને જગતને અહિંસાની ભેટ આપી અહિંસાના સામ્રાજ્યમા નથી થતા વિગ્રહો, નથી થતા કલેશો, તેમા પરની પીડા નથી, બીજાની શાન્તિનો નાશ કરવાની ઇચ્છા નથી દરેક વ્યક્તિ સસારને પોતાનુ કુટુબ સમજે છે શાન્તિનુ વાતાવરણ જગતમા નવનિર્માણ કરે છે

ભગવાન મહાવીરની અહિંસા તો માનવ માનવ માટે તો શુ પણ પશુ પખી અને નાના જતુઓની દયાને માટે મહાન સદેશ આપી જાય છે

ભગવાન બુધ્ધે પણ યજ્ઞ યાગાદિ માટે જેહાદ જગાવી હતી અને અહિંસાનો જગતના ખુણે ખુણે પ્રચાર કર્યો હતો

અહિંસા કોટિ કોટિ માનવોને પ્રેમ શ્રદ્ધાપૂર્વક ભેટે છે ને બધાને સમાન અધિકાર આપે છે જીવનનુ કોઈ પણ કાર્ય અહિંસા વિના થઇ શકતુ નથી, અહિંસા જીવનનો મૂળ મત્ર છે, દૈવી શક્તિ છે અહિંસાના રાજ્યમા જગતના તમામ જીવો પ્રાણી માત્રને સુખશાતિ અને સતોષપૂર્વક જીવવાનો અધિકાર છે જીવો અને જીવવા દો' એ અહિંસાનુ મહાન સૂત્ર છે એ આપણે કોઇને પ્રાણ આપી શકતા નથી તો કોઈના પણ પ્રાણ લેવાનો આપણને કયો અધિકાર નથી

પડતાને ઉઠાવવા, દલિત પતિતને ગળે લગાડવા, બીજાને ઉન્નત બનાવવા, પ્રત્યેકને અનુકુળ સહયોગ આપવો, બધાની સાથે પ્રેમ અને શાન્તિ તેમજ વાત્સલ્યભર્યો વર્તાવ

કરવો અને બધાં વિશ્વના માનવી એક કુટુંબી છીએ. એવી ભાવનાઓ જાગ્રત રાખવી એ અહિંસાનું રૂપ છે. અહિંસાનો પાઠ છે.

ભગવાન મહાવીરે કહ્યું છે કે અહિંસાના હાર્દને સમજો, માનવ થઈ જવાથી આત્મ કલ્યાણ નથી થઈ જવાનું, પણ માનવતાના ગુણો જીવનમાં વણી લેવા પડશે. માનવ માનવ વચ્ચેના મોહો મટશે. અને માનવમાં સાચી માનવતા પ્રગટશે, ત્યારે તો તે તલવારોના ટુકડા કરી ફેંકી દેશે, યજ્ઞોનું વિસર્જન કરી દેશે, તે કોઇના પેટ પર પગ મૂકીને ચાલશે નહિ; અનીતિ અને અનાધિકાર તરફ કદમ પણ નહિ ઉઠાવે, જગતના પ્રાણી માત્ર તરફ પ્રેમભાવથી જોશે, અને તોજ જગતમાં શાંતિ સ્થપાસે.

અહિંસાજ જીવન સુધારની કુંચી છે. એટલુંજ નહિ તે વ્યક્તિના વિકાસ સાથે સમાજ, ગામ, શહેર, દેશ રાષ્ટ્ર કે જગતની સાચી સમુન્નતિ સાધે છે.

જૈન ધર્મે તો અહિંસાનો મહામૂલો સંદેશ જગતને હજારો વર્ષ પહેલાં આપ્યો છે.

જૈન સૂત્રના શાંતિપાઠમાં વિશ્વના પ્રાણી માત્ર માટેની શાંતિભાવના કેવી ઉદાત્ત છે.

- શ્રી શ્રમણ સંઘની શાંતિ થાઓ.
- મહાન રાજાઓની શાંતિ થાઓ.
- નિવાસસ્થાનોમાં શાંતિ થાઓ.
- ધર્મસભાના લોકોને શાંતિ થાઓ.
- સમસ્ત જીવલોકને શાંતિ થાઓ.
- દેશની શાંતિ થાઓ
- રાજાઓના ઉપદેશ સ્થાપકોને વિષે શાંતિ થાઓ.
- શહેરના લોકોને શાંતિ થાઓ.
- સર્વ જગતનું કલ્યાણ થાઓ.

આપણે તો આ અહિંસાની અમોઘ શકિતના સાક્ષી છીએ કે જે મહાત્માજીને જગત ધુની કહેતા હતા તે પંદર ઓગસ્ટ ૧૯૪૭ના દિવસે તે જગતના લાખો લોકોનું મસ્તક મહાત્માજી અને ભારતીય અહિંસા પ્રત્યે નમી પડયું. સંસારના રાષ્ટ્રે રાષ્ટ્ર તો આ ચમત્કાર જોઈને ચકિત થઈ ગયાં. જગતના ઇતિહાસમાં જે કદી બન્યું નથી તે અહિંસાદ્વારા મહાત્મા ગાંધીજીએ કરી બતાવ્યું. લોહીનું એક પણ ટીપું પડયું નહિ, ન મ્યાનમાંથી તલવાર નીકળી, ન શસ્ત્રાસ્ત્રોની જરૂર પડી, બોમ્બગોળા નાકામીયાબ બન્યા અને માત્ર અહિંસાની શક્તિદ્વારા લાખો જાગી ગયાં એજ ચાલીસ કરોડ માનવો ૨૦૦ વર્ષની ગુલામીમાંથી મુકત થઈ ગયાં.

આજે તો જગતનું રાષ્ટ્રે રાષ્ટ્ર, પ્રજાએ પ્રજા અને દેશે દેશ અહિંસા, પંચશીલ અને સહઅસ્તિત્વદ્વારા વિશ્વશાંતી તરફ પગલાં માંડી રહેલ છે. આજે નહિ તો આવતી કાલે જગતને સ્વીકારવું પડશે કે મનુષ્ય જાતિનો સાચો ઉત્કર્ષ અહિંસાને વ્યવહારિક રૂપ આપ્યા વિના શકય નથી.

મહાત્મા ગાંધીજીના પ્રાણ પ્રેરક વચનો જગતને અહિંસાનો મહાન સંદેશ આપી જાય છે આ રહ્યો તે સંદેશ

"જ્યારે અહિંસા ગતિમાન બને છે ત્યારે તે અતિશય ગતિથી આગળ ધપે છે અને ત્યારે તે ચમત્કાર સર્જાવે છે જ્યારે અહિંસાનો આત્મા બધા લોકોમા વ્યાપક બને છે, અને કાર્ય કરવા લાગે છે ત્યારે તેની અસર બધાને દેખાય છે જેમ પૂરતા પ્રમાણમા ગરમી મળે તો કઠણમા કઠણ ધાતુ પણ ઓગળી જાય છે એજ પ્રમાણે કઠણમા કઠણ હૃદય પણ અહિંસાની ગરમીથી પીગળે છે હુ તો આ અહિંસા રાષ્ટ્રીય અને આંતર રાષ્ટ્રીય ક્ષેત્ર સુધી વિસ્તાર પામે એવુ માગી રહ્યો છુ ત્યારેજ વિશ્વશાંતિના દર્શન થશે

અહિંસાના પ્રચાર અને પ્રકાશ માટે આપણે બધા પ્રયત્નશીલ રહીએ અને વિશ્વશાંતિનો સંદેશ ગામે ગામ, શહેર શહેર, પ્રજાએ પ્રજા અને રાષ્ટ્રે રાષ્ટ્રમા પહોંચાડવાનુ કાર્ય ભારતના નવયુવાનો અને ઘડવૈયાઓ ઉપાડી લેશે તો આવતી કાલનુ જગત્ અનુપમ અને અદ્વિતીય હશે

અહિંસા, રાષ્ટ્રભાષા અને સમજ

લેખકઃ—શાહ રતિલાલ મફાભાઈ, માંડલ.

અર્થ વિગ્રહમાં ઘેરાયલું આજનું જગત જ્યારે ભડકો પેદા કરી એમાં હોમાઇ મરે એવી કટોકટીમાંથી પસાર થઇ રહ્યું છે. ત્યારે એ ઉઠતી આગને ઠારી જગતને બચાવી લેવાનો જો કોઇ યોગ્ય ઉપાય આપણી પાસે હોય તો તે પ્રેમ, ત્યાગ અને સમજ સમજાવટનો છે, અર્થાત્ એક બીજાના દૃષ્ટિ બિંદુઓ, એમની મુશ્કેલીઓ—સમસ્યાઓ સમજી એવાઓ માટે પ્રેમપૂર્વક કંઈક ઘસાવાનો છે. અને એ રીતે સુખની વહેંચણી કર્યા સિવાય જગતમાં કદી સુખ શાંતિ પ્રાપ્ત થઇ શકવાની નથી. આ પ્રેમ, ત્યાગ અને સમજ—સમજાવટના માર્ગને જૈન પરિભાષામાં અહિંસા, અપરિગ્રહ અને અનેકાંત દ્રષ્ટિરૂપે ઓળખવામાં આવે છે, જે જૈન દર્શનનો મૂખ્ય પ્રાણ છે. એના પર જ સમગ્ર જૈન દર્શનની ઇમારત ઉભી કરવામાં આવી છે.

પ્રાચીન યુગમાં જ્યારે ભૌતિક સુખોને જીવનનું ધ્યેય માનનારા આર્યોનું ધ્યાન બ્રહ્મવિદ્યા મેળવવા તરફ વળ્યું ત્યારે તેઓમાંના બ્રાહ્મણવર્ગે અરણ્યવાસ સ્વીકારી ચિંતનનો માર્ગ અપનાવ્યો હતો, જેથી એ ચિંતનના પરિણામે વૈદિક ઋષિઓએ એ વિષયમાં ઠીકઠીક પ્રગતિ સાધી હતી. પણ જીવ અને જગતની ખરી શાંતિ અહિંસામાં છે એનું રહસ્ય તો એ પ્રાચીન યુગના શ્રમણ—જિનો—એજ શોધી કાઢયું હતું. એમણે જોયું કે 'જીવ માત્ર સુખને વાંચ્છે છે. દુઃખ કોઇનેય ગમતું નથી. પણ અજ્ઞાનતાને કારણે સ્વાર્થવશ બની જીવ જ્યારે સુખને પોતીકું કરવા અને અન્યનું સુખ લૂંટવા ઇચ્છે છે; ત્યારે સંહાર જાળમાં ફસાઇને નથી એય સુખ નિરાંતે ભોગવી શકતો કે નથી બીજાનેય ભોગવવા દઈ શકતો પરિણામે એ તો દુઃખ ભોગવે છે. બીજાને પણ ત્રાસ આપે છે.' આ પ્રકારના ચિંતનમાંથી અહિંસા—પ્રેમનો સુવર્ણમંત્ર એમને હાથ લાગ્યો હતો. સાથે ત્યાગ ભાવના પણ એની સાથે સંલગ્ન કરવામાં આવી હતી. કારણકે ઘસાવાની ત્યાગ—વૃત્તિ વિના અહિંસા ફળદાયી પરિણામ ઉપજાવવા જેટલી સમર્થ બની શકે તેમ નહોતી. આ કારણે અહિંસાના વિકાસ સાથો સાથ ત્યાગવૃત્તિના વિકાસ માટે વ્યક્તિગત પ્રયત્નો ઉપરાંત અહિંસક અને ત્યાગી સંઘો નિર્માણ કરવામાં આવ્યા હતા. જેના પ્રથમ નિર્માણનો યશ ઇતિહાસકારો ભગવાન પાર્શ્વનાથને આપે છે. આમ જૈન દર્શનમાં મૂળથીજ અહિંસા અને ત્યાગનું મહત્વ પ્રસ્થાપિત થયું છે.

ગીતા એ ભારતીય અધ્યાત્મ વિદ્યાનો શબ્દકોષ મનાય છે, પણ અહિંસા અને ત્યાગનો સુમેળ સધાયો ન હોઈ કુરૂક્ષેત્રની ભૂમિ પર માનવ સંહારનું જે ક્રુર નાટક ભજવાયું હતું એમાં ખુદ ગીતાના ગાયક શ્રી કૃષ્ણને પોતાને પણ એના સાક્ષી બની નિષ્કામ કર્મયોગના નામે સમર્થક બનવું પડયું હતું. જે પ્રસંગ વર્તમાન યુગના વાતાવરણમાં બંધબેસતો ન લાગવાથી આજના યુગપુરૂષો એને કાલ્પનિક કહેવા લાગ્યા છે. કારણકે ઉચ્ચ અધ્યાત્મ સાથે માનવ સંહાર ઘટેજ નહી, નિષ્કામ કર્મયોગ પણ

અહિંસાના પાયા પરજ પ્રતિષ્ઠિત હોવો જોઇએ એવુ એમનુ માનવુ છે કહેવાની મતલબ એ કે અહિંસાની સાધના ત્યાગવાની પ્રથમ શરત સ્વીકારે છે.

આમ જૈન દર્શન એ અહિંસા પ્રધાન ધર્મ છે પણ એની અહિંસા હિંસા ન કરવા રૂપ કેવળ વિધેયાત્મક નથી પણ જીવ માત્રનુ કલ્યાણ ઇચ્છતી એક વિધયાત્મક ક્રિયા પણ છે જગતના સર્વ ધર્મોમા ઓછાવત્તા અંશે અહિંસાની મર્યાદા સ્વીકારવામા આવી છે પણ જૈન દર્શન એમા ખુબજ આગળ જાય છે કોઇપણ જીવની ચાહે એ સૂક્ષ્માતિસૂક્ષ્મ હોય તોપણ એની હિંસાને એ હિંસા તો કહેજ છે, સાથે એવા જીવની મનથી-વચનથી કે કાયાથી હિંસા કરવી કરાવવી કે એને અનુમોદના, ઉત્તેજન કે પ્રેરણા આપવી એ પણ હિંસાજ છે એટલી મર્યાદા સુધી વ્યાખ્યા લઇ જાય છે

આમ એક બાજુ એની Negative નિષેધાત્મક અહિંસા વિસ્તરે છે તો બીજી બાજુ એની Positive વિધેયાત્મક અહિંસા પણ અનેકરૂપે વિવિધ ક્ષેત્રોમા ફાલી ઉઠે છે વિશ્વપ્રેમરૂપે સતત્ વેહાતી એ હૃદયભાવના હોઇ જ્યા આ પ્રકારની અહિંસા હોય ત્યા જુદાગરો નહોય, ભેદભાવ નહોય, અસ્પૃશ્યતા કે ઉચ્ચ નીચના ભેદો નહોય તેમજ તિરસ્કાર કે અણગમાનો ભાવ પણ કોઇ પ્રત્યે નહોય, એવો ભાવ નહોય ત્યા ન્યાય-સમાનતાનુ સામ્રાજ્ય પ્રવર્તે, લોકશાહી પ્રગટે, ઉદારતા આવે અને વિરોધીઓનુ દ્રષ્ટિબિંદુ સમજી એમના પ્રત્યે સહિષ્ણુ બનવાની અને એમને સમજવાની ઉદાર બુદ્ધિ પણ પ્રગટે પરિણામે સંકુચિત મનોભાવ, અલગતાની વૃત્તિ કે પોતાનોજ કક્કો ખરો માનવાની કદાગ્રહ બુધ્ધિ પછી સંભવી જ ન શકે

આ પ્રકારની અહિંસાની ઉંડી સાધનાને કારણે જૈન દર્શને મૌલિક મંતવ્યો જગતને ભેટ આપ્યા છે, સાથે આચાર વિચારના ક્ષેત્રોમા પણ મૌલિક દર્શન કરાવ્યુ ▪ ત્યાગ, વૈરાગ્ય, અપરિગ્રહ, બ્રહ્મચર્ય, સ્યાદ્વાદ, લોકશાહીપણુ, વિચાર સ્વાતંત્ર્ય, ન્યાય, સમાનતા, નિસ્વાર્થતા, નારી સ્વાતંત્ર્ય, નિરામિષાપણુ, રાત્રિ ભોજન ત્યાગ, સ્વચ્છતાના નિયમો ઉપરાંત રાષ્ટ્રભક્તિ, વર્ણ-જાતિ પ્રથાનો ઇન્કાર, રાષ્ટ્રભાષા તથા વૈજ્ઞાનિકતા સંબંધી એના સ્વતંત્ર અને ઉદાત્ત પ્રગતિશીલ વિચારો છે તપશ્ચર્યાને પુરૂષાર્થ તો એનુ ખાસ બળ છે, વ્યક્તિપુજાનો એમા બહુ અંશે અભાવ છે છતા જીવન શુદ્ધિ-ચારિત્ર્યશુદ્ધિ એનુ પરમ ધ્યેય રહ્યુ છે

આ નાનકડા નિબંધમા જૈન દર્શનની વિશિષ્ટ મૌલિકતાઓ વર્ણવવા જેટલી અનુકૂળતા નથી એમ છતા જે વિષયો તરફ જગતનુ હજુ ધ્યાન પણ ખેંચાયું નથી એવા એકાદ-બે વિષયો તરફ આ મંગલ અવસરે બે શબ્દો રજુ કરીનેજ સંતોષ માનુ એવા વિષયોમા એક છે-

રાષ્ટ્રભાષા-જનતા પોતાનો ધર્મસંદેશ ઝીલી શકે એ માટે મહાવીર અને બુધ્ધ બન્નેએ એ સમયમા પંડિત માન્ય દેવભાષા સંસ્કૃતને સ્થાને લોકભાષાનો પ્રથમ આદર કર્યો હતો જેથી એ સમયના મગધની પ્રચલિત માગધી ભાષામા બન્નેના ઉપદેશ પ્રવાહો શરૂ થયા હતા પણ મહાવીરનો મૂળ ધ્યેય જનતામા અહિંસાનો પ્રચાર વિકાશ થાય એ જોવાનો હોઇ, એમણે જોયું કે જ્યાસુધી જનતા એક બીજાની ભાષા ન સમજી

શકે ત્યાંસુધી એ એક બીજાની નજીક ન આવી શકે. એથી જો જનતામાં અરસપરસ પ્રેમનો વિકાસ સાધવો હોય તો પ્રજા સમુહના ભિન્ન ભિન્ન વર્ગો એક બીજાને સમજે એ ખાસ જરૂરનું છે. આ કારણે ભગવાન મહાવીરે એ સમયના ભારતમાં પ્રચલિત એવી મુખ્ય મુખ્ય ૧૮ ભાષાઓના શબ્દો તથા રૂઢિપ્રયોગો અપનાવી માગધીને એવું રૂપ આપવાનો પ્રયત્ન કર્યો હતો કે જેથી એ ભારતની સામાન્ય ભાષા બની. પરિણામે ભિન્ન ભિન્ન પ્રાંતના લોકો સરળતાથી એને સમજતા થયા હતા. આ કારણે એ ભાષા ત્યારે રાષ્ટ્રભાષાનો આકાર લેતી થઇ હતી જે અર્ધમાગધીના નામથી પાછળથી પ્રસિધ્ધ થઇ છે. દિગંબર શાસ્ત્રોમાં ટીકાકારો આ વિષયમાં લખે છે કે 'अर्ध मगध देश भाषात्मकं, अर्धञ्च सर्व भाषात्मकं' ભગવાન અર્ધી ભાષા માગધી અને અર્ધી બીજી ભાષાઓના સમુહરૂપ ભાષા વાપરે છે. જેને બધા લોકો સમજી શકે છે. આ પ્રકારે મિત્રતા-નિકટતા કેળવાનું સાધન બની જવાથી એ ભાષા અતિશય અને પાછળથી 'पारस्परिकमित्रता' એવું નામ પ્રાપ્ત થયું હતું. આ પ્રકારે અર્ધમાગધીનો પ્રચાર એ એને રાષ્ટ્રભાષાનું રૂપ આપવાનો પ્રયત્ન હતો. જેથી રાષ્ટ્રભાષાના પ્રથમ પ્રચારક ભગવાન મહાવીરજ હતા. (આ અંગે વાંચો મારો 'રાષ્ટ્રભાષા અને ભગવાન મહાવીર' વિષેનો લેખ તા. ૧૫-૭-૫૧ પ્રબુદ્ધ જૈન).

રાષ્ટ્રભક્તિ:-આજના રાષ્ટ્રના દૃષ્ટિબિંદુથી જોઇએ તો મહાવીરના 'રાષ્ટ્ર' પાછળ આજની જેમ ચોક્ખો રાજકારણી હેતુ ન પણ હોય તેમજ એની ભૌગોલિક મર્યાદા પણ એ કાળને અનુરૂપ સહેજ ફેરફારવાળી હોય એમ છતાં પણ રાષ્ટ્રપ્રત્યેની વ્યક્તિની શી ફરજ હોય એ બાબતમાં દશાશ્રુત સ્કંધમાં ભગવાન મહાવીર જણાવે છે કે 'जे नायगं च रहस्य.......हन्ता महामोहं पकुव्वई' જે રાષ્ટ્રનો નેતા છે...........તેનું જે મૃત્યુ ઉપજાવે છે એ ભયંકર એવું મહામોહનીય કર્મ ઉપાર્જન કરે છે.' આ પ્રકારે રાષ્ટ્રનેતા પ્રત્યેની ફરજદ્વારા રાષ્ટ્ર ધર્મનું એમણે ભાન કરાવ્યું છે અને એ રીતે એમણે રાષ્ટ્ર ભક્તિ શીખવી છે.

લોકશાહી ધર્મ:-જૈન ધર્મ સંપૂર્ણ લોકશાહી ધર્મ હોઇ એમાં એકહથ્થુ સત્તાની જેમ ઉશ્વરનું અધિપત્ય નથી તેમજ 'समरथको नही दोष गोसाई' ની જેમ કોઇને પણ વિશિષ્ઠ અધિકારો પ્રાપ્ત થતા નથી. ખુદ તીર્થંકર ભગવાનો પણ વિશિષ્ઠ હકકો ધરાવતા નથી, કે જેથી એ ઇચ્છે ત્યારે ભકતોને સહાય કરી શકે કે દુષ્ટોને દંડ આપી શકે. વિશ્વનિયમ સહુ કોઇને માટે સરખોજ છે. તેમજ ઇશ્વરત્વ પ્રાપ્તિનો અધિકાર પણ સર્વને માટે ખુલ્લોજ છે. આ કારણે એની શાસન વ્યવસ્થા પણ લોકશાહી ઢબેજ ચાલે છે ચાહે રાજપુત્ર હોય કે ચાહે રસ્તાનો રખડતો કંગાલ ભિખારી હોય; નથી ત્યાં કોઇની ખુશામત કે નથી કોઇ પ્રત્યે અણગમો. મહારાજા શ્રેણિક (બિંબિસાર) નો રાજપુત્ર મેઘનાદ ક્રમ પ્રમાણે, જતા આવતા સાધુઓના ઠેબા ખાતો છેલ્લો પડયો રહે છે એ શાસનના લોકશાહી નિયમને કારણે, આ પ્રકારે જૈન દર્શનમાં અનેક મૌલિક તત્વો પડેલાં છે; ફકત જૈન સમાજ કુંભકર્ણની નિંદ્રામાં ઘોરી રહ્યો છે. ત્યાં ધુળમાં દટાયેલાં અણમોલ રત્નો કોણ બહાર લાવે?

અહિંસાના પાયા પરજ પ્રતિષ્ઠિત હોવો જોઇએ એવુ એમ। માનવુ છે કહેવાની મતલબ એ કે અહિંસાની સાધના ત્યાગવાની પ્રથમ શરત સ્વીકારે છે

આમ જૈન દર્શન એ અહિંસા પ્રધાન ધર્મ છે પણ એની અહિંસા હિંસા ન કરવા રૂપ કેવળ નિષેધાત્મક નથી પણ જીવ માત્રનુ કલ્યાણ ઇચ્છતી એક વિધયાત્મક ક્રિયા પણ છે જગતના સર્વ ધર્મોમા ઓછાવત્તા અંશે અહિંસાની મર્યાદા સ્વીકારવામા આવી છે પણ જૈન દર્શન એમા ખુબજ આગળ જાય છે કોઇપણ જીવની ચાહે એ સૂક્ષ્માતિસૂક્ષ્મ હોય તોપણ એની હિંસાને એ હિંસા તો કહેજ છે, સાથે એવા જીવની મનથી વચનથી કે કાયાથી હિંસા કરવી કરાવવી કે એને અનુમોદના ઉત્તેજન કે પ્રેરણા આપવી એ પણ હિંસાજ છે એટલી મર્યાદા સુધી વ્યાખ્યા લઇ જાય છે

આમ એક બાજુ એની Negative નિષેધાત્મક અહિંસા વિસ્તરે છે તો બીજી બાજુ એની Positive વિધેયાત્મક અહિંસા પણ અનેકરૂપે વિવિધ ક્ષેત્રોમા ફાલી ઉઠે છે વિશ્વપ્રેમરૂપે સતત્ વેહાતી એ હૃદયભાવના હોઇ જ્યા આ પ્રકારની અહિંસા હોય ત્યા જુદાગરો નહોય, ભેદભાવ નહોય, અસ્પૃશ્યતા કે ઉચ્ચ નીચના ભેદો નહોય તેમજ તિરસ્કાર કે અણગમાનો ભાવ પણ કોઇ પ્રત્યે નહોય, એવો ભાવ નહોય ત્યા ન્યાય-સમાનતાનુ સામ્રાજ્ય પ્રવર્તે, લોકશાહી પ્રગટે, ઉદારતા આવે અને વિરોધીઓનુ દ્રષ્ટિબિંદુ સમજી એમના પ્રત્યે સહિષ્ણુ બનવાની અને એમને સમજવાની ઉદાર બુદ્ધિ પણ પ્રગટે પરિણામે સંકુચિત મનોભાવ અલગતાની વૃત્તિ કે પોતાનોજ કક્કો ખરો માનવાની કદાગ્રહ બુધ્ધિ પછી સંભવી જ ન શકે

આ પ્રકારની અહિંસાની ઉંડી સાધનાને કારણે જૈન દર્શને મૌલિક મંતવ્યો જગતને ભેટ આપ્યા છે સાથે આચાર વિચારના ક્ષેત્રોમા પણ મૌલિક દર્શન કરાવ્યુ [illegible] ત્યાગ, વૈરાગ્ય, અપરિગ્રહ, બ્રહ્મચર્ય, સ્યાદ્વાદ લોકશાહીપણુ, વિચાર સ્વાતંત્ર્ય, ન્યાય, સમાનતા, નિસલબકશા, નારી સ્વાતંત્ર્ય, નિરામિષાપણુ, રાત્રિ ભોજન ત્યાગ, સ્વચ્છતાના નિયમો ઉપરાત રાષ્ટ્રભક્તિ, વર્ણ-જાતિ પ્રથાનો ઇન્કાર, રાષ્ટ્રભાષા તથા વૈજ્ઞાનિકતા સંબધી એના સ્વતંત્ર અને ઉદ્દાત પ્રગતિશીલ વિચારો છે તપશ્ચર્યાને પુરૂષાર્થ તો એનુ ખાસ બળ છે, વ્યક્તિપુજાનો એમા બહુ અંશે અભાવ છે છતા જીવન શુદ્ધિ-ચારિત્ર્યશુધ્ધિ એનુ પરમ ધ્યેય રહ્યુ છે

આ નાનકડા નિબંધમા જૈન દર્શનની વિશિષ્ટ મૌલિકતાઓ વર્ણવવા જેટલી અનુકૂળતા નથી એમ છતા જે વિષયો તરફ જગતનુ હજુ ધ્યાન પણ એટલુ નથી એવા એકાદ-બે વિષયો તરફ આ મંગલ અવસરે બે શબ્દો રજુ કરીનેજ સંતોષ માનુ એવા વિષયોમા એક છે-

રાષ્ટ્રભાષા-જનતા પોતાનો ધર્મસંદેશ ઝીલી શકે એ માટે મહાવીર અને બુધ્ધ બન્નેએ એ સમયમા પંડિત માન્ય દેવભાષા સંસ્કૃતને સ્થાને લોકભાષાનો પ્રથમ આદર કર્યો હતો જેથી એ સમયના મગધની પ્રચલિત માગધી ભાષામા બન્નેના ઉપદેશ પ્રવાહો શરૂ થયા હતા પણ મહાવીરનો મૂળ ઝોક જનતામા અહિંસાનો પ્રચાર વિકાશ થાય એ જોવાનો હોઇ, એમણે જોયુ કે જ્યાસુધી જનતા એક બીજાની ભાષા ન સમજી

શકે ત્યાંસુધી એ એક બીજાની નજીક ન આવી શકે. એથી જો જનતામાં અરસપરસ પ્રેમનો વિકાસ સાધવો હોય તો પ્રજા સમુહના ભિન્ન ભિન્ન વર્ગો એક બીજાને સમજે એ ખાસ જરૂરનું છે. આ કારણે ભગવાન મહાવીરે એ સમયના ભારતમાં પ્રચલિત એવી મુખ્ય મુખ્ય ૧૮ ભાષાઓના શબ્દો તથા રૂઢિપ્રયોગો અપનાવી માગધીને એવું રૂપ આપવાનો પ્રયત્ન કર્યો હતો કે જેથી એ ભારતની સામાન્ય ભાષા બની. પરિણામે ભિન્ન ભિન્ન પ્રાંતના લોકો સરળતાથી એને સમજતા થયા હતા. આ કારણે એ ભાષા ત્યારે રાષ્ટ્રભાષાનો આકાર લેતી થઇ હતી જે અર્ધમાગધીના નામથી પાછળથી પ્રસિધ્ધ થઇ છે. દિગંબર શાસ્ત્રોમાં ટીકાકારો આ વિષયમાં લખે છે કે 'अर्धं मगध देश भाषात्मकं, अर्धंच सर्व भाषात्मकं' ભગવાન અર્ધી ભાષા માગધી અને અર્ધી બીજી ભાષાઓના સમુહરૂપ ભાષા વાપરે છે. જેને બધા લોકો સમજી શકે છે. આ પ્રકારે મિત્રતા-નિકટતા કેળવાનું સાધન બની જવાથી એ ભાષા અતિશય અને પાછળથી 'पारस्परिकमित्रता' એવું નામ પ્રાપ્ત થયું હતું. આ પ્રકારે અર્ધમાગધીનો પ્રચાર એ એને રાષ્ટ્રભાષાનું રૂપ આપવાનો પ્રયત્ન હતો. જેથી રાષ્ટ્રભાષાના પ્રથમ પ્રચારક ભગવાન મહાવીરજ હતા. (આ અંગે વાંચો મારો 'રાષ્ટ્રભાષા અને ભગવાન મહાવીર' વિષેનો લેખ તા. ૧૫-૭-૫૧ પ્રબુદ્ધ જૈન).

રાષ્ટ્રભક્તિઃ-આજના રાષ્ટ્રના દૃષ્ટિબિંદુથી જોઇએ તો મહાવીરના 'રાષ્ટ્ર' પાછળ આજની જેમ ચોકખો રાજકારણી હેતુ ન પણ હોય તેમજ એની ભૌગોલિક મર્યાદા પણ એ કાળને અનુરૂપ સહેજ ફેરફારવાળી હોય એમ છતાં પણ રાષ્ટ્રપ્રત્યેની વ્યકિતની શી ફરજ હોય એ બાબતમાં દશાશ્રુત સ્કંધમાં ભગવાન મહાવીર જણાવે છે કે 'जं नायगं च रहस्य.......हन्ता महामोहं पकुव्वई' જે રાષ્ટ્રનો નેતા છે...........તેનું જે મૃત્યુ ઉપજાવે છે એ ભયંકર એવું મહામોહનીય કર્મ ઉપાર્જન કરે છે.' આ પ્રકારે રાષ્ટ્રનેતા પ્રત્યેની ફરજદ્વારા રાષ્ટ્ર ધર્મનું એમણે ભાન કરાવ્યું છે અને એ રીતે એમણે રાષ્ટ્ર ભકિત શીખવી છે.

લોકશાહી ધર્મઃ-જૈન ધર્મ સંપૂર્ણ લોકશાહી ધર્મ હોઈ એમાં એકહથ્થુ સત્તાની જેમ ઉશ્વરનું અધિપત્ય નથી તેમજ 'समरथको नहीं दोष गोंसाई' ની જેમ કોઇને પણ વિશિષ્ઠ અધિકારો પ્રાપ્ત થતા નથી. ખુદ તીર્થંકર ભગવાનો પણ વિશિષ્ઠ હકકો ધરાવતા નથી, કે જેથી એ ઇચ્છે ત્યારે ભકતોને સહાય કરી શકે કે દુષ્ટોને દંડ આપી શકે. વિશ્વનિયમ સહુ કોઇને માટે સરખોજ છે. તેમજ ઇશ્વરત્વ પ્રાપ્તિનો અધિકાર પણ સર્વને માટે ખુલ્લોજ છે. આ કારણે એની શાસન વ્યવસ્થા પણ લોકશાહી ઢબેજ ચાલે છે ચાહે રાજપુત્ર હોય કે ચાહે રસ્તાનો રખડતો કંગાલ ભિખારી હોય; નથી ત્યાં કોઇની ખુશામત કે નથી કોઈ પ્રત્યે અણગમો. મહારાજા શ્રેણિક (બિંબિસાર) નો રાજપુત્ર મેઘનાદ ક્રમ પ્રમાણે, જતા આવતા સાધુઓના ઠેબા ખાતો છેલ્લો પડયો રહે છે એ શાસનના લોકશાહી નિયમને કારણે, આ પ્રકારે જૈન દર્શનમાં અનેક મૌલિક તત્વો પડેલાં છે; ફકત જૈન સમાજ કુંભકર્ણની નિંદ્રામાં ઘોરી રહ્યો છે. ત્યાં ધુળમાં દટાયેલાં અણમોલ રત્નો કોણ બહાર લાવે?

પરિગ્રહ પરિમાણ વ્રત અને સમાજવાદી સમાજ રચના

(લેખક-સાહિત્યચન્દ્ર શ્રી બાલચંદ હીરાચંદ "આનંદ" માલેગામ)

ભારત સરકારે ભારતમા સમાજવાદી સમાજ રચના કરવાનુ ધ્યેય સ્વીકારેલું છે અને તેને અનુસરીને બધી ઘટનાઓ થઈ રહી છે વિકાસ યોજનાઓ અને સર્વોદયના કાર્યક્રમો તે દૃષ્ટિએજ યોજવામા આવે છે એટલે હાલમા ભારત દેશમા સમાજવાદી સમાજ રચનાના જ ગુણગાન થઇ રહેલા છે જગતના ઘણા દેશોએ એ પદ્ધતીની મુક્ત કં પ્રશસા કરેલી છે અને સામ્યવાદ જેવી પધ્ધતીથી દૂર રહેવુ હોય અને અત્યાચાર ટાળવા હોય તો સમાજવાદી સમાજ રચના કર્યા વગર બીજો સુલભ અને સરળ ઉપાય જોવામા આવતો નથી પ્રજાનો રોષ વહોરી લેવા વિના એ માર્ગે દેશની પ્રગતિ સાધી શકાય છે અને દેશને ઉચ્ચ કક્ષાએ પહોચાડી શકાય એ વાત સહુ કોઇએ સ્વીકારેલી છે અને એના પ્રત્યક્ષ પરિણામો પણ અનુભવમા આવવા માડયા છે, એ પદ્ધતીની પાછળ કેવળ આધિભૌતિકતા કામ કરતી નથી પણ આધ્યાત્મિક શક્તિની તેન ખાસ જરૂર હોય છે તેની પાછળ આધ્યાત્મિક શક્તિ કામ કરતી નહીં હોય તો તે સફળ થવાનો સભવ ઘણો ઓછો હોય છે એટલે સમાજવાદી સમાજ રચના અમલમા આવવાનીજ હોય તો તેની પાછળ પ્રજાની મનોભૂમિકા શુદ્ધ થઈ તેને આધ્યાત્મિક રૂપ અપાવુ જોઇએ ફક્ત કાયદા ઘડવાથી એ કાર્ય પૂરૂ થવાનો સભવ નથી એટલા માટે જ રાજકર્તાઓ વારે વાર જનતા સમક્ષ સહકારની માગણી કરતા રહેલા છે

સમાજવાદી સમાજ રચનાનુ આ તત્વ નવુ જ શોધાયુ છે કે ? ભારત દેશની પ્રજાની પ્રકૃતિ જ એવી છે કે, એમા આધ્યાત્મિકતાના બીજો ઉડા રોપાઈ ગએલા છે ધાર્મિક ભાવનાથી દરેક વસ્તુનુ અવલોકન કરી સમજે કે વગર સમજે તેવુ આચરણ કરવાની ટેવ ભારતની પ્રજાને પડી ગએલી છે દરેક આચરણમા અને વ્યવહારમા ઉડે ઉડે પણ આત્મિક ભાવનાનો આવિસ્કાર થએલો જોવામા આવેલો છે, કેટલીએક ધર્મના ઓમા જડવાદ જોવામા આવે છે તેના કારણો પણ સ્પષ્ટ જોવામા આવે છે મુસલમાન રાજકર્તાઓનુ ઝનુની આક્રમક જોર જ્યા સુધી ભારતમા રહ્યુ તેટલા વખતમા ઘણા હિંદુઓએ મુસલમાન ધર્મને અંગિકાર કર્યો એ ધર્મ સારો સમજીને કે તત્વની માન્યતાને લેઇ નહીં, પણ નિરૂપાયે કે સ્વાર્થ સાધવાને કારણે તેઓ મુસલમાન થયા તોપણ અતકરણથી તેઓ અશત આત્મવાદી રહ્યા પણ લગભગ પોણા બસો વરસના દીર્ઘ કાલમા પશ્ચિમાત્ય સસ્કૃતિનુ ભારત દેશ ઉપર ઘણુ વિપરીત પરિણામ થયુ એ દેખીતી વસ્તુસ્થિતિ છે તેમનો ઉપયુક્તતાવાદ અને બુદ્ધિવાદ ઉપલા વર્ગમા ખુબ ફાલ્યો ફુલ્યો અને અધ્યાત્મવાદને તેથી મોટુ નુકશાન પહોચ્યુ ધર્માચારો અને રૂઢ આચારોને મોટો ધક્કો બેઠો પાશ્ચાત્યોએ આપણુ ધન લુટ્યું તેના કરતા આપણી મનોવૃત્તીને જે મોટો ધક્કો આપ્યો તે અત્યત નુકશાનકારક નિવડયો એમ છતા પણ ભારતભરમા હજુ આત્મવાદ જીવતો જાગતો રહ્યો છે અને એને લીધે જ ભારતમા સમાજવાદી સમાજ રચનાના બીજારોપણ થઇ રહ્યા છે

સમાજવાદી સમાજ રચનાની કલ્પના કોઈ બહારથી આવેલી નવી શોધ નથી. પણ ભારતની પ્રકૃતિમાંજ દ્રઢમૂલ થએલી એ ભાવના છે, જૈનોના પંચવ્રતોમાંના પરિગ્રહ પરિણામ નામક વ્રતમાંજ સમાવિષ્ટ થએલ છે. એ અતિ પ્રાચીન સમાજવાદ છે.

જગતમાં જીવવું અને જીવવા દેવું એ શાંતિ રાખવાનો ઉંચો ન્યાય છે. એ દૃષ્ટિએ આપણા કાર્યથી બીજા કોઇને પીડા થાય કે બીજાના સુખમાં ખામી ઉત્પન્ન થાય એવું કોઈ કાર્ય આપણા હાથે ન થઇ જાય એની સાવચેતી રાખવી જોઇએ એ સનાતન ધર્મ છે. એ કાંઈ જૈનોનો સ્વતંત્ર ધર્મ નથી જગતની પ્રત્યેક વ્યકિતનો અલિખિત ધર્મ છે. અને અનંતકાળ પહેલાં જૈનોએ એ પરિગ્રહ પરિમાણુનો ધર્મ પ્રરૂપેલો છે. અને જે જે વ્યકિતએ, કુટુંબે કે દેશે એ ધર્મનું જાણુતા કે અજાણુતા ઉલ્લંઘન કર્યું તેને એના કડવા ફળો ચાખવા પડયા છે. અને કલહનું એ બીજ છે. જગતમાં જે સંઘર્ષો જાગ્યા, બંડ પોકરાયા, કે રાજ્ય ક્રાંતિઓ સર્જાઈ અને યુધ્ધો જાગી અસંખ્ય માનવોનો સંહાર થયો, એના મૂળમાં પરિગ્રહનો અપરિમિત સંગ્રહ અને ભોગવટો એજ છે. એ ઉપરથી જ પરિગ્રહનું પરિમાણુ આંકી તેની મર્યાદા બાંધવી જોઈએ એ ધર્મ ગણાયો છે. હાલનો સમાજવાદ એ જૈનોના પરિગ્રહ પરિમાણુ ધર્મનો સ્વીકાર નહીં કરવાને લીધે જે કડવા પરિણામો આવ્યા તેના અનુભવ પછી પરિણુત થએલી ઘટના છે. અને પરિગ્રહનું પરિમાણુ બાંધવાની હાલના સમાજવાદની હાકલ છે.

જે વ્યકિત કેવળ પોતાના સ્વાર્થમાં લોલુપ થઈ સંગ્રહ કરે જ જાય છે; અને આસપાસ વસતા બીજા કોઈની પર્વા કર્યા વગર પોતાની જ સુખ સગવડોમાં ઉમેરો કરે જ જાય છે, ત્યારે આજુબાજુના લોકોમાં તેના માટે ઇર્ષ્યા અને દ્વેષની લાગણી ફેલાતી જાય છે. અને એ વ્યકિતનો નાશ જલદી કેમ થાય એની ઝંખના થવા માંડે છે. અને પરિણામે એનો નાશ થાય છે. ઘણા કાળ સુધી પોતાની આસપાસ કેવા કાંટાઓ પથરાઈ રહ્યા છે એની એને કલ્પના સરખી પણુ હોતી નથી. અને આખરે પોતાની સંગ્રહખોરીનો જવાબ રડતે મુખે આપવો પડે છે. અત્યારસુધી જગતમાં અનેક સામ્રાજ્યો સ્થપાયા અને કેટલાએક કાળ સુધી તે ફાલ્યા ફૂલ્યા અને લોકપ્રિય પણુ થયા. પણ જ્યારે તેમણે સ્વાર્થ લોલુપતાની મર્યાદા મૂકી અને લોક કલ્યાણુના ભોગે સંગ્રહખોરી કરી પ્રજાના હિતનું બલિદાન લેવા માંડયું, ત્યારે જ તેવા સામ્રાજ્યો પણુ નષ્ટ ભ્રષ્ટ થઈ ગયા. અને ખુદ રાજાઓને પણુ દેશ ત્યાગ કરવો પડયો, અગર પ્રજાના કોપથી પોતાના જીવનું પણ બલિદાન આપવું પડયું. જે ન્યાય સામ્રાજ્યોને લાગુ પડે છે તેજ ન્યાય નાના સરખા રાજ્યોને પણુ લાગુ પડે છે જ. જેના પતનના દાખલાઓ તો હજુ આપણી નજર સામે તાજા જ બની ગએલા છે. પરિગ્રહનો ત્યાગ તો બાજુ પર રહ્યો, ઉલટા પ્રજાને નિચોવી ઘણા રાજા કહેવડાવતા માનવો પ્રજાને લૂંટી પરદેશમાં મોજ મજા ભોગવતા હતા. અને એમ કરી પોતે જાણે જરાય ભૂલ કે દોષ કરીએ છીએ એવું માનતા ન હતા. ઘોડાઓ નચાવવા અને કુતરાઓના પણુ લગ્ન કરવામાં એ પોતાનો કુદરતી હક્ક જ સમજતા હતા. એઓ પોતે પ્રજાના જાણે માલિક જ છે અને પ્રજાનું ધન એ

જાણે પોતાનુ ધન છે અને એને ગમે તે રીતે વેડફી નાખવાનો પોતાનો પૂર્ણ અધિકાર છે એવુ એઓ માનતા હતા છેવટ પરિણામ જે આવવાનુ હતુ તેજ આવ્યુ પરિગ્રહનુ પરિમાણ નહી કરવાનુ જ એ ફળ હતુ એમા સંદેહ નથી

કોઇ ધાર્મિક કે સામાજીક અથવા લોકોપયોગી સંસ્થા હોય છે અને તેના સંચાલન માટે કોઈ વ્યક્તિ કે સમિતીની નિમણુક કરવામા આવે છે, ત્યારે તે સંચાલકો નિસ્વર્થભાવે તેનુ સંચાલન કરે છે ત્યારે તે સંચાલકોને તે સંસ્થાના ટ્રસ્ટી કે વિશ્વસ્ત ગણવામા આવે છે એવા વિશ્વસ્તો પોતાના તાબે રહેલ ટ્રસ્ટની દેખરેખ રાખે છે અને તેનુ સંચાલન બરાબર થાય છે કે નહી તેની દેખરેખ રાખે છે અને એ વિશ્વસ્ત નિધિમાથી એક પાઇનો પણ દુરુપયોગ ન થાય તેની ચિંતા રાખે છે એવી જ ભાવનાથી જો ખાનગી મિલકત સાચવવામા આવે તો અનેક સંઘર્ષોનો તરતજ અંત આવી જાય

દરેક ધાર્મિક કાર્યમા હો કે સામાજીક રિવાજમા હો, વેપારમા હો કે ઉદ્યોગમા હો નિયમબદ્ધતા તો પાળવી પડે છે અનિયમિત રીતે દરેક ક્રિયા કરવામા આવે તેથી કાર્ય નિષ્પત્તિ તો થતી જ નથી ઉલટી કેટલીએક આપત્તિઓ આવી ઉભી થઇ જાય છે મતલબ કે દરેક કાર્યમા તેના વિશિષ્ટ નિયમો પાડવા જ પડે છે જ્યારે નીતિ નિયમો અને પદ્ધતિની અનિવાર્યતા પ્રત્યક્ષ સિદ્ધ થાય છે, ત્યારે દરેક પોતા માટે કાઇ ને કાઇ નિયમો અને મર્યાદાઓ બાધી લેવી જ પડશે અને એ નિયમબદ્ધતાને જ પરિગ્રહ પરિમાણ વ્રતનુ પવિત્ર નામાભિધાન આપવામા આવ્યુ છે

પરિગ્રહ વધતોજ રહે અને મર્યાદા જેવુ કાઈ નહોય તો તેના કેવા કેવા અનર્થો જન્મે છે એ આપણે ઉપર જોઇ ગયા તેનો આપણા મન સાથે અવશ્ય વિચાર કરવો જોઇએ આપણા સ્થા મોજ, નાચરંગ કે ભોજન સમારંભો નિરંકુશપણે ચાલતા હોય હોય, મોટા વરઘોડાઓ નિકળતા રહે, હજારો રૂપિયા છુટે હાથે ખર્ચાતા હોય અને એજ વખતે બહાર હજારો આપણાજ ભાઇ ભાંડુઓ ઘરબાર વગર રખડતા હોય અને નોકરી માટે ભુખે પેટે ઘર ઘર આટા મારતા હોય ત્યારે આપણો એ ઉડાઉ ખર્ચ આપણને આનંદ આપે કે દુ:ખ? વરઘોડાઓથી આપણે ફુલાવુ જોઇએ કે શરમાવુ જોઇએ પરિગ્રહના પરિમાણની એટલા માટેજ અત્યંત જરૂર છે

આપણે આપણી કમાણી કે મિલકત ઉપર આપણી માલીકીની સાથે વિશ્વસ્ત (ટ્રસ્ટી)ની ભૂમિકા સ્વીકારવાની કેટલી જરૂર છે એનો આપણે વિચાર કરવો જોઇએ આ રીતે આપણી આવડત અને કુશળતાથી કમાણી કરેલી હોય તેટલા ઉપરથી આપણે તેનો આપણી મરજી મુજબ આપણા એકલા માટે જ સ્વચ્છંદ ઉપયોગ કરવાનો આપણને હક પેદા થતો નથી આપણે અનેકો સાથે અને અનેકોની સહાયથી જ જગતમા રહીએ છીએ અને અનેકોદ્વારાએ જ કમાણી કરીએ છીએ ત્યારે આપણી એકલાની જ

અનિર્બંધ માલીકી શી રીતે સિદ્ધ થઈ શકે? માટેજ આપણી કમાણીમાં અન્યોનો પણ અંશતઃ હિત સંબંધ છે એ સમજી રાખવું જોઇએ. અને આપણે જેમ જીવવાનો હક્ક છે તેમ બીજાઓને પણ જીવવાનો હક્ક છે એ ધ્યાનમાં રાખવું જોઇએ. એ વસ્તુ ધ્યાનમાં રાખવાથી આપણા સ્વાર્થમાં બીજાનો પણ હિસ્સો છે એ ભૂલી શકાય તેમ નથી. અને એમ છે ત્યારે આપણે પરિગ્રહનું પરિમાણ કરવું જ પડશે એ સ્વયંસિદ્ધ છે.

એ વિવેચન ઉપરથી એ તરી આવે છે કે, આપણી મિલકત અને આપણા ધનના પણ આપણે ટ્રસ્ટી કે વિશ્વસ્તજ છીએ એમ સમજી આપણું કાર્ય ચલાવવું જોઇએ. અને આપણી મિલકત ઉપર બીજાઓનું ઋણ છે એ વસ્તુ ધ્યાનમાં રાખી તે ચુકવવાની કાળજી રાખવી જોઇએ. ધર્મના નામે આપણે જે ક્રિયાઓ કરીએ છીએ તેમાં પરોપકારની ભાવનાની મુખ્યતયા રાખતાં આપણે શીખવું જોઇએ. શ્રાવકના અને સાધુઓના વ્રતોમાં પંચ અણુવ્રતો અને મહાવ્રતોને મુખ્ય સ્થાન છે. અને તેમાં પરિગ્રહ પરિમાણનું સ્થાન જો કે પાંચમું છે. તો પણ તેની ઉપયુકતતા સહુથી વધી જાય તેમ છે. કારણ પરિગ્રહ ઓછો થાય ત્યારે બીજા વ્રતો પોતાની મેળે પાળવા સુલભ થઈ જાય છે. પરિગ્રહનું પરિમાણ ન જ હોય ત્યારે સ્વાર્થ અને લોભની મર્યાદા વધતી જ જાય છે. અને પરિણામે બીજા વ્રતોનો ભંગ થવાનો સંભવ નિર્માણ થાય છે. ત્યારે શ્રાવકપણું ટકાવવું હોય અને અંશતઃ પણ ધર્મી જીવન જીવવાની ઇચ્છા હોય તો આપણે પરિગ્રહનું પરિમાણ બાંધ્યા વિના ચાલે તેમ નથી એ રીતે પરિગ્રહનો સંકોચ કરવાની વૃત્તિ આપણામાં જાગે અને આપણું જીવન સુસંવાદી બને એજ અભ્યર્થના રાખી વિરમિએ છીએ.

મફતલાલ સંઘવી, થરાદ

પરમ ઉપકારી, કરુણા નિધાન શ્રી તીર્થંકર ભગવંતોએ ભુવન ત્રયના સર્વ જીવોના કલ્યાણની પરમ મંગલ ભાવનાપૂર્વક કહેલા સ્તોત્રજન્ય શાસ્ત્રોના પ્રત્યેક વાક્ય, શબ્દ અક્ષરની અમોઘ સંજીવિની શક્તિ, જેને અપાર પુણ્યોદયે અપૂર્વ વારસારૂપે મળી છે, તે જૈન શાસનની આજ્ઞામા રહીને અવશ્યમેવ સ્વ અને પરના કલ્યાણના કારણરૂપ આરાધનામય જીવનમા પરમ સંતોષ અનુભવે।

ભૌતિકતાના મોહક ભડકામણા દૃશ્યોથી લવલેશ ચલિત થયા સિવાય, તે મહા વિશ્વશાસનના શાશ્વત રાજમાર્ગ પર અચલ નેમપૂર્વક ડગલા ભરે ચોમેર પથરાએલી નાગતિક સાનુકૂળતાઓની રેશમી જાળમા ફસાયા વિના, જેના પાલનમા સ્વ અને પરનું પણ મોટું હિત રહેલું છે તેવું આચારમય જીવન, તે વિતાવે

આગળ વધવાના સમારંભાપી બનતા જતા રોગના ફુલવાનો ભોગ બન્યા સિવાય તે શાસનમાન્ય સિદ્ધાન્તોના સહારા વડે, યથાશક્તિ સમતુલા જાળવી, ભવ ઘટાડવાની વાસ્તવિક પ્રગતિની આરાધના કરે

સમ્યગ દર્શન, જ્ઞાન અને ચારિત્રરૂપ રત્નત્રયીની સન્નિષ્ઠાપૂર્વકની આરાધનાદ્વારા આ સંસારમા ઝડપભેર વિસ્તરતા જતા હિંસા, પાપ, અનાચાર અને પાશવતાભર્યા વાતાવરણને ખાળવામા તે આજીવન યોદ્ધાની અદાથી વર્તે

સફળતામા ન તે ફૂલાય, નિષ્ફળતા જેવું કશું – તેને હોય નહિ કારણકે પરમ જીવનની આરાધના એજ જેનું લક્ષ્ય છે એવો મહા પુણ્યવંત આત્મા, આ સંસારમા ડગલે પગલે સાપડતા સર્વ નિમિત્તોનો, તે આરાધનામા સહાયક બળ તરીકે જ ઉપયોગ કરે

દાન–શીલ–તપ ભાવના, પૂજા, પ્રતિક્રમણ, પૌષધ, સામાયિક, દેવ વંદન ગુરૂ વંદન, સ્વાધ્યાય આદિને પોતાના નિત્યના જીવનક્રમમા અવ્યક્તપણે ગૂંથી લઈ, તે આમતેમ ભટકવા તલસતા મન–બુદ્ધિ અને ઇન્દ્રિયોના વિષયોને નિયમતળે સ્થાપે, તેમજ ભૂના એવા આરાધનાના મહારાજપથ પર અપ્રમત્તપણે આગળ વધે

આજના વિજ્ઞાનના માત્ર ફળાતા વિશ્વવ્યાપી પ્રતાપમા અંજાયા સિવાય, તે આત્માની અનંત કલ્યાણકર શક્તિને પામવાના શાસન સ્થાપિત માર્ગના આલંબનદ્વારા સ્વ–પરના કલ્યાણમા બનતી સાચી સહાય કરે

વ્રત, નિયમ અને પચ્ચક્ખાણના મનાતા બંધનને અદબપૂર્વક સ્વીકારી, તે અગમમાં ઉડાણુ આદરે.

સ્વયં તીર્થંકર પરમાત્માઓને પ્રગટાવનારા અનંત ઉપકારી મહાવિશ્વશાસનની પરમ કલ્યાણમય છત્રછાયા તળે વિહરવાનું સાંપડયું છે સદ્‌ભાગ્ય જેને, એવો જૈન ઐહિક બંધનોની સુંવાળી સેજ ઉપર કાળાંતરે પણ એશપૂર્વક ન આળોટે. તેના વિચાર વાણી અને વર્તનમાં અહર્નિશ ગુંજતું હોય સુમધુર સંગીત પંચ પરમેષ્ઠિ મહામંત્રનું. સ્વામીબંધુની સેવાને, તે જીવનનો અપૂર્વ પુણ્ય પ્રસંગ માને. ગુરુની સેવા શૂશ્રુષામાં તે પરમ કૃત્ય કૃત્યના અનુભવે જીનેશ્વર ભગવતના દર્શન, પૂજન સમયે, તે પોતાને સૌધર્મેન્દ્રશીય અધિક સુખી અને પુણ્યશાળી સમજે. અમોઘ સંજીવિની શકિત તુલ્ય શાસ્ત્રોમાંના સૂત્રોના એક શ્લોક બલ્કે એમાંના એક શબ્દની અપભ્રાજના કરતાં તે, કંપી ઉઠે, તેને અપાર વ્યથા ઉપજે; દુર્લભ માનવભવ હારી ગયા જેટલું દુઃખ થાય.

અનાત્મવાદી વર્તમાન શિક્ષણ અને તેના પ્રચારક બળોની અસર તળે આવ્યા, શિવાય આરાધક જીવનની જતનની જેમાં સર્વ જોગવાઈ છે એવા શાસન માન્ય સિધાન્તોના સહાર વડે તે સાચા માનવજીવનની વધુને વધુ નજીક જવાની કોશિષ કરે.

પરમ જીવનની આરાધનાની સર્વ બધારણીય જોગવાઈઓને શિક્ષણ-પ્રચાર અને છેવટે કાયદાદ્વારા કુંઠિત કરવામાં પ્રત્નની પ્રગતિ અને વિકાસ જોતાં આંતરરાષ્ટ્રીય ગૌરાંગ રાજનીતિજ્ઞોની કુટનીતિની સીધી તેમજ આડકતરી અસર તળે આવેલા–આપણા દેશના રાજનૈતિક અને સામાજિક આગેવાનોની અભારતીય બનતી જતી, ભૌતિક વિજ્ઞાનમૂલક પ્રગતિના ધ્યેયવાળી રાજનીતિ અને સમાજનીતિને પડકારવાનું પોતાનું કર્તવ્ય, તે આચરણદ્વારા અમલમાં મૂકે.

ઐહિક આપત્તિઓના દુઃખ કરતાં, આરાધનામાં નડતા અંતરાયનું દુઃખ, તેને વધુ સાલે, શરીર, સંતાનો અને મકાન, બંગલાઓની સાનુકૂળતાઓના વિચારની સાથો સાથ, આત્મા, સ્વામીબંધુ અને તીર્થોની પ્રતિકૂળતાઓ દૂર કરવાના યોજનાબદ્ધ વિચારોમાં. તે સહેજ પણ અળગો ન રહે. સીનેમા, વર્તમાનત્રો, અદ્યતન સાહિત્ય સભા, સંમેલનો અને પ્રદર્શનો પાછળ મળતા સમયનો ઉપયોગ કરતાં, તેનો આત્મા જરૂર કચવાય. એવી કોઈ પણ પ્રત્યક્ષ યા પરોક્ષ પ્રવૃત્તિ કે જેનાથી ઘણાનુ મોટુ અહિત અને થોડાકનું નાનું હિત સધાતું હોય, તેમાં તે કોઈ કાળે સાથ સહકાર ન જ આપે. આપે તો અતિ ભયાનક પાપનો ભાગીદાર બને.

મહા પુણ્યોદયે મળેલા અતિ દુર્લભ માનવદેહનો, પરમ મંગલ જૈન શાસનને પામેલો આત્મા. કદી દુરૂપયોગ ન જ કરે. જીવમાત્રના જીવનની સાનુકુળતાઓ વધારવામાં અને પ્રતિકુળતાઓ ઘટાડવામાં જ તે ખુશી અનુભવે, વેર-વિરોધની કાળી વાદળી તેના અંતર વ્યોમને આંબી ન જ શકે.

દુષમ આ પંચમકાળમાં, અધર્મના વધતા જતા ભાવ–પ્રભાવથી ચલિત થયા સિવાય, સર્વ મંગલકર શ્રી જૈન શાસનનું શરણું પામેલો જીવ, સ્વકલ્યાણની ભાવનાપૂર્વક જીવન જીવી, પરને પણ તેના અનન્ય શરણુ તળે લાવી, કલ્યાણભાવી બનાવે !

પરમપદવાંચ્છુ, જૈન માટે કશું જ અશકય નથી.

આજનો જૈન અને ગૃહસ્થ ધર્મ

લેખક—પૂનમચંદ નાગરદાસ દોશી, (થરાદવાળા)
હેડ માસ્તર, ડીસા, તાલુકાશાળા

વિશ્વશાંતિના ચાહકો જોરશોરથી પોકાર કરે છે કે અહિંસા ને સત્ય એ શસ્ત્રોની આજના જગતને ખુબ જ જરૂર છે કોઈપણ ધર્મના મૂળમા આ બે વસ્તુ પર ભાર મૂકવામા આવ્યો છે ભારતને વરસોથી ગુલામી દશામા સપડાવનાર યૂરોપની ગોરી પ્રજા પણ અહિંસાના અનુપમ શસ્ત્રથી ઝુઝનાર મહાત્મા ગાધીની હાકલ સામે ડરી ગઈ એમા એ બે જ શક્તિનુ પ્રાબલ્ય હતુ જૈન સમાજમા પણ બીજા અનેક ગૃહસ્થધર્મના વ્રત દર્શાવ્યા છે તેમા અહિંસા ને સત્ય એ બેને પ્રધાનત્વ આપેલુ છે માનવ માત્રમ આ બધા ગુણોની વધતા ઓછા અંશે જરૂરીઆત સ્વીકારેલી છે

જૈન નામ ઇન્દ્રિયોને જીતનાર પરથી પડેલુ છે જૈન એ કોઇ જ્ઞાતિ બંધનનો વાડો નથી હરકોઈ જ્ઞાતિ, હરકોઈ ધર્મ, હરકોઇ સમાજનો વ્યક્તિ જો શાસ્ત્રમા વર્ણવેલા ગૃહસ્થધર્મના બારે વ્રતોનુ યથાશક્તિ પાલન કરી ઇન્દ્રિય સયમને અમલમા મૂકવા આજથી નિશ્ચય કરે તો તે "જૈન" નામ કહેવડાવવાને અધિકારી છે જ્યારે આજની 'જૈન' નામધારી કેટલીક વ્યક્તિઓ એવી હશે કે જે જૈન સિદ્ધાન્તો એક પણ ગુણને આચારમા નહિ મૂકતી હોય પણ વશપરપરાથી 'જૈન'ના પુત્રો જાહેરમા જૈન કહેવડાવતા હશે પણ તે સાચા જૈન નથી જૈન એ કોઇ જ્ઞાતિ નથી આજે પણ ગુજરાતની અનેક કોમોએ જૈન ધર્મ સ્વીકારી તેના સિદ્ધાતોને પોતાના જીવન વ્યવહારમા સ્વીકારેલ છે તેઓને ધર્મના સિધ્ધાતોનુ પુરેપુરૂ ભાન થાય એ હેતુ માટે શ્રાવક ધર્મના બાર વ્રત વિષે સક્ષેપમા પણ સમજપૂર્વકનુ ટુકુ ધ્યાન રજુ કરવામા આવે છે બાર વ્રતના ટુકા નામ—અહિંસા, સત્ય, અસ્તેય બ્રહ્મચર્ય અપરિગ્રહ, દિગમર્યાદા, ભોગોપભોગ પ્રમાણ, અનર્થદડ વિરમણ, સામાયિક, દેશાવગાશિક, પૌષધોપવાસ, ને અતિથિસેવા એ પ્રમાણે દર્શાવ્યા છે

પ્રાણી માત્રમા માનવ ઉચ્ચ શ્રેણીનો જીવ ગણાય છે તેણે જુદી જુદી ઇન્દ્રિયોમા વિકાસ સાધી સર્વ પ્રાણીઓમા શ્રેષ્ટપદ સ્વામીત્વ પ્રાપ્ત કર્યું છે એટલે નિરપરાધી એવા અન્ય પ્રાણીઓનુ રક્ષણ કરવાની માનવ માત્રની ફરજ છે જૈન કે જૈનેતર સમાજમા પણ જીવરક્ષાનુ આ કાર્ય કરવા માટે માનવની પ્રથમ ફરજ ધર્મશાસ્ત્રો પોકાર કરી કહે છે, જૈન ધર્મી આત્મા—'અહિંસા પરમો ધર્મ'ના ઉપાસકો પોતાની આ મહત્વની ફરજ ઘણી વખત ભૂલી રહ્યા છે ઇન્દ્રિયોની લાલમા કે સ્વાર્થાન્ધતાના ભેદી પરદા પાછળ બિચારા અનેક નિર્દોષ જીવોનુ બલિદાન—હત્યા થઇ રહેલ હોય છતા જેનુ ભાન સરખુ પણ રાખતા નથી એવા જનો જૈન કહેવાને લાયક નથી તેઓ ધર્મના

સમાજના, દેશના, અરે! વિશ્વ સમસ્તના દ્રોહી-જીવતા શત્રુ સમાન છે. આ ગૃહસ્થ ધર્મનું પહેલું વ્રત 'સ્થુલ પ્રાણાતિપાત વિરમણ' ના નામથી ઓળખાય છે. અને આ નિયમને જાણનાર જીવહિંસાદિ કાર્યોથી જરૂર પોતાના આત્માને અભડાવશે નહિ જ.

બીજું વ્રત છે, 'સ્થુલ મૃષાવાદ વિરમણ' મૃષાવાદ એટલે જુઠાણું. એક કવિ કહી ગયેલ છે. 'એક અસત્યથી જન્મે, અસત્યો બહુ જુજવાં, રોપે અસત્ય એ તેને, પડે એ ઝુંડ વેઠવાં' એક વખત અસત્ય બોલ્યા પછી તેના પ્રતિપાદન માટે અનેક પ્રકારનાં અસત્યો ઉત્પન્ન કરી પોતાને-બીજાને અને સમાજ આખાને મુશ્કેલી ઉભી કરનાર થવું પડે છે. 'સત્ય બોલો' એ જુગજુનું સૂત્ર અક્ષર જ્ઞાન લેતા બાળકથી માંડી એક ગૃહસ્થીની જીવન મર્યાદા સુધીમાં ફરી ફરીને સૂચનારૂપે કહેવું પડે છે. અનેક સમય પોતાનું જુઠાણું છુપાવવા આત્મા અનેક પ્રકારના દોષોનો લેપ કરે જાય છે. એ લેપ નીચે ઢંકાયેલ આત્માની અધોગતિ થાય છે. એ જુઠાણા પાછળ છળ, કપટ, દગો, પ્રપંચ, અભિમાન, અનાચાર આદિ અનેક દુર્ગુણોની આવલી ઉત્પન્ન થાય અને તે આ અવગુણોને વધુને વધુ પોષણ મળે. પરિણામે પ્રેમ ભાવના નષ્ટ થાય. સમાજમાં જ્યાં ત્યાં હડધૂત જીવન જીવતાં આત્મા આ ભવ પૂર્ણ કરી નરકાયુ બાંધે છે. શાસ્ત્રમાં કન્યા ઢોર, ભૂમિ, થાપણ ઓળવવી અને ખોટી સાક્ષી એ પાંચ પ્રકારનાં મહાન જુઠાણાં વર્ણવ્યાં છે તેમાં ભાગ ન લેવા સાચા શ્રાવકને આ સૂચન કરવામાં આવે છે.

સ્થુલ અદત્તાદાન વિરમણ એ પણ મહાવ્રતનો ત્રીજો પ્રકાર છે. કોઇની વસ્તુ પર માલીકે આપ્યા વિના માલીકીપણાનો દાવો કરવો એ સમાજમાં પણ ગુન્હો ગણાય છે. 'તણખલું ન ચોરે બાવો બ્રહ્મચારી' એવી વાણી ઉચ્ચારનાર આજના જૈન ગણાતા-કહેવાતા અનેક ગૃહસ્થો પ્રત્યે શાસ્ત્ર ફરમાનની આ એક ચીમકી છે. દીધા વિના વસ્તુ લેવી એટલે જ ચોરી કરવી. ખીસ્સાં કાતરવાં, સંટફાટ ચલાવવી કે બળજરીથી આંચકી લેવું. ઓછું વધતું વજન આપવું લેવું. સેળભેળ, છેતરપીંડી આદિ અનેક પ્રકારે આજની દુનિયા આ વ્રતનો ભંગ કરી રહી છે. દૂધ, ઘી, તેલ અને સામાન્ય પદાર્થોમાં ભેળસેળ કરી જગતને છેતરવાના, અહીં પાપનો ઘડો ફુટતાં રાજ્યની એરણ પર દંડ ટીપાયાના અનેક દાખલાઓ આજના વર્તમાનપત્રોમાં વાંચવા મળે છે એ પણ એક પ્રકારની શાહુકારી ચોરી જ છે, બીજું શું છે? શાસ્ત્રમાં આ નિયમમાં કટિબદ્ધ રહેવા પાંચ પ્રકારનાં અદત્તાદાન છોડવાની સલાહ આપે છે.

બ્રહ્મચર્યવ્રત એ તંદુરસ્તી અને ખડતલ જીવનનો મહાન ઉપાય છે. જૈન શાસ્ત્ર પોતાની સ્ત્રીમાં જ સંતોષ રાખી અન્ય પ્રકાર શિયળવ્રતનું ખંડન ન કરવા ગૃહસ્થીને સૂચવે છે. 'સર્વથા સ્ત્રી ત્યાજ્ય' ગણનાર કોઈ વિરલ વ્યકિત જગતમાં હોય. પણ છતાં 'નારી નરકની ખાણ' વાકયને હૃદયમાં કોતરી રાખનાર માનવ સ્વસ્ત્રીમાં જ સંતોષ માની વિધવા, વેશ્યા, કુમારિકા કે અન્ય સ્ત્રીમાં રમણ કરવાની ભાવના સરખી પણ નહિ લાવે. સમાજ પણ આવા માનવ પ્રત્યે ધિક્કારથી જુએ છે. પૈસા આબરૂ અને

શરીરના વીર્યનો ધ્વંશ એ બંને પ્રકારે નુકશાની ખમનાર મૂર્ખ માનવીની શી વત
કરવી ? 'જૈન' નામધારી આ રસ્તા તરફ નજર સરખી પણ ન કરે આ વ્રત પાળતા
પણ પાંચ મહાન દોષો તરફ ન જ વળવા શાસ્ત્રો ફરમાન કરે છે આ વ્રત 'સ્થુલ
મૈથુન વિરમણ' નામે પ્રસિદ્ધ છે

જગતમા અનેક પ્રકારની ભોગોપભોગની સામગ્રી મળી રહે છે, માનવ અમુક
વસ્તુઓ એકજ વખત વાપરી તજી દે તે ભોગ, અને વારંવાર તેનો ઉપયોગ કરે જ
જાય તે ઉપભોગ સોનુ, રૂપુ, ધન, ધાન્ય દારા (સ્ત્રી) દાસી, મકાન, દુકાન, જમીન
આદિ અનેક વસ્તુઓનુ સ્વામીત્વ માનવનુ હોય છે પોતાના પૂણ્ય બળે પ્રાપ્ત થયેલી
આ અનેક સામગ્રીને ભોગવવાનો તે હકદાર છે છતા પણ તેમાજ રચ્યો પચ્યો રહી
અનેક અધર્મી કૃત્યો કરવા પાછળ માનવ જૈનપણ ભૂલી જાય છે અભક્ષ્ય વસ્તુનુ સેવન
કર્મ ઉત્પન્ન કરનાર ધધા આદિ પાછળ લોભ-લાલચ પાછળ ઘસડાઇ જાય છે તે માટે
શાસ્ત્રમા નિયમ દર્શાવ્યા છે તે મુજબ પોતાના જીવનમા ગણત્રીપૂર્વક તે વસ્તુઓ વાપ
વાનુ પ્રમાણ બાધવાથી આત્મા નિર્લેપ રહે છે કસોટીની એરણો ચઢયા છતા પરિ
ગ્રહથી મુક્ત બનેલ આત્મા સંસારમુક્ત બની મોક્ષ સુદરીની વરમાળા પહેરવા કદાચ
ભાગ્યશાળી બને

દિશા-મર્યાદા એ પણ ગ્રહસ્થવ્રતનો એક અગત્ય પ્રકાર છે આ નિયમથી પણ
ઇન્દ્રિય પર સયમ કેળવાય છે નિયમ સિવાયના ક્ષેત્રના જીવોને અભયદાન આપમેળે
અપાય છે ચાર દિશા ઉપર નીચે રોજ જવા આવવા માટેની હદ બાધી તે ક્ષેત્રથી
બહાર ન જ ફરવુ એ આ નિયમનુ સૂચન છે સસારી આત્માને જ્ઞાન, આજીવિકા
ધન મેળવવા દેશ પરદેશની મુસાફરી કરવાની આવશ્યકતા છે છતા દિશા મર્યાદામા
રહીને ફરવાથી ઇન્દ્રિય સયમ કેળવાય તે ધાર્મિક દૃષ્ટિએ વધુ લાભદાયક છે આને માટે
પણ પાચ પ્રકારના દોષો શાસ્ત્રજ્ઞાનીઓ ફરમાવે છે

અનર્થદડ વિરમણવ્રત એટલે સસારી જીવો નિરપરાધ હોવા છતા તેમને
આપણા સ્વાર્થ, લોભ, લાલસા અને સતોષ ખાતર દડ આપવો એ અન્યાયી પગલુ
ગણાય આ પ્રમાણે સમાજમા પણ કોઇનુ આચરણ હોય તો તે પ્રત્યે ગુન્હેગાર ગણી
રાજકિય સત્તા પણ યોગ્ય સજા કરી શકે છે જ્યારે સમસ્ત વિશ્વના નિરપરાધીઓ
પ્રત્યે અવિચારી પગલુ ભરનાર અન્યાયી માનવના આત્માની અધોગતિ કેમ નહિ થાય?
આર્તરૌદ્ર ધ્યાન, પાપોપદેશ હિંસાનો આદેશ, પ્રમાદાચરણ એ ચાર અનર્થ દડ
ઉત્પન્ન કરનાર કારણો છે એથી સાચા 'જૈન' તરીકે જીવનારે જરૂર અટકવુ જોઇએ
શાસ્ત્રમા આ માટેના પાચ મહાન દોષો વર્ણવ્યા છે

સંસારની અટમઘટમા રચ્યો પચ્યો રહેલ આત્મા કંઈક શાંતિની ઝખના અવશ્ય
કરતો હોય છે પણ આવી શાંતિ તેના જીવન દરમ્યાન તેને મળવાની નથી જ અને

જીવન પુરૂં થતાં તેના કર્માનુસાર તે શાંતિ મેળવશે કે આથી પણ વધુ કાતીલ અશાંતિ એ કોણ કહી શકે? શાસ્ત્રમાં બે ઘડી જેટલો કાળ પણ દરરોજ પોતાના જીવનમાંથી શાંતિ તરફ વળવા માનવ ધારે તો તેટલા સમય માટે શ્રાવક 'સામાયિક' લઈ બેસી શકે છે. સામાયિકના સમય દરમિયાન અન્ય વિચારોને તિલાંજલી આપી ફક્ત આત્માને જીનેશ્વર દેવે ભાખેલ પંચ પરમેષ્ટિ સ્વરૂપ નવકાર મહામંત્રના જાપ તરફ વાળવા ખાસ આગ્રહ રાખવો એ આ વૃતનો ઉદ્દેશ ચિતની એકાગ્રતા, લીનતા, અડગતા અને છેવટે સ્થિરતા કેળવશે તો એકમાંથી બે, ચાર ને વધતાં વધતાં ધર્મના સારથિ તીર્થંકર ભગવાને ભાખેલ જીવનપર્યંતના સામાયિક તરફ આત્મા વળી જશે તો આત્મા અખંડ શાંતિ તરફ જઇ શકશે. આ વ્રતને 'સામાયિક વ્રત' ના ઉત્તમ નામથી જૈનો ઓળખે છે.

દેશાવગાસિક વ્રત દિશા મર્યાદા વ્રતની સંક્ષેપમાં જ આ વ્રત છે દિશા પરિમાણ વર્ષભર કે જીવનભર માટે કરવામાં આવે છે ત્યારે આ વ્રત અમુક સમયથી શરૂ કરી અમુક દિવસો સુધી છોડીને કયાંય ન જવું એવા અભિગ્રહ સાથે આવો સમય સામાયિકમાં પસાર કરે છે. આ વૃતથી પણ ઇન્દ્રિયો પર સંયમ કેળવાય છે. બીજાં વ્રતોને પુષ્ટિ આપનાર બને છે. ગૃહસ્થી પોતાના જીવનના અમુક અમુક સમયમાં આ વ્રતને ધારણ કરી નિસ્પૃહિ, નિર્લોભી અને ત્યાગ ભાવનાના ઉત્કર્ષ પાછળ ખેંચાય છે. અને પરિણામે તેમાં મહાન લાભનો ઉત્પાદક બની શકે છે.

અગ્યારમું વ્રત પૌષધ અને ઉપવાસ ને સંયુક્ત કરવાથી બન્યું છે. પર્વતિથિના દિવસોમાં ધર્મની પુષ્ટિ એટલે (પોષ) માટે ઉપવાસ કરી પૌષધ લેવાય છે. બે ઘડીનું સામાયિક લેનાર વ્યક્તિ તેટલા સમયની શાંતિ ઇચ્છી સંસારની આંટીઘુંટીથી મુક્ત રહે છે તેમ પૌષધ લેનાર વ્યક્ત્યિ ચાર પહોર, આઠ પહોર કે વધુ દિવસો લગી ધર્મપુષ્ટિ અર્થે 'પૌષધોપવાસ' વ્રત ધારણ કરે છે તેટલો સમય તે વધુને વધુ સંસારથી વિરક્ત અને સાધુ જીવન તરફ રકત બનતો જાય છે. આ સમય દરમિયાન તેના આત્માને સંસારની મલીનતાની કોઈ પ્રકારની રજ ન લાગવાથી શુદ્ધ આયનામાં મુખ જોવાય તેમ આત્માને નિહાળવાંની શક્તિ પ્રાપ્ત કરી શકે છે. ઇન્દ્રિયસંયમ વધુ કેળવાતાં ભવિષ્યમાં તીર્થંકર ભગવંતની ભાખેલ ભાગવતી દિક્ષાનો અંગિકાર કરવા પાછળ ત્યાગ ભાવનાની ખીલવણી કરી શકે છે.

અતિથિ દેવો ભવઃ એ પ્રાચીન સૂત્ર જૈન જૈનેતર તમામ કોમો માટે મહાનતા દર્શક પુર.વો છે સંસારમાં અતિથિ મહેમાન એક બીજાના સંબંધ પ્રમાણે આવજા કરે છે તેમની સેવા સુશ્રુષા અરસ પરસના ભ્રાતૃભાવ ઉત્પન્ન કરાવે છે જૈન ગૃહસ્થીની સામે આ સુત્રાનુસાર અતિથિ તરીકે જૈન સાધુ સાધ્વીઓ જ કલ્પેલા છે. તેમને આવવાનું ચોકક્સ નિર્ણિત ન જ હોય પણ જ્યારે જ્યારે કોઇ પૂણ્યબળે તેવા મહાન આત્માનાં પગલાં થાય ત્યારે તેમને દોષરહિત ખોરાક ભકિત ભાવપૂર્વક આપવો. તેમની

સેવા સુશ્રુષા કરી આત્મ કલ્યાણની ચિંતવના એ શ્રાવકનો મહાન ધર્મ છે આ માટે પણ વ્રત દરમિયાન નિયમ ગ્રહણ કરવાથી ધર્મ માર્ગને પુષ્ટિ મળે છે આ માટે પાચ દોષો ગણાવ્યા છે

એકંદર બાર મહાન વ્રતો પૈકી પહેલા પાચ વ્રત સાધુ–સાધ્વી અને શ્રાવકો માટે એકજ પ્રકારના બતાવ્યા છે પરંતુ શ્રાવકને તે અણુજ પ્રમાણમા આચરવાના હોવાથી તેને અણુવ્રત કહેવાય છે જ્યારે સાધુ માટે આ વ્રતો 'મહાવ્રત કહેવાય છે

દિશા પરિમાણ આદિ ૬, ૭, ૮, એ ત્રણ વ્રત અણુવ્રતને વધુ ગુણ કરનાર હોઇ ગ્રહસ્થ જીવનને ઉત્તમ બનાવવા સહાયભૂત બને છે માટે તેને ગુણવ્રત કહેવાય છે

સામાયિક આદી ચાર વ્રત ૯, ૧૦, ૧૧, ૧૨, એ જૈન ધર્મના સિદ્ધાંતોને વધુ પુષ્ટિ આપનાર તાલીમ આપનાર શિક્ષકની ગરજ સારે છે તે શિખામણરૂપ અથવા અભ્યાસરૂપે સૂચવેલા હોવાથી તેને શિક્ષાવ્રત તરીકે ગણાવેલા છે

આજે જૈન સમાજ અધોગતિ તરફ ધકેલાતો જાય છે પ્રભુ મહાવીર ને ઋષભ દેવના સમયકાળમા જૈન ધર્મની સખ્યાને આજના દશ બાર લાખ ગણ્યા ગાઠ્યા જૈનોની સરખામણીએ એક છીછરા ખાબોચિયા સરખા તેના અનુયાયીઓ થઇ ગયા છે એ અધોગતિની નિશાની છે

શુદ્ધ સમ્યકત્વના જાણકાર મહાન આચાર્યોની અલ્પ દોરવણી સાથે માનવની સકુચિતતા આનુ મુખ્ય કારણ જણાય છે જૈન ધર્મ એ એકજ જ્ઞાતિનો એક હથ્થુ ઇજારો નથી એ સત્ય સ્વીકારી તેના ઉચ્ચ સિદ્ધાંતોને વ્યવહાર દ્રષ્ટિએ ઉપયોગી થાય એવો પ્રચાર વર્તમાનાચાર્યો એકમત થઇ કરશે તો જૈન સમાજનો ઉત્કર્ષ ગણત્રીના દિવસોમા આપણી સમક્ષ આવી પહોચ્યો જ સમજો

માનવ માત્ર શુદ્ધ સમ્યકત્વને પીછાનવા પ્રયત્ન કરે જૈન વ્યકિત તો જરૂર પોતાના શુદ્ધ આચારોને જાણે અને તે પ્રમાણે પોતાની જીવન સરણી ઘડવા યત્ન કરે તે વધુ અગત્યનુ છે અને આ પ્રમાણે થાય તો આત્મા ઉચ્ચ શ્રેણીએ ચઢતો પરમાત્માના અમર ધામના દર્શન કરવા કોઇક કાળે જરૂર ભાગ્યશાળી થશે એ પણ નિર્વિવાદ સત્ય દરેકે સમજવાનુ છે

શું લખવું ?

લેખક : શ્રી જગજીવનદાસ કપાસી,
ચુડા.

(શ્રી કીર્તિકુમાર વોરા તરફથી, પૂજ્ય આચાર્ય દેવેશ શ્રીમદ્ વિજય યતીન્દ્ર સૂરીશ્વરજી મહારાજ સાહેબના હીરક જયંતિ મહોત્સવ પ્રસંગે એક અભિનંદન ગ્રંથનું પ્રકાશન કરવાનું હોઇ તે માટે એક લેખ લખી મોકલવાનું આગ્રહભર્યું આમંત્રણ આવ્યું, ત્યારે સ્વાભાવિક રીતે મને થયું કે મારે શું લખવું? આમ તો સામાન્ય રીતે મારૂં જીવન નિવૃતિ પરાયણ જેવું છે; જો કે વર્ષોથી ગળે વળગેલી નોકરી તો ચાલુ જ છે, તેવી માનસીક પરિસ્થિતિમાં મન તો લાંબા લાંબા લેખો, ટુંકી વાર્તાઓ અને નવલકથા લખવાના ઘોડા ગણ્યા કરે છે; પરંતુ કોણ જાણે શાથી કલમન પકડી કાગળ ઉપર હાથ ચલાવવાનું બનતું નથી. હા, કોઇ વખત કોઈ સજ્જન કે મિત્ર પત્રદ્વારા પ્રેરણા આપે છે, ત્યારે કદિક એકાદ લેખ કે ટુંકી વાર્તા લખી નાખું છું, પણ પછી પાછો જયાંનો ત્યાં.)

માનસિક અવસ્થામાં એક વખત હું બહારગામ રેલદ્વારાએ જતો હતો. શિયાળાનો દિવસ હતો અને ગાડી સવારમાં ચાલી જતી હતી, એટલે મન પ્રફુલ્લ હતું. સહન થાય તેવી ઠંડી હતી, જેથી ડબાની બારીથી પ્રભાતના સોનેરી તડકામાં બેસી સૃષ્ટિ-સૌન્દર્યનું અવલોકન કરતો હતો. એકાદ સ્ટેશન આવતાં ગાડી ઉભી રહી અને બે-ચાર ઉતારૂઓ મારા ખાનામાં આવીને બેસી ગયા. ગાડી સ્ટેશન છોડીને ચાલુ થતાં તેમના વચ્ચે વાતચિત ચાલુ થઇ. તેમની વાત ઉપરથી તેઓ જૈન હોવાનું જણાતા હતા. દેરાવાસી હતા કે સ્થાનકવાસી, તે જાણવાની મને ઉત્કંઠા નહોતી; કારણકે મારા મનથી દેરાવાસી કે સ્થાનકવાસીનો ભેદ ઘણોજ નજીવો હતો. વળી હું તો મૌન રહી તેમનો વાર્તાલાપ સાંભળતો હતો એટલે તેમની સાથે કોઈ વાતમાં ઉતરવાની ઈચ્છા નહોતી. તેઓ વેપારી હતા અને સામાન્યતઃ તેમની વચ્ચે વેપાર અંગેની જ વાત ચાલતી હતી. તેમની વાતચિત મુખ્યત્વે ચીજ વસ્તુઓના ભાવ-તાલ, તેજી-મંદીનાં કારણો, સોદા અને સટ્ટાની વાતો, તથા અમુક ભાઈ ગરીબમાંથી તવંગર અને અમુક ભાઈ તવંગરમાંથી ગરીબ થઈ ગયાના દાખલા તેમજ અમુક ભાઇએ અમુક સંસ્થામાં મોટી રકમનું દાન કર્યું અને પોતાનાં નામની તખ્તી ચોડાવી તથા અમુક ભાઇએ તેમની દીકરી કે દીકરાનાં લગ્નમાં અમુક હજાર રૂપિયાનું ખર્ચ કરી વાહવાહ કહેવરાવી, એવા પ્રકારની વાતો ચાલતી હતી. હું એક ધ્યાને આ બધું સાંભળી રહ્યો હતો. મને થયું કે આ બધું સાંભળી રહ્યો હતો. મને થયું કે આ ભાઇઓને કેવળ વેપારની અને તેમાંથી કઈ રીતે ધનોપાર્જન થઈ શકે અને કીર્તિ પ્રાપ્ત કરી શકાય તે સિવાય બીજી કોઈ વાતની પડી નથી. વેપારી-વૃત્તિ જ સ્વાર્થથી ભરેલી છે, એમ કહું તો રખે વેપારી ભાઇએ નારાજ થાય! પણ એટલું તો કહી શકાય કે જૈન મંદિર માટે જે વિકટ સમસ્યા ઉભી

થઇ છે. તેની માહિતી તેમને લાગતી નથી, રાજસ્થાનમા અનુપ મંડળ જૈનો પ્રત્યે અસાધારણ દ્વેષ ધરાવી તેમની નિરર્થક કનડગત કરવામાં જ અગ્રભાગ ભજવે છે, તેની જાણ તેમને હોવાનો લેશ પણ સંભવ નથી. તેમને તો પોતે ભલા, પોતાનું કુટુંબ ભલું અને પોતાનો વેપાર ભલો, એવી સાંકડી મનોદશામાં તેઓ જીવનની કૃતિ કર્તવ્યતા માનતા લાગે છે. પણ તેમની વ્યાપારી મનોદશાની સમીક્ષા કરતા મને લાગે છે કે તેમનો એકલાનો જ દોષ શા માટે કાઢવો જોઇએ ? જેઓ જૈન સમાજના આગેવાનો હોવાનો દાવો ધરાવે છે, જેઓ જૈનોની મહાન સંસ્થાના કાર્યકર્તા હોવામાં ગર્વ ધરાવે છે અને જેઓ પોતાનાં ધન અને તે દ્વારા મળતી સસ્તી કીર્તિમાં રાચતા હોય છે. તેમનો વર્તમાન જૈન સમાજની સ્થિતિ પરત્વે થોડો દોષ અને જવાબદારી નથી સમાજના નાવનુ સુકાન તે નેતાઓના હાથમાં હોય છે અને જો તેઓ સુકાનને વ્યવસ્થિત રાખીને નાવને પાર ઉતારવામાં બેકાળજી રાખે, તો નાવ જરૂર ડુબી જાય છે આવી જ સ્થિતિ આપણા સમાજનાં નાવની છે સુકાનીઓ તો છેજ, પણ સમાજનાં નાવને સુખરૂપ પાર ઉતારવામા કાંતો તેઓ ઘણાભાગે બેદરકાર છે અથવા તો નાવને પાર ઉતારવાની તેમને પડી નથી. તેમાંના મોટા ભાગને જેટલો વેપારમા રસ છે, યેનકેન પ્રકારે શ્રીમંત બની જવાની જેટલી ઉત્કંઠા છે, થોડાક રૂપાના સીક્કાઓ અને કાગળના ટુકડાઓનુ દાન કરીને કીર્તિ કમાવાની જેટલી લાલસા છે અને પછી છાપામા પોતાના ગુણગાન વાચવાની અને પોતાના છપાયેલ ફોટા જોવાની જેટલી તમન્ના છે, તેટલો રસ, તેટલી ઉત્કંઠા, તેટલી લાલસા અને તેટલી તમન્ના સમાજની સ્થિતિ સુધારવામા, કુસંપ અને કંકાસનુ વાતાવરણ દૂર કરી સમાજનું સંગઠન કરવામા, દ્વેષી મંડળ કે માણસોના આક્રમણ અને આક્ષેપોથી સમાજને બચાવી લેવામા, સમાજના મધ્યમવર્ગના પોતાનાજ સ્વામીભાઇઓની ભયંકર બેકારી મીટાવવામા અને સાધનહિન વિદ્યાર્થીઓને કેળવણી માટે ઉત્તેજન આપવામા નથી, એમ કોઈ પણ વિચારકને જણાયા વિના રહેશે નહિ અલબત તેમાના ઘણા હજારો અને લાખો કમાય છે હજારો અને લાખો પોતાના અહંભાવને પોષવા લગ્ન કે બીજા વ્યાવહારિક કાર્યોમા ખર્ચે છે અને પોતાના માની લીધેલા ગુરૂઓના વચનની ખાતર ધાર્મિક જલસામા વાપરે છે, પરતુ આપણા સમાજમા જે કુસંપ અને બેકારીનો મહાભયંકર રોગ લાગુ પડી ગયો છે, તેની આ સાચી દવા નથી.

મને આ પ્રસંગે એક દાખલો યાદ આવે છે. ત્રણેક વર્ષ પહેલા આપણા એક જૈન વિદ્યાર્થીએ એક જૈન ગૃહસ્થને અરજી કરી વિનતિ કરી કે તેને આગળ અભ્યાસ માટે કોલેજમા દાખલ થવુ છે, તેની આર્થિક સ્થિતિ તદ્દન કફોડી છે, અને તેને મદદરૂપે સ્કોલરશીપ અને તેમ ન બની શકે તો અમુક રકમ લોનરૂપે આપવા કૃપા કરવી પણ સ્કોલરશીપ અને લોનની વાત તો એક બાજુએ રહી, માત્ર ખાલી જવાબ પણ ન મળ્યો ત્યારે મને ખરેખર આશ્ચર્ય થયુ. ત્યાર પછી તો આ વિદ્યાર્થીને એક પાટીદાર સમાજ–સેવક ભાઇએ કોઇ પણ જાતની ઓળખાણ વિના મદદ કરી અને તે

વિદ્યાર્થી કૉલેજમાં દાખલ થઇ શકયો. આ તો એક સાદો, સામાન્ય અને સાધારણ દાખલો છે, જે કોઇ પણ પ્રકારનાં ટીકા કે વિવેચન વિના હું આ લેખના વાંચક મહાશયો પાસે રજુ કરૂં છું; પણ એક અજાણ્યા અને અણઓળખીતા પાટીદારભાઇએ એક જૈન વિદ્યાર્થીને અભ્યાસમાં સહાય કરી, એ વાત મારા મનથી ખરેખર આશ્ચર્યજનક તો છેજ, એટલું કહ્યા શિવાય હું રહી શકતો નથી.

હવે થોડુંક કડવું સત્ય આ તકે મારે કહેવું પડે છે, અને તે પણ પ. પૂ. આચાર્યશ્રીના હીરક જયંતિ મહોત્સવ પ્રસંગે પ્રગટ થતાં અભિનંદન ગ્રંથમાં લખવું પડે છે, તેનો મને જરૂર ખ્યાલ છે; પરંતુ મારે શું લખવું એ વિષય પરત્વે મેં જ્યારે કલમને પકડી છે, ત્યારે મારા વિચારો કાગળ ઉપર ચિતરવામાં મારી કલમને હું રોકી શકતો નથી, એ વાતનું મને ખરેખર દુઃખ પણ છે. સાધુ, સાધ્વી, શ્રાવક અને શ્રાવિકા એ ચતુર્વિધ સમાજના યોગક્ષેમનો મુખ્ય આધાર આપણા પૂજ્ય સાધુ મહારાજો ઉપર રહેલો છે, એ સત્ય વાતની કોઇથી ના પાડી શકાય તેમ નથી. પણ મારે ઘણી જ દીલગીરી સાથે પૂછવું પડે છે કે આ વાતનો આપણા ઘણા પૂજ્ય મહારાજોને સાચો ખ્યાલ છે ખરો? મને લાગે છે કે તેમાંના ઘણાને નથી જ. આપણે જ્યારે સમાજની વર્તમાન દશા વિશે અવલોકન કરીએ છીએ, ત્યારે આપણને–ઘણાને નહિ તો થોડા વિચારકોને સ્પષ્ટ જણાય છે કે તેમાંના કેટલાક જૂદા જૂદા ચોકા જમાવીને બેસી રહ્યા છે; તિથિ-ચર્ચામાં અમે સાચા અને તમે ખોટા, એ રીતે પોતાનાં મમત્વને વળગી રહ્યા છે. પાટ ઉપર બેસીને માત્ર સ્વર્ગ અને નર્કની આકર્ષક અને ભયંકર વાતોનો ઉલ્લેખ કરી પોતાનું પાંડિત્ય દર્શાવવામાં જ ઇતિકર્તવ્યતા માની બેઠા છે. પોતાના જીહજુરિયા શ્રાવકોનું જુથ કરીને પોતાની અહંભાવના પોષવામાં રાચવા લાગ્યા છે અને ઉપધાનો વરઘોડા, પ્રવેશ મહોત્સવો, જમણવારો, તથા વાજાં-ગાજાંમાં શાસનની ઉન્નતિ માની બેઠા છે. તેમાંના કેટલાકના અરે! મોટા ભાગનાના ચાતુર્માસ અને વિહાર માટે પણ શું લખવું અને શું ન લખવું, તેની સમજણ પડતી નથી. ચાતુર્માસ મોટાં શહેરોમાં જ થાય, જ્યાં પોતાના રાગી શ્રાવકો તેમની દરેક પ્રકારની સગવડતા સાચવવામાં પરમ ગુરૂભકિત માનતા હોય અને વિહાર પણ સીધા શહેરોને અનુલક્ષીને થાય. વચમાં ગામડાં તો આવે જ પણ ત્યાં સ્થિરતાની વાત નહિ; કારણ કે ગામડાંના ગરીબ અને અજ્ઞાન (?) માણસોથી ધર્મના ધુરંધરોની સગવડતા સચવાય નહિ! તેમનો અમુલ્ય અને અપ્રાપ્ય ઉપદેશ ગામડાનાં લોકો સમજી શકે નહિ! તેમને વંદન કરનારા શ્રીમંતો જોઇએ, તેમનાં ઉપદેશામૃતનું પાન કરનારા ધનપતિઓ જોઇએ કે જેઓ ઉપદેશામૃતનું પાન કરી જેમના ગુરૂદેવનાં અમોઘ વચનની ખાતર ધનની મૂર્છા ઉતારી નાંખતા હોય અને એ રીતે શાસન-ઉન્નતિના સુભટો બની શકતા હોય અને જ્યાં ધન્ય ગુરૂદેવ, ધન્ય શિષ્યો અને ધન્ય નગરીનું ચોથા આરાનું વાતાવરણ વર્તાતું હોય, તેવી નગરીમાં ચાતુર્માસ કરી શકાય અને તેવી નગરીઓને લક્ષ્યમાં રાખીને વિહાર થઇ શકે તો જ શાસનની શોભામાં વૃદ્ધિ કરી શકાય!

કહેવાની મતલબ એ છે કે આપણા સમાજની હાલની અવ્યવસ્થિત પરિસ્થિતિની નિનચક પાચસો સુભટો જેવી દશાની, સમાજમા પ્રવર્તતી ભયકર બેકારીની અને હ્રાસની નથી પડી ઘણા શ્રીમતોને, ઘણા આગેવાનોને અને ઘણા ત્યાગી મહાપુરૂષોને ' સબ સબકી સમાલો, મે મેરી ફોડતા હુ " જેવી આપણા જૈન સમાજની મોટા ભાગની વર્તમાન પરિસ્થિતિ છે અને કોઇપણ વિચારકને માટે પારાવાર દિલગીરીનો વિષય છે

ત્યારે કરવુ શુ ? એ પ્રશ્ન ઉભો રહે છે મારા નમ્ર અને અધિન મત પ્રમાણે મન લાગે છે કે આપણે સમાજની એકતા સાધવાની પ્રથમ જરૂર છે અને તે માટે જેમ વિદ્વાનો તૈયાર કરવાની અગત્ય છે, તેના કરતા વધુ અગત્ય એક વેતનિક સેવાદળ ઉભુ કરવાની છે (Servants of India Societies) સરવન્ટ્સ ઓફ ઇન્ડીયા સોસાયટીના ધોરણે એક સસ્થા ઉભી કરવી અને તેમા નિસ્વાર્થી તથા સાચી સેવાની ધગશવાળા શિક્ષિત યુવાનોને અથવા યુવાન માનસ ધરાવનારાઓને, તેમની કૌટુબિક ઉપાધિઓમા તેમને રાહત આપવા ખાતર, વ્યાજબી અને મધ્યમસરના વેતનથી દાખલ કરવા આવા સ્વય સેવકોના વ્યવસ્થિત જૂથ રચી લોક સપર્ક સાધવાને માટે ગામડે ગામડે મોકલવા અને એ રીતે સમાજની સ્થિતિનુ સાચુ દર્શન તેમનાદ્વારા મેળવીને આપણા સમાજમા જે ભયકર દર્દ પેસી ગયુ છે, તેને દૂર કરવા અથવા તો હળવુ કરવા માટે યોગ્ય ઉપાયો લેવા જોઈએ અલબત્ત આવા કાર્ય માટે એક સેવાભાવી સસ્થાની ખાસ આવશ્યકતા છે અને જો એ આવશ્યકતાને માટે આપણા સુભાગ્યે જે કેટલાક નિસ્વાર્થી નવા તરાયણ નેતાઓ, શ્રીમતો વિદ્વાનો અને કાર્યકરો છે, તેઓ પોતાના ત્વરિત લક્ષમા લઈને કાઈ નહિ કરે તો આપણે આ યુગમા પાછળ રહી જશુ અને પછી તો આપણો કાઈ જયવારો રહેવા પામશે નહિ પૂજ્ય સાધુ મહારાજો પણ ચાતુર્માસની સ્થિરતા અને વિહારની વ્યવસ્થા લોક સપર્ક સાધવાની દ્રષ્ટિએ કરે અને વ્યાખ્યાનોનો પ્રવાહ યુગને અનુરૂપ દિશામા વાળી લે તો જૈન-સમાજનુ કલ્યાણ સાધવામા જરૂર સફળતા પ્રાપ્ત થાય આજના યુગમા પ્રત્યેક જૈન ભાઈની આ ફરજ છે

(પુરવણી)

આચાર્યશ્રીનાં પ્રથમ દર્શનની પુનિત યાદી

ભારત દેશમાં સમયે સમયે અનેક જગ્યાએ મહાત્માઓ, ઉપદેશકો, મહાન તપસ્વીઓ અને દ્રષ્ટાઓએ જન્મ લીધા છે અને અન્ય સંસારીઓને ઉચ્ચ જીવન જીવવાના રસ્તાઓ દેખાડ્યા છે. માત્ર તેવા મહાત્માઓ, મુનિરાજોને ઓળખવાની માણસમાં ઇચ્છા અને વિવેક જોઇએ. પૂજ્ય આચાર્યશ્રીનું નામ તો તેમનાં ઘણાં પુસ્તકોનાં પ્રકાશનોને અંગે મારા જાણુવામાં ઘણાં વખતથી હતુ, પરંતુ સાક્ષાત દર્શનનો લાભ તો સંવત ૨૦૧૩ ના કાર્તિક માસમાં ભાવનગરથી તાર આવ્યો કે તમે ખાચરોદ આચાર્યશ્રી પાસે "શ્રી રાજેન્દ્ર સ્મારક ગ્રંથ" છાપવાના કામ માટે તુર્ત જાવ, ત્યારેજ મળ્યો. મુંબઇથી સીધો ત્યાં પહોંચી ગયો. રાત્રે પૂજ્ય આચાર્યશ્રી તથા સૌ મુનિરાજો તથા અન્ય વિદ્વાન પંડિતો તથા રાજેન્દ્ર સ્મારક સમિતિના સભ્યો પણ હાજર હતા. તેઓશ્રી તે વખતે એક એક લેખ કેમ ગોઠવવો તેની ખૂબ સાત્વિક ચર્ચા કરતા હતા. જો કે આચાર્યશ્રીની તબીયત નરમ હતી છતાં તેઓ પોતેજ પહેલાથી છેલ્લે સુધી સંપાદન માટેની યાદી ચીવટભરી રીતે તપાસતાં હતા. મને પ્રથમ દર્શનેજ તેમની દીર્ઘદીક્ષાકાળનાં પરિપકવ જ્ઞાન તથા બ્રહ્મચર્યનાં તેજનાં દર્શન થયાં. તેઓશ્રીનું (hersonolitiz) વ્યક્તિત્વ ઘણુંજ તેજોમય અને વાણી પણ પોતાનાં ધાર્યા મુજબ સામા પાસે કામ (commanding) કરાવે તેવી હતી. તેઓશ્રીનાં સાનિધ્યમાં સંસારનાં દુઃખોથી અને મનની અશાંતીવાળો કોઈ પણ માણુસ શાંતી અને આત્માની તથા ચિત્તની પ્રસન્નતા મેળવી શકે તેવી તેમની જીવનસાધના હતી. સૌ શિષ્ય મંડળ એક પિતા જેવા મહાન તેજસ્વી ગુરૂની ઇચ્છાને જરાપણુ શંકા કે પ્રશ્ન વગર શીર પર ચડાવતા હતા. મારી સાથે વાતોમાં મને જાણે તેમનાં હૃદયનાં આશીર્વાદ મળી રહ્યાં હોય એમ એમની પ્રેમભરી આંખોમાંથી દેખતું હતું. જુના જમાનાનાં સરળ, ભદ્રિક, વચનસિદ્ધિ આત્માઓમાંના તેઓશ્રી પણુ એક છે. પોતાના ગુરૂદેવના સ્મારક માટેના ગ્રંથમાં જરાપણુ કચાસ ન રહેવી જોઇએ તે જાતની તેમની કાળજી તથા ચીવટ તેમની વયોવૃદ્ધ ઉંમર છતાં કરતા હતા તે તેમનો ગુરૂ ઉપરનો અજોડ પ્રેમ અને પુજ્યભાવનાનો સુંદર દાખલો હતો. ખર્ચનો સવાલ નથી તે કામનું સંપાદન–પ્રકાશન કાર્ય રાજસ્થાનના સાહિત્યકાર તથા શ્રી ગુરૂપ્રેમી શ્રી દૌલતસિંહજી લોઢા (અરવિંદ)ને સોંપવામાં આવેલ જે તેમણે સુંદર રીતે પાર પાડેલ છે.

ગુરૂજીનો આ સ્મારક અંક દેશપરદેશમાં સારામાં સારા લેખોથી તથા સુંદર, કલામય છાપકામથી શોભે તે જોવાની તેમની તત્પરતા અજોડ હતી. ખૂદ પોતે મહાન સાહિત્યકાર હોઈને તથા કવિહૃદય ધરાવતા હોઈને કલા સાથે સુંદર સાહિત્યનું તથા ઇતિહાસનું દર્શન સ્મારક ગ્રંથમાં થાય તેવી તેમની ભાવના હતી અને તે મુજબ વિશેષતો હું શું લખું ! ખાસ લખવાનો મહાવરો નથી પણ હૃદયના પ્રેમથી અને તેમના પ્રત્યેના પૂજ્યભાવથી આ મહાન સાહિત્યકાર, સાઠ વર્ષનાં દીર્ઘદીક્ષા પર્યાયી, સરળ, નિસ્પૃહિ, યોગીને મારા હૃદયની વંદના કરી વિરમુ છું.

—વિનુભાઇ ગુલાબચંદ શાહ બી. એ. (ભાવનગરવાળા)

प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरिश्वरजी गुरुभ्यो नमः

श्रीमद्-विजय-यतीन्द्र-सूरीश्वरजी

महाराज साहब के

"हीरक-जयंती"

महोत्सव की एक झलक

खाचरोद

लेखक—श्री बालचन्द्र जैन
" साहित्य रत्न "
राजगढ़ (धार)

—: हीरक-जयंति :—

——:०:——

प्रत्येक देशमें वहाँ के महा पुरुषों के आदर्श जीवन एवं उनकी अमूल्य सेवाओं के फल स्वरुप वहाँ का जनमानस उन महापुरुषों के सन्मान् हेतुः उनके जन्मदिन, निर्वाणदिन, तथा जीवन के क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण घटना हुई हो वहदिनः उस महापुरुष का अनुयायी सारा समाज एकत्रित होकर उनके महत्व-पूर्ण जीवन का जन-समाज के सन्मुख विशेष रूप से उत्सव आदि करके मनाते हैं ।

हमारे भारतदेश में तो यह प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है । भारतवर्ष का समाज अपने उन महापुरुषों का सन्मान् जिन्होंने कि जन-कल्याण के हेतु अपना जीवन लगा दिया है । लाखों वर्षों से करता आया है और करता रहेगा ।

आज का पश्चिमी जगत भी इस रुप को लिये हुए है । वहाँ पर भी उनदेशों के महापुरुष कीः डायमंड जुबिली, गोल्डन जुबिली, सिल्व्हर जुबिली आदि मनाई जाती है । यह सारे कार्यक्रम उनकी स्मृति बनी रहे इसलिये है ।

भारत क जैन-समाज भी अपने धार्मिक महापुरुषों का जिन्होंने कि जैन-धर्म, संस्कृति और समाज-कल्याण का कार्य किया है उनका सन्मान् विशेष रुप से करता है ।

जिन-धर्म में त्याग को विशेष महत्व दिया गया है । जैना-चार्य आज के जगत को केवलियों की वाणी सुनाते हैं; आदर्श त्याग-मय जीवन बिताते हैं. पण्डित हैंः तथा धर्म का सच्चे रुप में प्ररुपण करते हैं । इसी कारण आज का जैन-जगत इन धार्मिक-सम्राटों का विशेष रुप से सन्मान करता है ।

पूज्यवर ! यतीन्द्र सूरिश्वरजी महाराज भी आज के जैना-चार्यों में विशेष स्थान रखते हैं । आपका उज्वल जीवन समाज में दीपक के समान हैं और आपके गुरुवर पू. पाद् राजेन्द्र सूरिश्वरजी महाराज जगत्-प्रसिद्ध व्यक्ति थे ।

त्रिस्तुतिक-समाज आज पूज्यवर ! राजेन्द्र सूरिश्वरजी महाराज की पाट-परपरा का अनुयायी है और वर्तमानार्य जो इस समय हैं वे आपही की पाट-गादी पर बिरा-जित हैं । अतएव समाज ने अपने गुरुदेव श्री के पाट पर विराजित पूज्यवर ! यतीन्द्र सूरिश्वरजी महाराज का हरिक-जयंति महोत्सव मनाया और आपके सन्मान् हेतु एक अभिनंदन-ग्रंथ भेट किया है जिसमें आपके शुद्धतर जीवन व कार्यों का वर्णन है ।

हरिक-जयंति का उद्भव

मालवा-संघ के आग्रह से पूज्य गुरुदेव श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरिश्वरजी महाराज साः की निश्रा में एक "अखिलभारतीय-त्रिस्तुतिक-समाज" का प्रतिनिधि सम्मेलन

रतनगर में हुआ। यह सम्मेलन पूज्य पाद स्वर्गस्थ आचार्य देव श्री राजेन्द्रसूरिश्वरजी महाराज का "अर्ध शताब्दि" महोत्सव कहाँ मनाया जावे। इस सम्बन्ध में विचार करने के हेतु एकत्रित हुआ था। उसी समय मुनि समुदाय की ओर से समाज के प्रतिनिधियों के सन्मुख यह प्रस्ताव आया था कि वर्तमान आचार्य श्री का हरिक-जयन्ति महोत्सव मनाया जाना चाहिये।

किन्तु उस समय का प्रमुख विषय अर्ध शताब्दि महोत्सव था इस कारण उस विषय पर विशेष विचार न हो सका। पूज्य गुरुदेव श्री ने भी उस समय इस कार्य के लिये आदेश नहीं दिया अतएव स्मृति रुप में ही यह विचार रह गया।

जब अर्ध शताब्दि महोत्सव 'मोहनखेडा तीर्थ' पर विशाल जन समुदाय के साथ सफलता पूर्वक सम्पन्न हो गया तब श्री संघ एवं सन्त समुदाय के सन्मुख "हरिक-जयति उत्सव मनाने का कार्य उपस्थित हुआ।

जब राणापुर में आचार्य-देव श्री का चातुर्मास हो रहा था उसी अवसर पर श्री संघ के प्रमुख सज्जन वहाँ पर एकत्रित हुए और यह निश्चय किया कि 'हरिक-जयति उत्सव मनाया जावे और इस सम्बन्ध में "अभिनन्दन ग्रन्थ' के प्रकाशन हेतु ७००१) रुपय की धन राशि दी जाना स्वीकृत की। स्मरण रहे यह रुपया अर्ध शताब्दि महोत्सव के बचत कोष में से दिया गया।

बामदा जक्शन में प्रतिष्ठा महोत्सव की समाप्ती पर आप खाचरोद पधारे और वहीं पर आपका हरिक जयति महोत्सव मनाया गया।

नव-पद-आराधन

जैन शासन में नव-पद आराधन का विशेष महत्व है। जैनियों के लिये ही नहीं किन्तु प्रत्येक जातियों के लोगों के लिये यह आराधन लाभ प्रद सिद्ध हुआ है। प्राचीन काल में श्रीपाल राजा और मैना सुन्दरी के अपार कष्ट इसी अमोघ मंत्र के जाप से मिटे।

आयंबिल की उत्कृष्ट क्रियायें आत्मशुद्धि व स्वास्थय को लाभ करती हैं। आज भी जैन समाज का बहुत बड़ा विश्वास इन क्रियाओं पर है और उनका पालन भी होता है।

खाचरोद नगर में श्री मोतीलालजी सा धनवट भी सिद्ध चक्र आराधक व्यक्ति हैं। प्रतिवर्ष आपही की ओर से इस महोत्सव का आयोजन होता है और उसका सारा व्ययभार भी आपही सहन करते हैं। इस वर्ष पूज्य गुरुदेव श्री का योग प्राप्त हुआ और इसी अवसर पर हरिक जयति महोत्सव" भी मनाया जानेवाला था इस कारण विशेष आनंद रहा।

मंडप की सजावट

जिस स्थान पर धार्मिक क्रियायें होनीथीं उसे बहुत ही आकर्षक बनाया गया था। एक तरफ श्रीपाल राजा का पूरा जीवन चित्र व इतिहास सहित दिखाई देता था। उस दृश्य

को जब कोई देखता था तो लगभग १॥-२ घंटे उसी को देखने में उसे लग जाते थे। क्योंकि जीवन की प्रमुख घटनाओं का वर्णन उन चित्रों में तादृश्य बताया गया था।

दूसरी भगवान महावीर के जीवन की मुख्य घटनाओं का और चित्र था। राजा मेघरथ की दान शीलता दिखाई गई थी। जांघ से माँस काटता हुआ मेघरथ व तराजू पर उछलता हुआ कबूतर विद्युत गति से सचलित थे इस कारण से यह दृश्य बहुत ही प्रशंसनीय रहे। प्रतिदिन हजारों की तादाद में उस आध्यात्मिक प्रदर्शिनी के दर्शन हेतु जन-समाज उमड़ पड़ता था और कुछ न कुछ जीवन में प्रेरणा-युक्त संदेश लेकर जाता था। मंडप के बीच चाँदी से मंडित उस छोटेसे मंदिर में जिन-प्रतिमा विराजमान थी। जहाँ पर पूजा पाठ व धार्मिक अनुष्ठान होते थे।

— कार्य-क्रम —

प्रातः स्मरणीय भगवान् महावीर-स्वामीजी का जन्म-कल्याणक-महोत्सव चैत्र सु. १३ के दिन था और उसी दिन से हीरक-जयंति के कार्यक्रम प्रारम्भ हुए।

महावीर-जन्म-कल्याणक महोत्सव के उपलक्ष में दिन में एक विशाल चल-समारोह निकला जिसमें हजारों स्त्रि-पुरुष, साधु एवं साध्वी याँथीं। नगर के प्रमुख बाजारों में वह विशाल चल समारोह जब बैंड की मधुर आवाज के साथ चलना प्रारम्भ हुआ उस समय वहाँ का समस्त जन-समुदाय उस महापुरुष की जय-जयकार मना रहा था।

रात्रि को पं. श्री जुहारमलजी की अध्यक्षता में विद्वद् सम्मेलन का आयोजन किया गया जिस में पं. रमाकान्तजी शास्त्री, पं: राजमलजी लोढा शास्त्री, पं. मदनलालजी जोशी शास्त्री, पं. करमलकरजी शास्त्री, श्री दौलतसिंहजी लोढा बी. ए. मुनि समुदाय में से मुनिश्री विद्याविजयजी, मुनिश्री कल्याण विजयजी, मुनि जयन्तीजयजी आदि के सारगर्भित सामाजिक, सैधान्तिक एवं सांस्कृतिक .ोजस्वी भाषण हुए। जिस को श्रवण करने के लिये हंजारों की संख्या में जनता उमड़ पडी थी।

कवि-सम्मेलन

चैत्र-शुक्ल चर्तुदशी के दिन रात्रि को कवि सम्मेलन हुआ उसमें कई स्थानों के कवियों की उपस्थिति थी। जोड़-तोड़ की कविताऐं हुईं। राजस्थानी और मालवी कवियों की कविता सम्बन्धी होड़ भी हुई। उसदिन की रात्रि को लगभग ४ बजे तक सारा जन समुदाय स्तब्ध बैठा रहा। कवियों ने अपनी-अपनी कला का विशेष रूप में प्रदर्शन किया और जनता का स्वस्थ मनोरंजन हुआ।

पौर्णिमा को चतुर्विध संघ सहित चल-समारोह निकला। हाथी पर भगवान की प्रतिमा विराजमान थी और हजारों स्त्री-पुरुष अपने प्रभु का गुण-गान करते हुए नगर के प्रमुख बाजारो थे। उस दिन का दृश्य भी देखने लायक था।

हीरक-जयंति तथा अभिनंदन ग्रन्थ भेंट समारोह

आज वैसाख वदि १ का दिन था। प्रातःकाल से ही सभी लोग अपने पूज्य गुरुदेव श्री का सन्मान करने के हेतु तयारी कर रहे थे, प्रातःकाल ही श्री मोतीलालजी वनवट (१३०१) रुपये की बोली बोलकर हाथी पर ग्रन्थ लेकर विराजमान हुए और शहर में वरघोडा (चल समारोह) निकला। सभी बाजारों में जैन जनता हजारों की संख्या में उपस्थित थी और इस दृश्य को देखकर आनंद का अनुभव करती थी।

६० वर्ष पूर्व भी इसी नगरी में पूज्य गुरुदेव श्री का दीक्षा महोत्सव हुआ था और उसी स्थान पर हीरक जयन्ति भी मनाई जा रही है। खाचरोद संघ धर्म कार्य में विशेष रूप से अग्रणी रहा हुआ है।

जब समारोह नगर में घूमकर धर्मशाला पर आया तो वहीं सभा में परिवर्तित हो गया। सारा पेंडाल स्त्री पुरुषों से खचाखच भर गया था। कहीं भी खाली जगह नहीं दिखाई देती थी कितने ही लोग जगह के अभाव में पेंडाल के बाहर बैठे हुए थे।

सभी लोग इस समय पूज्य "गुरुदेव श्री के आगमन की बाट जो रहे थे। थोडी ही देरी के उपरांत पूज्य गुरुदेव श्री पधारे और जनता ने जय-जयकार के नारों से सभा मंडप को गुंजा दिया।

मंगल-गीत

जैसे ही पूज्य गुरुदेव श्री उपस्थित जन समुदाय के सन्मुख विराजमान हुए तब का वह दृश्य अत्यन्तही सुखप्रद था। पश्चात् डॉ. प्रेमसिंहजी की अध्यक्षता में समारोह की शुरुआत हुई सर्व प्रथम इस समय जीवन भर निःस्वार्थ भावसे जिन शासन की सेवा करने वाले उन महान विभूति का 'स्वागत गीत" मालकोंश राग में वाद्य यन्त्रों सहित जब श्री नंद धर्मचंदजी नागदा निवासी खाचरोदने गाया, जनता मंत्र मुग्ध सी बैठी रही वह भाव पूर्ण वंदना चिरस्मरणीय रहेगी।

पूज्य गुरुदेव श्री का यह "हीरक जयंति" महोत्सव था, इस कारण सभी भक्तजन अपनी अपनी भावना से गुरुदेवश्री की अर्चना, वंदना कर रहे थे। पंडित शुहारमलजी निवासी इंदौर ने जब अपना वक्तव्य प्रारम्भ किया तो आपने उस सभा को तीर्थंकरों की सभा से उपमा दी और बतलाया कि यह सभा केवल नर-नारियों के लिये ही नहीं बल्कि पशु-पक्षी भी इस सभा में आये हैं और अपनी अपनी भाषा में जिनेश्वर वाणी समझ रहे हैं। कारण यह था कि जब मालकोस राग में वंदना गीत हुआ, तो यह राग जब तीर्थंकरों की सभा भरती है तब देवता लोक उनकी वंदना में गाया करते हैं। इसी कारण उस आत्मा के लायक यह सभा थी। यद्यपि तीर्थंकरों के अतिशय व उनकी वाणी तो सात नारकी के जीवों को भी मनोज अनुभव कराती है, और उन्हीं तीर्थंकरों की वाणी का

प्रचार और प्रसार करनेवाले यही महामुनीन्द्र हैं जो आज तक तीर्थंकरों के मार्ग को ग्रहण कर अपना जीवन बिता रहे हैं। पंडितजी ने अपने भाषण में गुरुदेव श्रीकी अमूल्य सेवाओं का संक्षेप में वर्णन किया और श्रद्धांजली समर्पण करते हुए चिरायु होने की शुभ कामना प्रकट की।

श्रीयुत्-शास्त्री मदनलालजी जोशी निवासी मंदसौर ने अपने भाषण में गुरुदेव श्री के पांडित्यपूर्ण-जीवन का वर्णन किया और यह कहाकि मैं भी आपही की कृपा दृष्टि से कुछ उज्ज्वल मार्ग पा सकाहूँ।

श्री. राजमलजी सम्पादक दैनिक 'ध्वज' मंदसौर ने अपने ओजस्वी भाषण में गुरुदेव श्रीके जीवन के कुछ महत्वपूर्ण अंशों को बतलाया और कहा कि आपने अपना सारा समय साहित्य-सेवा मेंही लगा दिया। यह आदर्श मूर्ति हमारे लिये प्रेरणा का श्रोत है। आज भी अपनी वृद्धावस्था होते हुए भी आप अपनी लेखनी किसी न किसी विषय पर चलाया ही करते हैं।

श्री.अरविंद-ने गुरुदेव श्री के महत्वपूर्ण जीवन पर प्रकाश डाला और कहा कि अपनी उन्नति जोकर पाया हूँ, अपनी कवित्व शक्ति जो यहा पाया हूँ-सभी आपकी ही कृपा का फळ है। मैं पूज्यवर गुरुदेव श्रीको शत-शत वंदन करते हुए, चिरायु होने की शुभ कामना प्रकट करते हुए एक पुस्तक समर्पित करता हूँ! श्री लक्ष्मीचंदजी सरोज-ने अपनी एक कविता के द्वारा गुरुदेव श्रीकी वंदना की। आप जैन-समाज के एक सफल लेखक व कवि हैं।

मुनि-समुदाय में से-पू. श्रीं विद्या-विजयजी, श्री कल्याण विजयजी, देवेन्द्रविजयजी, जयंतविजयजी, जयप्रभविजयजी आदि मुनिवरों ने गुरुदेवश्रीके महत्वपूर्ण जीवन पर प्रकाश डाला और वंदना कर चिरायु होने की शुभ-कामनाएं प्रकट की।

श्रीसंघ में से अनेक प्रमुख सज्जनों ने खड़े होकर अपने विचार रखे। उनमें श्री. घेवर-मलजी मेहता इन्दौर, श्री धनराजजी इन्दौर, श्री छजलाणीजी महिदपुर, श्री मांगीलालजी धार, सेठ-पन्नालालजी टांडा आदि महानुभावों ने गुरुदेव श्री की वंदना करते हुए आपके साधु-जीवन पर प्रकाश डाला। श्री कीर्तिकुमार-हालचंद वोराने जो गुजरात संघ की ओर से इस महोत्सव में आये थे अपने भाषण में गुरुदेव श्री का गुणगान करते हुए बतलाने लगे कि समस्त गुजरात आपश्री की वाणी पर न्योछावर है और गुजरात संघ की ओरसे वंदना कर गुरुदेव श्री के चिरायु होने की शुभ कामना प्रकट करता हूँ।

भाई शान्तिलाल जैन, वड़नगरने भी अपने एक गीत के द्वारा गुरुदेव को वंदना कर दीर्घायु की कामना की। श्री वालचन्दजी "मास्टर" निवासी राजगढ़ ने भी अपना संक्षिप्त भाषण गुरुदेव श्री की अमूल्य सेवाओं का वर्णन करते हुए दिया और बतळाया कि जब

गुरुदेव श्री मालवा में पधारे तबही से आपने श्री संघ के सन्मुख एकही बात रक्खी थी। आप यदि मुझे प्रसन्न देखना चाहते हैं तो अपनी समाज के लिये एक आदर्श "गुरुकुल" स्थापित करें। गुरुदेव श्री के इस वचन को लेकर मैं श्री संघ के सम्मुख गया। कई महानुभावों ने इस महत्वपूर्ण कार्य में सहयोग दिया और गुरुकुल भी प्रारम्भ कर दिया गया। परन्तु मेरा दुर्भाग्य था कि मैं यह कार्य पूर्ण न कर पाया और बीच में ही मुझे उसे छोडना पड़ा। ऐसा क्यों हुआ? इसका मूळ कारण समाज के लोगों का आन्तरिक वैर था और यही वैर इस वस्तु को डस गया है। यदि पुन समाज मुझे सम्पूर्ण जिम्मेदारी के साथ इस कार्य को सोंपता है तो मैं समाज के सन्मुख यह विश्वास दिलाता हूँ कि केवळ अपना कौटुम्बिक खर्च लेकर पूर्ण इमानदारी से इस समाज के कार्य को करने को तैयार हूँ। क्योंकि यह कार्य मैंने अपनी भावना से उठाया था और आज भी इस कार्य पर मेरा आन्तरिक स्नेह है। अन्त में पूज्य गुरुदेव श्री को वंदन कर चिरायु होने की शुभ कामना प्रकट करता हूँ।

तत्पश्चात्! जिन जिन महानुभावों के सन्देश आये थे वे पढ़कर सुनाये गये!

पूज्य श्री विद्या विजयजी ने कहा कि गुरुदेव श्रीने इस अवसर पर एक शिक्षा फंड खोलने की योजना रखी और समाज को बतलाया कि आप पूज्यवर आचार्य प्रवर का "हीरक-जयंति" महोत्सव मनाने आये हैं। ऐसे अवसर पर एक ऐसी योजना निर्माण करते जाइये जिससे समाज उत्थान का कोई कार्य हो सके। हम पू. गुरुदेव श्री का दीक्षा पर्याय ६० वर्ष का पूर्ण होने पर ही यह हीरक-जयंति महोत्सव मना रहे हैं। अब गुरुदेव श्री का ६१ वें वर्ष में प्रवेश होगा अतएव समाज का प्रत्येक विचारवान व्यक्ति यदि ६१) रुपये की धन-राशि इस शिक्षा फंड में दान देगा तो एक बहुत बडी धन राशि सहजही समाज के शिक्षा क्षेत्र के लिये प्राप्त हो जावेगी। कई महानुभावों ने उसी समय उस योजना में दान दिया।

पश्चात् इन्दौर निवासी पं. श्री जुहारमलजी जैन न्याय, काव्यतीर्थ को भ. मा. राजेन्द्र जैन समाज की ओर से श्री अभिधान राजेन्द्र कोष इस उत्सव के उपलक्ष में भेंट किया गया। जो त्रिस्तुतिक समाज में संस्कृत, प्राकृत और सैद्धान्तिक प्रकाण्ड पण्डित हैं।

गुरुदेव श्री का संदेश

महानुभावो! आज आप सब एकत्रित होकर जो मेरा सन्मान कर रहे हैं यह मेरा सन्मान नहीं, अपितु जिन-शासन का सन्मान है। जिन जिन महान् आत्माओं ने जिन-शासन की सेवायें की हैं वे सन्मान के पात्र तो हैं ही, परन्तु उनका सच्चा सन्मान तो उनका अनुयायी समाज धर्म-कर्म में सुदृढ रहे, चारित्र सम्पन्नही, अपना आदर्शवाद स्थापित रखे और भगवान् महावीर के शासन को दिपावे यही सतों का सच्चा सन्मान है।

आप श्री संघ ने जो मुझे अभिनंदन ग्रन्थ भेंट किया है उसे मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ। पूज्य गुरुदेव श्री अत्यन्त वृद्ध हैं उनसे अधिक देर नहीं बोला जाता इस कारण उनका एक मुद्रित संदेश उन्हीं के एक शिष्य मुनि श्री जयंत विजयजी महाराज ने पढ़कर सुनाया। जो शाश्वत-धर्म मासिक पत्रिका में अक्षरसः मुद्रित किया गया था।

बाद में राजेन्द्र पाठशाला की बालिकाओं ने "गुरुवर अमर रहो" गीत के द्वारा गुणानुवाद किया।

संपूर्ण समारोह की अध्यक्षता रतलाम निवासी डॉ. प्रेमसिंहजी राठोड़ "जैन भूषण" ने की।